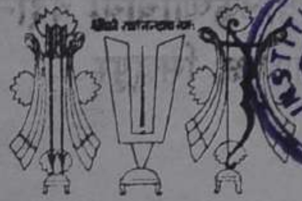
श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।



भगवद्रामानन्दाचार्यप्रणीतानन्दभाष्योपेता

श्रीमद्भगवद्गीता

सा च

जगद्गुरु श्रीमदनुभवानन्दाचार्यकृतश्रीगीतार्थसुधया महामहोपाध्यायस्वामिश्रीरघुवराचार्यवेदान्तकेसरि-प्रणीतयाऽर्थचन्द्रिकया स्वामिश्रीवैष्णवाचार्य-निर्मितगुह्यार्थदीपिकया च सहिता ।

संशोधकः—पण्डितसम्राट् स्वामी श्रीवैष्णवाचार्यः

प्रथमावृत्तिः १००० प्रति | श्रीरामानन्दाब्दः ६६५ | सं. २०२१ वि. । सन् १९६५ ई.

: प्रकाशक :

महान्त स्वामी श्रीबालकृष्णाचार्यः वेदान्तरत्न ।

वेदान्ताश्रमाध्यक्ष, सिद्धपुर ।

मूल्य : रु०१०–०–०

१०/-

: मुद्रक :

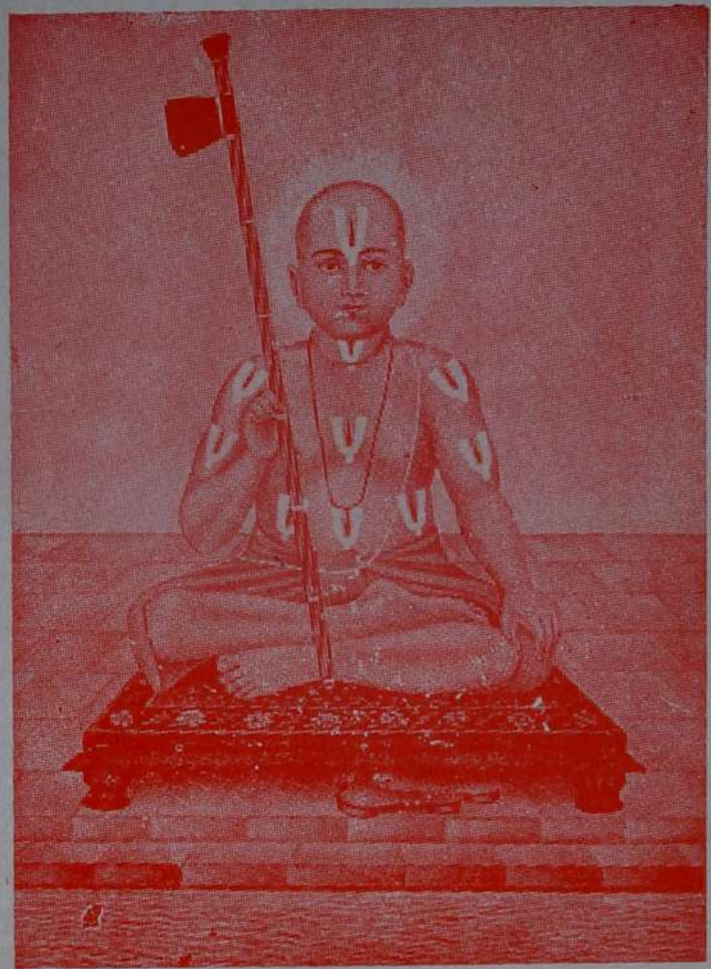
स्वामी श्रीत्रिभुवनदासजी शास्त्री,

श्रीरामानन्द प्रिन्टिंग प्रेस

कांकरिया रोड, अहमदाबाद

श्रीसम्प्रदायाचार्य आनन्दभाष्यकार श्री११०८ जगद्गुरु

यतिराजराज श्रीरामानन्दाचार्यजीमहाराज



आनन्दभाष्यकर्त्तारमानन्दपथदर्शकम् ।

आनन्दनिलयं वन्दे रामानन्दं जगद्गुरुम् ॥

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः

प्रस्तावना

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ॥
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥१॥

श्रद्धेय हंसवृत्तिपरायण रहस्यज्ञविद्वानो ! तथा सन्त महात्माओ ! यह ग्रन्थरत्न आप महानुभावों के समक्ष उपस्थित करते हुए महान हर्ष हो रहा है । श्रीसम्प्रदायाचार्य यतिसार्वभौम आचार्यसम्राट् रामानन्दाचार्यजी कृत गीता का सर्वोत्कृष्ट आनन्दभाष्य, तथा श्री रामानन्द सम्प्रदाय के प्रधान कर्णधार परम पूज्य प्रातःस्मरणीय मेरे गुरुदेव महामहोपाध्याय ब्रह्मवित् श्री १००८ श्री स्वामी श्रीरघुवराचार्य जी महाराज रहस्यपूर्ण गीता की अत्यन्त विशाल सारगर्भित श्री भगवद्रामानन्दाचार्यजी प्रणीत गीताआनन्दभाष्यानुसारिणी व्याख्या गीतार्थचन्द्रिका (श्री रघुवरी टीका) को बहुत परिश्रम करके निर्माण किये हैं। इसमें गीता के प्रत्येक विषयों पर विशद गम्भीर विवेचन किया गया है । सुप्रतिष्ठित विद्वानों का कहना है कि यह गीतानन्दभाष्य का महान् वाद ग्रन्थ है । जो सर्वोच्च राजकीय महामहोपाध्याय उपाधि के अनुरूप है ।

"विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्" इस उक्ति के अनुसार इस परिश्रम को अकपटी पण्डित जन ही पढ़ कर समझ सकते हैं तथा भगवदुक्त गीतामृत के रसास्वाद का अनुभव कर सकते हैं । जिनका अन्तःकरण द्वेष ईर्ष्या से भरा हुआ है तथा जो कृतघ्न है उसके लिए तो "द्राक्ष खट्टी है" वाली कहावत ही चरितार्थ होगी । महाराज जी का गीता के आनन्दभाष्य के साथ ही अर्थचन्द्रिका को मुद्रण कराने का संकल्प था। किन्तु अनेक कारण वशात् उनका

संकल्प पूर्ण न हो सका। यद्यपि महाराजजी बहुत दिनों से दोनों संस्थाओं का भार मेरे ऊपर छोड़कर निश्चिन्त होकर साम्प्रदायिक ग्रन्थ लिखने तथा सम्प्रदाय सेवा के हेतु स्वकीय विद्यालय में अध्यापक के रहते हुए भी छात्रों को व्याकरण वेदान्त न्याय इत्यादि को पढ़ाते तथा परीक्षा दिलाते थे।

हमारे मित्रवर्य पं० स्वामी श्रीवैष्णवाचार्यजीने श्रीगीता-भाष्य तथा अर्थचन्द्रिका के प्रूफसंशोधन में अपना अमूल्य समय देकर तन मन से गुरुजन की तथा श्रीरामानन्दसम्प्रदाय की सेवा की है। इसलिए मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ। इस ग्रन्थ में यदि हमारी तथा प्रेस की असावधानी से अशुद्धियाँ रह गई हों तो विद्वज्जन सुधार कर वांचेंगे ऐसी आशा रखता हूँ। तीनों षटक एक साथ ही आप सबों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ।

वेदान्ताद्यखिलागमादृतमतिर्विद्यावतामग्रणी–
र्वादिध्वान्तनिरासवासरमणिः क्षोणीन्द्रसम्पूजितः ।
यन्नामस्मरतां निरस्यति सतामेनश्चयं निश्चयं
सोऽयं देशिकसत्तमो रघुवराचार्यश्चिरं राजताम् ।

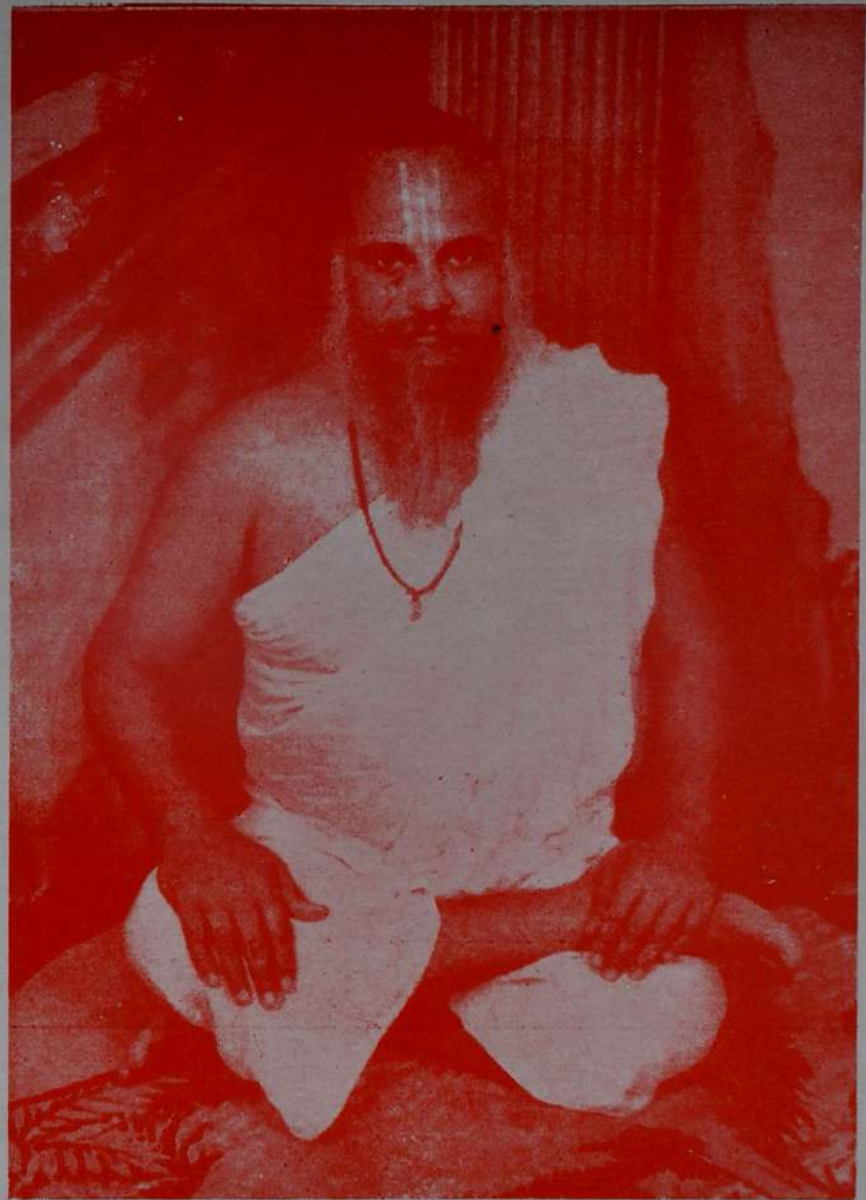
निवेदक

श्रीमहामहोपाध्याय श्रीरघुवराचार्य-
चरणचंचरीक श्रीबालकृष्णाचार्य
श्रीरघुवरवेदान्तपीठाध्यक्ष

सिद्धपुर

सम्पूर्णसमाप्ति श्रीगुरुदेव की साकेत तिथि
श्रीवसन्तपंचमी ता. ६।२।६५ ई.

श्रीआनन्दभाष्यार्थचन्द्रिका के प्रकाशकः–



महान्त स्वामी श्रीबालकृष्णाचार्यजी महाराज, वेदान्तरत्न
श्रीरघुवर वेदान्तपीठ सिद्धपुर (गुजरात)

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।

सामयिकनिवेदन

साकारौ च निराकारौ सगुणावगुणावथ ।
जगतो जनकौ वन्दे जानकीजानकीश्वरौ ॥१॥
पुरुषोत्तमनामानं महर्षिं ज्ञानवारिधिम् ।
श्रीमद्बोधायनं वन्दे वृत्तिकारं जगद्गुरुम् ॥२॥
आनन्दभाष्यकर्त्तारमानन्दपथदर्शकम् ।
आनन्दनिलयं वन्दे रामानन्दं जगद्गुरुम् ॥३॥
जानकीजानकीकान्तकान्तपादाब्जषट्पदम् ।
सुरद्रुमकृतं वन्दे टीलाचार्यं जगद्गुरुम् ॥४॥
जगन्मङ्गलकर्त्तारं मङ्गलाम्बुनिधिं तथा ।
वन्दे महामुनीन्द्रं श्रीमङ्गलार्यं जगद्गुरुम् ॥५॥

परमपूज्य श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव महानुभावो !

सेवामें सविनय निवेदन है कि आज धर्मसंरक्षक अनन्तश्रीविशिष्ट महामहोपाध्याय स्वामी श्रीरघुवराचार्य जी वेदान्तकेसरी के साकेतवास की पुण्य तिथि में श्रीसम्प्रदायकी अनुपमविभूति इस ग्रन्थरत्नको अनन्तब्रह्माण्डनायक निर्दोष अनवधिकातिशयकल्याणगुणगणार्णव परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीजानकीनाथजीकी अनुपम अनुकम्पासे प्रकाशित देखकर मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। आप महानुभावोंको भी अवश्य होता होगा। भगवान् श्रीरामजी और आप महानुभावोंकी कृपासे ही इसका संशोधन मैंने किया है। इसमें जो दोष दिखाई द वे

मेरी अल्प बुद्धिके कार्य हैं और जो गुण हैं उन्हें तत्तद्-ग्रन्थकारोंके बुद्धिवैशद्य के कार्य समझना चाहिये ।

यह ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता का आनन्दभाष्य, श्रीगीतार्थसुधा, गीतार्थचन्द्रिका तथा गीतागुह्यार्थदीपिका नामक चार साम्प्रदायिकग्रन्थों का संग्रह है ।

आनन्दभाष्य—

यह भाष्यरत्न भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीके प्रस्थानत्रयभाष्योंमें से अन्यतम और श्रीरामानन्दवेदान्तकी अद्वितीय विभूति है । अत एव श्रीसम्प्रदायकी भी अद्वितीय विभूति है । पक्षपातसे डरता हुआ भी मैं सत्यसंरक्षणके लिये कहता हूँ कि यह भाष्यरत्न गीताके भाष्योंमें सर्वोत्कृष्ट भाष्य है ।

श्रीगीतार्थसुधा—

यह ग्रन्थ श्रीअनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापक अनन्तश्रीविशिष्ट जगद्गुरु श्रीमदनुभवानन्दाचार्यजी महाराज आचार्यशिरोमणिप्रणीत है । जो श्रीमद्भगवद्गीताका आनन्दभाष्यानुसारी अत्यन्तसूक्ष्म पद्यमय निबन्ध है ।

अर्थचन्द्रिका—

इस ग्रन्थरत्नके प्रणेता हैं श्रीरामानन्दसम्प्रदाय की परम्पराके संग्रामके सर्वोत्कृष्ट विजेता विद्वच्चक्रचूडामणि परम धार्मिक तथा रहस्यज्ञ महामहोपाध्याय स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज वेदान्तकेसरी न्यायोपाध्याय मीमांसोपाध्याय व्याकरणाचार्य तर्कतीर्थ वेदान्ततीर्थ सांख्यसागर दर्शननिधि । यह गीताका आनन्दभाष्यानुसारी महान् वादग्रन्थ है । यह अर्थचन्द्रिका टीका महार्णवबर्धिनी चन्द्रिकाके समान ही गीताके आनन्दभाष्यार्थार्णव की

गुह्यार्थदीपिका के टिप्पणीकार



पण्डितसम्राट स्वामी श्रीवैष्णवाचार्यजी महाराज, वेदान्ततीर्थ

संबर्धिनी है । अत एव यथा नाम तथा गुणवाली है । महामहोपाध्यायजीने इसमें अपने पूज्य गुरुदेव स्वामी श्रीहनुमदाचार्यजी महाराज (चीतल-काठियावाड़) के मतका भी उद्धरण किया है । तथैव कई स्थानों पर सिद्धान्तका निर्णय करके कहा है कि अत एव हमारे पूज्याचार्य श्रीआनन्दभाष्यकारका व्याख्यान ही सर्वोत्कृष्ट है ।

गुह्यार्थदीपिका—

यह मेरी बनाई हुई अत्यन्त सूक्ष्म और उपयोगिनी टिप्पणी है। इसमें स्थलस्थलपर दिखाई पड़ते हुए पुन-रुक्ति दोषोंका वारण सुन्दर रीतिसे किया गया है । अन्यान्य विषयोंका समावेश भी सुन्दर है ।

मैं अधिक न कहकर भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यके अनुयायी श्रीवैष्णवोंसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने इस आचार्य ग्रन्थको अपनावें और अपने सम्प्रदायके उत्कर्ष-बर्धनके भागी बनें ।

वसन्तपञ्चमी ता० ६–२–१९६५ ई०

उपनिषद्भाष्यकार पण्डितसम्राट्
स्वामी श्रीवैष्णवाचार्य
त्रणदेवड़ी-राममन्दिर,
शारंगपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद-नं २

महामहोपाध्याय उपाधिका प्रमाणपत्र

SANAD

To

Mahant Shri Raguvaracharyaji,
Mahant of Shingda Math,
Porbandar State.

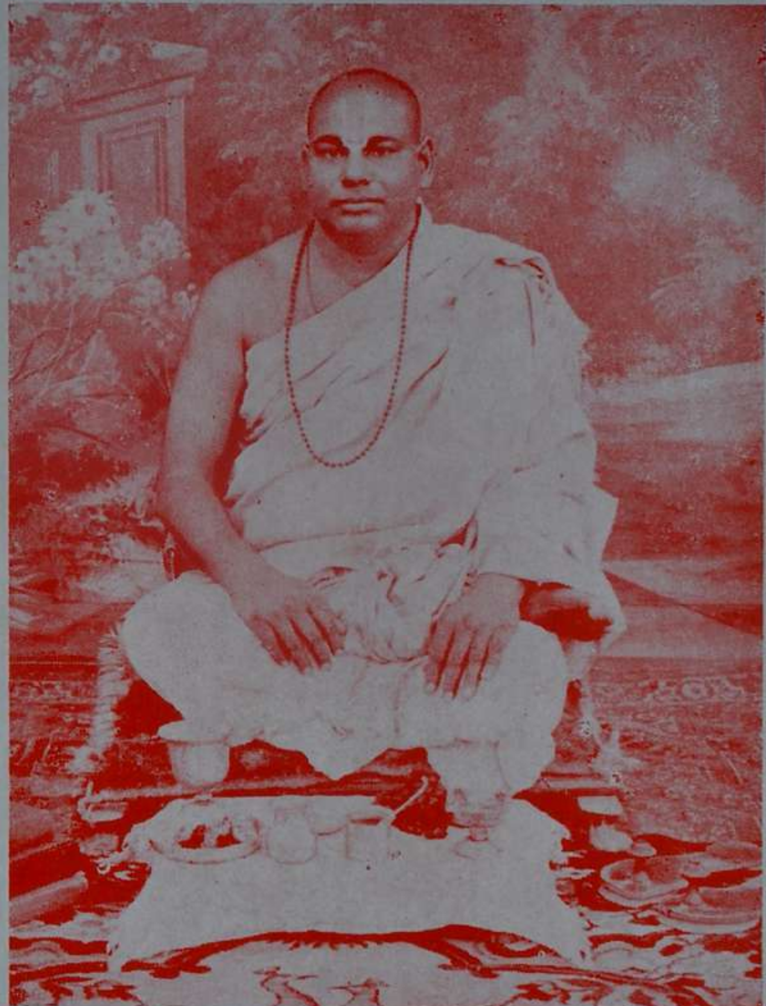
I hereby Confer upon you the title of Mahamahopadhyaya as a personal distinction.

Sd/Wavell
Viceroy of India.

New Delhi,
The 14th June 1945.

महामहोपाध्याय स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज, वेदान्तकेसरी

श्रीरामानन्दसम्प्रदाय की महती विभूति



पारगः सर्वशास्त्राणामग्रणी प्रतिभावताम् ।
वादेऽप्रतिभटः सोऽयं श्रीमान् रघुवरः सुधीः ॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

श्रियः श्रियै नमः ।

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता—

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मयोगप्रतिपादनात्मकं प्रथमं षट्कम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ! ॥ १ ॥

आनन्दभाष्यम् ।

अनवद्यगुणागारं जगद्बीजं जगत्पतिम् ।
केशेन्द्राद्यमरैर्वन्द्यं श्रियः श्रीपतिमाश्रये ॥ १ ॥

श्रीमते रामानन्दाय नमः ॥

महामहोपाध्यायस्वामिश्रीरघुवराचार्यविरचिताऽर्थचन्द्रिका
(श्रीरघुवरी) टीका ।

जगन्नाथोऽनाथावनदृढमतिस्सर्वगतिकः
स्वतन्त्रस्सर्वज्ञो निरवधिककल्याणगुणकः ।
विरिञ्चेशानाद्यैरमरपतिभिः स्वर्चितपदः
परेशः श्रीरामो विहरतु हृदब्जे मम चिरम् ॥ १ ॥

श्रीरामं जनकात्मजामनिलजं वेधोवसिष्ठावृषी
योगीशञ्च पराशरं श्रुतिविदं व्यासं जिताक्षं शुकम्।
श्रीमन्तं पुरुषोत्तमं गुणनिधिं गंगाधराद्यान्यतीञ्—
छ्रीमद्राघवदेशिकञ्च वरदं स्वाचार्यवर्यं श्रये ॥ २ ॥

परैर्वेदान्तार्थे कलुषितपथम्प्रापयति यो—
विशिष्टाद्वैताख्यं प्रथितमतमेतत्प्रकटयन् ।
परप्रत्यग्भेदं श्रुतिशिरसि सिद्धं विशदयन्
यती रामानन्दः स हि सुगुणसिन्धुर्विजयते ॥ २ ॥

यस्यादेशवशादवेदिषमहं मोहाम्बुधेर्वाडवं
वेदान्तस्य विशिष्टतत्त्वगमकं सिद्धान्तमानन्ददम् ।
मिथ्यावादविमर्दनेतिचतुरा यद्भारती राजते
स्वाचार्यं श्रुतिवित्तमं तमनिशं वन्दे दयावारिधिम् ॥ ३ ॥

सम्यगालोच्य गीताया भाष्यमानन्दसंज्ञकम् ।
कुर्वेऽर्थचन्द्रिकां तस्याष्टीकां तद्भाष्यसम्मताम् ॥ ४ ॥

अथ दिव्यज्ञानानन्दैकरूपो निरस्तसमस्ताविद्यदोषगन्धस्वाभाविकापरिमितनित्यज्ञानबलैश्वर्यवीर्यतेजश्शक्त्याद्यखिलकल्याणगुणचणोऽप्रमेयाचिन्त्याद्भुतपराक्रमोत्साहसमन्वितातिशयसौकुमार्यौदार्यधैर्यमाधुर्य्यलावण्यकारुण्यसौशील्यसौजन्यवात्सल्याद्यसंख्येयासाधारणगुणगणजलधिर्दृष्टचित्तापहारिशरण्यसत्यसन्धशरणागतवत्सलत्वादिधर्मविशिष्टः प्रचण्डमार्तण्डकोटिकान्तिकमनीयकलेवरो ब्रह्मादिस्थावरान्ताखिलजगदुदयविभवलयलीलोहिरण्य-

यदंघ्रिपङ्केरुहसंश्रयादहं—
समस्तवेदान्तविमर्शचातुरीम् ।
समाप्नवं तं जगदार्तिनाशकं
यतीश्वरं राघवमाश्रयेऽनिशम् ॥ ३ ॥

गर्भोग्रेन्द्राद्यखिलदिविषद्वन्द्यपादारविन्दद्वन्द्वः प्रणतकल्पपादपोऽखिललोकलावण्यधामावनितनयार्चितांघ्रिपद्मो हनुमत्सुषेणकुमुदांगदादिनित्यसूरिपरिसेवितदिव्यमूर्तिरुभयविभूतिनायकोऽपराजिताऽपरवैकुण्ठपदप्रधानार्थश्रीसाकेतनिकेतनः परमपुरुषनारायणविष्णुवासुदेवादिपदवाच्यः पुरुषोत्तमः श्रीरामः स्वमुखेनोदीर्यमाणानि

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

इति स्वावतारासाधारणप्रयोजनानि सम्पादयितुकामः प्रणतजनमनोविनोदिनीं लीलाञ्च चिकीर्षुर्भारतावनितले विमले यदुकुलेऽवतीर्य गोकुले गोकुलस्य स्वानन्यभक्तयशोदानन्दगोपिकोद्धवाक्रूरमालाकारादीनाञ्च मनसि मनोनयनहारिदिव्यमंगलविग्रहदर्शनस्पर्शनमधुरालापजनितालौकिकाह्लादमुत्पादयन् देवकीवसुदेवादिसाधुसंरक्षणपूर्वकं कंसाद्यखिलखलानुत्साद्य स्वोदीरिताद्यप्रयोजनद्वयमतिसत्वरं समपादि । चरमस्य धर्मसंस्थापनरूपप्रयोजनस्य सिद्धये चाचिन्तयत् । धर्मसंस्थापनार्थायेत्यत्र धर्मशब्देन परमधर्मोऽपिगृह्यते 'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' (याज्ञ. १।८)

'धर्मः प्रवृत्तिमार्गाख्यो ह्येको राजसतामसः ।
निवृत्तिमार्गः सत्त्वाख्यो द्वितीयो भगवत्प्रियः॥' (वृ.ब्र.सं. ३।७।२१)

त्रयीसारमयी पुण्या गीता गोविन्दवल्लभा ।
वैष्णवप्रीतये सेयं भाष्यरत्नेन भूष्यते ॥ ४ ॥

अथादिपुरुषः साकेताधिपतिःकल्याणगुणोदधिर्भगवाञ्छ्रीरामः साधुपरित्राणादिस्वावतारप्रयोजनान्यनुष्ठातुं वसुदेवगृहे श्रीकृष्णस्व-

इत्यादिषु तथा दर्शनात् । अस्य च परमप्रयोजनतयाऽवश्यानुष्ठेयत्वेन सर्वज्ञस्यापि परेशस्य तद्रक्षणे चिन्ता युज्यत एव । श्रीमद्भागवतेऽप्येतदुक्तम् । तथाहि—

‘ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन्देहमचिन्तयत् ॥ (भा. ३।४।२९)
अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥ (भा. ३।४।३०)
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥ (भा.३।४।३१)

धर्मस्थापनमपि पराशरादिमहर्षिभिः कारयितुं शक्यत इति कथं तदनन्यथासिद्धमवतारप्रयोजनमिति चेदाराध्याकारप्रदर्शनस्यापि धर्मत्वान्न तदन्येन कर्तुं पार्यत इति तदर्थं स्वयमेवावतरति । अस्यैव प्राधान्यमित्येकादशस्कन्धीयब्रह्मवचनादवगम्यते । धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेन वै त्वया । कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा, (भा. ११।६।२२) अत्र हि शतधृतिरन्यप्रयोजनानि शब्दतोऽनुक्त्वा धर्मस्थापनलक्षणमेकमेव तदभिदधत्तस्य प्राधान्यं द्योतयति । स च परमधर्मः परम-

रूपेणावतीर्य वसुन्धराभारभूतान् स्वाश्रितद्विषोऽमसुरस्वभावान् कंसादीन्निहत्य परमधर्मं संरिरक्षयिषुर्भारताख्यमहाहवव्याजेन स्वानन्यप्रपन्नमर्जुनं स्वमुखेनैव गीताशास्त्रस्य हार्दमुपदिशन् स्वावतारलीलामातेने । इयश्च गीतारूपं भगव-

पुरुषार्थसाधनत्वेनाभिहितं चिदचिदीश्वरतत्वपरिज्ञानपूर्वकं भगवदाराधनमेवेति श्रुतिरहस्यवेदिनां समयः । ‘तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, (पुरुषसूक्त) ‘तरतिशोकमात्मवित्, ( )
‘आत्मा वारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, (बृ. ६।५)
‘तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः, ( )
इत्यादि श्रुतयश्चिदचिदीश्वरज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनत्वमाहुः । तत्राचिद्वस्तुपरमात्मशरीरभूतं प्रलयावस्थायां सूक्ष्मरूपेणावस्थितं सर्गादावीश्वरसंकल्पान्महदादिरूपेण परिणमते । चिच्छब्दाभिहितः प्रत्यगात्माऽपीश्वरशरीरभूतोऽनाद्यविद्याख्यकर्मवशादचित्सम्बन्धमाधत्ते । सृष्टेः प्रागविभक्तनामरूपतयैतयोरवस्थितिः तदानीमव्याकृतावस्थं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैव कारणावस्थां दधत् सृष्टेरनन्तरं विभक्तनामरूपतया स्थूलचिदचिद्विशिष्टं तदेव कार्यावस्थमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि वेदान्तोदिता संगच्छते । चिदचिद्वस्तुनोः परस्परं ब्रह्मणश्च स्वरूपपार्थक्येऽप्याद्ययोर्नियाम्यभूतयोर्ब्रह्मप्रकारतया तन्नियन्तुर्ब्रह्मणश्च तत्प्रकारितयेति प्रकारप्रकारिभावेनैवापृथक्सिद्धस्थितिरिति श्रुतिनिदर्शितः पन्थाः। एवञ्च ‘यस्य पृथिवी शरीरम्, ‘यस्य विज्ञानं शरीरम्, इत्यादि श्रुतिसिद्धयोश्शरीरतया स्थितयोश्चिदचितोरन्तर्नियमयन्परस्तदात्मरूपेणा

द्वादशं भगवान् द्वैपायनोऽधिभारतं श्लोकरूपेण जग्रन्थ । तत्र कर्मयोगप्रतिपादनपरे प्रथमषट्के उपोद्घातक्रमेणादिमोऽध्यायः समारभ्यते । तत्र स्वपुत्रस्नेहवागुराबद्धहृदयो धृतराष्ट्रस्तद्विजयं श्रोतुकामो भगवद्व्यासप्रसादलब्धदिव्यदृष्टिं तदानीमेवयुद्ध-

न्तरवस्थितस्तेनात्मशरीरभावेनैव 'तत्वमसि, इत्यादौ सामानाधिकरण्यं 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो । (छां.६।८।७) इत्यादि श्रुतयोऽभिदधते । निरुक्तञ्चं तत्वत्रयस्वरूपं द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, (मु.३।१।१) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, (श्वे. १ । ९) 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा, (श्वे. १।१२) 'नित्यो नित्यानाञ्चेतन-श्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, (श्वे. ६।१३) 'स कारणं करणाधिपाधिपः, (श्वे. ६।९) 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तुमहेश्वरम्, (श्वे. ४।१०) इत्याद्यनेकश्रुति प्रमाणैरवसीयते । भगवत्संकल्पानुविधेयोऽयं जीवो यदा भगवत्प्रसत्तिफलानि तत्कैंकर्यप्रधानानि कर्माण्यादौ विधाय तदीयानुकम्पया सद् गुरुम्प्रपद्य प्रणिपतनपूर्वकमात्मानं निवेदयति तदा तस्य तत्कृपया 'परमात्मानुग्रहेणैवेति (४।२।१६) भाष्योक्तरीत्या परमपुरुषार्थपदोदितस्यापवर्गस्यावाप्तिर्ध्रुवानुस्मृतिपदवाच्येन कर्मज्ञानोत्तेजितभक्तियोगेनैवसम्पद्यत इत्येषः श्रुतिशिरस्समधिगतः सिद्धान्तः। इयञ्च सायुज्यावाप्ती रुजाभिभूतातुरायावसरविशेषज्ञभिषगिव तत्वविद्गुरुः समये समागते विलम्बलवमप्यसहमानो द्रागेवोपदेशविशेषामृतमर्पयेत्तदैवानादिवासनोद्भूतः कर्मबन्धः समुच्छिन्नमूलः स्यादिति तादृशसमयं प्रतीक्षमाणः परमकारुणिको भगवान् प्रणतावनैककार्यो दौस्थ्यमपि कपिध्वजसारथ्य-

स्थानात् कुरुक्षेत्रादुपागतं सञ्जयं पृच्छति–धर्मक्षेत्र इति। हे संजय ! धर्माचरणयोग्ये पुण्यप्रदेशे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवो योद्धुमिच्छवः समवेताः सम्मिलिता मामका मत्पुत्रा दुर्योधनादयः पाण्डवाः पाण्डुपुत्रा युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किं कृतवन्तः । अत्रायम्प्रष्टुराशयः 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्,

मर्थयन् स्वजनगुरुबन्धुनिधनजनितब्रह्महत्याकुलघ्नतादिमहापातकभीतिविषण्णहृदयं सदयमायोधनाद्विरम्य सवृषत्कगाण्डीवमुत्सृज्य रथोदरैकदेशे विषीदन्तमवस्थितं प्रधनकरणे कुलक्षयो महदघञ्चेति दुरुद्धरदोषद्वयं तदकरणे च स्वधर्मत्यागोपकीर्तिश्चेत्येतदनपवार्यं दूषणद्वयमित्युभयथाऽनर्थावाप्तिभिया मुह्यमानं दुस्तरशोकाब्धिनिमग्नं सर्वथा निःश्रेयसाशामनासादयन्तं कौन्तेयमभिवीक्ष्यास्त्ययं समयो मे ज्ञानामृतप्रदानस्येदानीमिमं स्वधर्माद्धीयमानमनेन कर्मज्ञानसचिवभक्त्यभिधायिनाम्नापाम्भोधिसमुद्धृतामृतरस इव सरससारेण गीताविज्ञानेन समुद्धृत्येतरसमस्तमुमुक्षूपकारायाधिक्षोणि सुस्थिरमाचन्द्रतारकं संस्थापयिष्यामीति विमृश्येदं गीताशास्त्रमाविर्भावयाम्बभूव ।

यत्तु गीताया वेदसारभूतत्वाद्वेदस्य च काण्डत्रयविभक्ततया क्रमेण कर्मोपास्तिज्ञानप्रतिपादकत्वं यथास्ति तथा गीताया अपि षट्कत्रयरूपतया प्रथमषट्केन कर्माण्यभिधाय त्वम्पदार्थस्य शोधनं द्वितीयषट्केनोपासनस्वरूपं प्रदर्श्य तत्पदार्थस्य शोधनमुत्तरषट्केनात्मैकत्वज्ञानस्वरूपमुक्त्वाऽनयोस्तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं प्रतिपाद्यते । ब्रह्मणो विवर्तभूतस्य जगतो मिथ्यात्वेन तदधिष्ठानचैतन्यस्यैकस्यैव कालत्रयाबाध्यत्वेन सत्यत्वं

इत्यादिश्रत्युद्गीतमहिम्नि धर्मानुष्ठानोपयोगिनि कुरुक्षेत्रे युयुत्सयैव सम्मिलिताः परन्तु क्षेत्रमाहात्म्यादुपचितपुण्यविशेषेण निरस्तद्वेषदोषा निर्मलस्वान्ता मत्पुत्रा धर्मराजायाध-

जीवेश्वरादिविभागस्याज्ञानविजृम्भितत्वान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तनिरंजनवस्तुभूतमेकं निर्विशेषम्ब्रह्मैव परमार्थतत्वम् । तथाचोक्तं :—

निर्विशेषं परम्ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥ इति ।

एवञ्च कर्मोपासनयोरन्तःकरणनैर्मल्यं विधायैवोपक्षीणत्वात्केवलाद्वैतधियैव निर्विशेषब्रह्मावाप्तिरूपकैवल्यं प्राप्यत इत्येव गीतातात्पर्यमाहुस्तदपेशलम् । तथाहि—बन्धुनिधनभिया नैष्कर्म्यमश्नुवानमर्जुनं पुनःक्षात्रधर्मेऽवस्थापयितुकामः परमपुरुषः स्वकीयचरमसिद्धान्तगर्भितं गीताशास्त्रमुपदिदेश । तस्य च कथं नैष्कर्म्ये तात्पर्यं स्यात् । एवं ब्रह्मणो विवर्ताधिष्ठानत्वमपि न गीतासम्मतम् । न हि गीतायां क्वचिदपि जगतो विवर्तात्मकत्वेन मिथ्यात्वं तदधिष्ठानता च ब्रह्मण इत्यभिहितम् । किन्तु ब्रह्मैव जगद्रूपेण परिणमत इति जगतः सत्यत्वेन ब्रह्मणस्तदधिष्ठानत्वम् । अत एव कार्यकारणयोस्सत्यत्वेन वेदान्तोदितैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽपि संगच्छते । अत एव च ' यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन ' इत्यादि दृष्टान्तत्रयमपि संगच्छते । न हि लोके सत्यमिथ्याभूतयोः कार्यकारणभावो दृष्टचरः । तन्मते शुक्तिरूप्यवदवस्तुत्वेन जगतो वस्तुभूतेन ब्रह्मणा सह कार्यकारणभाव एव न स्यादितिभावः । स्वाज्ञानकल्पितजीवत्वमपि गीताशास्त्रविरुद्धं वेदान्तशास्त्रविरुद्धंच । तथाहि—

राज्यप्रदानादिना हिन्साद्यधर्मादुद्विग्नमानसाः पाण्डवा वा राज्यमनिच्छन्तः सौहार्देन सन्धि कृतवन्त उताहो युद्धमेवेत्येतद्यथावद्ब्रूहीति ॥ १ ॥

" ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः " (गी.१५।७)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ (गी.१५।१६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (गी.१५।१७)
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गी.१५।१८)
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् । (गी.१३।१९)

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरषः परः । (गी.१३।२२)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्धि परिवर्तते । (गी. ९।१०)

इति प्रकृतेर्जीवस्य परमात्मनश्चानादित्वेन स्वरूपपार्थक्येन चाभिधानात् । वेदान्तेऽपि ' द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ' (मु.३।१।१) ' ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ ' (श्वे, १ । ९) ' मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् ' ' अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां ' (श्वे. ४ । ५) गौरना

द्यन्तवती सा जनित्री भूतभावनी च ' ( ) इत्याद्यनेक श्रुतिभिश्चिदचिदीश्वरस्वरूपाणां नित्यत्वेनाद्ययोर्द्वयोर्नियाम्यत्वेन पारतन्त्र्येण-चेश्वरस्य च स्वातन्त्र्येण नियामकत्वेन सर्वशेषित्वेन चाभिहितत्वात् । न वा कर्मोपासनाविरहितस्य केवलाद्वैतज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वमित्यपि गीतातात्पर्यम् । यतो हि पूर्वतनेष्वध्यायेषु भगवान् गीताचार्यो विवक्षितार्थं प्रायः कात्स्न्येनाभिधाय चरमं परमोपायस्वरूपं स्वकीयहार्दमुपदिदिक्षुरादावर्जुनस्यावहितमनस्कतां सम्पादयति ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणुमे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

अत्र कर्मयोगादिषु सर्वेषु गुह्येषु गुह्यतममिदानीं मम निरतिशयप्रीतिविषयत्वात्ते हिततमं वक्ष्यामीति पूर्वं स्वोक्तार्थे दार्ढ्यमभिधाय स्वहृदि निहितं यच्चरमोपायभूतं तदुपदिशति—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ गी.१८।६५
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥ गी.१८।६६।

इत्यत्र प्रतिज्ञापूर्वकं प्रोक्तेष्वखिलधर्मेषूपायत्वबुद्धेर्हेयत्वं परभक्तिपराकाष्ठास्वरूपशरणागतिधर्मस्यैवोपादेयत्वमशिषत् । अतःपरमुपदेशसमाप्तिरित्यस्यैव चरमोपदेशादिदमेव भगवतो हार्दमिति कर्मोपासनसहकृतपरभक्तेरेव मोक्षोपायत्वं ज्ञानस्य परभक्त्युत्पादने विनियोगः परभक्त्यङ्गभूता भक्तिरेव ज्ञानं वेति तत्वविदः । इदमप्युक्तं स्वयमेव भगवता—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ गी.१८।५५॥

अत्र परभक्तेरेव साक्षान्मोक्षोपायत्वं निरूपितम् । एतेन, भगवदुपदिष्टस्य गीताशास्त्रस्यान्तिमे वाक्ये—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥

इत्यत्र ज्ञानमाख्यातमित्यनेन केवलज्ञानस्यैवापवर्गप्रत्यन्तरंगसाधनत्वं न कर्मोपासनयोरित्यपि प्रत्युक्तं तत्रापि—

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गी.१८।६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८।६२।

इत्यादिना भगवच्छरणागतेरेव प्राधान्येनाभिहितत्वादिति स्पष्टम्भविष्यति तद्व्याख्यावसर इत्यत्र संक्षेपः ।

अत्र सपरिकरपरभक्तेः स्वरूपस्य प्रतिपिपादयिषयाऽष्टादशभिरध्यायैःप्राधान्येन तदुपयुक्तानामष्टादशार्थानां विनिश्चयोऽकारि । तदर्थं प्रतिषट्कं त्रिकद्वयमितिक्रमेण षट्कत्रयमुपनिबद्धम् । तत्र प्रथमषट्केन परभक्तेः साधनयोः कर्मज्ञानयोगयोर्विचारः समारब्धस्तत्राप्यारब्धस्यार्थस्योपोद्घातविधया वर्णने साधनफलसहितायाः परभक्तेः स्वरूपनिरूपणे च प्रथमद्वितीयावध्यायावभिहितौ । ततः प्रोक्तार्थस्य विस्तरशो विवे-

चयितव्ये तृतीयाध्यायेन प्रथमसाधनस्य कर्मयोगस्यैवाभिधानमिति प्रथम-षट्कस्य प्रथमत्रिकेणाभ्यधायि। ततस्तस्यैव ज्ञानात्मना परिणतस्य ज्ञान-योगस्य द्वितीयत्रिकेण स्वरूपमदर्शि। द्वितीयषट्कस्य त्रिकद्वयाभ्यां ज्ञानयोगस्योपासनोपयोगित्वम्प्रदर्श्योपासना स्वरूपं निरचायि। तृतीयषट्क-स्य च प्रथमषट्कशेषभूतत्वात्प्रथमषट्के सामन्यविशेषतयोदितानामर्थानां निष्कृष्य विनिश्चय एव क्रियते। अतएव चान्तिमाध्यायस्य निष्कर्षा-ध्याय इत्याचार्यसमाख्यापि संगच्छते मानञ्चास्य शास्त्रस्य स्वयमेव कृष्णद्वैपायनोऽभ्यधाद्भीष्मपर्वणि।

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्सप्तषष्टिन्तु सञ्जयः।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते, ॥ (भा.भी.४३।५)

इति पञ्चचत्वारिंशदधिकसप्तश्लोकात्मकमिदं शास्त्रं सिध्यति॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयम्॥

इति सञ्जयोक्तेरस्य गीताशास्त्रस्य सर्वज्ञमूर्धन्येन साक्षाद्भगवतोप-दिष्टत्वमवसीयते। अतएवाखिलशास्त्रेभ्योऽस्य प्राधान्यं सर्वैराचार्यैरंगी कृतम्। तथाहि—इतिहासश्रेष्ठस्य भारतस्य पञ्चमवेदत्वेऽपि गीतांशस्य ततोऽपि श्रेष्ठत्वमुच्यते।

'भारते भगवद्गीता धर्मशास्त्रेषु मानवम्।
वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवम्॥'

एवं महाभारतेऽप्यादिपर्वणि महर्षिणोक्तम्—

'अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।'

भीष्मपर्वणि च त्रिचत्वारिंशाऽध्याये—

'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥१॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गंगा सर्ववेदमयो मनुः ॥ २ ॥
गीता गंगाच गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते, ॥ ३ ॥

एवं वाराहेऽप्यस्य शास्त्रस्य माहात्म्यं वैशिष्ट्येनोक्तम्—

'संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः।
गीतानावं समारुह्य पारं याति सुखेन सः॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालस्य हास्यताम्॥
धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनताम्।
गीतार्थं यो न जानाति नाधमस्तत्परोजनः॥
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यसुरसम्मतम्।
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम्॥
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका।
सर्वशास्त्रमयी यस्मात्तस्माद्गीता विशिष्यते, ॥

इत्यादिस्मृतीतिहासपुराणैर्गीतायाः सर्वशास्त्रश्रैष्ठ्यमुच्यते अत एव चास्याः सर्वैराचार्यैः सबहुमानं मननमनुष्ठायैतदीया गूढाशया भाष्य-टीकाद्युपायान् संविधाय लोकोपकृतये प्राकाश्यमानिन्यिरे । अत एव च सत्सम्प्रदायधर्मप्रचाराय गृहीतावतारः 'रामानन्दः स्वयंरामः प्रादुर्भूतो महीतले, इत्यादिवैश्वानरसंहितानुसारेण स्वार्थविप्रलिप्सादि-दोषानास्कन्दितहृदयः परावरज्ञो महायोगी श्रीरामानन्दमुनिः स्वयमप्येतच्छास्त्रं सम्मानयन्नत्र प्रणिनाय तत्वावबोधपरिमितपदं गभीराशयविशदं श्रीमदानन्दभाष्यम् । एतदवलम्बमादाय पूर्वाचार्यचरणानुकम्पालब्धबोधेन मयाऽपि परमपुरुषांघ्रिसरोजरजःस्नेहवशीकृतचेतसा स्वबोधसिद्धये यथाबुद्धि गीतार्थचन्द्रिका नाम्नी टीका विधीयते ।

तत्रादावुपोद्घातविधया धृतराष्ट्रप्रश्नपूर्वकं वक्तव्यमवतारयति । प्रकरणोपक्रमश्चेत्थम् । दुर्योधनकपटद्यूतव्यवहारेण सेवितायासेऽपि वन-वासे पाण्डवानां दिव्यास्त्रलाभविराटनगरीयाद्भुतपराक्रमासादितं दैनन्दिनं वैभवातिशयमाकर्णयन्नष्टोभयदृष्टिर्धृतराष्ट्रो—

'यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते ।
चक्षुर्ददानि ते पुत्रयुद्धं तत्र निशामय ।' (भा. भी. २।६)

इत्येवं चक्षुःप्रदानाय भगवता वेदव्यासेन प्रलोभितोऽपि,

'न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम ।
युद्धमेतत्त्वशेषेण शृणुयां तव तेजसा ।' (भा. भी. २।७)

इत्यभिदधच्छुश्रूषामात्रमदर्शयत् । तदा—

'वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ ।' (भा. भी. २।८)

उक्तवाँश्च—'एष ते संजयो राजन् ! युद्धमेतद्वदिष्यति ।
एतस्य सर्वं संग्रामे न परोक्षं भविष्यति ॥
चक्षुषा संजयो राजन् ! दिव्येनैव समन्वितः ।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति ॥
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि ।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः ॥
नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः ।
गावल्गणिरयं ! जीवन् युद्धादस्माद्विमोक्ष्यति ॥
अहन्तु कीर्तिमेतेषां कुरूणां भरतर्षभ ! ।
पाण्डवानाञ्च सर्वेषां प्रथयिष्यामि माशुचः ॥
दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हति ।
नचैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततोजयः ।' (भा. भी. २।१४)

इति । ततो धर्मवतामेव विजयस्तद्विपरीतानाम्पराजय इत्यादि-रूपां युद्धपरिणतिञ्च तमुपदिश्य गतवति तस्मिन् 'आत्मीयापराध-जनितव्यामोहदोलान्दोलितहृदयः परमाकुलो धृतराष्ट्रः सञ्जयं पृच्छति । धृतराष्ट्र उवाचेति च जनमेजयम्प्रति वैशम्पायनस्योक्तिः । धृतराष्ट्रो यदप्राक्षीत्तदाह—**धर्मक्षेत्र इति ।**

हे सञ्जय ! धर्मप्रसूभूमिकुरुक्षेत्रे योद्धुमिच्छवः सामस्त्येन मिलिता मदीया दुर्योधनादयः पाण्डुतनया युधिष्ठिरप्रभृतयः किं कृतवन्त इति प्रश्नः । अत्र बाह्यदृष्टिश्चक्षुर्भ्यामवलोकनमान्तर्दृष्टिर्मनसा परमार्थदर्शन-मित्युभयविधदृष्टिविधुरस्यापि वाग्व्यवहारचतुरस्य धृतराष्ट्रस्येमान्यशो-

षाणि प्रश्नाक्षराणि साभिप्रायाण्येव । तथा हि—कुरुक्षेत्रस्य धर्मक्षेत्रत्वोक्त्या 'यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्, इति जाबालश्रुत्या 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्, इति ब्राह्मणेन चास्य धर्मसाधकत्वमुद्घोष्यते । ततश्चात्र धार्मिककृत्यमेवानुष्ठेयं न तु हिंसाफलकमायोधनमित्यभिप्रायः । ननु युद्धस्यापि वर्णधर्मत्वाद्धर्म्यत्वमिति चेद्धर्मक्षेत्रमाहात्म्येनादित एव दुराशया मत्पुत्राः जात्वन्तर्विशुद्धौ छलादाहृतं राज्यं पाण्डवेभ्यो युद्धमन्तरेणापि दधुस्तर्हि विनायासेनैव राज्यावाप्तिरथवा धर्मक्षेत्रप्रभावात् परमधार्मिकस्याजातशत्रोर्विरक्तिमाश्रित्य राज्यस्पृहैव विनष्टिमुपेयादिति स्वत एव मत्पुत्रराज्यसिद्धिर्विरोधनिवृत्तिश्चेति फलिता मे मनोविलासवल्लरिः । कुरुक्षेत्रमित्यपि 'अस्मत्पूर्वजानामियं भूमिस्तैरेव सम्पादिता नत्वस्माभिर्वयञ्च सर्वे कुरव इति सर्वेषां स्वाम्यसाम्यमतो निर्वैरमियं सम्भूयभोग्येति सर्वेषां सम्पन्ने विचारे सुतरां युद्धविरतिरित्यपरो धार्तराष्ट्रोऽभिप्रायः । केचित्तु 'अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदन,मितिश्रुत्यभिहिताविमुक्तकुरुक्षेत्रव्यावृत्यर्थं धर्मक्षेत्रविशेषणमित्याहुस्तन्न,—

अथ गावल्गणिर्धीमान् समरादेत्य सञ्जयः ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् ॥ भा. भी. प. १३।१

इति प्रत्यक्षदृश्वनः समरसमागतस्य संजयस्योपहस्तिनापुरं कुरुक्षेत्र एव युद्धार्थिनः समवेता इति निश्चयो न पुनरविमुक्तकुरुक्षेत्र इति निश्चयान्न तद्व्यावृत्यर्थं धर्मक्षेत्रपदं सार्थकम् । ननु युयु-

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

आ. भा—एवं प्राधान्येन स्वतनयोन्नतिं शुश्रूषोर्धृतराष्ट्रस्य प्रश्नमाकर्ण्य तदुत्तरं लब्धद्वैपायनप्रसाददिव्यदृष्टिस्संजय उवाचेति जनमेजयम्प्रति वैशम्पायनस्योक्तिः । सञ्जयस्य प्रतिवचनं निर्दिशति—दृष्ट्वात्विति । पाण्डवानीकं पाण्डुतन-

त्सवः समवेताश्चेद्युद्धमेव करिष्यन्तीति नियतनिश्चयात् 'कथमयुध्यन्, इति प्रश्नम्परिहाय 'किमकुर्वत, इति प्रश्नः कथमुपपद्यतामितिचेन्न कुरुक्षेत्रस्य धर्मक्षेत्रत्वोक्तिस्तस्य पुण्यजनकभूमित्वं द्योतयति तथा च तत्संश्रयान्मत्पुत्रस्य प्राक्तनाघपरिणतिदोषविनाशेन मनोनैर्मल्याद्धर्मतोऽर्धराज्यं धर्मराजाय दत्त्वा सन्धिं कृतवन्त आहोस्विद्विग्रहमेव कृतवन्त इति सूपपद्यते स एव प्रश्नः । सञ्जय इत्यामन्त्रणेन रागद्वेषौ सम्यग्विजित्य व्यासप्रसादात् साम्यमास्थितस्य विदुषस्तव वचसि मे श्रद्धातिशयोऽस्तीति व्यज्यते । संजयेति च सम्बोधनं रागादिदोषान् सम्यग्जितवानसीतिकृत्वा निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनार्थमिति व्यक्तिस्तु न युक्ता रागद्वेषादिदोषाञ्जितवानयमितिजानानस्यैव धृतराष्ट्रस्य सञ्जय इति सम्बोधनं पुनर्निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनैव व्यर्था रागद्वेषादिहीनस्तु तथैव वक्ष्यति किम्फलं निर्व्याजमेव कथनीयं त्वयेति सूचनयेति । एवञ्च कुरुक्षेत्रगतानां कुरुपाण्डवानाम्प्रवृत्तिं कार्त्स्न्येनोपवर्णयेति धृतराष्ट्रस्य प्रश्नः ॥१॥

यानां सैन्यं व्यूढं व्यूहाकारेणावस्थितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनस्तदा सङ्ग्रामारम्भकाले सामयिककृत्यं विमर्शयितुं धनुर्विद्यानिधेर्द्रोणाचार्यस्य समीपं तदादरातिशयं ख्यापयिष्यन् स्वयमेव गत्वा वक्ष्यमाणवाक्यमुवाच ॥ २ ॥

अ. टी. एवं निजतनयावनविलीनदृष्टेर्वस्तुतो गतदृष्टेर्धृतराष्ट्रस्य प्रश्नाशयमनुसन्धाय तदुत्तरं दातुमुद्यतो व्यासप्रासादाधिगतदिव्यदृष्टिस्सञ्जय उवाचेत्याह वैशम्पायनः। किं तत्प्रतिवचनमित्याह—**दृष्ट्वेति**। तु-शब्दस्तूत्तरयितुरुत्तरसामर्थ्यं प्रकटयति। राजा राजनीतिकुशलत्वान्नतु प्रजागुरुरञ्जनात् तथाविधो दुर्योधनस्तदा समरसमारम्भसमये व्यूढं भीमधृष्टद्युम्नादिभिः क्रौञ्चारुणादिव्यूहरचनया सज्जीकृतं पाण्डवानीकं पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनामनीकं सैन्यं दृष्ट्वा स्वचक्षुर्गोचरीकृत्य तात्कालिकं कर्तव्यं विचिचारयिषुरादौ धनुर्विद्याविशारदं द्रोणाचार्यमुपसंगम्य समीपं गत्वेदं वचनमब्रवीत्। अत्राचार्यपदं ‘ कार्यनिर्देशाय राज्ञो विशिष्टस्यापि सैनिकस्य सविधे गमनमनुचितमित्याशंकां व्यवच्छिनत्ति। न हि यस्य कस्यचित्साधारणस्य सैनिकस्यान्तिकेऽपि तु स्वाचार्यस्य धनुर्विद्यागुरोरन्तिक एवेतिभावः। तत्रापि सम्यक्प्रणिपातपुरस्सरं गत्वा न तु स्वशिविरमाहूय यथा कथञ्चिद् गत्वा वेति। वचनमब्रवीदित्यनेन वाचनिकीमेव व्यवस्थां निरदिशन्न तु कार्यपरिणतां कामपि तामदिशदिति ज्ञाप्यते। यत्वत्र राजानं तोषयितुं दुर्योधनदौष्ट्यमेव प्रथमतो वर्णयतीत्यादि व्याख्यातं तत्प्रकरणविरुद्धम्। नहि राज्ञो दुर्योधनस्याचार्यसमीपगमनं तेन सह वास्तविकविमर्शश्चेत्यादिकं सदाचरितकार्यं

तद्दौष्ट्यमभिव्यनक्ति। न वा ज्ञातस्वभावस्य तत्पितुरन्तिके सञ्जयोऽपि तद्दौष्ट्यं वर्णयितुम्प्रवृत्तोऽपि तु युद्धवृत्तम् ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

आ भा.—तद्वचनमाह सञ्जयः—पश्यैतामिति। भो आचार्य! समरशास्त्रनिष्णातधिषणेन तवैव शिष्येण द्रुपदतनयेन व्यूढां व्यूहाकारेणोपस्थापितां पाण्डुपुत्राणां महतीं विस्तृतामनेकाक्षौहिणीसमन्वितामेतां सेनां पश्य तेषां शौर्यबलोत्साहसन्नाहादीन् ज्ञातुं चक्षुर्विषयी कुर्विति प्रार्थना ॥ ३ ॥

अ. टी—तद्वचनमुदाहरति सञ्जयः **पश्यैतामित्यादिना**। गुरुतरकार्यमावेदयितुमतिनम्रतयामन्त्रयति आचार्येति। ससम्बन्धिकशब्दादादरातिशयो व्यज्यते। एतामतिसमीपस्थां तेजस्विनामत्यासन्ना रिपोरवस्थितिरसह्या भवतीति न कथमपि भवान् सोढुमर्हे इति भावः। पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनां न त्वस्मद्भ्रातृणामिति हार्दिकद्वेषविशेषज्ञापनाय तथोक्तिः। बहुवचनन्तु सर्वेऽपि समानरूपेणास्मद्द्वेषिण इति भावः। महतीमनेकाक्षौहिणीवैशिष्ट्येन दर्शकविस्मयावहां धीमता समरचातुरीचुञ्चुना न तु केवलशूरेण तव शिष्येण त्वत्तः सविधिशिक्षितसमस्तास्त्रग्रामेण न त्वन्येन शिष्याद् गुरोरधिकमेव सामर्थ्यं भवतीत्यनेनाप्याचार्य एव प्रशंसितः। ननु मदीया अनेके शिष्यास्सन्तीति येन केनचित् साधारणेन भवितव्यमिति चेत्तत्राह—द्रुपदपुत्रेणेति। धृष्टद्युम्नेनेत्यनभिधाय तत्पितृसम्बन्धाभिधानेन प्राचीनशत्रुतां स्मारयति। तथा-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

आ. भा.—पश्यन्तमेव विशिष्टरूपेण शूरान् परिचाययन्नाह–अत्रेति । अत्र शत्रुसैन्ये महेष्वासा महाशरासना युधि संग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः शौर्यशालिनः सन्ति । के च तयित्याह–युयुधानः सात्यकिर्विराटाधिपतिर्द्रुपदश्चैते त्रयोऽपि महारथा एव ॥ ४ ॥

चास्मात्सात्रधानेन भाव्यं भवतेति भावः । व्यूढां वज्रादिव्यूहरचनया सज्जीकृतां पश्य सामरिकदृष्ट्या प्रत्यक्षीकुरु । यत्वत्र कैश्चित् ‘ हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! न तु मम तेषु स्नेहातिशयाद् द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येणेति त्वद्वधार्थमुत्पन्नोऽपि त्वयाऽध्यापित इति तव मौढ्यमेव ममानर्थकारणमिति सूचयति, इत्यादि व्याख्यातं तत्रैव च पुनर्दुर्योधनः स्वोदरनिगूढद्वेषं द्योतयन्नाचार्ये भ्रान्तत्वमप्याविष्करोति । तदेतत् सर्वं प्रकरणविरोधादुपेक्ष्यम् । गुरुतरकार्यभाराक्रान्तो दुर्योधनो यत्कृपानिर्भरं युद्धविजयं मनुते तस्यैव समीपं विनयावनत भूत्वा सम्प्राप्याचार्येति प्रेम्णादरातिशयेन च सम्बोधयन् पश्येति च प्रार्थयते । पुनस्तमेव युद्धार्णवसन्तरणसेतुभूतं स्वाचार्यमुद्दिश्यैवं स्वदुराशयं प्रकटयेदिति को हि प्रेक्षावानङ्गीकुर्यात् । परबलयुद्धोद्योगमवलोक्य दुर्योधनस्तत्कालोचितकार्यं विमर्शयितुमेव सेनानायकं स्वाचार्यमगमन्नतु दौष्ट्यं प्रकटयितुमसामयिकत्वादिति सुधिय एव भावयन्तु ॥ ३ ॥

ननु व्यूहान्तरवस्थितास्साधारणसैनिका एव भवन्ति तत्से-

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

आ भा.–धृष्टकेतुः चेकितानः काशिराज इत्येते त्रयोवीर्यवन्तः । वीर्यवानिति विशेषणं धृष्टकेत्वादित्रयाणामपीतियावत् । एवं पुरुजित्कुन्तिभोजशैब्यादित्रयाणां नरपुङ्गव इति विशेषणम् ॥ ५ ॥

नानीस्त्वेक एव द्रुपदतनयस्तज्जयश्च त्वदीयेन येन केनापि सुभटेन सुकर इति केयमनवसरप्राप्ता चिन्तेत्याह—**अत्रेत्यादिभिस्त्रिभिः** । अत्रास्यां चम्वामिषवो बाणा अस्यन्ते यैस्ते इष्वासा शरासनानि महान्ति तानि येषान्ते तथा युधि सम्प्रहारे सम्प्रख्यातविद्याबलोत्साहाभ्यां भीमार्जुनाभ्यां समास्तुल्याः शूराः परोत्सादनशौर्यविशिष्टाः सन्ति । तथा विधान् नाम्ना पराक्रमेण चाभिधत्ते युयुधान इति । अतिशयितयुद्धकर्तृत्वाद्युयुधानः सात्यकिर्विशेषेण राजत इति विराड्राजा द्रुपदो द्रौपदीपिता । एते त्रयोऽपि महारथाः । एतेन ‘ महारथ इति सन्निहितस्य द्रुपदस्यैव विशेषणमेकवचनस्वारस्याद् ’ इत्यादि प्रत्युक्तमितरयोर्निर्विशेषणत्वेन सामान्यतयोपादानात् । विशिष्टपरिगणनायां सामान्योपादानायोगात् । सर्वेषामेकवचनान्तत्वेन सर्वेषां विशेषणत्वेऽप्येकवचनस्वारस्यमुपपद्यते । महारथ लक्षणन्तु ‘ एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । इत्यादिकमनुपदं स्पष्टीक्रियते ॥ ४ ॥

अ० चं० टी०—कैकेयोधृष्टकेतुस्तदन्यश्चेकितानः काशिराजश्चेत्येतेषां त्रयाणामपि विशेषणं वीर्यवानिति । पुरुजित् कुन्तिभोजः शैब्य

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

आ.भा.—विक्रमशाली युधामन्युः पाञ्चालो वीरोचितकर्मशाल्युत्तमौजाश्च पञ्चालदेशीयः सुभद्राया अपत्यमभिमन्युर्द्रौपद्या अपत्यानि प्रतिबिन्ध्यादयः पञ्च । चकाराद् घटोत्कचप्रभृतयो ग्राह्याः । एते सर्वे महारथा एव । महारथलक्षणन्तु–'आत्मानं रथिनश्चाश्वान् रक्षन्नक्षतमायुधैः । यो युध्यत्ययुतैर्वीरैः समहारथ उच्यते ॥ इत्यादिकमत्र योज्यम् ॥ ६ ॥

इत्येतेषां त्रयाणां नरपुङ्गव इति विशेषणम् । धृष्टकेत्वादयो वीर्यवन्तः पुरुजिदादयश्च नरपुङ्गव इति समुदितार्थः । अत्र चिकितानस्यापत्यं चेकितान इति शंकरानन्दव्याख्यानमयुक्तम् । तथा सति शब्दस्यादन्तत्वादत इञिति पाणिनीयेन चैकितानिरिति स्यात् । कैश्चित्पुरुजिदिति कुन्तिभोजस्य विशेषणमुक्तं तदपि ग्रन्थास्वारस्यान्निस्सारम् । तद्वाक्ये च द्वयस्यानर्थक्यात् । वीर्यवानिति विशेषणं काशिराजस्यैकस्यैव नरपुङ्गव इति च शैब्यस्यैवाव्यहितपूर्ववर्तित्वादित्यपि न युक्तिमत् । विशिष्टयोद्धृबोधने प्रवृत्तस्य दुर्योधनस्य निर्विशेषणसामान्ययोद्धृबोधने बुद्धिमान्द्यावगमात् । विशिष्टयोद्धृबोधन एव तस्य प्रवृत्तिरिति 'अस्माकन्तु विशिष्टा य' इत्युत्तरवाक्यात् स्पष्टमवगम्यते । तस्मादुक्तार्थ एव तात्पर्यम् ॥५॥

अ०चं०–विक्रमवीर्यप्रसिद्धौ युधामन्यूत्तमौजसौ पञ्चालदेशसमुत्थौ परमप्रसिद्धावित्यर्थः तदुक्तं भारते 'चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसाविति । सौभद्रोऽभिमन्युर्द्रौपद्या अपत्यानि प्रतिविन्ध्यादयः

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

आ. भा.—एवं स्वाचार्यं परबलं तन्नेतॄंश्च प्रदर्श्य स्वबलं तदधिपतींश्च निर्दिशति–अस्माकन्त्विति–तु शब्दः परबल-

पञ्च । इमे परिगणिताः सप्तदशसंख्याकाः शूरा बलेन भीमार्जुनाभ्यां साम्यं दधतोऽपि महारथा एव । अत एवार्जुनादीनामतिरथत्वेनात्र महारथेषु परिगणनाभावः सिध्यति ।

'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥
अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः ।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः ॥,

इति महारथादिलक्षणसंगमने प्रोक्तशूराणां रथोऽर्धरथत्वादिकं न सम्भवति । किन्तु महारथत्वमेवेत्येवकारेण बोध्यते । अथवाऽस्मत्सैन्ये विद्यमानैर्भीष्मद्रोणकृपकर्णविकर्णाश्वत्थामाद्यतिरथैस्सह योध्धुमेतेषां नास्ति सामर्थ्यं यतः सर्वे महारथा एवेत्यपि दुर्योधनस्याचार्य्योत्साहोद्दीप्तये कथनं युज्यतेऽत एव पूर्वश्लोके 'भीमार्जुनसमा' इत्येतावदेवोक्त्वा भीमार्जुनादीनां परिगणनमेव न कृतम् । यतस्तेषामतिरथत्वेनाभिहिते सत्याचार्यस्योत्साहभंगः स्यादित्यपि भावः ॥ ६ ॥

अ०टी०—एवं परबलवर्णनमाकर्ण्य सैन्यसन्निवेशञ्च दृष्ट्वाऽऽचार्यचेतसि सैव चिरचिन्तितसमरोपरतिराविशेदथ च मामपि भीतमनुसन्धाय

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

व्यावर्तकः। अस्माकं सैन्ये ये पराक्रमशस्त्रविद्यादिषु विशिष्टा उन्नता मम सैन्यस्य नेतारस्ताँस्ते समवधानार्थं ब्रवीमि, नत्व-ज्ञातज्ञापनार्थं त्वं निबोध विजानीहि। द्विजोत्तमेत्यामन्त्रणं युद्धविद्याचार्यस्यापि ते मंत्रवित्त्वमक्षतमिति सर्वथा तव कार्यक्ष-मतास्तीति सूचयितुम् ॥ ७ ॥

आ. भा.––नामतस्तानाह–भवानिति। स्वाचार्यत्वेन

सन्धये जात्वनुज्ञां विदध्यात्तदा विहता मे मनोरथपंक्तिरित्याशंक्याह––**अस्माकन्त्विति**। त्विति बोधने दुर्योधनः स्वकीयव्याकुलतामाच्छादयन् धाष्टर्यमातनोति। द्विजोत्तमेति कथनं मंत्रास्त्रविद्यावत्सूत्तमत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वमाचार्येऽभिधाय स्वाभिमुख्यं सम्पादयितुम्। अस्माकं सर्वेषां मध्ये ये विशिष्टा विद्याशौर्यवीर्यादिभिरुत्कृष्टा मम सैन्ये सेनान्यः सन्ति तान् मयोदीर्यमाणान्निबोध। विज्ञस्यापि भवतो भूयः परिज्ञानार्थं ब्रवीमि। द्विजोत्तमेत्यामंत्रणं साभिप्रायं तव केवलं ब्राह्मणत्वमेव यतः शस्त्रशास्त्रविदपि सामर्शसंग्रामकरणाकौशलं तव जातिसिद्धमित्यन्येषु भीष्मादिक्षत्रियेषु संग्रामनिर्भरत्वमित्यावेदयितुम्। एवं प्रियशिष्यार्जुनस्य सैन्यं दृष्ट्वा कदाचिद्धर्षावेगात् स्वप्रतिज्ञापि विस्मृता भवेदतः संज्ञार्थमित्यपि साभिप्रायोक्तिरितिकेचित तत्प्रकरणविरुद्धम् ॥ ७ ॥

अ०टी०––विशिष्टानेव सेनान्यो निर्वक्ति–**भवानिति**। स्वपरम-गुरुत्वेन बलवत्त्वेन च भीष्मस्य प्रथमगणनीयत्वेऽपि स्वाचार्यत्वाद्बलव-

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणत्वेन साक्षादुपस्थितत्वेन भवान् द्रोण इति प्राक्परिगणनं भीष्मो देवव्रतः कर्णः कृपाचार्योऽश्वत्थामा, इमौ समरविजयिनौ समितिञ्जय इत्यनयोरेव विशेषणमुभयोर्मध्यपातित्वात्। विकर्णोऽ-नुजः सौमदत्तिर्भूरिश्रवास्तथैव चेत्यनेन सिन्धुपतेरपि संग्रहः ॥८॥

आ. भा.––एवं विशिष्टनायकनामान्युक्त्वा नायकान्तरा-ण्यपि सन्तीत्याह–अन्ये चेति। प्रोक्तेऽभ्योऽन्ये शल्यादयो बहवो

त्त्वाद्ब्राह्मणत्वादुपस्थितत्वाच्च भवान् द्रोणाचार्य इति द्रोणस्य प्रथमोक्तिः। भीष्मो गाङ्गेयः कर्णः कृपाचार्योऽश्वत्थामा च। अनयोर्गौरवशालितया बलवत्त्वाद्ब्राह्मणत्वाच्च राधेयानन्तरगणनमयोग्यमिति मन्वानस्समितिं संग्रामं जयतीति समितिञ्जयपदेनोभयं विशिनष्टि। ग्रन्थे च देहलीदीपन्यायेन मध्यवर्तित्वेऽप्यस्य पदस्योभयत्रान्वयः। समितौ युद्धे जयतीति कैश्चित् क्रियमाणा व्युत्पत्तिस्तु प्रामादिकी, शब्दागमविरोधात्। समितावेकस्यापि जयेन 'समितिञ्जयोऽयम्, इति प्रयोगापत्तेश्च। इष्टापत्तौ तु तदुपादानवैयर्थ्यापत्तेः। विकर्णः स्वानुजः सोमदत्तिर्भूरिश्रवास्तथैव चेति जयद्रथस्यापि परिगणनम्। तथाशब्दचशब्दयोस्समानार्थकत्वेनैकोपादानेऽपि समुच्चयसिद्धौ द्वयोरुपादानं विशिष्टार्थं गमयति। अतस्तद्ग्रहणं तथा शब्देन ॥ ८ ॥

किमियन्त एव सेनान्यः सन्तीत्याह–**अन्ये चेति**। अन्ये च शल्यबाल्हीकभगदत्तादयो बहवो मदर्थसिद्ध्यै जीवितमपि त्यक्तु-

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

योद्धारः सन्ति ये च मन्निमित्तं जीवितमपि त्यक्तुमुत्सहन्ते । ननु बद्धदृढसौहार्दानामकिञ्चित्कराणां जीवितत्याग एव सुकरस्तत्र तु किम्फलं तेनेत्याह—नानाशस्त्रप्रहरणा नानाविधानि शस्त्राणि शक्तितोमरपरिघादीनि प्रहरणसाधनानि येषां ते तथाविधा युद्धविद्यायां परमनिपुणा इति नाहमल्पसहाय इति भावः ॥ ९ ॥

आ. भा.——इदानीं स्वबलाधिक्यं दर्शयति—**अपर्याप्तमिति । तत्पूर्वमुपवर्णितं अस्माकं बलमपर्याप्तमपरिमितमनल्पसं-**
मध्यवसिता मयि प्राणेभ्योऽप्यधिका प्रीतिस्तेषामितिभावः, सर्वेऽपि शौर्यशालिनो नानाविधानि शक्तितोमरशूलनिस्त्रिंशपाशचक्रादीनि शस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते पर सैन्ये तु 'महेष्वासाः, केवलं धनुर्धारिण एवेति भावः । युद्धविद्यायां नैपुण्यातिशयशालिनः सर्वविधयोद्धृष्वतिरथादिष्वपि स्वकीयं वैशारद्यं प्रकटयन्ति परसैन्यवन्न केवलं महारथा एवेति भावः ॥ ९ ॥

अ. टी.—एवं स्वपरसैन्यं तद्गतान् विशिष्टांश्च शूरान्नामतः पराक्रमतश्च विनिर्दिश्य स्वपृतनापतिं भीष्मं हर्षयितुं तत्प्रयुक्तं स्वबलोत्कर्षमभिधत्ते—**अपर्याप्तमिति** । ततूपूर्वमुपक्रान्तमस्माकं बलं भीष्माचार्येण सर्वसांयुगीनजित्वरेणाभिरक्षितमस्त्यतोऽपर्याप्तमपरिमितं दृश्यते । अथवा तत् पूर्वमुपक्रान्तमस्माकं बलमपर्याप्तमपरिमितमनल्प-

ख्याकं तद्बलं योद्धुमसमर्थमिति वा यतोऽस्मद्बलं सर्वातिशायिबलवता भीष्मेणाभिरक्षितमस्ति । इदमेतेषां बलन्तु परिमितमल्पसंख्याकमस्मद्बलं योद्धुं समर्थं वास्ति यतस्तद्बलं भीमेन

संख्याकमेकादशाक्षौहिणीसंख्याकं स्वतो विद्यत इतियावत् । सर्वातिरथातिशायिभीष्मेणाभिरक्षितञ्चास्ति इति विशिष्टापरिमिततां गमयति । विनापि चञ्चार्थो गम्यत इति नियमात् । अथवा तत् पूर्वप्रयुक्तपदोपस्थापितमस्माकं बलमप्रमेयपराक्रमशालिना भीष्मेणाभिरक्षितमतो हेतोस्तद्बलं योद्धुमसमर्थम् । एवमिदं पुरो दृश्यमानमेतेषां पाण्डवानां बलं भीमेन परिमितशक्तिमताऽल्पवयस्केन चाभिरक्षितमस्त्यतः पर्याप्तं परिमितं दृश्यते । अथवेदमेतेषां बलं पर्याप्तं परिमितमल्पसंख्याकं सप्ताक्षौहिणीसंख्याकं स्वतो विद्यत इति यावत् । परिमितबलवता भीमेनाभिरक्षितञ्चास्तीत्यतोऽतिपरिमितत्वमतिन्यूनत्वं गमयतीत्यर्थः । अथवेदमेतेषां बलं परिमितबलवद्भीमेनाभिरक्षितमतो हेतोरस्मद्बलं योद्धुं समर्थमिति । एवमस्य श्लोकस्योपलभ्यमानेभ्यो भाष्यटीकादिभ्योऽस्मदाचार्यभगवत्पादप्रणीतानन्दभाष्यनामकगीताभाष्यमेव युक्तं प्रतीयत इति तदनुसारेणैव मयात्र टीकायां सम्भवितार्थस्योल्लेखः कृतस्तत्र विदुषां परितोषायावश्यकमिदं किञ्चिद्विचार्यते । परैरयं श्लोकः "तत्तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्मेणाभिरक्षितमप्यस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तं तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति । इदन्तु एतेषां पाण्डवानां बलं भीमेनाभिरक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं भाति भीष्मस्योभयपक्षपातित्वात् । भीमस्यैकपक्षपातित्वात् "
एवं व्याख्यातो यैश्च "तद्यथोक्तयोद्धृविशिष्टं भीष्माभिरक्षितमस्माकं

युद्धे भीष्मसामर्थ्यतोऽतिहीनसामर्थ्येनाल्पवयस्केन चाभिरक्षितं तस्मादस्माकमेव विजय इति भावः ॥ १० ॥

बलं सैन्यमपर्याप्तमपूर्णं मे भातीत्यादिप्रकारेण व्याख्यातस्तद्वयोरपि व्याख्यानयोरर्थभेदः प्रकरणविरोधश्च दुरुद्धरौ दोषावाद्यव्याख्यानकर्तुश्च 'तदेवं बहुमानयुक्तं राजवाक्यं श्रुत्वा भीष्मःकिंकृतवानिति स्वोत्तरग्रंथविरोधोऽपि । कथमेवंविधे समासन्नसंग्रामे स्वार्थसाधने प्रवृत्तो दुर्योधनः स्वकीयसेनासर्वस्वं निखिलशूराग्रगण्यं भीष्माचार्यं द्रोणाचार्यञ्च तयोः शृण्वतोरेव दुरभिप्रायाभिःकटूक्तिभिश्चाक्षिपेत् ? कथञ्चाक्षिप्तोऽपि भीष्मः 'तस्य संजनयन् हर्षम्, इत्युक्तप्रकारेण सिंहनादं कुर्यात् ? एवं द्रोणाचार्यसमीपे गमनं तमाचार्येति सबहुमानं संबोध्य चमूवर्णनमपि नाक्षेपस्य सूचकं न वा तद्दौष्ट्यस्य । अपि च युद्धवृत्तं ज्ञातुम्पर्यनुयुक्तः सञ्जयोऽपि तस्यैव पितुरन्तिके तदीयदौर्जन्यं कथमिव कथयेत् । अतः प्रकरणविरुद्धमेव तद्वयमपि व्याख्यानम् । यदपि तत्तस्मादस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितमपर्याप्तं परविजयाय नालम् । इदं त्वेतेषां पाण्डवानां बलं भीमाभिरक्षितं पर्याप्तमस्मद्बलविजयायालमित्युक्तं तदप्यनुपपन्नम् । इतः पूर्वत्र पर्याप्तापर्याप्तहेतूनामनिरूपणात्, स्वरसतः प्रतीयमानस्य 'तद्बल, मिति सामानाधिकरण्यस्य विरोधात्, प्रकरणविरोधाच्च । अस्मद्व्याख्याने तु न केवलमुक्तदोषाणामेवाभावोऽपितु भीष्माभिरक्षितभीमाभिरक्षितवाक्ययोरपि स्वारस्यं सुरक्षितं भवति । तथा हि भीष्मवत् परबले प्रतिकोटितया योऽयं भीमनिर्देशः स किमर्थः ? सर्वप्राधान्यात् सम्मतिप्रदायित्वात् सेनानायकत्वात् प्रधानयोद्धृत्वात् सम-

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

आ, भा——एवञ्च भीष्मकर्तृकव्यूहाभङ्गाय भवद्भिर्बलाध्यक्षस्य भीष्मस्यैव रक्षणं विधेयमिति प्रार्थयते–अयनेष्विति । अयनेषु व्यूहावयवस्थानेषु सर्वेषु सेनान्या यथा विभक्ता व्यूहरचनायां ये यत्र नियोजितास्ते तत्रावस्थितास्सन्तो भवन्तः

बलत्वाद्वा ? तत्र न प्रथमो हेतुः धर्मराजस्यैव तथात्वात् । न द्वितीयो भगवतः श्रीकृष्णस्यैव तत्कर्मकारित्वात् । न तृतीयो धृष्टद्युम्नस्यैव सेनाध्यक्षत्वात् । न तुरीयोऽर्जुनस्यैव तथा प्रसिद्धेः । नापि पञ्चमो न हि कुरुपाण्डवेषु संग्रामे भीष्मसाम्यं कस्याप्यासीत् । उक्तश्चैतत्स्वयमेव भीष्मेण 'शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् । यद्येषां न भवेद्गोप्ता विष्णुः कारणपूरुषः (भा.) इति । तस्मादल्पबलस्य दिदर्शयिषयैव भीमाभिरक्षितमित्युक्तिरत एवैतद्वाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रहृष्टो भीष्मो दुर्योधनस्य हर्षमुत्पादयन् सिंहनादं विनद्योच्चैः प्राक् शंखं दध्मावित्युत्तरग्रन्थः संगच्छते ॥ १० ॥

अ. टी.—एवं स्थिते भीष्माचार्यविरचितव्यूहगुप्तये सेनानायकस्य भीष्मस्य रक्षणमावश्यकमतस्तत्प्रार्थयते—**अयनेष्विति** । अयनेषु व्यूहावयवस्थागमनिर्गमस्थानेषु सेनान्या व्यूहाकारनिर्माणसमये यस्मिन् भागे व्यूहावयवभागे च नियोजिताः शूरास्ते यथाभागमवस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्वेऽपि सर्वसैन्यस्याधिष्ठातारमभितः सर्वतः पुरतः पार्श्वाभ्यां पृष्ठतश्चेति यावत् । रक्षन्तु तस्मिन् सर्वतो निपातितानि शस्त्रास्त्राणि

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

सर्वेऽपि स्वकीयं सेनापतिं भीष्ममेव सर्वतोऽभिरक्षन्तु स्वस्थानमपरित्यज्य भीष्माचार्ये यथा प्रहारो न भवेत्तथा तद्रक्षा विधेया। तद्रक्षिते सर्वं बलं रक्षितं स्यादिति भावः ॥ ११ ॥

आ. भा.——स्वपरसैन्यवृत्तमावेदयितुमाश्रितस्यापि द्रोणाचार्यस्य समीपे 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु' इति भीष्मरक्षण एव विजयनिर्भर इत्येतद्राजहार्दमवगम्य स्वस्मिन् प्रेमातिशयश्च जानानः स्वपराक्रमं दिदर्शयिषुस्तं हर्षयतीत्याह सञ्जयः——तस्येति । तस्य दुर्योधनस्य हर्षमानन्दं सम्यग्जनयन्नुत्पादयन् प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहो भीष्मः सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ वादितवान् ॥ १२ ॥

दूरत एव वारणीयानि तथा रक्षितोऽयं यथासुखं परबलं प्रहरिष्यति। ततश्चास्माकमेव विजयः अतः सेनापतेर्भीष्मस्य मम च राज्ञो निदेशपरिपालनमेव द्वेषेर्ष्यासूयामत्सरादिकमुत्सृज्य विधेयमित्यनुरोधः ॥११॥

अ. टी.——एवमुपद्रोणं स्थितवन्तमपि स्वकीयप्रशंसां कुर्वाणं मद्रक्षणार्थमखिलसैनिकान्नियोजयन्तमत एव मयि निबद्धसौहार्दमिमं मदाशयं प्रकटयामीति धिया दुर्योधनं भीष्मो हर्षयतीत्याह—**तस्येति**। प्रतापवान् परशुरामादिभिस्सह युद्धकरणान्महाप्रतापः कुरुषु वृद्धत्त्वात्कुरुवृद्धः पितुःपितुरपि ज्येष्ठत्वादर्हणीयः पितामहो भीष्मस्तस्य दुर्योधनस्य राज्ञो हर्षं संजनयन् सम्यगुत्पादयन् कार्याव्यवहितोत्तरक्षण एव हर्षमुत्पादयितुमित्यर्थः।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ॥
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततःश्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ॥
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥१४॥

आ. भा.—भीष्मशंखध्वनिमुपश्रुत्य सर्वैर्विशिष्टयोद्धृभिर्युयुत्सासूचकानि शंखादीनि वादितानीत्याह-**तत इति**। ततः सेनानायकस्य भीष्मस्य शंखध्मानानन्तरं भीष्मपक्षीयैस्सैनिकैः शंखभेरीपणवानकगोमुखाः वाद्यविशेषाः सहसैवातित्वरयैवाभ्यहन्यन्त प्रवादितास्तज्जनितः शब्दो ध्वनिस्तुमुलो महानासीत् ॥ १३ ॥

आ. भा —पाण्डवसैन्योत्साहमपि दर्शयति **तत इति**। ततो भीष्मादिशंखसमुत्थितं तुमुलध्वनिमाकर्ण्य शुक्लवर्णैरश्वैर्युक्ते धनञ्जयस्यार्हणीयरथेऽवस्थितौ श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शंखौ

सिंहनादश्रवणसमकालिका तच्छ्रवणसमनन्तरा वा हर्षोत्पत्तिरितियावत्। सिंहनादं सिंहनाद इव महानादस्तं विनद्योच्चैः स्वकीयं शंखं दध्मौ ध्वनयामास ॥ १२ ॥

अ. टी.——भीष्मशंखध्वानमाकर्ण्य रणाजिरे किमभूदित्यपेक्षायामाह—**तत इति**। ततो भीष्मकर्तृकशंखनादश्रवणसमनन्तरं भीष्म पक्षाश्रितैः शूरैः शंखभेरीपणवानकगोमुखा एतन्नामका वाद्यविशेषाः सहसैव झटित्येवाभ्यहन्यन्त वादिताः । सच शब्दो वाद्यसम्भूतो ध्वनिस्तुमुलो रणव्याकुलकरोऽभवदुदपद्यत ॥ १३ ॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ॥
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

वादितवन्तौ । अत्र हयरथादीनां विशिष्टत्वोपवर्णनेनार्जुनस्यैव विजयो व्यज्यत इति भावः ॥ १४ ॥

आ. भा.—इदानीं विशिष्टरूपेण तत्तच्छंखनामान्युपादत्ते—पाञ्चजन्यमिति द्वाभ्याम् । हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः स्वामी जीवान्तर्यामितयेन्द्रियप्रेरकः परमात्मा श्रीकृष्णः स्वकीयं पञ्चजनादुत्पन्नं पाञ्चजन्यं धनञ्जयोऽर्जुनो देवदत्तं भीमकर्मा वृकोदरो भीमसेनः पौण्ड्रनामकं महाशंखं च दध्मौ ॥ १५ ॥

अ. टी.—कुरुसैन्यशंखनादैः पाण्डवसैन्ये हर्षोत्साहौ जातौ न तु भयमिति कथयति—तत इति । ततःकुरुपक्षीयसैनिकशंखध्वनिश्रवणानन्तरं श्वेतैःसितैर्हयैर्वाजिभिर्युक्ते । चतुर्भिरश्वैः श्वेतवर्णैर्विशिष्टस्य रथस्य विजयकारित्वं सूच्यते । महति पूज्यगुणास्पदे वायुसखसमर्पितत्वाद्वायुसदृशशीघ्रगतिके स्यन्दने रथे स्थितावुपविष्टौ माधवः श्रीकृष्णः पाण्डवोऽर्जुनस्तावपि दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुर्वादितवन्तौ । माधवशब्देन राज्यलक्ष्मीमाहृत्य पाण्डवेषु स्थापयिष्यति यतस्तत्पतिरस्तीति । पाण्डवशब्देन च न्याय्यं पाण्डुराज्यं पुत्रस्यैव भवितुमर्हतीति चावगम्यते ॥१४॥

अ. टी.—पूर्वश्लोके दिव्यशंखवादनमभिहितमिदानीं तेषां वैशिष्ट्यं दर्शयति—**पाञ्चजन्यमिति द्वाभ्याम्** । तत्र भगवच्छ्रीकृष्णवत्तच्छंखस्यापि प्राधान्यात् प्रथमं तमेव वर्णयति । पाञ्चजन्यमुदध्यधिकरणकपञ्चजनाज्जातं परमोत्कृष्टं शंखं हृषीकेशः सर्वेन्द्रियाणां नियामकत्वे-

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

आ. भा.—कुन्तीपुत्रः पृथायाः पुत्रो युधिष्ठिरो राजा राजसूययागकारित्वाद्राजा अनन्तविजयाख्यं शंखं दध्मौ । एवं नकुलसहदेवौ क्रमेण सुघोषमणिपुष्पकनामानौ शंखौ दध्मतुर्वादितवन्तौ ॥ १६ ॥

आ. भा.—प्रधानपाण्डवध्मातशंखध्वनिमुपश्रुत्याऽन्येऽपि

नेशः स्वामी श्रीकृष्णः । देवदत्तमत्युत्कृष्टतया देवैर्दत्तं शंखं धनंजयोऽर्जुनः । धनं जितवतस्तस्यैतत्पदेनोत्कृष्टयं द्योत्यते । पौण्ड्रनामकं महाशंखं । अत्र शंखे महत्त्वञ्चाकारप्रकारादिभिर्ज्ञेयम् । यतोऽस्य स्वामी भीमोऽपि शरीराकारप्रकारादिषु महानस्ति । अत एव भीमं हिडिम्बकीचकवधादिरूपं कर्म यस्यास्तीति भीमकर्मा वृकनामाऽग्निर्यस्योदरे वर्तत इति वृकोदरो महाबली भीमो दध्मौ ॥ १५ ॥

अ. टी.—कुन्तीपुत्रः कुन्तीदेव्या प्रीताद्धर्मात्प्राप्तो राजसूयकारित्वाद्राजा युधि संग्रामे स्थिरत्वाद्युधिष्ठिरः 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायामि'त्यलुक् । गवि युधिभ्यां स्थिरः (पा. ८।३।९५) इति षत्वम् । अनन्तोविजयोयतस्तमनन्तविजयाख्यं शंखं दध्मौ नकुलसहदेवावुभौ सुघोषमणिपुष्पकनामानौ शंखौ प्रदध्मतुरिति क्रमेणान्वयः ॥ १६ ॥

अ. टी.—भगवतः श्रीकृष्णस्य पाण्डवानाञ्च शंखवादनेनानुक-

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥
सघोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

पाण्डवपक्षीयाः शंखान् दध्मुरित्याह—काश्यश्चेति द्वाभ्याम। परमेष्वासः काश्यः काशिराजो महारथः शिखण्डी पाञ्चालराजतनयो धृष्टद्युम्नः परबलधर्षकबलशाली द्रुपदतनयो विराटोऽपराजितः सात्यकिश्च द्रुपदो द्रौपदीपिता द्रौपदेया द्रौपद्यास्तनयाः सौभद्रो सुभद्रातनयो महाबाहुरभिमन्युश्चैते सर्वेऽपि हे पृथिवीपते ! पृथक् पृथक् स्वस्वशंखान् दध्मुः ॥१७॥१८॥

आ.भा —पाण्डवसैन्यशंखध्वनिर्धार्तराष्ट्राणां हृदयविदारको रणमन्येऽपि तत्पक्षीयाश्चक्रुरित्युच्यते—**काश्यश्चेति द्वाभ्याम्** । परमेष्वासः काश्यः काशिराजो महारथः शिखण्डी भीष्मशमनकारी द्रुपदेन तपश्चर्ययोपलब्धो धृष्टद्युम्नोऽपि द्रुपदसूनुर्हविर्भुजा द्रोणशमनाय दत्तो विराटश्चापराजितः सात्यकिर्द्रुपदो द्रौपद्याः पिता द्रौपद्याश्चापत्यानि द्रौपदेया महावाहुः सुभद्राया अपत्यं सौभद्रोऽभिमन्युरार्जुनिरित्यनुक्त्वा सौभद्र इति कथनेन भगवतः श्रीकृष्णस्य भगिन्याः सुभद्रायाः स्मृतिराधीयते । अनेन च श्रीकृष्णाश्रितानां यदूनामपि पाण्डवैः सुहृदः सम्बन्धोऽभिधीयते । एते सर्वेऽपि हे पृथिवीपते ! धृतराष्ट्र ! स्वकीयं शंखं पृथक् पृथक् दध्मुः ॥ १८ ॥

अ. टी.—धार्तराष्ट्रैराचरिताः सिंहनादशंखध्वनयश्च पाण्डवानां

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ॥
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

निष्पन्न इत्याह—**स घोष इति** । स पाण्डवतत्पक्षीययोद्धृशंखघोषस्तुमुलो रणव्याकुलतामावहन्नभोगगनं दिशं धरित्रीश्च प्रतिध्वानेनापूरयन् धृतराष्ट्रपुत्राणां तत्पक्षीयानाञ्च हृदयानि दुस्सहव्यथायुक्तानि कृतवान् ॥ १९ ॥

आ. भा.—अथेदानीं गीताशास्त्रप्रतिपाद्यप्रयोजनसिद्धयेऽर्जुनस्याचार्यप्रपदनफलिकां कथामवतारयितुमादौ कौन्तेयप्रवृत्तिक्षोभजनका नाभूवन् पाण्डवसैन्यशंखसमुत्थोद्घोषस्तु त्वदीयतनयानां हृदयदारणीं दारुणां व्यथां जनयामासेत्याह—**स घोष इति।** जगत्प्रसिद्धपाञ्चजन्यादिशंखसमुत्थितः स घोषः परेषां रणव्याकुलतामुत्पादयन्नभोऽन्तरिक्षं चकारात्काष्ठाश्च पृथिवीञ्चोच्चैः प्रतिध्वनयन् धृतराष्ट्रतनयानां दुर्योधनादीनां तत्पक्षीयानाञ्च हृदयानि भयेर्ष्यामर्षजनितचिन्तापरितापविषादलक्षणव्यथाव्यथितान्यकरोत् । रणाङ्गणे शूराणां वाद्यविशेषैः शौर्यं रणोत्साहजनकहर्षोद्रेकश्च जायते, धार्तराष्ट्राणान्त्वेतद्विपरीतं हृदयविदारकं परितापादिरूपं दुःखमुदतिष्ठदित्यनेन तेषां पराजयोऽवश्यम्भावीति सूच्यते ॥ १९ ॥

अ. टी.——अथ भक्तिप्रधानेऽस्मिन् गीताशास्त्रे सपरिकरभक्तेः स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुरादौ तदधिकारिस्वरूपे शोधनीयेऽथशब्देनोपक्रान्तमर्जुननिर्वेदाख्यमवान्तरप्रकरणमिदमारभते——**अथेति** । अथ पाण्डवशंखोत्थिततुमुलध्वानश्रवणानन्तरं कपिर्वानरो हनुमानिति यावत्, ध्वजे

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापयमेऽच्युत ॥२१॥

ज्ञापयति—अथेति । अथ तुमुलध्वनिश्रवणोपजातभयानन्तरमपि धार्तराष्ट्रान् युयुत्सयाऽवस्थितान् रणाङ्गणे युद्धोद्योगपरायणान् दृष्ट्वा चक्षुर्गोचरीकृत्य पाण्डवः पाण्डुपुत्रः कपिर्हनुमान् ध्वजे यस्य सोऽर्जुनः शस्त्रसम्पाते शस्त्रप्रहारे प्रवृत्ते प्रवर्तनसमयस्य प्राक्क्षणे स्वकीयं गाण्डीवनामकं धनुरुद्यम्य ॥२०॥

आ. भा.—तदा तस्मिन् काले हृषीकेशं करणकलेवरादीनां प्रेरकमन्तर्यामिणं श्रीकृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह प्रोक्तवान् । हे महीपते ! इति सम्बोधनेन न्याय्य एव त्वया

यस्य स कपिध्वजः पाण्डवः पाण्डुतनयोऽर्जुनो महाभयभीतानप्यपलायितान् प्रत्युत व्यवस्थितान् युद्धचिकीर्षयया व्यूहाकारेण यथास्थानमवस्थितान् धृतराष्ट्रपुत्रान् दृष्ट्वा स्वचक्षुर्भ्यामवलोक्य शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते शस्त्रसम्प्रहारे प्रवर्तमाने समारोपितशस्त्रविमोक्षणाव्यवहितप्राक्क्षणे धनुरुद्यम्य गाण्डीवनामकं स्वीयकार्मुकमुद्यम्य हृषीकेशमिदं वाक्यमाहेत्युत्तरेणान्वयः ॥ २० ॥

अ. टी.——हे महीपते ! अनेन सम्बोधनेन महीपतेर्न्याय्यमेव कृत्यमनुष्ठेयं नतु स्वतनयेष्वादरः पाण्डवेष्वनादरः इति साधारणजनवद्वर्तितव्यमिति सूच्यते । तदा तस्मिन्नवसरे हृषीकाणां सर्वप्राणीन्द्रियाणामीशं प्रवर्तयितारं हृषीकेशमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह——**सेनयोरिति ।** हे अच्युत ! उभयोः सेनयोर्मध्ये सामान्यविशेषान्

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

विचारः कार्यो यतस्त्वमेवैकः सर्वाध्यक्षतयेदानीं स्थित इति सूच्यते । हे अच्युत ! उभयोः सेनयोर्मध्ये स्वपरसैनिकानवलोकयितुकामस्य मे रथं स्थापय । अच्युतेति सम्बोधनेन त्वत्स्थापितरथस्यापि त्वमिवाचलत्वं भविष्यतीत्यर्जुनस्याशयो गम्यते ॥ २१ ॥

आ.भा.—सेनयोर्मध्ये रथस्थापनफलमाह—**यावदेतानिति।** योध्धुकामानवस्थितान् युद्धेच्छया व्यूहाकारेण सन्नह्य स्थितानेतानतिसमीपवर्तिनो भटान् यावत् यदवधिकदेशे स्थित्वाऽहं शूरान्निभालयितुं मे मम रथं स्थापय स्थिरी कुरु । अत्रार्जुनेन सेनयोर्मध्ये स्वकीयं रथं स्थापयितुं जगदीश्वरः श्रीकृष्णोऽपि साधारणयन्तृवन्नियोजितः । भगवानपि पार्थाज्ञां सम्मानयँस्तथा चक्रे । अनेन जगदीश्वर एव यस्याज्ञापालकः सारथिस्तस्य विजये किमाश्चर्यम् ? इत्येकं द्वितीयञ्च 'अहं भक्तपराधीनः' इति स्वकीयजनवश्यत्वेन भगवति सौलभ्यं वात्सल्यञ्च दर्शितमित्येतद्वयं फलितम्भवति । अच्युतेति सम्बोधनेन यथा त्वमच्युतस्तथा मां रणविजयान्मद्रथञ्च रणस्थानादच्युतं कुर्विति बोध्यते ॥ २१ ॥

अ. टी.——मध्येसेनं रथस्थापनप्रयोजनं स्वयमेव स्पष्टयति—**यावदेतानिति ।** योद्धुकामान् युयुत्सावतो व्यूहरचनया सज्जीभूय समवस्थितानेतानतिसमीपस्थान् योद्धॄन् यावद्देशमवस्थायाहं निरीक्षे

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

पश्यामि। यदस्मिन् रणसमारंभे मया कैः शूरैस्सह योद्धव्यं मया सह योध्धुं के ह्यत्रसमर्था इति जिज्ञासा मेऽस्तीति भावः ॥ २२ ॥

आ. भा.—उक्तमर्थं स्पष्टयति–**योत्स्यमानानिति**। दुर्बुद्धेर्दुष्टबुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य युद्धे संग्रामे प्रियमिष्टं कर्तु-स्पष्टतयेक्षितुं क्षमः स्यां तावद्देशं रथं नयेत्यर्थः। अथवा यावत्काल-महं शूरान् परिचिनोमि तावत् कालमेव तत्र रथं स्थापय नाधिकं श्रममर्पयामीति। ननु युद्धकर्तरि त्वयि प्रेक्षकतामात्रेण किम्फलमित्याह **करिति**। अस्मिन् रणसमुद्योगे मया कैर्भटैस्सह योद्धव्यं तैश्च कैर्मया सह योद्धव्यमिति वा। न केवलं मे निरीचिक्षिषैवास्त्यपि तु युयुत्साऽप्यस्ति। परं परमेष्टबन्धूनामेवायं युद्धोद्योगोऽतस्तेषु केषां मया सह युद्धाधि-कारिताऽस्ति केषां नेति सर्वेऽनुकम्प्या एव वेति विचारस्त्वावश्यक एवेति भावः ॥ २२ ॥

अ. टी.—प्रोदीरिताशयं विशिष्टांशाभिधानेन स्पष्टयति—**योत्स्य-मानानिति**। दुर्बुद्धेर्दुरात्मनो धार्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रपुत्रस्य। दुर्योधनस्येत्य-नुक्त्वा धार्तराष्ट्रस्येति कथनं विनयसौहार्दादिगुणानशिक्षयतो विशेषतो दुर्नयेऽपि स्वतनये पक्षपातिनो धृतराष्ट्रस्यापि दौरात्म्यं सूच्यते। युद्धे संयुगे प्रियं कर्तुमिच्छवः केवलमिच्छावन्तो न तु तत्कर्तुं पर्याप्ताः। दुर्बुद्धेर्दुर्योधनस्य पक्षमाश्रित्य तत्प्रियचिकीर्षयोपागतास्तस्मादेतेऽपि दुर्बु-

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

मिच्छवो य एतेऽत्र समरभूमौ सम्यक्कृतयुद्धनिश्चया आगता-स्तान् योत्स्यमानान् मया सह समरं करिष्यमाणानहमवेक्षेऽव-लोकयामि ॥ २३ ॥

आ. भा —एवमर्जुनप्रेरितो भगवान् श्रीकृष्णस्तदादेशम-नुष्ठितवान्नवेति सन्दिहानेन धृतराष्ट्रेन पृष्टः सञ्जयस्तमभिदधा-वित्याह वैशम्पायनः सञ्जय उवाचेति। सञ्जयवचनमनुवदति—**एवमिति**। हे भारत! धृतराष्ट्र! गुडाकाया निद्राया ईशेन

द्वय एवेति भावः। य एतेऽत्र रणाजिरे समागता अवश्यं योत्स्याम इति निश्चयपूर्वकमागतास्तान् योत्स्यमानान् युद्धमाचरिष्यतस्सर्वानहमवेक्षे नामकुलपरिकरसहितं परिचिनोमि। अतिसामीप्याद्वर्तमानप्रयोगः ॥२३॥

अ. टी.—पार्थाऽनुज्ञामूरीकृतवान्नवा श्रीकृष्णः? इति धृतराष्ट्रेण सन्दिह्य पृष्टः सञ्जयस्तमब्रवीत् सञ्जय उवाचेत्याह वैशम्पायनः किमुवाचे-त्याह—**एवमिति**। कैश्चिदत्रैवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममा-श्रित्य प्रायशो युद्धात्तं व्यावर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्राभिप्रायमाशङ्क्य तन्नि-राचिकीर्षुः सञ्जयः धृतराष्ट्रम्प्रत्युक्तवानित्यवतरणिकोक्ता सा च प्रारब्ध-युद्धपरिज्ञानवतो धृतराष्ट्रस्याशयविरोधं ख्यापयन्ती प्रकरणविरुद्धैव। हे

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

वशीकृतनिद्रेणार्जुनेनोक्तप्रकारेणोक्तो हृषीकेशो भगवान् श्रीकृष्णः समाश्रितवात्सल्यात् सारथ्यं परिपालयन् धनञ्जयादेशमनुसरन्नु-भयोरनीकयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतोऽग्रे सर्वेषां महीक्षितां राज्ञाश्चाग्रे रथोत्तमं सप्तार्चिषा प्रेम्णा समर्पितत्वाद्भगवन्नियन्तृ-कत्वाच्च सर्वरथेभ्युत्तमं पार्थरथं स्थापयित्वा संस्थाप्य हे पार्थ ! समवेतानेतान् कुरून् पश्येत्युवाच ॥२४॥२५॥

आ.भा.—एवं भगवदाज्ञामुपश्रुत्यार्जुनः किं कृतवानित्यपे-क्षायामाह—**तत्रेति** । पार्थोऽर्जुनस्तत्राऽवस्थायोभयोरपि सेनयोः

भारत ! गुडाकाया निद्राया ईशस्तेनार्जुनेन निद्रावशीकारेणार्जुने ह्याल-स्यलेशराहित्यं गम्यते । एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तो हृषीकेश उभयोः सेनयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः सम्मुखे सर्वेषां महीक्षितां राज्ञाञ्च सम्मुखे रथोत्तमं भगवत्सारथिकतया वायुसखसमर्पिततया च वायुवेग-सदृशवेगवन्तमशेषरथेभ्युत्तमं पार्थरथं स्थापयित्वा हे पार्थ ! एतान् सम-वेतान्सम्मिलितान् कुरून् पश्य प्रातिस्विकरूपेणाध्यक्षं कुर्वित्युवाच । अत्र पार्थ ! इति सम्बोधनेनार्जुनस्य पैतृष्वसेयकथनात् प्रियसम्बन्धस्मरणाद्भग-वता तस्मिन् प्रेमातिशयो दर्शितस्तथा च कुरून् दृष्ट्वा त्वं मा भैषीरहं प्रियकरस्ते सारथ्ये स्थितस्त्वदिष्टं सर्वं साधयिष्यामीति भावो निष्प-द्यते ॥ २४–२५ ॥

अ. टी.—पश्येति भगवतो वासुदेवस्याज्ञामनुसृत्यार्जुनस्तथैवकृत-

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

स्थितान् युद्धायोपस्थितान् पितॄन् भूरिश्रव आदीन् , ततः पिता-महान् भीष्मादीन् आचार्यान् कृपाचार्यादीन् मातुलान् शल्यादीन् भ्रातॄन् युधिष्ठिरदुर्योधनादीन् पुत्रानभिमन्युलक्ष्मणादीन् पौत्रान् लक्ष्मणादिपुत्रान् सखीन् सात्यक्यश्वत्थामादीन् तथा श्वशुरान् द्रुपदादीन् सुहृदोविराटादीनेव सर्वानपश्यद् दृष्टवान् ॥ कौन्तेयो ऽतिदयाशीलायाः पृथायाः सूनुः । कौन्तेय इति कथनेन तदु-रसि दयोद्रेकः सूच्यते । सोऽर्जुनस्तान् पूर्वोक्तानवस्थितान् सर्वा-नशेषान्बन्धून्स्वजनान्समीक्ष्य सम्यग् दृष्ट्वा परया स्वजनानु-रागसमुत्थयाऽत एव पराकाष्ठां गतया कृपयाऽऽविष्टो व्याप्त-

वानित्याह—**तत्रेति** । पार्थोर्जुनस्तत्रोभयोरनीकयोर्मध्ये स्थापिते रथेऽव-स्थायोभयोरपि सेनयोः स्थितान् पितॄन् पितृव्यान् भूरिश्रवआदीन् तथा पितामहान् भीष्मादीनाचार्यान् द्रोणादीन् मातुलान् शल्यादीन् भ्रातॄन् दुर्योधनादीन् पुत्राँल्लक्ष्मणादीन् पौत्राँल्लक्ष्मणपुत्रान् सखीन् सात्यक्यश्व-त्थामादीन् श्वसुरान् द्रुपदादीन् सुहृदो विराटकृतवर्मजयद्रथादीनेतान्स-र्वानेवापश्यत् । कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयः सोर्जुनस्तान् पित्रादीन् सर्वानेव बन्धूनवस्थितान् युद्धायोपस्थितान् समीक्ष्य सम्यक् साक्षात्कृत्य परया पराकाष्ठां गतया कृपया स्वजनस्नेहातिशयजनितकरुणया-ऽऽविष्टो व्याप्तहृदयोविषादं कुर्वन्निदं वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

हृदयो विषीदन् परितापं कुर्वन्निदं वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् ॥ अर्जुन उवाचेति वैशम्पायनस्योक्तिः। किमाह तत्कथयति—दृष्ट्वेति। हे कृष्ण ! युयुत्सुं योद्धुमिच्छुं समुपस्थितं सम्यक् समीपेऽग्रभागे स्थितमिमं स्वजनं बन्धुजनं दृष्ट्वा मम गात्राण्यङ्गानि सीदन्ति दुर्बलानि भवन्ति मुखं वदनश्च परिम्लानं जायते। शरीरे मे वेपथुः कम्पश्च जायते तथा रोमहर्षो

हे कृष्ण ! युयुत्सुं युद्धेच्छुं समुपस्थितं रणभूमौ व्यूहरचनयावस्थितमिमं सन्निकृष्टवर्तिनं स्वजनमात्मीयजनं दृष्ट्वा स्वचक्षुर्भ्यां निभाल्य मम गात्राणि शरीराणि सीदन्त्यवसन्नानि भवन्ति। कार्यभूतेनानेन चिन्तापरपर्यायो मानसो व्याधिरेव तत्कारणमित्यनुमीयते। यतश्चिन्तया रक्तं शुष्यति तच्छोषे चाङ्गानां पाण्डुत्वं दौर्बल्यञ्च जायते। अत एव श्रीमदानन्दभाष्यकारा 'अङ्गानि सीदन्ति दुर्बलानि भवन्तीति' व्याचख्युः। मुखमास्यञ्च परिशुष्यति सर्वतो म्लानं भवति। इदमपि मानसव्याधेः कार्यं प्रसक्तेरभावादेवं सम्पद्यते। एवं वेपथुः कम्पो जायते ततश्च रोमाञ्चः। अकार्यकरणात् कम्परोमाञ्चावुत्पद्येते इति नियमात् कम्परोमाञ्चाभ्यामपि सुहृद्वधस्याकार्यत्वमिति ज्ञाप्यते। गाण्डीवमेतन्नामकं मे प्रियतमं धनुः स्रंसते हस्तादधस्तात् पतति। त्वक्-

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

रोमाञ्चश्चोत्पद्यते। हस्ताद् गाण्डीवं धनुः स्रंसतेऽधस्तात् पतति। अनेन धृतेर्विनाशः सूचितः। त्वक् चर्म च परिदह्यते सन्तप्तम्भवति। अवस्थातुं शरीरं धारयितुं न शक्नोमि किम्बहुना मनोन्तरिन्द्रियञ्च मे भ्रमतीवानवस्थितिकमिव भवतीत्यर्थः २६॥२७॥२८॥२९॥३०॥

आ. भा.—हे केशव ! ब्रह्मादिदेवपालक ! अहमिदानीं सर्वाण्यपि निमित्तानि चक्षुस्पन्दनप्रभृतीनि विपरीतान्येव पश्या-

चर्म च परिदह्यते। अनेन ज्वरादिरूपः शारीरिको व्याधिरपि संवृत्त इति सूच्यते। अत एव बलनाशश्चर्मदाहश्चेत्येतद्द्वयं तत्कार्यमुपपद्यते। अवस्थातुं शरीरं धारयितुं न शक्नोमि। जीवनयोनियत्नस्य सर्वथाऽभावो जातः। मनश्च मे भ्रमतीव मनोबलसत्वे स्थैर्यापादिका धारणा भवति। एतस्याभावे मनोभ्रम एव जायते। वैचित्यञ्च मूर्च्छा प्रयोजयतीत्यतोऽहं मूर्च्छितो भवामीति भावः॥२६॥२७॥२८॥२९॥३०॥

अ. टी.—हे केशव ! कश्चेशश्च केशौ विधिकपर्दिनौ वात्युपदेशप्रदानादिना नियमयतीति केशवः। उपदेशप्रदानन्तु 'यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि श्रुतिष्ववगम्यते। तथा च ब्रह्मादीनामुपदेशकत्वेन सर्वेषां त्वमाद्यगुरुरसि। तस्मा-

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

मि । आहवे संग्रामे स्वजनसमूहं हत्वा विनाश्य श्रेय ऐहिकामुष्मिकं सुखं नैवानुपश्यामि ॥ ३१ ॥

आ. भा.—ननु विजयलाभे तवैहिकमामुष्मिकञ्चेत्युभयं सिध्यति कुतोऽत्र कर्मणि श्रेयोऽदर्शनमित्युच्यते तत्राह—**नेति** । हे कृष्ण ! बन्धून् विनाश्य विजयमहं नेच्छामि तथाविधविजयाधीनं राज्यमपि नेच्छामि तादृशराज्यायत्तानि सुखानि च नेच्छामि । ननु सर्वेऽपि सुखलिप्सवः सुखश्च राज्यायत्तमिति कुतस्तव सुखोपाये प्रवृत्त्यभाव इत्यत आह—हे गोविन्द ! मम करणकलेवरादिनियामक ! अनेन सम्बोधनेन मदीयहार्दं त्व-

न्मामप्युपदिश्य मदीयमोहमपि विनाशय इति सूच्यते । अहमिदानीमशेषाणि निमित्तानि चक्षुःस्पन्दनादीनि विपरीतानि वामाक्षिस्फुरणादीन्यशुभावहान्येव पश्यामि । विपरीतनिमित्तसूचितफलमाह—**नेति** । आहवे सम्प्रहारे स्वजनमात्मीयजनमेकमपि हत्वा किमुतासंख्यान् श्रेय ऐहिकपारलौकिकसुखं नैवानुपश्यामि । चकारस्त्वेवार्थे । श्रेयः शब्दस्य धर्मार्थकत्वे तु नेदं धर्मजनकं धर्मफलकं वा युद्धमपि तु हिन्साफलकत्वादधर्मावहमतो हेयमेवेति भावः ॥ ३१ ॥

अ. टी.—ननु संग्रामविजये विश्वव्यापिनी कीर्तिः साम्राज्यावाप्तिश्चेत्यैहिकमनुत्तमं सुखन्त्ववश्यं दृश्यते किमिति श्रेयो न पश्यामीत्युच्यते ? तत्राह—**नेति**। श्रीमदानन्दभाष्ये तु 'ऐहिकमामुष्मिकञ्चेत्युभयं

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥

मवश्यं जानासीति सूचितम् । बन्धुनिधनजनितराज्येन नोऽस्माकं किम्फलं राज्यायत्तभोगैरपि किं फलं तादृशभोगान् भुक्त्वा जीवितपालनेनापि वा किम्फलम् ॥३२॥

ननु गुरुपुत्रभृत्यपोषणस्यावश्यकतयाऽकार्यमप्यादरणीयमिति धार्मिकमेवेदं कृत्यमत आह—**येषामिति** । अवश्यभर्तव्यानां येषां पित्रादीनामर्थे नोऽस्माकमपेक्षितं राज्यं भोगा

सिध्यती'त्युक्तं तत् क्षात्रधर्ममनुसृत्य युद्धकरणादुभयं निष्पद्यत इत्याशयपरम् । हे कृष्ण ! आत्मीयजनान् निहत्याहं विजयं नेच्छामि हिन्साक्रान्तविजयायत्तं राज्यमपि नेच्छामि तथाविधराज्याधीनानि सुखानि विविधविषयभोगजनितसुखानि च नेच्छामि । ननु सर्वोऽपि जनः सुखं समीहते तच्च राज्यनियन्त्रितमतोराज्यत्यागोऽनुचित इत्याह—**किमिति** । हे गोविन्द ! अखिलप्राणीन्द्रियसंघातनियामक ! अनेन हृदयवेदित्वमुक्तम्भवति । नोऽस्माकं गुरुजनद्रोहप्राप्तेन राज्येन किम् ? न किमपि प्रयोजनं विद्यते । अधर्माध्वनाधिगतराज्याधीनभोगैर्भोगसाधनपदार्थैरपि किम्फलम् ? किम्बहुना हिंसाद्यनर्थं विधायासादितराज्यभोगपरिपालितेन जीवितेनाऽपि किम्फलं ? न किमपीत्यर्थः । प्राणिहिंसाद्यधर्ममननुष्ठाय वन्येन कन्दमूलफलादिनाऽपि जीवितनिर्वाहो वरमिति भावः ॥ ३२ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ॥३५॥

भोगसाधनीभूताः पदार्थाः कांक्षिताः सुखानि च कांक्षितानि त एव गुरवः पुत्रादयश्चेमे प्राणानसून् धनानि गोभूमिहिरण्यादीनि च त्यक्त्वा समरे कृतयुद्धनिश्चयाः स्वकीयप्राणादिकमपि त्यक्तुं कृतनिश्चयास्तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तानेव गुरुबन्धुस्वजनान्निर्दिशति—**आचार्या इति** । आचार्याः कृपाचार्यप्रभृतयः स्पष्टमन्यत् ॥ ३४ ॥

आ. भा.—नन्वेवं तवौदासीन्यमवगम्य राज्यलोभेनैत एव त्वां सबन्धुं हनिष्यन्त्यतो वरमेतान् हत्वा राज्यकरणमित्यत आह—**एतानिति** । हे मधुसूदन ! वैदिकाम्नायरक्षक ! घ्नतो-

ननु 'वासुदेवे मनो यस्य जप होमार्चनादिषु । तस्यान्तरायो मैत्रेय ! देवेन्द्रत्वादिकम्फलम् ॥', इत्युक्तप्रकारेण भगवद्भक्तिवशादवाप्तविरक्तेस्तव माभूद्विजयराज्यादिभिः प्रयोजनं त्वदाश्रितानान्त्वेतेषां राज्यभोगसुखेप्सा विद्यत एवेति कथमेवं विरज्यत इत्याह—**येषामिति** । येषां मदीयबन्धुजनानामर्थे राज्यं भोगाः सुखानि चापेक्षितानि त इमे मत्सम्बन्धिनो धनानि गोहिरण्यरत्नादीनि त्यक्त्वा प्राणानसूनपि त्यक्तुं युद्धेऽवस्थिताः कृतसमरनिश्चयाः सन्तः स्थिताः ॥ ३३ ॥

तानेव स्वजनान् परिचाययति—**आचार्या इति** । आचार्याः कृपाचार्यप्रभृतयः सुगममन्यत् ॥ ३४ ॥

अ. टी—ननु स्वजीविकोपघाते क्षत्रियाणां युद्धमेव न्याय्यं न चौदासीन्यमपि चैते हठाद्राज्यलिप्सया त्वां प्रहरिष्यन्त्यतो जिघांसैव

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

ऽप्यस्मान् त्रैलोक्यराज्यस्यापिहेतोरेतान् हन्तुं नेच्छामी महीमात्रस्य कृते किमुत । महीमात्रलब्धये न योत्स्यामित्येव नापि तु सर्वाधिपत्योपलब्धिनिश्चयेऽपि नैव योत्स्यामीत्यर्थः ॥३५॥

आ. भा.—यद्येवं तर्हि द्रोणभीष्मकृपादिगुरुबन्धून् परिहाय धृतराष्ट्रपुत्रानेव जहि ते तु तवापकारिण इत्याह—**निहत्येति** । हे जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्याप्यस्माकं का प्रीतिः किं सुखं स्यान्न किमपीत्यर्थः । अथ विषाग्निदाहाद्यपकारकर्तृकत्वेनैते सर्वथाऽऽततायित्वमापन्नाः । आततायिनां वधे च दोषाभावः शास्त्रेष्वभिहितः । 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इति । तस्मादेते हन्तव्या एवेत्याह—**पापमेवेति** । आततायिनोऽप्येतान् बन्धुजनान् हत्वाऽस्मान् पापमवश्यमाश्रयेत् । बन्धुवधस्य पातककान्याय्येत्यत आह—**एतानिति** । हे मधुसूदन ! एतेन प्राङ्मधुनामानं दैत्यं निहत्य त्वया स्वात्मीयस्याब्जयोनेरवनं कृतमस्तीति कथं मामत्र बन्धुनिधनप्रधने नियोजयसीति सूच्यते । शस्त्रैर्मां घ्नतोऽप्येतान् त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोर्हन्तुं नेच्छामि किन्नु महीकृते किमुत महीमात्रस्य कृते। पौरन्दर्यमपि बन्धुहिंसया नेष्टमिति भावः ॥ ३५ ॥

अ. टी.—ननु भवतु तर्हि द्रोणभीष्मादीन् गुरुजनान् हित्वा तवापकर्तृन् धृतराष्ट्रपुत्रानेव विनाशयेत्याह—**निहत्येति** । हे जनार्दन!

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

रित्वादिति भावः ॥ ३६ ॥

हे माधव ! तस्मात् कारणात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रतनयान् स्वबन्धूनेव निहत्य नितरां हत्वा नोऽस्माकं का प्रीतिः सुखं स्याद्विजयघोषणादिरूपायां क्षणिकप्रीत्यां सत्यामपि चिराय नरकदुःखस्यावश्यम्भोक्तव्यत्वादित्यर्थः। प्रलयेऽखिलजनानुपसंहरन्नपि त्वं जगदीश्वरत्वात् कर्मपारवश्यरहितत्वान्न दोषभागहम्पुनर्दोषभागवश्यं भवेयमिति जनार्दनेति सम्बोधनेन सूच्यते। नन्वेते धृतराष्ट्रतनया आततायिनः। तथाचोक्तम्—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥
सदा पानरता ये च सदा कामरताश्च ये।
सदा द्यूतक्रियासक्ताः सदाऽसद्वचनप्रियाः॥
सदा पैशून्यसक्ताश्च सदा मांसप्रिया अपि।
शास्त्रज्ञा अपि लोकेऽस्मिन् तथैते त्वाततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥ इति।

तथा चेतै शत्रवस्सन्त आततायिनोऽपि सन्ति। अत एवैषां वधे नास्ति दोषलेश इत्याह——**पापमिति**। स्युरप्याततायिन एते तथाप्येतान् बन्धुजनान् हत्वा पापमेवास्मानाश्रयेत्प्राप्नुयात्।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

दुर्योधनादीन् हन्तुं वयं पाण्डवा नार्हा न योग्याः। हि यतः स्वजनं स्वकीयमात्मीयं जनं निहत्य सुखिनः कथं स्याम। दुष्कर्मणो दुःखमेव फलम्भवति न सुखमिति भावः ॥ ३७ ॥

आ भा.——कथं तर्हि ते युष्मद्वधे प्रवृत्ता इत्याह——यद्यपीति। यद्यपि लोभोपहत चेतसो राज्यलोभेनोपहतं

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः। इति वाक्यं रणे मृतस्य श्रेयोऽवाप्तिमभिधत्ते नहन्तुरतः स्वजनहननजन्यपापमवश्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

हे माधव ! एतद्धि सम्बोधनं यथा त्वं लक्ष्मीनाथोऽसि तथा मामपि लाक्ष्मीवन्तं विधेहि नह्यलक्ष्मीके कर्मणि प्रवर्तयेति ज्ञापयति। एतन्नामनिर्वचनं हरिवंशे—मा विद्या च हरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान्। तस्मान्माधवनामासिःधवः स्वामीति शब्दितः॥ इति। यतः पापोदयोऽस्मात्कुत्सिताद्बन्धुवधात् तस्माद्वयं पाण्डुतनया इमान् स्वबान्धवान् धृतराष्ट्रपुत्रान् हन्तुं नार्हा न योग्याः। यतः स्वजनं विनाश्य सुखिनोवयं कथं स्याम। दुःखोदर्कं कर्मानुष्ठाय सुखोपलब्धिः कुत इति भावः ॥३७॥

अ. टी.——ननु परेषां युष्माकञ्च समान एव सम्बन्धे कथं तैर्युष्मद्वधे प्रवृत्तिः क्रियतेऽत आह——**यद्यपीति**। लोभोपहतचेतसो राज्यलोभेन युक्तायुक्तपरिज्ञानविरहितान्तःकरणाश्चैते दुर्योधनप्रभृतयः कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकं यद्यपि नैव पश्यन्ति जानन्ति ॥३८॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

चेतो येषां ते राज्यलोभाक्रान्तदुष्टवासनया विनष्टधर्मसंस्कारचे-तस्काश्चैते दुर्योधनादयः कुलक्षयकृतं दोषं मित्राणां द्रोहे च पातकं न पश्यन्ति नैव जानन्ति ॥ ३८ ॥

तथापि कुलघ्नतादिरूपदोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिरस्मात् पापान्निवर्तितुं कथन्न ज्ञेयम् । सत्कुलसम्भूतैर्धर्मं विचारयद्भिरस्माभिरवश्यमेतादृशपापान्निवर्तनीयमित्यर्थः । हे जनार्दन इति च सम्बोधनं जगन्मर्यादास्थापकत्वेनात्र संगच्छते ॥ ३९ ॥

तथापि हे जनार्दन ! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः प्रकर्षेण जानानैरस्माभिरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथन्न ज्ञेयम् । अयम्भावः । चोदना लक्षणोऽर्थोधर्मः (जै. सू. १।१।२) इति धर्मलक्षणं विदधता जैमिन्यृषिणा वेदबोधितत्वे सति बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताकत्वमेव तदुक्तम् । अत एव श्येनयागादेर्बलवदनिष्टानुबन्धित्वान्न धर्मत्वमित्यर्थपदेन तद्व्यावृत्तिः फलति । स्वजननिधनादेरपि बलवदनिष्टानुबन्धित्वेन न धर्मजनकता । ननु मास्त्वस्य धर्मत्वमिष्टसाधनत्वेनात्रप्रवृत्तिस्तु स्यादिति चेन्न बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे सति कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाधनताज्ञानस्यैव प्रवृत्तिजनकत्वात् । अत एव न कलञ्जकर्मकभक्षणे प्रवृत्तिरिति दिक् । जनार्दन! इति सम्बोधनेन प्रलयेऽखिलजनतामन्तः संस्थाप्यापि 'पद्मपत्रमिवाम्भसेतिवत्पापान्निर्लेपस्त्वं तिष्ठसीश्वरत्वात्तथाहं जीवो न पापनिर्लेपः स्थातुम्प्रभवामीति सूच्यते ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

आ. भा.–पूर्वोक्तान् कुलक्षयकृतान्दोषानभिधातुमाह–कुलक्षय इत्यादि पञ्चभिः । कुलक्षये कुलाचारप्रवर्तकपुरुषक्षये सति सनातना अविच्छिन्नपरम्परया समागताः कुलधर्माः कुलेऽनुष्ठीयमाना धर्माः प्रणश्यन्ति विनाशमुपयान्त्यनुष्ठातुरभावात् । धर्मे नष्टे सति कुलमवशिष्टं कुलमधर्मोऽभिभवति व्याप्नोति तथाचाधर्मप्रधानमेवावशिष्टं कृत्स्नं कुलं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥४०॥

आ. भा.––हे कृष्ण ! अधर्माभिभवादनाचाराधिष्ठितत्वात्

अ. टी.—कुलघ्नतायामनेके दोषाः समुत्पद्यन्ते तेषामादित उत्पत्तिप्रकारमुपपादयति—**कुलक्षय इति** । कुलक्षये कुलस्थिताखिलाचारानुष्ठातृपुरुषाणां विनाशे सति सनातनाः कुले नियतरूपेणानादिकालात् परम्परया सम्प्रवृत्ताः कुलधर्माः कुलजातिव्यवहारम्पुरस्कुत्यानुष्ठीयमाना धर्माः प्रणश्यन्ति तदनुष्ठातुरभावात् प्रकर्षेण नश्यन्ति । धर्मे इति जात्यभिप्रायादेकवचनम् । कुलजातिव्यवहाराचारेषु नष्टेषु सत्सु कृत्स्नमखिलं कुलमधर्मोऽनाचारोऽभिभवति व्याप्नोति । उतेत्यप्यर्थो नैक एव दोषोऽपि तुदोषसमुच्चयस्तथैव व्याख्यातम् ॥ ४० ॥

अ. टी.—हे कृष्ण ! भक्तजनपापदोषहारिन् ! अधर्माभिभवात् कुलेऽनाचारप्रचारात् कुलस्त्रियः कुलस्थिताः सदाचारपरायणा अपि स्त्रियः

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

कुले तत्कुलस्थिताः स्त्रियः प्रकर्षेण दुष्यन्ति कुमार्गसंचारवारकपुरुषाभावात्। हे वार्ष्णेय! वृष्णिवंशप्रभव! अनेन कुलमर्यादारक्षकत्वं भगवति ध्वनितम्। स्त्रीषु दुष्टासु सतीषु वर्णसंकरोऽनुलोमप्रतिलोमप्रजोत्पादनेन वर्णानां साङ्कर्यं जायते ॥ ४१ ॥

आ. भा.—पूर्वोक्तः संकरः कुलघ्नानां कुलस्य च नरकायैव जायते। न केवलं कुलघातकानामेव नरकोऽपि त्वेषां कुलघ्नानां पितरोऽपि लुप्ता पिण्डोदकादिक्रिया येषां ते स्ववंशधरविशुद्धप्रजाऽभावात् पिण्डोदकादिकर्मणामभावान्नरके पतन्ति ॥४२॥

कुलवश्यतापादकपुरुषाभावात् स्वतन्त्रचारिण्यः सत्यः प्रकर्षेण दुष्यन्ति दोषयुक्ता भवन्ति। हे वार्ष्णेय! वृष्णिकुलसम्भूत! कुलस्त्रीषु दुष्टासु सतीषु वर्णसंकरो वर्णानां सांकर्यमानुलोम्येन प्रातिलोम्येन च प्रजोत्पत्ताघेकीभावो जायते। कुलमर्यादामतिहाय कुलाङ्गना वर्णसाङ्कर्यमापादयन्तीर्थः। वार्ष्णेयेति सम्बोधनेन वृष्णिकुलधारको यथा त्वमसि तथाऽस्माभिरपि भवितव्यं कुलघातकता नोचितेति सूच्यते ॥ ४१ ॥

अ. टी.—वर्णसंकरे जायमाने का नो हानिरित्याह—**संकर इति।** कुलमर्यादाधारकपुरुषहन्तारः कुलघ्नास्तेषां कुलस्य च संकरो नरकायैव नरकफलक एव भवति एतावतैव नानर्थसमाप्तिः किन्तु अन्याऽप्यनर्थसन्ततिरियमस्तीत्याह पतन्तीति। एषां कुलघ्नानां हि पितरो लुप्तपिण्डोदकक्रियाः सन्तः पतन्ति नरक इति शेषः ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

आ. भा.—उक्तमर्थं फलाभिधानेन स्पष्टयति—दोषैरिति। कुलघ्नानामेतैर्वर्णसंकरकारकैर्दोषैर्जातिधर्माः क्षत्रियादिवर्णधर्माः कुलप्रयुक्ताश्च धर्मा अविच्छिन्नपरम्परया सम्प्राप्ताः सर्वे उत्साद्यन्ते विनाश्यन्ते ॥ ४३ ॥

हे जनार्दन! उत्सन्नकुलधर्माणां विनष्टकुलधर्माणां विनाशितःकुलधर्मो यैस्तेषाञ्च मनुष्याणां नरके नियतो नियमेन वासो भवतीति प्राचीनमहर्षिमुखाद्वयमनुशुश्रुम। अनेन स्वोक्तार्थे दाढर्यं दर्शितम् ॥ ४४ ॥

अ. टी.—पूर्वोक्तमर्थं प्राचीनाचार्यसम्मतिपूर्वकं विशिष्टफलबोधपूर्वकञ्च निगमयति—**दोषैरिति द्वाभ्याम्।** कुलघ्नानामेतैर्वर्णसंकरकारकैर्दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः क्षत्रियत्वादिजातिप्रयुक्ता धर्माः कुलप्रयुक्ताश्च धर्मा उत्साद्यन्त उत्सन्नाः क्रियन्ते ॥ ४३ ॥

हे जनार्दन! उत्सन्नकुलधर्माणामुत्सन्न उच्छिन्नः कुलस्य सनातनो धर्मो येषां तेषामथवोत्सन्नो विनाशितः कुलधर्मो यैस्तेषां मनुष्याणां पापपरिणतिप्राप्तये नरके कुम्भीपाकाद्यन्यतमे नियतं नियमेन वासस्तत्र स्थितिर्भवतीत्यनुशुश्रुम परावरवेदिमहर्षिभ्यः श्रुतवन्तो न स्वकल्पितमेव ब्रूम इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरम्भवेत् ॥४६॥

आ. भा.––स्वजनहननोद्यमोऽपि पापीयानिति पश्चात्तापं करोति––अहो इति । वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिता निश्चयवन्तोयद् राज्यसुखलोभेन राज्यसुखलोलुपतया स्वजनं हन्तुमुद्यता अहो बत सखेदमिदमाश्चर्यम् ॥ ४५ ॥

आ. भा.—शस्त्रम्परित्यज्य स्थितं स्वरक्षणव्यापारहीनश्च ज्ञात्वा तव शत्रवो त्वां हनिष्यन्तीत्याह—यदीति । शस्त्रपाणयो धृतराष्ट्रसम्बन्धिनोऽप्रतीकारं स्वरक्षणोपायमकुर्वन्तमशस्त्रं

अ. टी.—स्वजनवधाय युद्धसमारम्भोऽपि पापावहमिति सखेदमावेदयति—**अहो इति** । वयमर्थानर्थज्ञानवन्तोऽपि महदतिशयं पापं कर्तुं व्यवसिता निश्चयं कृतवन्त अहो बतेत्येतत्सखेदमाश्चर्यम् । यद्राज्यसुखलोभेन यस्माद्राज्यभोगोत्थसुखलिप्सया स्वजनं हन्तुमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अ. टी.—ननु त्यक्तायुधं स्वात्मरक्षणेऽप्युदस्तमवगम्यावाप्तसमयाः शत्रवस्त्वामवश्यं हनिष्यन्तीत्याह—**यदीति**। यत्त्वत्र गूढार्थदीपिकायां ‘ननु तव वैराग्येऽपि भीमसेनादीनां युद्धोत्सुकत्वात्तत्कृतो बन्धुवधो भविष्यत्त्येवेत्याद्यवतरणशंका विहिता तदयुक्तं तदनुगुणस्योत्तरस्याभावात् । शस्त्रपाणयो धार्तराष्ट्रा अप्रतीकारं प्राणरक्षणोपायमप्यकुर्वाणम-

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।

निरायुधं मां यदि रणे हन्युस्तद्धननं मम क्षेमतरं परमनिःश्रेयसकरं भवेत् । प्राणापगमेन स्वजनहननोद्योगजनितकल्मषान्निर्मुक्तः स्यामिति भावः ॥ ४६ ॥

आ. भा.—एवमर्जुनविषादानन्तरं किञ्जातमिति धृतराष्ट्रजिज्ञासायां सञ्जय उवाच—**एवमिति** । शोकसंविग्नमानसोऽर्जुनः संख्ये संग्राम एवम्पूर्वोक्तप्रकारेणोक्त्वा सशरं चापं सपृषत्कं गाण्डीवं धनुर्विसृज्य रथोपस्थे रथोदर उपवेशनस्थाने उपाविशत्स्थितः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्येऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय ।

शस्त्रं शस्त्रविहीनं मां यदि रणे हन्युस्तर्हि तद्धननं मे बन्धुवधजनितनरकपतनापेक्षया साम्प्रतिकसचिन्तजीवनापेक्षया वा क्षेमतरं परमनिःश्रेयसकरं भवेत् । बन्धुजनविनाशाय कृतेनोद्योगेनोत्पन्नपापाद्विमुक्तो भवेयमिति भावः ॥ ४६ ॥

नमः परात्परब्रह्मणे भगवते श्रीरामचन्द्राय।

श्रीमदानन्दभाष्यकारभगवच्छ्रीरामानन्दाचार्यसम्प्रदायप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापकाचार्यजगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्यप्रणीता—

श्रीगीतार्थसुधा

उत्पत्त्यादिविधायकं च जगतो हेतुं परञ्चेश्वरं
जीवाजीवशरीरिणं सुशरणं भक्त्यैव सायुज्यदम्।
निर्दोषं सुगुणाकरं निखिलविद्वेदान्तगम्यं विभुं
गीतोक्तं वरदं नतोऽस्मि करुणाऽम्भोधिं प्रभुं राघवम् ॥१॥

नत्वा गुरुं तथाऽऽनन्दभाष्यकारं जगद्गुरुम्।
करोम्यनुभवानन्दः सुधां मृत्युविनाशिनीम् ॥२॥

कर्मज्ञानप्रसाध्या भगवति परमा भक्तिरेकोऽभ्युपायः
श्रेष्ठो मोक्षस्य वाच्यो मतमिति विदितं ज्ञापयिष्यन् मुकुन्दः।
धर्माधर्मप्रसङ्गाद्विकलितमनसं पार्थमुद्दिश्यगीता—
माहोपोद्घातरूपः सुदृढमभिहितस्तत्र चाद्यः प्रपाठः ॥३॥

अ. टी.—ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्रजिज्ञासायां सञ्जय उवाच—**एवमिति।** शोकपदं मोहस्याप्युपलक्षणम्। शोकमोहाभ्यां सम्यगुद्विग्नं

खिन्नं मानसं यस्य सोऽर्जुनः संख्ये संग्राम एवम्पुरोदीरितप्रकारेणोक्त्वा सशरं चापं सेषु गाण्डीवाख्यं धनुर्विसृज्य रथोपस्थे रथस्याभ्यन्तर एव उपवेशनस्थान उपाविशत् उपविष्टः। पूर्वं स्वपरसैन्ये द्रष्टुमुत्थित एतावत्कालमुत्थितस्सन्नेवाऽब्रवीदेतच्च 'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्' 'न च शक्नोम्यवस्थातुमि'त्यादिभिरवगम्यते। अत्र केचिद् 'रथोपस्थ उपाविशत्' इत्यस्य रथादवतीर्य रथसमीपप्रदेशेऽधोभागे भूमावुपाविशत्स्थित इत्यर्थमन्येतु 'रथिस्थानाद्विनिवृत्य रथोत्सङ्ग उपाविशदित्यर्थमाहुः तदिदमर्थद्वयमपि रथोपस्थ इति शब्दस्वारस्याद्विरुद्धम्। नहि कृष्णार्जुनयोरथस्थरथसमीपभूमिस्थयोरेतावान् संवाद एतावत्समयं तथैव स्थित्या सम्भवति। न चोभावप्यधःस्थितावेवास्तामिति वाच्यम् भगवतःश्रीकृष्णस्य रथसारथ्यं विहायावतीर्णतायाः काप्यनुक्तत्वात्तस्मादस्मदुक्त एवार्थः समीचीनः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण
जगद्विजयिसर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायेन ब्रह्मवित्स्वामि
श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां
प्रथमोऽध्यायः।

नमो महामुनीन्द्राय भगवते श्रीरामानन्दाय ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ॥
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

आ. भा.—शोकोद्विग्नमर्जुनं श्रीकृष्णः किमभिदधावित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच—तमिति । तथा स्वजनस्नेहजनितया कृपया दययाऽऽविष्टं व्याप्तमश्रुभिः पूर्णे अत एवाकुले अस्वास्थ्यमाप्नुवाने ईक्षणे नेत्रे यस्य तं विषीदन्तं विषादङ्कुर्वन्तं तमर्जुन-

अ. टी.—एवं बन्धुस्नेहार्द्रान्तःकरणे प्रवृद्धकरुणया स्वधर्ममपि युद्धाचरणमधर्मं मन्वानस्य शोकमोहाभ्यां विनष्टविवेकधियोऽर्जुनस्य धर्मबुभुत्सोपपत्तये प्रथमेनाध्यायेनाध्यात्मशास्त्रावतरणं विधायानानेन द्वितीयाध्यायेन 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिश्रुतिदर्शितप्रकारेण गुरुप्रपत्तेः परमावश्यकतयाऽर्जुनेन मोहाक्रान्तस्वान्तेनापि 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम्प्रपन्नम्' इति स्वकण्ठरवेणैव स्वस्मिञ्छिष्यत्वम्भगवत्याचार्यत्वञ्चाङ्गीकृत्य विशुद्धधर्मजिज्ञासा प्रकटीकृता । भगवाँश्च तन्मोहापनुत्तये फलाभिसन्धिरहितस्य कर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वं तादृशकर्माराधितपरभक्तेरेवाखिल-

श्रीभगवानुवाच-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

मिदं वक्ष्यमाणं वाक्यं मधुसूदनो मधुदैत्यनिहन्ता श्रीकृष्ण उवाच ॥ १ ॥

भगवद्वाक्यमवतारयति–श्रीभगवानुवाच—कुत इति द्वाभ्याम् । श्रीभगवान् समस्तभूतानामुत्पत्तिविनाशागतिगतिविद्याविद्यादिकान् सम्यग्जानानः समस्तज्ञानशक्ति-

शोकमोहादिनिवृत्तिरित्यादिधर्मतत्वमुपदिदिक्षुरादौ सांख्ययोगं प्रतिपादयामासेत्यभिधातुं धृतराष्ट्रं सञ्जय उवाचेति वैशम्पायनोक्तिः । स च किमुवाचेत्याह—**तमिति** । यथा पूर्वं मयोक्तं तथा कृपया ममैते स्निग्धबन्धवः कथमिमान् हन्यामिति विमूढमनसि स्नेहविशेषस्तयाविष्टं व्याप्तमत एवाश्रुभिः पूर्णे आकुले द्रष्टुमक्षमे ईक्षणे नयने यस्य तं विषीदन्तं विषादमासादयन्तमेवं कार्यभूताभ्यां करुणाविषादाभ्यां तज्जनकौ मोहशोकावनुमीयेते तथा च प्रबलमोहशोकोपजनितकृपाविषादावलीढं वक्ष्यमाणं वाक्यं मधुसूदन उवाच दुराचारनिरतमधुदैत्यहननकर्तृत्वाद् दुष्टानवश्यं नाशयिष्यतीत्यभिप्रायमावेदयितुं मधुसूदनशब्दप्रयोगः ॥ १ ॥

तद्वाक्यमाह श्रीभगवानुवाच–**कुत इति द्वाभ्याम्** । श्रीभगवान् अखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरो नित्ययोगेऽत्र मतुब्बोध्यः । तथा चोक्तं 'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।

वीर्यतेजोबलैश्वर्यशाली श्रीवासुदेव एवमुवाच–हे अर्जुन ! विषमे शत्रुभिराकीर्णे युद्धकालेऽनार्यजुष्टमविद्वत्सेवितमस्वर्ग्यं स्वर्गसुखाप्रदमकीर्तिकरमयशोविस्तारकमिदं कश्मलं शोकव्या-

भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भगइतीरणा' अत्र समग्र-स्येति सर्वेषां विशेषणम् । इत्यादिप्रमाणैस्सर्वकारणकारणे श्रीरामकृष्ण-वासुदेवादिशब्दवाच्ये परे ब्रह्मण्येव प्राधान्येन भगवच्छब्दस्य प्रयोगः अन्यत्र तूपचारादिति बोध्यम् । तथाहि विष्णुपुराणे—

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते ।
मैत्रेय ! भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥
तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र त्वौपचारिकः ॥

इति । एवञ्च 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

इत्यादिषु यदुत्पत्यादिविषयकवेदनादिकमुक्तं तदुपचारप्रयोगप्रवृत्तिनिमित्त-मेव ज्ञेयम् । अत एव च श्रीमदानन्दभाष्ये 'समस्तभूतानामुत्पत्ति विनाशागतिगतिविद्याऽविद्यादिकान् सम्यग्जानान' इत्युक्त्वा समस्तज्ञान-शक्तिवीर्यतेजोबलैश्वर्यशालीति विशेषणं भगवतो वासुदेवस्याभिहितम् । तथा च भगवान् परमपुरुष उवाच । हे अर्जुन ! विषमे शूरक्षत्रि-याणां प्रमोदावहे युद्धसन्नाहसमयेऽनार्यजुष्टमधर्मादराद् दूराधाता बुद्धि-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

मोहजन्यमनोऽवसादरूपं मालिन्यं त्वां कुतो हेतोः समुपस्थितं सम्प्राप्तम् । विशिष्टशूरस्य तेऽनर्हमिदमित्यर्थः ॥ २ ॥

हे पार्थ ! प्रसन्नामरपरिवृढायाः पृथाया अपत्यत्वात्त्न त्वमेवं स्थातुमर्ह इति पार्थेति सम्बोधनेन द्योत्यते ।

येषान्त आर्या विद्वान्सस्तदितरेऽत्वनार्यास्तैर्जुष्टं सेवितमत एवास्वर्ग्य पुरुषाभिलषितसुखविशिष्टदेशविशेषासाधकमकीर्तिकरमैहिकापयशःप्रकाशकं धीमतां त्रीण्येवाभिलषितान्याजीवनप्रयत्नफलानि भवन्ति । सर्वेष्ट-विद्यासाधनं निःश्रेयसाख्यं फलमुत्तममेकम्, इतोऽपकृष्टमिष्टदानहोमादि-साधनं द्वितीयं स्वर्गाख्यम्, ततोऽप्यपकृष्टं शौर्यवीर्योद्योगादिसाधनमाशा-विश्रान्तकीर्त्याख्यं तृतीयमितीमानि त्रीण्यपि फलानि व्यामोहावाप्तेन स्वधर्मवैमुख्येनानेन कश्मलेन दुरधिगमान्येव । अनार्यजुष्टत्वादस्वर्ग्यत्वा-दकीर्तिकरस्वाच्चास्येति भावः । इदं त्वयि दृश्यमानं कश्मलं व्यामोह-समुत्थमूर्च्छाकल्पमौदासीन्यं त्वां कुतो हेतोः समुपस्थितं समागतम् । अर्जुन इति नाम्ना प्रसिद्धवीरशिरोमणेस्तव नैतद्योग्यमिति भावः ॥२॥

एवं व्यामोहजनिताधैर्यस्यानर्थापादकत्वमुक्त्वा तत्त्यागाय प्रोत्सा-हयति क्लैब्यमिति । हे पार्थ ! प्रसन्नो देवराजो यस्यै वरम-दात्तस्याः पृथायाः पुत्रस्त्वं न तु यस्याः कस्याश्चित्साधारणस्त्रिय इत्याशयः पार्थेति सम्बोधनेनाविष्क्रियते । क्लैब्यमधैर्यं मागास्त्वयि संग्रामे शस्त्रनिक्षेपकौशलेन मृत्युञ्जयमपि तोषयत्यर्जुने नैतत् क्लैब्यं

अर्जुन उवाच।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणश्च मधुसूदन ॥
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

क्लैब्यं कातर्यं मागास्त्वयि विश्वविख्यातशूरेऽर्जुने नैतदधैर्यमुपपद्यते । 'न च शक्नोम्यवस्थातुमि'त्यादिकं यत्त्वयोक्तं तत् क्षुद्रमतिक्षोदीयो हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा कृतानेकपराक्रमान् संस्मृत्य मनोबलमासाद्योत्तिष्ठ हे परन्तप ! एतदामन्त्रणेनापि शत्रूनवश्यं जेष्यतीति बोध्यते ॥ ३ ॥

ननु शत्रुभिस्सहयुद्धाचरणस्य धर्मत्वान्नतु गुरुभिस्सह तस्य तत्वमित्यर्जुन उवाच—कथमिति । हे मधुसूदन ! हे अरिसूदन ! सम्बोधनद्वयं प्रेमातिशयं व्यनक्ति ।

कथमप्युपपद्यते युज्यते । यदस्मान्महाव्यामोहादागतमतिक्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं तत्त्यक्त्वा हे परन्तप ! परान् शत्रून् तापयतीत्यर्थमन्वर्थयितुं त्वं युद्धाय सपदि समुत्तिष्ठ सन्नद्धो भव ॥ ३ ॥

ननु क्षत्रियस्य शत्रुभिःसमं संग्रामस्य धर्मत्वेऽपि गुरुजनैस्सह तस्याधर्मत्वमिति मया त्यज्यते न तु व्यामोहादित्यर्जुनस्याशयं संजयो वर्णयत्यर्जुन उवाचेति । किमुवाचेत्याह—**कथमिति ।** हे मधुसूदन ! हे अरिसूदन ! विनिश्चितं स्वकीयहार्दमावेदयितुमनुरागाधिक्यञ्च दर्शयितुमत्रामन्त्रणद्वयम् । सङ्ख्ये समरेऽहं भीष्मं पितामहं द्रोणं धनुर्विद्याचार्यं चेषुभिः शरैः कथं प्रतियोत्स्यामि प्रहरिष्यामि। कथमपि नेत्यर्थः। यतस्तौ पूजार्हौ, पुष्पादिभिः पूजनीयाभ्यां सार्धं प्राणा-

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

संख्ये संप्रहारेऽहं भीष्मं द्रोणञ्चेषुभिर्बाणैः कथं केन प्रकारेण प्रतियोत्स्यामि। यतस्तौ पूजार्हौ । याविमौ धर्मधिया पुष्पादिभिस्समर्चनीयौ तावेवेदानीमिषुप्रपातेन कथं ताडनीयौ । एवमन्येष्वपि कृपशल्यप्रभृतिषु कथं शस्त्राघातः कर्तव्य इत्यूह्यम् ॥४॥

नन्वेवं स्वधर्मत्यागेऽपि न जीवननिर्वाहः स्यादि-

पहारकैः सायकैर्युद्धाचरणमधर्मः सच कथमनुष्ठेयः । पूज्येषु पूजाविच्छेद एव शाठ्यम् शस्त्रप्रहारस्त्वतिशाठ्यं, गुरुविरोधिष्वेव युद्धेषु प्रहारो नपुनर्गुरुष्वेवेति कथं प्रतियोत्स्यामीत्यस्य तात्पर्यम् । स्मरन्ति चात्र धर्मशास्त्रकाराः—

'अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥
शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्त्ता नरके वसेत् ॥'

इति । सामान्यब्राह्मणादेरपमानकरणेनापि नरकप्राप्तिस्तर्हि विशिष्टानां गुरूणामाचार्याणाञ्च सरोषं तीक्ष्णेषुभिर्मारणे तु नरकादप्यधिकयातनावाप्तिरिति कैमुत्यन्यायसिद्धम् । भीष्मद्रोणयोरत्र प्राधान्याद् ग्रहणमन्येऽपि कृपाश्वत्थामशल्यप्रभृतयः पूजार्हा एव नत्विषुप्रहारार्हास्तस्मादयं संग्रामोऽधर्मजनकत्वाद्धेय इति भावः ॥ ४ ॥

नन्वेवं 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि'रिति न्यायात्

हत्त्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

त्यपेक्षायामाह—गुरूनिति । महानुभावान् विद्याशौर्यादिषु महाप्रभावान् गुरून् हत्वा हि परलोकविघातकगुरुवधमकृत्वेह लोके भैक्ष्यं भिक्षया प्राप्तमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः। परलोके दुःखाना-

क्षत्रियधर्मस्य युद्धादेस्त्यागेऽपि शरीरयात्रार्थं किमप्यनुष्ठेयं शरीरपातस्य तु 'आत्मानं सततं रक्षेदि'त्यादि शास्त्रविरोधादयोग्यत्वमित्याह—**गुरूनिति**। महानुभावान् तपोविद्यासत्यादिरूपो महाननुभावो येषां तान् अनेन 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यम्भवति शासनम् ॥' इति नीतिशास्त्रमपि समाहितम्भवति। यतो महाप्रभावा हि ते। नीतिशास्त्रोदितदोषस्तेषां नोपपद्यते। 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वन्हेः सर्वभुजो यथा ॥' इत्यादि धर्मशास्त्रानुसारेणातितेजस्विनां महासामर्थ्यवतामतिक्षोदीयान् पक्षपातादिरूपो धर्मव्यतिक्रमो न दोषायेति भावः। गुरून् भीष्मद्रोणकृपशल्यादीन् हत्त्वा हि पारलौकिकश्रेयोरक्षणमावश्यकमादौ सम्पाद्येह लोके क्षत्रियनिषिद्धं भैक्ष्यं भिक्षयोपलब्धमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः। ऐहिकम्परित्यज्यापि पारलौकिकश्रेयोरक्षणस्य धर्मशास्त्रसम्मतत्वादिति भावः। नन्वेते धर्मनिःश्रेयसौ परिहायार्थकामयोः प्रसक्ता इति न त्वदुक्तसामर्थ्यवन्त एतच्च स्पष्टम्परिज्ञायते भीष्मवाक्यात्—'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवै' रिति तथा चैषां वधो न दोषायेत्याकांक्षायामाह हत्वेति। तु शब्दो-

पादकत्वादित्याशयः। महानुभावांस्तान् गुरून् हत्वा तु रुधिरप्रदिग्धान् तद्रुधिरैरुपचितानर्थकामात्मकान् भोगानिहैव लोके भुञ्जीय। एवकारो निश्चयार्थकस्तथाच 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत' इति गुरुवधजन्यापकीर्तिर्मरणतोऽधिकदुःखावहास्मिँल्लोक एव स्यात् परलोके तु नरकपात एवेत्युभयथाऽनर्थावाप्तिरिति भावः ॥ ५ ॥

ऽप्यर्थकोऽर्थकामान् अर्थान् गोभूमिहिरण्यादीन् कामयन्तीत्यर्थकामा भीष्मद्रोणप्रभृतयस्ताँस्तथा विधानपि महानुभावान् गुरून् हत्वेहैव लोके रुधिरप्रदिग्धान् तद्रुधिरोपचितान् तान् हत्वा तदीयानेव भवनासनपरिच्छदादिरूपान् भोगान् भुञ्जीयानुभवेयम्। हननपक्षे त्वामुष्मिकनरकपातध्रौव्ये मरणाधिकापकीर्तिव्याप्तत्वेन रुधिरप्रदिग्धा भोगा दुःखमात्रैकफला इहाऽपि भोक्तव्या इत्युभयत्र दुःखमिति विशेषः। तस्मादहननपक्षमनुसृत्य भैक्ष्यनिर्वाह एव श्रेयानिति भावः। भुज्यन्त इति भोगा भोग्यपदार्थाः कर्मणि घञ्। अर्थकामानिति भोगानित्यस्य विशेषणम्। तथा चायमाशयोऽपि निष्पद्यते। यद् गुरुहननेऽर्थकामावेव केवलं भोक्तुं शक्यौ तावपि न सानन्दमपि तु गुरुवधजन्यापकीर्तिश्रवणसमुद्भूताधिव्यासम्। धर्मापवर्गौ तु दूरकथाविति न प्राज्ञोचितेयं प्रवृत्तिः। अत्र केचित्, पूर्वार्धे 'हिमहानुभावा'नित्येकं समस्तं पदं हिमं तुहिनं हन्तीति हिमहा सूर्योऽग्निर्वा तस्यानुभाव इवानुभावः प्रभावो येषां तान् हिमहानुभावानतितेजस्वितया सामर्थ्यवत इत्यर्थकमाहुः ॥ ५ ॥

नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

नन्वेवं युद्धस्य क्षत्रियधर्मत्वाच्छ्रेयस्त्वं गुरुजनहिन्सापेक्षयाऽहिंसाया अपि श्रेयस्त्वमतः किं विधेयमित्याह—**नचैतदिति** । युद्धकरणाकरणयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः श्रेष्ठं क्षात्रधर्ममाश्रित्य युद्धकरणमुत तत्परिहाय भैक्ष्यवृत्तिमाश्रित्य वर्तने युद्धाकरणमित्येतद्द्वयं न विद्मः । यद्वा कथञ्चिद्

ननु युद्धे गुरुजनादिहनने हिंसाजन्यं नरकपातादिलक्षणं पारत्रिकं दुःखमपकीर्तिजनितमैहिकञ्च तदित्युभयविधं दुःखद्वयम् । युद्धाकरणे च क्षात्रधर्मत्यागात् पारलौकिकं दुःखं युद्धपलायनाद्यपवादजन्यञ्च तदित्युभयविधमिदमपि दुःखद्वयमिति युद्धतत्त्यागयोः समफलत्वे किमनुष्ठेयमित्याह—**नेति** । युद्धकरणे तत्त्यागपूर्वकभिक्षाचरणमित्युभयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयोऽतिशयेन गुरु । किं युद्धं ज्यायः क्षत्रियधर्मत्वादाहो स्विद्भैक्ष्यं हिन्साविवर्जितत्वादेतद्द्वयं न विद्मः । इदमेव ज्यायस्त्वेनानुष्ठेयमिति निश्चेतुं न शक्नुमः । अनेन फलेच्छायाः प्रवर्त्तकत्वेन युद्धभैक्ष्ययोश्च समफलतयैकतरपक्षोत्तेजकस्यैकस्य कस्याप्यभावादुभयत्र प्रवृत्त्यभावः सूचितः । ननु त्वमेकपक्षं निश्चेतुमक्षमश्चेन्मद्वचनादेव युद्धे प्रवृत्तो भवेत्यत आह—यद्वेति । एवं युद्धप्रवृत्तावपि वयं तान् जयेम यदि वा तेऽस्मान् जयेयुरित्येतन्न विद्मः । 'अव्यवस्थौ हि

युद्धकरणेऽपि वयमेव जयेम यदि वा नोऽस्माँस्ते जयेयुरस्माकं विजयः स्यात्तेषां वेत्यपि वयं न विद्मः । सत्यपि विजये मरणमेवेत्याह—यानिति । यान् गुरुजनान् हत्वा न जिजीविषामो जीवितुमपि नेच्छामस्ते धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसम्बन्धिनः प्रमुख एवावस्थिताः । अतो विजयोऽप्यनभिमत इति भावः ॥ ६ ॥

दृश्येते युद्धे जयपराजया 'विति नीत्याऽस्माकं विजयो भवेत्तेषां वेति निश्चेतुं न शक्नुम इत्यर्थः । ननु धर्म्यपक्षाश्रयणात्त्वमेव जेष्यसीत्यत आह—यानिति । एवकारो भिन्नक्रमः । यान् बन्धुजनान् हत्त्वा न जिजीविषाम एव जीवितुमपि नैवेच्छामस्ते धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसम्बन्धिनो भीष्मप्रमुखाः सर्वे प्रमुखे सम्मुखेऽवस्थिताः । एवं विजितेष्वप्यसमासु राज्यैश्वर्यभोगसमकालिकं तस्मिन् येषां साहचर्यमावश्यकं त एव प्रियतमगुरुबन्धवः प्रागेवोद्यदायुधाः स्वकीयानसून करतलीकृत्य पुरोऽवस्थिता अतो विजयोऽपि निष्फल एवेति भावः । एतद् द्वयोर्मध्ये नोऽस्माकं कतरत् किं नाम गरीयोधिकतरं भविष्यतीति न विद्मः । तदेव द्वयं दर्शयति । यद्वा एतान् वयं जयेम जेष्यामो यदि वा नोऽस्मानेते जयेयुर्जेष्यन्तीतीति श्रीधरोक्तं व्याख्यानन्तु न संगच्छते । प्रकृतविरोधात् । यद्वा यदिवेति शब्दविरोधाच्च । प्रकृतं हि युद्धम्परिहाय भैक्ष्यनिर्वाहो युद्धाचरणमेतद्द्वयं न तु जयो भविष्यति पराजयो वेति । प्रकृतयोरेव गरीयस्त्वं कस्येति न विद्म इत्यर्जुनाशयः । विजयपराजययोर्गरीयस्त्वन्तु मन्देनापि ज्ञायते विजयस्यैव तदिति । पूर्ववाक्ये यद्वा जयेमेत्यादिवाक्याकांक्षा चेत्तर्हि कल्पान्तरोत्थापकस्य यद्वेति शब्दस्य वैयर्थ्यमिति ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म संमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

एवं प्रसङ्गतः स्वहार्दिकवेदनाम्प्रकटय्येदानीं गुरूपसत्तिं कुर्वन् साक्षान्निःश्रेयसाय स्वकण्ठरवेण स्पष्टमेव प्रार्थयते—**कार्पण्येति** । धर्मतस्त्याज्यस्य मोहवशादपरित्याग एव कार्पण्यं तन्निमित्तकदोषेण 'ममैते बन्धव एतेषां बधेन मम सर्वनाशमेष्यति तस्मान्नैते वध्या' इति व्यामोहदोषेणोपहत आवृतो निष्फलीकृतः स्वभावो धर्माऽधर्मविवेको यस्य तथाभूतोऽत एव धर्मे धर्मविषये सम्मूढं सम्यग् मोहवशीभूतं चेतो यस्य युद्धत्यागो धर्मोऽधर्मो वा भैक्ष्यनिर्वाहोऽपि मम क्षत्रियस्य धर्मोऽधर्मो वेत्यादि सन्देहाध्यासितचेतस्कोऽहमिदानीं त्वां सर्वे-

अधिकारिणाऽपातरमणीयेभ्यः शोकमोहभयप्रदेभ्यो जागतिकविषयेभ्यो निर्वेदमासाद्य सद्यः सविधि सद्गुरुम्प्रपद्य तदुपदिष्टमार्गेण तत्पादपद्मपोतमाश्रित्य जगदम्भोनिधिस्तरणीय इति वेदविदां समयं मनसि कृत्य व्यामोहोदन्वन्निमग्नमानसो धर्माधर्मविवेकविधुरोऽप्यर्जुनः प्राक्तनतपसोपजाततत्क्षणज्ञानलेशविशेषेण 'परीक्ष्य लोकानि'ति श्रुत्युक्तमार्गेण स्वसमीपस्थितं सर्वान्तर्यामिणं जगद्गुरुं भगवन्तमेवोपससादेत्याह—**कार्पण्येति** । धर्मबुद्ध्या हेयवस्तुनि मोहादुपादेयत्वमतिः कार्पण्यम्, लौकिकास्तु वित्तशाठ्यं कुर्वाणं कृपणत्वेन व्यपदिशन्ति । वेदान्तशास्त्रे

श्वरं सर्वलोकगुरुं पृच्छामि । किमित्यत आह—यद्विषयकः सन्देहो मन्मानसं व्याकुलयति तद्विषये यच्छ्रेयो भवता निश्चितं स्यात्तन्मे ब्रूहि । ननु सख्युस्तवोपदेशयोग्यत्वाभावात् कथमुपदिशेयमत आह—शिष्य इति । शिष्यः शासितुं योग्यस्ते तवाहमस्मि न केवलं शिष्य एवापि तु प्रपन्नोऽप्यहमस्मि । अतस्त्वां-

तथा व्यवहारो न दृश्यते तत्र तु स्पष्टमेवाभिहितं 'योवा एतदक्षरं-गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' (बृ.३।८।१०) इति परमात्मस्वरूपापरिज्ञानवत एव कृपणत्वमुभयथापि हेयधीविषयभूतदारागारस्वजनधनादिष्वविवेकबुद्ध्या 'नैते मया त्यक्तुं शक्या' 'एत एव पदार्था मे जीवनसर्वस्वभूता' इत्यादिरूपो योऽभिनिवेशस्तदेव कार्पण्यं तद्रूपदोषेणोपहतः प्रतिबद्धः स्वभावो वस्तुत्वपरीक्षणधीर्यस्य तथा धर्मे धारणकर्तरि सर्वाधारे परमपुरुषे सम्मूढं चेतो यस्य 'स एवैकः स्वतंत्रोऽन्यच्चिदचिद्वस्तुजातं परतन्त्रमिति ज्ञानविरहाच्चित्तसम्मोहः । एष च मनोमोहः पापिष्ठताम्प्रापयति । तदुक्तं भगवता शौनकेन—

'योऽन्यथासन्तमात्मानं ह्यन्यथा प्रतिपद्यते ।
किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

इत्यतः परमधर्मपदप्रतिपाद्ये परस्वरूपे मे मनो विप्रतिपद्यते । अनेन स्वस्वरूपमपि व्याख्यातंभवति । अर्थात् स्वस्वरूपं परस्वरूपं चाहं न वेदेति भावः । एतादृगवस्थोऽहं त्वां 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (मु. २।२।७) इति श्रुतिदर्शितप्रभावं पृच्छामि यन्निश्चितं श्रेयः 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः, 'श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणोते' (का.) इति

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि । धर्मसन्देहान्धतमसे निमग्नं मां निश्चितश्रेयोमार्गोपदेशं करुणया विधेहीत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु त्वदृते शोकापनोदनोपायभूतमन्यन्न पश्यामीत्यतस्त्वमेवोपायम्प्रबोधयेत्याह—नेति । इन्द्रियाणामुच्छोषणं परितापकरं मम शोकं यत् सामान्ये नपुंसकमपनुद्यात् तद् भूमावसपत्नं शत्रुरहितं सर्वर्द्धिसमन्वितं राज्यमवाप्य न केवलं मृत्यु-

श्रुत्यनुसारेण परमपुरुषार्थलक्षणमित्यर्थः । तन्मे ब्रूहि तत्वत उपदिश । ननु शिष्यपुत्रातिरिक्तस्य सख्युस्तवोपदेश्यतैव नास्तीत्यत आह—शिष्य इति । तवाहं शिष्यः शासनयोग्योऽस्मि । तस्मादनधिकारशंकामपाकृत्य त्वाम्प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि करुणया शिक्षय निःश्रेयसाय श्रेयःस्वरूपं मह्यमवश्यम्प्रदर्शयेति प्रार्थनायां लोट् ॥ ७ ॥

ननु त्वदीयं श्रेयस्त्वमेव निर्णेतुं क्षमोऽसि समधीतसमस्तविद्यत्वादथवान्येभ्यस्तपःश्रुतादिसम्पन्नेभ्यो विजानीहि कुतो मामेव पृच्छसीत्यत आह—**नेति** । यदिति समान्ये नपुंसकम् । यत्किमपीन्द्रियाणां करणकलेवरादीनामुच्छोषणं सन्तापकरं मम मत्सम्बन्धिनं शोकमपनुद्यादपनयेत् तद् भूमौ वसुन्धरायामसपत्नमरिविवर्जितं समृद्धिपूर्णं सार्वभौमसत्तासमन्वितं राज्यं सुराणां देवानामप्याधिपत्यं देवपरिवृढत्व-

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः ।
नयोत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

लोकराज्यमपि तु सुराणामाधिपत्यममरेश्वरत्वमवाप्यापि हि निश्चयेन नैव प्रपश्यामि त्रैलोक्येऽपि मम व्यामोहविनाशकस्त्वदतिरिक्तः कोऽपि नास्तीत्यर्जुनोक्तेरभिप्रायः ॥ ८ ॥

ततोऽर्जुनः किमकरोदिति धृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—एवमिति । गुडाकाया निद्राया ईशो जितनिद्रः

श्चावाप्यापि हि नैव प्रपश्यामि सार्वभौमसत्ताममरेन्द्रताम्प्राप्यापि प्राप्तस्यास्य शोकस्य समूलोच्छेदकरं किमपि नैव पश्यामीति त्वमेवैक एव शोकशमनकर्त्तेति वदतार्जुनेन 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' इति श्रुत्यर्थः स्मारितः । एवं स्वकीया सर्वथाऽधिकारिता प्रदर्शिता ॥ ८ ॥

एवं स्वाभिप्रायमुक्त्वाऽर्जुनः किं कृतवानिति धृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—**एवमिति** । परानरीन्तापयतीति परन्तपो गुडाकेशः गुडाकाया निद्राया ईशो जितालसोऽर्जुनः हृषीकाणामखिलविश्वस्थजीवनिवहकरणकलेवराणामीशं नियामकं परमपुरुषं श्रीवासुदेवमेवमुदितप्रकारेणोक्त्वा नाहमितः परं योत्स्य इति स्वाभिप्रायं गां वेदवाणीं प्रतिपादकत्वेन प्रतिपाद्यत्वेन वा विन्दत इति 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (   ) 'नावेदविन्मनुते तम्बृहन्तम्' (   )

परान्छत्रून् तापयतीति परन्तपोऽर्जुनः । हृषीकेशं सर्वेन्द्रियाणामधिष्ठातारं श्रीकृष्णमेवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा पुनर्न योत्स्य इति गोविन्दमभिधाय तूष्णीं बभूव मौनमुपसेवितवान् । हेति स्पष्टार्थकम् ॥ ९ ॥

वेदान्तवेद्यम्' ( ) इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद्वेदान्तैकप्रतिपाद्योऽथवाऽन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र विदिस्तथा च गामखिलां वेदवाणीं वेदयते इति हरिवंशे 'गौरेषा तु यतो वाणी ताञ्च वेदयते भवान् । गोविन्दस्तु ततो देवमुनिभिः कथ्यते प्रभु'रित्युक्तार्थकः । अथवा 'नष्टां वै धरणीं पूर्वमविन्दन् वै गुहागताम् । गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः' इति स्कान्दोक्तः गोपदबोध्यधरणीधारकः गाः विन्दत इति वा श्रुतिक्षिति गवां रक्षकत्वाद् गोविन्दस्तमुक्त्वा वचनेन प्रतिपाद्य तुष्णीं बभूव वाग्व्यवहारादप्युपरराम । हेतिशब्दः स्पष्टप्रतिपत्तये । अत्रार्जुनस्य गुडाकेशः परन्तप इति शब्दद्वयेन भगवद्वासुदेवस्य च हृषीकेशः गोविन्द इति गुडाकेशपरन्तपशब्दार्थप्रतिद्वंद्वद्व्यर्थाभिधायिशब्दद्वयेनाभिधानं सञ्जयस्य विशिष्टं हार्दं गमयति । गुडाकेशोऽर्जुनो मनोमात्रैकेन्द्रियतामसवृत्तिविशेषगुडाकामात्रस्य नियामको यद्यप्यस्ति परन्तु भगवाँस्तु हृषीकेशः कौन्तेयस्य भीष्मद्रोणाद्यखिलचेतनानाञ्चान्तरबाह्यकरणानि स्वसंकल्पमात्रेण वशीकृत्य स्वेच्छं युद्धेन तद्विनापि जिष्णोर्विजयीकर्तुं क्षम इति ज्ञापयति । परन्तपः शत्रुतापकोऽर्जुनस्तथापि भगवान् गोविन्दः सकलजगदाधारः सर्वेश्वरः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं क्षमोऽतः स्वानन्यभक्तस्य पार्थस्यावश्यमिष्टं साधयिष्यतीति धृतराष्ट्रं सूचयति सञ्जयः ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

तूष्णींभावमास्थितमर्जुनं भगवान् प्रबोधयतीत्याह संजयः— तमिति । हे भारत ! हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानुभयोः

'विसृज्य सशरं चाप'मिति शारीरिकाद्व्यवहारा 'तूष्णीं बभूवे'ति च वाचिकादपि व्यवहारादुपरतमर्जुनं वीक्ष्य तदीय मोहसन्तमसं स्वप्रबोधभास्करेणापाचिकीर्षुर्भगवान् वासुदेवः प्रबोधयतीत्याह सञ्जयः—**तमिति** । हे भारत ! निष्पक्षपातधर्मनिरतभरतवंशीय धृतराष्ट्र ! परबलोद्योगयोद्धृदर्शनायोभयोः सेनयोर्मध्ये स्थित्वा दृष्ट्वा च विषीदन्तं विषादमाप्नुवानं तमर्जुनं प्रहसन्निव हृषीकेशः महापुरुषलक्षणं हि स्मितपूर्वभाषित्वं तदनेन विशेषणेन व्यज्यते । अथवा हृषीकेशस्त्वत्करणकलेवरादिनियामकोऽप्यहमस्मि । क्षणेनाहं नियन्तृतया परिवर्तयितुं शक्नोमीति सूचयितुं प्रहसन्निवेति । अथवा प्रणतजनोपकृतयेऽवनितलेऽध्यात्मज्ञानविस्ताराय स्वयं हृषीकेशतयाऽर्जुनस्य धीरस्याप्यन्तरिन्द्रियं क्षोभयित्वा तद्धृदि व्यामोहमुत्पाद्य तं निमित्तीकृत्य स्वाश्रितातिगुह्यं ज्ञानं प्रकाशयामास । स्वयमेतत्सर्वं विधायापि नटवत्ताटस्थ्यमवलम्ब्य स्थित इति प्रहसन्निवेत्युक्तम् । अथवा साटोपं युद्धोद्योगमारभ्य मध्येसेनं रथमवस्थाप्य स्वस्य वीराग्रणीत्वं ख्यापयित्वेदानीं युद्धविरतिः 'अनारंभो मनुष्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् । आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीया बुद्धिरिष्यते' इति नीतिशास्त्रं विरुणद्धीत्येतन्मनसि निधायार्जुनं प्रहसन्निवेति । अथवा धीरवीराग्रगण्यस्यापि बन्धुहननभिया

सेनयोर्मध्ये सामायिककर्तव्यं परित्यज्य विरुद्धभावनया विषीदन्तं तमर्जुनं प्रहसन्निव मदाश्रयत्वात्तत्र न कापि भीरिति

धिया चेखिद्यमानस्य जिष्णोर्मनस्येवं विचारो माभूद् यदयं हृषीकेशः स्वधर्मत्यागिनं मामवश्यमभिक्रोत्स्यति तथा सति भीतिविशिष्टेऽस्योरसि न जातूपदेशबीजप्ररोहः स्यादतः प्रहसन्निव प्रसन्नमुख इत्यर्थः । इदं स्वपरस्वरूपतत्वावेदकं परप्राप्त्युपायकर्मज्ञानसचिवभक्तियोगप्रकाशकं 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यारभ्य' अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः' इत्यन्तं वच उवाच ॥ यत्तु इदं 'नत्वेवाहं जातु नासम्' इत्यारभ्य 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच' इत्येतदन्तं वचनमुवाचेत्यर्थ इति यच्च तट्टीकाकृतः, अशोच्यान् इति श्लोकस्यापि उपदेशार्थविधानापादनार्थपरिहासच्छायतया शास्त्रावतरणमात्रत्वेन साक्षाच्छास्त्रत्वाभावान्नत्वेवाहमित्यारभ्येत्युक्तम् । यद्वा 'अशोच्या' निति श्लोकः प्रहसन्निवेत्यस्य विषयः 'नत्वेवाहम्' इत्यादिकमिदंशब्दार्थः' इत्याहुस्तन्न, इदम्पदशक्यताविरुद्धत्वात् । अत्र भगवत्समवेतलौकिकप्रत्यक्षज्ञानीयसन्निकृष्टाशोच्यानित्यादिवचननिष्ठविषयताविशिष्टे हीदंपदस्य शक्तिर्न त्वसन्निकृष्टनत्वेवाहमित्यादिवचननिष्ठविषयताविशिष्टेऽतो नत्वेवाहमित्यादिकमेव नेदंशब्दार्थः । न च लौकिकप्रत्यक्षज्ञानीयविषयतावच्छेदकावच्छिन्न एवेदम्पदवाच्यता चेद् गगनादितात्पर्येण प्रयुक्तस्येदम्पदस्येदं शब्दवदित्यादावाकाशादेरुपस्थित्यभावाच्छाब्दबोध एव न स्यादिति वाच्यम्' पञ्चीकरणप्रक्रियया 'नीलं नभः इत्यादिप्रामाणिकप्रत्ययस्य सत्वेन च गगनादेरपि साम्प्रदायिकैर्लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वस्याङ्गीकारात् । भगवदुक्ते-

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

प्रहसनेन ज्ञापयन्निवेदं वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥१०॥

आत्मयाथात्म्यज्ञानाभाव एव शोकबीजमित्यतो देहादेः परिणामिवस्तुनस्तदधिष्ठातुरात्मनस्तदन्तर्यामिपरमात्मनश्च विवि-

रादिमवाक्यं परिहाय द्वितीयादेरिदम्पदग्राह्यत्वे प्रमाणाभावाच्च । प्रहसन्निवेत्यस्य विषयोऽशोच्यानितिश्लोकः 'नत्वेवाहमित्यादिकमिदंशब्दार्थ इति व्याख्यानमप्यसंगतम् प्रहसन्नित्यस्य विषयत्वेऽपि 'अशोच्यानिति वाक्यस्येदम्पदग्राह्यत्वाक्षतेः । न हि केवलं प्रहासफलकमेव भगवानभिदध्यात् । किञ्चाशोच्यानितिवाक्यैकसंगतिमन्न त्वेवाहमिति वाक्यं सर्वसम्मतं भवदुक्तौ 'न त्वेवाहमिति निराकांक्षमसंगतञ्च सम्पद्यमानं पूर्वपठितस्याशोच्यानिति वाक्यस्यापि नैष्फल्यमापादयतीति सुधीभिर्विभावनीयम् । यत्पुनस्तत्त्वप्रकाशिकायां पाण्डुपुत्रस्य क्षत्रियसम्मतस्य नैतद्युक्तमिति लज्जानिमित्तं कोपमुत्पादयितुं प्रहसन्निवेत्युक्तम् तदपि न संगच्छते प्रकरण विरुद्धत्वात् । प्रकरणं चेदमुपदेशपीयूषप्रदानस्य तद्धि प्रशान्ते चेतस्येव क्षेमकरं स्थिरञ्च भवति न तु कोपाविष्टे चेतसि । 'स्वधर्मे प्रवर्तयितुमुद्यतस्य प्रहासो नोचितः किन्तु तद्विद्याबुद्धिकौशल्यगर्वापनयनेन तत्वज्ञानाधिकारितासम्पादनायेत्यादितदीयग्रन्थविरुद्धत्वाच्च । नहि गर्वमपनेतुं कोपोत्सादनं युक्तम् ॥ १० ॥

अथार्जुनस्य शोकमपनिनीषुर्भगवान् 'सोहं भगवो मन्त्रवि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

क्ततया स्वरूपमस्मै प्रदर्शनीयं तदवगमे चास्य शोकस्य समूलमुच्छेदोऽवश्यम्भविष्यतीति मनसि निधाय श्रीभगवानुवाचेत्याह सञ्जयः । किमाह तन्निर्दिशति—अशोच्यानिति । अशोच्यान् शोकानर्हान् शूरसम्मान्यान् स्वधर्मानुष्ठानेन पुण्यलोकानिप्सून् भीष्मादीन् देहात्मविशिष्टानेव 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण !' इत्यादिना एते मद्गुरवो मरिष्यन्ति, एतैर्विना

देवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति' (छा. ४।१।२) इत्याद्यनेकश्रुतिनिर्दिष्टस्यात्मस्वरूपपरिज्ञानस्यैव शोकसन्तरणोपायतया निश्चितत्वात् । करणकलेवरादीनां सततविकारभाजां तदध्यक्षस्य परपरतन्त्रस्य जीवात्मनस्तदन्तर्यामिपरमात्मनः सर्वफलदातुस्सर्वनियामकस्य चराचरजगदभिन्ननिमित्तोपादानस्य प्रातिस्विकरूपेण परिज्ञानमावश्यकम् 'इत्येतन्मनसि निधाय तेषां पार्थक्येन स्वरूपस्वभावादिकं स्पष्टयितुं श्रीभगवानुवाच—**अशोच्यानिति** । त्वमशोच्यान् शोचयितुमयोग्यान् भीष्मद्रोणादीन् परिणामिकरणकलेवरसहितचेतनात्मकान् 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' इत्यादिवचनैर्ममैते, अहञ्चैतेषाम्, एते मद्बाणेन निहता भविष्यन्ति, 'एतैर्विना कथमहं स्थास्यामि, मदीयजयो भविष्यतीत्यप्यनिश्चितम्, एतेषां हनने महत्पापं नरकनिपातश्च मेऽवश्यमेव स्यादित्याद्यनुचिन्तनेन त्वमन्वशोचोऽनुशोचसि । नन्वत्र शोकस्य वर्तमानत्वेन, 'भाषस' इति वर्तमानकालिकभाषणकर्तृकत्वेन च 'अन्वशोच' इति लङ्वाच्यभूतानद्यतनस्यानन्वयःस्यादिति चेन्न, आर्षत्वाद्व-

राज्यसुखादिकं मे व्यर्थमित्येवं प्रकारेणानुशोचसि प्रज्ञावादांश्च भाषसे स्वमनीषोपकल्पितानेवार्थान् नतु शास्त्रवृद्धसम्मताँस्तान् वदसि । पण्डिता आत्मानात्मविवेकिनः प्राज्ञाः देहादेरनित्यत्वमात्मनश्च नित्यत्वमितिनिश्चयवन्तो मनीषिण इति यावत् । गतासून्

र्तमानार्थ एव लङ् यद्वा 'वर्तमानसामीप्येवर्तमानवद्वा' (पा. सू. ३।३।१३१।) इत्यनुशासनाद् भूते लङनुसन्धेयः । प्रज्ञावादान् प्रज्ञाया वादा इति जन्यजनकभावे षष्ठी ज्ञेया । ननु तथापि सर्वेषां वादानां प्रज्ञामूलत्वमेवेति कथमर्थसंगतिरिति चेत्, शब्दबलात् स्वीयप्रज्ञेति लभ्यते । तथाचायमर्थः स्वकीयबुद्ध्युपारूढतर्कानवलम्ब्य क्रियमाणा वादास्तान् भाषसे । न हि त्वदीयवचसि शिष्टजनस्य काचित् सम्मतिरस्तीति भावः । ननु पण्डिता अपि विषयेऽस्मिन् मद्वचनानुगुणमेव ब्रूयुः किमिति स्वप्रज्ञाकल्पितभाषीति मय्यधिक्षेपस्तत्राह गतासूनिति । गतास्वगतासुशब्दयोर्गतप्राणसप्राणरूपार्थोऽत्राऽसंगतः सन्दर्भविरुद्धत्वात् । किन्त्वाभ्यां शब्दाभ्यां देहात्मानावेव ग्राह्यावुत्तरत्र तयोः स्वरूपस्यैव स्पष्टीकरणात् । 'अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्, (गी. २।१७) इत्यात्मनः स्वरूपस्य नित्यत्वोक्तेः । 'अन्तवन्त इमे देहा' (गी.२।१८) इति च देहिविलक्षणदेहानामनित्यत्वाभिधानात् । पण्डिताः सदसद्विवेकवती बुद्धिः पण्डा सैषामस्तीति पण्डितास्तादृशा हि क्षणभङ्गुरत्वेन देहाद्यचित्पदार्थानाम्परिणामित्वमनित्यत्वमजत्वान्ययत्वानश्वरत्वादिधर्मैश्चित्पदार्थस्यात्मनो नित्यत्वं तयोश्चिदचितोर्नियामकत्वेन ताभ्यां विविक्तस्वरूपस्य परमात्मनश्च नित्येश्वरत्वं सर्वाधारत्वं सर्वेषामादिकार-

नत्वेवाहं जातु नासं नत्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

गतप्राणान्देहादिकान् तथाऽगतासूनात्मनश्च स्वरूपविवेकिनः 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि प्रकारेण यथा त्वं शोचसि तथा न शोचन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

मोक्षाभिधायकेऽस्मिन् गीताशास्त्रे परमपुरुषार्थतयोपेयस्वरूपं तदुपायभूतोपासनाधिकारिणामात्मनाश्च स्वरूपमादावुपदिशति—नेति । अहं सर्वनियन्ता 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ' ' क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते ' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् सर्वेश्वरः साधूनां परित्राणायेदानीमनेन दिव्यरूपेणावतीर्य सकलजननयनगोचरोऽप्यहमिति यावत् । जात्वस्मात् कालात् प्राक् । सृष्टेः पूर्वस्मिन् कालेऽपीत्यर्थः । नासम् । नाभूवम् । इति न । अपित्वासमेव । जगतोऽभिन्ननिमि-

णत्वञ्च सम्यगवगच्छन्ति । अत एव न ते प्रज्ञावादमाश्रित्य त्वमिवाकाण्डताण्डवं विदधतः स्वकीयपाण्डित्यं दर्शयन्ति पदार्थस्वभावमनवधृत्यानुशोचन्ति वेत्यर्थः ॥ ११ ॥

पूर्वमशोच्यत्वमुक्तं तदुपपादयितुं विचार्यते शोच्यता कस्यास्ति? न तावद्देहविशिष्टस्यात्मनो देहसम्बन्धस्यागमापायित्वेन विनाशनिश्चयेनाशोच्यत्वात् । न च देहानामपि सा सम्भवति 'अन्तवन्त इमे देहा 'इत्यादिवाक्यैस्तेषामपि शोच्यत्वाभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् । परिशेषादात्मनः शोच्यता वक्तव्या स यदि कादाचित्कः स्यात् तथैव

त्तोपादानकारणत्वात् । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुतेः। त्वमर्जुनः। जातु सृष्टेः प्रागपि नासीरिति न । अपित्वासीरेव । इमे पुरो वर्तमाना जनाधिपा राजानोऽपि जातु सृष्टेः प्रागपि नासन् । इति न । अपित्वासन्नेव । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतौ सत्पदवाच्यस्य ब्रह्मण एकत्वावधारणेन शरीरतया सर्वेषां ब्रह्मविशेषणतामापन्नानां चिदचित्पदार्थानां नामरूपविभागानर्हतापन्नत्व मेवोक्तमिति न तया विरोधः । सर्वे वयमहञ्च त्वञ्चेमे राजानश्च । अहमीश्वरस्त्वत्प्रभृतय सर्वे ईशितव्या जीवाश्चेत्यर्थः । अतः परं वर्त्तमानात् कालात् परस्मिन् काले ।

नास्तीत्युच्यते नेत्यादिवचनैः । तुनात्मत्वेन सर्वनियन्तुरुपेयभूतस्य भगवतोऽपि सर्वात्मभिः साम्यं स्यादित्याशंका वार्यते । प्रकृतार्थदार्ढ्यबोधनाय नञ्द्वयोपादानम् । नञ्द्वयस्य जातुशब्दस्य चार्थानुगुण्यायापित्वितिपदयोरत्राध्याहारस्तथा चायमर्थः । अहं सर्वात्मनां नियन्ता परमात्मा जातु कदाचिदप्यतःपरं वर्तमानसमयात् प्राचीनेऽनादौ समये नासमिति नापि त्वासमेव । त्वं क्षेत्रज्ञत्वेन मन्नियाम्यो नासीरिति नापि त्वासीरेव । क्षेत्रज्ञानामानन्त्यमिति सिद्धान्तं दर्शयितुमाह इमे जनाधिपा नासन्निति नापि त्वासन्नेव । उत्तरवाक्यद्वये कर्त्रनुरोधात् क्रियापदपुरुषवचनसमन्वयो यथार्थमूह्यः । एवं वयं—अहञ्च त्वञ्च इमे च वयम् 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' (पा. सू. १।२।७२।) इति सूत्रे 'त्यदादीनां मिथःसहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इति वार्तिकबलादस्मच्छब्द-

जातु । न चैव भविष्याम इति नापि तु भविष्याम एव । प्रलय-
कर्तुरेव मम सर्वेश्वरस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादनेत्वेन मुक्तो-
पसृप्यत्वेन च व्यपदेशात् । तथा च श्रुतिः—'सदेव सोम्येदम-
ग्रमासीदेकमेवाद्वितीयम्' 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि-
निष्पद्यते' इत्यादि । देहनाशानन्तरं प्रलये लोकान्तरगतौ चैते-
षाममुक्तानां जीवानां नासद्भावसम्भावना संसारिताप्रयोजककानां
कर्मणामनपगमात् कृतविप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गदोषाच्च । मुक्ता-
वपि च 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' 'स
एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिश्रुत्या "इदं ज्ञानमुपा-
श्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न

स्यैकशेषः सर्वे इदानीन्तनेऽनेहसि यथा विद्यमानाः स्मस्तथाऽतः परं
भविष्यति समयेऽपि न भविष्याम इति नापि तु भविष्याम एव ।
अत्र भगवानहमिति प्रतीत्याऽनुभूयमानं स्वस्वरूपमेवादावुक्तवान् । अन-
न्तरं क्षेत्रेऽनुभूयमानान् युष्मदिदंशब्दाभ्यां क्षेत्रज्ञानभिदधौ । तस्याय-
माशयः यथाऽहं सर्वेषामादिकारणं सर्वोत्पादकः सर्वनियन्ता नित्योऽ
स्मीत्यत्र नास्ति सन्देहलेशः प्रत्यक्षानुमानशब्दैस्तथा निश्चयात् । तत्रा-
ऽहमिति मम प्रात्यक्षिक्येव प्रतीतिः स्वरसतो दृश्यते । त्वया च युद्ध
प्रोत्साहनसारथ्यावस्थानादिमदीयानेकचेष्टादिभिरहं सुतरामनुमेयो यतस्त्व-
मप्यधीतसर्वविद्यः समुपासितव्यासादिमहर्षिचरणो वेदशास्त्रमननोन्मिषित-
मनीषया धर्माऽधर्मविवेकप्रवणोऽसि । श्रुतिस्मृतयश्च जगदुत्पत्तिपालनादि-
कर्तृत्वेन मन्नित्यतां सर्वनियन्तृताञ्चोचुः । तथाहि 'हिरण्यगर्भः सम-

व्यथन्ति च" इति स्मृत्या च न जीवा विनाशमुपयान्त्यपि तु
'तद्विष्णोः परमं पदम्' 'देवानां पूरयोध्या' इत्यादिश्रुतिप्रमाणिते
नित्यधाम्नि भगवतः श्रीरामस्य निरतिशयानन्दस्वरूपकिङ्कर-
तामावहन्तो'ऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत' इति
श्रौतवचनं चरितार्थयन्तोऽवतिष्ठन्ते ।

एवमज्ञानमोहितस्याज्ञानमपसारयितुं तात्त्विकात्मनित्यत्वो-
पदेशावसरे स्वस्याहमिति प्रत्यक्तयाऽर्जुनप्रभृतीनाञ्च त्वमिति स्वा-
भिमुखचेतनान्तरतयेम इति स्वपराङ्मुखानेकचेतनतया सर्वे इत्ये-
कोपाधिसंगृहीतानेकव्यक्तितया वयमिति स्वेन सार्धमात्मरूपेणै-
कवर्गीकृतानन्तव्यक्तितयाऽभिधानाज्जीवानां स्वस्मात् परस्परञ्च
'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति
कामान्' इत्यादिश्रुतिसम्मतं स्वाभाविकमेव भेदमानन्त्यञ्चाभि-
हितवाननन्तकारुणिको भगवान् वासुदेवः ।

ननु ब्रह्मस्वरूपतिरोधायकज्ञाननिवर्त्त्यानिर्वचनीयाविद्याकृ-
तभेददृष्टिमवलम्ब्यैवायमहंत्वमादिव्यपदेश इति चेन्न, 'यः

वर्तताग्रे भूतस्यजातःपतिरेक आसीत्' (य. २५।१०) 'तत्सृष्ट्वा
तदेवानुप्राविशत्' तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् (तै. २।६) 'जन्मा-
द्यस्य यतः' (ब्र. सू. १।१।२) स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता
स एव पात्यत्ति च पाल्यते च । ब्रह्माद्यवस्था भिरशेषमूर्तिर्विष्णुर्व-
रिष्ठो वरदो वरेण्यः ॥ (वि. पु. १।२।६७) 'कर्ता सर्वस्य जगतो
भर्ता सर्वस्य सर्वगः । संहर्ता कार्यजातस्य श्रीरामः शरणं मम' (बृह-

सर्वज्ञः सर्ववित्' 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुतिश्रुतसर्वज्ञताशालिनो भगवतोऽविद्याप्रयुक्तभेददृष्टेरसम्भवात् ।

किञ्च सप्तविधानां दुरुद्धराणामाश्रयतिरोधानस्वरूपानिर्वचनीयत्वप्रमाणनिवर्त्तकनिवृत्यनुपपत्तीनां सम्भवादद्वैतवादिभिरङ्गीकृताऽविद्योपपादयितुमशक्या । तथाहि—

भ्रमजनयित्र्या अविद्याया आश्रयः कः ? न तावज्जीवोऽस्या आश्रयोऽन्योन्याश्रयात् । ब्रह्म तु ज्ञानबाध्याविद्याविरोधि स्वयम्प्रकाशज्ञानरूपत्वादिति न तदाश्रयः । ज्ञानस्वरूपमपि ब्रह्माविद्याश्रयश्चेन्न सा ज्ञानबाध्या । स्वरूपादतिरिक्तं स्वरूपविषयकं ज्ञानमेवाविद्याविरोधि न स्वरूपभूतं ज्ञानमिति वक्तुमशक्यम्, जडत्वप्रसङ्गादनुभूतिस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽद्वैतिनां मतेऽनुभूत्यन्तरविषयत्वानङ्गीकारात् । प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानन्त्वतद्विषयकत्वेन ब्रह्मयाथात्म्याज्ञानस्यापि न विरोधि किन्तु प्रपञ्चसत्यत्वज्ञानस्यैव ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयतयैव विरोधस्य सर्वसम्मतत्वात् ।

द्ब्रह्मसंहिता) 'कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां प्रभुः' (वा. यु.) इत्यादिशतशः शब्दप्रमाणैर्नित्योऽहं परमात्मा स्वरूपेण सर्वजीवभिन्नो भिन्नगुणस्वभावश्च । तथा यूयं क्षेत्रज्ञा अपि नित्या भिन्नाश्च देहादिपरिणामिपदार्थेभ्यः । षड्विकारवतां देहाद्यचेतनानां धर्मा देहवैशिष्ट्येऽपि देहिनि न संक्रामन्ति । तदुक्तं श्रीभागवते 'नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि' (भाग. ११।

किञ्च ब्रह्मस्वरूपतिरोधायिकाऽद्वैत्यभिमताऽविद्या किं प्रकाशविरोधिनी न वा ? नाद्यस्तदा तयाऽधिष्ठानाप्रकाशेऽध्यासानुपपत्तेः स्वरूपनाशप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः प्रकाशाविरोधे तस्यास्तिरोधायकत्वाभावेन तत्कल्पनावैयर्थ्यात् ।

किञ्च साऽविद्या परमार्थभूता न वा ? नाद्योऽद्वैतहानेः । नान्त्यो विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अपरमार्थरूपा साऽविद्या दृशिरूपा द्रष्ट्री दृश्यरूपा वा ? आद्येऽनवच्छिन्ना सावच्छिन्ना वा ? प्रथमपक्ष आश्रयदृश्यपेक्षया भिन्नाऽभिन्ना वा ? नादिमो दृशिद्वयापत्तेः । नापि चरम आश्रयदृशेः परमार्थत्वेन तदभिन्नाया अस्या दृशेरपारमार्थ्यानापत्तेः। आश्रयदृशेरप्यपरमार्थत्वे तु शून्यवादप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षेऽपिन सावच्छिन्नाया अस्या दृशौ कल्पितत्वेन मूलदोषापेक्षयाऽनवस्थापत्तेः । द्वितीये तृतीये त्वस्याः कल्पितत्वेनानवस्थादोषप्रसङ्गः ।

किञ्चास्या अविद्यायाः सदसद्विलक्षणत्वात्मकमनिर्वचनीयत्वमद्वैतिभिरङ्गीकृतं न युक्तं कस्यचिदपि पदार्थस्य सदसद्वि-

३।३८) अत्र जीवात्मनां तद्विलक्षणदेहेन्द्रियाद्यचेतनानां स्वरूपस्वभावयोरभिधाने प्रवृत्तः परमात्मा सर्वेश्वरो 'नत्वेवाहं जातु नासम्' इत्यनेन यत्स्वस्वरूपमभ्यधात्तन्निदर्शनार्थमेव । तथा चात्र 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (काठ. २।५।१३) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वे.) 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' (श्वे.) 'प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः' (श्वे.)

न्त्वेन प्रतीतेरभावात् । सत्वासत्वान्यतररूपेणैव सर्वेषां पदार्थानां प्रतीयमानत्वादितिभावः । सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि कालभेदेन देशभेदेन प्रकारभेदेन चास्तिनास्तीति प्रतीत्योर्मिथोविरोधे माना-भावादितियावत् । सद्विलक्षणं किन्तु नासदेवमसद्विलक्षणं किन्तु न सदितिकथने व्याघात एवेत्यनुपपन्नमेवाविद्याया अनि-र्वचनीयत्वम् ।

अविद्यायां प्रमाणानुपपत्तिस्तु "यदपि चाज्ञानमनादि-भावरूपं पदार्थान्तरमागमप्रत्यक्षानुमानबलेन प्रसाध्य तच्छबलि-तस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वमिति कथनं तदपि महाम्भसि निम-ज्जतः कुशकाशावलम्बनमनुकरोति" इत्यादिना 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १।१।१।) इति प्रथमसूत्रस्यानन्दभाष्ये विस्तरेणास्माभिः प्रपञ्चिता तत्रैवावलोकनीया ।

किञ्चास्या अविद्याया निवर्त्तकं किम् ? ज्ञानमितिचेत्तत् स्वरूपभूतं ब्रह्मैवान्यद् वा ? नाद्यस्तस्य सार्वदिकत्वेनाविद्याया एवासम्भवस्य श्रवणादिवैयर्थ्यस्य च प्रसङ्गात् । द्वितीये ब्रह्मा-

इत्यादिश्रुतिशतनिदर्शितः प्रत्यगात्मपरमात्मनोर्भेदः पारमार्थिक इत्येतत् स्पष्टीकृतम् । नित्यो नित्यानामिति श्रुतिर्नित्यानां बहूनामिति ब्रुवन्ती जीवानां नित्यत्वमानन्त्यं परस्परं भेदश्च स्पष्टमेव साधयति । एवं वाम-देवादयो मुक्ता न वयमिति प्रेक्षावतां व्यवहारोऽपि तेषां बहुत्त्वे भेदे च प्रमाणम् । प्रकृतश्लोके सर्वे वयम्' इति भगवद्वाक्यादपि जीवानां बहुत्वस्य भेदस्य च सिद्धिः । न च परिच्छिन्नान्तःकरणरूपोपाधिभे-

त्मैक्यविषयकमेवान्यविषयकं वा तज्ज्ञानम् ? अन्त्ये ब्रह्मैक्य-ज्ञानशून्यानां घटादिमात्रज्ञानवतां मुक्तिप्रसङ्गः । आद्ये तत्सत्य-मुत मिथ्या ? सत्यत्वेऽद्वैतहानिः । मिथ्यात्वे निवर्त्तकान्तरापेक्ष-णादनवस्था । नन्वविद्यां नाशयत् तत् स्वयमेव विनश्यति जल-मलनाशककतकरजांसीवेतिचेन्न, तादृशानां कतकरजसां जलाधः स्थान एवावस्थानाद् दृष्टान्तासङ्गतेः । किञ्चायमविद्यानिवर्तक-ज्ञानविनाशः सत्योऽसत्यो वा ? सत्यत्वेऽद्वैतहानिः । असत्यत्वे तदुपादानाविद्याऽवस्थानप्रसङ्गः ।

एवमविद्यानिवृत्तिरप्युपपादायितुमशक्या विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अविद्यानिवृत्तिः सत्या किंवा मिथ्या ? आद्ये ब्रह्म-रूपा तदन्या वा ? न प्रथमोऽनादेर्ब्रह्मस्वरूपस्य साध्यत्वासम्भ-वात् । नापि चरमो भिन्नसत्ताकत्वेन विरोधाभावादनिर्मोक्षप्रस-ङ्गादद्वैतहानेश्च । अविद्यानिवृत्तेर्मिथ्यात्वपक्षे निवृत्युपादानभूताया अविद्याया निवृत्या सहावस्थितेरावश्यकतयाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।

ततो न जीवेश्वरयोरभेदः । ननु जीवस्येश्वरत्वं कुतो नाङ्गी-

दादेव जीवानां परस्परं भेदो जलशरावादिभेदाच्चन्द्रभेदवदितिवाच्यम् । नभोऽवस्थितचन्द्रबिम्बस्यैक्यान्न तत्सार्धं सलिलशरावादिरूपोपाधेर्दृष्टोऽ-नुमितो वा सम्बन्धः किन्तु येषां चन्द्रप्रतिबिम्बानां सम्बन्धस्तानि तु भिन्नान्येवेति दृष्टान्तासिद्धेः । किञ्चायमन्तःकरणरूपोपाधिर्जीवेन सम्ब-द्धः सन् भवत्यसंबद्धो वा ? नाद्यः संबद्धश्चेत्ततः प्रागपि जीवसत्त्व-मभ्युपेयमुपाधिकल्पनायाः नैष्फल्यात् । प्राक् ततो जीवेन सम्बन्धान्म-

क्रियत इति चेत् प्रमाणाभावादिति ब्रूमः । तथाहि—न तावज्जीवस्येश्वरत्वसाधने प्रत्यक्षं क्षमं स्वेच्छाविघातदुःखादिदर्शनात् स्वात्मनोऽनीश्वरोऽहमित्यनीश्वरत्वेनैवोपलब्धेः । श्रुत्यादिभिः प्रमितेश्वराणामीश्वरप्रतियोगिकभेदोपलब्धिर्नानुपपन्ना । यदीश्वरः स्वात्मा प्रत्यक्षमेव तथोपलभ्येत । इच्छादेर्विघाताद् दुःखादेश्च दर्शनात्तथोपलब्ध्यभावादप्रतीतेश्वराणामपि सोपपन्नैव सा । नाप्यनुमानं जीवस्येश्वरत्वे मानमव्यभिचरितलिङ्गाभावात् । प्रत्युतानुमानं जीवेश्वरयोर्भेदमेव साधयति । तथाहि—ब्रह्म सत्यात्मभिन्नं पदार्थत्वाद्घटवत् । जीव ईश्वरप्रतियोगिकानौपाधिकभेदवान् सर्वज्ञताशून्यत्वाद्घटवत् । ईश्वराहम्भावोऽविच्छिन्नानाद्यहम्भावान्तरभिन्नोऽहम्भावत्वात् सम्प्रतिपन्नजीवाहम्भाववत् ।

नापि शास्त्रं तथा । शास्त्रं त्वनेकशो जीवेश्वरभेदमेव प्रतिपादयति । तच्च—'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योभिचका-

नस उपाधित्वमुपाधिसम्बन्धादेव जीवभाव इतीतरेतराश्रयो दुर्निवारः । न द्वितीयोऽसम्बद्धत्वेप्युपाधित्वश्चेत् सर्वस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गः । कोऽभिनिवेशोऽन्तःकरणस्यैवोपाधित्वमिति । किञ्चान्तःकरणोपाधिना जीवभेदश्चेदनन्तानामन्तःकरणानां त्वन्मते विभोरात्मनः सम्बन्धस्त्वद्यापि वर्तत एवेति न वामदेवादीनामपि मुक्तिस्सिद्ध्यति । न च वामदेवी-

शीति' 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः ।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।' इत्यादि ।

यदीश्वर एव जीवस्तर्हि कथं स्वाभिन्नजीवभोगार्थं दुःखात्मकं जगत् सृजति? कथञ्च सुखात्मकं तन्न सृजति । जीवेश्वरभेदवादिनामस्माकं मते तु सर्वज्ञः परमकारुणिकः सर्वशक्तिमानपि परमेश्वरो जीवानां प्राक्तनशुभाशुभकर्मानुसारेण देवमनुष्यादिविषमां सृष्टिं तत्संहारञ्च करोतीति नोक्तदोषावसरः । श्रुतिरपि प्राक्तनशुभाशुभकर्मानुसारिणीमेव शुभाशुभसृष्टिं दर्शयति । "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" (बृ. ४।४।५) इति । उक्तञ्च तथैव वेदान्तदर्शनेऽपि—वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र २।१।३४) उचुश्चैवमेवाचार्यसार्वभौमाः श्रीश्रुतानन्दाचार्याः श्रौतसिद्धान्तबिन्दुनामके प्रबन्धे—"त्रिधापि श्रुतौ सर्ववित् सर्वशक्तिर्जगत्कारणं जानकीनाथ एव । ततः कापिलं गौतमीयञ्च शैवं च शाक्तं तथान्यन्मतं नानवद्यम् ॥ ७ ॥ विकारश्च रामो दयाब्धिस्तथात्वे दयाशून्यतां पक्षपातञ्च नैति । प्रकारे विकारस्तथा चित्रसृष्टौ च हेतुर्यतः प्राणिनां प्राच्यकर्म ॥८॥" ननु कर्मणामेव विषमसृष्टि-

यान्तःकरणावच्छिन्नस्यात्मनो मुक्तिरित्युच्यते तदावच्छेद्यावच्छेदकभावस्वीकारादात्मनः सावयवत्वसिद्धावनित्यत्वप्रसङ्गः । तस्मादात्मनः स्वरूपेणानेकत्वं नित्यत्वञ्चाकामेनापि त्वयाभ्युपेयमेव । एवमज्ञानसम्बन्धाद् ब्रह्मैव जीवत्वं प्राप्तमित्यप्ययुक्तम् स्वतःप्रकाशात्मकज्ञानस्वरूपे ब्रह्म-

हेतुत्वे किमर्थमीश्वरोऽङ्गीक्रियत इति चेत्, न बीजसत्वेऽप्यङ्कुरोत्पादनाय पर्जन्यस्येव सृष्टिहेतूनां प्राक्तनकर्मणां सत्वेऽपि विषमसृष्ट्यर्थमीश्वरस्यावश्यकत्वात् ।

नन्वस्ति "मुक्तजीवस्वरूपं ब्रह्माभिन्नं चेतनत्वाद्, ब्रह्मवदि'त्यनुमानं मुक्तजीवब्रह्माभेदसाधकमितिचेत्, न विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अत्र पक्षदृष्टान्तयोर्भेदोऽभेदो वा ? नाद्यो बाधात् । नाप्यन्त्यो दृष्टान्तासिद्धेः।

निगृहीतानुगृहीतस्य जनस्य निवृत्तेऽपि निग्राह्यत्वे यथा निग्रहानुग्रहकारिणा भूपतिना नैक्यं तथा कर्मबन्धविनिर्मुक्तानां मुक्तात्मनामपि न परमात्मनैक्यम् ।

अत एव सूत्रितं वेदान्तदर्शनेऽस्मत्सम्प्रदायाचार्यैर्भगवद्बादरायणै"र्जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥" (४।४।१७) इति । व्याख्यातश्च तत् तत्प्रशिष्यैर्बोधायनवृत्तिकारैः श्रीपुरुषोत्तमाचार्यापरनामधेयैर्भगवद्बोधायनमहर्षिभिः—"जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा ।" (बोधायनवृत्तिः ४।४।१७) इति । तस्मान्न मुक्तावपि सर्वेश्वरत्वमात्मनः ।

जीवेश्वरभेद इव सर्वेषामात्मनां परस्परञ्चापि भेद एवास्ति।

ष्यज्ञानसम्बन्धाऽसम्भवात् । न हि भगवति भास्वति लेशतोऽपि तमस्ततेः सम्भवस्तस्मादियमपि कल्पनानर्हैव । किञ्चेयमविद्या केनचिदेकदेशेन ब्रह्मसम्बध्नाति सामस्त्येन वा ? नाद्यः सावयवत्वेनानित्यत्वापत्तेः । न द्वितीयः शुद्धस्य ब्रह्मणोऽत्यन्ताभावप्रसङ्गात् । किञ्च यदाऽविद्यासम्ब-

ननु प्रमाणप्रतिपन्नमेवार्थमङ्गीकुर्वन्ति प्रामाणिकाः । प्रतिशरीरमात्मभेदः स्वीकर्त्तुमशक्यः प्रमाणाभावात् । तथाहि—न तावद् बाह्यं प्रत्यक्षमात्मभेदसाधकं तस्यात्मप्रकाशनसामर्थ्याभावात् । नाप्यान्तरं स्वात्मप्रकाशनसमर्थस्यापि तस्य परात्मप्रकाशनसामर्थ्याभावात् ।

नाप्यनुमानं प्रतिशरीरमात्मभेदं साध्नोति, लिङ्गाभावात् । सुखदुःखप्रतिसन्धानाप्रतिसन्धाने त्वात्मभेदेऽप्युपाधिभेदादुपपद्येते।

नागमोऽप्यात्मभेदसाधको'ऽहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि तत् । विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥'इत्यादि श्रौतस्मार्त्तवचनानामात्माभेदगोचरत्वादिति चेदत्रोच्यते—सुखित्वदुःखित्वादिवैधर्म्यलिङ्गकेनानुमानेनात्मनां भेदस्य सिद्धेः । आत्मैक्येऽप्युपाधिभेदात् सुखदुःखप्रतिसन्धानाप्रतिसन्धाने तूपपादयितुमशक्ये, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—उपाधिरत्र शरीरमन्तःकरणं वा ? नादिमः शरीरान्तरावच्छेदेनानुभूतस्य सुखादेः शरीन्तरावच्छेदेन प्रतिसन्धानस्य सौभर्यादेः प्रसिद्धत्वात् । नाप्यन्तिमः केषाञ्चित्

न्धादेव जीवत्वं तदा गुरुशिष्यादीनामाविद्यिकत्वाद् गुरूपदेशादेरानर्थक्यम् । न च तत्वमसीत्यादौ भागत्यागलक्षणया परजीवयोरभेद एव श्रुतिविषय इति वाच्यम्, तत्त्वम्पदयोः शुद्धचेतनत्वमात्रप्रवृत्तिनिमित्तस्वीकारे शाब्दबोधानापत्तेः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे

कल्पान्तरानुभूतविषयकस्मृतिदर्शनात्। 'तन्मनोऽकुरुत' इति मनःसृष्टिश्रवणान्न कल्पान्तरे तदेवान्तःकरणम्।

यदुच्यत आत्माभेदवादिभि'र्विगीतानि शरीराणि मयैवात्मवन्ति शरीरत्वात्। सम्प्रतिपन्नमच्छरीरवदि'ति। तन्न वरं विकल्पासहत्वात्। तथाहि—अत्र मयेति किं विवक्षितम्? अहमर्थस्तदनुबन्धिनी संविद्वा? कस्मिंश्चिदपि शरीरेऽहमर्थस्यात्मत्वानङ्गीकारात् साध्यवैकल्यं पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वमनात्मवन्तीति प्रतिज्ञाविरोधोऽहमर्थस्यात्मत्वाङ्गीकारेणापसिद्धान्त इत्यादिदोषप्रसङ्गान्नाद्यः। अस्माभिः संविद आत्मत्वानङ्गीकारेण साध्यवैकल्याप्रसिद्धविशेषणत्वप्रतिज्ञाविरोधानां सत्त्वान्नाप्यन्त्यः।

यत्तु सर्वोऽप्यात्माऽहमेव चेतनत्वादहमिवेति कथ्यते, तदपि न वरम्। अनेनाहमर्थत्वमात्रसाधने सिद्धसाधनात्। स्वतादात्म्यसाधने बाधात्। किञ्च ज्ञानाश्रयत्वरूपस्य चेतनत्वस्य हेतुत्वे स्वपक्षेणासिद्धिर्दृष्टान्ते साधनवैकल्यञ्च। चिद्रूपस्य च तस्य हेतुत्वे धर्मभूतज्ञानेनानैकान्त्यम्। एवमन्येऽपि वादिप्रयुक्ता अनुमानप्रयोगा निरसनीयाः। सर्वेषामात्माभेदसाधकानामनुमानानां

वृत्तिः सामानाधिकरण्यमिति सर्वाभ्युपगतव्युत्पत्तिविरोधात्, द्वयोः पदयोः पर्यायत्वञ्चानिवार्यं स्यात्, प्रत्यभिज्ञावाक्यासङ्गतेः शब्दमहिम्ना भासमानयोः पूर्वापरदेशकालयोस्त्यागेन हेयोपादेयराहित्यात्। उभयोश्शब्दयोश्चैतन्यमात्रे लक्षणायामसीति मध्यमपुरुषानापत्तेश्च। तस्माच्छ्रु-

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामि'त्यादिश्रुतिविरोधोऽवर्जनीय एव।

'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुतौ तु परमात्मशरीरवाचकानामहमात्मेत्यादिशब्दानां शरीरिणि परमात्मन्येव पर्यवसानम्। 'नेह नानास्ती'त्यादि श्रुतौ तु सर्वस्य ब्रह्मात्मकभिन्नत्वं निषिध्यत इति न काचिदनुपपत्तिः।

'तस्यात्मपरदेहेष्वि'त्यादिना तु नात्मनां द्वैतं निषिद्धम्। किन्तु देवादिदेहवैषम्येऽपि कर्मणा तत्तद्देहविशिष्टानामात्मनां ज्ञानाकारेण साम्यमेवोक्तम्। स्वदेहे परदेहेषु च सतो वर्त्तमानस्य जीवात्मनः स्वरूपं यद् विज्ञानमेकप्रकारं स एव परमार्थः। द्वैतिनः स्वपरदेहभेदेनाहं ब्राह्मणः स्थूलो गौरोऽयञ्च शूद्रः कृशः श्याम इत्यादिरूपेण वैषम्यदर्शिनोऽतथ्यदर्शिनो भ्रान्ताः सन्ति। इति श्लोकार्थः।

किञ्चात्मनां भेदाभावे गुरुशिष्यव्यवस्थाभङ्गोऽपि स्यात्। तदेवम्, शिष्यतया कञ्चन शिक्षणीयमुपलभ्यानुलभ्य वोपदिशत्याचार्यः? आद्ये स्वस्माद्भिन्नमभिन्नं वा? प्रथमे सत्यमसत्यं वा? नाद्योऽपसिद्धान्तात्। अन्त्ये तु तस्य मिथ्यात्वेनोपलम्भे तस्मा उपदेशासम्भवः। सत्यत्वेनोपलम्भे तु भ्रान्तत्वेनाचार्यत्वहा-

तिस्मृतीतिहासपुराणसार्थक्याय परजीवयोः स्वरूपेण भेदो भगवच्छेषभूतयोश्चिदचितोरपृथक्सिद्धत्वेन सार्वदिकी स्थितिर्गुरुशिष्यादिव्यवस्थाया गुरूपदेशस्य बन्धमोक्षादिपदार्थानाञ्च पारमार्थिकत्वं स्वीकर्त्तव्यम्। एवञ्च

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

निराचार्यस्य । अभिन्नत्वपक्षे कथमुपदेशः । अनुपलभ्येति पक्षे तु कस्मा उपदिशति ?

एवमात्मभेदानभ्युपगमे बद्धमुक्तव्यवस्थाभङ्गश्च भवेत् । ननु प्रतिकल्पं यद्येकस्याप्यात्मनो मुक्तिः स्यात्तदानन्तेष्वतीतेषु कल्पेषु सर्वेष्वात्मसु मुक्तेषु सत्स्वनन्तात्मवादेऽपि बद्धमुक्तव्यवस्था कथं भवेदिति चेन्न, नष्टेष्वप्यनन्तेषु घटेषु घटान्तरस्यावस्थितिरिवानन्तेषु जीवेषु मुक्तेषु सत्स्वपि जीवानामानन्त्यातिशयाज्जीवान्तरबन्धस्योपपत्तेः । किञ्चैकात्मवादिनापि वक्तव्यमितः पूर्वं मोक्षाभावे को हेतुरिति ? हेतोरनागमनमेवेति चेत्तदेवानेकात्मवादेऽप्यवशिष्टानामात्मनां मोक्षाभावे हेतुतयाऽङ्गीकृतत्वेनोक्तदोषप्रसङ्गः कुतः ? मुक्तौ हेतुस्तु भक्त्यपरपर्यायं तैलधारावदविच्छिन्नभगवत्स्मृतिसन्तानमेव । उक्तञ्च साधनदीपिकायामाचार्यवर्यैर्जगद्गुरुश्रीगङ्गाधराचार्यैः—'रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव मुक्तिराप्यते । भक्तिर्ध्रुवास्मृतिः साच विवेकादिकसप्तकात् ॥' इति। ऊचुश्च तथैव भगवन्तः श्रीदेवानन्दाचार्यचरणा अपि—"त्वदीया स्मृतिस्तारिका मृत्युसिन्धोस्तथा विस्मृतिः पातिका तत्र चैव । परं योगिनां हार्दमालम्बनं त्वां श्रये राघवं सच्चिदानन्दरूपम् ॥" इति ।

ननु सर्वेषामात्मनामात्मत्वेन समत्वेऽपि हनुमदादयो नित्य-

सति सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः कारणत्वेन वेदान्तोदितैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि संग-

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

मुक्ता नापर इत्यत्र किं नियामकमिति चेद्, अत्रोच्यते—ईश्वरस्येव संसारिताप्रयोजकानां कर्मणामत्यन्ताभाव एव हनुमदादीनां नित्यमुक्तानां नित्यमुक्तत्वे नियामकमपरेषां तदभावान्न तत्त्वमिति ॥ १२ ॥

नन्वात्मनः कूटस्थत्वेन नित्यत्वाद्देहान्तरगतिरनुपपन्नेत्याशंकायामाह—देहिन इति । अस्मिन् स्थूलदेहेऽवस्थितस्य वस्तुतो निर्लेपस्य देहिनो यथा कौमारं कुमारावस्था यौवनं

च्छते । तत्त्वमसीत्यादावप्यभेदापृथक्सिद्धिसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताकबोधजनकस्यैव सामानाधिकरण्यरूपतयाऽपृथक्सिद्धिसम्बन्धेनान्वयेऽपि सामानाधिकरण्यनिर्वाहादिति सर्वमुपपन्नतरम् ॥ १२ ॥

पूर्वमात्मनोऽशोच्यत्वं साधयितुं तस्य नित्यत्वमभ्यधात् । इदानीमात्मनो नित्यत्वे जन्मजरामरणादिकं कथमुपपद्यतामिति शंकां निदर्शनेनापाकरोति—**देहिन इति ।** देहः प्रारब्धकर्मफलभोगाय करणकलेवरसंघातरूपः क्षेत्रलक्षणः सोऽस्याऽस्तीति देही तस्य देहिनो देहावस्थितस्यात्मनो देहे तस्मिन्नेकस्मिन्नेव शरीरे यथा कौमारं यौवनं जरा प्राक्कौमारावस्था जायते ततो यौवनावस्था जायते तदनन्तरं जरावस्था सम्पद्यते, एतास्ववस्थासु भिन्नास्वपि तत्र वर्तमानस्यात्मनो 'योऽहं कौमारे क्रीडन्नासं यौवने पुत्रकलत्रानुरक्तोऽभूवं स एवाहमिदानीं जराजीर्णः स्थाविरान् भावान् बलीपलिताङ्ग गलद्घर्घरगलध्वनि

युवावस्था जरा जरठावस्था यथा भवति स्वरूपेणाविकृतवर्तमानेनात्मना सर्वावस्था अनुभूयन्ते तथा तेनैव प्रकारेण देहान्तर प्राप्तिः पूर्वशरीरमुत्सृज्योत्तरशरीरस्यावाप्तिश्च भवति तत्र तथा-

पुत्रपौत्रवधूतिरस्कारादींश्चानुभवामि ' इत्यादिप्रतीतिसाक्षिकस्यैकत्वमनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्यनियमेन सिध्यति । सर्वावस्थानामनुसन्धाता देही तत्र वर्तमानोऽपि तत्तदवस्थासु मुह्यन् विनष्टोहमिति न खिद्यते तथा स्थिरस्यात्मनः स्वकर्मविपाकाद्देहाद्देहान्तरप्राप्तौ धीर आत्मानात्म विवेकनिपुणस्तत्र तथा व्यवहारे न मुह्यति देहादेरागमापायित्वादात्मनश्च नित्यत्वादुभयोः स्वरूपं जानानो न देहं न वा देहिनमनुशोचति । अत्र सर्वास्ववस्थास्वेकस्यैवात्मनः स्थायित्वादेक एवात्मा भिन्नेष्वपि सर्वेषु शरीरेषु विद्यते इति त्वनादरणीयम् । गीताचार्याभिप्रायविरुद्धत्वात् । आत्मनामानन्त्येन सर्वास्ववस्थासु सर्वेषु शरीरेषु च तेषां भिन्नत्वात् । तथा हि—' ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ' (गी.) ' बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः । ' येषां त्वन्तगतं पापं ' ' महात्मानस्तु मां पार्थ !' इत्याद्यनेकस्थलेषु बहुत्वेनैव बोधनात् । न चोपाधिकृतं बहुत्वमिति वाच्यमुपाधिविनिर्मुक्तदशायामपि बहुत्वेन निर्देशात् । ' ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ' (गी.) ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ' लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः । इत्यादिषु । तस्मादुपाधिवादोऽप्यप्रामाणिकः । एवञ्च प्राक्तनगुणासङ्गात्संसृतिबन्धप्राप्तस्यास्यात्मनः संसारदशा-

विधेऽर्थे धीरः सम्यगागमाध्यवसाययुक्तो न मुह्यति वैचित्त्यं नाप्नोतीत्यर्थः । अत्र देहान्तरप्राप्तिमभिदधता भगवता देहिनोऽणुत्वं स्पष्टमेवोक्तं विभुत्वे देहाद्देहान्तरप्राप्तेरसंभवात् । एतेन

यामनभिसंहितफलस्य स्ववर्णाश्रमोचितस्य युद्धादिकर्मणोऽनुष्ठानेऽपि न दोषलेश इति व्यपदिष्टम्भवति । जीवविभुत्ववादिनां मते नैतत्सम्भवति व्यापकस्य तस्य देहान्निष्क्रमणस्य देहान्तरप्राप्तेश्चासम्भवात् । तत्त्वोपदेष्ट्रा सर्वज्ञेन भगवता त्वत्र ' तथा देहान्तरप्राप्तिरित्युक्तत्वाद् देशान्तरगतिः स्पष्टैवोपदिष्टा । किञ्चात्मनो व्यापकत्वे चैत्रीयसुखादेर्मैत्रस्याप्यनुभूतिरनिवार्या स्यात् । नचान्तःकरणभेदेनापि व्यवस्था सम्भवति जीवस्य व्यापकत्वेनोभयोरन्तःकरणयोरसमत्वेन सम्बन्धाविशेषात् । न च जडाऽजडयोः सम्बन्ध एव न सम्भवतीति वाच्यं तथात्वे तु कस्यापि कोऽप्यनुभवो न स्यात् । न च विवर्तवादेऽन्तःकरणादिपदार्थानां मिथ्यात्वाच्चैतन्यमेकमेव तत्त्वमनादिवासनावशात्प्रमात्रवच्छेदेन विषयावच्छेदेन चैक्यं दधद् घटपटादेरध्यक्षं जनयतीत्यप्यपेशलम् । बौद्धमतापातात् प्रमातृप्रमाणविषयादिपदार्थानां मिथ्यात्वात्सत्यमिथ्यात्वयोरसामानाधिकरण्यात्, विवर्तवादस्य चाग्रे निरसिष्यमाणत्वात् । किञ्चान्तःकरणमणु विभु वा ? नाद्योऽणुत्वे तदवच्छिन्नचैतन्यस्याप्यणुत्वेनापसिद्धान्तात् । न हि घटस्याविभुत्वे तदवच्छिन्नाकाशस्य विभुत्वमिष्यते कैश्चिदन्यथाऽऽकाशघटाकाशयोः को विशेषःस्यादिति । न द्वितीयश्चैतन्यान्तःकरणयोरुभयोरपि विभुत्वेन गत्याद्यभावस्य वज्रलेपायितत्वात् परगतसुखादेरनुभवस्यानिवार्यत्वाच्च । तस्मादात्मनोऽणुत्वमेव श्रुतिस्मृतियुक्तिसम्मतम् ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

जीवविभुत्ववादोऽन्तःकरणावच्छिन्नजीववादश्च प्रत्युक्तो ॥१३॥

नन्तु तथापि बन्धुवधनिमित्तकः शोकस्तु दुष्परिहर इत्यत आह—**मात्रास्पर्शा इति** । हे कौन्तेय! मात्रास्पर्शाः मीयन्त इति मात्राः शब्दादयो विषयास्तेषां स्पर्शाः सम्बन्धविशेषा अनुभवा इति यावच्छीतोष्णसुखदुःखदाः शीतोष्णादिरूपसुखदुःखदाः

श्रुतयस्तावत् 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मु. ३।१।९) वालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे. ५।९) 'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति' (वृ.४।४।२) उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्' (ब्र. सू.) नन्वणुत्वे सर्वशरीरव्यापिसुखदुःखादेरनुभवो न स्यादिति चेन्न धर्मभूतज्ञानद्वारा तस्सिद्धेः। तदुक्तम 'अविरोधश्चन्दनवत्' 'गुणाद्वालोकवदि'ति दिक् ॥ १३ ॥

युक्तमात्मनो नित्यत्वेन मोहाकरणं किन्त्वाचार्यादिवधनिमित्तो मोहस्त्ववर्जनीय एव तस्य शरीरसम्बन्धेन जायमानत्वादित्याशंकायामभिधत्ते—**मात्रास्पर्शा इति** । हे कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः मीयन्तेऽनुभूयन्त इति मात्राः शब्दादयः । सूक्ष्मतन्मात्राणां कार्यत्वादेवैतेषां मात्राशब्दवाच्यत्वम । तेषां श्रोत्रादीन्द्रियैस्सह स्वानुभवाय ये साक्षात्सम्बन्धास्तेऽत्र स्पर्शा अनुभवा इति यावत् । ते च शीतोष्णादिरूपाः सुखदुःखान्यतरप्रदा एव । आगमापायिन आगमः समुत्पत्तिरपायो विनाशस्तच्छीलास्तत्तददृष्टवशात्कदाचिदुत्पद्यन्ते कदाचित् क्षयमुपयान्ति न तु

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

सन्ति । आगमापायिनश्च जननविनाशशालिनोऽत एवानित्याः क्षणभङ्गुरा अतो हे भारत ! विवेकबुद्धिकुशल ! तांस्तितिक्षस्व । अनादिकर्मप्रवृत्तसंसारपतितस्य जन्तोः सुखदुःखयोरामुक्तेरनिवार्यत्वा'त्तस्य तावदेव चिर'मिति श्रुतेरितिभावः ॥ १४ ॥

मात्रास्पर्शानां तितिक्षा कार्येत्युक्तस्य फलमाह—**यमिति** । हे पुरुषर्षभ ! यं स्ववर्णधर्मपालकं फलाशाम्परित्यज्य कर्म कुर्वाणं

सदातना अत एवानित्याः क्षयिष्णवः । अतो हे भारत ! नित्याऽनित्यविवेकधीनिरत ! तांस्तितिक्षस्व तेषां पदार्थानामनित्यत्वमवगम्य प्रमर्षणं कुरु । तेषु हर्षशोकरहितो भवेत्युपदेशः । शब्दादीनां पदार्थानामनित्यत्वं वदता भगवता तेषां मिथ्यात्वं प्रतिषिद्धम् । नह्यनित्यमिथ्यात्वयोरैकार्थ्यं दृष्टचरम् । अनित्यत्वं नाम स्वरूपेण सत्वविशिष्टस्य कदाचिदप्रतीयमानत्वम् । मिथ्यात्वन्तु स्वरूपेणासतोऽपि प्रतीयमानत्वम् । तत्र पृथिवीजलादिसकलप्रपञ्चस्य भगवदुक्त्याऽनित्यत्वमेव । सत्यजलपानेन सत्यतृषाया विगमः स्पष्टयति तेषां कादाचित्कत्वम् । तज्जलं मृषा चेत्कथं तर्हि तृषा व्यपगच्छेत् । न हि मृषा सर्पदंशेन कश्चिन्मृतो दृष्टः । तस्मान्मिथ्यावादिनामयं मिथ्या कोलाहलो कोलाहल एवेति वैदिकैरनादरणीयः ॥ १४ ॥

विषयसम्बन्धोपजातानां सुखदुःखादीनामदृष्टवशादुपागतानां धीरनरेण तितिक्षैव कर्तव्येत्युक्तम् । सा च दृष्टादृष्टार्थफलेषु किं कीदृशं फलं

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य तम्। स्वप्रारब्धानुसारेण प्राप्ते सुखे यथा नाधिका प्रीतिस्तथा तथैव प्राप्ते दुःखे नाधिको द्वेष इत्युभयोः साम्यमेव तथा धीरं धियं रात्याददत्तेऽसौ धीरस्तं पुरुषमेते विषया नैव व्यथयन्ति चित्तविकारमुत्पाद्य नैव क्षोभयन्ति स पुरुषोऽमृतत्वाय श्रेयःप्राप्तये कल्पते समर्थो भवति ॥१५॥

इदानीमात्मनो नित्यत्वं देहादेश्च विनाशित्वमुपपादयति—नेति। असतः शरीरस्य भावः सदा विद्यमानत्वम्। नित्यत्वमिति यावत्। न विद्यते। सत आत्मनश्चाभावः कादाचित्कत्वमनित्यत्व-

साधयतीतीदानीमुच्यते—**यमिति**। हे पुरुषर्षभ ! हे पुरुषश्रेष्ठ ! साधारणमपि पुरुषं न व्यथयन्ति। त्वन्तु पुरुषश्रेष्ठोऽसि त्वां कथं व्यथयन्तु ? नतरामितिभावः। यं स्वकीयवर्णाश्रमधर्मनिष्ठं फलाभिसन्धिरहितशास्त्रविहितकर्मानुष्ठातारं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य स तं यदृच्छया प्राप्तयोः सुखदुःखयोरनुरक्तिविरक्तिवर्जितमित्यर्थः। धीरं ज्ञानसम्पन्नं सर्वदा सर्वकृत्येषु धैर्यवन्तमिति यावत्। पुरुषमेते मात्रास्पर्शा विषया न व्यथयन्ति स्वकर्तव्यान्न पातयन्ति स धीरनरोऽमृतत्वाय परमपुरुषार्थावाप्तये समर्थो भवति ॥ १५ ॥

पूर्वं गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता इति प्रकृतं तदुपपादनाय 'नत्वेवाहं जातु नासम्' (गी.२।१२) इत्यादिभिर्देहिनो नित्यत्वं देहस्य च परिणामितया नश्वरत्वमुक्तमिदानीं तदपि कथमि-

मिति यावत्। न विद्यते। उभयोरप्यनयोरात्मशरीरयोर्वर्तमानकाले विद्यमानयोस्तत्त्वदर्शिभिरात्मानात्मविवेकनिपुणैरन्तो निर्णयो दृष्टः। चिद्वस्तुन आत्मनोऽसत्त्वं कदाचिदपि न भवितुमर्हति। शरीरादेर-

त्युपपादयितुमित आरभ्य 'देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि' (गी. २।३०) इत्यनेन पञ्चदशात्मकेन प्रबन्धेनोपक्रमते। तत्रापि भावाभावाभ्यां सदसच्छब्दवाच्ययोरात्मदेहयोः स्वरूपं विवेचयति—**नेति**। असतो देहादेर्भावः सद्भावो नैव विद्यते। सत आत्मनश्चाभावोऽसद्भावो न विद्यते। अत्रायमाशयः। परिणामिस्वभावानां देहादिपदार्थानां विनश्वरत्वादसत्त्वं तेषां नियतम्। आत्मनोऽपरिणामित्वाच्च सत्वम्। उक्तमेतत्पुराणरत्ने। अनाशि परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥ तथा यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै। परिणामादि सम्भूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥' (वि. पु. २।१३।९६) इति। प्रकृते त्वात्मशरीरयोरेव सदसच्छब्दाभ्यां व्यपदेशः। यतोऽत्रार्जुनस्य स्वजनशरीरनाशनिमित्तकः खेदः समुपस्थितस्तदपगमायैव भगवताऽऽत्मनां नित्यत्वे देहादेश्चावश्यविनश्वरत्वे 'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता' इत्यादिकमुपदिष्टम्। तस्मान्नात्र सत्कार्यवादोपन्यासप्रसर इति सत्कार्यवादोऽनेनोपन्यस्यत इति मतं व्युदस्तम्। आत्मशरीरनिरूपण एव 'अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ॥' (गी. १७।१८) इत्युत्तरश्लोकयोरपि प्रकरणसंगतिः सामञ्जस्यमुपैति। तथा चोभयोरप्यनयोर्देहदेहिनोस्तत्त्वद-

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

**चेतनस्य च सत्वं कदाचिदपि नैव भवति। सदसद्रूपयोरात्मदे-
हयोर्नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामेव सदसच्छब्दाभ्यां व्यपदेश इति
भावः ॥ १६ ॥**

**इदानीमात्मनोऽविनाशित्वमाह—अविनाशीति। तदिद-
मात्मस्वरूपमविनाशि विनाशवर्जितं विद्धि। येन चेतनभूतेनात्म-
स्वरूपेणेदं सर्वं दृश्यमानं जगत् ततं व्याप्तमात्मनोऽणुत्वात्सर्वा-**
शिभिः कृतात्मसाक्षात्कारैर्मुनिवरैरन्तो दृष्टस्तत्स्वरूपयोर्निर्णयोऽवधारित
इत्यर्थः ॥ १६ ॥

एवमात्मनो देहानाञ्च क्रमेणाविनाशित्वं नाशवत्वञ्चाभिधत्ते—
अविनाशीति द्वाभ्याम् । तदेतदात्मतत्वमविनाशि न विनष्टुं शील-
मस्येत्यविनाशि विद्धि, अत्र हेतुमाह—येन चेतनात्मकतत्वेनेदं स्वरूपेण
तद्भिन्नमचेतनं सर्वं ततं व्याप्तम् । अत्र सर्वत्र व्याप्तिकथनात्परमात्म-
प्रतिपादकोयं श्लोक इति परैर्व्याख्यातं तदयुक्तं पूर्वापरसन्दर्भविरोधात् ।
देहविशिष्टजीवात्मनां नित्यत्वानित्यत्वविषयेऽर्जुनस्य विचिकित्साऽभूत्ताम-
पाकर्तुमयं सन्दर्भः । अत एव पूर्वत्र 'देहिनोऽस्मिन्निति देहवतो जीव-
स्यैव निर्देशः इतोऽग्रिमेऽपि श्लोके' नित्यस्योक्ता शरीरिण इति जीव-
स्यैव शरीरित्वेनोपादानं तथा च संदंशन्यायेनात्रापि जीवस्यैव निरूप-
णम् । नन्वेवं त्वन्मते तस्याणुत्वात्सर्वव्याप्तिर्न संगच्छेतेति चेन्न नह्य-
क्षचरणाभ्युपेताकाशादिवन्महत्परिमाणाश्रयतया व्यापकत्वमत्रेष्टं किन्तु
सर्वाऽचेतनानुप्रवेशयोग्यत्वमिह व्यापकत्वं विवक्षितं तच्चाणु स्वरूपात्मत-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

**चिद्वस्तूनामन्तःप्रवेशाद्व्याप्तिरत्राभिप्रेता । अस्याऽव्ययस्याति
सूक्ष्मतया क्षयरहितस्य कश्चिदपि विनाशं कर्तुं नार्हति प्रभुर्न
भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥**

**देहानां क्षणभङ्गुरतामाह—अन्तवन्त इति । इमे प्रत्य-
क्षेणानुभूयमाना देहाः कर्मफलभोगायतनानि शरीराण्यन्त-
वन्तो विनाशवन्तो नित्यस्योत्पत्तिरहितस्यानाशिनो विनाशर-**

त्वेऽपि सम्भवति । अत्रानुमानञ्चेत्थम्—इदमात्मतत्वमविनाशि सर्वेभ्योति
सूक्ष्मत्वात् । व्यतिरेकेण घटवत् । घटो हि न सर्वेभ्योतिसूक्ष्मोऽतो
नाविनाशी । एतदेवोपपादयति, अव्ययस्य परमसूक्ष्मत्वाद्विनाशानर्हस्या-
स्यात्मतत्वस्य कश्चिदपि पदार्थो मुद्गरादिरूपो मुद्गरहस्तादिरूपो
वाऽऽत्मनोऽतिस्थूलत्वाद्व्याप्यत्वाच्च विनाशं कर्तुं नार्हति । जन्यपदार्थेषु
विशेषसंयोगवद्वायुविशेषस्यैव नाशकत्वं दृष्टं स च स्वस्मात्स्थूले पदार्थे-
ऽन्तःप्रविश्य नाशयति । आत्मनस्त्वणुरूपत्वात्तत्र तस्य प्रवेश एव न
सम्भवति अतो नाशाऽनर्हत्वं स्पष्टमेव । अतोहमिमान् हनिष्यामि,
एते च नष्टा भविष्यन्तीति धीर्भ्रान्तिरेवेति भावः ॥ १७ ॥

एवं देहिनोऽविनाशित्वमुक्त्वा देहानां नाशवत्त्वमभिधत्ते—**अन्त-
वन्त इति** । इमे देहा । इमे इतीदं पदं सन्निकृष्टकर्मारब्धदेहान-
भिधत्ते । तेन स्वेच्छागृहीतनित्यमुक्तेश्वरशरीराणां व्यावृत्तिस्तेन शरीर-
त्वावच्छेदेनान्तवत्वं न साधयितुं शक्यं प्रोक्तशरीरेषु साध्याऽसिद्धेरत

हितस्याप्रमेयस्य प्रमातुमयोग्यस्य प्रमातृतयाऽवस्थितस्य शरीरिण आत्मन उक्ताः श्रुतिस्मृतिषु 'नित्यो नित्यानाम्' 'अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते । तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम्' इत्यादिरूपेणाभिहिताः । तस्माद् हे भारत !

उद्देश्यतावच्छेदककोटौ सन्निकृष्टत्वविशिष्टकर्मारब्धत्वाभिधायीदंपदवाच्यस्य निवेशनेनायमर्थो नियन्त्रितः । दिह उपचय इतिधातोर्निष्पन्नस्य देहशब्दस्यावयवार्थमादाय हेतुपरत्वेनायं प्रयोगोऽत्र निष्पद्यते । देहा भूतसंघातस्वरूपाः कर्मफलभोगाश्रया अन्तवन्तो विनाशस्वभावा उपचयापचयादिशीलत्वेन सावयत्वात् । दृष्टं लोके घटपटादीनां सावयत्वेन विनाशशालित्वम् । देहशब्दस्वारस्यादवसितस्य भूतसङ्घातस्यापि विनाशित्वे हेतुत्वमुपपद्यते । नित्यस्यात्मनोऽनित्यत्वे तु " पुण्यः पुण्येन कर्मणा " इति श्रुतेरर्थोऽसङ्गतः स्यात् । पुण्येन कर्मणा पुण्यः पुण्यफलावच्छेदकशरीराश्रयो भवतीत्यर्थः । स चात्मनोऽनित्यत्वेन विनष्टत्वात्कस्य पुण्यफलभोगाश्रयशरीरावाप्तिः स्यात् ? तस्मादात्मनः सुखादिफलभोक्तुर्नित्यत्वमास्थेयम् । अनाशिनोऽप्रमेयस्यात्रापि हेतुहेतुमद्भावः सूचितो भवति । तदित्थम् । आत्मा ह्यविनाशी, अप्रमेयत्वात् । न च सिद्धान्ते प्रत्यगात्मनः प्रमाविषयत्वेन हेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अप्रमेयत्वेन हेतुना केवलप्रमेयतैकस्वभावभूतशरीरादिविषयभिन्नत्वस्योपस्थापितत्वात् । आत्मनस्तु प्रमाविषयत्वेपि प्रमातृत्वमनुभवसिद्धम् । न च तथाप्येकस्य कर्मकतृत्वे परस्परविरुद्धधर्मद्वयसमावेशाद् दोषस्तदवस्थ एवेति वाच्यम् । प्रमाविषयतां गतैः कैश्चिद्धर्मैः सम्पन्नः प्रमेयत्वं भजते । कैश्चिद्

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

विनश्वराणां देहानां नित्यत्वादिमोहमपसार्य युद्धयस्व स्वधर्मपरिपालनरूपं युद्धं कुरु ॥ १८ ॥

आत्मनो हन्तृत्वं हन्तव्यत्वञ्च जानानस्याज्ञानित्वमाह—य इति । यो नर एनं विलक्षणस्वभावमात्मानं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारमयमात्माऽस्य हन्तेति वेत्ति । यश्च पुरुष एनमात्मानं

विलक्षणैश्च तैः कर्तृत्वमित्यविरोधात् । तस्माद् हे भारत ! युद्धयस्व शरीराणां विनाशशीलत्वादात्मनश्चाविनाशित्वेन नित्यत्वान्न देहात्मानावुद्दिश्य शोकः शक्यशंकः प्राक्तनकर्मवासनावशादुपगतहृदयकारुण्याद् येयं युद्धकरणलक्षणस्वधर्मानुष्ठाने विरतिः सम्प्राप्ता ताम्परित्यत्यज्य युद्धं कुर्वित्यर्थः ॥ १८ ॥

इदानीमात्मनो वधकर्तृत्वं वधकर्मत्वञ्च नैव सम्भवति यश्च हननकर्तारं हननकर्म चात्मानमेव मन्यते सोऽज्ञ इति तं निन्दति—**य इति** । यः पुरुष एनं स्वेतरसमस्तविसजातीयस्वरूपस्वभावमात्मानं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं वेत्त्यहमस्य हन्तेति जानाति । यश्चान्यः पुरुष एनमुक्तस्वरूपमात्मानं हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं प्रत्यक्षेण हतदेहपातेनात्मानमेव हतमिति मन्यते । तावुभौ न विजानीत आत्मस्वरूपज्ञानविधुराः । यतोऽयं न कमप्यात्मानं हन्ति न वाऽपरेण हन्यते । हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वञ्च नात्मनि घटते देहस्यैव तथात्वादिति भावः । अत्रैनमात्मानं प्रति हन्तारं हननहेतुं

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

हतं मन्यते मयासावात्मा हत इति मन्यते तावुभावपि न विजानीत आत्मस्वरूपपरिज्ञानहीनावित्यर्थः। यस्मान्नायं कमप्यात्मानं हन्ति न चासावात्मा केनचिद्धन्यते । नायमात्मा हननक्रियायाः कर्तृत्वं भजते न वा कर्मत्वमिति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥

अस्यात्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं कर्मत्वं वा कुतो न सम्भवतीत्यत आह—नेति । अयमात्मा न जायते न कदाचिदप्युत्पद्यते । चार्थे वाशब्दः । न म्रियते कदाचिदपि मरणं न प्राप्नोति । यतो जननमरणे शरीरस्यैव भवतो न तु तदन्तरवस्थितस्यात्मनः । नायं भूत्वा भविता वा न भूयोऽयमात्मा सृष्टेः प्राक्काले भूत्वा भूयः प्रलये च न भविता इति न किन्तु भवितैव । ब्रह्मादिशरीरेषु कल्पादावुत्पद्यमानेषु प्रलये च प्रनष्टेषु सत्स्वप्ययमात्माऽविकृतस्वरूप एव तिष्ठतीति तात्पर्यम् । तस्मादयमजो जन्मरहितो नित्यो विनाशरहितः शाश्वतो वृद्धिपरिणामविवर्जितः पुराणः सदैकरसः शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते । अनेन षड्विकाररहित्यमस्यात्मनः सिद्धं भवतीति फलितम् ॥ २० ॥

कमपि यो मन्यते यश्चैनं केनापि हेतुना हतं मन्यते इत्यप्याचार्याणां व्याख्यानमस्ति परन्त्वत्र 'नायं हन्ति न हन्यते' इत्युत्तरवाक्यानुरोधात्तत्रान्वयसौलभ्याच्चास्मद्भाष्यकृतां व्याख्यानमेव ज्यायः । तृन्नन्तहन्तृशब्दयोगे 'न लोकेति षष्ठीनिषेधादेनमिति द्वितीयायां सत्यामप्युक्तार्थ एव सामञ्जस्यमिति दिक् ॥ १९ ॥

निर्लेपस्यात्मनो हन्तृत्वं हन्तव्यत्वमेव न केवलं निषिध्यतेऽपि तु तदन्येऽपि भावविकारा न सन्तीत्यभीधीयते—**नेति** । अयमात्मा न जायते देहादिवन्नोत्पद्यते न वा कदाचिन्म्रियते । समुच्चयार्थको वा शब्दः । न च देहादिवत् कदाचिदपि विनाशमुपगच्छति । कुतो नोत्पद्यते न वा म्रियते यतो नायं भूत्वा भविता वा न भूयोयं भूत्वा न भवितेति नापि तु न भूत्वा सर्गादिकाले नोत्पद्य भूयो न भविता विनाशं गन्ता इति नैव किन्तूत्पत्तिविनाशाभावावस्यात्मनो वर्तेते इति फलितार्थः । एवं सति कथम्भूतोऽयमित्यत आह—अज उत्पत्तिवर्जितो नित्यो विनाशवर्जितः शाश्वतो वृद्धिपरिणामविवर्जितः पुराणः पुराऽपि नव एव नत्वधुनैव नवावस्थां धत्ते । शरीरे हन्यमाने सत्यपि नैव केनचित्पुरुषेण साधनेन वा हन्यतेऽपि तु शरीरान्तरवस्थितोऽतिसौक्ष्म्याद्धननकर्मतां नोपगच्छतीत्यर्थः । अत्र यास्कोक्तानां षड्भावविकाराणामपि निषेधोऽर्थतो लभ्यते । 'न जायते' 'न म्रियते' इत्याभ्यां प्रथमषष्ठयोर्नायं भूत्वेत्यादिना द्वितीयस्य शाश्वत इत्यनेन तृतीयचतुर्थयोः पुराण इति च पञ्चमस्याजो नित्य इतिद्वयोस्तु प्रथमद्वितीययोर्न जायते न म्रियत इत्युभयोर्हेतुसमर्पकत्वमिति समन्वयः ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

इदानीं पर्यवसितार्थमाह—**वेदेति** । यः पुरुष एनमात्मानमविनाशिनं नाशरहितं नित्यमुत्पत्तिध्वंसवर्जितमजं जन्मरहितमव्ययं विकारशून्यं वेद जानाति । हे पार्थ स पुरुषः कं कस्मिंश्चिदपि देवमनुष्यादिदेहे वर्तमानं कञ्चनात्मानं कथं हन्ति ? कस्यचिदप्यात्मनो हनने तस्य पुरुषस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वं नास्तीत्यर्थः । कञ्चात्मानं स पुरुषः कथं घातयति ? अन्येन नाशयति । नापि कस्यचिद्धनने प्रयोजकत्वमपि तस्येत्यर्थः । तथा चाहं कस्यचिद्धन्ता घातयिता वेत्यनुशोचनमात्माज्ञानमूलकमेवेति भावः ॥ २१ ॥

एवमात्मनोऽविनाशित्वमिति ज्ञानवतो हननक्रियाकर्तृत्वं तत्प्रयोजकत्वञ्च नास्तीत्यभिधीयते—**वेदेति** । यो विवेकपरायण एनमात्मतत्वमविनाशिनं विनाशित्वाभावयुक्तं नित्यं सदा वर्तमानमजमुत्पत्तिरहितमव्ययं निर्विकारं वेद जानाति । हे पार्थ ! स पुरुषः समस्तदेहेष्ववस्थितं कमात्मानं कथं हन्ति ? कं वा कथं घातयति तदात्मनाशने प्रेरको भवति ? न कमप्यात्मानमित्यर्थः । एतेन भवानेतेषामात्मनां नाशने मां प्रेरयत्यहञ्च प्रवृत्तो भवामीत्युभयोः पापप्रसक्तिरनिवार्येति नैव त्वया शंकाऽऽस्थेयेति भागवतोऽभिप्रायो व्यज्यते ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

नन्वात्मनां नित्यत्वेऽपि नानाभोगाभिलाषयुक्तानां युयुत्सूनां भोगसाधनस्य देहस्य विनाशे शोकः स्यादेवेत्यत आह—**वासांसीति** । यथा नरो जीर्णानि वासांसि वस्त्राणि विहायाऽपराणि नवानि गृह्णाति । जीर्णवसनानां परित्यागे न शोकलेशोऽपि जायतेऽपि तु हर्षविशेषः सञ्जायते । तथा देही देहनियामक आत्मा जीर्णानि शरीराणि विहायान्यानि नवानि शरीराणि संयाति संप्राप्नोति । जीर्णशरीरत्यागेऽस्यात्मनो नैव शोको भवति प्रत्युतानन्द एव सम्पद्यते । प्रकृते तु युयुत्सूनां भीष्माचार्यप्रभृतीनां स्वधर्मपरिपालने कर्तव्ये युद्धे यदि शरीरत्यागो

नन्वेवमात्मनोऽविनाशित्वेन नित्यत्वान्न तस्य शोकावसरः किन्त्वनादिवासनाविशिष्टानामखिलप्राणिनां देहस्य प्रियसुखसम्पादकत्वादसंख्यातानां देहानामपि युद्धेन विनाशनं शोकायैव स्यादित्याशंकामपाकरोति—**वासांसीति** । यथा नरो जीर्णानि वासांसि वस्त्राणि विहाय सन्त्यज्यापराणि नवानि गृह्णाति परिधत्ते । जीर्णवस्त्रपरित्यागे नूतनधारणे च तस्य हर्षप्रकर्ष एव विलसति न तु क्लेशलेशः । तथा देही देहान्तर्वर्त्ययमात्मा जीर्णानि भुक्तभोगानि वार्धक्यादिदोषाश्रयाणि शरीराणि विहाय परित्यज्यान्यानि पुनर्नवानि शरीराणि संयाति प्राप्नोति प्राक्तनकर्मवासनावशाद् यथाकर्म नूत्नं कल्याणतरं शरीरं भूयो धत्ते । न तत्र त्यागे क्लेशोऽपि तु नवीनधारणोत्कण्ठया हर्षोद्रेकः समुद्भवति ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतःस्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

भविष्यति। तदाऽन्यन्नवं कल्याणतरं रूपमवश्यमेवोपादास्यन्ति। तेन च तेषां हर्षोत्पत्त्या त्वया तदुपकृतिरेव विहिता स्यादित्यस्थान एव शोक इति भावः ॥ २२ ॥

भूयोऽप्यात्मनोऽविनाशित्वं प्रकारान्तरेणोपपादयति–**नेति**। एवमात्मानं शस्त्राणि खड्गादीनि न छिन्दन्ति नैव खण्डनेनावयवशः पृथक्कर्तुं शक्नुवन्ति। पावकोऽग्निरेनं दग्धुं न शक्नोति। आपो जलानि नैनमार्द्रीकृत्य प्लावयितुं शक्नुवन्ति। मारुतो वायुश्चैनं न शोषयति ॥ २३ ॥

अयमात्माऽच्छेद्यश्छेदनायोग्योऽदाह्योऽयं दाहनायोग्योऽ-

तथाविधं रूपं धारयतीत्यत्र श्रुतिः प्रमाणम् 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं दैवं प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा'इति। स्वधर्मपालनतत्परा भीष्माचार्यादयः पुनः कल्याणतमं नवं शरीरमुत्पादयितुं युद्धे जीर्णशरीरं त्यक्ष्यन्ति चेत्तेन कस्ते शोकः? युद्धात्मकं स्वधर्ममनुतिष्ठता त्वया नवशरीरोपादाने तेषां साहाय्यमेव विहितं स्यादिति हर्षप्रसङ्गे शोकसम्भावनैव नास्तीत्यतो युद्धायोत्तिष्ठेति भावः ॥२२॥

एतावतात्मनोऽविनाशित्वं देहादेर्नश्वरत्वं च प्रतिपादितमिदानीमात्मनो विनाशो न केनाऽपि कर्तुं शक्यत इत्येतदुपपादयति–**नेति द्वाभ्याम्।**

अव्यक्तोयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

क्लेद्यः शिथिलीकरणायोग्योऽशोष्यः शुष्कीकरणायोग्य एव। अत्र हेतून्निर्दिशति–सर्वगतः स्वरूपसौक्ष्म्यात् सर्वस्मिन्नच्छिद्रस्तुन्यन्तरवस्थितोऽतो नित्यः स्थाणुः स्थिरस्वभावोऽचलश्चाश्चल्यरहितः सनातनश्चिरन्तनोऽनादित्वान्न केनचित्कारणेन निष्पाद्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

छेदनाद्यनर्हत्वे हेतुमाह—**अव्यक्त इति**। अयमात्माऽव्यक्तो बाह्येन्द्रियागोचरोऽयमचिन्त्योऽचित्साजात्येन चिन्तयितु-

एमनात्मतत्त्वं शस्त्राणि कुन्तकुठारकरवालादीनि। न छिन्दन्ति छिन्नं नैव कुर्वन्ति। पावको वह्निर्नैनं दहति भस्मीकरोति। आपः सलिलानि नैनं क्लेदयन्त्यार्द्रतां नयन्ति। मारुतो मातरिश्वा च न शोषयति नैव शुष्कभावं प्रापयति। अयमात्माच्छेद्योऽशक्यच्छेदनोऽदाह्योऽयमशक्यप्रज्वालनोऽक्लेद्य आर्द्रीकरणानर्होऽशोष्यः शोषणानर्ह एव। तर्हि कीदृशोऽयमात्मेत्यत आह–नित्यः शश्वदवस्थायी सर्वगतः अतिसूक्ष्मत्वात्सर्वाचिद्वस्तुन्यन्तर्व्याप्यावस्थितः। धर्मभूतज्ञानद्वारापि व्याप्तिः सम्भवतीति भावः। सर्वगत शब्देन जीवविभुत्वन्तु नोच्यते सर्वत्राणुत्वप्रतिपादनेनानेकश्रुति स्मृतिव्याकोपप्रसङ्गात्। स्थाणुः स्थिरस्वभावः। अचलोऽप्रकम्प्यः सनातनोतिपुरातन इत्येवमात्मनोऽविनाशित्वं विविधप्रकारैस्साधितं तस्यायमाशयो यदर्जुनो निःशंकमायोधने प्रवृत्तिं विदध्यादिति ॥ २३–२४ ॥

एवमच्छेद्यादिकमात्मनो दर्शितं तत्र हेतुविषयेदमुच्यते—अव्य-

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

मयोग्योऽयमविकार्यश्च विकारानर्हश्च श्रुतिस्मृतिषूच्यते । तस्मादेनमात्मतत्वमेवमुक्तस्वभावं विदित्वाऽवगम्यैतद्विषयेऽनुशोचितुं नार्हसि ॥ २५ ॥

इदानीं देहनाश एवात्मनाश इति चार्वाकमतमवलम्ब्यापि विचारणे शोको व्यर्थ इत्याह— अथेति । अथेति पक्षान्तरारम्भे । अथैनमात्मानं देहमेव मत्वा नित्यजातं नित्यमेव च मृतं मन्यसे तथापि हे महाबाहो ! त्वमेवमनेन प्रकारेण शोचितुं

क्त इति । अव्यक्तो यैर्यैर्बहिरिन्द्रियैश्छेद्यवस्तून्यभिव्यज्यन्ते तैर्बाह्येन्द्रियैरयमात्मा नैव व्यज्यतेऽतोऽयमव्यक्तस्तथाऽयमचिन्त्यो यथा वस्त्वन्तरं चिन्तयितुमर्हं तथा सर्ववस्तुविलक्षणत्वादात्मान्तरिन्द्रियेणाऽपि चिन्तनायोग्यस्तथायमविकार्यो विकारानर्हः। आत्मनोऽतिरिक्तस्य सर्वस्य वस्तुनो नियाम्यभूतस्य परिणामित्वेन विकार्यत्वमेव तथाऽस्य नास्तीति भावः । तस्मादेनमात्मानमुक्तस्वभावकं विदित्वा समगवगम्यात्मतत्वविषयेऽनुशोचितुं नार्हसि ॥ २५ ॥

एवमात्मनित्यत्वं देहादेश्चानित्यत्वमिति शास्त्रीयसिद्धान्तमनुसृत्य शोको निर्निमित्त इत्यभिहितम् । इदानीं लोकायतमतमनुसृत्य देह एवात्मेति देहनाश एव चात्मनाश इत्युच्यते तदाऽपि नैव शोकनिदानं किमपीत्यभिधत्ते । अथेति त्रिभिः श्लोकैः । **अथेति ।** अथेति । पक्षान्तरारम्भे । चकारो विशेषणद्वयसमुच्चयार्थकः । एनमात्मानं नित्य-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

नार्हसि । नियमितोत्पत्तिकस्य नियमित एव विनाश इति भावः ॥ २६ ॥

देहात्मवादे देहोत्पत्तिविनाशाभ्यां कुतो न शोच्यतेति शंकां समाधत्ते—जातस्येति । जातस्योत्पन्नस्य । मृत्युर्विनाशः। ध्रुवोऽवर्ज्यः । निश्चित इत्यर्थः । मृतस्य विनाशमुपयातस्य । च । जन्मोत्पादः। ध्रुवमवर्जनीयम् । हि । सततपरिणामशीलस्य देहात्मकस्य सतो द्रव्यस्यावर्जनीयावेवोत्पत्तिविनाशावित्यर्थः । तस्माद्धेतोरपरिहार्ये परिहर्त्तुमशक्ये । अर्थे जन्ममरणरूपेऽर्थे । त्वम् । शोचितुं नार्हसि शोकं कर्त्तुमयोग्योऽसि ।

अत्रासत्कार्यवादिनो वदन्ति नायं सत्कार्यवादः समीचीनः, सतो द्रव्यस्योत्पत्तिविनाशयोरुपपादयितुमशक्यत्वात् । तथाहि–'घटादिरुत्पद्यत' इत्यादिप्रतीतिसिद्धा घटादिद्रव्य-

जातमेव नित्यं मृतमेव मन्यसे । वाकार एवार्थकः । नित्यशब्दो नैयत्यवचनः । तथा च नियतोत्पत्तिकं नियतविनाशञ्च मनुषे जनिमृतियुक्तं देहमेवात्मानं निश्चिनोषि न देहाद्विलक्षणं मदुक्तस्वरूपकम् । तथापि हे महाबाहो ! महाबाहुत्वाच्छूराग्रणीस्त्वमेवं शोचितुं नार्हसि । नहि शूरशिरोमणयस्त्वद्विधाः प्रधनमुपस्थाय म्रियमाणान् मृतान् वा स्वपरानेवं शोचन्तीति भावः ॥ २६ ॥

प्रोक्तार्थे हेतुमुपन्यस्यति—**जातस्येति ।** यस्माज्जातस्य गृहीत-

स्योत्पत्तिर्नाम तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्ध एव। स चोत्पद्यमानस्य घटादेः प्रागपि सत्वेऽङ्गीकृते तस्य तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणक्षणवृत्तित्वात् कुतः स्यादित्यसत एवोत्पत्तिरङ्गीकर्त्तव्या। एव 'नश्यति' 'नष्ट' इत्यादि प्रतीतिसिद्धः प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यभावविशेषात्मको विनाशोऽपि पश्चादसत एव घटादिद्रव्यस्य स्वीकर्त्तव्योऽन्यथा घटादि नाशानन्तरं 'घटादिरस्ती'ति प्रत्ययप्रसङ्गः स्यात्। किञ्च कार्यस्य प्राक् सत्तायां कार्यकारणयोरनन्यत्व उभयोर्नामार्थसंख्याबुद्धिकालकारणाकारभेदानामनुपपन्नत्वं कारकव्यापारस्य नैष्फल्यञ्च भवेदिति,

तन्न युक्तम्, तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणावच्छिन्नाया कपालद्वयादिसंयोगात्मिकाया घटत्वावस्थाया एवोत्पत्तितया कपालद्वयादिविभागात्मिकाया घटत्वाद्यवस्थाविरोधिकपालत्वाद्यवस्थाया एव च विनाशतयाङ्गीकृतत्वेनोक्तदोषाप्रसङ्गात्। घटत्वादिविशिष्ट एव सत्ताया 'घटादिरस्ती'ति व्यवहारान्न घटादिनाशानन्तरं तादृशव्यवहारापत्तिः।

ननूत्पन्नस्य घटादेर्नाशस्य प्रत्यक्षतया 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'रिति भगवदुक्तस्योपपत्तिमत्वेऽपि नष्टस्य घटादेः पुनरुत्पादस्यानवलोकनाद् 'ध्रुवं जन्म मृतस्य चे'तिवचनं त्वनुपपन्नमेवेति चेन्न, पूर्वावस्थस्य द्रव्यस्य विनाशरूपा पूर्वावस्थाविरोध्युत्तरा-

जन्मनः सर्वस्य मृत्युर्मरणं ध्रुवोऽनिवार्य एवास्ति। मृतस्य च शरीराद्वियुक्तस्य। मरणमापन्नस्येति यावत्। जन्म ध्रुवमुत्पत्तिरनिवार्या। तस्मादपरिहा-

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

वस्थोत्तरावस्थस्यैव तस्य द्रव्यस्योत्पत्तिर्न तु पूर्वावस्थस्यापि तस्य। यथा घटावस्थस्य द्रव्यस्य नाशरूपा कपालत्वावस्था कपालावस्थस्यैव तस्य द्रव्यस्योत्पत्तिर्न तु घटावस्थस्यापि तस्य। तथा च सूपपन्नैव नष्टस्योत्पत्तिरिति। उत्तरावस्थायाः पूर्वावस्थाविरोधित्वात् कपालनाशे घटनाशस्यैव नष्टत्वेन चूर्णावस्थायां घटोन्मज्जनप्रसङ्गोऽपि न। ननु शोकानिमित्तत्वेन भगवता नष्टोत्पादस्य ध्रुवत्वप्रतिपादनमयुक्तमिति चेन्न, नष्टोत्पादध्रुवत्वप्रतिपादनस्य नाशध्रुवत्वप्रतिपादनात्मकत्वात् ॥ २७ ॥

स्वस्वभाववर्त्तिनां देवमनुष्यादिभूतानामशोचनीयत्वमाह—अव्यक्तादीनीति। हे भारत! भूतानि देवमनुष्यादिशरीराणि। सन्त्येव। अव्यक्तोऽनुपलब्ध आदिः पूर्वावस्था येषां तान्यव्यक्तादीनि। व्यक्तमुपलब्धं मध्यं जनिनिधनान्तरालस्थ-

र्येऽर्थे त्वं शोचितुं नार्हसि ॥ २७ ॥

देवमनुष्यादिशरीणां पूर्वमध्यमोत्तरावस्था अवर्जनीया एवेति न तानि शोचनीयानीत्यत आह—अव्यक्तेति। हे भारत! हे अर्जुन! भूतानि देवादिशरीराणि। अव्यक्तादीन्यनुपलब्धपूर्वावस्थानि। पूर्वावस्थायां सुखदुःखरूपत्वान्यतरविवेकायोग्यानुपलभ्यामवस्थामाप्तानीत्यर्थः। व्यक्तमध्यान्युपलब्धदेवत्वादिमध्यमावस्थाऽऽपन्नानि। अव्यक्तनिधनान्युत्तरावस्थायामपि सुखदुःखस्वरूपत्वान्यतरविवेकायोग्यानुपलभ्याम-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देवमनुष्यत्वाद्यवस्था येषां तानि व्यक्तमध्यानि । अव्यक्तमनुपलब्धं निधनं ध्वंसात्मिकोत्तरावस्था येषां तान्यव्यक्तनिधनानि । एव । भवन्ति । देवमनुष्यादिशरीराणि स्वस्वभावेष्वेव वर्त्तन्त इत्यर्थः । तत्र तेषां विनाशात्मके स्वभावे । परिदेवना शोकः । का ? न किञ्चिदपि शोकनिमित्तं पश्याम इत्यर्थः । उक्तश्च भारते—“ अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा किमनुशोचसि ॥ ” (म भा. स्त्रीप. २–१२) इति ॥ २८ ॥

एवं देहात्मवादपक्षे शोकनिमित्ताभावमुक्त्वाऽऽश्चर्यभूतस्यात्मनो यथावज्ज्ञानमति दुर्लभमित्याह—**आश्चर्यवदिति** । कश्चिदात्मतत्त्वदर्शने प्रवृत्तोऽपि पुण्यपुरुष एनमात्मानमाश्चर्यव-

वस्थामाप्तानि । एव । भवन्ति । स्वीयेषु स्वभावेषु वर्त्तमानानि भवन्तीत्यर्थः । तत्र का परिदेवना ? शोकः कः ? केवलं मध्य एव प्रकाशस्वभावानां तेषां देवादिदेहानां पूर्वस्मिन्नुत्तरस्मिंश्च कालेऽव्यक्तत्वस्वभावस्यावर्जनीयत्वेन न तद्विषयकः शोकः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥२८॥

एवं चार्वाकाभिमतं देहात्मवादमभ्युपगम्यापि शोकनिमित्तं नास्तीत्युक्तमिदानीं पुनरपि देहादतिरिक्तस्याश्चर्यरूपस्यात्मनो द्रष्टुर्वक्तुः श्रोतु-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

दनितरसाधारणस्वरूपं पश्यति । तथैव चान्योऽन्यस्मै सदाश्चर्यवदेव वदति । अन्यश्चाश्चर्यवदेनं शृणोति । कश्चित्पुनर्विद्वद्भ्यः श्रुत्वाऽप्येनं न वेद । चकारो दर्शनवदनश्रवणज्ञानानां तत्त्वतो दौर्लभ्यं ज्ञापयति । सर्वाश्चर्यमयस्यात्मतत्त्वस्य परिज्ञानमतीव दुर्घटमित्यनेन ज्ञाप्यते ॥ २९ ॥

देहे विद्यमानस्यापि देहिनोऽवध्यत्वं निश्चाययति—**देहीति** । हे भारत ! सर्वस्य देवमनुष्यादिप्राणिनिवहस्य देहे वध्यमाने शरीरे देही देहान्तवर्त्ययमात्मा नित्यमवध्य एवेत्यवेहि ।

ज्ञातुश्च परमदौर्लभ्यमभिधत्ते—आश्चर्यवदिति । सद्गुरुकृपालब्धज्ञानप्रसरापास्तकल्मषः पुण्यपरिपाकपावितान्तःकरणः कश्चिदेनं प्रागुदीरितस्वभावं स्वातिरिक्तसमस्तवस्तुविलक्षणमाश्चर्यस्वरूपं पश्यति चाक्षुषज्ञानविषयी करोति । तथैव चाऽन्योन्यस्माया आश्चर्यवद्वदति । अन्यश्चैनमात्मानमाश्चर्यवदेव श्रुतिगोचरतां नयति । कश्चित्पुनर्विद्वन्मुखाच्छ्रुत्वाऽपि प्राक्तनान्तरायपराहतो वास्तविकमेनमात्मानं नैव वेद । चेन द्रष्टृवक्तृश्रोतृज्ञातृषु सत्स्वपि तेषां याथार्थ्येन दर्शनादेर्दौर्लभ्यमुच्यते ॥ २९ ॥

यथा देहेऽन्विता ह्रस्वत्वदीर्घत्वादयो धर्मा अध्यक्षमीक्ष्यन्ते तथाऽऽत्मनि च सुखित्वदुःखित्वादिधर्मणामपि सत्वमस्त्येव तथैव दृष्टान्तसाधर्म्यादनित्यत्वमप्यात्मनि स्यादेवेति कुतस्तस्याऽवध्यतोच्यत इत्याशंक्याभिधत्ते—**देहीति** । हे भारत ! सर्वस्य देवमनुष्यादेर्देहे हन्य-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तस्माद्देवमनुष्याद्याकारवैषम्ययुक्तान्यपि तत्तच्छरीरान्तरवस्थिता-
त्मवस्तुनात्मस्वभावेन च साम्यमावहन्ति सर्वाणि भूतानि
कदाचिदपि त्वं शोचितुं नार्हसि। आत्मनां नित्यत्वेन तत्तद्दे-
हानान्तु सर्वदा भङ्गुरत्वेन युद्धे न भीष्मादीन्येव किन्तु कानिचि-
दपि भूतानि नैव शोच्यानीति तात्पर्यम् ॥ ३० ॥

'वेपथुश्च शरीरे म' इत्याद्यभिहितः शरीरकम्पोप्ययोग्य एवे-
त्याह—**स्वधर्ममिति**। अपि च। स्वधर्मं 'प्रधानं क्षत्रिये
मानेऽपि शरीरे देही शरीरावस्थित आत्मा नित्यमवध्य एव बोध्यः।
तस्मादाब्रह्मपिपीलिकं सर्वाणि भूतानि शरीराकारादिना विषमान्यप्या-
त्मवस्तुना तत्स्वभावेन च साम्यवन्ति नित्यान्येव। वैषम्यन्तु शरीर-
कृतमिति भीष्मादीन् कतिपयानेव किं समस्तदेवमनुष्यादीनपि काय-
मादाय त्वं शोचितुं चिन्तां कर्तुं नार्हसि ॥ ३० ॥

एवमात्मवस्तुनो वास्तविकस्वरूपमभिधायाशोच्यत्वमपि समदर्शि।
तेनैव प्रतिपादनेन परमात्मनः स्वरूपं सर्वेश्वरसर्वान्तर्यामिसर्वज्ञत्वादिगुण-
विशिष्टमपि निरचायि। अथ यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्ते
ऽहमित्यादिना यत्प्रार्थितं तस्योत्तरमभिधातुमुपक्रमते—**स्वधर्ममिति**।
किञ्च न केवलमात्मस्वरूपस्य नित्यत्वाद्विकम्पितुं नार्हसीत्येवापि तु स्व-
धर्मं क्षत्रियधर्ममप्यवेक्ष्य विकम्पितुं विचलितुं नार्हसि न योग्योऽसि।
एवञ्च यत्त्वया विशुद्धेऽपि स्वधर्मेऽधर्मभ्रान्त्या 'यद्यप्येते न पश्यन्ति

कर्म प्रजानां परिपालनम्' (याज्ञ० गृ. प्र.) इत्यादिधर्मशास्त्र-
विहितं धर्माचारघातकान् निगृह्य प्रजापालनात्मकं क्षत्रियधर्मम-

लोभोपहत चेतसः। कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्' (गी.
१।३६) 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्य-
सुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः। (गी. १।४५) 'गुरूनहत्वा हि
महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (गी. २।५) इत्या-
दिवचनैरस्य संग्रामस्य पातकाक्रान्तत्वं गुरुहननजन्यनिरयपतननैयत्यादि-
कमभिहितम्। तत्सर्वं स्वधर्मपरिपालने प्रवर्तयतां धर्मशास्त्राणामनवेक्ष-
णकृतमित्येव मन्तव्यं यतो धर्मशास्त्राणि मुहुर्मुहुरुद्घोषयन्ति। क्षत्रियस्य
धर्मादनपेताद् युद्धाच्छ्रेयोजनकमन्यत्किमपि न विद्यते। यतो बलवान्
राजा प्रजारूपान् ब्राह्मणादिवर्णान् लौकिकवैदिकाचारमर्यादाश्च दर्पादु-
त्पीडयितुम्प्रवृत्तान् दुष्टशत्रून् युद्धे विजित्य धर्मभावेन प्रजापालनं
गुरुब्राह्मणशुश्रूषाञ्चानुतिष्ठति। तेन धर्मविवृद्ध्या तस्य श्रेयः करगतं
भवति। इदमेव च धर्मशास्त्रसम्मतम्। समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः
पालयन्प्रजाः। न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥
संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्। शुश्रूषा ब्राह्मणाञ्च राज्ञां
श्रेयस्करं परम् ॥८८॥ आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षिताः।
युद्ध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥८९॥ एतेन युद्धस्य
जयधनकीर्तिलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं नादृष्टं स्वर्गादिकमित्यपि प्रत्युक्त-
म्भवति। समरसमाश्रित्यापराङ्मुखत्वनियमस्यावघातनियमवत्स्वर्गादिफल-
कत्वात्। नन्वस्याहवस्य प्राणिमारणरूपहिंसात्वेनाधर्मजनकत्वमेव सुनि-

वेक्ष्य विज्ञाय । त्वम् । विकम्पितुं नार्हसि पापभ्रमात् प्रकम्पितुमयोग्योऽसि । हि यतः । क्षत्रियस्य । क्षात्रप्रकृतेर्जनस्य ।

श्चितमिति वाच्यम् । अनर्थप्रापिकाया हिन्साया 'न हिन्स्यात्सर्वा भूतानी'त्युत्सर्गशास्त्रेण निषिद्धत्वेऽपि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यपवादशास्त्रेण तद् बाध्यते । अत एव शास्त्रदीपिकायां 'ननु न हिन्स्यादिति प्रतिषेधो नारभ्याधीतत्वात्पुरुषार्थस्तेनानेन पुरुषार्था एव हिन्साः प्रतिषेद्धव्याः स्युः क्रत्वर्थनिषेधे हि सोऽपि क्रत्वर्थः स्यात् । अविशेषेत्वेकस्य प्रतिषेधविधेः क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वापत्त्या वैरूप्यं स्यात् । तस्मात्पुषार्थानामेव हिन्सानामिह प्रतिषेधो न क्रत्वार्थानामिति शंकामुत्थाप्य न ह्यविशेषेणापि प्रतिषेधे वैरूप्यम् । यदि हि क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वरूपं विशेषेणोद्दिश्य प्रतिषेधः क्रियेत ततः स्यादपि वैरूप्यम् । प्रतिषेध्योपस्थापितक्रतुपुरुषगोचरत्वात्प्रतिषेधस्य । यदा तु हिन्सामात्रमुद्दिश्य प्रतिषेधः क्रियते तदास्य किं वैरूप्यम् । तद्यथा या भोजनार्थं मांसोत्पादने हिन्साया च वैरनिर्यातनार्थतया साक्षात्पुरुषार्था तस्यामुभय्यामविशेषेण प्रतिषिध्यमानायामपि नास्ति वैरूप्यमेवमिहापीति । न चैवं सामान्येन श्रुतं निषेधशास्त्रं लौकिकवैदिकाखिलहिन्सासु प्रत्यावायशक्तिमवगमयति । दैक्षपशुहिन्सायामपि तस्या अक्षतत्वात् । न ह्यग्नीषोमीयमित्याद्यपवादशास्त्रेण दैक्षपशुहिन्सातः सा शक्तिरपवार्यते । वस्तुस्वभावावबोधकत्वाच्छास्त्राणाम् । न तु शक्त्यासादननिरसनयोः सामर्थ्यम् । तस्मादग्नीषोमीयादिपशुहिन्साया अपि शास्त्रबलादनर्थत्वमव्याहतमिति वाच्यम् । ब्राह्मणकर्तृकसुरापानादेः शास्त्रावगतप्रत्यवा-

धर्म्याद् धर्मादनपेतात् । न्याय्यादित्यर्थः । युद्धात् संग्रामात् । अन्यद् भिक्षाटनादि ब्राह्मणादिवृत्तिः । श्रेयः श्रेयोविधायकं

यजननशक्तिः कथं शूद्रस्यापि प्रत्यवायजनिका स्यात् । कथं वा वैश्यस्तोमस्य वैश्यम्प्रति फलजननशक्तिः शास्त्रप्रतिपादिता विप्रराजन्ययोरपि तदनुष्ठापकयोः फलजनिका स्यादित्यतः शास्त्रेण यत्फलकं यत्कर्तृकं यत्कर्म यथा निर्दिष्टं तथैवानुष्ठाने तत्फलादि प्रयच्छति । अतोऽस्मिन् विषये शास्त्रमेव व्यवस्थापकं नान्यत् । तदुक्तं श्लोकवार्तिके—तस्माद्याद्दृशं कर्म याद्दृशोत्पत्तिहेतुकम् । शास्त्रेण गम्यते तस्य ताद्दृशस्यैव तत्फलम् ॥ एवं च 'न हिन्स्यादिति सामान्यशास्त्रस्योत्सर्गतः सर्वत्र प्रवृत्तावप्यग्नीषोमीयादिव्यतिरिक्तत्वेन संकोच आवश्यकः । अत एव 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः (छा. ८।१५।१)'इति वैदिकं वचोऽपि संगच्छते । वस्तुतस्तु नह्यत्रोत्सर्गापवादन्यायस्य प्रसरः । यागीयपशुविशसनस्य हिन्सात्वमेव नास्ति । यतो ह्यग्नीषोमीयपशोः पापीययोनिपरित्यागपूर्वकपुण्ययोनिग्रहणश्रुतेर्जागरूकत्वात् । न वा उवेतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः । तत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतः । तत्र त्वा देवः सविता दधातु' (यजुः ४।६।९।४६) 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति' (७।४) इति । स्मृतिरप्याह—'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा । यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः (म. ५।३९) ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ (म. ५।४०) इत्यत्र यज्ञार्थं विनष्टा भूयो जात्युन्नतिं

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

न विद्यते । क्षत्रियाणामहिंसाधर्मो धर्मोपेतयुद्धातिरिक्तस्थल एव श्रेयानित्यर्थः ॥ ३१ ॥

युद्धविषयकाधर्मभ्रमोन्मूलनाय धर्म्ययुद्धस्योत्कृष्टतामाह—यदृच्छयेति । हे पार्थ ! सुखिनः सुखजनकसुकृतिशालिनः सु-

प्राप्नुवन्तीति स्पष्टमभिधीयते । अपि च किन्तावद् हिंसात्वम् ? मरणफलव्यापारत्वं तदिति वक्तुं न शक्यते । कूपादिपतनाद् गवादिमरणे तत्कर्तुर्गोवधकर्तृतापत्तेः । मरणोद्देशेनानुष्ठीयमानव्यापारत्वं तदित्यप्यपेशलम् । गौरवापत्तेः । मरणानुद्देशेन प्रक्षिप्तनाराचाद्धते ब्राह्मणे च हिन्सात्वानापत्तेः । अव्यवहितमरणफलकव्यापारस्यापि न हिन्सात्वं विलम्बेन मरणसाधकश्येनेऽव्याप्तेः । शस्त्राघातजन्यव्रणपाकपरम्परया मरणे चाऽव्याप्तेः । द्वितीये रक्षणफलकेषु भिषगनुष्ठितशल्यचिकिसादिष्वतिव्याप्तेः। न चैतेषामौपचारिकत्वं शक्यं कल्पयितुम् । तेष्वर्थेषूपचारविशेषादर्शनात् । तस्माच्छास्त्रप्रतिपाद्यानिष्टफलकानियतोत्तरकालिकदुःखोत्पादकव्यापारत्वमेव हिन्सात्वं निश्चेतव्यम् । एवं विधाया हिन्सायाश्च यागीयपशुविशसने धर्म्ययुद्धे बधे चाभावान्न दोष इत्यवधेयम् ॥ ३१ ॥

युद्धस्य क्षत्रियधर्मत्वात्प्रयत्नतोऽपि सम्पाद्येत तव तु यत्नमन्तरेणैवेदमापन्नमिति सहर्षमारब्धव्यमित्याह—**यदृच्छयेति** । यत्त्वत्र शंकरानन्दो 'ननु जयश्चेद्युद्धस्य श्रेयःसाधकता स्यान्मृतिश्चेन्न किमप्यत आह—यदृच्छयेति । एवमवतरणिकामाह तन्मन्दम् । युद्धस्यैव श्रेयः-

स्वयोग्या वा पुण्यवन्त इत्यर्थः । क्षत्रियाः । यदृच्छया स्वयमेव । उपपन्नमुपलब्धम् । अपावृतमपगतमावृतमावरणं यस्य तत्तथाविधं फलाभिसन्ध्याद्यात्मकप्रतिबन्धशून्यम् । स्वर्गद्वारं स्वर्गस्य निर-

साधनत्वं जयमृत्योऽस्तु यद्धफलभूतत्वात्तदक्षुण्णमिति जयपक्षे युद्धस्य श्रेयःसाधनता मृतिपक्षे नेति कथनस्यायुक्तत्वात् । यदृच्छया यत्नमन्तरेणैवोपपन्नं सम्प्राप्तम् । चोऽवधारणे । अपावृतमुद्घाटितकपाटं स्वर्गद्वारं सर्वातिशायिसुखसाधनमीदृशमतिरथमहारथादियोद्धृविशिष्टं विजयकीर्तिराज्याद्यनुत्तमलाभकरं युद्धं सुखिनः सुकृतशालिनः क्षत्रिया लभन्ते प्राप्नुवन्ति । अनेन 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधवे'त्यर्जुनोक्तस्योत्तरमपि दत्तम्भवति । पार्थ इति धर्मज्ञायाः पृथायाः सम्बन्धबोधकशब्दोपादानेन धर्मानुष्ठान एव तत्परो भवेति सूच्यते । ननु क्षत्रियस्य क्षत्रियेण सममाहवकरणे स्तां धर्मो दोषाभावश्च किन्तु गुरुवृद्धब्राह्मणैस्सहाहवे तद्वधेत्ववश्यं दोषः स्यादिति चेन्न, आततायिनां गुरुब्राह्मणादीनां युद्धवधे दोषाभावस्योक्तत्वात् । गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' (म. ८।३५०) आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन (म. ८।३५१।) ननु तथापि 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इति लोकव्यवहारसाधकत्वादर्थशास्त्रम् 'ब्राह्मणो न हन्तव्य'इति चालौकिकश्रेयःसाधकतया धर्मशास्त्रम् । अनयोर्विरोधे हि धर्मशास्त्रस्यैव प्राबल्यमुक्तं याज्ञवल्क्येन 'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिंश्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

तिशयसुखात्मकस्य मोक्षस्य द्वारमुपायभूतम् । ईदृशं धर्मोपेतम् । युद्धं लभन्तेऽवाप्नुवन्ति । अतोऽयोग्य एवायं ते प्रकम्प इति भावः ॥ ३२ ॥

धर्म्ययुद्धाकरणेऽनर्थमाह—अथेति । अथ । त्वम् । क्षत्रियः सन्नपीत्यर्थः । धर्म्यं धर्मादनपेतम् । इमं यदृच्छया प्रारब्धम् ।

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ।' तथा च धर्मशास्त्रबलादेषां बधे दोषः स्पष्ट एवेति चेन्न जिघांसन्तं जिघांसीयादित्यादिवचनमपि धर्मशास्त्रमेव लोकव्यवहारादिदृष्टफलानपेक्षत्वात् । जीवनरक्षणं यथार्थ-शास्त्रसम्मतं तदा धर्मशास्त्रसम्मतमपीति धर्मतत्वविदः । तथा च युद्धस्य श्रेयोजनकत्वात्तव चानायासप्राप्तत्वादवश्यं युद्धमेवानुष्ठेयमिति भावः ॥ ३२ ॥

ननु जयराज्यकीर्त्यादिदृष्टमेव फलं चेत्संग्रामस्य तन्मया प्रागेव निरस्तं 'न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च' (गी. १। ३२) 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते' (गी. १।) यदि च युद्धस्य धर्म्यत्वाददृष्टं पारलौकिकं श्रेयोऽपि चेत्फलं तच्च विजये सति गुरुब्राह्मणादिवधजन्यनिरयपातसंभिन्नत्वेन हेयमेव । ऐहिकस्यै-कभवभोग्यस्य क्लेशस्य सुखेन सोढव्यत्वात् । तदपि प्रागुक्तं 'गुरून-हत्त्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (गी. २।) इति । अतः समरसमारम्भस्त्याज्य इत्यत आह—**अथेति** । अथेति

संग्रामं युद्धं न करिष्यसि । चेत् । ततः प्रारब्धधर्म्ययुद्धाननुष्ठा-नात् । स्वधर्मं स्वधर्मफलम् । निरतिशयसुखमित्यर्थः । कीर्तिं विजयेनोपलब्धं निरतिशयं यशः । च । हित्वा विहाय । पापं

पक्षान्तरे । त्वं क्षत्रियो न तु विप्रादिर्यतस्तस्य संग्रामेऽकरणं न प्रत्य-वायप्रयोजकं स्वधर्मत्वाभावात् । तव तु युद्धानुष्ठानस्य स्वधर्मत्वात् तदननुतिष्ठतः स्वधर्मत्यागादवश्यं प्रत्यवाय इति भावः । नन्वेवं मम क्षत्रियस्य रणाकरणमेव प्रत्यवायजनकश्चेदविरतं तदेवानुष्ठेयमित्यत आह–**इममिति** । प्राक् सप्रतिज्ञं युद्धमुद्घोष्य प्रारब्धं धर्म्यं संग्रामं परैराहूतेन युद्धोद्योगं विधायावश्यं युद्धमनुष्ठेयमिति राजन्यधर्मः । एवमेव धर्मशास्त्रेष्वभिहितम्–'समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः । न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥' (म. ७।८७) 'संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानाञ्चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्' (८८) इति । तस्मादनपेतमस्मिन्नवसरे युद्ध-त्यागः पलायनमेव । स च महानधर्म इति भावः । निश्चितस्वधर्मे-ऽज्ञानादधर्मत्वबुद्ध्या न करिष्यसि चेत् ततः स्वधर्मं 'निर्जित्य पर-सैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्' (   ) इत्यादिधर्मशास्त्रबोधि-तस्य क्षत्रियस्य धर्मं कीर्तिं हरतुष्टिदिव्यास्त्रलाभसमुद्भूतामुत्तरगोग्रहे कौरवोष्णीषादिहरणाद्यनेकाद्भुतपराक्रमैः समुपार्जिताञ्च ताञ्च हित्वा निस्सीमदुःखोदर्कं पापमवाप्स्यसि । युद्धाद्विनिवर्तमानमालोक्याततायिन-श्चैते त्वद्रिपवोऽवश्यमेकीभूय त्वां सबान्धवं विनाश्य जयकीर्तिराज्या-दिकं प्राप्स्यन्ति । त्वन्तु 'यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

निरतिशयदुःखजनकं दुरितम् । अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अथ सङ्ग्रामाकरणस्य दृष्टप्रत्यवायहेतुतामाह—अकीर्त्तिमिति । किञ्च भूतानि समर्था असमर्थाश्चापि सर्वे जीवाः । ते तव । अव्ययामविनाशिनीम् । देशतः कालतश्चान्यूनामित्यर्थः। अकीर्तिं 'पार्थो युद्धात् पलायित' इत्येवंभूतमयशः । कथयिष्यन्ति । कथयन्तु नाम किं ततः ? इत्यत्राह—सम्भावितस्येति । सम्भावितस्य शौर्यधैर्यादिभिर्गुणैर्बह्वभिमतस्य । पुरुषस्येतिशेषः । अकीर्तिः । मरणान्मृत्योः । अतिरिच्यतेऽधिका

भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ' (म. ७।९५।) इत्यादि धर्मशास्त्रप्रामाण्यात्पापं प्राप्स्यसीति भावः । एतच्च ' पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ' (गी. १।) इत्यर्जुनोक्तस्योत्तरतयोक्तम् ॥३३॥

ननु माभूत्कीर्तिः कानो हानिः पापप्राप्तिस्त्वनिमित्ता कथमित्याह—**अकीर्तिमिति** । भूतानि देवदानवादयो ब्राह्मणादयश्च सर्वे मनुष्यास्ते त्वदीयं वंशगोत्राभिजनादिकं स्मारं स्मारं नामोच्चारणं च विधाय राजन्योत्साहजनकजन्यारम्भसमय एव शूरम्मन्यः पाण्डुपुत्रोऽर्जुनः कातरताक्रान्तकलेवरो भीरुताम्प्रकटय्य द्रुततरं रणाजिरात्पलायित इति । न केवलं वर्तमानाः क्षत्रिया एवापि तु ' सर्वभूतानि ' इत्येवंप्रकारामव्ययां सर्वासु दिक्षु सर्वेषु च कालेषु व्याप्नुवानामदृष्टैरपि दृष्टवदश्रुतैश्च श्रुतवद्व्याह्रियमाणामकीर्तिञ्चापि कथयिष्यन्ति । ननु समरमर-

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

भवति । ' अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् । पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः स कीर्त्यते ॥ ' (रा. उ. कां.) इत्यनन्तब्रह्माण्डनायकस्य परिपूर्णस्य ब्रह्मणो भगवतः श्रीरामस्य वचनान्नरकपातहेतुभूताया अकीर्तेर्मरणमेव श्रेयानितिभावः॥३४॥

स्वजनस्नेहकारुण्याभ्यां युद्धान्निवृत्तस्य शूरस्य ममाकीर्तिः कथं स्यादित्यत्राह—भयादिति । महारथा महारथलक्षणसम्पन्ना दुर्योधनादयस्त्वां भयाद् रणात् संग्रामादुपरतं विरतं मंस्य-

णाज्जीवतोऽकीर्तिरकिञ्चित्करी यतो ' जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येदि'ति जीवतः पुरुषस्य हर्षोद्रिक्तभद्रशतदर्शनस्यासकृत्प्रसंगात् । तस्मान्मृतिजनकं कार्यमिदं त्याज्यमित्याह—[illegible]वितस्येति । सम्भावितस्य धनुर्विद्यायां सर्वाग्रगण्यत्वेन प्राप्तेन्द्रदिव्यशस्त्रत्वेन श्रीकृष्णसखत्वेनेशवैश्वानरतुष्टिलब्धदिव्यवरत्वेन च त्वं सर्वेभ्योऽधिकसम्माननीयस्तस्य तेऽकीर्तिर्यरणादप्यतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

ननु भयप्रयुक्तकातर्यान्निवृत्तयुद्धस्यैवापकीर्तिर्भवति न तु शूरस्य मम स्वजनस्नेहजन्यकरुणया समरसमारम्भनिवृत्तस्य सा प्रत्युत स्तुतिरेव स्यादित्यत आह—**भयादिति** । महारथा भीष्मद्रोणदुर्योधनजयद्रथादयस्त्वां सदसि कपटद्यूतव्यवहारेण द्रौपद्याश्चीराकर्षणेन सर्वमाहृत्य वननिर्वासनेन च परेषु क्रोधमुद्वमन्तमत एव भीष्मद्रोणकर्णादिभ्योऽप्यधिकाहवविद्यावाप्तये शिवेन्द्रादिदेवाराधनप्रसादलभ्यदिव्यास्त्रसाधनं संग्रामे दुर्यो-

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

न्ते । मन्येरन्नित्यर्थः । येषां दुर्योधनादीनां महारथानां बहुमतो बहुमानमवाप्तो भूत्वेदानीं लाघवं लघुतामनादरमित्यर्थः । यास्यसि ॥ ३५ ॥

ननु भवतु लाघवं तथापि तज्जन्ये क्षोदीयसि दुःखे न कापि मे चिन्तेत्यत आह—**अवाच्यवादानिति** । तवाहिता रिपवः कर्णादय एव नापि तु त्वयानायासेनैव पराजिता अत्यल्पबलवैभववन्तोऽपि त्वदीयं युद्धौदासीन्यमधिगम्य लब्धप्रसरा-

धनपक्षपातिनः कर्णादींश्चावश्यं हनिष्यामीति कृतप्रतिज्ञं त्वामेव भयात् कर्णादिभ्योऽयमर्जुनो भीतोऽत एव पलायित इत्येवं वदन्तः साट्टहासं हसन्तो रणादुपरतं मंस्यन्ते । ननु मन्यन्तामीर्ष्यासूयादियुक्ताः केचिदेव द्वेषिणस्तथा न तु भीष्मादय आप्ततमास्तेन का नोहानिरित्यत आह—**येषामिति** । येषाञ्च भीष्मादीनां त्वं बहु यथा स्यात्तथा मतोऽर्जुन इदानींन्तनाना सर्वेषां शूराणामग्रणीरिति बहुमानात्स्वीकृतस्तथा भूत्वा लाघवं तेषामन्येषाञ्च समक्षं लघुत्वमुपयास्यसि ॥ ३५ ॥

लाघवमुपयात्यपि प्रागासादितं गुणगौरवन्तु मय्यक्षतम् ; तल्लाघवं न मे दुःखायभवेदित्यत आह—**अवाच्यवादानिति** । तवाहिताः कर्णदुर्योधनादयो देवासुरमनुष्यप्रसिद्धमनितरसाधारणं यत्तवसामर्थ्यं तन्निन्दन्तो ' निर्वीर्योऽयमर्जुनो वृथा गाण्डीवं वहति न ह्यस्माकम्पुरःस्थातुमस्य शक्तिरतो दैन्यं विधाय त्यक्तायोधनस्तिष्ठति ' इत्येवं प्रकारेण

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

स्तव सामर्थ्यं निन्दन्तो दुरतिक्रमं कौरवकुलमालोक्य पलायितोऽर्जुन इदानीं रणप्राङ्गणान्निर्बलस्य तस्यास्माभिस्सह योधने नैव शक्तिरित्येवंविधान् बहूनवाच्यान् वादान् वदिष्यन्ति । ततोऽधिकं दुःखविशिष्टं किन्नु भवेत् । सत्यपि सर्वातिशायिनि सामर्थ्ये जीवत एवेदं निन्दावाक्यश्रवणजं दुःखं मरणतोऽप्यधिकमिति भावः ॥ ३६ ॥

' यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ' इति प्रार्थितं निश्चितं श्रेयोयुक्तमभिदधाति—**हत इति** । हतो वा धर्म्ये युद्धेऽरिभिमुहुर्मुहुर्निन्दां कुर्वन्तोऽवाच्यान् क्लीबो नर्तकश्चैवायं किन्तु नेयं नृत्यभूमिरिदन्तु रणाजिरमतः परमभीरुरयं पलायित इत्यादिरूपान् बहून् वादान् वचनानि वदिष्यन्ति । ततः किन्नु दुःखतरम् । दुःखशब्दोऽत्र दुःखगुणप्रवृत्तिनिमित्तकस्तथा चार्श आद्यचि दुःखवत्परो बोध्यः । अन्यथा लघुतरः पाचकतर इत्यादि प्रामाणिकप्रयोगवत् ' घटतर ' इत्यादि प्रयोगेष्वपि प्रामाण्यं स्यान्नचैवं दृश्यते । तस्माज्जातिप्रवृत्तिनिमित्तकान्न तरबिति निश्चीयते । अत एवानन्दभाष्ये ततोऽधिकं दुःखविशिष्टं किन्नु भवेदित्युक्तम् ॥ ३६ ॥

ननु जयमृत्योरन्यतरफलसन्दिग्धायामपि युद्धप्रवृत्तौ स्वयं मृते भ्रातृणाञ्च क्षयमुपमात्रादिपरितापजं महद्दुखं विजिते च भीष्मादिगुरुजननिधनपातकाल्लोकनिन्दायाश्च महद्दुःखमित्युभयतश्चिन्ताकुलितचेतो नै-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

हंतश्चेत् । स्वर्गं निष्कामस्य धर्म्ययुद्धस्य मोक्षसाधनतया निरतिशयानन्दस्वरूपमोक्षम् । अत्र स्वर्गशब्दो नेन्द्रलोकपरः किन्तु निरतिशयसुखात्मकपरमनिश्रेयसपरोऽमृतत्वप्रकरणेऽधीतत्वात् । जित्वा वा पराञ्जित्वा तु । महीं वसुन्धराम् । निष्कण्टकं महीराज्यमित्यर्थः । भोक्ष्यसे । तस्मादुभयथा श्रेयोलाभात् । हे कौन्तेय ! हे कुन्तीपुत्र ! कृतो निश्चयो येन स कृतनिश्चयोऽसं-

ष्कर्म्यमेव गृह्णातीत्यत आह—**हत इति** । अस्मिन् धर्मयुद्धे परैर्हतश्चेत्त्वं स्वर्गं प्राप्स्यसि । पूर्वापरसन्दर्भानुरोधात् स्वर्गशब्दोऽत्र न काम्यकर्मजनितं क्षयिष्णुं देशविशेषमाचष्टे । किन्तु 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ।' इत्युक्तलक्षणकं नित्यानन्दकन्दलं 'तदरश्च ह वैण्यश्चार्णवो ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा. ८।५।३) 'तद्विष्णोः परमं पद' मित्यादिश्रुतिशतप्रतिपादितवैभवममृतपदमभिधत्ते । एतादृङ्मोक्षाख्यं फलं न हि काम्यकर्मणो युद्धस्य सेद्धुमर्हति । अतः फलाभिकांक्षारहितस्य युद्धस्य विशिष्टधर्मत्वादमृतपदाभिलप्यस्वर्गसाधनत्वमक्षतमित्यभिप्रायेणैव भगवान् हतो वेत्यादिकमुक्तवान् । जित्त्वा च तान् महीं भोक्ष्यसे इत्येवमुभयथाऽपि लाभ एव । एतेन 'नचैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' इत्यर्जुनोक्तस्य संशयस्य व्युदसनं कृतम् । तस्मादरिविजयान्मरणाद्वा मे युद्धविरतिः स्यान्नेतरथेतिकृतनिश्चयः सन् युद्धाय युद्धं कर्तुमुत्तिष्ठ सन्नद्धो भव । कौन्तेयेति

सुखदुःखे समे कृत्त्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

शयापन्नः । सन् । युद्धाय योद्धुम । उभयविधश्रेयःसाधनात्मकं युद्धं कर्त्तुमित्यर्थः । उत्तिष्ठ तत्परो भव ॥ ३७ ॥

मोक्षमिच्छता नरेण कथं योद्धव्यमित्याह—सुखदुःखे इति । सुखदुःखे समरेऽवश्यंभाविशस्त्रपातादिजन्यहर्षशोकात्मकविकारौ । समे तुल्ये । कृत्वा । तज्जन्यविकारशून्यो भूत्वेत्यर्थः । सुखदुःखविषयकानुभवजन्यहर्षशोकरूपविकाराभावात्मकभक्तिसाधनान्तर्गतानवसादानुद्धर्षविशिष्ट सन्निति यावत् । अनवसादानुद्धर्षौ तु भक्तिसाधनतयाऽभिहितौ साधनदीपिकायामस्मत्सम्प्रदायाचार्यैः श्रीबोधायनमहर्षिशिष्यैः श्रीगङ्गाधरा-

साभिप्रायं सम्बोधनम् । राजपुत्र्याः कुन्त्याः पुत्रस्य तवैतदेवोचितम् । यतः 'मृतं सूते क्षत्रिया राजपुत्री' इति नियमाद्वीरजननीं स्वमातरं मा विलज्जयेति भावः ॥ ३७ ॥

ननु परमाराध्यगुरुबन्धुनिधनफलकस्यायोधनस्यापि निःश्रेयससाधनत्वं चेत्तर्हि कृतं शमदमादिसाधनसचिवैः परानुध्यानैस्तस्य तु स्वार्थमलीमसदूषितत्वान्नरकसाधनत्वमेव । स्वधर्मबुद्ध्यनुष्ठितेऽपि युद्धे स्वनिधने नैकान्ततस्त्रिदशपदाव्याप्तिर्नान्तरीयकहिंन्सोत्पादकप्रयत्नैकसाध्यत्वात् । न वा विजये समृद्धवसुन्धराधिपत्यजन्यप्रमोदाधिगमः । हृदयभिदपकीर्तिकवलितकलेवरत्वादतो वेपत एव मानसमित्याशंकायामाह—

चार्यैः—'शोकभीतिनिमित्तेनावसादश्चित्तदीनता । तदभावो हि सम्प्रोक्तोऽनवसादो महात्मभिः ॥ उद्धर्षः खलु सन्तोषोऽनुद्धर्षस्तद्विपर्ययः । शोकवच्चातिसन्तोषे मनःशैथिल्यहेतुता ॥' इति । लाभालाभौ सुखदुःखजनकावर्थाधिगमानधिगमौ । जयाजयौ तज्जनकौ विजयपराजयौ । च समौ कृत्वा तज्जन्यविकाराभाववान् भूत्वा । फलकामनाशून्यः सन्नित्यर्थः। ततः कर्त्तव्यबुद्ध्या । युद्धाय संग्रामं विधातुम् । युज्यस्व सन्नद्धो भव । एवमात्मयाथात्म्यावबोधपुरस्सरं निष्कामं संग्राममनुतिष्ठन् । पापं दुःखात्मकं संसारम् । नावाप्स्यसि । संसारबन्धाद्विनिर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥" (ईशावा० २) इति श्रुतिवचनाद्विद्याऽङ्गतयाऽनुष्ठीयमानं कर्म संसारहेतुर्न भवतीति यावत् ॥ ३८ ॥

सुखदुःखे इति । सुखदुःखे समे कृत्वा सुखःदुःखयो रागद्वेषम्परिहायानुरक्तिविरक्तिवैमुख्यात्साम्येनावस्थानं विधाय तथा तत्कारणभूतयोर्लाभालाभयोस्तत्कारणयोश्च जयपराजययोरपि साम्यमास्थाय ततोऽनन्तरं युद्धाय युज्यस्व । ऐहिकामुष्मिकफललिप्साशून्यः कर्तव्यमात्रमनीषया समरसमारम्भे सन्नद्धो भव । एवमनुष्ठिते सत्यनभिसंहितफलस्त्वं तत्कर्मण्यभिमानाभावात्पापं नावाप्स्यसि । संसारबन्धान्मुक्तो भविष्यतीत्यर्थः । करणकलेवरविलक्षणस्यात्मनोऽविनाशित्वमवगम्याहवानुष्ठाने स्वधर्मपरिपालनमावश्यकं मत्त्वा तदत्र विहितम् ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अथोपासनोपायभूतकर्मयोगमभिधातुमुपक्रमते—एषेति । हे पार्थ ! सम्यक् ख्यायते स्वपरस्वरूपमनया सा संख्या बुद्धिस्तयावगतं सांख्यं तस्मिन् सांख्ये स्वपरयाथात्म्यावबोधविषये ।

एवं चिदचिदीश्वरतत्वानां स्वरूपं पार्थक्येन सम्भिन्नतया चार्जुनाय समुपदिश्य तन्निदिध्यासनेनैव मुमुक्षोरपवर्गसिद्धिरित्येतद्बोधयितुं स्वभक्तानुकम्पापरवशः परेशः सपरिकरस्वोपासनस्वरूपबुभुत्सया तदुपायभूतं कर्मयोगं 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्ये'त्यादिना संक्षेपेणोक्तमपि विस्तराद्व्यातुं तत्प्रशंसामुखेनोपक्रमते—**एषेति ।** एषा 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यारभ्य 'तस्मात्सर्वाणि भूतानि' इत्यन्तेन वाक्यप्रबन्धेन सांख्ये सम्यक्ख्यायते प्रकथ्यते (विविच्यते) स्वपरस्वरूपमनया सा संख्या शारीरकशास्त्रदृष्टिस्तयाऽवगतं परमात्मतत्वं साख्यं तस्मिन् स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानविषये बुद्धिस्ते तुभ्यमभिहिता । 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्ये'त्याद्यष्टश्लोकी तु प्रबोधप्रकारोपोद्बलकतया प्रागर्जुनोपदर्शिताशंकासमाधानमिषेण वक्ष्यमाणकर्मयोगोपक्रममुखेन चाभिहिता योगे तु परमपुरुषार्थसाधकोपासनाङ्गभूतकर्मयोगमन्तरेण सांख्यबुद्धेरनुत्पाद्यतया तत्प्रयोजककर्मयोगस्यावश्यज्ञातव्यत्वेन तदतिरिक्तामपि तदुपायभूतामिमां फलस्वरूपनिर्देशेन वक्ष्यमाणां शृणु । सावधानेन मनसाऽऽकर्णय । तन्निष्ठां सम्पादयेति यावत् । श्रवणमात्रस्य साधारण्यात्तदर्थं शृण्विति निर्देशाऽयोगात् । तुना सांख्यबुद्ध्यभिधानमुपसंहृत्य कर्मयोगावगाहिन्या बुद्धे-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

एषा । बुद्धिः शास्त्रनिष्पाद्यो निर्णयः । ते तुभ्यम् । अभिहिता ‘ऽशोच्यानन्वशोचस्त्वमि’त्यारभ्य ‘तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसी’त्यन्तेन प्रबन्धेनोदीरिता । योग उपासनद्वारा

विस्तरेणाभिधातुमथमुपक्रमः सूच्यते । अत्र सांख्ययोगशब्दाभ्यां कापिलपातंजलयोर्मतविशेषयोर्नैवग्रहणम् । श्रुतिविरुद्धार्थोपस्थापकत्वेन तयोः कर्मबन्धप्रहाणस्याक्षमत्वात् । यया बुद्ध्या युक्तः फलाभिसन्धिराहित्येन स्ववर्णाश्रमोचितकर्माण्यनुतिष्ठन् त्वं कर्मणाऽनाद्यविद्यया बन्धं संसृतिगर्तनिपातं प्रहास्यसि नाशयिष्यसि । येत्वारुरुक्षूणां चित्तशुद्धये कर्मानुष्ठानं कर्मबन्धनिवृत्तिस्त्वकर्त्रात्मविज्ञानबलेनैव न तु कर्मणामीश्वरार्पणमात्रेण न वा भक्तिप्रपत्तीत्यादिसाधनजनितपरमपुरुषप्रसादमात्रेण तथा प्रतिपादकवचनानां ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते’त्यादिवदार्थवादिकत्वात् । किञ्चेश्वरे समर्पितान्यपि कर्मफलानि ‘नादत्ते कस्यचित्पापं नचैव सुकृतं विभुरि’त्यादिवचनप्रामाण्यात् स च नैव गृह्णातीत्यादिकं स्वकपोलकल्पनाकवलितं प्रलापमाहुस्तदज्ञानविजृम्भितम् । गीताचार्यसिद्धान्तापेशलत्वात् तथाहि—निखिलजगदुद्भवावनलयलीलो निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोराशिः सार्वज्ञ्यशक्तिसमन्वितानां महर्षिसिद्धानामप्यादिगुरुर्भगवान् वासुदेवः स्वयमेवैतज्ज्ञानोपसंहृतिप्रकरणेऽन्यत्रापि च स्पष्टमभिदधौ । ‘सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । (गी. १८।५६) चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव’ (गी. १८।५७) ‘मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि’ (गी. १८।५९) ‘अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्’ (गी. ९।२२) ‘पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामिप्रयतात्मनः । यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् । शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।’ (गी.९।२८) इत्यादिगीताचार्यवचनैरीश्वरार्पणकर्मणाऽनन्यचिन्तनात्मकानुध्यानेन च कर्मबन्धननिवृत्तिः स्पष्टमेव परिज्ञायते । सुकृतदुष्कृतयोरनादाने ‘नादत्ते कस्यचित्पापमि’त्याद्युदाहृतं तदपि भगवदाशयानवबोधविलसितम् । एतच्च तच्छ्लोकव्याख्यानावसर एव स्पष्टमुद्घाटितं भविष्यति । अन्येऽपि परावरज्ञा मुनय इममेवार्थमनुमोदयन्ते । ‘अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।’ इत्यादिवचनैः । तस्माद्भगवदर्पितमनसा फलाभिसन्धिरहितकर्मानुष्ठाने परमपुरुषस्यातिप्रसत्तिस्ततोऽविद्यया कर्मरूपया समुद्भूतस्य बन्धस्य निवृत्तिरिति रहस्यवेदिनः ॥ ३९ ॥

नन्‌ु कर्मयोगावगाहिनीं बुद्धिमाश्रित्य कर्मजन्यबन्धस्य प्रहाणं

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

मोक्षोपायभूते कर्मयोगे तु । इमां वक्ष्यमाणां बुद्धिम् । शृणु । यया बुद्ध्या युक्तः । त्वम् । कर्मणा बन्धः कर्मबन्धस्तं कर्मकृतसंसारबन्धनम् । प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

वक्ष्यमाणबुद्धियुक्तकर्ममहिमानमाह—नेति । इह वक्ष्यमाणे

कर्मयोगे । अभिक्रमनाशोऽभिक्रमस्यारम्भस्य नाशो हानिः। नास्ति । आरब्धस्य समाप्तिमनवाप्तस्य विच्छेदश्चावाप्तस्य फलाभिसन्धिरहितस्येश्वराराधनबुद्ध्याऽऽचरितस्य कर्मणो नैष्फल्यं नास्तीत्यर्थः । प्रत्यवायो न विद्यते । यागे समारब्धे विच्छेदमापन्ने यजमानस्य स्वर्गादिफलालाभ एव न किन्तु ब्रह्मराक्षसत्वप्राप्तिरपि भवति । परमपुरुषश्रीरामोद्देश्यककर्मणि तु तथा न भवति, तत्रत्यप्रत्यूहव्यूहस्य भगवत एव विनाशकत्वात् ।

यदुच्यते तद्यदि साकल्येन यथाविध्यनुष्ठानं भवेत्तदैव सेद्धुमर्हति नेतरथा । नह्यर्वाग्दृशा परिमिताल्पज्ञानजुषा पुंसा तथा कर्तुं शक्यम्, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादिश्रुत्यभिहितवेदनस्योपायभूतायां तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन (बृ.४।४।२२) इति श्रुतिजन्यबोधविषयायां च यज्ञदानतपोऽनशनादीनामुपयोगस्यावश्यकत्वात् । तेषाञ्च नित्यनैमित्तिककाम्यस्वरूपाणामेव शास्त्रेषु निश्चितत्वात्तदनुष्ठानजन्यफलस्य तु 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा.८।६।१) 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (मु.१।२।७) इत्यादिश्रुतिभिः कृषिवद्भङ्गुरत्वेन प्रतिपाद्यतया न नश्वरकर्मभिः कर्मबन्धप्रहतिस्तस्मादेतेभ्यो विलक्षणान्येव भगवत्प्रसत्तिसम्पादकानि कर्माणि सन्ति । तेषाञ्च कर्मबन्धक्षयरूपफलजननक्षमतेत्याह—**नेति** । एतेन शृण्वित्यवधानदानाय प्रेरितमर्जुनमनुपदं व्यवसायात्मिका बुद्धिरित्यादिरूपं तत्तत्स्वरूपमेवोपदेष्टव्यं ननु 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इत्यादिकमिति शंकाऽपि निरा-

उक्तश्च भगवतैव 'योगक्षेमं वहाम्यहमि'ति । अब्रुवंश्चैवमेवास्मदाचार्यवर्या जगद्गुरवः श्रीराघवानन्दमहामुनीन्द्राः—'शश्वद् भक्तसमूहस्य सद्योगक्षेमवाहिने। प्रधानपुरुषेशाय राघवेन्द्राय मङ्गलम् ॥' (श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमाला) इति । अस्यात्मयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वकस्य मुमुक्षुभिर्भगवत्प्रीत्यर्थमाचरितस्य कर्मयोगाख्यस्य। धर्मस्य । स्वल्पमप्यत्यल्पभागोऽपि । महतोऽधिकात् । भया-

कृता भवति । 'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते' इत्युक्तरीत्या श्रोतृप्रवृत्तिदाढर्याय पूर्वोपात्तस्यैव कर्मयोगबुद्धेर्माहात्म्यस्य भङ्ग्यन्तरेणेह निरूपणीयत्वात् । इह वक्ष्यमाणकर्मयोगानुष्ठानेऽभिक्रमस्यारम्भस्य नाशो नास्ति । यथा कृष्यादेर्निरुप्तबीजस्याप्तफलसम्पत्तेरतिवृष्ट्यनावृष्टिशलभादिविघ्नबाहुल्येन कचिद्विनाशो दृश्यते तथाऽस्य परमपुरुषपरितोषफलकस्य कर्मयोगानुष्ठानस्यारब्धेऽप्यन्तरायविहते फलहानिर्न भवति । काम्यकर्मणस्तु कर्तृद्रव्येतिकर्तव्यता वैगुण्ये फलाभाव इति भेदः । एवमस्य भगवत्प्रीतिप्रयोजकस्य कर्मयोगस्यारब्धेऽप्यङ्गवैकल्येनानुष्ठानवैकल्येन वा यथा प्रत्यवायप्रयोजकीभूताभावप्रतियोगिनां नित्यकर्मणामनुष्ठाने प्रत्यवायो न विद्यते तादृशः प्रत्यवायो नैव विद्यते । परमपुरुषमुद्दिश्यानुष्ठीयमानानां कर्मणां प्रत्यूहव्यूहं स एव स्वयं विघटयति । तदुक्तं स्वयमेव 'योगक्षेमं वहाम्यहमि'ति । अत एवोक्तं यतिसार्वभौमैः श्रीराघवानन्दाचार्यैः 'शश्वद् भक्तसमूहस्य सद्योगक्षेमवाहिने । प्रधानपुरुषेशाय राघवेन्द्राय मङ्गलम् ॥७८॥ (श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमाला) इति । एतेन यथा संस्कारपापनिवृत्त्यन्यतरोद्देश्यकविधिविहितत्वेन

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

ज्जन्ममृत्युभीतेः । त्रायते रक्षति । विच्छेदे निष्फलत्वात् प्रत्यवायावहत्वादमृतत्वानापादकत्वाच्च नान्येषां लौकिकानां वैदिकानाञ्च कर्मणामेतादृशत्वमिति भावः ॥ ४० ॥

काम्यकर्मबुद्ध्यपेक्षया मोक्षोपायभूतनिष्कामकर्मबुद्धेर्वैशिष्ट्यमाह—व्यवसायात्मिकेति । हे कुरुनन्दन ! इह मुमुक्षु-

नैयमिकाग्निहोत्रादेः सन्ध्यावन्दनादेश्च नित्यस्य जातेष्ट्यादेश्च नैमित्तिकस्य कर्मणो नित्यत्वेनावश्यकत्वेन चानुष्ठेयत्वं तथाऽस्यापि परमेश्वरप्रसत्तिप्रयोजकस्य कर्मयोगस्येति दर्शितं भवति । किञ्चास्य भगवदाराधनात्मकस्य धर्मस्य कर्मयोगाख्यस्याल्पमप्युपक्रान्तः कियदंशोऽपि महतो भयात्संसारबन्धनात्त्रायते पालयति । भक्तिवशीकृतभगवत्प्रसत्तिर्निखिलतूलाराशिं प्रबलप्रभञ्जनप्रोज्वलितवह्निकणिकेव कात्स्न्येंन सांसारिकक्लेशपाशानुन्मूलयतीत्यर्थः। एतदेवोक्तं श्रीभागवते ‘ यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः । तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ’ इति । तस्मादस्मिन्नुदीर्यमाणकर्मयोग एव धियं धारयेति भावः ॥४०॥

एवं सार्धश्लोकेन परमपुरुषप्रसादफलककर्मयोगावगाहिन्या धियो माहात्म्यमभिधायेदानीमनेन फलकामनयानुष्ठितकर्मविषयकबुद्धेस्तद्वैशिष्ट्यमुपपादयति—**व्यवसायात्मिकेति** । हे कुरुनन्दन ! अनेन सम्बोधनेनापवर्गसाधने सम्प्रतिपन्नधियस्तवेदानीं सार्थकतामुपेतं कुरुनन्दनत्वमिति गीताचार्याशयो व्यज्यते । इह परमपुरुषाराधनरूपे कर्मयोगे व्यवसाया-

भिराचरणीये भगवदाराधनात्मके शास्त्रीये कर्मणि । व्यवसायात्मिका “ देहाद्यतिरिक्तोऽणुज्ञानस्वरूपोऽहं भगवतः श्रीरामस्य दासः । मम स्वामी जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूपस्तदुदयावनलयलीलः परात्परतरः सर्वेश्वरो हेयप्रत्यनीकोऽनवधिकातिशयदयादिकल्याणगुणोदन्वान् निग्रहानभिज्ञानन्तकरुणावरुणागार-

त्मिका परोपासनयाऽवश्यं स मे निश्रेयसं विधास्यतीति निश्चयात्मिका बुद्धिरेकैव । ननु परमपुरुषसाक्षात्कारलक्षणमोक्षस्य तु ‘ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः’ (मु. ३।१।८) इत्यादिश्रुतिसाध्यत्वात् । किमत्र कर्मणि निश्चयात्मिकयैकया धियेति चेन्न प्रकृतश्रुतिघटकज्ञानप्रसादस्य तत्पदोत्तरतृतीयया साक्षात्साधनत्वबोधितेऽपि तादृशज्ञानस्य प्रसन्नतावाप्तये साक्षात् परम्परयावाऽखिलकर्मणामुपयोगः। तदेवोक्तं पारमर्षे सूत्रे ‘ अपि संराधनं प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ’ (ब्र. सू. ३।२।२३।) संराधन ह्यत्राहर्दिवं फलाभिसन्धिरहितकर्माचरणसहकृतभगवदर्पितमनोवाक्कायैस्तदेकचिन्तनस्तवनार्चनादिकर्मानुष्ठानम् । तथा च भाष्यम्—“ संराधनं सम्यगाराधनं प्रीतिपूर्वकं तदेकचिन्तनं तस्मिन् सत्येवास्य साक्षात्कारो भवति नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञायते ।” (आनन्दभाष्यम् ३।२।२३) इति । एवञ्च नित्यनैमित्तककाम्यकर्म्मणां भगवत्प्रसत्तिसाध्यनिःश्रेयसैकफलायानुष्ठितत्वादेकफलगोचरधियः सुतरामेकत्वम् । ननु यथा व्यवसायात्मिकाबुद्धिः स्वपरस्वरूपपारमार्थ्याध्यवसायसम्पादिकैका तथैव काम्यकर्मविषयिणी धीरप्येकैव भवितुमर्हति । शरीरान्तरे तत्फलानुभवकामनयैव काम्यकर्मणामनुष्ठानात् ।

भूताया भगवत्याः श्रीसीतायाः पतिर्ब्रह्मापरपर्यायो भगवान् श्रीरामोऽनेन स्वाराधनात्मकेन फलाभिसन्धिवर्जितेन कर्मणाऽवश्यं मे मुक्तिं विधास्यति संसारबन्धनादस्मादि"ति निश्चयो व्यवसायः। तादृशव्यवसायात्मिका बुद्धिः। एकाऽऽग्नेयादिविषयकबुद्धिरिवैकफलोपायविषयकत्वेनैकविधा। न तु व्यक्त्यैक्या-

काम्यकर्मफलसिद्धये शरीरातिरिक्तत्वेनात्मपरिज्ञानमावश्यकम्। तथा चेयमप्यात्मानात्मयाथात्म्यनिश्चयज्ञापिकेत्यस्या धियः कथं नैकत्वमिति चेत्सत्यमियमपि देहातिरिक्तमात्मस्वरूपमवगमयति। किन्त्वागमापायिनो देहादेः पार्थक्येनात्मनः स्थिरत्वात् फलभोक्तृत्वमत्र सम्भवतीत्येतावतैवात्र परिज्ञानेन प्रयोजनसिद्धौ नाधिकस्वरूपविवेचनया किमपि तद्बुद्धिमतःफलम्। तेन देहाद्यभिमानवतोऽप्यत्र काम्ये कर्मणि तत्तत्फलकामनया सम्प्रवृत्तिरित्यनध्यवसायैव सा बुद्धिः। नित्यनिरुपाधिकापहतपाप्मत्वपरप्रकारत्वादिधर्मविशिष्टमात्मनः स्वरूपमवगच्छतस्तु परमपुरुषप्रसादैकफलकामेनाखिलकर्मानुष्ठानमित्युभयोरपि बुद्ध्योर्महद्वैषम्यम्। तस्मान्मोक्षसाधनैकोद्देश्येनानुष्ठीयमानकर्मगोचरधियोऽवश्यमेवैकत्वम्। स्वर्गादितत्तदिष्टलाभलोभेनानुष्ठीयमानकाम्यकर्मविषयिण्या बुद्धेरेकस्मिन् फलेऽस्थिरत्वादनेकत्वमित्याह—**बहुशाखा इति।** अव्यवसायिनां विभिन्नफलोपलिप्सयाक्रान्तमनस्कतयैव फलाध्यवसायहीनानां कामिनां बुद्धयो बहुशाखा 'जाया मे स्यादथप्रजायेयाथ वित्तं मे स्यात्' इत्यादि श्रुतिनिदर्शितफलकामनाभेदेन भिन्नाः। फलानन्त्येनानन्ता अगण्याश्च भवन्ति। अयम्भावः। परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षे साक्षा-

द्विषयैक्यात् समूहगोचरत्वाद्वैका सेति भावः। अव्यवसायिनामुक्तविधनिश्चयापेतानाम्। बुद्धयः। अनन्ताः स्वर्गादिफला-

त्साधनभूतविद्योत्तेजकतया यज्ञादिकर्मणामुपयोगः। तमेतं वेदानुवचनेनेत्यादिश्रुत्या दर्शितः। तानि च विद्यासहकारिभूतानि कर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यरूपाणि मुमुक्षुणानुष्ठितानि मोक्षैकोपायविद्योपकारीणीत्येकमेव मोक्षाख्यं फलं जनयन्ति। न च सन्ध्यावन्दनादेः प्रत्यवायपरिजिहीर्षाप्रयोज्यानुष्ठानकर्मत्वलक्षणमवश्यकर्तव्यत्वमेव नित्यनैमित्तिकयोः प्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च तयोः फलाभावः सिध्यति। काम्यकर्मणस्तु फलकामनाप्रयोज्यानुष्ठीयमानत्वात् फलवत्त्वेन विद्याङ्गतयोपकारकत्वं स्यादित्यतो नित्यनैमित्तिकयोर्निष्फलत्वान्न विद्योपकारकत्वमिति वाच्यम् नित्यनैमित्तिककर्मणामपि कर्मविशेषाद्यनुष्ठानयोग्यतापादकशुद्धिजननद्वारा परम्परया विद्यासाधकफलोत्पादकत्वम्। अत एव धर्मशास्त्रकाराः 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलमाप्नुयात्॥' (व्यासः) पूर्वां सन्ध्यां जपन्तिष्ठेनैशमेनो व्यपोहति। पश्चिमान्तु समासीनो फलं हन्ति दिवाकृतम्॥' (मनुः) इत्यादिवचनैर्नित्यादिकर्मणामिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारलक्षणफलसाधनत्वं ध्रुवममिदधुः। तस्मात्फलाभिसन्धिम्परिहायैव मुमुक्षुभिर्निःश्रेयसैकफलसाधनत्वधिया नित्यनैमित्तिकरूपाणां कर्मणां 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' (ब्र. सू. ३।४।३२) इति न्यायानुमोदितत्वात्काम्यकर्मणाञ्चापि तत्तत्फलाशामुत्सार्य 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥' (वि. पु.) इत्यादिवचनबलाद्भगवदाज्ञापालनविधया यथा-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

नामानन्त्यादनन्तप्रकाराः । बहुशाखा एकस्मिन्नपि कर्मण्यवान्तरफलानां बहुत्वाद्बहुप्रकाराः । भवन्ति ॥ ४१ ॥

द्रुतं मोक्षोपाये प्रवर्त्तकान्तरैहिकामुष्मिकविषयवैराग्यमुत्पादयितुं काम्यकर्मफलासक्तान् निन्दति—यामितित्रिभिः ।

शक्त्याऽनुष्ठानमावश्यकम् । तथा सत्याधिकार्यभेदाद्विनियोगपृथक्त्वेन नित्यानित्यसंयोगविरोधोऽपि परिहृतो भवति ॥ ४१ ॥

एवमपवर्गोपायकर्मयोगगोचरधियः फलकामनाधीनधियां काम्यकर्मजुषामव्यवसायिनां धियो वैशिष्ट्यमभिहितम् । अथ तच्चिकीर्षासाधनाधिकार्यादीनां साम्यादव्यवसायिनामपि कथं व्यवसायात्मिका धीरुदेतीत्याशंकायामाह—**यामिति त्रिभिः** । पार्थ ! इति ससम्बन्धिकशब्दसम्बोधनेन वक्ष्यमाणार्थे गौरवमेकान्तिकत्वञ्च व्यज्यते । यतस्त्वं मत्पितृष्वसुर्धर्मज्ञायाः पृथायास्तनयोऽत इदं रहस्यमपि तुभ्यमभिधीयत इति तात्पर्यम् । वेदवादरताः वेदपदमत्र कर्मकाण्डात्मकभागपरम् । तद्भागे हि प्रलोभनफलाफलश्रुतयोऽधीयन्ते । ‘ पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति ’ ‘ पशुबन्धयाजी सर्वाँल्लोकानभिजयति ’ ‘तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते

हे पार्थ ! वेदेषु वादा वेदवादास्तेषु रता वेदवादरताः[1] स्वर्गादिवादासक्ताः । अन्यन्नास्तीति वादिनोऽन्यत् स्वर्गादेरुत्कृष्टमपवर्गाख्यं फलं न विद्यते इत्येवं भाषणशीलाः । कामेष्वात्मा येषां ते कामात्मानः कामाख्यपुरुषार्थासक्तचेतसः । विषयासक्तचित्ता

य उ चैनमेवं वेदेति ’ ‘ अपामसोमममृता अभूम ’ अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति’ इत्यादयस्तासु विशिष्टफलश्रवणात् । तदुद्दिश्य ये वादास्तेषु रतास्तत्परा नान्यदस्तीतिवादिनः श्रुतिप्रतिपाद्यस्वर्गादिफलादधिकं किमपि नास्तीतिवक्तारः। जराजर्जरितकरणकलेवराणामत एव कायिकेन्द्रियकबलविधुराणां कामिन्यादिवियोगशोकसन्तापतप्तानामकर्मण्यानां सरसं सुसुखं क्षणमुच्छ्वसितुमेव मोक्षसुखोपदेशः । न मोक्षसुखं वास्तविकं किञ्चिदस्ते स्वर्गादिसुखादित्यनुदिनं प्रलपनशीलाः कथमेवं मिथ्याप्रलापिन इत्याह—कामात्मानः काम्यन्त इति कामा ऐन्द्रियकविषयास्तेष्वात्मा मनो

श्रीसीतारामाभ्यां नमः ।

अथ वैष्णवभाष्यकारस्वामिश्रीवैष्णवाचार्यवेदान्ततीर्थविरचिता

गूढार्थदीपिका ।

सीतानाथसमारब्धां निजाचार्यपरम्पराम् ।
नत्वा कुर्वे सुबोधाय गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥ १ ॥

१ अत्र ‘ वेदवाद ’ इत्येतस्य फलार्थवादविषयतया स्वर्गादिकफलककर्मविषयकवैदिकवाक्यपरतया वा ‘ वाचम् ’ इत्येतस्य तु विधिभागविषयतया स्वर्गादिफलककर्मविषयकलौकिकवाक्यपरतया वाऽङ्गीकारान्न पुनरुक्तिदोषप्रसङ्गः ॥

इत्यर्थः । स्वर्गः परो येषां ते स्वर्गपराः स्वर्गमेवोत्कृष्टं पुरुषार्थं मन्यमानाः । अविपश्चितः स्थिरास्थिराविवेकादल्पज्ञाः । भोगैश्वर्यगतिं प्रति भोग ऐश्वर्यं तस्य गतिं प्रति । स्वर्गाद्यनुभवलक्षणैश्वर्यावाप्तिं प्रति । वर्त्तमानां । पुष्पितां पुष्पमात्रफलाम् । आपातरमणीयामित्यर्थः । जन्मकर्मफलप्रदां 'यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते' (छां. ५।१०।५) 'न केवलं

येषान्ते कामात्मानो विषयवशीकृतान्तःकरणाः । नन्वमृतपदाभिधेयमोक्षस्यापि कामविशेषत्वात्तन्मनस्का अपि स्युरेवेत्याह—स्वर्गपराः स्वर्गः नन्दनोद्यानदिव्याम्बरगन्धमाल्यललामललनालयः परः सर्वोत्कृष्टो येषान्ते तथाऽऽपातरम्यफलस्वर्गासक्तमनस्कत्त्वादपवर्गपदे धृतानादरा इति भावः । कथमेवं जानन्तोऽपि व्यामोहवन्तो भवन्ति यतोऽविपश्चितो विगतं पश् कर्मबन्धनं यस्मात् (येन) तद्विपश् आम्नायिकं ज्ञानं तच्चिन्वन्तीत्याम्नायिकज्ञानवन्तो न विपश्चितोऽविपश्चितः सम्यगाम्नायबोधविधुरा ज्ञानलवाभिमानजनितदुर्विचारधारणयाऽनर्थग्राहिण इति यावत् । जन्मकर्मफलप्रदां जन्म प्राक्तनकर्मपारवश्यात्करणकलेवरादिसम्बन्धलक्षणमनुशयविशेषनिबन्धनं "तदेव सक्तः सहकर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य, प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे (बृ. ४।४।६) न केवलं द्विजश्रेष्ठ ! नरके दुःखपद्धतिः । स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः ॥ (वि. पु.) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां वासनानुसारि जन्मोपादत्ते । तदायत्तं सुवृत्तदुर्वृत्तादिरूपं

द्विजश्रेष्ठ ! नरके दुःखपद्धतिः । स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः ॥' (वि. पु. ३।५।५०) इत्यादिश्रौतस्मार्तवचनात् स्वर्गादिफलावसाने 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति ॥' (मु० १।२।७) 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्त रमणीयां योनिमापद्येरन् ।' (छां. ५।१०।७) 'ततः परिवृत्तो कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं

कर्मानुतिष्ठति । एवं जन्मकर्माख्यफलप्रदां तथा क्रियाविशेषबहुलां तत्तत्कामनामाश्रित्य चातुर्मास्यराजसूयविश्वजिदश्वमेधादिक्रियाविशेषा बाहुल्येन यस्यां गतौ तां भोगैश्वर्यगतिं प्रति भुज्यन्त इति भोगा दिव्याम्बरासनवसनवाहनाशनपानोपचिततरुणीविलासादयस्तेषामैश्वर्यमाधिपत्यं तस्यगतिरवाप्तिस्तामुद्दिश्य यामिमां यामिति यत्पदस्य तयेत्युत्तरेण तत्पदेन योजना । इमामितिपदं सन्निकृष्टाभिप्रायकम् ! 'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्ति चैतदोरूपम्' इत्यभियुक्तोक्तेः । तथा च 'नान्यदस्तीत्यादिलक्षणा तदीयवाग्गृह्यते । पुष्पितां सर्वं वाक्यं सावधारणमिति नियमादब्भक्ष इतिवत् पुष्पितामेव श्रवणमात्रेण कर्णसुखावहां प्रफुल्लकुसुमपलाशद्रुमवद्दर्शनमात्रैकफलां वस्तुतो निष्फलां वाचं चमत्कृतिजनकशब्दाडम्बरमण्डितां वाणीं प्रवदन्ति । तया पुष्पितया वाचाऽपहृतं विनष्टं चेतो विवेकबुद्धिर्येषां तेषामपहृतचेतसां धर्मिपरोऽपि चेतः शब्दोऽत्र धर्मलक्षणः धर्मिणश्चेतसो विनाशे शरीरस्य स्थातुमशक्यत्वात् । भोगैश्वर्यप्रसक्तानां भुज्यन्त इति भोगा ऐहिकपारलौकिकविषया

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते' (आपस्तम्बधर्मे २। १। २) इत्यादिशास्त्रोक्तमनुशयमनुसृत्य पुनरस्मिँल्लोके फलाय कर्माचरितुं जन्मरूपकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां तत्त्वज्ञानवैधुर्यादग्निहोत्रादिक्रियाविशेषप्राचुर्यवतीम्। यामिमां

ऐश्वर्यं क्षेत्रागारकलत्रापत्यभृत्यप्रभुत्वं तयोरेव प्रसक्तास्तानेव भोगान् क्षेत्रागाराद्यैश्वर्यं च बहुमन्यमानास्तेष्वभिमानवन्तस्तेषां समाधौ सम्यगाधीयतेऽस्मिन् तत्वज्ञानमिति व्युत्पत्त्या समाधिश्चित्तं तत्र व्यवसायात्मिका वेदशिरोभागब्रह्मकाण्डाध्ययनसमुद्भूतपरमपुरुषाराधनात्मककर्मयोगावगाहिनी बुद्धिर्नोदेति। तदुक्तमेकादशे—'एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः। फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥ कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः। अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते॥ न ते मामङ्ग! जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः। उक्थशास्त्रा ह्यसुत्रपो यथा नीहारचक्षुषः॥ इति॥

नन्वखिलजगद्धितानुशासनप्रवृत्तेन मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरेण महताम्नायेन कथमेवमियं लोकोपकारविरुद्धप्रवृत्त्या मृदुबुद्धिव्यामोहजनन्या वाण्या जनप्रतारणा क्रियते। न हि स्वबालवत्सलया जनन्या हृद्यं स्वशिशुमेकेन शयेनसानुक्रोशं लालयन्त्याऽपरेण करेण च निरनुक्रोशं तदीयकोमलक[illegible]ोल्योश्चपेटिका प्रदीयते। तथानुष्ठातुर्मातुरुन्मत्ततैवानुमता भवेल्लौकिकेषु सभ्येष्विति चेन्मैवम्। अनभिज्ञो भवान[illegible]ौरुषेयवेदराशेरतिगभीराशयस्य। सत्यमनादिनिधनावच्छिन्नपाठसम्प्रदायो दिव्याम्नायोऽखिलजगद्धितमेवानुशास्ति। किन्तूत्तममध्यमाध-

वाचं स्वर्गादिफलश्रुतिम्। प्रवदन्ति। तया। अपहृतचेतसामपहृतं चेतो येषां तेऽपहृतचेतसस्तेषामपहृतमनसाम्। अपह्नुतात्मपरमात्मज्ञानानामित्यर्थः। अत एव भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्। समाधौ समाधीयत उत्पाद्यत आत्मपरमात्मज्ञानं यस्मिन्निति समाधिर्मनस्त-

माधिकारिभेदभिन्नं जगन्नह्येकेनाभ्युपायवचसा प्रवर्तयितुं शक्यमिति शिष्यधीवैशद्यानुगुणामेवोपदेशवाचमाचष्टे। तया नित्यमुन्मार्गगामिनां बहिर्मुखप्रवृत्तिमतां केषाञ्चिद्वैदिकाचारविचारविनिन्दकानां स्वस्मिन् श्रद्धासम्पादनायाभिचारादीनि कर्माणि विधत्ते। आसुरं भावमाविष्टाश्च ते दुष्टास्तथाविधं कर्मोपलक्ष्याशु तादृशफललाभाय तदनुष्ठाने संनह्यन्ते। ततो निष्पन्ने फले वैदिकेषु जातविश्रम्भास्ते दिव्याङ्गनास्वैरविहारकांक्षयाऽखिले कर्मकाण्डे श्रद्दधते। एवं कृत्स्नेष्वप्याम्नायवचस्सु श्रद्दधानास्ते 'तद्यथेह कर्मचितो लोकःक्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिवचो विचारयन्तः कर्मफलस्य क्षयिष्णुतामवधार्य्य नित्यनिरतिशयफले मोक्षसाधनानुष्ठाने सानुरागं सविधि प्रवर्तन्ते। एवं सावेशमशेषाम्नाये जातानुरागाँस्तान् निधिदर्शनन्यायेन भगवान् वेदः परमपुरुषार्थम्प्रापयति। यथा पुत्रहिताशंसी पिता कापुरुषमपि स्वतनयं स्थानान्तरे स्वनिगूहितं निधिं दिदर्शयिषुरादौ स्वस्थानादारभ्य निधिस्थलं यावत्पिपीलिकापंक्तिक्रमेण ताम्रकार्षापणानि निधत्ते। पितर्युपरते धनार्थी तत्तनयः कार्षापणलाभलोभेन तदुन्नयने प्रवृत्तः शनैरक्षयनिधिं स्वयमेवाप्नोति। तथैवाखिललोकस्याज्ञानान्धतमसोत्सादनायाम्नायभास्करः समुज्जृम्भते। तस्माद्विरक्तैः फला-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

स्मिन् । व्यवसायात्मिका प्रागुक्ता । बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यते । अतो मुमुक्षुणैहिकामुष्मिकविषयप्रदा काम्यकर्मासक्तिः सर्वथा त्याज्येतिभावः ॥ ४२–४३–४४ ॥

नन्वधोऽवस्थामापन्नानाञ्जीवानामुज्जीवनमेवोद्दिश्य हितानुशासने प्रवर्त्तमाना वेदा अल्पास्थिरफलकानि संसारप्रयोजकानि

सक्तिम्परिहाय परमपुरुषार्पणबुद्ध्या सकामनिष्कामकर्मणामनुष्ठानमवश्यं कर्त्तव्यम् । अभिहितं चैवमेव श्रीटीलाद्वारपीठसंस्थापकाचार्यैः श्रीमत् साकेतनिवासाचार्यापरनामधेयैर्जगद्गुरुश्रीटीलाचार्यैर्व्रतिराजैः प्रबोधकलानिधौ—“ सत्सङ्गः क्रियतां तथा सुकृतिभिः काम्या कृतिस्त्यज्यतां
पापेभ्यश्च विरम्यतामसुखहृद् रामः समाश्रीयताम् ॥” इति ।
ऊचुश्चेत्थमेव श्रीअनुभवानन्दद्वारपीठसंस्थापकाचार्या जगद्गुरवःश्रीमदनुभवानन्दाचार्या अपि श्रीगीतार्थसुधायाम्—
“ प्रोक्तौ देहात्मबुद्ध्या स्वजनममतया बालिशे मोहशोकौ
क्षीयेते तौ च बोधात् फलमतिरहितात् कर्मणः सोऽपि सिध्येत् ।”
इति ॥ ४४ ॥

ननु यदि वेदोदितकर्मणां फलमर्थवादमात्रं भवेत्तर्हि बुभुक्षोर्मुमुक्षोश्च कर्मणि प्रवृत्तिर्न स्यादित्यप्रामाण्यं निर्विषयत्वञ्च वेदानामापन्न-

च कर्माणि किमर्थमुपदिशन्तीत्याशङ्कायामाह—त्रैगुण्यविषया इति । वेदा अनाप्तानुच्चरिता मन्त्राद्यात्मका अनादिनिधना ऋगादिसंज्ञामवाप्ता वाचः । त्रैगुण्यविषयास्त्रयो गुणा एव त्रैगुण्यं तद्विषयो येषां ते त्रैगुण्यविषयाः । अत्र त्रैगुण्यशब्द उपचारात् त्रिगुणप्रचुरान् पुरुषानभिधत्ते । यद्वा त्रयो गुणा येषान्ते त्रिगुणास्त एव त्रैगुण्यास्ते विषया येषान्ते तथोक्ताः । स्वस्मिन्नप्रामाण्यबुद्ध्याऽनुपायमुपायतयोपादाय विनाशं नावाप्नुयुरिति तत्तदधिकारानुगुण्येन सत्त्वरजस्तमःप्रचुराणाञ्जीवानां हितावबोधका इत्यर्थः । हे अर्जुन ! त्वं निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात् स निष्क्रान्तस्त्रैगुण्यादिति वा निस्त्रैगुण्योऽन्योन्यसङ्कीर्णगुणत्रयरहितः । भव ।

मित्यत आह—त्रैगुण्यविषया इति द्वाभ्याम् । वेदा मंत्रब्राह्मणभेदभिन्ना साध्यसाधनविधया धर्मब्रह्मोभयप्रतिपादकापौरुषेयवाक्यस्वरूपास्ते त्रैगुण्यविषया त्रयोगुणा एव त्रैगुण्यं स्वार्थे ष्यञ् उपचारात्त्रिगुणकार्यभूताः सर्वेऽपि पुरुषा गृह्यन्ते । यद्वा त्रयोगुणा येषान्ते त्रिगुणाः पुरुषाः । गुणपदमत्रगीताशास्त्रानुसारेण सत्वादित्रिगुणपरम् । ‘ गुणागुणेषु वर्तन्ते’ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्’ इत्यादिषु तथा दर्शनात् । तेषां कर्म त्रैगुण्यम् । ‘ गुण वचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च’ इति पाणिनीयेन कर्मणि ष्यञ् । त्रैगुण्यं विषयो येषां ते त्रैगुण्यविषयाः । प्राकृतेऽस्मिन् जगति सर्वेऽपि पुरुषा गुणानुगुण्येन चेष्टन्ते । गुणानां स्वरूपं कार्यञ्च ‘ तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्’ इत्यादिभिरत्र चतुर्दशाध्यायेऽभिहितम् । तथैवेश्वरकृष्णकारिकायां सांख्यैरप्युक्तम् ‘ सत्वं लघु प्रका-

रजस्तमोऽस्पृष्टशुद्धसत्त्वप्रचुरो भवेत्यर्थः। तदुपायमाह—निर्द्वन्द्व इति । निर्द्वन्द्वो भव सुखदुःखादिद्वन्द्वशून्यो भव। द्वन्द्वसहिष्णुर्भवेति भावः। नित्यसत्वस्थो नित्यं कदाचिदपि रजस्तमोऽनभिमतं यत् सत्वं तत्स्थो भव। शुद्धसत्वप्राचुर्यमवाप्नुहीत्यर्थः। कथमित्यत्राह—निर्योगेति। निर्योगक्षेमः। अनवाप्तस्यावाप्तिर्योगः। अवाप्तस्य च परिरक्षणं क्षेमः। तदुभयरहितः सन्। निर्गतात्मपरमात्मावाप्तिसाधनातिरिक्तवस्तुसम्बन्धियोगक्षेमः सन्नित्यर्थः। आत्मवान् भवात्मपरमात्मस्वरूपान्वेषको भव। यद्वा “न देहो न च प्राणरूपो न बुद्धिर्न बुद्धीन्द्रियं नैव कर्मेन्द्रियं वा। न रक्तं न मांसं न चाप्यस्थि मज्जा

शकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः । गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ (सां. का. १३) इति । एषां स्वभावादेवाभिभवानभिभवाभ्यामेकस्य प्राधान्यमपरयोश्चाप्राधान्यं जायते । तदप्युक्तम् ‘रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत । रजः सत्वं तमश्चैव तमःसत्वं रजस्तथा’ (गी. १४।१४) इति। तत्र यदा तमो विवर्धते रजःसत्वयोरभिभवो भवति तदा तामसः पुरुषस्तथाविधे कार्ये प्रवर्तते । एवं राजससात्विकयोरवगन्तव्यम् । तमःप्राधान्ये हिंसामोहप्रमादादीनुप सेवते । रजःप्राधान्ये विषयानुरागलोभतृष्णादिष्वासज्जते । सत्वप्राधान्ये च ज्ञानवैराग्यपरेशानुरक्तिषु प्रवर्तते । एवं गुणाधिकारतारतम्यात्सर्वलोकवत्सलोऽपि वेदस्तद्धितसाधनसमर्थां क्रियां विधायाभिव्यनक्ति स्वकीयं वात्सल्यम् । यथा पुत्रहितैषिणा पित्रा यूने स्वपुत्राय सन्मार्गे प्रवर्तयितुं

परं रामचन्द्रस्य दासश्चिदात्मा ॥” (चिदात्मप्रबोधः) इत्याचार्यपादश्रीचिदानन्दाचार्योक्तरीत्याऽहमात्मा देहादिभिन्नः सर्वेश्वरस्य भगवतः श्रीरामस्य दासश्चास्मीत्यात्माभिमानवानुभय-

तदीप्सितं धनादिकमवश्यमेव प्रदीयते । अन्यथा चौर्यादिषु क्रूरकर्मसु रागात्प्रवर्तमानं को हि निरोद्धुं शक्नुयात् । ननु तत्तदनुरागिभ्यस्तत्तद्रुच्यनुगुणफलप्रदानेन किमुपकृतं वेदेन । प्रत्युताधर्मवृद्धिरेव कृता भवेत् । यतोऽधर्मरुचिरेव प्रायः सर्वोऽपि जनो दृश्यत इति चेन्न वेदविहितानुष्ठानेन तामसराजसा अपि विशुद्धिमासाद्य कालेन सात्विकतामुपयान्ति । अन्यथा स्वाच्छन्द्यात्तेषामधोगतेः सम्भवात् । एवं त्रिगुणपुरुषाणां हितानुशासनेऽखिलाम्नायस्योपयोगोऽवगन्तव्यः । एषां मध्ये त्वं निस्त्रैगुण्यो भव विशुद्धसत्वप्रधानो भव । अथैवमपि त्रैगुण्यान्तःपातित्वमेवायातम् । त्रैगुण्यबाह्यावस्थित्युपदेशो त्ववैदिकोपदेश इत्युभयतः पाशारज्जुरिति चेन्न निस्त्रैगुण्यो भवेति वाक्यस्य नावैदिकानुष्ठापने तात्पर्यम् । न वा संकीर्णत्रिगुणकर्मानुष्ठापनेऽपि । किन्तु रजस्तमःस्पृशो व्यवहारा एव निषेधविषयाः । सामूहिकत्रिगुणकर्मानुष्ठाने हि त्रैगुण्यपरत्वमुद्रिक्तसात्विकाचारे तु निस्त्रैगुण्यत्वमेव । नन्वेवं सति राजसतामसाचाराणामपि प्रातिस्विकरूपेण निस्त्रैगुण्यत्वं सिद्ध्येदिति वाच्यम् । सिद्ध्यतु नाम किन्नश्छिन्नम् । प्रकृते तु यादृशं निस्त्रैगुण्यमपेक्ष्यते तादृशं शब्दतः स्वयं स्पष्टीक्रियते ‘निर्द्वन्द्व’ इत्याद्यग्रिमवाक्यनिचयेन । त्रैगुण्यविषया इति वाक्यन्तु सामस्त्येनाम्नायविषयमाचष्टे । अतो न विरोधः । यद्वा प्रत्येकस्य गुणस्य गुणान्तर

विभूतिनायकः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीराम एव ममोपास्यो नाथश्चेति परमात्माभिमानवाँश्च भव ॥ ४५ ॥

संयोगतारतम्याद् द्वैविध्यमस्ति । यत्र रजःसत्वयोगसत्वेऽपि तमसोऽनभिभूततया तस्य प्राधान्येऽप्यनुद्रिक्तत्वम् । क्वचिच्च संयोगवैलक्षण्यादुद्रिक्तत्वमिति भेदः । एवं रजःसत्वयोरपि बोध्यम् । तथा च यत्र द्वाभ्यामनभिभूतत्वेनैकस्य प्राधान्येऽप्यनुद्रिक्ततायां तदनुगुणकार्यकारित्वं तत्र त्रैगुण्यपदव्यपदेश्यता यत्र तु द्वाभ्यमनभिभूतत्वेनैकस्य प्राधान्येऽपि तदुद्रिक्ततास्ति तत्र निस्त्रैगुण्यव्यपदेश्यतेति वस्तुस्थितिः । प्रकृते चार्जुनायोद्रिक्तसत्ववान् भवेत्युपदिशति भगवान् गीताचार्यः । उत्तरत्र ‘ निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योग ’ इत्यादितदुपोद्बलकवाक्यानामुपादानात् । अर्जुनशब्दसम्बुद्धितात्पर्यलब्धो विशेषोऽस्य सत्वप्राचुर्य्यमिति केचित् । निस्त्रैगुण्यो भवेति च निष्क्लेशो भवेतिवत् न केवलं वाङ्मात्रेणाशास्ते ब्रूते वाऽपि तु तत्र हेयोपादेयादिनिर्दिशन्नियोजयति निर्द्वन्द्व इत्याद्युत्तरवाक्यैस्तथार्थविधाननिश्चयात् । केचित्तु त्रैगुण्यमेव विषं त्रैगुण्यविषं तद्यापयन्ति तिरस्कुर्वन्ति ते त्रैगुण्यविषया एवं विधा वेदाः । कर्मकाण्डे तादृशत्रिगुणसम्बन्धिस्वर्गादिफलमुपवर्णितम् । तदेव विरक्तस्य । ब्रह्मप्रेप्सोर्विषमिव जरामरणपर्यवसायित्वेन बन्धहेतुत्वात् तदुपनिषद्विभागेन दूषयन्ति वेदाः । अतस्त्वं निस्त्रैगुण्यो भव स्वर्गादिफलं त्रैगुण्यविषं तिरस्कुर्वतां वेदान्तवाक्यानामर्थं भज । वेदोत्तरभागावसेयब्रह्मविद्यापरायणो भवेति यावदिति व्याचक्षते । निर्द्वन्द्वः साम्येन सुखदुःखसहिष्णुः समदुःखसुखः स्वस्थः (गी. १४।२४) इत्यन्यत्र निर्दिष्टत्वात् ।

वेदेषु मोक्षसाधनमेवोपादेयं मुमुक्षोरिति सदृष्टान्तं प्रतिपादयति—यावानिति । यथा । सर्वतः परितः । सम्प्लुतं समग्रमुदकं यस्मिँस्तत्तस्मिन् संम्प्लुतोदके तदाकांक्षावद्भ्योऽखिलेभ्योऽधिकारिभ्यः पानस्नानाद्यखिलप्रयोजनेभ्यो वा परिकल्पिते पूर्णोदके । उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं तस्मिन्नुदपाने कूपे । यावानर्थो यत्परिमाणकमुदकमिष्यते तावत्परिमाणकमेव

नित्यसत्वस्थः गुणान्तरानभिभूतोद्रिक्तसत्वविशिष्टो सदा विशुद्धबोधमनोनैर्मल्यादिसम्पन्न इति यावत् । निर्योगक्षेमोलभ्यलाभो योग । लब्धस्य परिरक्षणं क्षेम । तथा च भगवत्स्वरूपातिरिक्तविषयलाभात्मकयोगमधिकं मन्यमानस्तद्रक्षणप्रयत्नविरहितः । आत्मवान् परमात्माराधनसाधनेषु तत्परो भव । एवमनुष्ठिते सत्वोद्रिक्ततया सर्वथा तवेष्टसिद्धिर्भविष्यतीतिभावः ।

ननु वेदविहिताकरणे प्रत्यवायो दुरुद्धर इत्यत आह—**यावानिति ।** यथा पानमज्जनाद्यर्थिनः सर्वतः सर्वविभागेषु संप्लुतोदके परिपूर्णोदके उदपाने । उदकं पिबन्त्यस्मिन् ‘ करणाधिकरणयोश्च ’ (पा. सू. ३।३।११७) इत्यधिकरणे ल्युट । ‘ उदकस्योदः संज्ञायाम् ’ (पा. सू. ६।३।५१) इत्युदादेशः । विशिष्टकूपस्येयं संज्ञा । कूपे यावानर्थः स्नानपानादिक्रियार्थै यत्परिमाणकमुदकमिष्यते तत्परिमाणकमेव तदुपादीयते । सत्यप्यगाधे पानीये नाखिलं न वा कामनातोऽधिकम् । अत्र श्रीधरकेशवकाश्मीरिभट्टादिभिरुदपान इत्यस्य वापीकूपतडागादावित्यर्थोऽभिहितः । स च न संगच्छते संज्ञायामेवोदकस्योदादेशविधानात् । संज्ञा चेयं कूपस्यैव । पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानन्तु

तदादीयते । पिपासुः प्रयोजनपरिमाणमेव जलं गृह्णाति कूपान्नाधिकमित्यर्थः । तथा । विजानतो हेयोपादेयविषयकज्ञानसम्पन्नस्य । मुमुक्षोरित्यर्थः । अणति कीर्त्तयतीत्यणो ब्रह्मणो वेदस्याणो ब्रह्मणः स एवब्राह्मणस्तस्य ब्राह्मणस्य वैदिकस्य । सर्वेषु कर्मब्रह्मप्रतिपादकेषु । वेदेषु । यावान् यदेव मोक्षसाधनतया

पुंसि वा ' इति कोषात् । तथैव विजानतो हिताहितविज्ञानविशिष्टस्य । हितं हि ससाधनमुपेयस्वरूपविज्ञानम् । तच्चाम्नायशिरोभागपर्यालोचनजन्यम् । तदतिरिक्तमुपेयप्राप्तिप्रत्यूहरूपत्वादहितमिति विवेकः । ननु क्षत्रियत्वजात्यवच्छिन्नमर्जुनम्प्रत्युपदिश्यते न तु ब्राह्मणत्वजात्यवच्छिन्नम्प्रतीति कथं ' ब्राह्मणस्य विजानत ' इति वाक्यं संगच्छतामत आह—ब्राह्मणस्येति । अणतीत्यणःपचादेराकृतिगणत्वादच् । ब्रह्मणो वेदस्याण इति विग्रहे शकन्ध्वादेराकृतिगणत्वादत्र पररूपे प्रज्ञादिभ्यश्चेत्यणि वृद्धौ च ब्राह्मण इति शब्दो निष्पद्यते । तस्य सार्थकाम्नायाध्ययनकर्तुर्ब्रह्मप्राप्तये तत्प्रतिपादकवेदान्तविचारपरायणस्य मुमुक्षोः सर्वेषु कर्मब्रह्मोभयप्रतिपादकेषु वेदेषु यावानर्थः यावत्प्रयोजनमपवर्गोपयोगि तावदेवोपादेयं न सर्वं न वा स्वाधिकारानर्हम् । अयम्भावः । विशिष्टफलमुद्दिश्यैवाम्नाये कर्माणि विधीयन्ते यथा ' वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते ' साकं प्रस्थाप्येन यजेत पशुकामः ' ' दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् ' ' वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत ' तत्र यस्य पुत्र एव नास्ति स किमर्थमिमामिष्टिं निर्वपेत् । एवं पशुसमृद्धिर्यस्यापेक्षिता चेत्स साकं प्रस्थाप्येन, सत्सु अनेकपशुषु किमर्थमिममनुतिष्ठेत् । एवं प्रयो-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥४७॥

विहितम् । तावान् तदेवोपादेयम् । अनधिकृतत्वान्मोक्षेतरस्वर्गादिफलसाधनमनुपादेयमेव मुमुक्षोरिति भावः ॥ ४६ ॥

तावानित्येतस्यार्थं स्फोटयति—कर्मणीत्यादिना । ते नित्यसत्वस्थस्य मुमुक्षोस्तव । कर्मण्येव वेदविहितनित्यनैमित्तकादिकर्मानुष्ठान एव । अधिकारः । कदाचन कदाचिदपि । फलेषु कर्मसाध्येषु स्वर्गादिफलेषु । मा तेऽधिकारो मा भूदि-

जनाभावात्तादृशकर्माननुतिष्ठतोऽपि न तस्य विहितत्यागजन्यप्रत्यवायो भवति निष्कामत्वात् । न वा तद्विधायकस्य वेदस्याप्यप्रामाण्यं तत्फलकामिनम्प्रति चारितार्थ्यादिति सर्वं सुस्थम् ॥ ४५–४६ ॥

ननु यावत्प्रयोजनं तावदेव वेदेषूपादेयञ्चेन्निःश्रेयसार्थिना ब्रह्मविद्यैवोपादेया न संसृतिफलकं कर्मेति चेत्तत्राह—**कर्मणीति ।** ते तवात्मवतः परोपायप्रवृत्तस्यापि कर्ममात्रे नित्यनैमित्तिककर्मणोराश्रमधर्मतयाऽपेक्ष्यमाणकाम्यकर्मणश्चानुष्ठानेऽधिकारोऽस्ति । कर्मपदमत्र कर्मानुष्ठानपरम् । ननु कर्मानुष्ठानेऽवश्यम्भाविनस्तत्फलस्यापि भोक्तव्यतयाऽनिवार्यः पुनः कर्मबन्ध इत्याशंकायामाह—**मेति द्वितीयपदवाक्यम् ।** फलेषु तेऽधिकारो माभूत् । फलस्पृहयानुष्ठिताना कर्मणां बन्धप्रदत्वात् । फलेच्छाविरहितानां परमपुरुषाराधनोपयुक्तानां तेषामपवर्गप्रयोजकत्वादिति भावः । फलपदमप्यत्र फलेच्छोपलक्षकम् । नन्वसत्यामपि फलस्पृहायामनुष्ठितकर्मणाम्फलन्त्ववश्यमुत्पद्येत तद्भोगोऽप्यावश्यक इत्यनिवार्यः संसृतिक्ले-

त्यर्थः । फलमुद्दिश्यानुष्ठितानां कर्मणां बन्धहेतुतया फलमपहाय मोक्षसाधनत्वाद्भगवदाराधनात्मकानि नित्यनैमित्तिकादीनि शास्त्रविहितानि कर्माणि त्वनुष्ठेयान्येवेतिभावः । कर्मफलहेतुः कर्म च फलश्च कर्मफले तयोर्हेतुः कारणम् । मा भूस्त्वं न भव । कर्मणि कर्तृत्वाभिमानः फलेऽनुरागः स्वीयत्वाभिमानो वा सर्वथा परिहरणीय इत्यर्थः । अकर्मणि युद्धादिस्व-

श इतिचेत्तत्राह—**मेति तृतीयपादवाक्यम्** । फलाभिसन्धिमन्तरेण क्रियमाणे कर्मणि त्वं कर्तृत्वावेशभाङ् माभूस्तथाऽनुष्ठीयमानस्य कर्मणो दैवादापद्यमाने फलेऽपि हेतुरनुरक्तिधारणया मा भूः । एवञ्चेन्निष्फले कर्मणि प्रवृत्तेरपेक्षयाऽनाचरणमेव श्रेय इति चेत्तत्राह—**मेति तुरीयपादवाक्यम्** । ते तव क्षत्रियस्य वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानमावश्यकम् । अतो विधायकशास्त्रमनादृत्याकर्मणि 'न योत्स्य' इत्यादिकं यदुक्तं तत्र सङ्गो मास्तु वर्णाश्रमकर्मणो युद्धादेर्निवृत्तिलक्षणाऽसङ्गता हेयेति भावः । ननु कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्येवकारव्यवच्छेदादेव 'माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इति वाक्यविहितस्यार्थस्य निष्पन्नत्वेनेदं वाक्यं किमर्थमिति चेदुच्यते कर्मण्येवेत्येवकारेण व्यवच्छेद्यता यद्यप्युपरिष्टात् पादत्रयोक्तानां फलादीनाम्फलति तथापि स्पष्टप्रतिपत्तये 'दिवैव भोक्तव्यं न रात्रौ न सायं न निशीथ' इतिवत् विधिमुखेनाभिधाय निषेधमुखेनकथनं लोकरीत्यनुकूलम् । किञ्च पूर्वश्लोके निस्त्रैगुण्यत्वोक्तेर्नित्यसत्वस्थत्वोक्तेश्चाव्यवहितपूर्वश्लोके च यावत्प्रयोजनं तावदेव वैदिकस्योपादानमिति निर्णीतत्वादत्र कर्मण्येवाधिकारस्त इति वाक्यावसेयतात्पर्यं नित्यनैमित्ति-

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

वर्णाश्रमधर्माणामननुष्ठाने । ते तव । सङ्ग आसक्तिः । मा न । अस्तु । धर्मानुष्ठानविषयासक्तिरेव तेऽस्त्विति भावः ॥४७॥

प्रोक्तमर्थं विवृणोति । हे धनञ्जय ! कर्मसु संगमासक्तिं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा जयपराजययोः हर्षविस्मयौ परित्यज्य योगस्थः सन्नशेषाणि कर्माणि कुरु । योगश्चात्र समत्वरूपमुच्यते ॥ ४८ ॥

ककाम्यकर्मसु मुमुक्षुणा यथामर्यादं सात्विकान्येव कर्माण्यनुष्ठेयानीति युद्धादेर्विरतिरेवापद्येतेत्याशयेनाह—**मेति चतुर्थपादवाक्यम्** ॥ ४७ ॥

पूर्वत्र 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणी'त्युक्तं तेन युद्धनिवृत्त्याद्यकर्मणि सङ्गस्त्याज्यो नान्यत्रेत्यादिरूपो भ्रमो माभूदित्यतस्तत्स्पष्टयति—**योगस्थ इति** । हे धनञ्जय ! अनेन दिग्विजये भूपान् विजित्य धनमानीतवानसि तस्मात्तव जय एवेति पराजयभीर्न कार्येति सूच्यते । संगं त्यक्त्वा क्रियमाणेषु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मसु फलकामनाम्परित्यज्य । स च संगः कथं त्यक्तव्य इत्यत आह—सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा कृतानां कर्मणां फलस्य लाभालाभयोः साम्यमाश्रित्य योगस्थः सन् कर्माणि कुरु । योगश्चात्र परप्राप्तेरभ्युपायः स च समभावापन्ने मनसि सम्पद्यतेऽतः साम्यमेवात्र योग इत्याह समत्वमिति अनेकेष्वर्थेषु योगशब्दस्य प्रयुक्तत्वादत्रायमेवार्थ इति भावः ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

काम्यकर्मापेक्षया निष्कामं कर्म श्रेष्ठमित्याह—दूरेणेति। हे धनञ्जय ! बुद्धियोगाद् बुद्ध्याऽऽत्मपरमात्मयाथात्म्यावबोधहेतुकमुख्यफलत्यागावान्तरफलसिद्ध्यसिद्धिसाम्यगोचरधिया योगो यस्य तत्तथाविधं तस्मादेतादृशबुद्धियुक्तात् कर्मणः। निष्कामकर्मण इत्यर्थः। कर्म काम्यं कर्म। दूरेणात्यन्तम्। अवरमपकृष्टम्। हि। अपरिमितदुःखाम्भःपरिपूर्णसंसारपारावारात् समुत्तार्य परमपुरुषार्थात्मकमोक्षापादकत्वान्निष्कामकर्मणां परमोत्कर्षः काम्यकर्मणान्तूक्तविधसंसारसागरे निपातनशीलत्वादत्यन्तापकर्ष इत्यर्थः। अतो बुद्धौ शरणं वासस्थानम्। अन्विच्छ। तस्यामेव तिष्ठेत्यर्थः। फलहेतवः *फलं हेतुर्येषान्ते फल-

हे धनञ्जय ! बुद्धियोगाद् धर्मिपरो निर्देशः निरुक्तसाम्यबुद्धियुक्तात्कर्मणो भिन्नं कर्म संसारसम्पादकत्वाद् दूरेणावरं परमापकृष्टमस्ति। प्रोक्तबुद्धियोगस्तु प्रचण्डमार्तण्ड इव सवासनमज्ञानान्धतमसमुच्छिनत्ति। अतोऽस्य परमोत्कृष्टत्वम्। तस्मात्त्वमस्यां बुद्धावेव शरणमाश्रयमन्विच्छ। फलमुद्दिश्य कर्मानुतिष्ठन्तः सांसारिकभोगानुरागिणः पुरुषास्तु कृपणा दीना दयनीया एवाज्ञानपराहतत्वादिति भावः ॥ ४९ ॥

गू.दी.—*कर्मानुष्ठातॄणां फलहेतुत्वं तु स्वकर्मद्वारा बोध्यम्।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

हेतवः फलकामनया कर्मानुष्ठातारः। कृपणा दीनाः। बुद्ध्यनाश्रितत्वात्ते मोक्षमनवाप्य संसरणमाप्नुयुरितिदयनीया एव इति भावः ॥ ४९ ॥

बुद्धियोगयुक्तस्य श्रेष्ठतामाह—बुद्धियुक्त इति। बुद्धियुक्तो बुद्ध्या युक्तो बुद्धियुक्तः प्रागुक्तबुद्ध्युपेतः। इहास्मिञ्जन्मनि। उभे। सुकृतदुष्कृते सुकृतञ्चदुष्कृतञ्च सुकृतदुष्कृते अनादिकालात् सञ्चिते बन्धकारणे पुण्यपापसंज्ञके कर्मणी। जहाति त्यजति। अलौकिकत्वविशिष्टानिष्टसाधनत्वेन पापवत् पुण्यस्यापि हेयत्वमेव। तस्मात्। योगाय प्रागुक्तबुद्धियोगाय। युज्यस्व यत्नं विधेहि। कर्मसु क्रियमाणेषु कर्मसु। योगो बुद्धियोगः। एव। कौशलमतिसामर्थ्यम्। बुद्धियोगवैधुर्ये बन्धजनकमपि कर्म बुद्धियोगवैशिष्ट्ये भगवदाराधानात्मकतया मोक्षापादकं भवतीति भावः ॥ ५० ॥

बुद्धियुक्तः साम्यबुद्धिसमन्वितो ज्ञानी सुकृतदुष्कृते बन्धनकारित्वात्पुण्यपापे—नरकादिप्रापकानां कर्मणां फलं पापं यथा हेयं परत्र बन्धकरत्वेन दुःखप्रदत्वात्तथा स्वर्गादिसाधकसुकृतमपि हेयम् परत्र बन्धकरत्वाविशेषात्। उभे इह जहाति 'तत्सुकृत दुष्कृते धुनुते' (कौ. १। ४) इति श्रुतेः। तस्माद् दुःखोदर्कभवबन्धनोन्मूलनाय योगाय प्रोक्तबुद्धियोगाय युज्यस्व प्रयत्नं कुरु। कर्मसु योगोऽयं बुद्धियोग एव कौशलमतिसमर्थः ॥ ५० ॥

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अथ बुद्धियुक्तश्रेष्ठतायाः विवरणं करोति—**कर्मजमिति**। बुद्धियुक्ताः प्रागुक्तबुद्धिसमन्विताः। मनीषिणस्तत्त्ववेत्तारः। भगवत्प्रीत्यर्थं भगवदाराधनात्मकानि कर्माणि सम्पादयन्तोऽपि। कर्मजं कर्मजन्यम्। फलं स्वर्गादिरूपं फलम्। त्यक्त्वा। जन्मबन्धविनिर्मुक्ता जन्मना जन्मैव वा बन्धो जन्मबन्धस्तेन विनिर्मुक्तास्तथाविधः सन्नासनं जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः। अनामयं न विद्यन्ते आमया व्याधयोयस्मिन् तदनामयं तत्तथाभूतमुपद्रवापेतम्। पद्यते गम्यत इति पदं 'तद्विष्णोः परमं पदमि'त्यादिश्रुतिप्रतिपादितं नित्यधाम मुक्तोपसृप्यं भगवन्तं श्रीरामं प्राकरणिकं जीवस्वरूपं वा। गच्छन्ति समाप्नुवन्ति। हि सर्वासूपनिषत्सु प्रसिद्धम् ॥ ५१ ॥

ज्ञानासाध्यस्यानामयपदस्य लाभः कर्मणा कथमित्याशङ्का-

बुद्धियोगस्य फलमाह—**कर्मजमिति**। प्रागुक्तो योऽसौ साम्यबुद्धियोगस्तद्युक्ता मनीषिणः परमपुरुषाराधनज्ञानवन्तः कर्माण्यनुतिष्ठन्तोऽपि कर्मजं फलं संसरणहेतुभूतं त्यक्त्वा जन्माख्येन बन्धेन विनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं हि पदं जन्मजरामरणादिरोगरहितं 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

कदैतत्सिद्धं भविष्यतीत्याह—**यदेति**। एवं फलाशाम्परिहृत्य

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

यामाह—**यदेति**। यदा। ते प्रागुदितप्रकारेण कर्मानुष्ठातुस्तव। बुद्धिश्चित्तम्। मोहकलिलं देहादावहंममभावलक्षणमोहरूपं कालुष्यम्। व्यतितरिष्यति स्वाराधनात्मककर्मानुष्ठानेन तुष्टिमापन्नस्यानन्तकरुणावरुणालयस्य भगवतः श्रीरामस्य कृपया विशेषेण तरिष्यति। तदा श्रुतस्य मादृशाप्ततमसकाशाद्धेयतयाऽऽकर्णितस्य श्रोतव्यस्य श्रोष्यमाणस्य चार्थस्य कृते। निर्वेदं वैतृष्ण्यम्। गन्तासि स्वयमेवावाप्स्यसि ॥५२॥

अथ कर्मयोगस्योद्देश्यं योगाभिधेयं फलमभिदधाति—**श्रुतीति**। श्रुतिविप्रतिपन्ना श्रुत्याऽऽप्ततमाकारणबन्धुसर्वेश्वरत्वविशिष्टमत्तः श्रवणेन विप्रतिपन्ना विशेषेण प्रतिपन्नाऽऽत्मपरमात्मापवर्गोपायरूपस्ववर्णाश्रमकर्मयाथात्म्यविषयकतामापन्ना। अचलैकरूपा। देशकालविषयदोषैरपहतिमप्राप्तेत्यर्थः।

भगवदर्पणबुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठतो भगवत्प्रसादमहिम्ना ते तव बुद्धिर्यदा मोहमयं दुर्गमस्थानं 'गुरुबन्धुस्वजनैः कथं योद्धव्यम्' 'एतेषां हनने महत्पापमुपेष्यामि' इत्यादिरूपं व्यतितरिष्यति पारं गमिष्यति। तदा श्रुतस्य त्याज्यतयाऽऽकर्णितस्य श्रोतव्यस्याकर्णयितव्यस्यार्थस्य च कृते निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि प्राप्स्यसि ॥ ५२ ॥

अथ कर्मयोगस्य लक्ष्यं योगसंज्ञकं फलमाह—**श्रुतीति**। श्रुतिविप्रतिपन्ना श्रुत्या विप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपपन्ना मत्तः श्रवणेन विशेषेण प्रति-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किम्प्रभाषेत किमासीत व्रजेतकिम् ॥५४॥

ते तव। बुद्धिर्मतिः। समाधौ फलाभिसन्धिवर्जितकर्मानुष्ठानेन परिशुद्धे मनसि। यदा। *निश्चलाऽविच्छेदमवाप्ता। स्थास्यति। तदा। योगं योगाख्यमात्मावलोकनम्। अवाप्स्यसि प्राप्स्यसि। "शास्त्रादात्मज्ञानं भवति। तत्पूर्वकेण कर्मयोगेन स्थितिप्रज्ञताभिधाना ज्ञाननिष्ठोत्पाद्यते। सा योगाख्यमात्मसाक्षात्कारं जनयति।" इत्येवंरूपः क्रमश्चात्रावगन्तव्यः। ततश्च 'साधनतया विधीयमानस्य योगस्य साध्यतया कथनमयुक्तम्।' आत्मज्ञानपूर्वकेण कर्मयोगेनात्मज्ञान एव साधित आत्माश्रयः।' इत्यादिशंकाप्रसङ्गपङ्को दूरतः परित्यक्त एव भवेत् ॥ ५३ ॥

अथार्जुनः का नाम कर्मयोगसाध्या योगसाधनभूता च स्थितप्रज्ञता ? कथञ्च तद्विशिष्टः पुरुषोऽनुतिष्ठतीत्येतत् पर्यनु-

पन्ना। अचलैकरूपा। ते: तव। बुद्धिरात्मयाथात्म्यविषया मतिः। समाधौ निष्कामकर्माचरणेन निर्मले मनसि। यदा। निश्चला स्थिरतामापन्ना। स्थास्यति। तदा योगमात्मावलोकनम्। अवाप्स्यसि ॥५३॥

एवमुपेयस्वरूपोपायभूताया निश्चलप्रज्ञाया महत्वमवधार्य्य स्थितप्रज्ञाविशिष्टस्य विशिष्टस्वरूपादिपरिज्ञानायार्जुन उवाच—**स्थितप्रज्ञस्येति।** कश्चेशश्च केशौ विधिकपर्दिनौ वापयत्युत्पादयति ज्ञापयति वा केशव-

गू. दी.—*अत्र 'नयने तस्यैव नयने' इत्यादिवदुद्देश्यविधेयगतयोरचलनिश्चलशब्दयोर्न पौनरुक्त्यदोषप्रसङ्गः।

युङ्क्ते—स्थितप्रज्ञस्येति। हे केशव ! समाधिस्थस्य समाधौ शीतोष्णादिद्वन्द्वजन्यविकाराभावात्मकसाम्यापन्ने मनसि तिष्ठतीति तथोक्तस्तस्य। साम्ययोगेन मनो वशीकृत्य स्थितस्येत्यर्थः। स्थितप्रज्ञस्य स्थिता स्थिरतामापन्ना प्रज्ञा यस्य स तथाभूतस्तस्य। भाष्यतेऽभिधीयतेऽनयेति भाषा स्वरूपवाचकः शब्दः कः ? स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं किमित्यर्थः। स्थिता धीर्यस्य स स्थितधीः स्थितप्रज्ञः। किं प्रभाषेत ? कथम्भूतया वाचा व्यवहारं कुर्यात्। वाचिकक्रियाप्रकारविषयकः प्रश्नोऽयमिति बोध्यम्। किमासीत् ? कथमुपविशेत् ? आसनस्य ध्यानार्थतया मानसक्रियाप्रकारविषयकः प्रश्नोऽयम्। किं व्रजेत् ? कथञ्च गच्छेत् ? कायिक-

स्तत्सम्बुद्धौ हे केशव ! अनेन ब्रह्मशिवादीनामपि जनको ज्ञानदश्च लोकगुरुरसि तस्मान्मां जिज्ञासुं त्वमेवोपदिशेति गम्यते। समाधिस्थस्य साम्ययोगजन्यमनःसमाधानयुक्तस्य स्थितप्रज्ञस्य स्थिता विषयविलासेषु चाञ्चल्यं विहाय स्थिराबुद्धिर्यस्य तस्य का भाषा ? भाष्यते प्रोच्यतेऽनयेति भाषा स्वरूपनिरूपकतटस्थलक्षणं किमिति प्रथमप्रश्नः। तथा स्थितधीः समाहितमना व्युत्थानकाले किम्प्रभाषेत ? किमाकारया वाचा व्यवहरेत् ? किमासीत ? केन प्रकारेण चोपविशेत् ? व्रजेत् किम् ? कथं वा व्रजनं कुर्यात् ? संसारिणां यादृशा मनोवाक्कायव्यवहारा भवन्ति तादृशा एव समाहितचेतसस्ततो विलक्षणा एव वेति प्रश्नाशयः। अत्र क्षेपार्थकाश्चेमे किंशब्दा इति कैश्चिदुक्तं तन्नोपपद्यते प्रकरणविरुद्धत्वात्। न हि जिज्ञासोरर्जुनस्याक्षेपवागुदाहरणं प्रश्नावसरे संगच्छते।

श्रीभगवानुवाच-

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

क्रियाप्रकारविषयकः प्रश्नोऽयम् ॥ ५४ ॥

अथ स्वस्वरूपपरिचायिकां स्थितप्रज्ञस्य वृत्तिमाह—प्रजहातीति । हे पार्थ ! । आत्मनाऽऽत्मैकावलम्बिना परिशुद्धेन मनसा । आत्मनि प्राकृतदोषवर्जिते विज्ञानघने 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति प्रतीतिसाक्षिके सुखस्वरूपे स्वात्मनि 'आनन्दमयोऽभ्यासादि'तिवैयासिकन्यायानुमोदिते 'रमन्ते योगिनेऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्राह्मभिधीयते" इत्यादिश्रुत्युक्ते च निरतिशयानन्दमये सच्चिदानन्दात्मके निखिलहेयप्रतिभटेऽनन्तकल्याणगुणोदन्वति सर्वान्तरात्मनि सर्वेश्वरे भगवति श्रीरामे वा । तुष्टः सन्तोषम-

तस्मात्क्रियाविशेषणीभवन्त इमे शब्दाः प्रकारवाचिन एव ॥ ५४ ॥

एवं समाहितात्मनोऽसम्प्रज्ञातसमाधिमनुतिष्ठतः किं लक्षणं वैयुत्थानिकाश्च तदीय वागादिव्यवहाराः कीदृशा इत्येवमर्जुनजिज्ञासितप्रश्नेषु प्रथमस्योत्तरमभिधातुं श्रीभगवानुवाच—**प्रजहातीति द्वाभ्यां।** स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमाह—हे पार्थ ! यदा मनोगतान् प्राक्तनकर्मपरिपाकवशाद् वासनानुमोदितसंस्काररूपेणावस्थितान् सर्वान् कामान् काम्यन्त इति कामाः । ते च वाह्यान्तरभेदेन द्विविधा भवन्ति । तत्र बाह्या इन्द्रियवृत्तिनिरोधेन निरोद्धुं शक्याः । मनोभूमौ जायमानास्तु दुर्निग्रहाः खल्वान्तराः । तेषां प्रहाणमृते

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

वाप्तः । मनोगतानात्मपरमात्मव्यतिरिक्तान् सर्वान् मनःस्थितान् । कामान् काम्यन्त इति कामास्तान् कामान् प्राकृतशब्दादीन् विषयान् । यदा प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति । "शब्दरूपरसस्पर्शगन्धेषु विषयेषु यः । अनादरः स तत्त्वज्ञैर्विमोकः परिकीर्तितः ॥" इति साधनदीपिकोक्तविमोकाख्यभक्तिसाधनविशिष्टो यश्च भवतीत्यर्थः । तदा । अयम् । स्थितप्रज्ञः । उच्यतेऽभिधीयते । ज्ञाननिष्ठकाष्ठामापन्नः स्थितप्रज्ञलक्षणसम्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अथ ज्ञाननिष्ठस्य सन्निहितामवस्थामाह—दुःखेष्विति ।

भगवदनुग्रहान्न भवति । यदा तु परमपुरुषानुरक्तिरञ्जितं चित्तं तदेकतानं जायते तदैवाशेषान्मनोऽवस्थितान् कामान् प्रजहाति । तदुक्तं काठके—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (का. २।३।१४) श्रुतेरर्थं विवृण्वन्नाह—आत्मनीति । आत्मना विनष्टकामसंकल्पेन मनसाऽऽत्मनि स्वान्तरवस्थिते परमात्मन्येव भगवद्दर्शनजनिताह्लादाम्भोधिनिमग्नो यदा यस्यामवस्थायां सम्पद्यते तदा तस्यामवस्थायां स्थितप्रज्ञ इत्युच्यते । एतेनाऽत्र ब्रह्मसमश्नुते इत्यंशस्याप्यर्थो विवृतो भवति । एभिर्लक्षणैः स्थितप्रज्ञो महात्माऽवगन्तव्य इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरम् ॥ ५५ ॥

एवं स्थितप्रज्ञस्योत्तमावस्थायाःस्वरूपमभिधाय तदनन्तरभाविनीम-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

दुःखेष्वाध्यात्मिकादित्रिविधदुःखनिमित्तेषु प्राप्तेष्वपि । अनुद्विग्रमना अनुद्विग्नं क्षोभमाप्राप्तं मनो यस्य स तथोक्तः। सुखेषु सुखहेतुष्विष्टसंयोगादिषु सन्निधिं गतेष्वपि । विगतस्पृहो विगता स्पृहा यस्य स विगतस्पृहः स्पृहारहितः। वीतरागभयक्रोधोऽनवाप्तेषु स्पृहा रागः। प्रियगमनाप्रियागमनवारणाशक्तिमत्त्वेन ग्लानिर्भयम् । प्रियगमनाप्रियागमननिमित्तकान्यदुःखजनकमनोविकारः क्रोधः । रागश्च भयश्च क्रोधश्च रागभयक्रोधा वीता रागभयक्रोधा

वस्थामाश्रयाणस्य तस्यैव पुनः स्वरूपमुपदिशति–दुःखेष्विति । केचित्तु किम्प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह—दुःखेष्विति द्वाभ्यामिति । तन्मन्दम् । 'स्थितधीर्मुनिरुच्यते' इति पूर्वान्वयिवाक्यशेषात् 'यः सर्वत्रेत्याद्युत्तरश्लोकेच 'किम्प्रभाषेत' इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरतया य इत्युपक्रमात् । तत्रैव 'नाभिनन्दति न द्वेष्टी' त्यभिनन्दनादेः प्रभाषणैकज्ञाप्यत्वात्तदभावस्यात्रोदीरणाच्च प्रजहातीत्यादिनारब्धं स्थितप्रज्ञलक्षणमेवात्राप्युपदिश्यते । यः सर्वत्रेत्यत्र तु किम्प्रभाषेतेति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमिति विवेकः। स्थितप्रज्ञस्यैव योगिनोऽभ्यासतारतम्याच्चतस्रोऽवस्थाश्चतुर्भिश्लोकैरुच्यन्त इत्यस्मद्गुरुचरणाः । एतदनुपदमग्रे स्फुटीकरिष्यते । दुःखेषु कायिकवाचकमानसेषु त्रिविधेष्वपि दुःखेषु प्रारब्धाधीनोपगतेषु नोद्विग्नं मनो मानसं यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः एवं सुखेषु सुखोत्पादकेष्वपीष्टमिलनादिषु विगतस्पृह आकांक्षारहितो वीतरागभयक्रोधः इष्टवस्तुन्यासक्तिविशेषो राग इष्टानिष्टवस्तुनोर्विनाशे समागमे च तत्प्रतीकाराक्षमतया मनसि ग्लानिर्भयं न तु प्रियाप्रियविश्लेषागमनिमित्तं दुःखं भयम् तस्य दुःखेष्वित्यनेनैव

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यस्य स वीतरागभयक्रोधो निरुक्तरागभयक्रोधशून्यः । मुनिरात्मपरमात्ममननशीलः । स्थितधीः स्थितप्रज्ञः । उच्यतेऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

अथ तत्पूर्वावस्थापन्नं स्थितप्रज्ञमाह—य इति । यः । सर्वत्र सर्वेषु प्रियेषु वस्तुषु । अनभिस्नेहः स्नेहरहितः । तत्तद् । शुभाशुभमनुकूलाननुकूलम् । प्राप्य समुपलभ्य । नाभिनन्दति न प्रशंसति । प्रियसंयोगस्याप्रियवियोगस्य च प्रशंसां न करोतीत्यर्थः । न द्वेष्टि द्वेषं न करोति । प्रियवियोगमप्रियसंयोगश्च

गतार्थत्वात् । स्वविरुद्धव्यवहारे तामसवृत्तेरुदयान्मनोविज्वलनं क्रोधः । इमे ह्यर्वाग्दृश आत्मानात्मविवेकविधुरस्यैवोत्पद्यन्ते । समुपासितभगवच्चरणन्तु नैव स्पृशन्ति । तदुक्तमेकादशे–विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते । मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ (१४।२७) इति । एवंविधो मुनिः स्वपरस्वरूपमननशीलः स्थितधीरुच्यते ॥ ५६ ॥

किम्प्रभाषेतेति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमभिधत्ते—य इति । यो ज्ञानवैराग्यादिसाधनसम्पन्नो मुनिः सर्वत्र स्वजीवनोपायभूतेषु वस्तुषु अनभिस्नेहः प्रियाभिलाषरहितस्तत्तच्छुभाशुभं प्राप्य नाभिनन्दति न द्वेष्टि स्वेष्टलाभमवाप्य हर्षोद्रेकादभिनन्दनं वाचा प्रशंसारूपं न करोति तथाऽशुभमनिष्टापादकमवाप्य तस्मिन्मात्सर्याज्जातरोषो वाचैव न तन्निन्दति । निन्दनाभिनन्दने वाग्विशेषप्रवर्तिते स्यातामतस्तद्राहित्यमत्र विवक्षितम् ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

न निन्दतीत्यर्थः। सर्वत्रौदासीन्यमेवावलम्बत इति यावत् । तस्य पुरुषस्य । प्रज्ञा मतिः । प्रतिष्ठिता स्थिरताम्प्राप्ता । भवति । सोऽपि स्थितप्रज्ञ एवेतिभावः ॥ ५७ ॥

ततोऽपि पूर्वावस्थामापन्नं स्थितप्रज्ञमाह—यदेति । यदा-

तथा च स्थितप्रज्ञस्य प्रभाषणमपि प्रियाभिलाषाविष्टप्रशंसारहितमप्रिय-रोषदोषाविष्टनिन्दारहितं मितं सर्वजनीनं भवतीति भावः । तस्य तथा-भूतस्य रागद्वेषशून्यस्य मुनेः प्रज्ञा विवेकप्राग्भारा बुद्धिः प्रतिष्ठिता विज्ञेयेति शेषः ॥ ५७ ॥

अथ किमासीतेति तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—**यदेति** । यदा व्युत्थितावेव चायं मुमुक्षुरिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सर्वश इन्द्रियार्थेभ्यः श्रोत्रादीन्द्रियाणां येऽर्थाः शब्दादयस्तेभ्यः प्रशान्तवाहितां मनसः स्थितिं सम्पाद्य विषयेभ्यः कूर्मो यथा स्वाङ्गानि भयहेतावुपस्थिते सति संहरते स्वान्तरवस्थापयति तथा ‘दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्’ (मनु.) इत्युक्तरीत्या प्राणायामाद्यभ्यासादिन्द्रियदोषेषु प्रदग्धेषु प्रत्याहृत्य स्वात्मशरीरकपरमात्मनि शुभाश्रये स्थापयति चेत्तस्यापि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ज्ञेया । तादृशप्रज्ञाविशिष्टोऽपि स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । तदेवोक्तं पुराणरत्नेऽपि—‘शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित् । कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥ वश्यता परमा तेन जायते हि बलात्मनाम् । इन्द्रि-

ऽयमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः सर्वेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिविषयेभ्यः संहरते प्रत्याहरति । तदा

याणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः ॥ प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः । वशीकृतैस्ततः कुर्यात्स्थितश्चेतःशुभाश्रये ॥ (वि.पु.६) इति । अयम्भावः । परमपुरुषार्थापेक्षिणो योगिनश्चत्वारः शास्त्रेषु परिगण्यन्ते । प्रथमकल्पिकमधुभूमिकप्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयाश्चेति । एषु चतुर्ष्वप्यभ्यासवैराग्ये साधनत्वेनापेक्षणीये एव । योगस्य हि चित्तवृत्तिनिरोधरूपत्वात् । तस्य चाभ्यासवैराग्याभ्यामेव निष्पत्तिः । तदुक्तं । पाताञ्जलेऽपि—‘अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध’ इति । तत्रैहिकपारत्रिकविषयेषु दोषदर्शनेन वैतृष्ण्यमुत्पद्यते किन्तु तावन्मात्रमेव न निरोधसाधकं वैराग्यं शक्यते वक्तुम् । व्याध्यादिनाऽपि कचिद्वैतृष्ण्यमुत्पद्यते । ततो हि न मनोनिरोधाख्यो योगो निष्पद्यते । एवं दोषदर्शनानन्तरमपि विषयसम्पर्कान्मनःक्षोभे सौभर्यादीनां योगानिष्पत्तेश्च । तस्माद्विरक्तिर्दोषदर्शनादितिस्मृतेर्विरक्तिमात्रं जायते । इयञ्च विरक्तिर्यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियसंज्ञाभिस्त्रिविधा व्यपदिश्यते । इतोऽपि वशीकारसंज्ञाख्यं तुरीयवैराग्यमन्यदेव बोध्यम् । एवं साधनतारतम्याच्चतुर्भूमिकाविशिष्टमिदमेकमेव वैराग्यमुच्यते । तत्र सर्वाणीन्द्रियाणि तत्तद्विषयेभ्यः समाकुञ्च्य विरक्तिपूर्वकं मनसः स्वस्वरूपे स्थापनं हि यतमानसंज्ञाख्यारम्भिका प्रथमा भूमिका । इमाञ्च यदा संहरते चायमित्यादिना श्लोकेनाभ्यधात् । अत ऊर्ध्वं द्वितीया व्यतिरेकसंज्ञाख्या भूमिका। सा हीष्टानिष्टवस्तुष्वभिनन्दनद्वेषयोर्व्युदसनेन जितानामिन्द्रियाणां व्यतिरेकावधारणयोग्यता । एताञ्च ‘यःसर्वत्रानभिस्नेह’

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

तस्य पुरुषस्य प्रज्ञा मतिः प्रतिष्ठिता स्थिरतां प्राप्ता भवति । सोऽपि स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

अथ स्थितप्रज्ञताया दौर्लभ्यं तत्प्राप्त्युपायश्चाभिधत्ते—**विषया इति । निराहारस्यान्नाद्यनश्नतः । देहिनः शरीरिणः।**

इत्यादिश्लोकेनोपादिक्षत् । तृतीयभूमिकैकेन्द्रियसंज्ञाख्या—श्रोत्रादीन्द्रियविषयेषु शब्दादिषु रागादिनिवृत्या कामक्रोधलोभमोहभयाभिमानादीनां सर्वथा संक्षयान् निरभिलाषतयाऽवस्थानमिमामपि दुःखेष्वनुद्विग्नमना इत्यनेनान्वशिषत् । तुरीया भूमिका च कामनाराहित्येन हेयोपादेयशून्या परमानन्दधाम्नि परमपुरुषे मनोऽवस्थितिरूपा वशीकारसंज्ञाख्या । एताञ्च प्रजहाति यदा कामानित्यादिश्लोकेन प्रत्यपीपदद् भगवान् श्रीकृष्णः । एतदुक्तम्भवति परभक्तेः साधनभूतस्य वैराग्यस्य चतुर्भूमिकाविभक्तस्यानुष्ठानाद् ध्रुवास्मृतिरुदेति ततश्च स्वपरस्वरूपं याथात्म्येन साक्षात्कृत्य विगताखिलव्यामोहोऽवाप्तसमस्तकामः परमानन्दाब्धिनिमग्नोऽक्षुब्धमनास्तिष्ठति एतदेव स्थितप्रज्ञस्य चरमस्थितिः । वेदान्तशास्त्राभिमतमेतच्चतुःसंज्ञासमन्वितं वैराग्यं हैरण्यगर्भेऽपि योगसाधनत्वेन स्वीकृतम् ॥५८॥

ननु विषयविरक्तिस्त्वनश्नतः कुयोगिनो रोगिणश्च मासिकीवार्षिकी वा दृश्यते तत्रैतल्लक्षणं स्थितप्रज्ञस्यातिव्याप्तमित्येतत्समाधत्ते—**विषया इति ।** निराहारस्याह्रियते रसनेन्द्रियेण योऽसावाहारोऽन्नादिराहरणं वाऽऽहारः पानभोजने तादृशाहारो निवृत्तो यस्य स तस्य देहिनःशरीरधारिणो

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

विषया विषिण्वन्ति निबध्नन्तीन्द्रियाणीति विषयाः शब्दादयः । रसवर्जं रसो विषयेषु रागस्तेन वर्जं यथा तथा । विनिवर्त्तन्ते । अस्योक्तलक्षणसम्पन्नस्य स्थितप्रज्ञस्य । रसोऽपि विषयरागोऽपि । परं सुखरूपतया विषयेभ्य उत्कृष्टमात्मस्वरूपं ततोऽप्युत्कृष्टं परमात्मानं वा । दृष्ट्वाऽवलोक्य । निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

रसवर्जं रसो हि विषयेषु रागो विषयसेवनस्पृहा तद्वर्जं तमेकं रागं विहायान्ये विषयाः विषिण्वन्ति विशेषेण बध्नन्ति तत्कामिनं तत्तद्भोगवासनाया ते शब्दादयो वृत्तेरनासादनेन मन्देन्द्रियसामर्थ्या विनिवर्तन्ते विनिवृत्ता भवन्ति । तेषां साक्षात्कारो न भवतीत्यर्थः । अस्य तु प्रोक्तलक्षणस्य स्थितप्रज्ञस्य रसो रागोऽपि परं परमात्मानं दृष्ट्वा निवर्तते । तदुक्तं मुंडके 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु.२।२।८) इति । केचित्त्वाहारपदं समस्तेन्द्रियविषयपरमाश्रित्य समस्तेन्द्रियविषयानाहरतो देहिनो विषया निवर्तन्त इत्यर्थमाहुस्तदपेशलम् । विषयानाहरणाद्विषयनिवृत्तिरिति त्वाबालगोपालं सर्वेऽपि जानन्ति । किम्पुनर्भङ्ग्यन्तरेणाभिधाने वैचित्र्यम् । तथा सति 'विषया विनिवर्तन्ते विषयत्यागतः क्वचित्' इत्येव ब्रूयात् । तस्मादत्र निराहारपदघटकमाहारपदं पानाशनरूपजिह्वेन्द्रियाहारमात्रपरम् । अत एवैकादशे रसनेन्द्रिये जित एव जितेन्द्रियत्वसिद्धिर्नेतरथेति स्पष्टमभिहितम् । 'तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् । न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे' इति ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अथ विषयरागनिवृत्तिंविनेन्द्रियाणां विजयस्यानर्हतामाह—यतत इति। हे कौन्तेय ! यततोऽप्यात्मानं द्रष्टुं विषयदोषात्मगुणदर्शनपूर्वकं प्राणायामादिसाधनैरभीक्ष्णं यतमानस्यापि। विपश्चितः शास्त्रजन्यहेयोपादेयविवेकशालिनः। पुरुषस्य। प्रमाथीनि प्रमथनविधायकानि। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि। प्रसभं प्रसह्य। मनो विषयानुरक्तं चेतः कर्षन्ति। 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥' इति मनुवचनानुसारेण विषयान् प्रति समाकर्षन्तीत्यर्थः ॥ ६० ॥

तस्मात्तानि सर्वाणीन्द्रियाणि मोक्षार्थिभिरादौ संयम्य सम्यग् वशीकृत्य युक्तः समाहितः सन् मत्परोऽहमेव पर उत्कृष्ट उपायतयाऽऽश्रयणीयो यस्य स आसीत। यस्माद्यस्येन्द्रियाणि

समग्रां स्थितप्रज्ञतां सम्पादयितुमादाविन्द्रियजयः परमावश्यकः। यतो हीन्द्रियाणां दुष्टाश्ववदुन्मार्गगामिनामतिदुर्जयत्वमित्याह—**यतत इति**। हे कौन्तेय ! विपश्चितो विदुषः पुरुषस्य यततोऽपि प्राणायामप्रत्याहारध्यानादिसाधनैरसकृद्यतमानस्यापि प्रमथितुं शीलमेषां तानीन्द्रियाणि विषयप्रवणानि विषयसान्निध्ये विषयविरक्तिमश्नुवानं परध्यानानुरक्तमपि मनः प्रसभं बलात्कारेण स्वरूपस्थितेः प्रच्याव्य हरन्ति। विषमविषयतरङ्गिणीप्रवाहे वाहयन्तीति भावः। तदुक्तं मानवे शास्त्रे 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षतीति ॥ ६० ॥

इन्द्रियाणि यदि प्रसह्य मनो भ्रंशकानि नतरां तर्हि कर्हिचिदपि

स्थितप्रज्ञतासम्भव इत्यत आह—**तानीति**। तानीन्द्रियाणि सर्वाण्यपि मुमुक्षुरादौ संयम्यासनप्राणायामप्रत्याहारसात्विकाहारादिसाधनैर्वशीकृत्य। संयमो ह्यत्रेन्द्रियाणां विषयग्रहणलोलुपतामात्रनिवृत्तिः। नत्वान्तरबाह्येन्द्रियविजयाख्यः पूर्णसंयमः। शाश्वतिकपूर्णसंयमस्तु 'मत्परः युक्त आसीत' इत्युच्यते। अयम्भावः। पूर्वतनश्लोकयोरिन्द्रियजयः परमात्मसाक्षात्कारश्चेत्येतद्द्वयमेव मुमुक्षुणा सम्पादनीयमित्युक्तम् तत्रेन्द्रियजये सति परमात्मदर्शनं परमात्मदर्शने चेन्द्रियजय इत्यन्योऽन्याश्रयो दुरुद्धरः सम्प्राप्तः स चानेन वार्यते। आदावासनप्रत्याहारादिभिरिन्द्रियलौल्यमुन्मूल्य भगवत्परायणतां सम्पादयेत्। अस्याश्चाभ्यासपरिपाकान्मनो विषयसन्निधानेऽपि स्वकीयं दौरात्म्यं कार्त्स्न्येनोज्झति। ततश्चोपासकस्य समस्तेन्द्रिजयपूर्वकमात्मदर्शनं चिराय सम्पद्यते। एतदेव श्रीमदानन्दभाष्ये 'युक्तः समाहितः सन् मत्परोऽहमेव पर उत्कृष्ट उपायतयाऽऽश्रयणीयो यस्य स आसीत' इत्यनेनोक्तम्। युक्तो भगवति समाहितचित्त इत्युच्यते। तदुक्तं वैष्णवे—तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ (६।८९) तस्यैव कल्पनाहीनस्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते' (६।९०) इति। एवं महाप्रयत्नेन परमात्मन एवोपायोपेयतया स्वीकृते बाह्यान्तरेन्द्रियाणां वश्यता सम्पद्यते। तस्य च फलं 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' इत्युच्यते। एवं योगसाधनवशीभूतं मनः

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

वशे स्वाधीनानि भवन्ति तस्य प्रज्ञापि प्रतिष्ठिता भवति ॥६१॥

सत्यपि वाह्येन्द्रियसंयमे यावन्मनो न निरुद्ध्यते तावदनर्थपरम्परा सम्भवत्येवेत्युच्यते—ध्यायत इति द्वाभ्याम् ।

स्वात्मसाक्षात्कारसमर्थं जायत इति भावः । केचित्तु हैरण्यगर्भयोगप्रक्रियामाहत्यैवायं भगवत उपदेशः संगच्छत इत्याहुस्तन्न वेदान्तशास्त्रेषूपनिषद्गीताविष्णुपुराणादिष्वसकृद्योगपद्धतेरुपदिष्टत्वात् । तथा हि 'शान्तो-दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ. ४।४।२३) युंजते मन उत युञ्जते धिया' (श्वे. २।४।) 'युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति' (गी. ६।१५) 'आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः । तस्य ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते' (वि.पु.६।११) 'मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः । सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् । एष वै परमोयोगो मनसः संग्रहः स्मृतः ॥' (भा. ११।२०।२१) इत्येवं वेदान्तशास्त्रीया योगपद्धतिरुपदिश्यते ॥ ६१ ॥

ननु वशीकृतबाह्येन्द्रियग्राम एव पुमानन्तरिन्द्रियं वशीकर्तुं शक्नोतीत्युक्तम् । एवं च वाह्येन्द्रियसंयन्तान्तरिन्द्रियं संयच्छति तत्संयमे

मनसा विषयानभिधायतः पुरुषस्य तेषु सङ्ग आसक्तिप्रचुरा प्रीतिरुपजायते । संगात् कामो विषयेषूत्कटाभिलाषः सञ्जायते । कामाच्चेष्टविषयानवाप्तौ क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाच्च युक्तायुक्तत्वविचारशक्तेर्विनाशात्सम्मोहो मौढ्यमुत्पद्यते । सम्मोहात्स्मृतेर्विभ्रमोऽवश्यमेव जायते; वैचित्यान्तःकरणे संस्कारविप्लवात्स्मृतेरुदयस्यादर्शनात् । स्मृतिभ्रंशाच्च बुद्धेः परमात्मानुसन्धानात्मिकाया धियो विनाशो भवति । बुद्धिनाशाच्च प्रण-

प्रतिष्ठितप्रज्ञतेति साध्यसाधनभावेनेयं व्यवस्थोपपद्यते । किन्तु भगवन्मनस्कतामनासादयतः स्वप्रयत्नमात्रेणैव बाह्येन्द्रियसंयमे प्रवर्तमानस्यान्तरिन्द्रियस्य कार्त्स्न्येनावश्यतया साधकस्य बुद्धिनाशप्रयुक्तस्वप्रणाशः सम्भवत्येवेत्यनर्थपरम्परापातमाह—**ध्यायत इति द्वाभ्याम्** । विषयान् स्रक्चन्दनपानादीन् ध्यायतोऽनाद्यविद्याप्रवाहपातिपापाधिकारसमुद्भूतदुर्वासनया प्रियत्वेन स्पृहयतः पुंसस्तेषु सङ्गो "ममैतेऽमन्दानन्दसन्दोहदा इति-मा भूद्भङ्गः कदाचिदेतेषामि"त्यासक्तिलक्षण उपजायते । तस्माच्च सङ्गात् कामस्तत्प्राप्त्यभिलाषस्तदुत्तरभाविन्यवस्थाश्रयःसंजायते । कामात्क्रोधोऽभिजायते । उत्कटविषयाभिलाषस्यापूर्तौ यं कमप्यन्तरायत्वेन प्रकल्प्य तेषु क्रुध्यत्यतः कामनाऽभिघातात्क्रोधोत्पत्तेरवश्यंभावितया द्वेष उत्पद्यते । क्रोधात्सम्मोहो भवति विचारधिषणाधारस्यान्तःकरणस्य जाड्यमुत्पद्यते । तेन च स्मृतेर्विभ्रमो भवति। गुरुमुखाच्छ्रुतस्यार्थस्य स्मरणाभावः प्राप्यते । विभ्रमः सदर्थे धियो धारणेऽनवस्थितिरभाव इति भावः । स्मृतिभ्रंशाच्च स्मृतेरपायाच्च बुद्धिनाशो बुद्धिश्चात्र स्वपरस्वरूपयाथात्म्यगोचरधीरेव ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

श्यति स्वयं मृत्युमाप्नोति । मृत्युशब्दोदितसंसारं भूयो भूयः
प्रतिपद्यत इति भावः ॥ ६२–६३ ॥

अथ परमपुरुषार्पितचेतसोऽनर्थाप्राप्तिं मनोनैर्मल्यञ्चाह—**राग-
द्वेषवियुक्तैरिति** । विधेयात्मा विधीयत इति विधेयो विधेय
आत्मा मनो यस्य स तथोक्तो भगवद्ध्यानवशीकृतचित्तः । तु ।
आत्मवश्यैरात्मनो वश्यान्यात्मवश्यानि तैः स्ववश्यतांगतैः । राग-
द्वेषवियुक्तै रम्यारम्येषु विषयेषु प्रीत्यप्रीतिवर्जितैः । इन्द्रियैः
श्रोत्रादिभिः । विषयान् शब्दादीन् । चरन् । स्वधर्मानुकूल्यम-
परित्यज्य स्वप्राणधारणमात्राहान् शब्दादिविषयानुपभुञ्जान इत्य-

तदुत्पादकसाधनविल्याात्तत्स्वरूपोदययोग्यतानाश एव तन्नाशो व्यपदि-
श्यते । न तूदिताया बुद्धेर्नाशः मत्प्रसादसङ्कृतपरभक्तिसाध्यसद्बुद्धेः सं-
सिद्धौ पुनर्विनाशायोगात् । बुद्धिनाशाच्च स्वयं प्रणश्यति । शाश्वति-
कसुखावाप्तियत्नवैधुर्यान्मृत्युमाप्नोति । 'प्रमादं मृत्युमहं ब्रवीमी'ति श्रुतेः ।
मुहुर्दुःखदकरणकलेवरादिसम्बन्धभाग्भवतीतिभावः ॥ ६२–६३ ॥

परमपुरुषार्पितचेतसो बाह्येन्द्रियैर्विषयानुपभुञ्जतोऽपि नानर्थावाप्तिः प्र-
त्युत मनोविशुद्धिरेवेत्याह—**रागेति द्वाभ्याम्** । तुः पक्षान्तरपरिग्रहे ।
विधेयात्मा भगवद्ध्यानवशीकृतमना मनुष्य आत्मवश्यैर्निजाधीनैरत एवँ
रागद्वेषवियुक्तैः स्वाभाविकार्थग्रहणमात्रार्थकैरिन्द्रियैर्विषयान् शब्दादींश्च-
रन् तद्वृत्तिध्रौव्याद्यथायोग्यं सेवमानः प्रसादं मनोनैर्मल्यमधिगच्छत्या-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

र्थः । प्रसादं मनोनैर्मल्यम् । अधिगच्छत्यवाप्नोति ॥ ६४ ॥

मनः प्रसादस्य फलमाह—**प्रसाद इति** । अस्य मदनु-
ग्रहासादितमनःप्रसादस्य योगिनो मनसः प्रसादे नैर्मल्ये सर्व-
दुःखानां सांसारिकेषु रागद्वेषप्रयुक्तानामाध्यात्मिकादिक्लेशानां
हानिर्विलय उपजायते । दुःखहानिरेव न जायतेऽपि तु विशिष्ट-
लाभोऽपि सम्पद्यत इत्याह—**प्रसन्नचेतस इति** । यतः प्रसन्नान्तः-
करणस्य मदनुग्रहाश्रयतयाऽऽशु शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते
मयि स्थैर्यमासादयति हि । एवं चाशेषक्लेशक्षयपूर्वकं शश्वद्
भगवत्स्वरूपसंदर्शनानन्दसिन्धुनिमग्नस्तिष्ठति ॥ ६५ ॥

विपक्षे दोषमाह—**नास्तीति द्वाभ्याम्** । अयुक्तस्य चित्त-

सादयति ॥ ६४ ॥

प्रसादावाप्तेः फलमाह—**प्रसाद इति** । प्रसादे सति मनःप्रस-
न्नतायां सत्याम् । अस्य मदनुग्रहलब्धप्रसादस्य पुरुषस्य । सर्वदुःखाना-
माध्यात्मिकादिनिखिलदुःखानाम् । हानिर्विनाशः । उपजायते । प्रसन्न-
चेतसः प्रसन्नं चेतो यस्य स प्रसन्नचेतास्तस्य निर्मलान्तःकरणस्य । बुद्धिः
प्रज्ञा । आशु । पर्यवतिष्ठते प्रतिष्ठिता भवति । हि ॥ ६५ ॥

भगवत्यनिवेशितचित्तस्याभीष्टसिद्ध्यभावमाह—**नास्तीति** । अयु-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

वृत्तेर्मयि निरोधमकुर्वतः । मदाश्रयमन्तरेण केवलं स्वबलेनैवेन्द्रियाणां वशीकारमारभमाणस्येति यावत् । बुद्धिः स्वपरस्वरूपयाथात्म्यधीरेव न भवति । एवञ्चैतादृशधियोऽभावेऽयुक्तस्य स्वपरस्वरूपावधारणलक्षणा भावनाऽपि नोदेति । स्थिरभावनामन्तरेण स्वनियामके परमपुरुषे मनोऽवस्थितिरूपा शान्तिर्न जायते । तदभावे च तस्य कुतः शाश्वतिकं परमप्रेमपूर्णं सुखं स्यात् ॥६६॥

यस्मादिन्द्रियाणां चरतां स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वतामनु मनुष्येण यन्मनोऽनुविधीयते । तदिन्द्रियमनुधावन्मनोऽस्य प्रमादिनस्तत्त्वार्थे स्थैर्यमासादयन्तीं प्रज्ञामम्भसि प्रमत्तनाविकनियन्त्रितनौकां वायुर्यथाऽन्यत्र हठाद्धरति तथा गन्तव्यात्परमपुरुषानु-

क्तस्य मय्यसन्यस्तचित्तस्य । मामनाश्रित्य स्वत एवेन्द्रियदमने प्रवृत्तस्येत्यर्थः । बुद्धिः स्वपरात्मविषयिणी प्रज्ञा नास्ति न भवति । न च नापि । अयुक्तस्य भावना स्वपरस्वरूपविषयकध्यानात्मिका चिन्ता भवत्युदेति । अभावयतो भावनारहितस्य परमात्मनि विषयविरक्तमनोऽवस्थितिरूपा शान्तिर्न च भवति । अशान्तस्य परमात्मन्यनवस्थितविषयप्रवणचेतस्कस्य । सुखमविनश्वरं सुखं कुतः स्यात् ॥ ६६ ॥

इन्द्रियादमनकर्तुरनर्थम्पुनरप्याह—**इन्द्रियाणामिति** । चरतां स्वविषयेषु यथेष्टं गच्छतामिन्द्रियाणां यन्मनोऽनुविधीयतेऽनुप्रवर्त्यते । तन्मनोऽस्य पुंसः प्रज्ञां वायुः प्रतिकूलोऽनिलोऽम्भसि जले नीयमानां नावमिव

तस्माद्यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

ध्यानात्प्रच्याव्य हरति भूयो विषयाभिमुखीं करोति ॥ ६७ ॥

उक्तार्थमुपसंहरन्नाह—तस्मादिति । हे महाबाहो ! तस्माद् यत इन्द्रियानिग्रहेऽनर्थस्ततो यस्योपासकस्येन्द्रियाणि सर्वश इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यो निगृहितानि समनस्कानि च तानि दिव्यानन्तकल्याणगुणधाम्नि मयि संस्थापितानि स्युस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ॥ ६८ ॥

स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं प्रकारान्तरेणोदीरयन् संक्षिपति—येति ।

हि निश्चितं हरति विषयोन्मुखीं करोति ॥ ६७ ॥

एवं 'यततो ह्यपि कौन्तेय' इत्यारभ्यारब्धानिन्द्रियजयोपायानुपदिश्य तत्प्रयुक्तेन्द्रियस्य च प्रकृतस्थितप्रज्ञताहेतुत्वेन विनिर्दिशन्नुपसंहरति—**तस्मादिति** । तस्मादिन्द्रियाणामनु मनोऽनुविधानस्य प्रज्ञाहर्तृत्वाद् हे महाबाहो ! यस्य पुंसः सर्वशः सर्वेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिविषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृहीतानि स्वाधीनीकृतानि । विषयेभ्यो वारयित्वा मयि संस्थापितानीत्यर्थः । तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स एव पुमान् स्थितप्रज्ञ इतिभावः ॥ ६८ ॥

ननु विषयेभ्योऽक्षाणां नियन्त्रणे तत्तदर्थग्रहणमेव न स्यात्स्याच्चान्धबधिरादिवदवस्थितिस्तदवस्थस्य संयमिनः कुतो लोकोत्तरसुखावाप्तिः

या स्वपरस्वरूपयाथात्म्यगोचरी प्रज्ञा सर्वभूतानां कर्मायत्तसांसारिकभावाविष्टानामशेषजनानां निशेव निशा तत्राकृतप्रयत्नत्वेन

कुतस्तराञ्च तस्य संयमसमुद्दीपितोत्कर्ष इत्याशंकामपनुदन्नाह—येति । या परमपुरुषोपासनावसिततच्छेषतैकरूपा ब्रह्मभावनाख्या सर्वभूतानां शास्त्राचार्यबोधवैधुर्येणानाद्यविद्याध्वान्तावधूतविचारचक्षुषां निरुक्तस्थितप्रज्ञव्यतिरिक्तवैषयिकाखिलप्राणिनां निशा नितरां शेरते प्राणिनोऽस्यां सा निशाऽनभ्यस्तप्रभूपासनजनस्य सात्विककार्यप्रकाशरहितत्वाच्छर्वरीव तस्यामुक्तविशेषणविशिष्टायां ब्रह्मभावनायां संयमी मदनुग्रहैकसाध्यमनःप्रसादो बुद्धियोगी जागर्ति सर्वदाऽप्रमत्तःसन् माध्यन्दिनव्यवहारवत्स्वच्छन्दं व्यवहरँस्तिष्ठन्ति । यस्याञ्च, विनाऽपि चं चार्थो गम्यते । मोहमलीमसदूषितविषयभावनाख्यायां निशायां भूतानि स्थितप्रज्ञविलक्षणप्राणिनो जाग्रति विषयाभिलाषं तर्पयन्तः ससंभ्रममाकण्ठमनुभवन्ति । सा विषयभावनाविभावरी पश्यतो मुनेः शास्त्रगुरूपदेशजनितमनोनैर्मल्येन साक्षात्कृतपरमपुरुषवपुषः । समुत्पन्नपरमार्थदृष्टेरिति यावत् । मननशीलस्य स्थितप्रज्ञस्य निशा । नैशीथिके तमसि यथा व्यवहाराभावो भवति तथा तस्य त्रिविधव्यवहारशून्यता जायत इति भावः। तदुक्तं ‘ परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोपरमात्मनि । परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोपरमात्मनि ।।’ अत्रेदं तत्वम् । स्थिरधियो मुनेर्लक्षणं बुबोधयिषुर्भगवान् ‘ प्रजहाति यदा कामान् ’ इत्यादिसंन्दर्भमारेभे । तत्र प्रश्नवैविध्यमनुसृत्य तदुत्तरे लक्षण्यवैविध्यस्यावर्जनीयतयैकमेव लक्ष्यं तृणारणिमणिन्यायेनानेकप्रभेदैर्लक्षणैरजिज्ञपत् । निर्दिश्यमानेष्वशेषेषु प्रभेदेषु बाह्यान्तरिन्द्रियसंयमसाधनस्यैव प्राधान्यम-

ज्ञानप्रसराभावादप्रकाशरूपा शर्वरीव भाति । तस्यां संयमी प्रयत्नासादितान्तःप्रसादो बुद्धियोगी जागर्ति भगवदनुभवलक्षणवि-

भ्यधात् । संयमशब्दश्चात्र गीताशास्त्रे वशीकाररूपार्थमभिधत्ते । न तु ‘ त्रयमेकत्र संयमः ’ इति हैरण्यगर्भपरिभाषया धारणाध्यानसमाधीन् । यतो ह्यत्र प्रकरणे ‘ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ’ (गी. २।६१) इति साधनोपदेशवाक्ये सर्वेन्द्रियसंयममुक्त्वानन्तराधीतफलयोगवाक्ये ‘ वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ’ (गी. २। ६१) इतीन्द्रियवशीकारस्यैव प्रतिष्ठतत्वात्मकं फलमुपदिश्यते । एवञ्चाखिलेन्द्रियाणां सर्वथा निग्रहेऽस्य मुनेः स्वशरीरयात्राऽपि न सिद्ध्येत् । न ह्युपलकल्पो निष्पन्दोऽयं क्षणमप्यसून्च्छक्नोत्यवस्थापयितुम् । किञ्च विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि ’ सहकारित्वेन च ’ (ब्र. सू. ३।४।३२। ३३) इत्यादिब्रह्मसूत्रैर्विद्योत्पत्तिप्रवृद्धिसहकारितयाऽश्रमधर्माणामनुष्ठानस्य नियतत्वान्न कूर्माङ्गवत्सर्वथेन्द्रियनिरोधोऽत्राभिमतः । केचित्त्वत्र कर्मणां संन्यास एवोपदिश्यते । कर्मफलाभिरुचिमतो ज्ञानोत्पत्तेः प्रागविद्यानुवृत्तिदशायामेव कर्मानुष्ठानविधिः । प्राप्तविद्यस्य तु ‘ तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याऽथ मुनिः ’ (बृ. ३।५।५१) इत्यादिश्रुतिशतानुमोदिताशेषकर्मसंन्यास एव पश्यतो मुनेरत्राभिधीयते । आविद्यिकं सर्वं निशेव पारमार्थिकदृष्टेरित्यादितात्पर्यकमेवेदं वचनमित्याहुस्तदपेशलम् । सर्वथा सर्वकर्मसंन्यासस्य गीताचार्यानभिमतत्वात् ‘ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ’ (गी. १८।७)

नो जाग्रति वैषयिकक्षुल्लकसुखमनुभवन्ति सा निशा निशेव निशा
वद्यजनवन्दनचिन्तनात्मनिवेदनरूपमेवेत्यवगम्यते । एतदुपासनविशिष्टस्य परमविरक्तस्यानन्यविषयत्वेन लोकबाह्यः स्थितप्रज्ञो मुनिरिरिति चाभिधा मोक्षशास्त्रेषु दरीदृश्यते । तदुक्तं श्रीभागवते—'एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्तमुच्चैः । हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः (११। २। ४०) इति। भगवदनुरक्तिविघातका दारापत्यगृहक्षेत्रममत्वापादकानि स्वतन्त्रोऽहमित्यभिमानवता क्षुद्रसुखैकलिप्सया तत्कामनामधिकृत्यानुष्ठेयानि कर्माणि त्वनेन मुनिना दूरत एव परिहर्तव्यानि। न हि दारादिष्वनुरागिणः क्षुल्लफलैषिणश्च भगवति श्रीरामेऽनन्यानुरक्तिरुत्पद्यते । विषयभावनाम्परिशीलयतो दुरभिप्रायस्य ब्रह्मभावनाया दुष्प्राप्यत्वनिश्चयात् । अतः परमपुरुषानन्यचिन्तनात्मिका ब्रह्मभावनैव प्रकृतश्लोके सर्वभूतपदवाच्याखिलसंसारिजीवानां निशेत्युच्यते । अस्यां भावनायां विषयाभिरुचयो मान्थालनिभाः सांसारिका नैव प्रसरन्ति। सप्रमोदं नैव प्रसरन्ति किन्तु नैशनिर्व्यापारवदौदासीन्यमाश्रयन्ते । इत्यतस्तेषामियं निशा व्यपदिश्यते । एवं संसारिजनप्रमोदिन्यां विषयभावनायां भगवच्चिन्तकस्य मुनेर्नैशिकौदासीन्यवदौदासीन्यमुच्यते । प्रागुदीरिता श्रुतिरपीममेवार्थं प्रतिपादयति । ब्राह्मणो वेदवित् ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टो वा पाण्डित्यं सदसद्विवेकनिपुणा बुद्धिः पण्डा साऽस्य सञ्जातेति पण्डितस्तत्वं पाण्डित्यं विरक्तिसम्पादकसन्मनीषां निर्विद्य समासाद्य बाल्येन स्वगुणाप्रकाशनमानापमानराहित्यादिबालस्वभावेन समन्वितस्तिष्ठासेत् परमपुरुषे निष्ठां विदध्यादुपासनां कुर्यादिति

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

पश्यतो भगवत्स्वरूपं साक्षात्कुर्वतो मुनेरस्तीति शेषः ॥६९॥

ब्रह्मविदो यादृच्छिकविषयोपगमेऽपि न जायते तच्चेतसि क्षोभलेश इति सनिदर्शनमुच्यते—**आपूर्यमाणमिति**। नाना दिश्याभिरापगाभिरापूर्यमाणमप्यचलप्रतिष्ठमत्यक्तमर्यादं समुद्रमापः प्रावृषिकाः प्रविशन्ति। स च यद्वत् स्वस्मिँल्लेशतोऽपि विकृ-

फलितार्थः । ते च निर्विद्याथ मुनिर्मननशीलो भवेदिति । श्रुत्यर्थविस्तरस्तु 'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्' (ब्र. सू. ३।४।४९) इत्येतत्सूत्रीय श्रीमदानन्दभाष्ये द्रष्टव्यः ॥ ६९ ॥

एवमुक्तसाधनसम्पन्नस्य भगवन्मनस्कस्य मुनेः कामिन इव विषयसंश्लेषजनिता विकृतिर्नोत्पद्यत इति सोदाहरणं स्पष्टयति—**आपूर्यमाणमिति**। स्वान्तरवस्थिताभिरद्भिरापूर्यमाणं सर्वथा परिपूर्णं महद्वेलमप्यचलप्रतिष्ठमचला प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य स तमत्यक्तसीमानं समुद्रमापः सारवाद्यापोऽनेकाभिस्तरङ्गिणीभिरनिशं प्रविशन्ति । श्रीमदानन्दभाष्ये त्वहर्निशमब्धौ प्रपतन्तीष्वपि गङ्गाद्यापगासु वर्षर्तावाधिक्येनासंख्या आपस्ताभिर्महापगाभिः क्षुद्रनिर्झरसरिद्भिर्वर्षाम्बुप्रवाहैश्च प्रविशन्ति' इत्याशयमनुसृत्य 'नानादिश्यभिरापगाभिरापूर्यमाणमप्यचलप्रतिष्ठमत्यक्तमर्यादं समुद्रमापः प्रावृषिकाः प्रविशन्ती'त्युक्तम् । एवमापप्रवेशेऽप्यब्धि-

तिमनाप्नुवानस्तिष्ठति । तद्वत् कामाः काम्यन्त इति कामाः शब्दादयः सर्वे विषया यं संयमिनं कर्मपरिपाकवशात् प्रविशन्ति निसर्गात् सर्वेन्द्रियवेद्यतामुपयान्ति स स्थितप्रज्ञो मुनिः शान्तिं शाश्वतिकमुपशमं भगवद्दर्शनरूपमाप्नोति । न तु कामान्

रविकृतस्वरूपो निर्विशेषमवतिष्ठते । 'अचलानां मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन् तमेतेन गांभीर्यातिशय उक्त इति मधुसूदनव्याख्या त्वयुक्ता दार्ष्टान्तार्थाननुगुणत्वात् । मैनाकाद्रेः सपक्षत्वेनाचलत्वाभावात् । अचलानां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति व्याधिकरणपदबहुव्रीहेरश्लाघ्यत्वाच्च । स च यद्वदपामनागमसमये यद्रूपो यदाकारो विशेषविरहितस्तिष्ठति तथैवापामागमसमयेऽपि द्वयोरप्यवस्थयोरैकरूप्यमेव धत्ते । तद्वत्कामाः कामनाविषयाः शब्दादयः सर्वे विषयाः प्रारब्धवशादुपेता भगवति मनो युञ्जतः सिद्धिरूपेणोपस्थिताः । तदुक्तमेकादशे 'जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः । मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥' इति । यं मुनिं प्रविशन्ति तदिन्द्रियग्राह्यतां गच्छन्ति स निदर्शितमहाब्धिस्थानीयो मुनिः शान्तिं परम पुरुषानुभवरूपां सायुज्यमुक्तिमाप्नोति । शान्तिश्चात्र शाश्वतिकशान्तिः सायुज्यमुक्तिरेवोपदिश्यते । 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्' (का. २।५।१३) इत्यादिश्रुतिभिरैकार्थ्यात् । प्रोदीरितस्थितप्रज्ञतासम्पादकोपायानामस्या एव चरमफलत्वात् । एतदव्यवहितोत्तरश्लोकयोः 'स शान्तिमधिगच्छति' 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति' इत्यादरेण तस्या एवावृत्तत्वाच्च । एवं संयमिनः शान्तिः फलमभिधाय

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

विषयान् कामयितुं शीलमस्येति कामकामी । विषयास्वादलोलुपो न कदाचिदपीमां शान्तिमुपैतीति भावः ॥ ७० ॥

प्रोक्तशान्तेरधिकारिणमेव स्पष्टयति—**विहायेति** । यः पुमान् सर्वान् कामान् शब्दादीन् विहाय तेषु प्रियत्वाभिमानं परित्यज्य यथाप्राप्ताँस्तानौदासीन्येनैव स्वीकृत्य निस्पृहो रागप्रयोज्याभिलापवर्जितस्तेष्वनात्मभूतेषु निर्ममो निरहंकारो ममताहंकारशून्यः प्रारब्धशेषं बुभुक्षुः स एव परमपुरुषार्पितचेताः शाश्वतीं शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

तद्व्यतिरिक्तानां वैषयिकजीवानां ततो विपरीतफलमनर्थव्रातसंकुलं जगज्जालमेव फलतीत्याह—नेति । कामकामी कामानिन्द्रियार्थान् सततं कामयमानो विषयनिविष्टचेतास्तु नैवोक्तलक्षणां शान्तिमपि तु क्लेशमोषकाकीर्णां संसारारण्यानीमेवाप्नोतीतिभावः ॥ ७० ॥

पूर्वत्र संयमी शान्तिमाप्नोति न कामकामीत्यभिहितम् । तत्कुतः ? उभयोरपि सति सम्भवेऽवश्यमेव स्यादित्यतः शाश्वतिकशान्तेरधिकारिणं शृंगग्राहिकया स्पष्टीकुर्वन् लक्षयति—**विहायेति** । सार्वदिकशान्तिलिप्सुर्यः पुमान् यदृच्छयोपगतान् सर्वान् कामान् शब्दादीन् विहाय निस्पृहस्तेष्वनासक्तः सन् निर्ममो 'ममेमे प्रियतमा' इति स्वामित्वावेशरहितो निरहंकारोऽहमेवेदं करोमीत्यादिरूपकर्तृत्वाभिमानविधुरः प्रारब्धमात्रं त्वनासक्तमनसा कथंचिद् भुञ्जानस्तिष्ठति स एव भगवदुपासनाध्वस्तसमस्तकिल्विषो मुमुक्षुः शान्तिं सायुज्यमुक्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रक्रान्ताया बुद्धियोगसाध्यभगवन्निष्ठायाःफलं प्रदर्शयन्नुपसंहरति—एषेति । हे पार्थ ! एषा भगवदितरवस्तुवैतृष्ण्यपूर्विका परमात्मनिष्ठा योदिता सा ब्राह्मी परब्रह्मप्रदायिनी स्थितिर्बोध्या । एनां स्थितिं समवाप्य बुद्धियोगी न जातु जागतिकमोहजालमाप्नोति । बुद्धियोगनिशितशस्त्रेण समुच्छिन्ने मोहमूले न पुनस्तस्योदयः सम्भवतीति भावः । अस्यां निष्ठायां प्रारब्धदेहत्यागसमयेऽपि स्थित्वा निर्वाणं निरतिशयसुखैकनिलयं ब्रह्म ऋच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः
श्रीमदानन्दभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ।

नमः परात्परब्रह्मणे भगवते श्रीरामचन्द्राय ।

द्वारपीठाचार्यजगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्यप्रणीता—

श्रीगीतार्थसुधा

प्रोक्तौ देहात्मबुद्ध्या स्वजनममतया बालिशे मोहशोकौ—
क्षीयेते तौ च बोधात्फलमतिरहितात्कर्मणः सोऽपि सिध्येत् ।
तस्माद्भक्तिः परेशे नियमितमनसा प्राप्यते सत्ववृद्ध्या
तस्याःशान्तिर्ध्रुवात्मा फलमिदमशिषत्कृष्णचन्द्रो द्वितीये ॥२॥

स्थितप्रज्ञतासंसिद्धौ सर्वेन्द्रियनिरोधसाधना भगवदवस्थितिप्रधाना परमपुरुषोपास्तिरेव हेतुतामावहति । अतस्तत्प्रधानभूताया भगवन्निष्ठायाः फलं प्रदर्शयन्नुपसंहरति—**एषेति** । हे पार्थ ! पृथासम्बन्धबोधकशब्देन सम्बोधयन् भगवानस्मिन्नेवार्थे स्वकीयनिर्भरत्वं प्रकटयन्निममेवार्थमनुतिष्ठेति सादरमत्र प्रेरयतीत्यवगम्यते । संयमिस्वरूपं प्रबोधयता मया येयं सर्वकामनिवृत्तिपूर्विका परमपुरुषोपासनोक्ता सैषा ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका स्थितिर्ज्ञेया । एनां प्राप्य निदिध्यासनादिना सम्यगभ्यस्य बुद्धियोगी न विमुह्यति देहगेहाद्यनात्मवस्तुष्वहं ममेत्यभिमानं न प्राप्नोति । परमात्मानुभवानन्दाब्धिनिमग्नस्य कुतो बाह्यवृत्तेः सम्भव इति भावः । अस्यां ब्रह्मप्रदायिन्यां स्थितावन्तिमेऽप्यनेहसि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं दिव्यं ब्रह्मानन्दमृच्छति निरन्तरमनुभवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण जगद्विजयिसर्वतंत्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायेन ब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ।

रामो ब्रह्म परात्परं श्रुतिमतं भक्त्यैव निःश्रेयसं
शेषा येन च शेषिणो रघुपतेर्जीवा इति स्वीकृतम् ।
श्रौतं युक्तियुतं मतं खलु विशिष्टाद्वैतकं यस्य स
श्रीबोधायनवृत्तिकृद्विजयतां बोधायनः शाश्वतम् ॥

(जगद्गुरुश्रीसदानन्दाचार्यः)

श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

अथ तृतीयोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

एवं रणाजिरे युयुत्सया सज्जीभूयोपस्थितानाचार्यादीनवलोक्यैषां मारणे निरयप्राप्तिः पलायने त्वपकिर्तिरित्युभयथाऽपि मोहपङ्कार्णवे निमज्जन्तं स्वभक्तमर्जुनमुद्दिधीर्षुर्दयोदन्वान् भगवान् श्रीकृष्णः स्वजनसमूहकल्याणविधित्सया तमुद्दिश्योपदिदेश द्वितीयेनाध्यायेनाध्यात्मविद्यां मोहोत्पाटनसमर्थाम्। तथाहि देहिनिधनभिया मोहोऽनावश्यकस्तस्य नित्यत्वात्। जन्ममरण-

एवमस्य गीताशास्त्रस्याध्यात्मविद्याप्रतिपादकत्वेन प्रथमाध्यायस्तावच्छास्त्रार्थेऽधिकारितासम्पादकत्वेनोपवर्णितः। द्वितीयाध्यायेन गुरुबन्धुहननाहननविचारे विमुह्यन्तमत एव शोकार्णवे निमग्नमर्जुनमुद्दिधीर्षया भगवता श्रीकृष्णेनादौ देहाद्यनात्मन्यात्मबुद्ध्यासक्तिमुत्पाद्य परमप्रीतिविषयेषु तेषु प्रवृद्धं मोहमुन्मूलयितुमात्मानात्मस्वरूपविवेकः प्रादर्शि। ततोऽन्तःकरणविशुद्धयेऽनभिसंहितफलकर्मणामनुष्ठानं तेन च परमेश्वरप्रीतिसंसाध्याखिलहृषीकविजयः प्रत्यपादि। ततो बुद्धियोगपरिवर्द्धिता

धर्मकत्वेऽप्यात्मनोऽस्थाने मोहमहिमा मृतस्य तस्य पुनरुत्पत्तिसत्त्वात्। परन्तु न चैष उत्पद्यते म्रियते हन्यते वा 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' (का. १।२।१८) इत्यादिश्रुतिविरोधात्। युद्धस्याकार्यत्वमेव मम क्षत्रियस्येति त्वया न युज्यते वक्तुम्; क्षत्रियस्य तवायोधनस्य वर्णधर्म्मत्वेनावश्यानुष्ठेयकार्यत्वात्। श्रेयःसुखैकलिप्सा चेद्दते युद्धान्न सा सेद्धुमर्हति। विधिनिषेधाधिकारिणोऽखिलजनस्य यावज्जीवं कर्मानुष्ठितेरावश्यकत्वात्। एवं कर्माचरणस्य नैयत्यमुपदिश्य 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु' बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी. २)

शाश्वतिकशान्तिफलिका परमपुरुषानन्यानुरक्तिरूपा परभक्तिरुत्पद्यत इत्युपदिश्यानया विशिष्टः साधकः स्थितप्रज्ञोऽस्य चैवंरूपा ह्यामोक्षमनुवर्तमाना निर्विकारा स्थितिर्ब्राह्मीति च निरचायि। एवमर्जुनमुद्दिश्य स्वभक्तहितानुशासने प्रवृत्तेन परमकारुणिकेन तेन प्रभुणा सर्वोऽप्याम्नायसम्मतोऽर्थो द्वितीयाध्यायान्तभागेनैव समग्राहि। इतः परमस्यैवार्थस्य दृढीकरणाय तृतीयाद्यध्यायाः प्रारभ्यन्ते। तत्रादौ देहदेहिनोः पार्थक्येन स्वरूपमुपदिश्य नहि देहाद्यनात्मवस्तुनो विनाशेनात्मनः कापि क्षतिर्भवतीत्यस्थाने शोकक्लेश इत्यर्जुनाय ज्ञापितम्। ततो वर्णाश्रमधर्मानुष्ठाने निर्भरत्वं सूचयता 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इति निर्दिष्टम्। 'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि' (गी. २।३३) इति विपक्षे

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

इत्यादिप्रबन्धेन कर्मणः सकाशाद् बुद्धियोगस्यैव प्राधान्यमभ्यधात् । फलमप्यस्य बुद्धियोगस्य निरतिशयसुखं निःश्रेयसमेवेति 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ' (गि. २।७२) इत्यादिवचनैः प्रत्यपादि । न चात्राऽधिप्रबन्धं ' कर्मण्येवाधिकारस्ते ' 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इति कर्मयोगेऽपि भगवतोऽनुमतिरवगम्यत इति वाच्यम् । तत्रैव ' दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ' इति कर्मापेक्षया बुद्धेः प्राशस्त्यस्य निर्णयात् । एवं च प्रागर्जुनः ' न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ' (गी १।३१) इत्याहवे स्वजनहननं श्रेयोदर्शनाभावप्रयोजकमिति वदन् स्वस्य

बाधकमप्युपन्यस्तम् । ततश्च महत्त्यारभटया योगबुद्धया कर्मबन्धप्रहतिः ' एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु । बुद्धया युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ इति वाक्येनाभिहिता । ' निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ' इति निस्त्रैगुण्योपदेशोऽप्यस्मिन्नेवार्थ उपोद्बलकतयोक्तः । ततः ' कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ' (गी.२।४७) इत्यादिवचनैः फलतृष्णाविरहितानां कर्मणामनुष्ठानमभिधाय ' दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ' इत्यादिना पुनस्तन्निन्दितम् । ततश्चाऽऽध्यायसमाप्ति भगवदुपासनोपचायकानि विद्याङ्गभूतानि कानिचिदेव कर्म्माण्यनुतिष्ठन् मुक्तेः साक्षात्साधनपरभक्तिवर्धकं बुद्धियोगमेवाशरीरस्थिति सेवेतेति स्थिरीकृतम् ' स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ' (गी. २।७२) इति । एवञ्च ' विरक्तगृहिणोरुभयोरपि निष्कामकर्मानुष्ठानमा-

निःश्रेयससुखैकलिप्सां सूचयति । अत एव ' यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ' (गी. २।७) इति स्वानुयोगे तामेव प्राचीकटत् । तत्प्रतिवचने गीताचार्योऽपि निरचैषीच्छ्रेयसश्चरमं साधनं बुद्धियोगमिति संवृत्तः शास्त्रार्थः। इत ऊर्ध्वं विविधैः प्रश्नप्रतिवचनैरयमेवार्थो विशोध्यते। ततश्च द्वितीयप्रपाठके संसाधिते बुद्धियोगस्यावितथश्रेयःसाधनत्वे सतीतः परं सर्वम्परित्यज्यास्मिन्नेव त्वया निष्ठा विधेयेत्यनियुञ्जतः प्रवर्तयतश्च भूयोऽपि समरसमारम्भे भगवतः कोऽभिप्राय इत्येवं स्वान्ते सन्दिहानोऽर्जुन उवाच—ज्यायसीति । हे जनार्दन ! स्वजनमनोरथपूरक ! विद्याङ्गतया मोक्षोपयोगिनः कर्मणः सकाशाद् बुद्धिरेव साक्षान्मो-

वश्यकमित्युक्तेरपि ' परभक्त्यङ्गतयैव तेषामनुष्ठाने तात्पर्यमि'ति निश्चीयते । साक्षान्मोक्षसाधनन्तु समभ्यस्तबुद्धियोगाधिकदीप्तिः पराभक्तिरेवैतावता भगवद्वचननिचयेन सम्यङ्निश्चीयते । निष्कर्षमिममवगत्यार्जुनो युद्धकर्मणो वर्णधर्मत्वेनाऽकरणे प्रत्यवायजनकत्वेऽपि ' बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । ' (गी. २।५०) कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥' (गी. २।५१) इति भगवद्वचनाद् बुद्धियोगस्य सुकृतदुष्कृतप्रहाणपूर्वकजन्मबन्धनिवर्तकानामयपदप्राप्तिरूपं फलं विनिश्चित्यान्तरेणैव संस्फोटं स्वेष्टसिद्धिं मन्वानो ' येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ' इति स्वानुयोगवाक्यघटकलघुवाक्येन प्रकटितश्रेयः प्रेप्सया श्रेष्ठमिष्टञ्च बुद्धियोगमेव द्रढयितुकामः स्थूणानिखनन्यायेन भूयोऽपि भगवन्तम्पृच्छति—ज्याय-

क्षसाधनतया ज्यायसी श्रेष्ठा मता चेत्तर्हि हे केशव ! सर्वेश्वर ! किमिति घोरे हिन्साप्रधाने युद्धाख्ये कर्मणि मां त्वत्परायणमनन्यभक्तं नियोजयसि 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः (गी. २।३७) इत्यादिवचनैः प्रोत्साह्य प्रेरयसि। सनिश्चयमभिधायाप्युत्कृष्टं मद्धिततमं मतियोगात्मकमर्थम्पुनस्ततः प्रच्याव्यातिजघन्येऽहिते युद्घाद्यर्थे शरणागतवत्सलेन त्वया नाहं नियोक्तव्य इति भावः ॥ १ ॥

ननु मद्वाक्येन निश्चितमर्थं कुतो नाधिगच्छसीत्यत आह— व्यायमिश्रेणेति। व्यामिश्रेणेव सम्मिलितार्थकेनेत्र वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसीव वस्तुतस्तु न हि मन्मनीषाव्यामोहनाय विसीति। हे जनार्दन ! जनैः प्रपन्नैरर्थ्यते समाश्रयणीयत्वाय याच्यत इति जनार्दन एतदामन्त्रणेन श्रेयसे त्वमेवाश्रयणीय इति व्यज्यते। कर्मणः परम्परया मोक्षोपयोगिनः सकाशाद् बुद्धिर्ब्रह्मभावना निःश्रेयसैकप्रधानफला ज्यायसी श्रेष्ठा ते मता चेत्तर्हि किमर्थं घोरे द्वेषदूषिते हिन्साफलके युद्धाख्ये कर्मणि मां त्वदेकशरणागतं नियोजयसि प्रवर्तयसि हे केशव ! नियोजयसि केशवेत्यव्यहितपौर्वापर्य्येण शब्दौ प्रयुञ्जानेनार्जुनेन त्वदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकोऽहमिति त्वया यथेष्टं विनियोक्तुं शक्यः। नियोक्तुस्तव ब्रह्मशिवादिदेवानामपि नियामकत्वादितिसूच्यते ॥ १ ॥

ननु मया तु सर्वोऽपि शास्त्रार्थः कर्तव्याकर्तव्यरूपस्तुभ्यमुक्तः। त्वं तदवधार्येदानीं यथेच्छसि तथा कुरु इति चेत्तत्राह—**व्यामिश्रेणेति।**

प्रलम्भकवाक्यत्ववद्वाक्यं सम्भवति जगद्गुरोस्तव जगद्धितानुशासनायैव वाग्व्यवहारात्। किन्तु ममैव धियो मान्द्यात्तथा प्रतीतिः। तस्मादेकमेव मे हितावहं बुद्धिकर्मणोर्मध्ये यत्स्यात्तद्वद येन वाक्येनोभयोरेकं निश्चित्याहं श्रेयः प्राप्नुयाम्। अनेना-

व्यामिश्रेणेव 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गी.२।४७) 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' (गी. २।३१) इति कर्मणः 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्' (गी. २। ४९) इति च बुद्धेः स्वातन्त्र्येणैव मादृशमधिकारिणम्प्रति हिततमत्वेनोपदिष्टेन संसृष्टोभयानुष्ठानपरेणेव वाक्येन मे मम तव वचसि गुरुमन्त्रवत्कृतादरस्य बुद्धिं निश्चयावगाहिनीं धियं मोहयसीव विचारशक्तिशून्यां करोषीव। यदि च कर्मणो बुद्धेः सम्पादकत्वेनैवानुष्ठेयता न तु स्वातन्त्र्येणेत्युच्यते तदापि न व्यामोहापगमः। कर्मणो बन्धकत्वाद् बुद्धेश्च बन्धविच्छेदकत्वाद् बुद्धिफलविपरीतफलापादकत्वात्कर्मणः कथं तदङ्गता सम्भवेत्कथञ्च निःश्रेयसैकप्रयोजनेन मया कर्मानुष्ठानं विधेयम्। मदभीप्सितफलप्रतिबन्धकत्वादिति तदवस्थो व्यामोह इति भावः। अत्रोभयत्रेव शब्देन ब्रह्मादीनामपि गुरोस्तव जगद्धितसाधकं तथ्यं पथ्यमेव च वचोऽस्ति परन्त्वनवसरप्राप्तमोहावरुद्धत्वान्मदीयधियो मान्द्यात्सपदि निश्चयं नाधिगच्छामीत्यर्जुनाशयः स्फुटति। तत्तस्मान्मद्बुद्धिव्यामोहनिरासायैकं ज्ञानयोगं कर्मयोगं वा मद्धिततमं यत्स्यात्तद्वद येन त्वदुपदिष्टेन ज्ञानेन कर्मणा वा निश्चित्य 'अनेन मच्छ्रेयोऽवश्यम्भविष्यती'ति निश्चयं कृत्वा श्रेयः प्राप्नुयाम्। त्वमेव निश्चित्य वदेति योजना तु अयोग्यत्वाद्धेया। सर्वज्ञस्य भगवतः कथमनि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

प्यर्जुनः सायुज्यसुखमेवाभीप्सति नत्वैहिकं जयकीर्तिराज्यादिसुखं लेशतोऽपीति गम्यते ॥ २ ॥

एवमनुयुक्तः श्रीभगवानुवाच—लोक इति । हे अनघ ! अस्मिन् लोके ज्ञानमार्गं व्यवस्थापयता मया सर्वज्ञेन पुरा सर्गादौ द्विविधा निष्ठा अधिकारितारतम्येनैकस्यैव वाऽधिकारि-

श्चितेऽर्थे प्रवृत्तिः सम्भवति । कुतश्चावगतमर्जुनेन यदयमनिश्चित्यैव ब्रूते । शिष्यस्तेऽहं शाधि मामित्युक्तवतेऽर्जुनायानिश्चितार्थवादे तत्प्रतारणैव कृता भवेत् । यदपि 'यद्यपि भगवाँस्तूभयोरेव श्रेयःसाधनत्वमिति' निश्चित्यैवावदत् । तत्रैकस्य साक्षादपरस्य परम्परयेत्यन्यदेतत् । तथापि मदधिकारानुगुणं किम्मे श्रेयःसाधनमिति निश्चित्य वदेत्यर्जुनाशयस्तदपि तथैव भगवतोक्तत्वादपेशलम् । एतेनात उभयोर्मध्ये यद्भद्रं तदेकं निश्चित्य वदेति यद्वा इदमेव श्रेयःसाधनमिति निश्चित्येत्यादि श्रीधरी प्रत्युक्ता उभयोरपि भद्रत्वेन श्रेयःसाधनत्वेन च भगवतो निश्चयात् । अत एव च तथैव तेन प्राक् प्रतिपादितत्वात् । तस्मादस्मद्भाष्यकारीययोजनैव समीचीनेति दिक् ॥ २ ॥

एवमेकतरार्थं निश्चेतुकामस्यापवर्गैकप्रयोजनस्यार्जुनस्य जिज्ञासाम्परिज्ञायोत्तरयितुं श्रीभगवानुवाच—**लोक इति** । हे अनघ ! अनेन सम्बोधनेन त्वं निष्कलमषोऽसीत्यतस्त्वं साक्षादपवर्गसाधनस्य ज्ञानयोगस्यैवाधिकारीति सूच्यते । मदुक्तेऽर्थे निश्चयमनधिगतवतस्ते व्यामोहो-

णोऽवस्थाभेदेन प्रोक्ता । सम्यक् ख्यायते ब्रह्मस्वरूपं यया सा संख्या बुद्धिस्तद्विशिष्टाः सांख्या जन्मान्तराभ्यस्तविद्यत्वेनेह जन्मनि परमेश्वराराधनजनितापेतकल्मषत्वेन वाऽपवर्गैकप्रयोजना ज्ञानिनस्तेषां ज्ञानयोगेन 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनाम्प्राप्य विमुह्यति' (गीः २।७२) इत्येवं प्रकारेण संयमिनः संयमफलरूपां ब्राह्मीं स्थितिमपर्यन्त्याद्या योगिनां दवीयसी

ऽजनि । अतस्ते स्पष्टप्रतिपत्तये भूयोऽपि विस्तरेण विविच्य वच्मि । सावधानेनाकर्णयेत्यपि सम्बुद्ध्या ज्ञाप्यते । अस्मिन् लोके प्रकृतिवैचित्र्याज्ज्ञानकर्मोभयोरपि प्राधान्येनाङ्गाङ्गिभावेन च साधनत्वबुद्धिमज्जननिकाये जगतीतले पुरा सर्गारम्भे ज्ञानसम्प्रदायप्रवर्तनसमये मया नित्यासंकुचितासम्भ्रान्तज्ञानवता सर्वज्ञेन द्विविधा प्राक्तनकर्मपरिपाकवशान्मलिनवासनानां मन्दाधिकारिणां कर्मविषया तद्वदेव विशुद्धाशयवतामुत्तमाधिकारिणां कृते च ज्ञानविषयेत्येवं द्विःप्रकारा निष्ठा मत्स्वरूपानुभवलक्षणमोक्षोपायभूता तत्तदधिकारिरुच्यनुगुणा परस्परासम्भिन्नैव प्रोक्ता । तत्र सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते (विविच्यते वा) स्वपररूपमनया सा संख्या शारीरकशास्त्रदृष्टिस्तद्युक्ताः सांख्याः समधीतसमाम्नायाः परमपुरुषोपास्तिनिरस्तकल्मषा मुमुक्षवो ज्ञानवन्तस्तेषां ज्ञानयोगेन 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनाम्प्राप्य विमुह्यति' (गी. २।७२) इत्युक्तप्रकारेण विरक्तस्य स्थितप्रज्ञताफलपरमपुरुषावाप्तिप्रापिकैका योगिनां काम्याकाम्यकर्मसु श्रद्धावतां सांसारिकभावाविष्टानामधिकारिणां कर्मयोगेन 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (गी.२।४८) इत्युक्तरीत्या फलाभिसन्धिरहितकर्मणामनुष्ठा-

ज्ञानपदवीमारुरुक्षूणां कर्मानुष्ठाने रुचिमतां केषाश्चिदधिकारिणां कर्मयोगेन 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (गी. २।) इत्युक्तप्रकारेण कर्मिणो भगवत उपासनसिद्धये तत्स्वरूपावलोकनक्षमज्ञा-नेन चापरा प्रोक्तेति पूर्वत्रान्वयः। अयमत्राभिसन्धिः। प्राक्तनकर्मवशादापातरम्येषु विषयेष्वेवादौ तृष्णा विवर्धते। विषयलोलुपस्य च विषयानुभवसमकालिका ज्ञाननिष्ठाऽनुपयुक्ता तदानीं तस्यानधिकारित्वात्। तथाविधस्यापि तस्य ज्ञानाध्वनि प्रापयितुमादौ कर्मयोग आवश्यकः। एवं सामान्यकर्मानुष्ठानेन चित्तशुद्धौ शनैर्निष्कामकर्मण्यभिरुचिरुत्पद्यते। तथाऽनुतिष्ठतो मनसि विषयवैतृष्ण्यं जायते ततो हि ज्ञानयोगेऽधिकृतो भवति। अतश्चित्तकल्मषनिरसनाय परिविद्योपयोगाय च कर्मयोगः सर्वदाऽवश्यकः। एवं विरक्तस्य वशीकृतहृषीकग्रामस्य मुनेर्ज्ञानयोगेऽधिकारः। निष्कामकर्मणामनुष्ठानन्तूभयत्र समानम्। परन्तु निष्कामबुद्ध्या वर्णाश्रमधर्माननुतिष्ठतोर्विजितमनोवृत्तिकयोस्तु गृहिविरक्तयोरुभयोरपि ज्ञानयोगेऽनपोहित एवाधिकारः सिद्धः। नायं नियमो गृहस्थस्यैव कर्मयोगे विरक्तस्यैव च ज्ञानयोगेऽधिकार इति। सर्वेऽपि स्ववर्णाश्रमोचितकर्माणि पुरुषेण भगवत्कैंकर्यबुद्ध्याऽनुष्ठेयानीत्याहुः श्रुतिस्मृतयः। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईशावा. २) 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतश्नुते' (ईशावा. ११) अत्र विद्याअविद्याशब्दाभ्यां ज्ञानकर्मणी अभिधीयेते। उत्तरार्धेनाविद्यया कर्मणा मृत्युं ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकं संसारप्रापकं पुण्यपापात्मकं तीर्त्वा विद्यया ज्ञानेनामृतपदवाच्यं ब्रह्माश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थस्य

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४॥

नयोगावाप्तये च फलतृष्णाविरहितकर्मणामनुष्ठानेन द्वितीया प्रोक्तेत्यन्वयः ॥ ३ ॥

ननु यदि ज्ञाननिष्ठैव निःश्रेयोपायभूता कृतं तर्हि कर्मभिरित्यत आह—नेति। पूर्वकर्मोपार्जितशरीरः संसारी पुरुषः कर्मणां वर्णाश्रमधर्मत्वेन विहितानामनारम्भादननुष्ठानान्नैष्कर्म्यं स्पष्टीकरणात्। 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ.४।४।२२) 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि' (ब्र.सू. ३।४।३२) 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः' (वि. पु.) 'वर्णाश्रमोक्तं यः कुर्याद्विध्युक्तं कामवर्जितम्। विधिवत्कुर्वतस्तस्य मुक्तिर्गार्गि करे स्थिता' (याज्ञ.) 'वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्' (मनुः) परमगतिं निश्रेयसमित्यर्थः। 'नाऽन्यो विमुक्तये पन्थाः मुक्त्वाश्रमविधिं सुखम्। तस्मात्कर्माणि कुर्वीत तुष्टये परमेष्ठिनः। एतेन काम्यनिषिद्धवर्जनपूर्वकं निष्कामकर्मानुष्ठानं सर्वैः श्रेयोऽर्थिभिर्विधेयमिति सिद्धम् ॥ ३ ॥

एवं ज्ञानकर्मोभयनिष्ठे श्रेयःप्रयोजिके इत्यवगम्य वर्णधर्मस्य युद्धादेर्गुरुबन्धुवधजन्यानर्थापादकत्वेन हेयत्वे ज्ञाननिष्ठामात्रस्यैवोपादेयत्वेऽभिरुचिमतोऽर्जुनस्योभयभ्रष्टताऽनिवार्या स्यादिति तामुत्सादयितुं संस्थापयितुञ्च निष्कामबुद्ध्या वर्णाश्रमधर्मानुष्ठाने कर्मनैष्कर्म्ययोः पौर्वापर्यनै-

श्रेयश्चरमोपायभूतां ज्ञाननिष्ठां नाश्नुते। ज्ञाननिष्ठापूर्वभाविनां कर्मणामनुष्ठानमन्तरेण निर्हेतुक्यास्तस्या ह्यनुत्पत्तेरिति भावः । एवं कर्मत्यागोऽपि ज्ञानसिद्धेरनुपाय इत्याह—नेति । एवं किय-

यत्यमुपदिशति—**नेति ।** पुरुषोऽनिवृत्तविषयवासनोऽपरिपक्वकषायः पुमान् कर्मणां श्रुतिस्मृतिविहितनियतकर्तव्यतानां वर्णाश्रमधर्माणामनारम्भादनाचरणान्नैष्कर्म्यं निःश्रेयसफलिकां ज्ञाननिष्ठां नाश्नुते । न ह्युच्चतरतरुशिखरशाखावलम्बिफलं सालमूलमनधिरुह्य जिघृक्षुराप्नोत्यविकलम् । एतदुक्तम्भवति । शास्त्रविहितकर्मणोऽननुष्ठानात्प्रभुप्रसत्तेरभावाज्जितेन्द्रियत्वासम्भवेन ध्रुवानुस्मृतिलक्षणज्ञाननिष्ठाया जात्वनुदयात् । वक्ष्यति चैतत् स्वयमेव 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् (गी. १६।२३) अतोऽत्युन्नतभूमिकां ज्ञाननिष्ठामारुरुक्षुः काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं वर्णाश्रमधर्म्माणां प्रथमसोपानस्थानीयानां निष्कामधियाऽनुष्ठानमावश्यकमेवेति निष्पद्यते । ननु तर्हि कर्मसंन्यासाज्ज्ञाननिष्ठासिद्धिमुपेष्यतीत्यत आह—नेति । न च कर्मसंन्यासमात्रेणापि ज्ञाननिष्ठासिद्धिं समधिगच्छति । अत्र कर्मानारम्भकर्मसंन्यासयोर्वस्तुतः कर्माऽकरणे पर्यवसानादैकार्थ्यन्तु न शङ्क्यम् । कर्मणामनारम्भो हि कर्माधिकारिणो देशकालवयोविशेषे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ई. २) 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः' इत्यादिश्रुतिचोदितानां नित्यनैमित्तिकादिकर्मणामनाचरणम् । कर्मसंन्यासस्तु यथाधिकारमनुष्ठीयमानानां तेषां परित्याग इत्युभयोरस्ति

न हि *कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

त्कालं कर्माण्यनुष्ठाय पश्चात्सर्वथा तत्त्यागमात्रेण कर्मफलत्यागमात्रेण वा ज्ञाननिष्ठाख्यां सिद्धिं न सम्प्राप्नोति ॥ ४ ॥

उक्तेर्थे हेतुमुपन्यस्यति—नेति । हि यतोऽस्मिन् लोके कश्चिदपि प्राकृतकरणकलेवरादिमान् जातु कस्मिन्नपि समये क्षणमपि अकर्मकृच्छास्त्रीयमशास्त्रीयं वा कर्माकुर्वन्नेव न तिष्ठ-

महान् भेदः । तत्रापि काम्यनिषिद्धातिरिक्तानां कर्मणान्तु न स्वरूपतस्त्यागः कर्हिचित्क्वचिदप्युक्तः। तेषान्तु भगवदाज्ञापालनरूपकैंकर्यबुद्ध्याऽनुष्ठानमेव प्रमाणैरवसीयते । निश्चेष्यति च स्वयमेवाष्टादशे 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः' (गी. १८।७) 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' (गी. १८।११) इति ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानकर्मनिष्ठयोरुभयोरपि श्रेयःप्रयोजकत्वमस्ति चेज्ज्ञाननिष्ठामनुष्ठायैव मोक्षसुखं प्राप्तव्यं कृतमनया युद्धहिंसाजन्यानर्थप्रचुरया कर्मनिष्ठयेत्यर्जुनस्याशंकामपाकर्तुं भगवान् क्रमेणैनं बोधयिष्या-

---

उपनिषद्भाष्यकारस्वामिश्रीवैष्णवाचार्यवेदान्ततीर्थप्रणीता-

*** गीतागूढार्थदीपिका ***

***अत्र प्रथमो हि शब्दः पूर्वश्लोकोक्तस्य द्वितीयस्त्वेतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तस्य चार्थस्योपपादक इति बोध्यम् ।**

ति । यतः सर्वोऽपि प्राणिसंघः +प्रकृतिजैः प्राक्तनकर्मानुगुण्येन वृद्धिं गतैर्गुणैर्देहोपादानभूतैस्सत्वादिभिः कर्मावशः कार्यते । 'चलं गुणवृत्तम्' इति स्मरणात् सर्वदा चञ्चलैः प्राकृतगुणैः प्रवर्त्यत एव । तस्मादादौ पुमान् कर्मयोग एवाधिकृतो भवति ।

मीति धिया व्यरीरचदुपपादननिपुणमूहापोहव्यूहं 'न कर्मणामनारम्भादि'त्येतद्वचनम् । अत्र च कर्मपदं श्रुतिस्मृतिविहितवर्णाश्रमादिधर्मपरमेव । इदमत्र विचार्यते । नह्याकस्मिकी कस्य चिद्वस्तुनः सम्भूतिर्भवतीत्यतो ज्ञाननिष्ठाया नियतपूर्ववृत्ति किमप्यवश्यं वाच्यम् । तद्यदि त्वदिष्टः कर्मानारम्भः कर्मसंन्यासो वा पूर्ववृत्तितामाश्रयिष्यत्तदातदा त्व हास्यदेवायासबहुलं कर्मयोगम् । न चैवमस्ति । यतः कर्मानारम्भकर्मसंन्यासावुभौ कर्माऽकरणेऽर्थ एव पर्यवसितौ । ततश्च कर्माऽकरणं न नैष्कर्म्यप्रयोजकमित्येष एव द्वयोरप्यर्थो निष्पद्यते । निश्चीयते चात एव 'कर्माचरणमेव नैष्कर्म्यप्रयोजकमि'त्यतोऽलब्धप्रसरेऽयमजनि वराकी कर्मणाम्परिजिहासा । समापन्नश्चातर्कितोपनतं तदेव कर्मानुष्ठानमित्यकामेनाऽपि त्वयाऽभ्युपेयम् । एवमापातरम्येनानेन निर्मूलतर्कतुन्दिलेन समाधिना नोपगम्यते तवेष्टसिद्धिरित्युदीरयन्नस्मिन्नर्थे कारणविधया स्वाभिप्रायमाविष्करोति—**नेति** । हि यस्मादिह कश्चिज्जातु कदाचित् क्षणमपि

गो.दी.–+सत्वादीनां गुणानां प्रवृत्तयो यतः प्राक्तनकर्माधीनास्ततः प्रकृतौनित्यं विद्यमानत्वेऽपि प्रकृतिजत्वमुक्तं तेषाम् । तथोक्तं विष्णुपुराणे—'कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते ! । अविद्यासञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥' (वि. पु. २। १३। ७०) इति।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

ततः सञ्जायमानायां मनोविशुद्धौ निष्कामकर्मानुतिष्ठन् ज्ञाननिष्ठामाश्रयेदिति श्रेष्ठः पन्थाः ॥ ५ ॥

कथञ्चित् कर्मेन्द्रियसंयममात्रेऽनर्थस्तदवस्थ इत्याह—कर्मेन्द्रियाणीति । यो दाम्भिको मोहाविष्टचेताः। रागानुवृत्तिविशिष्टस्वान्त इति यावत् । कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि संयम्य कथंचिद्वशीकृत्यापि मनसाऽन्तरिन्द्रियेणेन्द्रियार्थान् शब्दादीन् स्मरन्नास्ते स प्रधानभूतान्तरिन्द्रियस्यानिग्रहान्मिथ्याचारपरायण उच्यते । मनोनिरोधाभावे ज्ञानयोगस्यानधिकार्यपि ज्ञाननिष्ठ इव

क्षणमात्रमप्यकर्मकृच्छास्त्रीयाशास्त्रीयं कर्माकुर्वाणो न तिष्ठति। हि यतः सर्वोऽप्यखिलोऽपि जीवसमूहः प्रकृतिजैः प्रकृतिसम्भूतैः । प्राक्तनकर्मानुवर्त्तिभिरित्यर्थः । गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः कर्म स्वयोग्यं कर्मावशः स्ववशरहितः कार्यते प्रवर्त्यते ॥ ५ ॥

ननु बाह्यप्रयत्नात्कर्मेन्द्रियसंयमेऽप्यकर्मकृदवस्था सिद्ध्यति ततश्च सुकरो ज्ञानयोग इत्याशंकायामाह–**कर्मेन्द्रियाणीति** । यः कर्मेन्द्रियाणि कर्मसाधनानीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि संयम्य येन केन प्रकारेण । हठाद्युपायेनेति यावत् । वशीकृत्येन्द्रियवशीकारस्य योऽयं शास्त्रीयोपायो विषयविरक्तिसात्विकाहारसेवनादिस्तम्परित्यज्य हठात् कर्म्मेन्द्रियनिरोध एवात्र संयमोऽभिप्रेतः । मनसा रागरोगरूषितेनान्तरिन्द्रियेणेन्द्रियार्थान् तत्तदिन्द्रियविषयान् वचनादीञ्छब्दादींश्च स्मरन्नास्ते । बाह्यवि-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

तिष्ठति । स दाम्भिक इति पिण्डितार्थः ॥ ६ ॥

मनोनिरोधपूर्वकेन्द्रियनिरोधस्य श्रेष्ठत्वमाह—य इति । तुना पूर्वापेक्षयाऽस्य वैलक्षण्यमुच्यते । हे अर्जुन ! यः साधको मनसा भगवद्ध्यानवशीकृतचेतसा बुद्धीन्द्रियाणि नियम्य शब्दादिविषयेभ्यः समाकृष्यासक्तः फलकामनाहीनः सन् कर्मेन्द्रियैर्वागादिभिः कर्मयोगं ज्ञानोपायभूतं श्रुतिस्मृतिविहितकर्मानुष्ठा-
रक्तिमाश्रित्य कांश्चिद्वर्णाश्रमधर्मानपि सन्त्यज्यावतिष्टते स विमूढात्मा मोहावृतमनस्को मिथ्याचारो दाम्भिक इत्युच्यते । समुद्घाटितप्रासादमहाद्वारेषु चौरादिभिया सलिलिनिर्गमाल्पद्वारपिधानमिव विचारधिषणाऽनध्युषितमिदं कार्यमिति भावः ॥ ६ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्याऽप्यन्तरिन्द्रियस्यावश्यत्वे महानन्र्थ इत्युक्तमिदानीं कर्मेन्द्रियाणामवश्यत्वेऽपि वशीकृतेऽन्तरिन्द्रिये महान् गुण इत्युच्यते—**य इति** । तु शब्दः पक्षान्तरपरिग्रहार्थः । हे अर्जुन । यस्तु विवेकी पुमान् विषयवैतृष्ण्यपूर्वकमात्मप्रवणेन मनसा श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि नियम्यासक्तः फलाभिसन्धिरहितः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं स्ववर्णाश्रमोचिताचारानुगुणं ज्ञानयोगापरपर्यायपरभक्तिसाधकमारभते श्रुतिस्मृतिरूपभगवदाज्ञया प्राप्तत्वात्सादरमनुतिष्ठति स मोक्षोपायसाधको विशिष्यते । अनेन मनसोऽनिग्रहे दोषस्तन्निग्रहेच महान् गुणः 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो' रिति सिद्धान्तः स्पष्टीकृतः। तदामनन्ति

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नमारभते स विशिष्यते । श्रेयःसाधनानुगुणसन्मार्गारूढत्वादुत्कृष्ट इति भावः ॥ ७ ॥

प्रक्रान्तस्य कर्मयोगस्यैवानुष्ठानसौकर्याज्ज्यायस्त्वं वर्णयति—नियतमिति । त्वं नियतं वर्णाश्रमोचितं कर्मैव कुरु । यस्मादकर्मणः कर्माकरणाज्ज्ञानयोगाद्वा कर्मैव ज्यायः । प्रथमकर्तव्यताकत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वेन ज्ञाननिष्ठाप्रापकत्वेन च कर्मणो
श्रुतयः 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्' (श्वे. २।८) यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्' (ना. प.) इत्याद्याः ॥ ७ ॥

एवं कर्मणामनिवार्यत्वमावश्यकत्वञ्च संसाध्य तदनुष्ठाननैयत्यमिदानीमुपदिशति—**नियतमिति** । मोक्षसुखैकलिप्सया ज्ञाननिष्ठामवाप्तुमुत्सुकोऽपि त्वमिदानीं नियतं वर्णाश्रमोचितं मदाज्ञारूपं श्रौतं स्मार्तञ्च कर्मैव । कुरु प्रारब्धवशाद्वस्तुस्वाभाव्याच्चावसरप्राप्ते कर्मण्येव तवेदानीमधिकार इति भावः । ननु ज्यायस्त्वेन ज्ञानयोगमेव स्तौषि नियोजयसि च मां कर्मणीति कुतस्ते विसंवादिप्रवृत्तिरित्याशंकायामाह—**कर्मेति** । यतोऽकर्मणो ज्ञानयोगादपि कर्म ज्यायः। ज्यायस्त्वञ्चात्र कर्मयोगस्य सुकरत्वेन ज्ञानप्रयोजकत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वेन च विज्ञेयम् । ज्ञाननिष्ठायास्त्वादौ कर्मानुष्ठायानाद्यविद्यानिबद्धहार्दिककल्मषतमस्तोममुत्सार्य विशुद्धे चेतस्येव

ज्यायस्त्वमिति भावः । किञ्चाकर्मणः कर्मानुष्ठानमन्तरेण ज्ञान-योगमात्रानुष्ठानेन वा ते शरीरनिर्वाहोऽपि न प्रसिद्ध्येत् । तस्मा-

कस्यचित्सम्भवान्न सर्वस्य । 'कर्मणा मोहमुत्सार्य भक्तियोगं समाश्रयेत्' इति प्राचामुक्तेश्च । अत्राकर्मशब्दो ज्ञानयोगमेवाह 'नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति तदुपक्रान्तत्वात् । उत्तरार्धेऽभ्यस्तस्याकर्मशब्दस्य ज्ञानयोगपरत्वाच्च । न चोत्तरार्धे कर्मकरणत्वाभावमात्रबोधकं तदिति वाच्यं तथा सति तस्याभावत्वाविशेषात्तस्माच्छरीरयात्राप्रसिद्ध्यभावस्य बालैरपि सुज्ञेयत्वेन तदभिधानस्य वैयर्थ्यात् चशब्दवैयर्थ्याच्च । तस्मादत्रोभयत्राकर्मशब्दो ज्ञाननिष्ठारूपार्थमेवोपस्थापयति । न केवलं ज्ञानयोगापेक्षकर्मणो ज्यायस्त्वमस्तीत्येतावतैव तत्कर्त्तव्यमापद्यतेऽपि तु ज्ञाननिष्ठामात्रमधितिष्ठतस्तव शरीरयात्राऽपि न प्रसिद्ध्येत् । न हि ज्ञाननिष्ठत्वावस्थामुपसेदुषस्तव तस्मिन्नेव क्षणे कर्मनिर्मुक्तिर्मुक्तिर्वा सम्पद्यते । भोगायतनस्य शरीरस्य प्रारब्धकर्मोपभोगार्थं स्थायुकस्य प्रतिक्षणं शास्त्रीयमशास्त्रीयं वा कर्म कुर्वत एव स्थितिदर्शनादित्यर्थः । ज्ञाननिष्ठा हि निदिध्यासनादिरूपा सा च परभक्तिसाध्यश्रेयोनिर्वाहिका न तु शरीरयात्रानिर्वाहिका शरीरयात्रानिर्वाहकस्तु कर्मयोग एवेत्याशयः । एतदुक्तम्भवति । जन्मत एवायं पुरुषः शास्त्रीयेऽशास्त्रीये वा कर्मणि प्रवर्तते । ततो यथा यथाऽस्य हेयोपादेयबुद्धिरुन्मिषति तथा तथैहिकं पारलौकिकमापवर्गिकं वा कर्मानुतिष्ठति । प्राक्तनसंस्कारात्सद्गुरुमुपसद्य निष्कामकर्मभिर्भगवदाराधनकर्मभिश्च लब्धभगवदनुग्रहः कश्चिदेव मोक्षाभिलाषुको भवति । तदानीमेवास्य ज्ञाननिष्ठायां प्रीतिरुपजायते । 'जायमानन्तु

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

त्तव योग्यं कर्मानुष्ठानमेवेति भावः ॥ ८ ॥

ननु सर्वकर्मणां बन्धप्रदत्वात् 'न कर्मणा न प्रजया' इत्यादिश्रुतिभिस्तेषां मोक्षसाधनत्वनिषेधाच्च तत्परित्याग एवोचित इत्याशंक्य समाधत्ते—यज्ञार्थादिति । अयं कर्माधिकारी लोको यज्ञार्थात्कर्मणो 'यज्ञो वै विष्णुरि'ति श्रुतेर्यज्ञः परमपुरुषस्तदर्थं तदाराधनात्मकं कर्म सर्वमपि श्रौतं स्मार्तं कर्मामृतपदप्रेप्सयाऽनुष्ठीयते । तत्पदश्च परमपुरुषप्रसादलभ्यमित्यायातम् । परमात्मप्रसादप्रयोजकत्वं यज्ञादिकर्मण इति ततोऽन्यत्र मोक्ष-

पुरुषम्' इति मोक्षधर्मस्थवचनस्याप्यस्मिन्नेवार्थे तात्पर्यम् । न तु जन्मत उपनयनत एव वा श्रद्धत्ते ज्ञाननिष्ठाम् । तस्माज्ज्ञानयोगसाध्यपरभक्त्या मोक्षसिद्धये देहधारणमावश्यकं देहधारणाय च तदुपयोगिकर्मयोगोऽप्यावश्यक एवेति निष्पद्यते ॥ ८ ॥

अथ 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मु.) कृतेन कर्मणाऽकृतः परमपुरुषः परमात्मानुभवलक्षणो मोक्ष इति यावत् । नोपलभ्यत' इत्याद्यर्थकश्रुतिभिः 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः' इत्यादिस्मृतिभिश्च कर्मणो मोक्षानुपयोगित्वात्संसारबन्धजनकत्वाच्च श्रेयोऽर्थिभिर्हेयमेव कर्मेत्यर्जुनाशंकां सम्भाव्य प्रभुर्बन्धनिर्बन्धरूपाणि कर्माणि विविनक्ति—**यज्ञार्थादिति ।** अयं कर्माधिकारी ब्राह्मणादिर्लोकः यज्ञार्थात् 'यज्ञो वै विष्णुः' चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रतिभटक्षुद्रसुखैकलिप्सया गृहपुत्रकलत्रादिष्वभिनिवेशवता क्रियमाणे कर्मणि कर्मबन्धनो भवति। तस्माद्भगवत्प्रसादजनकं कर्म मुक्तसङ्गस्तत्फलतृष्णारहितः सन् समाचर श्रद्धातिशयेनानुतिष्ठ ॥ ९ ॥

श्रेयस्कामैः सर्वैः कर्मपरतन्त्रैर्बुभुक्षुभिर्मुमुक्षुभिश्च शरीरधारणं यज्ञशिष्टेनैवान्नादिना कर्त्तव्यमित्याह—**सहेति**। प्रजापतिः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामः। अत्र 'पतिं विश्वस्य' 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' 'सीतालक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः।' इत्यादिशास्त्रवचनप्रामाण्यान्निरुपाधिकः प्रजापतिशब्दः सर्वशेषिणं भगवन्तं श्रीराममेवाभिधत्ते। पुरा सृष्टिसमये। पञ्चभिरेवच। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स नो विष्णुः प्रसीदतु' (म. भा.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिश्च यज्ञः परमात्मेत्यवगम्यते। सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य कर्मणस्तद्भगवदर्चनवन्दनादिरूपं कर्म तस्मादन्यत्र तदितिरिक्ते क्षुद्रानन्दलिप्सयाऽनुष्ठीयमाने सांसारिके कर्मणि कर्मबन्धनः कर्मैव कर्मणा वा बन्धनं यस्य सः कर्मबन्धनो भवति। अतो हे कौन्तेय! परमपुरुषतुष्टिकरं तदुपासनोपयोगि कर्म मुक्तसङ्गः फलाभिसन्धिरहितः सन् भगवत्कैङ्कर्यबुद्ध्या प्रेमोत्साहपूर्वकमाचर ॥ ९ ॥

वर्णाश्रमधर्माणामवश्यानुष्ठेयत्वे प्रमाणान्तरमाह—**सह यज्ञा इत्यादिभिः**। पुरा सर्गादौ प्रजापतिर्महापुरुषो भगवान् कर्माधिकृतजनोपका-

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

सहयज्ञाः स्वाराधनात्मकयज्ञैः सहिताः। प्रजा ब्रह्मपर्यन्तान् यज्ञाधिकारिणः सर्वान् संसारिणो जनान्। सृष्ट्वा तासाम्प्रजानामुज्जीवनायैव ताः समुत्पाद्येत्यर्थः। उवाचाभिदधौ। अनेन मदाराधनात्मकेन यज्ञेन। प्रसविष्यध्वम्प्रसूयध्वम्। सर्वथाऽभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः। एष यज्ञः। वो युष्माकम्। इष्टम्परमपुरुषार्थमपवर्गं कामाँस्तदनुगुणानन्यान् कामाँश्च दोग्धि प्रपूरयतीतीष्टकामधुक्। अस्तु भवतु ॥ १० ॥

अथ मोक्षसाधनज्ञानाङ्गभूतो यज्ञो येन प्रकारेण जनानामिष्टकामधुग्भवति तत्प्रकारमाह—**देवानिति**। अनेन देवाराधनभूतेन यज्ञेन कर्मणा। देवान् 'यस्यात्मा शरीरम्' 'जगत् सर्वं शरीरं ते' इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यान्मच्छरीरभूतानिन्द्रादिदेवान्। भावयताराधयत। ते देवा यज्ञाराधितास्ते मदात्मकाः राय यज्ञेन सह वर्तन्त इति सहयज्ञाः प्रजा यज्ञाधिकारिण्यः सुखगृध्नवो ब्राह्मणादिरूपाः सृष्ट्वोवाच। अनेन प्रसविष्यध्वं कामनादानसमर्थेनानेन यूयं स्वस्वोन्नतिं कुरुध्वमेष च यज्ञो वो युष्माकं कामं मनोऽभिलषितं वक्ष्यमाणं परं श्रेयो नित्यनिरतिशयसुखं दोग्धि प्रपूरयतीति कामधुगस्तु ॥ १० ॥

कथं कामधुगित्याह—**देवानिति**। अनेन देवाराधनकर्मणा यज्ञेन देवान् मच्छेषभूतान् प्रेम्णा तर्पयत। ते च वो युष्मान् स्वा-

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

शक्रप्रभृतयो देवाः । वो याजकान् । युष्मान् । भावयन्तु स्वाराधनभूते यज्ञेऽपेक्षितैरन्नादिभिस्तत्तद्वस्तुभिः सम्बर्धयन्तु । एतेन देवताप्रीतिलक्षणापूर्वद्वारा फलसाधनतया यज्ञस्य नश्वरत्वेऽपि कालान्तरभाविफलप्रदानानुपपत्तिर्निरस्ता* । एवमुक्तप्रकारेण । परस्परमन्योन्यम् । भावयन्तस्तत्तदानुकूल्यसम्पादनेन सम्भावयन्तः। परं श्रेयोऽनवधिकातिशयसुखं मोक्षम् । अवाप्स्यथ प्राप्स्यथ ॥११॥

ऐहिकं फलमप्याह—इष्टानिति । यतो यज्ञभाविता यज्ञेन नित्यानुष्ठीयमानेनाराधिता देवा वो युष्मभ्यमिष्टान् परमपुरुषार्थसाधने परमोपयोगिनो भोगान् धनधान्यपशुपुत्रादीन्

राधने कर्मणि तत्तदानुकूल्यप्रदानेन भावयन्तु सम्यक् प्रीणयन्तु। एवं परस्परं भावयन्तस्तत्तदानुकूल्यं सम्पादयन्तः परं श्रेयो नित्यनिरतिशयसुखं मोक्षमवाप्स्यथ । स्वाधिकारानुगुणकर्मानुष्ठानेन श्रेयःप्राप्तेर्निश्चितत्वादिति भावः ॥ ११ ॥

देवाराधनात्मकयज्ञेन श्रायससुखलाभ इत्युक्तं तल्लाभाय बल्वत्प्रयत्नक्षमदेहरक्षणमप्यावश्यकं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु.) इति श्रुतेस्तद्रक्षणञ्चैहिकन्याय्यभोगसाध्यमित्यनेनैहिकमपिफलमुपलभ्यत इत्याह—

गी. दी.-*महाप्रलये त्विन्द्रादीनां देवानां लयेऽपीन्द्रादिदेवशरीरकपरब्रह्मश्रीरामप्रीतिद्वारा यज्ञस्य फलसाधनतेति न काचिदनुपपत्तिः ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

सन्मित्रकलत्रादींश्च दास्यन्ते । प्रागनुष्ठितयागप्रीतैस्तैर्देवैर्दत्तान् भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय देवयज्ञादिभिर्देवसादकृत्वा यः स्वयं भुंक्ते स स्तेन एव । नहि देवा स्वयं पाकादि निर्माय भुञ्जते किन्तु स्वदत्तानन्तैश्वर्यवताऽनुष्ठीयमाने याग एव स्वांशमाशासानास्तिष्ठन्ति । पूर्वाराधितदेवप्रसादलब्धैश्वर्यः पुरुषो यदि पुनर्देवाराधनं करोति चेत् तृप्ताः सन्तः पुनरपि तस्मायिष्टं ददते । यः पुनरेवं न्याय्यं नानुतिष्ठति स चौर एव देवद्रव्यापहारकत्वात् क्लेशभागिति भावः ॥ १२ ॥

तदेव गुणदोषप्रदर्शनविधया स्पष्टयति—**यज्ञशिष्टाशिन इति** । भगवदङ्गभूतदेवाराधनार्थमेव पक्कमादौ सर्वदेवाधिदेवाय तच्छेषभूतदेवेभ्यश्च निवेदितं यज्ञशिष्टममृतपदाभिलप्यमन्नम-

इष्टानिति । यज्ञैर्भाविता यज्ञभाविता यज्ञाराधिताः, देवा मच्छरीरभूताः शक्रादयः सुराः । वो बुभुक्षून् मुमुक्षूँश्च युष्मान् । इष्टान् स्वाराधनेऽपेक्षितान् । भोगान् धनधान्यादीन् । दास्यन्ते । तैः सुरैः । दत्तान् स्वाराधनाय प्रदत्तान् । भोगान् । एभ्यो भोगप्रदेभ्यः सुरेभ्यः। अप्रदायादत्त्वा । तद्दत्तान् पदार्थान् तेभ्योऽनिवेद्येत्यर्थः । यो जनः । भुंक्ते । स स्तेनश्चौर एव । मोक्षानर्हः स निरयं गमिष्यतीत्यर्थः ॥१२॥

पूर्वोक्तमेव विवृणोति—**यज्ञेति** । यज्ञस्य परमपुरुषाराधनरूपस्य यागस्य शिष्टमन्नादिकमश्नन्ति ये ते यज्ञशिष्टाशिनो यज्ञशिष्टैरन्नादिभिः

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

श्नन्ति तच्छीलाः सन्तः सज्जनाः सर्वैः प्राक्तनैः प्रमादालस्यादिभिरनुष्ठितेन कर्मवैगुण्येन चोद्भूतैः किल्बिषैर्मुच्यन्ते । ये तु परमात्मने तदङ्गभूतदेवेभ्यश्च न निवेदयन्ति स्वात्मकारणादेव पचन्ति ते हि पापबुद्धयोऽघमेव देवैर्दत्तस्य पुनस्तेभ्यः पक्वान्ननैवेद्यरूपेणाप्रदाय स्वार्थमात्रे प्रयुक्तस्याघौघोत्पादकत्वादघमित्युपचर्यते तदेव ते भुञ्जते । 'केवलाघो भवति केवलादी' इतिश्रुतेः। तथैवोक्तं मानवेऽपि शास्त्रे–विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यश्चामृतभोजनः । विघसं भुक्तशिष्टं स्याद्यज्ञशिष्टं तथाऽमृतम्' (३। २८५) तस्माद्देवनिवेदितान्नभोजिना भवितव्यं पुरुषेणेति भावः ॥ १३ ॥

एवं वर्णाश्रमोचितदेवाराधनादिकर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वमुक्त्वं पुनस्तस्य जगच्चक्रनिर्वाहकत्वादप्यनुष्ठेयत्वमाह—अन्नादिति । शरीरयात्रां कुर्वन्तः । सन्तः सज्जनाः । सर्वे च ते किल्बिषाश्च सर्वकिल्बिषास्तैरखिलैः पापैः । मुच्यन्ते । ये तु । आत्मकारणात् । स्वार्थमेवेत्यर्थः । पचन्ति । ते । पापाः पापिनः । अघमेव पापमेव । भुञ्जते ॥ १३ ॥

उक्तमेव सप्रमाणं प्रपञ्चयति—अन्नादीत्यादित्रिभिः । अन्ना-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ सजीवति ॥१६॥

त्रिभिः। अन्नादशिताद्रजस्तेजस्त्वेन परिणताद् भूतानि प्राणिनो भवन्ति जायन्ते । पर्जन्याद् वृष्टेरन्नानां व्रीह्यादीनां सम्भवोऽस्ति । पर्जन्यो हि यज्ञाद्देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपयागादुत्पद्यते । एतच्च शास्त्रतः सिद्धम् । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' (म.) यज्ञश्च याज्ञिकप्रयत्नजन्येन कर्मणा समुद्भवति । तच्च कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि । ब्रह्मशब्देन चात्र प्राकृतशरीरं गृह्यते । मम योनिर्महद्ब्रह्मेत्यग्रे प्रतिपादयिष्यते । तथाच प्राकृतशरीरसमुद्भूतं कर्म जानीहीत्यर्थः । 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' प्राकृतशरीरन्त्वक्षरपदबोध्यक्षेत्रज्ञात्समुद्भूतम् । क्षेत्रज्ञनियंत्रितं हि ब्रह्मप-

द्रजःशुक्रतया परिणतादन्नात् । भूतानि देममनुष्यादयः प्राणिनः । भवन्त्युत्पन्ना भवन्ति । अन्नसम्भवोऽन्नानामुत्पत्तिः । पर्जन्याद् वृष्टेः । भवति । पर्जन्यो वृष्टिः । यज्ञाद् यागात् । भवति । यज्ञो यागः । कर्मसमुद्भवो याज्ञिकोद्यमरूपकर्मजन्यः । कर्म यज्ञजनकं कर्म । ब्रह्मोद्भवं प्राकृतशरीरजन्यम् । अत्र ब्रह्मशब्देन प्राकृतशरीरमुक्तम् । विद्धयवगच्छ । ब्रह्म प्राकृतशरीरम् । अक्षरसमुद्भवमक्षरपदवाच्याज्जीवात् समुद्भूतम् । जीवाधिष्ठितस्यैव शरीरस्य कर्मजनकत्वात् । तस्मात् । सर्वगतमखिलसृष्टिषु सम्प्राप्तम् । ब्रह्म प्राकृतं शरीरम् । नित्यमजस्रम् । यज्ञे । प्रतिष्ठितं यज्ञाधिकारसम्पादकम् । अस्ति । एवमनेन प्रकारेण ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

दाभिलप्यं प्राकृतशरीरं तत्तद्धेयोपादेयेषु कर्मसु प्रवर्तितुं प्रभवति। कार्यप्रवृत्तिसामर्थ्यमेवात्र सम्भूतिरुच्यते। तस्मात्सर्वगतं सर्वेषु यज्ञानुष्ठातृषु सम्प्राप्तमिति प्राकृतशरीराख्यं ब्रह्म याज्ञिकाचारजन्यकर्मसाध्ययज्ञेऽनुष्ठातृतया सर्वदा प्रतिष्ठितम्। यज्ञाधिकारसम्पादकत्वेनावस्थितमित्यर्थः। अनेन प्रकारेण महापुरुषेण भगवता सजीवशरीरान्नपर्जन्ययज्ञकर्मजीवाधिष्ठितशरीररूपं चक्रमिव चक्रं प्रवर्तितं यः कर्माधिकारीह प्रवृत्तिबहुले जगन्मण्डले नानुवर्तयति भगवत्प्रवर्तितक्रममनादृत्य देवयजनमन्तरेण स्वयं भुङ्क्ते स अघायुः पापजीवनो निजेन्द्रियमात्रप्रीतिवर्धको हे पार्थ! स च व्यर्थमेव जीवति। न तेन स्वेतरदेवमनुष्यादीनां यज्ञाद्यनुष्ठानद्वारा लेशतोऽप्युपकारः क्रियत इति भावः ॥१४–१५–१६॥

इदानीं मुक्त इव स्थितस्य निरस्ताविद्यातत्कार्यस्यात्मनि-

प्रवर्तितं महापुरुषेण भगवता श्रीरामेण प्रवर्त्तितम्। चक्रम्। इहास्मिँल्लोके। यः पुरुषः। नानुवर्त्तयति न प्रवर्त्तयति। हे पार्थ! सः। अघायुरघजीवी। इन्द्रियारामो विषयभोगानुरक्तः। मोघं व्यर्थम्। जीवति प्राणधारणं करोति ॥ १४–१५–१६ ॥

एवं कर्मानुष्ठानस्य नैयत्ये समुपदिष्टे सर्वैरप्यविशेषेणामुक्तेः कर्मा-

ष्ठस्य कर्मप्रवृत्तिरकिञ्चित्करीत्याह—य इति द्वाभ्याम्। तुशब्दः कर्मवतोऽस्य वैलक्षण्यं सूचयति। यस्तूपासक आत्मरतिः स्वात्मनि स्वशेषिणि परमात्मनि च रतिर्निष्ठा यस्य स तथाभूत एव स्यान्नतु लौकिकविषयरुचिर्भवेदात्मना तृप्तो न तु वाहीकरसादिभिस्तृप्तस्स्यादात्मन्येव च सन्तुष्टो न तु लौकिकस्रक्चन्दनवनितादिषु तस्य परमात्मप्राप्तयेऽन्यत् कार्यं कर्म न विद्यते। समवाप्ताखिलफलत्वेन भगवदनन्यमनस्कत्वेन च विधिनिषेधापारतन्त्र्यादिति भावः। कुतो न विद्यते तदाह—नेति। तस्य साक्षात्कृतभूम्न आत्मसाधनेन कर्मणा प्राप्तव्यार्थो नास्ति स्वाभी-

नुष्ठेयमिति निसर्गादापद्यतेऽतस्तत्समाधित्सुर्भगवान् ज्ञाननिष्ठायाश्चरमकाष्ठाङ्गतस्य महापुरुषानुसन्धाननिष्ठस्य विनिवृत्ताखिलहेयोपादेयप्रवृत्तेस्तदनुष्ठाने न किञ्चित्प्रयोजनमित्याह—य इति। तुना कर्माधिकारिणोऽस्य वैलक्षण्यं द्योत्यते। यस्तु मानवः। आत्मरतिरात्मपरमात्मनिष्ठावान्। आत्मतृप्त आत्मपरमात्मभ्यामेव तृप्तो न वाऽऽत्मपरमात्मभिन्नैरन्नादिभिः। आत्मन्येव च सन्तुष्टो न त्वात्मपरमात्मभिन्ने दारदारकस्रक्चन्दनादौ। तस्य। कार्यमात्मपरमात्मावलोकनस्य साधननिरपेक्षत्वेनान्यत् करणीयम्। न विद्यते ॥ १७ ॥

तत्र हेतुमाह—नेति। इह। तस्य पुरुषस्य। कृतेनात्मसाधनेन कर्मणा। अर्थः प्रयोजनम्*। नैवास्ति। अकृतेन कर्माकरणेन।

गी. दी.—*अत्रार्थशब्दस्य प्रयोजनविषयत्वेन 'तस्य कार्यं न विद्यते।' इत्यनेन न पुनरुक्तिः।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

प्सितार्थस्य प्राप्तत्वात् । अत एवेह लोके कर्माकरणेन प्राप्तव्यस्यानवाप्तिरूपोऽनर्थोऽपि नास्ति । एवं सर्वेषु भूतेषु कश्चिदर्थस्य स्वीकरणीयताऽप्यस्य नैवास्ति ॥ १८ ॥

एवं पूर्णकामस्यात्मनिष्ठस्यैव कर्मानुष्ठानमनावश्यकं तवत्विदानीं फलासंगरहितं तदावश्यकमेवेत्याह—**तस्मादिति** । यस्मादात्मनिष्ठस्यैव भगवदेकमनस्कतया कर्मण्यरुचिर्युक्ता न तु सर्वस्य तस्मात्त्वं फलाभिलाषं हित्वा वर्णाश्रमोचितं नियतं कर्म यथाविधि यावज्जीवं समाचर । यतःफलतृष्णां विना भगवत्कैंकर्यबुद्ध्या कर्माचरन् पूरुषः परमात्मानं तदनुभवलक्षणं मोक्ष-

कश्चन । प्राप्यस्यानवाप्तिरूपोऽनर्थोऽपि । नास्ति । अस्य । सर्वभूतेषु सपरिणामेषु सर्वेष्वाकाशादिषु भूतेषु । कश्चित् । अर्थव्यपाश्रयोऽर्थ एव व्यपाश्रयः स्वीकरणणीयः । च । न विद्यते ॥ १८ ॥

सदात्मानुसन्धानयुक्तस्य नित्यतृप्तस्य कर्मश्रद्धाशून्यस्य मुनेरेव कर्मानुष्ठानमनावश्यकं न तु सर्वस्य । कर्माधिकारिणा त्वया तु फलासक्तिं विहाय तदनुष्ठेयमेवेत्याह—**तस्मादिति** । यस्मान्निरस्ताखिलकर्मवासनस्य चरमभूमिकामारुरुक्षोः कृतकृत्यस्य कर्मण्युपरतिर्युक्ता नान्यस्य । तस्मात्त्वमसक्तः कर्मफलतृष्णारहितः सन् सर्वदा कार्यं वर्णाश्रमोचितं नित्यनैमित्तिकं कर्म चित्तशुद्धये मद्भावप्राप्तये चामोक्षं समाचर यतोऽसक्तः फलाकांक्षारहितो मदाज्ञापालनबुद्ध्या कर्माचरन् पूरुषः परं निर-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥२०॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

माप्नोति ॥ १९ ॥

चित्तशुद्धिमतां ज्ञानिनामपि कर्मानुष्ठानमावश्यकमिति सोदाहरणमाह—**कर्मणेति** । विशुद्धान्तःकरणानां संयमवतां विदुषामपि कर्मानुष्ठानं श्रेयस्करम् । यतो जनकादयो वेदान्तपरिशीलिनो विद्वांसोऽपि कर्मणा वर्णाश्रमोचितेन नित्यादिकर्मणैव संसिद्धिमास्थिता निःश्रेयसं प्राप्तवन्तः । ननु कर्मणा सम्प्राप्ता-

तिशयानन्दं मोक्षमाप्नोति ॥ १९ ॥

ननु कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ' इति नियमाद् विद्यैव मोक्षजननी तथापि तदङ्गभूतानां कर्मणामनुष्ठानं विद्यावतामप्यावश्यकमित्यत्रोपदेश्यानुगुणं प्राचामाचारं प्रमाणयति—**कर्मणेति** । कर्माचरणैर्विशुद्धसत्वानामात्मविद्याधिकारिणामपि निःश्रेयसप्रयोजकतया कर्मयोगोऽपरिहार्य्यः । अतो जनकादयो जनकजैवलिजानश्रुतिप्रभृतयो राजर्षयः श्रुतिशास्त्रवेदिनोऽपि कर्मणा । सहयोगलक्षणा तृतीयेयम् । एवकारेण च ज्ञानयोगनिरतानामपि कर्मयोगमनुतिष्ठतामेव मोक्षोपलब्धिर्न तु कर्मपरित्यागेनेति ज्ञाप्यते । संसिद्धिं मोक्षमास्थिताः प्राप्तवन्तः । संसिद्धिरत्र समीचीना सिद्धिः परमा सिद्धिः सायुज्यमुक्तिरिति यावत् । न तु ज्ञानमात्रं जीवन्मुक्तिर्वा तयोरुक्तशब्दार्थाऽनभिधायित्वात् । लोकसंग्रहमपि, एवकारो

त्वमविद्यस्य किम्पुनः कर्मानुष्ठेयेति चेत्तत्राह—लोकसंग्रहमिति । लोकसंग्रहं सम्पश्यन् लौकिकानां केषाञ्चित् कर्मण्यश्रद्धावतां भूयः कर्मण्यादरो भवेदिति तत्संग्रहमर्थाल्लौकिकजनश्रद्धोत्पादनार्थमपि त्वं ज्ञानयोगाधिकारार्होऽपि कर्मैव कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

लोकसंग्रहप्रकारं दर्शयति—यद्यदिति । विद्याकुलैश्वर्यादिना श्रेष्ठोऽधिकप्रशस्यः पुरुषः यद्यत् कर्माचरतीतरः श्रेष्ठादितरः साधारणोजनस्तत्तदेवाचरति । स च यत्प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन स्वीकरोति तदन्योऽपि लोकोऽनुवर्तते प्रमाणत्वेन स्वी-

भिन्नक्रमः । न केवलं जनकाद्याचारादेवापि तु लोकानां ज्ञानिव्यतिरिक्तानां सर्वेषां कर्मणि प्रवृत्तिरूपं संग्रहं सम्पश्यन् कर्मैव कर्तुमर्हसि । केचित्त्वत्र जनकादिनिदर्शनेन क्षत्रियादेः कर्मण्येवाधिकारो न तु कर्मसंन्यास इत्युदीरयन्तो ब्राह्मणातिरिक्तस्य संन्यासग्रहणं निषिद्धमित्यूचुस्तन्मन्दम्, जनकादिनिदर्शनन्तु बोद्धव्यार्जुनस्य क्षत्रियत्वेन तदानुगुण्यसम्पादनायैव । क्षत्रियादेश्चतुर्थाश्रमेऽधिकारोऽस्ति न वेत्यन्यदेतत् । क्षत्रियादेरपि संन्यासाधिकारस्य कैश्चिदाचार्यैः साधितत्वादित्यलमनेनाप्रासङ्गिकेनेत्युपरम्यते ॥ २० ॥

अथ लोकसंग्रहमेवाभिधत्ते—**यद्यदिति** । जन्मदाक्षिण्यादिना श्रेष्ठः सम्भावितः पुरुषो यद्यत्कर्मानुतिष्ठतीतरो जन्मादिना ततोऽपकृष्टोऽपिजनस्तत्तदेवाचरति न तु स्वयमूहापोहं कृत्वाऽन्यदनुतिष्ठति । ननु स्वकर्तव्यं शास्त्रतः कुतो नावधारयतीत्यत आह—**स इति** । स यत्प्रमाणं कुरुते श्रेष्ठो यच्छास्त्रं प्राचीनव्यवहारं वा प्रमाणतयाऽभ्युपग-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

करोति । 'प्रधानानुवर्तिनो लोका' अतस्त्वया प्रधानेन राज्ञा कर्मानुष्ठानमेव कार्यमिति भावः ॥ २१ ॥

लोकसंग्रहार्थं कर्माचरणेऽहमेव दृष्टान्त इत्याह—नेत्यादि त्रिभिः । हे पार्थ ! मम पूर्णकामस्य निरंकुशैश्वर्यस्य त्रिषु लोकेषु प्राप्तये किञ्चन कर्तव्यं नास्ति । एवमप्राप्यं कर्मविशेषेणावाप्तव्यमपि नास्ति करामलकवत्सर्वं मज्ज्ञानगोचरं वस्तु मदायत्तमेव । एवं सर्वस्वतन्त्रोऽप्यहमखिलजगद्धिताय करुणया कर्मण्येव वर्ते ॥ २२ ॥

अवाप्तकामस्यापि स्वस्य कर्माचरणावश्यकतामाह—यदीति ।

च्छति लोकः प्राकृतो जनोऽपि 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति न्यायेन तदेवानुवर्तते । तस्माच्छ्रेष्ठेन त्वया लोककल्याणायावश्यमेव वर्णाश्रमोचितं कर्मानुष्ठेयमिति फलितम् ॥ २१ ॥

सदानपेक्षस्यापि मम लोकसंग्रहार्थं कर्मण्येव प्रवृत्तिरस्तीत्याह—**नेत्यादिभिस्त्रिभिः** । हे पार्थ ! सर्वस्वतंत्रस्यावाप्तकामस्य भगवतो मम सर्वत्रव्याप्यावस्थितस्य त्रिषु लोकेषु किञ्चनापि कर्तव्यं नास्ति । न वा पूर्वमनवाप्तमनन्तरं कर्मानुष्ठानेनावाप्तव्यमप्यस्ति । तथापि लोकोपकारमात्रेण कर्मण्येवाहं वर्ते ॥ २२ ॥

सर्वशक्तिमतः सर्वस्वतंत्रस्य ते कर्तव्याभावात् पूर्णकामत्वेन च

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

हे पार्थ ! अहं कर्मापरतन्त्रः सर्वेश्वरः सत्यसङ्कल्पो जगदुदयावनलयलीलो धर्मत्राणाय स्वेच्छागृहीतशिष्टाग्रगण्यवसुदेवतनयतनुरहं श्रीरामः× । जातु कदाचित् । अतन्द्रित आलस्यवर्जितः । सन् । कर्मणि कुलोचितवर्णाश्रमधर्माचरणे । न वर्त्तेयं यदि नानुतिष्ठेयश्चेत् । तदा मनुष्या असमग्रवेत्तारः कर्माधिकारिणः शिष्टा जनाः। मम स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्य-

स्वार्थाभावात् कुतः कर्मणि प्रवृत्तिरित्याशंकायामाह—**यदीति** । यद्यहं कर्माधीनप्रवृत्तिः सर्वनियन्ता सुरमहीसुरसौरभेयीसम्प्रार्थनया लोककल्याणसाधनोचितविशिष्टकुले लीलयावतीर्णोऽतन्द्रितः सन् कदाचित् कर्मण्युत्तमकुलानुकूले वर्णाश्रमोचितकर्मानुष्ठाने न वर्तेयम् तदा हे पार्थ ! ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोभिः सर्वेभ्योऽधिकस्य ममैव वर्त्म कर्माचरणसृतिं सर्वे ज्ञानशक्त्यादिभिर्मदपकृष्टाः किन्तुशिष्टा मनुष्याः कर्माधिका-

---

गो. दी. ×अत्र 'अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीरा परिजानन्ति योनिम्' (तै. आ. ३।१३।१) नाकारणात् कारणाद्वा कारणाकारणं न च । शरीरग्रहणं व्यापिन् धर्मत्राणाय केवलम् ॥ (वि. पु. ५।१।५१) समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतवर्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥ (वि. पु. ६।५।८४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनान्यनुसन्धेयानि ।

वीर्यतेजोविशिष्टस्य श्रेष्ठतमस्य मम । वर्त्म कर्माननुष्ठानाध्वानम् । निवृत्तिमार्गमिति यावत् । सर्वशः सर्वथा । अनुवर्त्तन्तेऽनुवर्त्तमाना भवेयुः । धर्मं मत्वा कर्मानाचरण एव प्रवृत्ताः स्युरित्यर्थः ॥ २३ ॥

श्रेष्ठपुरुषानुसरणेऽत्र को दोषः ? इत्याशङ्कायामाह—उत्सीदेयुरिति । अहम् । कर्म वर्णाश्रमोचितं कर्म । न कुर्याश्चेन्नानुतिष्ठेयं यदि । ज्ञानयोगमेव कुर्याञ्चेदित्यर्थः । तथा इमे कर्माकरणेन मामनुसरन्तः कर्माधिकारिणोऽकृत्स्नावबोद्धारोजनाः । उत्सीदेयुरुत्सन्नाः स्युः । शास्त्रीयकर्माचरणाभावजन्यप्रत्यवायेन

रिणोऽनुवर्तन्तेऽनुवर्तनं कुर्युः । कर्माकरणमेव धर्म इति विपरीतार्थग्राहिणो भवेयुरित्यर्थः । ननु सर्वश्रेष्ठेन त्वया कर्मण्यननुष्ठिते त्वदनुवर्तिभिर्लोकैरपि तथैवानुस्रियमाणे न दोषः प्रत्युत श्रेष्ठानुवर्तनं गुण एवेत्याशंकायामाह—**उत्सीदेयुरिति** । सर्वश्रेष्ठः सन् यद्यहं वर्णाश्रमोचितं कर्म न कुर्यां तर्हीमे मम मार्गानुसारिणो लोकास्त्यक्तकर्माणं मां पश्यन्तः सर्वसामर्थ्यवताऽस्मदपेक्षया श्रेष्ठतमेन श्रीकृष्णेन कर्म नानुष्ठीयतेऽतः-कर्मानुष्ठाने काप्यनर्थावाप्तिर्ध्रुवमस्त्यत एव तेन त्यक्तमतोऽस्माभिरपि हेयमित्यवधारयन्तो हीनकर्माणो भवेयुस्तत एव चोत्सीदेयुर्विनश्येयुरित्यर्थः । प्रवृद्धानामयं हि जीवनं स्वकुलोचिताचारप्रयोज्यं भवति । तदभावे चैषामुत्सादनं नियतमेव । ननु सर्वेश्वरस्य लीलागृहीतमानुष्यस्य सर्वशक्तिसमन्वितस्य तवाऽकर्मवश्यतामजानन्तो लोकाः कर्माकरणरूपं त्वदनुवर्तनमकरिष्यन्तर्हि स्वत एव व्यनंक्ष्यन्निति कस्तवापराध इत्याशंका-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तःसमाचरन् ॥२६॥

नश्येयुरित्यर्थः । संकरस्य धर्मसंकरस्य वर्णसंकरस्य वा । कर्त्ता विधायकः । स्यां भयेयम् । ततश्चेमाः प्रजाः । उपहन्यां नाशयेयम् । निरयगामिनीः सम्पादयेयमित्यर्थः । अतो मदादेशात् कर्मैवाचरणीयं त्वयेतिभावः ॥ २४ ॥

तस्मात् हे भारत ! अविद्वांसोऽकृत्स्नवेदिनः कर्मणि सक्ताः कर्मफल आसक्तिमन्तः सन्तो यथा कुर्वन्ति तथैव विद्वान् ज्ञानमपाकुर्वन्निदानीं कर्तृत्वमप्यभिधत्ते—**संकरस्येति** । तत्तज्जातिकुलव्यवस्थितकर्मणामननुष्ठाने कर्माकर्तृत्वेन सर्वेषामैकरूप्याद्वर्णसांकर्यमनिवार्यं स्यात् । तादृशसंकरस्य चाहमेव तन्निदर्शनभूतः कर्त्ता स्याम् । ततश्च जीवनाधारभूतस्य कर्मणोऽभावाज्जीवनावसानमेव स्यात्प्रजानाम् । एवमिमाः प्रजा अप्यहमेव हन्याम् । मन्निदर्शनमासाद्यैवाऽखिलाभिः प्रजाभिस्तथा कृतत्त्वादहमेवोपहतेरपि कर्त्ता भवेयम् । यथा प्रजारक्षकस्य मम तत्क्षयकरणमनुचितं तथा तवाऽपि प्रजारक्षाधिकारे प्रवृत्तस्य राज्ञः प्रियानुजस्य स्वधर्मस्य युद्धादेः परित्यागेन तन्निदर्शनीभूय प्रजाक्षयकरणमनुचितमिति भावः ॥ २३—२४ ॥

एवमल्पज्ञविदुषोः कर्मानुष्ठानसाम्येऽपि विदुषो यद्वैशिष्ट्यं तदाह—**सक्ता इति द्वाभ्याम्** । हे भारत ! अविद्वांसोऽल्पज्ञा लौ-

योगपरायणः शास्त्रज्ञोऽपि लोकसंग्रहं चिकीर्षुरसक्तः कर्मफलाभिलापरहितः सन् कर्मानुष्ठानं कुर्यात्:॥ २५ ॥

विद्वान् ज्ञानयोगी कर्मसंगिनामैहिकफलप्रेप्सया कर्मानुरागिणामज्ञानामकृत्स्नविदां 'ज्ञानमार्गावलम्बिनामेवाक्षय्यफलमोक्षोपलब्धिर्भवति न तु कर्मिणामित्याद्युक्त्वा बुद्धिभेदं न जनयेत् । यतो ज्ञानयोगानधिकारिणां तेषां कर्मयोगादपि प्रच्युतावुभयभ्रष्टतैवापतिता स्यादतो युक्तः स्वयं ज्ञानतत्परः सन् सर्वकर्माणि किकाचारमात्रनिरता इति यावत् । कर्मणि सक्ताः कर्मफलतृष्णयाऽभिनिवेशसहिता यथा येन प्रकारेण कर्मानुतिष्ठन्ति । तथा तेनैव प्रकारेण विद्वान् कर्मानुष्ठानविशुद्धान्तःकरणोऽपि ज्ञानयोगाधिकारनिरतोऽपि लोकसंग्रहं कर्तुमिच्छुरसक्तः फलासक्तिरहितः सन्नल्पज्ञवदेव कुर्यात् कर्मानुतिष्ठेत् ॥ २५ ॥

ननु कर्मयोगानुरक्तानामप्युच्चकक्षामारुरुक्षूणां कृते यथावसरं तद्धितकामेन विदुषा ज्ञानमुपदेष्टव्यमेवेत्याकांक्षायामाह—**नेति** । विद्वान् कर्मक्षालितकषायो ज्ञानयोगी कर्मज्ञानोभयरहस्यवेदीति यावत् । अज्ञानामल्पज्ञानां मनःशुद्धेरपूर्णतयाऽत एव तदवाप्तये कर्मसङ्गिनां लौकिकफललिप्सया नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मासक्तमनसां बुद्धिभेदं 'कर्मणां फलं निरतिशयसुखं निःश्रेयसं नैवास्ति किन्तु क्षयिष्णु स्वर्गादिकमेवातो देवपशवोऽज्ञा एव कर्माचरन्ति न तु ज्ञानवन्तः' इत्यनेन प्रकारेण बुद्धौ भेदं द्वैधीभावं न जनयेत् । तर्हि किं कुर्यात् ? युक्तः स्वयं ज्ञानयोगतत्परः सन् वर्णाश्रमोचितानि सर्वकर्माणि समाचरन् स्वयं सम्यग्जुषन्नज्ञान् जोषयेत्से-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्वविन्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

समाचरन् कर्मैकसेवनपरानज्ञानपि जोषयेत् ॥ २६ ॥

प्रोक्तं विद्वदविदुषोर्वैलक्षण्यं स्पष्टयति—प्रकृतेरिति द्वाभ्याम्। अहंकारविमूढात्माऽहंकारेण विमूढ आत्मा स्वरूपं यस्यासावनात्मनि देहादावात्मभ्रान्तियुक्तः पुमान् प्रकुतेर्गुणैः

वयेत् ॥ २६ ॥

सक्ताः कर्मणीति श्लोके विद्वदविदुषोः कर्मफलविरक्त्यनुरक्तिभ्यां यद्वैशिष्ट्यमुक्तं तद्धेतुप्रदर्शनविधया विवृणोति–**प्रकृतेरिति द्वाभ्याम्।** प्रकृतेरचित्पदवाच्याया अनादिभूताया गुणैः करणकलेवरत्वेन परिणतैः सत्वरजस्तमोभिः सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि कर्माण्यहंकारविमूढात्मा देहेन्द्रियादावात्मत्वधीरहंकारस्तेन विमूढो भ्रान्त आत्मा स्वरूपं यस्यासावहं कर्तेति मन्यते। परिणामिभिर्गुणैरेव सांसारिकसर्वकर्मसु यथायोग्यं कर्तृत्वं धार्यते। कर्तेति तृन्नन्तम्। अत एव नलोकेत्यादिसूत्रेण षष्ठीनिषेधात्कर्माणीति कर्मणि द्वितीयैव। स्वरूपप्रयुक्तकर्तृत्वस्यापि 'परात्तु तच्छ्रुते (ब्र. सू. २।३।४१) रिति न्यायेन परमपुरुषायत्तत्वेन जीवस्वातन्त्र्यं नैवास्ति। तथा चाहमेव सर्वकर्मणां कर्त्तेत्यज्ञजनाहंकारो भ्रान्तिमूलक एव ॥ २७ ॥

प्रोक्ताज्ञजनव्यवहाराज्ज्ञानिनो वैशिष्ट्यमुच्यते—**तत्वविदिति।**

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

सत्वादिभिः क्रियमाणानि कर्माण्यहं कर्त्तेति मन्यते। हे महाबाहो! गुणकर्मविभागयोस्तत्ववित्पुरुषस्तु गुणाः सत्वरजस्तमांस्येव गुणेषु सत्वादिनिष्पाद्येषु स्वकार्येषु प्रवर्तन्ते नाहमिति मत्त्वा न सज्जतेऽहमेव करोमीत्यासक्तिं नैव करोति ॥२७–२८॥

'न बुद्धिभेदं जनयेदित्युक्तं स्पष्टयन्नुपसंहरति—प्रकृतेरिति। प्रकृतेर्गुणैः सम्मूढाः पूर्वोक्तेषु गुणकर्मस्वेव सज्जन्ते 'अनुष्ठितस्यास्य कर्मणो वयमिदममृतोपमं फलमुपलप्स्यामहे' इति तृष्णाकुला भवन्ति। ते च ज्ञानयोगप्राप्यमात्मस्वरूपं नावग-

तुना पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमुच्यते। हे महाबाहो! गुणकर्मविभागयोर्विभागश्च विभागश्च विभागौ गुणाश्च कर्माणि च गुणकर्माणि तेषां विभागौ तयोरिति वृत्तिः। गुणानां शरीरेन्द्रियात्मना परिणतानां स्वरूपाद्विभागः कर्मणां तत्कार्याणाञ्च स्वरूपाद् गुणादिभ्यश्च विभागस्तयोस्तत्त्वविद् विवेकी गुणा एव गुणेषु तत्कार्येष्वपि वर्तन्ते न चाहं गुणतत्कार्यभिन्नः क्वापि वर्त्ते इति मत्त्वा गुणपरिणामदेहेन्द्रियादिषु तन्निर्वर्तितकर्मसु च न सज्जते ॥ २८ ॥

एवं कर्मकर्तृत्वाद्यहंकारवत्त्वेन कर्मफलासक्तिमत्त्वेन चाल्पज्ञस्यात्मविदो विज्ञाद्वैलक्षण्यमुपपाद्य न बुद्धिभेदमित्याद्युक्तं विवृण्वन्नुपसंहरति–**प्रकृतेरिति।** प्रकृतेर्गुणैः शरीरेन्द्रियाकारेण परिणतैः सत्वादिभिः। प्रकृतेरित्यस्य गुणसम्मूढपदार्थतावच्छेदकीभूतगुणपदार्थेनान्वयो न दोषाय

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

च्छन्ति । अतोऽकृत्स्नविदस्तान्मन्दान् कृत्स्नविद् गुणकर्मविभागविद्विद्वाननुष्ठीयमानात्कर्मयोगान्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

एवं कर्मणामवश्यकर्तव्यत्वमुपदिश्यानुष्ठानप्रकारमिदानीमुपदिशति—**मयीति** । मयि सर्वान्तर्यामिणि भगवति सर्वाणि कर्माण्यध्यात्मचेतसा स्वात्मतयावस्थितपरमात्मविषयेण मनसा

नित्यसापेक्षत्वेन 'शरैः शातितपत्र' इत्यादौ शातने शरकरणकत्वस्य यथाऽन्वयोपगमस्तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम् । सम्मूढा अनात्मभूतेषु देहादिष्वात्मभ्रममाप्नुवाना गुणकर्मसु करणकलेवराद्दत कर्मस्वेव सज्जन्ते । 'अपाम सोमममृता अभूम' 'कर्मफलं वयमेव भोक्ष्याम' इत्यासक्तिमासादयन्ति । अकृत्स्नविदोऽनधिगतात्मज्ञानाँस्तान् मन्दान् कृत्स्नवित् कर्मज्ञानरहस्यविद्विद्वान् यथाकथञ्चित् क्रियमाणात् कर्मणो नैव विचालयेत् । फलकामनया सकामकर्मानुष्ठानात्कर्मसामान्ये श्रद्दधते ततश्च निष्कामकर्मभिर्निष्कल्मषा ज्ञानयोगाधिकारिणो भवन्ति । ततः परमपुरुषप्रसादात् परभक्त्या मोक्षमाप्नुयुरिति क्रमेणाऽकृत्स्नविदोऽपि श्रेयःपथम्प्रतिपन्ना एव सन्तीति ज्ञात्वा कृत्स्नविन्नैव कदाचिदपि तांश्चालयेत् ॥२९॥

ननु फलासक्त्याऽनुष्ठितैः कर्मभिरल्पज्ञस्य बन्धस्तत्त्वविदस्तुफलतृष्णामन्तरेण लोकसंग्रहार्थमनुष्ठितैस्तैर्न बन्ध इति त्वयोक्तं तत्तथ्यं मया तु कथं कर्मानुष्ठेयमतो मदधिकारानुगुणप्रकारं ब्रूहीत्यर्जुनाशयमाकलय्य भगवान् स्वमतं विशदयन्नुपदिशति—**मयीति** । मय्यखिलात्मनि विश्व-

संन्यस्य ममात्मभूतः परमात्मैव कर्मसु मां नियोजयत्यतः स एव स्वातन्त्र्येण कर्तास्ति नाहं स्वतन्त्रोऽपि तु भगवत्परतन्त्र एवास्मीति स्वात्माधिपतये भगवते समर्प्य निराशीः फलाशारहितो निर्ममस्तत्र ममत्वहीनो भूत्वा विगतज्वरोऽन्तःसन्तापरहितो युध्यस्व युद्धं कुरु । एवमनुष्ठिते लोकशास्त्रयोरविरोधो मदाज्ञापालनमन्तःसन्तापशान्तिरिति सर्वं सिध्यति ॥ ३० ॥

शरीरके महापुरुषे सर्वाणि कर्माण्यध्यात्मचेतसाऽध्यात्मं यच्चेतः स्ववृत्तिसहितं मनस्तेन । स्वनियामकात्मनिविष्टमनसेत्यर्थः। संन्यस्य समर्प्य । अयमभिप्रायः । सर्वेषामात्मतयाऽवस्थितः परमात्मैव नियामकस्तदन्येऽखिलजीवास्तच्छरीरभूतास्तन्नियाम्या इत्येवं सर्वाः श्रुतिस्मृतयः प्राहुः। तथाहि—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ. ३।७।२२) 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा (काठ.२।५।१२) 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा' (श्वे.१।१२) जगत्सर्वं शरीरं ते' (वा.रा.यु.) 'प्रशासितारं सर्वेषाम्' (म.) इति । एवञ्च शरीरभूतस्य जीवनिकरस्य परमात्मप्रेर्यतया तत्परवशैरशेषजीवैरनुष्ठीयमानानि कर्माणि महापुरुषकर्तृकाण्येवातः स्वकर्तृकत्वाद्यभिमानं विहाय सर्वेश्वरः स्वाराधनाय स्वयमेव मां प्रवर्त्य कर्माण्यनुष्ठापयति । नाहं पराज्ञामन्तरेण शक्नोमि किञ्चिदपि कर्तुमिति विभावयन् विद्वान् सदा तिष्ठेदित्येतद्रहस्यं भगवानुपादिशत् । अत एव चोक्तं निराशीः कर्मफलतृष्णारहितोऽतएव निर्ममस्तत्र ममताशून्यो भूत्वा विगतज्वरोन्तःसन्तापरूपशोकमोहादिरहितः सन् युद्धमाचर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥३१॥

एवमुक्तप्रकारेणानुष्ठितस्य कर्मणो ज्ञानादपि ज्यायस्त्वमभिधाय विशिष्टं तत्फलमाह—य इति। ये मानवा मम सर्वे-

एवं फलासक्तिम्परिहाय परमेश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानं ज्ञानयोगादपि ज्याय इत्येतन्मतमेव प्रशस्तमतोऽस्यैव स्वमतत्वं श्रेयःसम्पादकत्वञ्च निर्वक्ति—**य इति**। ये मानवाः कर्माधिकारिणः श्रेयःसाधनसमर्थमिदं मम सर्वज्ञस्य सर्वलोकगुरोर्मतम्। स्वमतत्वेनास्यैव स्वीकारः स्वयमेव भगवता निष्कर्षाध्याये विहितः। 'एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम' (गी. १८।६) इति स्वकीये मनस्यवधार्य सर्वदाऽनुतिष्ठन्ति। ये चानुष्ठातुं न प्रवृत्ता अपि त्वत्र श्रद्धावन्तः श्रद्धामादरातिशयमादधाना अनुष्ठातुमुत्सुका इत्यर्थः। क्रमेणावशिष्टं कियत्कल्मषं विनाश्य विशिष्टश्रद्धा ह्यनुष्ठास्यन्त्यपीति भावः। ये चानसूयन्तो गुणेषु दोषाविष्करणमसूया बह्वायाससाध्ये कर्मणि प्रवर्तकोऽयमित्यादिरूपा तामकुर्वन्तोऽत ऊर्ध्वं क्रमेणापेतकल्मषा जातश्रद्धास्तेऽपि मन्मतमनुसृत्य कर्मानुष्ठास्यन्तीति भावः। ते सर्वेऽपि दुःखापादकबन्धहेतुभूतकर्मभिर्मुच्यन्ते। तदुक्तम्—धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा स्मृतो वा कथितोऽपि वा। अनुमोदितो वा राजेन्द्र ! पुनाति पुरुषं सदा (भा. आश्व. ९४।२९) इति। यत्तु मधुसूदनप्रभृतयः "तेऽपि सत्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण सम्यग्ज्ञानिवन्मुच्यन्ते कर्मभिर्धर्माधर्माख्यै"रित्याहुस्तन्मन्दम्। प्रकृतविरुद्धत्वा-

श्वरस्येदं सिद्धान्तत्वेनोदितं मतं नित्यमनुतिष्ठन्ति ये चाननुतिष्ठन्तोऽप्यत्र श्रद्धावन्तो ये च मद्वचस्यसूयारहितास्तेऽपि क्रमशः

द्भगवदुक्तिविरुद्धत्वाद्विशेषणानर्थक्याच्च। प्रकृतो ह्यत्र कर्मयोगो न तु ज्ञानयोगोऽस्य तु प्रकरणमेव नास्ति दूरे तिष्ठतु तावदुत्कृष्टापकृष्टत्वकथा। तथा चात्राऽपिना कथं कर्मयोगिनामपकर्षः प्रोक्तो भवेदतः प्रकृतविरोधः। एवं भगवानपि मयि संन्यस्येत्यादिनोक्तस्य कर्मण एवास्मिन् श्लोके फलमभिधत्ते। तत्र कर्मिणोऽपि ज्ञानिवन्मुक्तिर्जायते इत्युदक्षरत्वाद्भगवदुक्तिविरोधः। एवं श्रद्धानसूयाविशिष्टमानवकर्तृकानुष्ठानमित्यादिरूपे तदर्थे विशेषणानर्थक्यम्। यो नित्यमनुतिष्ठति स सश्रद्धो निरनसूय एव भवति। न ह्यसूयाधिष्ठिते श्रद्धाविरहिते पुंसि कर्मानुष्ठितिः सम्भवति। अतो न श्रद्धावत्वस्यासूयाभाववत्त्वस्य चारुण्यादिवन्मानप्रकारतयाऽनुष्ठानक्रियायामन्वयः सम्भवति। तस्मात्त्रिसंघातमुपेताश्चैते पृथगेवाधिकारिणोऽपिना समुच्चीयन्ते। नन्वेवमपि संघातद्वयमेव सिध्यति कर्मानुतिष्ठतामेकः कर्माननुतिष्ठतामप्यश्रद्धाऽसूयारहितानाञ्च द्वितीयइति चेच्छृणु, न ह्यत्र संघातद्वयमेव भगवदभिप्रेतमपि तु संघातत्रयम्। तथा हि भगवन्मतमनुसृत्य नित्यं कर्मानुतिष्ठताम्प्रथमः संघातः। कर्मानाचरतामपि भगवन्मतत्वेन तत्र श्रद्धावतां द्वितीयः। एवं ये कर्मानाचरन्तोऽश्रद्धालवोऽप्यसूयाशून्यास्तेषां तृतीयः। न चैतेषामेकेनापरयोर्गतार्थत्वमेकस्मिन्नन्ययोरन्तर्भावो वा सम्भवति तत्तद्रूपवैशिष्ट्यात्। नन्वेवं श्रद्धावत्वासूयाभाववत्त्वयोः समानधर्मिकयोर्धर्मयोः स्वाश्रयभेदकत्वनियमेन तत्तदर्थविधाने दुरुद्धरो वाक्यभेद एतद्दोषग्रहं सम्मार्ष्टीत्यत्र

येत्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् [illegible] नष्टानचेतसः ॥३२॥

कर्मभिः संसृतिप्रापकैः शुभाशुभैर्मुच्यन्ते । परं श्रेयः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ये तु मानवा एतन्मे मतं मदभिप्रेतमर्थं नानुतिष्ठन्ति ये चात्रासूयां कुर्वते तान् सर्वेषु ज्ञानेषु विमूढानत एवाचेतसो

ग्रहैकत्वमविवक्षितमित्युक्तं जैमिनीये । तस्मात्संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्यत इति चेच्चिरं जीवत्यायुष्मान्, सम्भवत्येकवाक्यत्व एव वाक्यभेदो न युज्यते । न ह्यत्रैकवाक्यता सम्भवति समुच्चयवाचकापिशब्दवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । एतेन कैमुत्यसूचनार्थोऽपिशब्द इति मतमप्यपास्तं प्रोदीरितदोषबाहुल्यात् । कैमुत्यसूचनार्थे प्रामाणिकैरपिशब्दस्याप्रयोगाच्च । अत एवात्र भगवत्पादीयानन्दभाष्ये संघातत्रयं पृथङ्निर्दिश्यापिना तत्समुच्चित्य मोचनक्रियायामन्वयोऽभिहितः संगच्छते ॥३१॥

प्रोक्तं भागवतमतमननुसरतो मनुष्यान्निन्दति—**य इति** । तु शब्दः पक्षान्तरद्योतकः । ये मानवाः प्राक्तनपापोदयादेतत् फलासक्तिमन्तरेण सर्वेश्वरे सर्वशेषिणि स्वात्मतयानुसंहिते मयि सर्वाणि कर्माणि समर्प्यैवानुष्ठेयानीति मे मतं नानुतिष्ठन्ति ये चात्राऽभ्यसूयन्तो वर्तन्ते तान् सर्वज्ञानविमूढान् सर्वेषु हेयोपादेयविषयेकेषु ज्ञानेषु विशेषेण मूढान् । न ह्येकमपि ज्ञानं तेषां शास्त्रसम्मतं भवति । सर्वार्थविपरीतग्राहिण इति यावत् । अत एवाचेतसो भ्रान्तमनस्कानत एव नष्टान् विद्धि परमार्थभ्रष्टानवेहि । अत्र चाननुष्ठातृणामेकोऽसूयावताञ्चैक इति संघातद्वयमेव

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

भ्रान्तचित्तानत एव च नष्टानासन्नविनाशान् विद्धि ॥ ३२ ॥

यद्येवं कुतो नात्र सर्वजनप्रवृत्तिरित्यपेक्षायामाह—सदृशमिति । ज्ञानवान् लोकवेदकोविदोऽपि स्वस्याः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशमेव हेयोपादेयविषयेषु चेष्टते । भूतानि प्रकृतिप्रयोज्यस्वभावनिबद्धप्राणिनस्तथाविधस्वभावमेवानुसरन्ति । अतो गुर्वादिनिग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

सम्भवति न तु तत्त्रयम् । यतोऽश्रद्धावन्तोऽप्यनाचरन्तोऽननुष्ठातृसंघेऽन्तर्भवन्ति । न ह्यश्रद्धावन्तस्तदानीमनुतिष्ठन्ति । अतोऽननुष्ठातृष्वन्तर्भावः । अत एव गीताचार्येणाऽपि मूले नोक्तम् । एवञ्च कैश्चिद् व्याख्यातृभिस्तात्पर्यचन्द्रिकाख्यटीकाकृता च पूर्वश्लोकवदत्राऽपि वर्गत्रयमुपन्यस्तं तदतिरभसादेवेति बोध्यम् ॥ ३२ ॥

नन्वेवं सर्वलोकगुरोस्तव मतं जगत्कल्याणायैवास्ति तथापि कथमत्र भूतानि न प्रवर्तन्त इत्यपेक्षायामाह—**सदृशमिति** । ज्ञानवान् लोकशास्त्रगतिविचक्षणोऽपि स्वस्याः प्रकृतेरनादिकर्मवासनारब्धस्वभावस्य सदृशमेव चेष्टते हिताहितेषु प्रवर्तते निवर्तते वा किमुतोऽज्ञः । अतः समस्तानि भूतानि प्रकृतिमनादिकर्मवासनारब्धस्वभावमेव यान्त्यनुसरन्ति । एवं स्थिते निग्रहो गुरुशास्त्रादिनियमनं किं करिष्यति । स्वभावपरवशाः सर्वेऽपि प्राणिनः प्रवृद्धरागद्वेषाभ्यां यथेष्टमाचरन्तीत्यर्थः ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

यदि ज्ञानिनोऽपि प्रकृतिवशगत्वं तदा ज्ञानफलं शान्तिर्न कस्याप्युपलभ्येतेत्यत उच्यते—**इन्द्रियस्येति**। तत्तदिन्द्रियविषये प्राक्तनकर्मवासनासमुद्भूतसंस्काराद्रागद्वेषाविष्टानिष्टवस्तुषु नियतावुत्पद्येते। तथा च श्रेयोधिकारिणो रागद्वेषपारवश्याच्छ्रेयः-साधने महानन्तरायः समुपस्थितो भवतीत्यभिप्रायः। तयोर्वशं मुमुक्षुर्नैव प्राप्नुयात्। यतस्तौ रागद्वेषावस्य मोक्षेप्सोः परिपन्थिनौ प्रबलपाटच्चरौ स्त इत्यन्तरमासाद्य सद्यः समवृत्तिवृत्तिमुच्छिद्य सत्स-

नन्वेवं सर्वेऽपि प्राणिनः स्वप्रकृत्यनुसारिण एव स्युस्तर्हि गुरुशास्त्रोपदेशस्यानर्थक्यं प्राप्तमित्याशंकायामाह—**इन्द्रियस्येति**। इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सया प्रतीन्द्रियम् प्रतिविषयमित्यर्थो लभ्यते। तथा च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि पंच मनश्चैकमुभयेन्द्रियमित्येकादशेन्द्रियाणि तेषामर्थे तत्तदिन्द्रियविषये शब्दादावनादिकर्मवासनारब्धस्वभाववशाद्रागद्वेषौ व्यवस्थितौ वर्तेते। शब्दादिविषयेष्वभिलषितेषु स्वाभाविक एव रागो जायतेऽनभिलषितेषु च द्वेषस्तथा चोत्कटरागाद्याक्रुष्टोऽयं साधकः श्रेयसे तात्कालिकमारब्धमिन्द्रियसंयमं जहाति। असकृदेवमेवेमौ साधकं श्रेयोऽध्वनः प्रच्याव्याधःपातयतोऽस्तयोर्वशं श्रेयोऽर्थी कथमपि नागच्छेत्। गुरुशास्त्रोपदेशनिशितशस्त्रेण तावेव विजित्य तिष्ठेत्। यतोऽस्य तौ रागद्वेषावेव परिपन्थिनौ श्रेयःसाधनधनं पारिपन्थिकवन्मुष्णीतः। अत एतयोर्जयाय गुरुशास्त्रोपदेश-

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ॥३५॥

म्पत्तिद्रविणमाहरतस्तस्मात्परवैराग्येण प्रमादमुत्सार्यानयोर्जयोऽवश्यमेष्टव्य इत्युपदेश इति भावः ॥ ३४ ॥

अथ दुःखरूपत्वेन यथावत्कर्त्तुमशक्यत्वेऽपि कर्मयोगस्य श्रेष्ठतामाह—**श्रेयानिति**। स्वधर्मः पूर्वाभ्यस्तसाजात्येन स्वत एव प्राप्तत्वाद्धेतोः प्रकृतिसंसर्गमवाप्तस्य पुरुषस्य स्वधर्मतां गतः कर्मयोगः। विगुणोऽपि वैगुण्यं गतोऽपि। अङ्गविकलोऽपीत्यर्थः। स्वनुष्ठितात् साङ्गं विहितात् परधर्मात् पूर्वाभ्यस्तवैजात्येन स्वतोऽप्राप्तत्वाद्धेतोः परधर्मतां गताज्ज्ञानयोगात्। श्रेयानतिशयेन प्रशस्यः। स्वधर्मे स्वधर्मभूते कर्मयोगे। प्रवृत्तस्य। निधनं तस्मिञ्जन्मनि फलमनुपलभ्य मरणमपि। श्रेयो जन्मान्तर आत्मपरमात्मावलोकनात्मकफलसम्भवाच्छ्रेष्ठम्। परधर्मः परधर्मभूतो ज्ञानयोगः। भयावहः प्रमादगर्भत्वेन भयङ्करः। प्रमादे सति जन्मान्तरेऽपि तस्य फलं न सम्भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सार्थक्यमिति भावः ॥ ३४ ॥

ज्ञानयोगात् कर्मयोगस्य प्राशस्त्यमाह—**श्रेयानिति**। स्वधर्मः सुकरतया स्वधर्मभूतः कर्मयोगः। विगुणोऽङ्गवैकल्यं प्राप्तः। अपि। स्वनुष्ठितात् सगुणादपि। परधर्मात् परस्य धर्मः परधर्मस्तस्माज्ज्ञानयोगात्। अपि। श्रेयान् श्रेष्ठः। स्वधर्मे कर्मयोगे। निधनं फलमनवाप्य मरणमपि। श्रेयः। परधर्मो ज्ञानयोगस्तु। भयावहो भयजनकः ॥३५॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच–

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम ॥३७॥

ज्ञानयोगे वर्त्तमानस्य पतनहेतुं पृच्छन्नर्जुन उवाच–अथेति । अथशब्दः प्रश्नार्थकः । हे वार्ष्णेय ! हे वृष्णिकुलावतीर्ण ! भगवन् ! अयं ज्ञानयोगे प्रवृत्तः । अनिच्छन्नप्यनभिलषन्नपि । केन केन हेतुना प्रयुक्तश्चोदितः । बलात् प्रसह्य । नियोजित इव । पापमनर्थम् । चरति ॥ ३६ ॥

एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच–केन प्रेरितो मनुष्यः पापोत्पा-

पूर्वं प्रत्यर्थं रागद्वेषयोर्व्यवस्थितिमभिधाय रिपुरूपयोस्तयोर्वशं न गच्छेदित्युक्तं तत्र रिपुर्हि स्वविरोधिनं झटिति विनाशाय पापमनुष्ठापयतीति नैसर्गिकमतः पापाचारप्रयोजकमेकं निर्णिनीषुरर्जुन उवाच–**अथेति** । अथेति प्रश्नारम्भे । हे वार्ष्णेय ! वृष्णिकुलसम्भूत ! अयं कर्मज्ञानेच्छुः पुरुषोऽनिच्छन् स्वयमनाकांक्षन्नपि केन हेतुभूतेन प्रयुक्तः प्रेरितो बलान्नियोजित इव न स्वयं नियुक्तोऽपि तु केनचिद्बलवता हठान्नियोजित इव पापमनर्थोत्पादकं दुष्कृत्यमनुचितविषयसेवनादिरूपं चरति ॥ ३६ ॥

अर्जुनेन पृष्टस्योत्तररूपेण श्रीभगवानुवाच—**काम इति** । रजोगुण-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्* ॥३८॥

दकं कार्यमाचरतीत्येतत्त्वया जिज्ञासितम् । स एष जिज्ञासाविषयीभूतः काम एव । स एव चावरुद्धगतिर्यदा जायते तदा क्रोधात्मना परिणमतेऽतः क्रोधोऽप्येषः, 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' (गी. २।६२) इत्युक्तेः । अयं च कामो 'रजोगुणसमुद्भवः' सत्वमभिभूय प्रवृद्धरजोगुणात्समुद्भवो यस्य स तथा महाशनो नानाविधविषयभोगग्राहकस्तृप्तिरहितोऽत एव महापाप्मा महति पापे प्रवर्तकः 'क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि' इति स्मृतेः । तस्मादेनं काममेवेह वैरिणं विद्धि ॥३७॥

कामस्य वैरित्वं दृष्टान्तैरुपपादयति—धूमेनेति । यथा

समुद्भवः सत्त्वगुणमभिभूय वृद्धिमापन्नाद्रजोगुणात् समुद्भूतः । महाशनो महदशनं यस्य स महाशनः पुष्कलेन विषयात्मकाहारेण पूरयितुमशक्यः । महापाप्मा सततमहितेषु विषयेष्वेव प्रवर्त्तकत्वादतिक्रूरः । एष त्वत्प्रश्नविषयतां गतः । काम एवैष क्रोधः । काम एव गत्यवरोधकजनं प्रति क्रोधात्मना परिणमत इत्यर्थः । इह मोक्षसाधके ज्ञानयोगे । एनं काममेव । वैरिणं शत्रुं । विद्धि ॥ ३७ ॥

वैरी स्वविरोधिनोऽपचिकीर्षया तदावासस्थानादिकमावृणोतीत्येतदपि

गु. दी.—*धूमादिदृष्टान्तत्रयेण क्रमशः कामस्यानादिवासनामूलकं सहजत्वं बाह्यविषयासङ्गलक्षणोपाधिमूलकं पुनःपुनरागमं दुःखेन निवर्त्यत्वञ्चावबोधितम् ।

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

धूमेन वह्निराव्रियते प्रकाशप्रचुरोऽपि वह्निराच्छाद्यते यथाऽऽदर्शो दर्पणो मलेन सान्द्रीभूतकिट्टेनोपरिष्टादवस्थितेनाव्रियते यथा चोल्बेन गर्भाशयेन गर्भः सर्वत आवृतस्तथा तेन कामेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

किमिदंशब्दवाच्यं यदावृतमित्यपेक्षायामाह—**आवृतमिति** । हे कौन्तेय ! एतेन निरुक्तेन कामरूपेणेष्टानिष्टवस्तुष्वनुरागविरागविषयाभिलाषेण नित्यवैरिणा । प्राकृतान्तःकरणधर्मत्वादादेहं संयमाय प्रयततां संयमविरोधित्वेन स्थितत्वान्नित्यप्रसिद्धं तथा कामेनाप्यावृतमिति दृष्टान्तत्रयेणोपपादयति—**धूमेनेति** । यथा येन प्रकारेण । धूमेन सहजेन । वह्निरनलः । यथा । मलेनागन्तुकेन कालुष्येण । आदर्शो दर्पणः । आव्रियत आच्छाद्यते । यथा वा । उल्बेन जरायुनामकगर्भावरणचर्मणा । गर्भो भ्रूणः । आवृत आच्छादितः । तथा तेन प्रकारेण । तेन पूर्वोक्तेन कामेन । इदम् । आवृतमाच्छादितम् ॥ ३८ ॥

'तेनेदमावृतम्' इत्युक्तमिदमर्थं विशिष्य दर्शयति—**आवृतमिति** । हे कौन्तेय ! एतेनोपवर्णितेन कामरूपेण कामः कामनैवरूपं यस्यासौ तेन नित्यवैरिणा । संसारिणामनादिसिद्धत्वान्निष्पन्नज्ञानानामप्याशरीरस्थिति वर्तमानत्वादारुरुक्षूणां तु ज्ञानस्यावृतत्वादेवास्य नित्यवैरित्वमुक्तम् । दुष्पूरेण दुःखेनापि पूरयितुमशक्येन । एतदेवोक्तं भारते—

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

वैरित्वं बोध्यम् । दुष्पूरेण दुःखेनापि पूरयितुमशक्येन 'तृष्णा खनिरगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्यते' इत्युक्तत्वात् अनलेनेष्टप्रतिघातेऽयमेव कामः कोपवृत्त्या ज्वलितं भवतीत्यतोऽनलत्वमप्यस्य । ज्ञानिनो निःश्रेयसाय यत्नमाचरतो ज्ञानं वृत्तिस्वरूपात्मकमुभयविधमपि ज्ञानमावृतमाच्छादितम् । एतेनास्य श्रेयो विघातकता स्पष्टं प्रतीयते ॥ ३९ ॥

ज्ञानावरकस्यास्य विनाशायाश्रयोऽभिधीयते—**इन्द्रियाणीति** । अस्य कामस्य । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दश बाह्येन्द्रियाणि । 'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्' 'तृष्णा खनिरगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्यते । या महद्भिरपि क्षिप्तैः पूरणैरेव खन्यते' (   ) । अनलेन च ज्वलनरूपेण कामनाभङ्गेऽयमेव कामः कोपरूपतामुपैति तदानीं ज्वलन एव । अथवाऽनलेन हुतभुग्रूपेण हुतद्रव्यावाप्तावधिकं वर्धते । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' (मनु.   ) अनलेन पर्याप्तिरहितेनेत्यर्थस्तु दुष्पूरेणेत्यनेन पौनरुक्त्यावहः । ज्ञानिन आरब्धज्ञानयोगस्यारुरुक्षोरिति यावत् । ज्ञानं धर्मभूतज्ञानमावृतम् । अस्याच्छादिते स्वरूपमप्याच्छन्नं भवति धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यमिति मतमङ्गीकृत्येदम् ॥ ३९ ॥

एवमावृतेः कर्तारं कर्म चाभिधाय तदुच्छेदसौकर्यायाधारोऽप्यभिधीयते—**इद्रियाणीति** । अस्य प्रबलशत्रोः कामस्येन्द्रियाणि बाह्येन्द्रि-

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अत्रेन्द्रियशब्दस्य गोबलीवर्दन्यायेन बाह्येन्द्रियरूपोऽर्थः । मनोऽन्तरिन्द्रियम् । बुद्धिरपुरुषार्थभूतेष्वर्थेषु पुरुषार्थत्वाध्यवसायः । च । अधिष्ठानमाश्रयः । उच्यते । एष कामः । एतैर्विषयोन्मुखैरिन्द्रियादिभिः । ज्ञानमात्मपरमात्मगोचरं ज्ञानम् । आवृत्याच्छाद्य । देहिनं शरीरिणम् । विमोहयति विविधं मोहयति । 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः ।' (वि. पु. ६।७।११) इत्याद्युक्तानेकरीत्या देहिनमात्मपरमात्मानुभवविमुखं विधाय विषयपरायणं विदधातीत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवं कामकर्तव्यमुपदिश्य तज्जयोपायमाह—तस्मादिति । हे भरतर्षभ ! यस्मादयं कामाख्यो रिपुर्मोक्षोपायस्य ज्ञानस्यैव नाशकस्तस्मात्त्वं प्रयत्नशीलः सन्नादौ मोक्षसाधनप्रयत्नारम्भ एवे-

याणि श्रोत्रादीनि वागादीनि चान्तरिन्द्रियं संकल्पवृत्तिकं मनो बुद्धिश्चाधिष्ठानमाश्रय उच्यते । मनस इन्द्रियत्वेऽपि पृथगुक्तिर्ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन । अत एवोत्तरश्लोकस्येन्द्रियाणि नियम्येत्युक्तिः संगच्छते । मनसोऽपीन्द्रियपदेनैव संग्रहात् । एतैरधिष्ठायैष कामो ज्ञानमावृत्य देहिनं देहात्माभिमानवन्तं विविधेन 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मति'रित्याद्युक्तेन प्रकारेण मोहयति ॥ ४० ॥

एवमधिष्ठानम्प्रदर्श्य तद्विनाशोपायमभिधत्ते—**तस्मादिति** । यस्मादयं कामः श्रेयोऽर्थिनामात्मसाधने प्रवृत्तानां ज्ञानमाच्छाद्य वैचित्यापादक-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे सांख्ययोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

न्द्रियाणि मनःप्रभृतीनि नियम्य गुरुशास्त्रनिर्दिष्टोपायैर्वशीकृत्य ज्ञानस्यात्मनिदिध्यासनरूपविज्ञानस्य नाशनं पाप्मानं दुष्टं ह्येनं कामं प्रजहि ॥ ४१ ॥

एवमिन्द्रियादीनामात्मसाधनानुष्ठानविरोधित्वेऽपि प्रबलविरोधिनः कामस्यैव तत्र परत्वं दर्शयन् तस्य च विजयेनैवेष्टसिद्धिरित्युपदिशति—**इन्द्रियाणीत्यादिभ्यां द्वाभ्याम्** ।

स्तस्माद् हे भरतर्षभ ! आदौ श्रेयःसाधनानुष्ठानारम्भे त्वमिन्द्रियाणि सर्वाणीन्द्रियाणि । मनसोऽपीन्द्रियत्वाविशेषान्न पृथगुल्लेखः । नियम्य विषयवैतृष्ण्यसात्त्विकाहारादिभिरुपायैर्वशीकृत्य ज्ञानस्यात्मयाथात्म्यगोचरस्य विज्ञानस्य स्वस्वरूपनिदिध्यासनस्य नाशनं विघातकमत एव पाप्मानं पापोत्पादकत्वात्पापरूपं ह्येनं कामाख्यं दुष्टं प्रजहि प्रणाशय ॥ ४१ ॥

आत्मप्राप्त्युपायापाये बाह्येन्द्रियाणामपि प्राधान्यमस्ति । प्रतिविषयं धावत्सु बाह्येन्द्रियेषु न हि श्रेयोर्थिभिः क्षणमपि शमः शक्यते साधयितुमत इन्द्रियाणि प्रधानान्याहुस्तत्त्वविदः । बाह्येन्द्रियेभ्योऽप्यन्तरिन्द्रियं मनः परं प्रधानं प्रोचुः । बाह्येन्द्रियविरामेऽप्यस्य संकल्पयतोऽतिदूरे शा-

इन्द्रियाणि पराण्याहुः श्रेयःसाधनविरोधे बाह्येन्द्रियाणि प्रधाना-न्याहुर्विद्वांसस्ततोऽपि बाह्येन्द्रियप्रयोजकत्वान्मनोऽन्तरिन्द्रियं परं प्रधानमाहुः । मनसस्तु बुद्धिः परा प्रधानभूता । बुद्धेरध्यवसाया-त्मकत्वेन प्राधान्यम् । यश्च बुद्धेरपि परः प्रधानभूतः स कामः । रजोगुणकार्यत्वेनेच्छात्मकस्य तस्य चाञ्चल्याद् धृत्यादेर्विघातक-त्वेन ज्ञानविरोधे प्राधान्यमित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण हे महा-बाहो ! बुद्धेरपि परमेनं कामाख्यं रिपुं बुद्ध्वाऽत्मना भगवद्भक्ति-संस्कृतया बुद्ध्याऽत्मानं मनः संस्तभ्य निष्कामकर्मयोगे संस्थाप्य दुरासदं दुर्जयं कामरूपं शत्रुं जहि विनाशय ॥ ४२–४३ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।

जगद्गुरु श्रीमदनुभवानन्दाचार्यप्रणीता–

श्रीगीतार्थसुधा

ज्ञानं कर्मेति निष्ठाद्वयमिह जगति प्राहुराम्नायविज्ञाः
कर्मारम्भं विहाय क्षणमपि भजते नैव कश्चित्प्रशान्तिम् ।
तस्मात्कर्मानुवृत्तिर्भवति मनसा न्यस्य कर्माणि सम्यक्-
कर्तव्या पुण्यपुंसा विगतफलतृषा प्रोक्तमेतत्तृतीये ॥ ३ ॥

न्तेः प्रत्याशा विरतव्यापाराणामपि बाह्याक्षाणां मनःप्रेरणया पुनर्व्यापारस-म्भवात् । मनसस्तु । तुशब्दः समुच्चये । परा प्रधानभूता बुद्धिर्विषये-भ्यो विरतेऽपि मनसि विरुद्धेऽध्यवसाये निश्चयाभावान्नात्मोपाये सम्भ-

वति प्रवृत्तिः । एवमेव यो बुद्धेरपि । तुरप्यर्थे । परतः । प्रथमार्थे तसिः। स कामो यतस्तस्य नित्यप्रप्रवृत्तिशीलेन रजसा जायमानत्वेनाभिलाषात्मक-त्वाच्छश्वत्प्रवर्तकत्वम् । सर्वाक्षोपरमेऽप्यस्यातिसूक्ष्मतयाऽऽत्मप्राप्तिप्रतिबन्ध-कत्वेनावस्थितत्वात् । यत्तु 'बुद्धेर्द्रष्टा परः आत्मा' इत्याहुस्तत्पूर्वा परवाक्यविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम् ॥ ४२ ॥

एवं मयोक्तेन प्रकारेण बुद्धेरपि परमेनं काममात्मप्राप्त्युपायप्रति-बन्धकं प्रत्यर्थिनं बुद्ध्वाऽऽत्मानं नानाविधापातरम्याभिः कामनाभिरितस्त-तो नीयमानमन्तःकरणमात्मना मदुपासनोद्रिक्तसत्वसमन्वितया बुद्ध्या सं-स्तभ्य मत्प्राप्तिफलकेषु कर्मस्वेव संस्थाप्य दुरासदं दुःखेनासादनीयं कामरूपं शत्रुं जहि विनाशय । हे महाबाहो ! महान्तौ बाहू यस्यासौ महाबाहुस्तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो ! अनेन सम्बोधनेन कामशत्रोर्विना-शनक्षमता त्वयि सर्वथाऽस्तीति सूच्यते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण जगद्विजयिसर्वतंत्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायेन ब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ।

हत्वा ज्ञानधनं विनाश्य समयं दत्त्वा गतिं नारकीं
दुःखानाञ्जनकास्त्यजन्ति विषयाः शब्दादयः प्राकृताः ।
ये तांश्च स्वयमुत्सृजन्ति पुरुषास्ते प्राप्नुवन्ति ध्रुवं
पाथेयं खलु मुक्तिधामगमने सीतापतेश्चिन्तनम् ॥

(जगद्गुरुश्रीटीलाचार्यः)

श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

आ॰ भा.–एवं कर्मयोगमभिधायेदानीं तद्भेदनिर्देशपुरस्सरं तस्य परभक्तिलक्षणे ज्ञानयोगे सहकारित्वं दर्शयितुं श्रीभगवानुवाच—इममिति। इमं मयेदानीं तुभ्यमुपदिष्टो योऽयं कर्मयोगस्तमिमव्ययम्। सर्वज्ञस्य ममोपदेशकस्याविनाशित्वान्मदुपदिष्टस्यास्य कर्मयोगस्याप्यविनाशित्वमिति भावः। योगमहं

अ.च.टी.–एवं गतेनाध्यायेन बुभुक्षुमुमुक्षूभयविधजीवानां सविशेषः कर्मण्यधिकारोऽभिहितस्तत्रानधिगततत्वज्ञानस्य सांसारिकवासनावासितान्तःकरणस्य कर्मयोग एव श्रेयस्करस्तस्य तदानीं मनसोऽसंस्कृततया परभक्तिसाधनज्ञानयोगेऽनधिकारात्सद्गुरूपसन्नस्य मुमुक्षोरपि फलाभिसन्धिरहितः कर्मयोगोऽनुष्ठेय इति विविच्य कर्मानुष्ठानं दर्शितम्। इदानीमनेन ज्ञानस्यैव प्राधान्ये वक्तव्ये कर्मणस्वरूपं तद्भेदोपपादनपूर्वक-

महाकल्पारम्भे मन्वन्तरादौ विवस्वते भास्कराय देवाय प्रोक्तवान्। विवस्वाँश्च स्वपुत्राय वैवस्वताय मनवे प्राह। मनुश्च स्वपुत्रायेक्ष्वाकवेऽब्रवीत्। इत्युक्तप्रकारेण परम्पराप्राप्तं पारम्पर्येण प्राप्तमिमपवर्गसाधनतयैव राजर्षयो विदुर्ज्ञातवन्तः। हे परन्तप! स च कर्मयोगो महता कालेन बोध्यबोधकतारतम्यादिह नष्टो विनष्ट-

मुपवर्ण्य तस्य ज्ञानाङ्गत्वं व्यवस्थापयितुकामोऽस्य कर्मयोगस्यानादित्वमादौ दर्शयितुकामः श्रीभगवानुवाच। किमुवाचेत्याह–**इममिति।** अव्ययं नाशरहितम्। सर्वशक्तिसर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टे नित्ये परमपुरुषेऽवस्थितत्वादविनाशिनमित्यर्थः। अखिलाश्रितजनापवर्गदायिनमिमं कर्मयोगं मत्स्वरूपजिज्ञासुजनानामनायासेनोद्धारायाहमेवादौ विवस्वते सर्वाधारभूतादित्यदेवाय प्रोक्तवानुपदिष्टवान्। विवस्वांश्च मनवे अविच्छिन्नसम्प्रदायाचारविचारसंरक्षकजगद्धितविशिष्टवचनभाषित्वेन शिष्टतमाय वैवस्वताय स्वतनयाय प्राह। मनुरपि स्वपुत्रायेक्ष्वाकवेऽब्रवीत्। एवं जगन्मर्यादास्थापकत्वेनातिप्रसिद्धैरस्य गृहीतत्वमिति नामोपादानात्सूच्यते। एवं परम्पराप्राप्तमविच्छिन्नोपदेश्यपरम्परया सर्गादिकालादारभ्येक्ष्वाकोरनन्तरमप्यक्षुण्णतयाऽन्यै राजर्षिभिर्गृहीतत्वात्सनातनत्वमस्योपपद्यत इत्यर्थः। राजर्षय इतिशब्देन क्षत्रियराजान उच्यन्ते। ब्रह्मर्षिभिस्तु तदानीं विदित एवेति भावः। त्वमपि राजर्षिरतस्त्वयाऽप्ययं ग्राह्य एवेति सूचयितुं राजर्षयो विदुरित्युक्तम्। यद्वा राजदन्तादित्वेन राजर्षिशब्दस्य श्रेष्ठर्षयः। एकशेषेण च वेदार्थद्दक्क्षत्रियराजानश्चार्थस्तथा च ब्रह्मर्षयो भृग्वादयो राजर्षयो मन्वादयश्चेमं योगं विदुर्ज्ञातवन्तः। हे परन्तप! स चायं

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

प्रायोऽभूत् । स एव चायं पुरातनो योगोऽद्य मया ते तुभ्यं प्रोक्तः । परमगुह्यस्याप्यस्य योगस्य भूयः प्रवचने हेतुं निर्दिशति—भक्त इति । हि यतस्त्वं मे भक्तो मय्यतिशयानुरक्तोऽसि सखा सख्यभक्त्या सर्वदा मच्छरणागतश्चासि । अतश्चैतदुत्तमं रहस्यमनधिकारिणेऽदेयत्वात्परमगोप्यं ज्ञानं मदतिरिक्तेन ज्ञातुमनर्हं कुतस्तर्हि प्रवक्तुमित्यवगन्तव्यम् ॥ ३ ॥

विवस्वते योगमिममहं प्रोक्तवानिति भगवद्वचस्यसंभवं योगो महता कालेन कालमहिम्नेह जगतीतले नष्टो विलुप्त इव सञ्जातो न तु सुतरां नष्ट एवाविच्छिन्नसम्प्रदायनाशे प्रमाणाभावात् । नारदव्यासभीष्मोद्धवादीनामेतज्ज्ञानवतामधुनापि सत्त्वात् । अतः प्रचारमान्द्यमेवात्र नाशः । स एवायं पुरातनश्चिरन्तनो योगो मया तेऽद्य प्रोक्तो विपरीतभावनानिरसनपूर्वकमुक्तः । प्रवचने हेतुमाह यतस्त्वं मे भक्तो ममाराधनैकसाधनवाननन्यभक्तिनिष्ठोऽसीति यावत् । न केवलमाराधनवानेवापि तु सखा चेति हेतोः रहस्यं ह्येतदुत्तमं हि यत एतद्यन्मयोक्तं तदुत्तममुपादेयतया त्रय्यन्तप्रतिपादितत्वादुत्कृष्टमत एव रहस्यं परमगोपनीयत्वादभक्तायामित्राय च नोपदश्यं किन्तु भक्ताय सख्ये चैवोपदेश्यम्। रहस्यत्वादेव मद्व्यतिरिक्तेन ज्ञातुमुपदेष्टुञ्चाशक्यमिति ध्वनितम् ॥ ३ ॥

अथोत्पत्तिविनाशरहितस्यापि भगवतो जगत्कल्याणायैवावतारग्रहण-

मन्वानोऽर्जुन उवाच—**अपरमिति** । भवतो मदध्यक्षमुपविष्टस्य मन्मित्रत्वेन मत्समानवयस्कत्वेन च विद्यमानस्य भवतो जन्मापरं कालकृतकनिष्ठत्ववद्विवस्वतश्च जन्म परं कालसंख्यया ज्येष्ठत्ववत्तथा भवतो मत्सदृशमनुष्यत्वादपरत्वं विवस्वतश्च देवत्वात्परत्वमिति प्राचीनार्वाचीनकालस्थितयोर्देवमनुष्यदेहस्थितयोश्च यौगपद्यासम्भवात्त्वमेवादौ तदानीन्तनकालेऽवस्थिताय देवशरीरकाय विवस्वते प्रोक्तवानित्येतदहं कथं विजानीयाम् । न च देवमनुष्ययोर्यौगपद्यं शरीरभेदेन सम्भवत्येवेति वाच्यम् । मनोर्जा-

मन्यद्वा प्रयोजनमित्याद्यर्थजातं प्रसङ्गतो भगवन्मुखादेव निर्णिनीषुरर्जुन उवाच—**अपरमिति** । भवतो मद्वयस्यस्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णस्य जन्मापरमल्पतरतपनपरिस्पन्दवद्विवस्वतश्चजन्म परं बहुतरतपनपरिस्पन्दवदिति तथा भवतो मनुष्यत्वान्मनोरर्वाचीनोत्पत्तिकत्वेनापरत्वं विवस्वतश्च देवविशेषत्वान्मनोश्चजनकत्वात्प्राचीनत्वमिति परत्वमेवं सति त्वमेवादौ प्रोक्तवानित्यतेत्कथमहं विजानीयाम् । कालभेदाज्जातिभेदाच्च यौगपद्यासम्भवात् । न च शरीरस्य नश्वरत्वेऽपि तदध्यक्षस्याविनाशित्वाद्यस्मिन् कस्मिन्नपि प्राग्जन्मनि विवस्वत उपदेशः सम्भवत्येवेति वाच्यम् , परिमितशक्तिकस्यार्वाग्दृशो प्राग्जन्मन्यनुभूतस्य स्मर्तुमशक्यत्वात् । अत्रायमभिसन्धिः । साम्प्रतिकयुद्धोद्योगात्प्रागेव युधिष्ठिरानुष्ठितराजसूययागे प्रथमपूजितत्वेन विदितापरिमितशक्तिकत्वात् ' कृष्ण एव हि लोकाना मुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ॥' (भा. स. ३८।२६) इति भीष्मवाक्यात् । नमे पार्थास्ति कर्तव्यं

भगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ! ।
तान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

तस्य परिमितवयस्कस्य मनुष्यस्य मनुसृष्टेः प्रागादित्यावस्थितिकालेऽसत्वात् । अथ सर्गादौ देवादिरूपेणैवोपदेशस्तदा किम्प्रयोजनकः स तदानीमिति प्रश्नाशयः ॥ ४ ॥

एवमर्जुनप्रश्नस्योत्तरमकर्मवश्यत्वेन स्वतन्त्रेच्छत्वेन तथा सम्भवतीत्यादिकं श्रीभगवानुवाच—बहूनीति । हे अर्जुन ! मम जन्मानि बहूनि व्यतीतानि तवापि जन्मान्यनेकानि त्रिषु लोकेषु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ (गी. ३।२२) इति स्वयं भगवद्वाक्याच्चार्जुनः श्रीकृष्णं सर्वेषामादिकारणं सर्वैश्वर्याश्रयं स्वयमवगच्छत्येव । अत एव 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम्प्रपन्नमिति तत्प्रपत्तिमङ्गीकृत्य यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितमिति निश्चितश्रेयोविषयिणी जिज्ञासा तस्याग्रे प्रकटीकृता । एवञ्च सर्वशक्तिसमन्वितस्य निरवद्यकल्याणगुणाकरस्य परस्य पुंसोऽतिमानुषं कर्म जानानोऽप्यर्जुनो यामिमामपरं भवतो जन्मेत्यादिना शंकामुत्थापयति तस्याश्च समाधानविधया भगवन्मुखादेव तस्याखिलजगदादिकारणत्वं कार्यानुगुणावतारधारकत्वं तदवताराणां संत्यत्वं तत्र हेतुप्रकारः समयनिर्देशः प्रयोजनञ्च तस्येत्यादि सर्वं शुश्रूषुरेवेति निश्चीयते ॥ ४ ॥

'अपरं भवतो जन्मे' त्यनेन भगवदवतारविषये पृष्टवानर्जुनस्तत्र किं भगवदवतारस्य तात्त्विकत्वमाहोस्वित्काल्पनिकत्वमित्येको विशयः

व्यतीतानि । इदञ्च निदर्शनार्थमुच्यतेऽनाकांक्षितत्वात् । जन्मोपादानेऽपि स्वरूपस्वातन्त्र्यं नापैति । अर्जुनजन्मवत्कर्मपरवशताया भगवज्जन्मनोऽयुक्तत्वात् । लोकरञ्जनार्थमेव जन्मानुकूलमनुतिष्ठति परेशः। तथा चोक्तं 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्र. सू. २।१।३२) इति । अत एवोत्तरभागार्थः संगच्छते । हे परन्तप ! तानि मदीयत्वदीयजन्मान्यहं वेद सर्वज्ञत्वान्निरस्तसमस्तदोषत्वे सति दिव्यकल्याणगुणाश्रयत्वाच्च । न तु त्वं वेत्थ कर्मरूपयाऽना-

कथमवतरतीति द्वितीयः कीदृशं तच्छरीरं प्राकृतमप्राकृतं वेति तृतीयो निर्धारितानेहस्यवतरति यदा कदा वेति तुरीयः कस्मै प्रयोजनायेति च पञ्चम इत्येतेषां संशयानां समाधानमावश्यकं मत्वादिमं समाधातुं श्रीभगवानुवाच—**बहूनीति** । हे अर्जुन ! मे मम जन्मान्यवतारतया परिगणितानि बहूनि व्यतीतानि । तव च । चोऽप्यर्थः । उदाहरणार्थमत्रार्जुनजन्मबहुत्वकथनम् । आवयोर्व्यतीतानेकजन्मनोरपि तव कर्मपारतन्त्र्याज्जन्म मम तु कर्मानधीनोऽवतार इयानेव भेदः । स्वतन्त्रे सर्वाध्यक्षे मयि कर्मादीनामनीश्वरत्वादिति भगवदाशयः । अवगम्यते चैतत्—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (श्वे. ४।६) 'य ईशेऽस्यजगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय' (श्वे. ६।१७) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' (श्वे. ६।१६) 'तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥' (वि. पु.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । तथा च जगल्लीलाविलासाय कार्यानुगुणं यत्रकुत्राप्यवतीर्य सर्वलोकचमत्कृतिकराण्यसा-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

द्यविद्ययाच्छादितस्वरूपज्ञानत्वात् । एवमनेन भगवद्रूपस्यावतारपक्षेऽपि मनुष्यशरीराद्वैलक्षण्यमभिहितम् ॥ ५ ॥

एवमवतारस्य पारमार्थिकत्वमभिधाय कथं किमात्कमवतरतीत्युच्यते—अज इति । अजोऽकर्मपरवशतया जन्मादिरहि-

धारणानि कार्याणि कुर्वन्नपि स्वप्रणतजनमनोनयनानन्दप्रदानाय जन्मानुकूल्मेव साधारणजन इव व्यवहरति । यथा बाल्य एवाऽहल्योद्धारो गोवर्धनोद्धारश्चाजगवखण्डनमाचार्यतनयानयनञ्चेत्येवमादीन्यैश्वर्यद्योतकान्यसाधारणानि कार्याणि । पितुर्निदेशेऽवस्थानादिकञ्च जन्मानुगुणं व्यवहारोपयोगि । तानि सर्वाणि जन्मान्यहं वेद । त्वज्जन्मनां ममजन्मनाञ्चाहमेव ज्ञातेत्यर्थः । न त्वं वेत्थ नैव जानासि । तव जन्मनामपि तव वेदनासामर्थ्यं कर्मपारवश्येन संकुचितज्ञानत्वादिति भावः । अत्र च जन्मानीति कथनमवतारस्य तात्विकत्वं प्रकटयति । अन्यथा काल्पनिकजन्मानीत्येव ब्रूयात् । तव जन्मानीति निदर्शनतयोपात्तस्यार्जुनजन्मनोऽपि न काल्पनिकत्वमिति तथाविधस्य भगवदवतारस्यापि न काल्पनिकतेति विज्ञेयम् । एतेन परमात्मनोऽवतारस्य तात्त्विकत्वमिति समाधानादाद्यः संशयोऽपाकृतो भवति । परन्तपेति सम्बोधनेनोक्तार्थे दार्ढ्यमापाद्यते ॥ ५ ॥

एवमकर्मवश्यत्वेनासम्भ्रान्तसर्वविषयकवेदनाश्रयत्वेन च स्वावतारयाथात्म्यमभिहितम् । इदानीं कीदृशं स्वदेहमाश्रित्य केन प्रकारेणावतरतीत्येतद्द्वयं समाधत्ते—**अज्ञ इति ।** अजः कर्माधीनजन्मरहितस्सन्न

तोऽपि सन् भूतानामशेषप्राणिनामीश्वरोऽपि सन्नव्ययात्माऽविनश्यत्स्वरूपः स्वां स्वकीयां प्रकृतिं स्वभावमधिष्ठायात्मनस्स्वस्य माययाऽतर्क्यमनीषया सम्भवामि स्वावतारमाविष्करोमि । तथा च श्रुतिः 'अजायमानो बहुधा विजायते' (पु. सू.) इति । एवञ्चाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्यागुणाकरो भगवान् स्वानन्यभक्तानुग्रहार्थं कर्मवश्यतामन्तरेण स्वेच्छयैव स्वकीयं दिव्य-

व्ययात्मा विकारिपदार्थान्तरवत्स्वरूपतो धर्मतश्च विकारषट्कानाक्रान्तः सन् भूतानां सर्वेषामीश्वरोऽधिपतिरपि 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः' (बृ. ४।४।२२) इति श्रुतेः । स्वरूपपरिणमिनोऽचिद्वस्तुनो देहद्वारा परिणामजुषां बद्धजीवानां कादाचित्कज्ञानसंकोचविकाशजुषां मुक्तानां परिमितैश्वर्यशालिनां नित्यानाञ्च व्यावृत्तिबोधकैरजाव्ययात्मभूतेश्वरशब्दैर्भगवत उभयलिङ्गत्ववैशिष्ट्यमप्युच्यते । एतादृग्गुणविशिष्टोऽपि सन् स्वां प्रकृतिं स्वभावमधिष्ठाय समाश्रित्यात्मनः स्वस्य माययेच्छया सम्भवाम्याविर्भवामि । अत्र प्रकृतिशब्देन भूतप्रकृतिर्नोच्यतेऽपि तु 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोरि'ति (मेदिनी) कोषात्स्वभावः । मायाशब्दोऽप्यत्र न विचित्रसर्गजननीं कपटपटीयसीं वृत्तिं वाऽभिधत्ते किन्तु पारमेश्वरं संकल्पमेव । सार्वज्ञ्यसत्यसंकल्पत्वादिगुणैर्नित्ययुक्तोऽपि भगवान् स्वावतारेषु तत्तद्गुणपूर्णस्य स्वस्वभावस्याविर्भावस्तिरोभावो वा यथारुचि करोति । स्वाभाविकं रूपञ्च 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा. ६।६।) 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' (छा. १।६।७) आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'

मङ्गलविग्रहमप्राकृतमेव प्रकटय्य लीलाविभूतिमलंकरोति । तथैव प्रतिपादयन्ति श्रुतिस्मृतयः 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा १।६।६) आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (पु. सू.) 'न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः (भारते) 'श्रीशार्ङ्गधारिणं रामं सच्चिदानन्दविग्रहम्' (सनत्कु. सं. रामस्तवराजे) 'परमात्मा परब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः।' (पाद्मोत्तरखंडे) 'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा'

(पु. सू.) 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' 'नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा' 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा. ३।१४।२) 'न भूतसंघसंस्थानो देहोस्य परमात्मनः' (भारते) 'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा' (वि. पु.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु विशुद्धसत्वात्मकमप्राकृतं दिव्यमेवेति प्रतिपादितम् । अनेनैव स्वाभाविकेन रूपेण स परात्परः परमपुरुषोऽवतरति । तथैवावतारोऽपि 'अजायमानो बहुधा विजायते' (पु. सु.) 'समस्तकल्याणगुणात्मकोसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ' (वि. पु.) 'स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः । अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥ (वा.अ. १।७) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिरुपपादितः । 'प्रकृतिं स्वामित्यस्य भगवतो दिव्यमंगलविग्रहपरत्वमेवेति निर्णयः पूर्वोत्तरवाक्यैकवाक्यत्वसामर्थ्यात् । पूर्वत्र जन्मप्रसङ्गमाश्रित्य 'बहूनि मे व्यतितानि जन्मानि' इति वाक्यं जन्माभिधत्ते । तदिदं जन्माक्रियस्य निरवयवस्य च न सम्भवति । विग्र-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥

(वाराहे) तथा चाहुस्सदाचार्याः श्रीराघवांघ्रिवर्णने.......... ....उक्तश्चास्मद्गुरुवर्यैराचार्यसार्वभौमैर्जगद्गुरुश्रीराघवानन्दमहामुनीन्द्रैरपि 'दिव्यदेहाय हृद्याय दिव्यालङ्कारधारिणे । दिव्यपरिकरायाथ राघवेन्द्राय मङ्गलम्॥' इति ॥ ६ ॥

अथ कदा परमपुरुषोऽवतरतीत्याशंकायामाह—**यदेति** । हवत्स्वेव जन्मादिव्यवहारदर्शनात् । तथोत्तरवाक्ये 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' इति स्पष्टमेव जन्मनोऽभिधानात् । एवमुपसंहारवाक्येऽपि 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः' इति जन्मकर्मणोर्दिव्यत्वस्य स्वमुखेनैव वर्णितत्वात् । ननु अजायमानो बहुधा विजायते' पु.सू.) इत्यस्य 'तदैक्षत बहुस्याम्प्रजायेय' (छा. ६।२।३) इत्याद्युक्तबहुभवनवद्बहुभवन एव तात्पर्यमिति चेन्न प्रोक्तवाक्यैकवाक्यतयाभिहितस्य 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (पु. सू.) इति वाक्यस्य तस्य परमात्मनोऽवतारदर्शनस्य मोक्षप्रदायित्वेन धीरैरेवगम्यमानत्वार्थकत्वेन पारमार्थिकावताररूपार्थस्यैवात्र प्रतिपादितत्वात् । एतेन 'सम्भवाम्यात्ममायया' इति मिथ्यारूपया मायया सम्भवामि न तु परमार्थतो लोकवदिति पैरैर्यद्व्याख्यातं तत्प्रत्युक्तम् ॥६॥

अथ निर्धारितसमयविशेषे मन्वन्तरादौ युगादौ यदा कदा वाऽवतार इतीमां शंकां समाधत्ते—**यदेति** । हे भारत ! ममावतारग्रहणे युगतन्मध्यवर्तिसमयविशेषस्य नैयत्यं न विद्यते किन्तु यदा यदा हि ।

हे भारत ! अहमस्यां लीलाविभूतौ स्वावतारं कालनैयत्येन प्रतिकल्पं प्रतियुगं प्रतिशताब्दि वा न विदधे किन्तु यदा यदा हि मुक्तिसाधनस्य वेदविहितस्य वर्णाश्रमोचितारम्भलक्षण-स्य सामान्यधर्मस्य भगवदाराधनादिरूपविशेषधर्मस्य च लेश-

समयानैयत्येऽत्र वीप्सा । धर्मस्य श्रुतिस्मृतिविहितस्य निःश्रेयससाधनस्य धर्मशब्देनात्र ग्रहणम् । स च प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गभेदेन द्विविधः। तदुक्तं बृहद्ब्रह्मसंहितायाम्—'धर्मप्रवृत्तिमार्गाख्यो ह्येको राजसतामसः । निवृत्ति-मार्गः सत्वाख्यो द्वितीयो भगवत्प्रियः ॥ (बृ. ३।७।२१) नारायणपरो धर्मः स च भागवतो मतः । ज्ञानपूर्वः संभवति जीवानां मोक्षदायकः ॥ (बृ. २२) एवमुभयविधधर्मस्यात्रग्राह्यत्वेऽपि निवृत्तिधर्मे भगवतो नि-र्भरत्वं सूच्यते, प्रकरणात् । वर्णाश्रमधर्मस्य सामान्यधर्मत्वेन भगवदा-राधनरूपस्य तस्य विशिष्टत्वेन परमधर्मत्वात् । तथा चोक्तं योगि-याज्ञवल्क्येन 'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' पुराणेषु च स्मर्यते 'यस्तु विष्णुपरो धर्मो यो वा नारायणेरितः । येन विष्णुरमेयात्मा प्रसादमधिगच्छति । स एव परमो धर्मः सर्वलोकपरायणः ॥' अत एव श्रीमद्भागवतस्यैकादशे 'धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् । यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय ददात्यात्मानमप्यजः ॥' (भा. ११।२।३१) इति भागवतधर्माणां प्राधान्यं भगवत्प्रियत्वञ्च बोधयन् वैदेहप्रश्नः संगच्छते । भागवतधर्मेषु भगवद्भक्तेरेव प्राधान्यं स्वतो दर्शितम् 'सत्वाद्धर्मो भवेद् वृद्धात्पुंसो मद्भक्तिलक्षणः' (भा. ११।१३।२) इत्यस्यैव धर्मस्य प्राणपणेन

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

तोऽपि ग्लानिर्भवति, अधर्मस्याभ्युत्थानं लेशतोऽप्युत्थानं भवति तदा धर्माधर्मयोरक्षाविनाशाभ्यामात्मानं सृजाम्यहं स्वेच्छयैवा-ऽऽत्मानमाविर्भावयामि । मदावतारग्रहणे मदीयसंकल्प एव निमित्तं न तु कर्मादिकमिति भावः ॥ ७ ॥

रक्षणीयत्वं गीताचार्यसम्मतम् । अत एव नवमाध्याये भगवदुपासनादि-धर्मविमुखानां संसारगर्तपातः स्वयमुक्तः 'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप । अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥' (गी.९।३) इति । भक्तिविरहितस्य यागदानादिरूपधर्मस्य भगवद्वश्यतापादकत्वं नास्त्येवेति 'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च' (भा. ११।१२।१) इत्यादावसकृदभिहितम् । एतादृशस्य धर्मस्य ग्लानिर्ह्रासो भवति । तथाऽधर्मस्योक्तलक्षणलक्षितधर्मविरुद्धस्याभ्युत्थानमुन्नतिर्भवति। अत्र धर्मस्य नाशो भवत्यधर्मस्य विकाशो भवतीत्यनुक्त्वा ग्लान्यभ्युत्थानयोरुपादाने भगवत इदमेव तात्पर्यं यद्धर्मस्य लेशतो ग्लानिमपि सोढुमक्षमस्तद्वि-नाशस्य तु का कथा । एवमधर्मस्य कियन्तमप्युदयं सोढुमक्षमस्तदोदय-म्प्राप्य विकाशस्य कोऽवसर इति तदा पूर्ववदत्रापि वीप्सानुसन्धानम्। अहमात्मानं सृजामि प्रकटयामि । अत्रात्मनः सृष्टिर्न स्वधाम्नि स्थितस्य स्वरूपस्य सम्भवति सृष्टेः प्रागपि तद्रूपस्य विद्यमानत्वात् । न वा भगवत्कर्तृकजीवसृष्टिरप्रकृतत्वात् । अत एव नान्यस्य कस्यचिदागन्तु-कस्यापि । परिशेषादत्र भगवतो दिव्यमंगलविग्रहावतारस्यैव दीपाद्दी-पान्तरवत्सृष्टिरिति युक्तम् ॥ ७ ॥

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

इदानीमवतारप्रयोजनमाह—परित्राणायेति । साधूनां वेदविहितधर्मानुष्ठायिनां मदनन्यभक्तानां परित्राणाय दुष्कृतां वैदिकाचाररहितानां मद्भक्तिविधुराणां पापाचारपराय-

कस्मायवतरतीत्याह—**परित्राणायेति** । साधूनां समचित्ता भगवन्मनस्का मन्नामरूपगुणकर्मालम्बनाः साधवः 'तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् । अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् । मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥ मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च । तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥ त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः' (भा. ३।२५) 'मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा । मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्' (भा. ९।४) इत्यादिशास्त्रप्रतिपाद्यास्तेषां परित्राणाय सर्वविधवाधानिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसन्दोहप्रदानाय। अयञ्चानन्दसन्दोहो भगवतो रूपसंहननलक्ष्मीमाधुर्यसौन्दर्यसौकुमार्यसुवेषत्वादिश्रीविग्रहधर्माणां साक्षात्करणेन प्रत्यक्षालापादिना च समुत्पद्यते। तथाच श्रीरामायणे—'रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् । ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ राघवञ्चैव सीताञ्च नेत्रैरनिमिषैरपि । आश्चर्यभूता ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः ॥' (वा. रा. आ. १३।१४) दुष्कृतां भक्त्यध्वनि कण्टकभूतानामासुरभावाविष्टानां विनाशाय च ।

णानां विनाशाय धर्मसंस्थापनार्थाय च वर्णाश्रमादिधर्माणां मदर्चनवन्दनकीर्तनदर्शनस्मरणादीनां मदाराधनलक्षणानां धर्माणाञ्च संस्थापनार्थाय । एतत्संस्थापनञ्च स्वकीयदिव्यमङ्गल-

अनयोः साधुपरित्राणमेव मुख्यं प्रयोजनं भगवज्जन्मनो दुष्कृतप्रणाशस्तु गौणम् । धर्मद्रुहां क्षयस्यावतारमन्तरेणापि स्वसंकल्पाहितशक्तिकैरन्यैः स्वोपजीविभिरपि कारयितुं शक्यत्वात् । तृतीयं जन्मप्रयोजनमाह—धर्मस्य पूर्वोक्त लक्षणलक्षितस्य वर्णाश्रमसामान्यधर्मस्य तथा परमधर्मपदाभिलप्यमदाराधनात्मकस्याराध्यस्वरूपप्रदर्शनविधया संस्थापनाय च । अयम्भावः । प्रवचनाचरणादिना पराशरपाराशर्यादिमुनिभिरपि सामान्येन धर्मस्थापनं शक्यते कारयितुम् । किन्तु परमपुरुषाराधनात्मकपरमधर्मानुष्ठानसौकर्य्यायाराधनीयस्वरूपसाक्षात्कार आवश्यकः । स च दिव्यविग्रहावतारं विनाऽनुपपन्न इत्यतस्तत्प्रयोजनम् । भगवतो दिव्यविग्रहे दृष्टिगोचरीकृते तस्मिन्निरतिशयानुरक्तिरुत्पद्यते । इयमेव चापवर्गस्य साक्षात् साधनरूपा भक्तिरभिधीयते । आहुश्च भगवतो दिव्यविग्रहवत्त्वमाचार्यसार्वभौमाः श्रीराघवानन्दमहामुनीन्द्राः—'दिव्यदेहाय हृद्याय' (श्रीराघवेन्द्रमङ्गलमाला) इति । जगद्गुरुश्रीमङ्गलदासमहामुनीन्द्रैरप्यभिहितो भगवतः श्रीरामस्य दिव्यविग्रहः—'लोकैकहेतुरजडश्चिदचिद्विशिष्टः श्रेयोगुणैकजलधिर्हतदोषवृन्दः । सर्वेश्वरः क्षितिजया सह दिव्यदेहो ध्येयोऽमृताय सुजनैरिह जानकीशः ॥ (वेदान्तचिन्तामणिः) इति । युगे युगे सम्भवाम्यवतरामि । एवमत्र साधुसंरक्षणदुष्टक्षयधर्मसंस्थापनरूपाण्यवतारस्य त्रीणि प्रयोजनान्युक्तानीतिस्पष्टमवगम्यते ग्रन्थस्वार-

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।

विग्रहस्यावतारधारणमन्तरेण न सम्भवतीत्यतो युगे युगे सम्भ-वामि । स्वसंकल्पादेव लीलाविभूतावाविर्भवामि न तु कृतादि-विशेषनियमोस्तीति भावः ॥ ८ ॥

अथावतारयाथात्म्याभिधानं मोक्षोपयोगीत्याह—जन्मेति ।

स्यात् । एतेन 'तदुभयं कथं स्यादित्यत आह—धर्मसंस्थापनार्थाये'त्यादि यद्व्याख्यातं तत्प्रयुक्तम् । न हि केवलधर्मस्थापनेन साधुरक्षणं खलख-ण्डनञ्च कचिद्दृष्टचरम् । यथा श्रीरामावतारे दिव्यकमनीयकान्तिकले-वरप्रदर्शनेन धर्मस्थापनं वनौकसां मुनीनाम्पालनेन साधुरक्षणं रावणा-दिवधेन च खलोत्सादनमिति स्पष्टमेव प्रयोजनत्रयं समपादि । एवं श्रीकृष्णावतारेऽप्यूह्यम् । सम्पादिताशेषावतारकार्यत्वादेवानयोरवतारीव पूर्णा-वतारत्वम् । व्यासादेस्तूपदेशादिना धर्मस्थापनरूपैकप्रयोजनसम्पादकत-यांऽशावतारत्वम् । यत्तु साधुरक्षणेन दुष्टवधेन च धर्मं स्थिरीकर्तुमि-त्यादि तन्मन्दम्, तथासति 'परित्राणेन साधूनां विनाशेन च दुष्कृ-ताम् । संस्थापनाय धर्मस्येत्येवं प्रकारेणैव प्रभुर्ब्रूयात् । किञ्च प्रह्लादा-दिरक्षणमात्रेण कनककशिपूत्सादनमात्रेण च न कस्यचिद्धर्मस्य स्थापनं दृश्यते । शरणागतरक्षणलक्षणधर्मस्य स्थापनं भवतीति तु साधुपरित्राणज-न्यमानुषङ्गिकम् । अपि च धर्मस्थापनफलकैतद्द्वयमकर्तृणां हंसव्यासवामना-दीनां धर्मसंस्थापनस्य वैयर्थ्यात् । तस्मादुक्तवाक्येऽवतारप्रयोजकं प्रयोजनत्र-यमभिहितमपि कचिदेकं कचिद्द्वयं कचिच्च त्रयमपीति यथायथमूह्यम् ॥८॥

अथेश्वरजन्मकर्मविषयकज्ञानस्य फलमाह—**जन्मेति** । हे अर्जुन !

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥९॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

हे अर्जुन ! एवं यथोक्तप्रकारेण मेऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्त-कल्याणगुणाकरस्य सर्वेशितुर्दिव्यमप्राकृतं मदिच्छामात्रसाध्यं जन्म साधुपरित्राणादिफलकमनेकलीलाविलासादिकं प्रणतौ-पयिकं कर्म च यस्तत्वतो मदुक्तप्रकारेण संशयादिकं व्युदस्य वेत्ति स तद्देहभोग्यप्रारब्धावसाने देहं त्यक्त्वा माममखिलानन्दै-कनिलयमेत्र प्राप्नोति पुनर्जन्म नैति भूयो जन्मादिक्लेशाश्रयं संसारं नाप्नोति ॥ ९ ॥

भगवज्जन्मकर्मविषयकावबोधजन्यभगवद्वाप्तिप्रकारमाह—वीतेत्यादिना । ज्ञानतपसा ज्ञानञ्च तपश्चेत्यनयोः समाहारो

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण । मे मम सर्वेश्वरस्य । दिव्यमप्राकृतम् । जन्म स्वेच्छया देवादिरूपेणावतरणम् । कर्म च प्रणतोपयोगि चेष्टितञ्च । तत्त्वतो यथार्थतयाऽऽश्रितानुग्रहार्थतयेति यावत् । यो जनः । वेत्ति । स देहं त्यक्त्वा । मामेत्यनवधिकातिशयानन्दाम्भोधिं मामेवाप्नोति । पुन-र्भूयः । जन्म देहान्तरावाप्तिम् । नैति न प्राप्नोति ॥ ९ ॥

पूर्वस्मिन् श्लोके मामेतीत्युक्तं तत्र कस्याप्येवं प्रकारेण त्वत्प्रा-प्तिरभूदित्यर्जुनाशंकायामाह—**वीतेत्यादि** । जागतिकवस्तुषु प्रीतिर्हि रागः । विषयान्परित्यज्य दुरूहे भगवति कथं मनःस्थैर्यं कर्त्तव्यमिति चिन्ता

ज्ञानतपस्तेन भगवद्दिव्यजन्मकर्मविषयकाववोधेन तत्सहवर्तिना तपसा च । पूता निरस्ताशेषभगवत्समाश्रयणविरोधिपापाः । बहवः पुरुषाः । मामाश्रिताभयदानपरायणं वात्सल्यैकमहार्णवम् । उपाश्रिता मनसा वचसा कायेन च मामेव प्रपन्नाः । अत एव वीतरागभयक्रोधा वीता विगता रागभयक्रोधा येषां ते तथोक्ताः।

भयम् प्रात्यक्षिकसुखविनाशके भगवद्भजने द्वेषः क्रोधस्ते वीता विगता येषान्ते। मन्मया मदेकचित्ता मामुपाश्रिता मनोवचःकायैर्मच्छरणमुपागता एवं विधा बहवो मद्भक्ता ज्ञानतपसा प्रोदीरितमदीयदिव्यजन्मकर्मज्ञानमेव तपस्तेन पूताः प्रक्षीणाशेषमत्प्राप्तिप्रतिभटान्तरायाः सन्तो मद्भावमागता मदीयापहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वान्ता ये भावास्तादृशभावान् प्रपद्यन्ते । अन्यत्रापि 'मम साधर्म्यमागताः' (गी. १४।२) इति साधर्म्यस्योदीरितत्वादत्र भगवद्भावापत्तिरेव सायुज्यमुक्तिर्न तु ब्रह्मतादात्म्यम्। तस्य गीताशास्त्रानभिमतत्वात् । यत्तु स्वरूपभेदे सति सार्वज्ञ्यादिधर्माविर्भावेन विग्रहसाम्येन चाभेदं तादात्म्यलक्षणं भेदाभेदं प्राप्ता इति । तदसत्, न हि कश्चित्स्वरूपेण भिन्नो धर्माविर्भावमात्रेणापरतादात्म्यं भजते । सतीर्थ्ययोर्द्वयोर्गुणसाम्यादभेदव्यवहारस्य लोके क्वचिदप्यदृष्टत्वात्। विग्रहसाम्येन चाभेद इति तु व्याहतं वचः साम्यस्य भेद घटितत्वात् । किञ्च विग्रहसाम्यमपि नास्तीश्वरविग्रहस्याणुत्ववज्जीवविलक्षणत्वात् । भेदसहिष्णुरभेदोऽङ्गीक्रियत इति चेत्किमिदं भेदसहिष्णुत्वं सहावस्थानत्वमितिचेदसम्भवः छायातपवत्परस्परविरुद्धत्वात् । किञ्च भेदाभेदवादिना मुक्त्यवस्थायां जीवेश्वरयोर्भेदोऽभेदश्चेति साधयितुं न शक्यते हेत्वसिद्धे-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥११॥

मन्मया मदेकचित्ताः सन्तः । मद्भावं मम साधर्म्यम् । सायुज्यमित्यर्थः । गताः प्राप्ताः भवन्ति ॥ १० ॥

भगवदवतारस्य न साधुपरित्राणमात्रं प्रयोजनमित्याह—य इति । एवं प्रपन्नजनपरित्राणाय विविधावतारधारणं करोमि । नैतावदेव मम सौलभ्यायालमपि तु ये भक्ता यथा येन प्रकारेण दर्शनार्चनस्मरणवन्दनादिरूपभजनेन मामखिललोकाधिपतिं सर्वलोकशरण्यं प्रपद्यन्ते मत्प्रपत्तिमनुतिष्ठन्ति, तानपि तथैव तत्संकल्पमनुरुध्याहं भजामि तथाविधफलदानेन तोषयामि । नन्वेवमनन्यभक्तेभ्यो मुक्तिदानमितरभक्तेभ्यश्च मुक्तीतरदानमतो भगवति वैषम्यं दुष्परिहरमित्याह—ममेति । हे पार्थ ! सर्वेऽपि मनुष्यास्तत्तत्कर्मण्यधिकृताः सर्वप्रकारैः सकामकर्मानुष्ठानेन देवतान्तरार्चनादिना तत्तद्देवेभ्यः फलोपलिप्सया यत्कर्मानुष्ठानं तदपि ममैव वर्त्म । यतस्तत्तद्देवतान्तर्यामितयाऽहमेव तत्फलप्रापक

दृष्टान्तासिद्धेश्च । श्रुत्यनुगुणेयं व्यवस्थेति चेन्न तासामस्मदुक्तार्थ एव तात्पर्यात् ॥ १० ॥

कथितातिरिक्तमप्यवतारप्रयोजनमाह—य इति । ये मामाश्रिताः पुरुषाः । यथा येन प्रकारेण । मां प्रपद्यन्ते समाश्रिता भवन्ति । अहं सर्वेश्वरः तांस्तथैव तेनैव प्रकारेण । तेषां सङ्कल्पमनुसृत्यैवेत्यर्थः । भजाम्यनुग्रहं करोमि । हे पार्थ ! मनुष्या मदनुवर्त्तनकर्त्तारो लोकाः ।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इति तदनुवर्तन्ते ॥ ११ ॥

प्रकृतमनुसरति। कर्मणां सिद्धिमाशु फलोदयं काङ्क्षन्तः फलेप्सवः पुरुषा इह कर्मभूमौ देवताः कर्मफलदानसमर्था देवता यजन्ते विशिष्टयागादिभिस्तर्पयन्ति। यतो मानुषे लोकेऽस्मिन् मर्त्यलोके कर्मजन्यफलसिद्धिराशु भवति। अत्र फलार्थी सर्वोऽपि लोक आशु फलवाञ्छया कर्मण्येव प्रवर्त्तते न तु भगवद्भजने। तस्यैहिकामुष्मिकफलस्पृहाऽपवर्गाख्यस्याक्षय्यफलस्य साधने प्रवृत्तिं प्रतिबध्नातीत्यर्थः ॥ १२ ॥

मम वर्त्म मार्गम्। सर्वशः सर्वथा अनुवर्त्तन्ते ॥ ११ ॥

एवं कर्मयोगप्रकरणे प्रसंगादागतं भगवदवतारविषयं सफलमभिधाय प्रकृतस्य कर्मयोगस्यैव कथं ज्ञानाकारत्वमित्यर्थं प्रतिपिपादयिषुरादौ तथाविधाधिकारिणो दौर्लभ्यमनेन दर्शयति—**काङ्क्षन्त इति**। कर्मणां कर्मशब्देनात्र सकामकर्मणामेव ग्रहणं सामर्थ्यात्। यागदानहोमादिरूपाणां सिद्धिं फलमाशु काङ्क्षन्तः सर्वे फलगृध्नवः पुरुषा इह कर्मभूमौ शीघ्रमल्पफलदायिनीर्देवता इन्द्रवरुणवाय्वादिरूपा एव यजन्ते पूजयन्ति। आपातरमणीयक्षुद्रफललिप्सयाऽऽदौ तादृशफलवत्कर्मस्वेव प्रवर्तन्ते नत्वपवर्गफले मदाराधनकर्मणि। कुतः क्षुद्रफलकर्मसु प्रवृत्तिरित्याह—**क्षिप्रमिति**। मानुषेऽस्मिँल्लोके कर्मजा तथाविधकर्मोत्पन्ना सिद्धिर्हि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्याद्यर्थवादोदितदिशा क्षिप्रमेव भवति ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

कर्त्तृत्वाभिनिवेशराहित्येन विहितानां कर्मणामबन्धकत्वमाह—चातुर्वर्ण्यमित्यादिभ्यां द्वाभ्याम्। चत्वारो वर्णा इति चातुर्वर्ण्यम्। स्वार्थे ष्यञ्। चातुर्वर्ण्यप्रभृति निखिलं जगत्। गुणकर्मविभागशो गुणाः सत्वादयश्च कर्माणि शमदमादीनि च गुणकर्माणि तेषां विभागस्तेन। मया सर्वेश्वरेण। सृष्टम्। एतच्च स्थितिप्रलययोरप्युपलक्षणम्। तस्याखिलस्य जगतः सृष्ट्यादेः कर्त्तारमपि मामव्ययमुत्पादविनाशरहितमकर्त्तारम्फलतः कर्त्तृत्वशून्यमेव विद्धि ॥ १३ ॥

कर्मसु यो हि कर्तृतामनुसन्धत्ते स कर्मभिर्बध्यते कर्तृत्वाभिनिवेशरहितस्य तु कर्माणि बन्धकराणि नैव भवन्तीत्यत्र स्वस्यैवोदाहरणतोच्यते—**चातुर्वर्ण्यमिति द्वाभ्याम्**। चत्वारो वर्णा ब्राह्मणादयश्चातुर्वर्ण्यम् स्वार्थे ष्यञ्। गुणकर्मविभागशः गुणानां सत्वादीनां विभागस्तेन सत्वप्रधाना ब्राह्मणाः सत्वरजोविशिष्टाः क्षत्रिया रजस्तमोविशिष्टा वैश्यास्तमःप्रधानाः शूद्रास्तथा तदनुगुणकर्मविभागेन च शमो दमस्तपः शौचमित्यादीनि ब्राह्मणकर्माणि शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यमित्यादीनि क्षत्रियकर्माणि, कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमित्यादीनि वैश्यकर्माणि ब्राह्मणादीनाम्परिचर्या शूद्रवर्णस्य कर्मेत्येवं कर्मविभागेन मया सर्वेश्वरेण सृष्टमुत्पादितम्। एवं चेद्धिरण्यगर्भादिक्षेत्रज्ञवद्विकारित्वादिदोषा अपि त्वयि स्युरेवेत्यत आह तस्य कर्तारमपि मामव्ययं नाशरहितमकर्तारमेव विद्धि ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एकस्यैव कर्त्तृत्वे तदभावे च व्याघातमपाकरोति—नेति । कर्माणि जगत्सृष्टयादीनि मां सर्वेश्वरम् । न लिम्पन्ति न स्पृशन्ति । बन्धकानि न भवन्तीत्यर्थः। जीवानां पुण्यपापमूलकानि कर्माणि

तदेव स्फुटयति—**नेति** । कर्माणि जगद्रचनादीनि मां सर्व जगत्स्रष्टारं सर्ववेदिनं न लिम्पन्ति न स्पृशन्ति । अनायासेनैव जगतः सृष्टिं रक्षामुपसंहृतिञ्च कुर्वन्तं मां वैषम्यप्रयुक्तपुण्याऽपुण्याभ्याञ्जनिते सुखदुःखे नैव व्याप्नुतः । अत्र हेतुमाह—नेति । यतो हि मम क्रियमाणस्य कर्मणः फले स्पृहा तृष्णा नास्ति । अयमभिसन्धिः । ननु परमेश्वरस्य जगत्सर्गे प्रवृत्तिः कथमपि न सम्भवति । विकल्पासहत्वात् । सा हि स्वार्थकामनया, परप्रेरणया, निजनिस्सीमकरुणया, स्वकर्तव्यतया वा भवेत् । तत्र नाद्यः अवाप्तसमस्तकामत्वात् । न द्वितीयः सर्वनियन्तुरन्यप्रेर्यत्वासम्भवात्। उभयोरर्थयोः ‘न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते’ (श्वे. ६–८) इत्याद्यनेक श्रुतेः प्रामाण्यात् । न तृतीयः करुणया यदि जगत्सृजति चेदशेषान् प्राणिनः सुखविशिष्टानेव कुर्यात् । न च तत्तत्प्राणिकर्मापेक्ष्य स्रष्टृत्वे नेयमापत्तिरिति वाच्यम् । तथासति किं निस्सीमकरुणया ? कर्मपारतन्त्र्याज्जीवानां स्वकर्मानुगुणफलप्राप्तौ नेश्वरस्य तदीयकारुण्यस्य वा तत्रोपयोगः । न वा चतुर्थः भगवतो विधिनिषेधशास्त्राऽपारवश्यान्न किमपि श्रुतिचोदितकर्तव्यं विद्यते । न च पूर्वकर्मायत्तकर्तव्यताऽपि तस्य सम्भ-

तेषामेव बन्धविधायकतामुपयान्ति न तु मम सर्वेश्वरस्येति यावत् । मेऽवाप्ताखिलकामस्य मम । कर्मफले स्पृहाऽऽकांक्षा । नास्ति ।

वत्यनादित्वेन पूर्वतनानां कर्मणामेवाभावात् । कर्मायत्तोत्पत्त्यभावादिति यावत् । ‘नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः’ (श्वे.६–९) असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः’ (ब्र.सू.२–३–१०) इत्यादि श्रुतिसूत्रैस्तन्निषेधात् । एतेन लोकयात्रानिर्वाहायेश्वरेण सृज्यत इत्यपि मतं प्रत्युक्तम् । न हि सृष्ट्यारम्भे लोकाः सन्ति येषां निर्वाहोपेक्ष्येत । न ह्यवाप्तसमस्तकामस्य लोकयात्रानिर्वाहेण लेशतोऽपि प्रयोजनमिति चेन्न, सर्वथा परिपूर्णस्यापि राजादेर्महाप्रासादनिर्माणं कन्दुकादिभिः क्रीडनं लोके लीलायै दृश्यते तद्वदीश्वरस्यापि जगन्निर्माणं सम्भवतीति न कश्चिद्विरोधः । ननु राज्ञामपि स्वास्थ्यरक्षादिप्रयोजनं तत्रोपलभ्यत इति चेन्न, शत्रुञ्जयादिषु कासुचित्क्रीडासु तदभावात् । तदुक्तं ‘लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्’ (ब्र. सू. २।१।३३) इतिब्रह्मदर्शने भगवता वेदव्यासेन परमेश्वरस्य जगत्सर्गे प्रवृत्तिर्लीलाकैवल्यमेवेति । न चैवं सुरनरकिन्नरपामरादिरूपेण विषमसृष्टौ वैषम्यमनेकप्राणिनां युगपत्संहारे च नैर्घृण्यमिति दोषौ स्यातामिति वाच्यम्; वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति’ (ब्र. सू. २।१।३४) इत्यादिसूत्रनिचयैर्जीवकृतपूर्वकर्मानुसारेणेश्वरः सृजति संहरति चातस्तत्तत्कर्मैव तत्तद्वैषम्ये हेतुर्न परमात्मा । तथाहि दर्शयति श्रुतिः ‘पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन’ (बृ. ४।४।५) इत्यर्थो निश्चितः । स्पष्टमेतत्प्रयोजनवत्त्वाधिकरणीयश्रीमदानन्दभाष्य इत्यत्र संक्षेपः । एवं च परमात्मकर्तृकोऽयं जगत्सर्गस्तत्र वैलक्षण्यन्तु

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

इतीत्थम्। यो मामभिजानाति। स कर्मभिर्न बध्यते। तदाचरितानि कर्माणि श्रेयस्कराणि भवन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

प्राचीनानुदाहृत्य कर्मयोगमेव दृढयन्नाह—**एवमिति**। एवमित्थम्। ज्ञात्वा दिव्यजन्मकर्मवन्तं निर्लिप्तं कर्मानुष्ठातारं सर्वेश्वरं मामवबुध्य। पूर्वैरनर्वाचीनैरपि। मुमुक्षुभिर्मुक्तिमाकांक्षमाणैर्विवस्वद्वैवस्वतादिभिः। कर्म कर्मयोगः। कृतमनुष्ठितम्। तस्मात्। पूर्वतरं पुरा मयाऽनुशासितम्। पूर्वैः प्राचीनैर्यथा कृतं सृज्यप्राणिकृतकर्मविशेषप्रयुक्तमिति क्षेत्रज्ञा एव सृष्ट्यनन्तरं प्राक्तनैः पश्चात्तनैश्च स्वकर्मभिः कर्मान्तरमारभमाणा यथायथं तत्तत्फलैः संयुज्यन्त इति तेषामेव कर्मफले स्पृहा न तु ममेति भगवतोऽभिप्रायः। तदुक्तं पुराणरत्ने 'तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा' (वि. पु.) इति। एवं प्रोक्तस्यार्थस्य प्रकृतोपयोगितोच्यते—**इतीति**। इत्येवं जगत्कर्तारमप्यकर्तारं सृष्ट्यादिकर्मफलरहितञ्च मां योऽभिजानाति स कर्मयोगी प्राक्तनकर्मभिः कर्मफलैश्च न बध्यते। तेनानुष्ठीयमानानि कर्माणि श्रेयसे भवन्तीत्यर्थः ॥१४॥

प्राचीनानामुदाहरणं प्रदर्शयन्नुक्तार्थं निगमयति—**एवमिति**। एवं कर्मकुर्वन्नपि न करोमि न वा कर्मणः फलमप्याकांक्ष इत्युक्तप्रकारेण ज्ञानवन्तं मां ज्ञात्वा पूर्वैर्विवस्वन्मनुजनकादिभिर्मुमुक्षुभिः कर्म कृतमस्ति। यस्मादेवं तस्मात् पूर्वैः प्राक्तनैः प्रोक्तैर्विशिष्टशिष्टैर्यथा पूर्वतरं पुराकाले

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

तथा लब्धात्मपरमात्मयाथात्म्योपदेशस्त्वमपि कर्मैव कुरु। ततो विरक्तिं नासादयेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथ कर्मणो दुर्ज्ञेयत्वमभिदधाति—**किमिति**। कर्म मुमुक्षुभिराचरणीयमीश्वराराधनात्मकं फलासक्तिवर्जितं कर्म। किम् कीदृशम्। अकर्म कर्माङ्गभूतं कर्मानुष्ठात्रात्मयाथात्म्यज्ञानम्। किं किंलक्षणम्। इत्यत्रास्मिन् विषये। कवयो विद्वांसोऽपि। मोहिता मोहमवाप्ताः। याथार्थ्येन नावगच्छन्तीत्यर्थः। तज्ज्ञानगर्भं भगवदाराधनात्मकम्। कर्म। ते तुभ्यम्। प्रवक्ष्यामि। यज्ज्ञात्वा। मोक्ष्यसेऽशुभात्।

प्रमयोपदिष्टमतिप्राचीनं कर्म कृतं तथा त्वमपि मदुक्तं तथाविधं मत्स्वरूपञ्चावधार्य निरस्तकल्मषः कर्मैव कुरु न तु स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म परित्यज्यौदासीन्यमाश्रयेति भावः ॥ १५ ॥

ज्ञानाकारतामाप्नुवतः कर्मणः श्रेयःसम्पादकतया तत्रोपादेयत्वबुद्धिजननायादौ दुर्ज्ञेयत्वमभिधत्ते—**किमिति**। श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यं श्रेयःसाधनभूतं श्रेयोर्थिभिराचरणीयं कर्म किं कीदृगस्ति तथाऽकर्म स्वरूपविषयकं ज्ञानं कर्मैवान्ततो ज्ञानरूपतामावहज्ज्ञानमित्यर्थः। तच्च किमित्यत्र कवयः कोविदा मोहिताः कर्माकर्मस्वरूपनिर्णयेऽसमर्थाः। कर्माकर्मवादानां विभिन्नप्रस्थानकत्वादिति भावः। तत्कर्म यत्स्वरूपेऽकर्माऽपि निगूहितं ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेणाभिधास्यामि। यज्ज्ञात्वा यत्स्वरूपमवगम्य यथाविध्यनुष्ठाय चाशुभात्संसारित्वापादकानर्थान्मोक्ष्यसे। ज्ञात्वेति न ज्ञान-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

क्ष्यामि । यज्ज्ञात्वा ज्ञानपूर्वकमनुष्ठाय* । अशुभात् संसारबन्धलक्षणादनर्थात् । मोक्ष्यसे मुक्तिमवाप्स्यसि ॥ १६ ॥

कर्मणो दुर्ज्ञेयतामुपपादयति–**कर्मण इति** । हि यस्मात् । कर्मणो मोक्षोपायस्य भगवदाराधनलक्षणस्य कर्मणः । बोद्धव्यं स्वरूपं ज्ञेयमस्ति । नित्यनैमित्तिकादिरूपेण तत्साधनद्रव्यसम्पादनाकारेण च वैविध्यमापन्नं कर्म विकर्म÷ न तु प्रतिषिद्धं कर्म

मात्रबोधकं न हि ज्ञानमात्रेणाशुभान्मुक्तिः सम्भवत्यतः फलानुरोधात्कर्मज्ञानतदनुष्ठानयोर्बोधः ॥ १६ ॥

कथं दुर्ज्ञेयत्वमित्युपपादयति–**कर्मण इति** । हि यतो निष्कामबुद्ध्यानुष्ठीयमानस्य भगवदाराधनात्मकस्य निःश्रेयसोपायस्य स्वरूपं बोद्धव्यमस्ति विकर्मणश्च वेदबोधितेतिकर्तव्यताकस्य विविधफलेच्छयानुष्ठेयस्यापि स्वरूपं बोद्धव्यम् । अकर्मणश्चात्मज्ञानस्यापि स्वरूपं बोद्धव्यमस्ति । एषां त्रयाणामपि दुर्ज्ञेयतामाह—**गहनेति** । कर्माकर्मविकर्मणां गतिः स्वरूपं गहना दुर्ज्ञेयमित्यर्थः । विकर्मशब्देनाशास्त्रीयकर्मणां प्रतिषिद्धकर्मणां

वैष्णवभाष्यकारस्वामिश्रीवैष्णवाचार्यवेदान्ततीर्थप्रणीता

*** गीतागुह्यार्थदीपिका ***

* **अत्र ज्ञात्वेतिपदमजहल्लक्षणया कर्मणो ज्ञानमनुष्ठानञ्चावबोधयतीति बोध्यम् ।**

÷**अत्रोपयोगाभावाद् विकर्मशब्दो न विरुद्धकर्माभिधायी ।**

कर्मण्यकर्मः य पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

'गहना कर्मणो गतिरि'ति निगमनविरोधात् । तस्य च विकर्मणः । बोद्धव्यं स्वरूपं ज्ञेयमस्ति । अकर्मणश्चात्मपरमात्मयाथात्म्यावबोधस्य चापि न तु तुष्णींभावस्य । कुत इति चेदुक्तविधनिगमनविरोधादेवेति ब्रूमः । बोद्धव्यं स्वरूपमवगन्तव्यमस्ति । अतः कर्मणोऽपवर्गाकांक्षिभिरनुष्ठेयस्य त्रिविधस्य कर्मणः । गतिः× । गहना दुर्ज्ञेया ॥१७॥

एवं कर्मादीनां ज्ञेयत्वमुक्त्वा तेषां स्वरूपमुपदिशति–**कर्मणीति** । कर्मविकर्मणोः सामान्यविषेषरूपतया कर्मपदेनैव संगृह्य व्याचष्टे यो मुमुक्षुर्नित्यनैमित्तिककर्मयोगेऽकर्म स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानमेवेदमिति जानाति । अहरहोऽनुष्ठीयमानानि कर्माण्येव प्रतिबन्धकं दुरितं निवर्त्य ज्ञानाकारतां दधते न तु कर्मनि-

ग्रहणन्तु नोचितं तथा सति 'गहना कर्मणो गति'रिति कर्मपदेन ग्रहणाभावप्रसङ्गात् ॥ १७ ॥

एवं कर्माकर्मविकर्मस्वरूपाणां बोद्धव्यत्वमभिधाय तत्स्वरूपमाह–**यस्येति** । यद्यप्यत्रोपोद्घातानुसारेण कर्माकर्मविकर्मणां त्रयाणामपि स्वरूपविवेचनं कर्तव्यमासीत्तथापि विकर्मणः कर्मविशेषरूपत्वात्कर्मशब्देनैव तस्य संग्रहात्कर्माकर्मणोर्द्वयोरेव विवेचनमत्र कृतमतो न न्यूनत्वम् । यः श्रेयोऽर्थी कर्मण्यनुष्ठीयमाने वर्णाश्रमोचितकर्मयोगेऽकर्मात्मज्ञानं पश्येत् ।

× **गतिः = प्रकारः ।**

यस्य सर्वे समारंभाः कामजंकल्पवर्जिताः।

वर्तकमितरज्ज्ञानं जायते। नैष्कर्म्यवादप्रसंगात्। एवमकर्मणि कर्मयोगसमकालिकफलतयोत्पद्यमाने ज्ञाने च कर्मपार्थक्येन तथाविधज्ञानस्यानवस्थितेस्तत्स्वरूपसत्तयैव ज्ञानसत्ताया व्यपदिश्यमानत्वात्तस्यापि ज्ञानस्य कर्मैव यः पश्येत्। अत्रापि पूर्ववाक्यवत् कर्माभावविशिष्टज्ञान इति नार्थोऽपितु कर्मानुष्ठानसमकालिकपूर्वपूर्वकर्मपरिणतेर्ज्ञानत्वेन व्यवह्रियमाणतया तथाविधज्ञाने यः कर्मैव मयाऽनुष्ठीयत इति बुद्धिं विधत्ते स मनुष्येषु बुद्धिमान् युक्तः कृत्स्नकर्मकृच्चास्ति ॥ १८ ॥

उक्तं बुद्धिमत्वमुपपादयति—यस्येति। यस्य मुक्तिमिकर्मण एवानुष्ठीयमानस्य मनोनैर्मल्यद्वारात्मज्ञानरूपता सम्पद्यते। न हि मुमुक्षोस्तदानीं कर्मापोह्य ततो भिन्नमेव ज्ञानमुत्पद्यतेऽपितु तस्यैव कर्मणो ज्ञानाकारता सम्पद्यते। एवमकर्मणि स्वपरस्वरूपमनुसन्धित्सोर्ज्ञाने यः पुरुषः कर्म कर्मयोगानुष्ठीयमान एव ज्ञानोत्पत्तौ तस्य कर्मपार्थक्येनाभिधातुमशक्यतया कर्माकारमेव पश्येत्। कर्मयोगेऽनुष्ठीयमाने तस्य श्रेयःसम्पादकतया ज्ञानाकारताऽपि सम्भवति। कर्ममूलत्वात्तादृशज्ञानेऽस्य कर्माकारताऽपि सम्यक् सम्भवतीत्यर्थः। स एव बुद्धिमान् मोक्षोपयोगिस्वात्मयाथार्थ्यज्ञानवान् मनुष्येषु स एव युक्तः सायुज्यसुखयोग्यः स एव च कृत्स्नकर्मकृत् शास्त्रप्रतिपादितमोक्षोपयिकाखिलकर्मणामनुष्ठातेत्यर्थः ॥ १८ ॥

बुद्धिमत्वमेवोपपादयति—**यस्येति**। यस्य विशेषदर्शिनः सर्वे

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

च्छतः पुरुषस्य। सर्वे। सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि। कामसङ्कल्पवर्जिताः कामः फलासक्तिस्तद्वर्जिताः सङ्कल्पः कर्तृत्वाभिनिवेशस्तद्वर्जिताश्च भवन्ति। अयम्भावः कर्मणि जीवस्य परमात्मायत्तकर्तृत्वमेवास्ति न तु स्वतन्त्रकर्तृत्वमि'ति सम्यगुपपादितं 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र. सू. २।३।४१) इत्यनेन सूत्रेणास्मत्सम्प्रदायाचार्यैर्भगवद्भिः श्रीवादरायणैः। तथा च 'न मयैतत्कर्म क्रियते किन्तु सर्वनियामकेन भगवता श्रीरामेणैव सम्पाद्यत' इत्येवं कर्मानुष्ठानवेलायामपवर्गमिच्छता पुरुषेण सर्वदा भावनीयम्। फलञ्च भगवते श्रीरामायैव समर्पणीयम्। तथा च कतृत्वाभिमाननिवृत्या तत्कर्म न कर्तुर्बन्धाय भवेत्। न च जीवकर्तृत्वस्येश्वरायत्तत्व ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यदोषौ स्यातां जीवस्य विधिनिषेधयोर्वैयर्थ्यञ्च स्यादिति वाच्यम्' कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र.सूत्र २।३।४२)

नित्यनैमित्तिककाम्यविधिप्रयुक्तवर्णाश्रमोचितकर्मणां समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः कामवर्जिताः कर्मफलेच्छावर्जिताः संकल्पवर्जिताः स्वानुष्ठीयमानकर्मणः कर्तृत्वाभिमानेन रहिताः स्वस्य परमात्मनियाम्यत्वेन 'स्वान्तर्यामिभगवत्परतन्त्रोऽहम्' इत्येवं नित्यमनुसन्दधानो हि ज्ञानी सर्वकर्मसु स्वकर्तृत्वाभिमानशून्यो भवतीति भावः। अत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य वर्जितपदस्योभयत्रान्वयादयमर्थो लभ्यते। तमेवमनुसन्धायैवाखिलं कर्मानुतिष्ठन्तं पण्डितं स्वपरस्वरूपविवेकनिपुणा बुद्धिः पण्डा। सा-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

इति सूत्रेण दत्तोत्तरत्वात्। बुधा विद्वांसस्तं कामसङ्कल्पवर्जितं कर्मानुष्ठातारम्। पण्डितं स्वात्मपरमात्मस्वरूपविवेकचतुरम्। ज्ञानमेवाग्निर्ज्ञानाग्निस्तेन दग्धानि कर्माणि यस्य तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमात्मयाथात्म्यावबोधानलदग्धकर्माणमाहुः ॥ १९ ॥

उक्तमेव स्पष्टतयाऽभिदधाति—**त्यक्त्वेति**। यः। कर्मफलासङ्गमनुष्ठीयमाने कर्मण्यासक्तिम्। कर्तृत्वाभिनिवेशमित्यर्थः। फलासक्तिं कर्मफलभोगतृष्णाम्। च। त्यक्त्वाऽपहाय। नित्यतृप्तो नित्ये स्वात्मनि स्वात्मनोऽप्यात्मभूते परमात्मनि वा तृप्तस्तुष्टिमापन्नः। तृप्तिनिमित्तानभिधानान्नित्यं तृप्त इत्यर्थस्त्वत्रोपेक्षणीय एव। निराश्रयः सर्वथा समाश्रयणीयभगवच्छ्रीरामव्यतिरिक्तेष्वाश्रयणीयत्वबुद्धिरहितः। सः। कर्मणि स्ववर्णाश्रमोऽस्य संजातेति पण्डितस्तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं कर्मानुष्ठानसमकालिकेन कर्मपरिणामज्ञानेनाग्निना दग्धानि कर्माणि यस्य तमाहुः श्रुतिरहस्यवेदिनः। अत्र पण्डितमुद्दिश्य ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वं विधीयते। कर्मप्रकरणे 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमित्यभिदधता भगवता कर्मण एव ज्ञानाकारता ज्ञापितेति सिद्धम् ॥ १९ ॥

तदेव विस्पष्टयति—**त्यक्त्वेति**। क्रियमाणकर्मणि तत्फले चाहं करोमीत्यभिनिवेशमेतस्यातिरम्यं फलमहमेव भोक्ष्यामीति भोगतृष्णाञ्च त्यक्त्वा नित्यतृप्तः स्वात्मभूतपरमपुरुषनिविष्टचेतस्त्वेन सदा तुष्टिमान् निराश्रयः स्वाधारभूतपरमेश्वरातिरिक्ते कस्मिन्नपि आश्रयाशारहितो यः कर्मयोगी स कर्मण्यभिप्रवृत्तो वर्णाश्रमोचितं कर्माभिमुख्येन कुर्वन्नपि किञ्चिदपि कर्म नैव करोति। ज्ञाननिष्ठ एव तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

चिते कर्मणि। अभिप्रवृत्तोऽप्याभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि। किञ्चिदपि कर्म नैव करोति। कर्मानुष्ठानव्याजेन स ज्ञानाभ्यासमेव करोतीति भावः। तथा च नात्र भगवदुक्तौ व्याघातदोषशङ्काऽवसरः ॥२०॥

कर्मणो ज्ञानाकारतामेव पुनरपि विविच्य प्रतिपादयति—**निराशीरित्यादिभिस्त्रिभिः**। निर्गता आशिषो यस्मात् स निराशीः फलाकाङ्क्षाशून्यः। यतौ चित्तात्मानौ यस्य स यतचित्तात्मा नियतचित्तशरीरः। त्यक्ताः सर्वे परिग्रहा येन स त्यक्तसर्वपरिग्रहः परित्यक्तसमस्तभोगोपकरणकः। भगवत्सुखैकप्रयोजन इत्यर्थः। केवलं शारीरं शरीरधारणार्थमेव कर्म कुर्वन्नपि किल्बिषं संसारम्। नाप्नोति ॥ २१ ॥

एवमुपदिष्टं स्पष्टितञ्च कर्मणो ज्ञानाकारप्रकारमुत्तमफलप्रदायित्वेन स्तुवन् भूयो विस्पष्टयति—**निराशीरित्यादिभिस्त्रिभिः**। निराशीः फलकामनारहितो यतचित्तात्मा वशीकृतान्तर्बाह्यकरणकस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः परित्यक्ताखिलभोगसामग्रीकः श्रेयोऽर्थी केवलं शारीरं शरीरजन्मकुलादिकमनुसृत्यानुष्ठीयमानं वर्णाश्रमोचितं शरीरयात्रानिर्वाहकं वा कर्म कुर्वन्नपि किल्बिषं कलुषोत्पादकं जगन्नाप्नोति, तस्यानुष्ठीयमानानि कर्माणि बन्धकराणि नैव भवन्तीति भावः ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो यदृच्छया लाभो यदृच्छालाभस्तेन सन्तुष्टोऽनायासलब्धेन शरीरधारणहेतुवस्तुनैव तृप्तः। अधिकार्थं मनोज्ञार्थश्च प्रवृत्तिमकुर्वाण इत्यर्थः। द्वन्द्वान्यतीतोऽवर्जनीयशीतोष्णादिद्वन्द्वसहनशीलः। विमत्सरो मत्कर्मनिमित्तकमेव मदनिष्टमितिनिश्चयेन परस्मिन् मात्सर्यशून्यः। सिद्धावसिद्धौ च। समः समभावापन्नः। निर्विकार इत्यर्थः। कृत्वाऽपि कर्मानुष्ठायापि। न निबध्यते संसारं न प्राप्नोति ॥ २२ ॥

किंच गतसङ्गस्य क्रियमाणकर्मणि तत्फले चासक्तिरहितस्य

यदृच्छया स्वाच्छन्द्येन न तु परपीडया परप्रार्थनया स्वशरीरक्लेशेन वा यो लाभः प्राप्तिस्तेन सन्तुष्टः स्वतृप्तिं मन्वानस्तदुक्तं द्वन्द्वातीतः शीतोष्णादिनिवारणसमर्थोऽपि तत्सहनशीलो द्वन्द्वप्रतिघातजन्यमनःक्षोभरहित इति यावत्। विमत्सरः परोत्कर्षासहनरहितः सिद्धावसिद्धौ च समः प्रारब्धकार्यफललाभेऽलाभे वा समः मनोवैषम्यमनाप्नुवानः। हर्षशोकरहित इति भावः। कृत्वाऽपि सततं कर्माण्येवानुतिष्ठन् साधनान्तरनिस्पृहोऽपि न निबध्यते। तेनाचरितानि कर्माणि मुक्तिफलकानि भवन्ति न तु संसारप्रापकानीत्यर्थः ॥ २२ ॥

किंच गतसङ्गस्य कर्मफलेषु मोहकपदार्थेषु स्त्र्यन्नपानासनगृहपरि-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

मुक्तस्य देहगेहादावासक्तिरहितस्य ज्ञानावस्थितचेतसः परमात्मार्पितमानसस्य परमपुरुषप्रीतये कर्माण्याचरतः पुरुषस्य समग्रं कृत्स्नमनादिकालसंचितं कर्म प्रविलीयते समुत्पन्नभगवत्साक्षात्काराद्विनश्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रकारान्तरेण ज्ञानाकारत्वमुपपादयति—**ब्रह्मार्पणमिति।** अर्पणमअर्प्यतेऽग्नौ प्रक्षिप्यते हविरनेनेत्यर्पणं जुहूस्रुगादिकं ब्रह्म ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मात्मकमर्पणं स्रुवादिकं यस्य तद् ब्रह्मार्पणम्। ब्रह्म ब्रह्मात्मकं हविर्होमद्रव्यम्। ब्रह्मणा ब्रह्मात्मकेन कर्त्रा। ब्रह्म ब्रह्मात्मकोऽग्निराहवनीयादिस्तस्मिन्। हुतं त्यक्तम्। इति। ब्रह्म

च्छदेषु चासक्तिरहितस्यात एव मुक्तस्य देहाभिमानशून्यस्य ज्ञानावस्थितचेतसः भगवदुपासनजनितानुस्मृतिविषयमहापुरुषेऽवस्थितं चेतो यस्यासौ तस्य परभक्तिगम्यमहापुरुषनिविष्टमनस्कस्य यज्ञाय महापुरुषप्रसत्तये नतु निजतृप्तये। भगवदाराधनोपकारकाणि कर्माण्याचरतः पुरुषस्य समग्रं सकलं दुःखजनकं संचितं कर्म प्रविलीयते विनश्यति। ज्ञानत्वमासादयदिदं कर्म ज्ञानेनोत्पादनीयं यत्फलं तदेव फलं जनयतीति भावः ॥२३॥

एवं नित्यनैमित्तिकादिकर्मणो ज्ञानाकारत्वमभिधायेदानीं तस्यैव ज्ञानगम्यपरमेश्वरात्मकत्वानुसन्धानोपयोगित्वमभिधत्ते—**ब्रह्मार्पणमिति।** अर्प्यत इत्यर्पणं हविःप्रक्षेपसाधनं स्रुवादिकं करणल्युडन्तोऽर्पणशब्दः। ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मणात्मकमित्यर्थः। व्यस्तमेवैतत्पदम्। नह्यत्र ब्रह्मणि अर्पणं यस्येति

ब्रह्मात्मकं कर्म ब्रह्मकर्म तस्मिन् समाधिरनुसन्धानं यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना । तेन कर्त्रा । ब्रह्म "इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते" इतिश्रुतिप्रतिपादितं परात्परं ब्रह्म भगवान् श्रीरामः । एव । नत्वनित्यं स्वर्गादिकमित्यर्थः । गन्तव्यं प्राप्तव्यम् ॥ २४ ॥

व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिर्येन क्लिष्टकल्पना ब्रह्माग्नावित्यस्य च वैयर्थ्यं स्यात् । न वा वाक्यभेदः 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप, (गी. ४।३३) इत्युपसंहारानुरोधाद्विदर्शयिषितज्ञानयज्ञस्यात्रोपदेश्यत्वात् । तत्साधनस्रुगादिरूपितस्य ब्रह्मण एव सर्वत्र निर्देष्टव्यत्वात् । ब्रह्मार्पणं हविरित्यर्थस्तु न युक्तस्तथा सति ब्रह्म हविरित्यस्य वैयर्थ्यात् । होमसाधनस्य स्रुवादेर्ब्रह्मात्मकत्वेनानिरूपणान्न्यूनत्वापत्तेश्च । अत्र हि कर्तृकर्मकरणाचार्यसम्प्रदानाधिकरणादीनि ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मात्मकानीति ह्युपदिदिक्षितम् । तत्र करणानुक्तौ न्यूनता स्यादेव । हविरपि ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मैव ब्रह्माग्नौ वा हवनीयादेर्ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मरूपेऽग्नौ ब्रह्मणाऽचार्येण सता हुतमित्येवमखिलस्य कर्मणो ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धानमुच्यते । एतदनुसन्धानस्य फलं ब्रह्मगतिरभिधीयते ब्रह्मेत्यादिना । ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्मैव कर्म ब्रह्मकर्म तत्समाधत्तेऽनुसन्धत्ते सर्वमिदं ब्रह्ममयमिति निश्चिनोति यस्तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं चरमफलत्वेन प्राप्तव्यम् । एवकारः स्वर्गादिरूपमनित्यं फलं व्यवच्छिनत्ति । एवं चात्र कर्मणो ब्रह्मत्माकत्वानुसन्धानानन्तरं तेनैव कर्मणा ज्ञानाकारतां दधता ब्रह्मप्राप्तिरूपा मुक्तिरभिहिता नावान्तरोऽन्यः कश्चिदपि ज्ञानादिरूप उपायान्तरोऽपेक्ष्यत इति भावः ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

यज्ञान्तराणि ब्रूते—दैवमिति । अपरेऽन्ये कर्मयोगिनः । दैवमिन्द्रादिदेवार्चनात्मकम् । यज्ञम् । पर्युपासते सेवन्ते । अपरे केचित्तु यज्ञं यागहोमार्हं द्रव्यम् । यज्ञेनैव यज्ञसाधनस्रुगादिनैव । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मात्मकेऽग्नौ । उपजुह्वति प्रक्षिपन्ति ॥ २५ ॥

एवं कर्मस्वरूपमुपन्यस्य तस्य च ज्ञानगर्भत्वेन ज्ञानाकारत्वमुपपाद्य तदनुष्ठातुस्तत्र ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धानेन ब्रह्मप्राप्तिरेव फलमुपलभ्यते । अतो वक्ष्यमाणयज्ञापेक्षयाऽस्यैव ज्यायस्त्वमित्येतद्दर्शयितुं यथाधिकारं यज्ञान्तराण्याह—**दैवमिति** । अपरे कर्मयोगिनो दैवमिन्द्रादिदेवताराधनात्मकं यज्ञं पर्य्युपासते कर्ममात्रे श्रद्धावन्तस्तादृशमेव यज्ञं सम्यगनुतिष्ठन्ति । अपरे ततोऽधिकयोगिनः कर्मानुष्ठानादुपजातज्ञाना ज्ञानयोगिन इति यावत् । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्मरूपतयाऽभ्युपगतेऽग्नौ यज्ञेन यज्ञसाधनजुहूस्रुगादिना यज्ञं यागहोमार्हद्रव्यमुपजुह्वति । एते ह्यग्निमात्रे ब्रह्मरूपतां मन्वाना ब्रह्मार्पणमितिश्लोकोक्ताद्ब्रह्मविदोऽल्पज्ञाः साधनाध्वनि वर्तमाना एव ततोऽपकृष्टा इति भावः । येत्वत्रात्मानं यज्ञं परमार्थतः परमेव ब्रह्म सन्तं बुद्ध्याद्युपाधिसंयुक्तमध्यस्तसर्वोपाधिधर्मकर्माहुतिरूपं यज्ञेनैवात्मनैवोपजुह्वति प्रक्षिपन्ति सोपाधिकस्यात्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेणैव यद्दर्शनं स तस्मिन् होमस्तं कुर्वन्ति' इत्याद्यर्थमाहुस्तेषामशब्दार्थकल्पनक्लेशः प्रकरणविरोधश्च दुष्परिहरः ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्ये योगिनः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि हविष्ट्वेन भावितानि संयमाग्निषु संयमा एवाग्नयस्तेषु जुह्वतीन्द्रियसंयमनमेवानुतिष्ठन्ति । अन्ये च तत उत्कृष्टाः कर्मयोगिनः शब्दादीन् विषयानिन्द्रियाग्निषु जुह्वति सर्वथाऽक्षुब्धमना मोक्षसाधनाऽविघातकान् परिमितानेवाहारविहारादीन्विषयांनुपसेवन्ते । वस्तुतस्तेऽपीन्द्रियसं-

अन्ये ततोऽप्युत्कृष्टा योगिनः श्रोत्रादीनि सर्वाण्यपीन्द्रियाणि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारादिसाधनसाहाय्येन संयमरूपाग्नीन् प्रबलीकृत्य तत्र जुह्वति बाह्यान्तरिन्द्रियाणां विषयसान्निध्यमासाद्य तत्प्रावण्यं निसर्गादुपजायते । तस्यायं योगी स्वयोगाभ्यासपाटवेन नियम्य तानि स्ववशे स्थापयति । संयमाग्निष्विन्द्रियाणां तत्तद्वृत्तीर्निरुध्य संस्थापनमेवात्र होमत्वेन विवक्षितम् । अन्ये तु शब्दादीन् विषयान् हविष्ट्वेन भावितान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति विषयेन्द्रियसन्निधाने हर्षशोकजनिकायाः स्वान्तरवृत्तेरुद्गमोऽवश्यं जायते तच्चैतेषामिन्द्रियाग्निषु विषयहोमवतां नैवोत्पद्यते । इयमपि श्रेयोऽर्थिनस्तत्साधनानुगुणैव प्रवृत्तिः । अत्र पूर्वार्धे हृषीकवशीकारोऽभिप्रेतः । उत्तरार्धे तु वशीकृतहृषीकग्रामाणां श्रेयःपरिपन्थिविषयेभ्यः समाहृत्य निःश्रेयससाधनसमर्थशरीरधारणोपयोगिसद्विषयेष्ववस्थापनमित्यस्य योगिनः पूर्वस्मादुत्कृष्टत्वमुक्तं भवति । अयञ्चोत्तरोत्तरोत्कृष्टत्वक्रमः ' सर्वाणीन्द्रियकर्माणिः प्राणकर्माणि चापरे ' (गी. ४।२७) इत्युत्तरवाक्यानुरोधादवगम्यते । तत्र हि प्रकृतश्लोकस्थाभिधी-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

यमनमेव कुर्वन्ति तेषामयमेव विलक्षणो होम इति भावः ॥२६॥

ततोऽप्यधिकसाधनावतो योगिनो दर्शयति–**सर्वाणीति** । अपरे च योगिनो ज्ञानदीपित उपनिषद्विचारधारा संधुक्षित आत्मनो मनसः संयमो विषयवैतृष्ण्येनात्मनि स्थिरीकरणं योगः स एव मनःकल्मषनाशकत्वादग्निस्तस्मिन्नग्नौ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि

यमानसाधनावस्थाया ऊर्ध्वं काचिदुत्कृष्टा तृतीयावस्थाऽभिधीयते । अत एवोक्तं गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये–' अन्ये च तत उत्कृष्टाः कर्मयोगिनः शब्दादीन् विषयानिन्द्रियाग्निषु जुह्वती'त्यादिकम् ॥ २६ ॥

एवं ' इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ' (का. १।३।१०) इति श्रुत्युक्तप्रकारेणेन्द्रियाणां संयमाग्निषु तत उत्कृष्टानामर्थानाञ्चेन्द्रियाग्निषु होमत्वेन नियमनमभिधायेदानीं ततोऽपि परस्य मनसो नियमनमभिधीयते—**सर्वाणीति** । प्रोक्तयोगिभ्यः साधनविधावुत्कृष्टाः केचनापरे च योगिनो ज्ञानदीपिते गुरुशास्त्रोपदिष्टज्ञानेन प्रोद्दीपिते । आत्मसंयमयोगाग्नावात्मनो मनसः संयमोऽभ्यासवैराग्यादिसाधनैर्मनोवृत्तेरात्मनि संस्थापनं योगः स एवाग्निस्तस्मिन् सर्वाणीन्द्रियकर्माणि । अत्रेन्द्रियशब्दः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाण्याह मनसः पृथगुपादानात् । तेषां कर्माणि स्थूलसूक्ष्मरूपाणि तत्र ज्ञानेन्द्रियाणां श्रवणस्पर्शनदर्शनरसनगन्धग्रहणात्मकानि कर्मेन्द्रियाणाञ्च वचनादानगमनोत्सर्गमैथुनात्मकानि तथा प्राणकर्माणि प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यानां पञ्चानां प्राणानां

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

श्रवणस्पर्शनादीनि पञ्चप्राणानां कर्माण्यूर्ध्वगमनाधोगमनादीनि जुह्वति ।. मनोवृत्तेः प्राणेन्द्रियकर्मप्रवाहान्निवर्त्याऽत्माभिमुख्ये स्थापयन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्ये यज्ञकर्मानुयिनो द्रव्ययज्ञाः स्वशरीरायासेन प्रभूतं द्रव्यं सम्पाद्य तस्य गोविप्रगुरुदेवातिथिरूपेषु सत्पात्रेषु विनियोग कर्माण्यूर्ध्वनयनाधोनयनव्यानयनाकुंचनप्रसारणान्युद्गारोन्मीलनक्षुत्करणवि–जृम्भणसर्वव्यापनानि च नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्यप्राणानां कर्माणि । तथाचोक्तम्–उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः । कृकलः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे । न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः । इति । जुह्वति । सर्वप्राणेन्द्रियव्यापाराणां मनोऽधीनत्वान्मनोनिरोधे तत्कर्मणामपि तत्र निरोध एव होमत्वेनात्र प्रतिपाद्यते इति भावः ॥ २७ ॥

एवमस्मिन् द्वादशयज्ञप्रकरणे प्रोक्तश्लोकत्रयेण पञ्चयज्ञान्प्रतिपाद्य प्रकारान्तरेणान्यानपि पंचयज्ञानभिधत्ते–**द्रव्ययज्ञा इति** । यत्वत्र मधुसूदनोऽधुनैकेन श्लोकेन षड् यज्ञानाह द्रव्ययज्ञा इति तदयुक्तमत्रैव व्याख्यायां तस्यापाक्रियमाणत्वात् । यज्ञानुष्ठातृषु केचिद् द्रव्ययज्ञा द्रव्यैन्यार्य्यैर्धर्मसम्पादितैर्यज्ञो येषान्ते देवब्राह्मणातिथिपूजनपरा इष्टापूर्तादिकर्मप्रवणाश्चाधिकारिणो भवन्तीति शेषः । केचित्तपः पयोऽम्बुफलपत्रमात्राशनकृच्छ्रचान्द्रायणानुष्ठानमौनानिलानलसलिलसेवनजटावल्कलाभरणादिरूपो यज्ञो

एव यज्ञो येषान्ते द्रव्ययज्ञा यज्ञाधिकारिणः केचित् तपः यज्ञो येषान्ते तपोयज्ञास्तपस्विनः फलाहारिणः स्थण्डिलशायिनः येषान्ते तपस्विनो भवन्ति । तपःशब्देन वेदोपबृंहणरूपधर्मशास्त्रादिषूपदिष्टानामेषामेवात्र ग्रहणम् । गीतासप्तदशाध्यायोक्तानां कायिकवाचिकमानसिकरूपाणां तपसान्तु पञ्चस्वपि यज्ञेष्वन्तर्भावान्न तपोयज्ञेन तेषां समेषामत्र ग्रहणम् । अन्यथा ‘ स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ’ (गी. १७ ।) इति स्वाध्यायाभ्यसनस्य वाङ्मयतपोरूपत्वात्तपोयज्ञ एवान्तर्भावात् । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्चेति पृथगुपादानस्य वैयर्थ्यात् । तथाऽपरे योगो यमनियमासनाद्यष्टाङ्गयोगो यज्ञो येषान्ते योगयज्ञाः। केचित्तु ‘योगयज्ञाश्चापरे पुण्यतीर्थपुण्यस्थानप्राप्तिषु निष्ठां कुर्वन्ती’त्यर्थमाहुः । यच्च तट्टीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां ‘ योगयज्ञा इत्यत्र योगः संयोगः प्राप्तिरित्यर्थः। सा चात्र पुण्यतीर्थाद्यभिगमनतन्निवासादिरूपा विवक्षिते’त्याद्यर्थोऽभिहितः स चातिरभसात् पुण्यतीर्थाद्यभिगमनतन्निवासादेर्द्रव्यतपोयज्ञाभ्यामेव गतार्थत्वात् । यमाद्यष्टाङ्गयोगस्यापि कर्मयोगान्तर्गतत्वेन योगशब्दग्राह्यत्वात् । केचित् स्वाध्याययज्ञाः स्वाध्यायो वेदाध्ययनं यज्ञो येषान्ते वेदाध्यायिनो ज्ञानयज्ञाश्च पूर्वोत्तरमीमांसामाश्रित्याम्नायाद्यर्थनिर्णयेन जायमानं ज्ञानमेव यज्ञो येषान्ते वेदतदुपबृंहणभूतस्मृत्यर्थगोचरज्ञानवन्तो भवन्ति । इमे समेऽपि यतयः स्वस्वयज्ञानुष्ठाने प्रयत्नशीलाः संशितव्रताः दृढनिश्चयाः, नहि स्वस्वयागे तज्जन्यफले च सन्दिहाना अन्यदपि किञ्चिदनुतिष्ठासन्तीति भावः । यत्त्वत्र मधुसूदनो ‘ गूढार्थदीपिकायां यज्ञान्तरमाह–यतयो यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक् शितानि तीक्ष्णी-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

पञ्चाग्निसेविनो जटावल्कलधारिणस्तथापरे योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपो यज्ञो येषान्ते योगनिष्ठापरायणाः केचित् स्वाध्याययज्ञाः स्वाध्याय आम्नायाध्ययनमेव यज्ञो येषान्ते वेदाध्येतारोऽन्ये च ज्ञानयज्ञा ज्ञानं वेदान्ता-

कृतान्यतिदृढानि व्रतानि येषान्ते संशितव्रतयज्ञा इत्यर्थः इत्यवदत् । यदपि जगद्विजयी केशवकाश्मीरिभट्टाचार्योऽप्यन्वमोदतेममेवार्थं—यतयो यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक् शितानि तीक्ष्णीकृतानि दृढानि व्रतानि येषान्ते संशितव्रतयज्ञा इति । तन्मन्दम्’ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा इत्यादेरिव संशितव्रता इत्यत्र यज्ञपदानुपादानात् । न च स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्चेति पादघटकस्वाध्यायशब्दोत्तरं यज्ञपदं न दृश्यत इति वाच्यं स्वाध्यायज्ञानयोर्द्वन्द्वसमासत्वेन ‘द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यत’ इति नियमात्तत्र यज्ञपदसम्बन्धस्य सत्वात् । योगयज्ञ एव संशितव्रतस्यान्तर्भूतत्वात् । काष्ठमौनादेश्च तपस्येवान्तर्भावात् । गूढार्थदीपिकाभिमतशांकरभाष्येऽप्यदृष्टत्वात् । यज्ञान्तराङ्गीकारे च सर्वाचार्यसम्मताया द्वादशयज्ञप्रकरणमिति समाख्यायाः भङ्गापत्तेश्च । न च ‘दैवमेवापरे’ (गी. ४।२५) इतिश्लोकादारभ्य ‘द्रव्ययज्ञा’इति चतुर्भिः श्लोकैरेकादशयज्ञानभिधाय अपाने जुह्वति’ (गी. ४।२९) इति सार्धश्लोकेन चैकः प्रतिपाद्यत इति द्वादशत्वमेव सम्पद्यत इति वाच्यं तथा सत्यपरे इति द्विःश्रुतेर्बाधात् । जुह्वतीति क्रियापदद्वयस्य च वैयर्थ्यात् । एकस्य यज्ञस्योक्तावेकस्याः क्रियाया एव पर्याप्तत्वात् । किञ्चात्र द्वादशयज्ञप्रकरणे प्रतियज्ञं यज्ञजुह्वतिपदयोरन्यतरपददर्शनाद्यज्ञजुह्वतिपदान्यतरपदत्वे यज्ञपरि-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

र्थविचार एव यज्ञो येषान्ते ब्रह्मविद्याभ्यासवन्तः । एते सर्वेऽपि यतयः शश्वत्प्रयत्नशीलाः संशितव्रताः संशितं सम्यक्शितमतितीक्ष्णं व्रतं येषान्ते दृढव्रता भवन्ति ॥ २८ ॥

प्राणायामयज्ञमाह—अपरे केचित् कर्मयोगिनोऽपान आभ्यन्तरगमनवृत्तिके वायौ प्राणं बाह्यगमनवृत्तिकं वायुं जुह्वति प्रय-

क्लृप्तेर्व्यापकता लभ्यते । तथाच ‘यतयः संशितव्रताः’ इत्यत्र व्यापकविरुद्धोपलब्धेर्न यज्ञपरिक्लृप्तेः सम्भवः । न चात्र संशितव्रतत्वस्यान्यथानुपपत्त्या सा वैश्वदव्यामिक्षेतिवद्यज्ञस्वीकृतिः स्यादितिवाच्यं संशितव्रतत्वादेस्तपोयोगयज्ञयोरेवान्तर्भूतत्वेनान्यथानुपपत्त्यभावादित्यास्तां तावत् । अत एव श्रीमदाचार्यपादैरानन्दभाष्ये ‘एते सर्वेऽपि यतयः शश्वत्प्रयत्नशीलाः संशितव्रता’ इति सर्वेषां विशेषणद्वयमभिहितं संगच्छते ॥२८॥

इदानीं सार्धश्लोकेनैकादशद्वादशयज्ञावभिधीयेते—**अपान इति ।** अपरे केचित् कर्मयोगिनोऽपानेऽधःप्रवहणवृत्तिके धर्मिणि प्राणमूर्ध्वप्रवहणवृत्तिकं धर्मिणं जुह्वति तत्तद्वृत्तिद्वारेण प्रयत्नादेकीकुर्वन्ति । तथानुष्ठिते पूरकाख्यः प्राणायामः सम्पद्यते । तथा तेनैव प्रकारेण

त्नादेकीकृत्य स्थापयन्ति, तथोक्तवृत्तिके प्राणेनिरुक्तवृत्तिकमपानं वायुं जुह्वति प्रयत्नादेकीकृत्य स्थापयन्ति, एवमेव प्राणापानगती रुद्ध्वोर्ध्वसंचरणरूपां प्राणस्य गतिमधःसंचरणरूपामपानस्य गतिश्च मध्यस्थान एवावरुद्ध्य प्राणायामपरायणा ये भवन्ति पूरकरेचककुम्भकाख्यप्राणायामं कुर्वाणास्तिष्ठन्ति ते

प्राणे धर्मिण्यपानं धर्मिणमेव तद्वृत्तिद्वारेण प्रयत्नादेकीकुर्वन्ति। एवमनुष्ठिते रेचकाख्यः प्राणायामः सम्पद्यते। एवमूर्ध्वप्रवहणस्वभावस्य प्राणस्य गतिमधःप्रवहणस्वभावस्यापानस्य च गतिं रुद्ध्वा स्थानविशेषे स्थिरीकृत्य प्राणायामपरायणाः कुम्भकाख्यप्राणायामतत्परा भवन्ति। प्राणायामयज्ञा इति यावत्। एवं प्राणायामस्य .श्वासप्रश्वासयोर्मन्दमध्यतीव्रादिप्रभेदेन दीर्घसूक्ष्मादिप्रभेदेन चानेकविधत्वं सम्पद्यते। तदनेन प्राणायामयज्ञेन गृहीतं भवति। द्वादशं प्राणयज्ञमाह—**अपर इति।** एभ्योऽन्ये च केचिन्नियताहारा नियतो परिमित "द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्।" इत्युक्तप्रकारेण आहारो येषान्ते सात्विकाल्पपरिमाणकाहारवन्तो योगिनोऽजितान् प्राणानिन्द्रियप्राणान्। प्राणबाहुल्याद्बहुवचनम्। विजित्य स्थिरीकृतेषु प्राणेषु जुह्वति योजयन्ति। अयमपरः प्राणयज्ञः। इत्येवमत्र द्वौ यज्ञावभिहितौ। इतः पूर्वं दैवयज्ञादिदशयज्ञा अन्येपि निर्द्दिष्टाः। एवमिदं द्वादशयज्ञप्रकरणं तज्ज्ञैरुच्यते। यद्यप्यत्र योगयज्ञस्य योगाङ्गानुष्ठानरूपतया तत्र च प्राणायामस्याऽप्यन्तर्भावात् किमिति पुनः प्राणायामयज्ञप्रतिपादनेनेत्याशंका कदाचिदुदीयात्तथापि यागयज्ञे सामान्येन योगाङ्गानुष्ठाने प्राणायामोऽप्यनुष्ठीयते।

प्राणायामयज्ञा इति समुदितार्थः। द्वादशयज्ञमभिधत्ते—अपर इति। अपरे योगिनो नियताहाराः शुद्धमिताहाराः सन्तः प्राणान् प्रवृद्धवेगान् सेन्द्रियान् सर्वान् प्राणान् प्राणेषु प्राणायामादिप्रयत्नाद्वशीकृतेषु जुहूवति प्रयत्नपूर्वकं स्थापयन्ति ते। एवमस्मिन् प्रकरणे द्वादशयज्ञोनुष्ठानवैलक्षण्यादभ्यधायि। योगयज्ञे योगाङ्गतयाऽनुष्ठीयमानात्प्राणायामादिमौ विशिष्टप्राणायामसाध्याविति विशेषः। एते दैवयज्ञादिद्वादशयज्ञकर्त्तारस्सर्वेऽपि यज्ञविदो वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठन्तस्तादृशकर्मयोगयज्ञरहस्यविदोऽत

एतावता न हि तस्य प्राणायामयज्ञता सम्भवति। प्रकृतप्राणायामयज्ञे तु समस्तप्रभेदपरिपूर्णस्य प्राणायाममात्रस्यैवानुष्ठानमित्यस्त्येव ततौ वैलक्षण्यम्। एवं प्राणयज्ञेऽपि ज्ञेयम्। एवमुक्तानां द्वादशयज्ञानां ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलमाह—**सर्व इति।** एते प्रोदीरितदैवयज्ञाद्यनुष्ठातारः सर्वेऽपि यज्ञविदो नित्यनैमित्तिककर्मान्तःपातिनां यज्ञानां फलस्वरूपरहस्येतिकर्तव्यतावेदिनो यज्ञशिष्टामृतभुजः। द्वादशयज्ञानुष्ठातृभिः सर्वैरपि नित्यनैमित्तिककर्मणोऽवश्यानुष्ठेयतया श्रीभगवदर्चनान्तर्वर्तिनैवेद्यादेर्वैश्वदेवादेश्च नित्यकर्मतया नित्ययज्ञरूपतया चावश्यानुष्ठेयत्वमुक्तं महर्षिभिः। 'यज्ञो विष्णुरि'ति श्रुतेः। तथा भारतेऽपि—'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स नो विष्णुः प्रसीदतु।' इत्याद्यनेकप्रमाणैर्यज्ञरूपस्य परमात्मनो निवेदितस्यान्नस्यामृतपदवाच्यस्य प्राशनं हि प्रशस्यते। श्रूयते च महोपनिषदि—'विष्णुनात्तमश्नन्ति विष्णुना पीतं पिबन्ति विष्णुना घ्रातं जिघ्रन्ति विष्णुरसितं रसयन्ति तस्माद्विद्वान्सो

एव यथाविधानुष्ठितयज्ञेन क्षपितमखिलकल्मषं येषान्ते तथा यज्ञशिष्टामृतभुजः प्रत्यहं नित्यकर्मतया भगवन्नैवेद्यवैश्वदेवादि-यज्ञस्य सर्वैः क्रियमाणत्वात्तच्छिष्टत्वादमृतपदव्यपदेश्यं तदन्नं भुञ्जन्ति तच्छीलास्तदुक्तं पाद्मे—'ये वैश्वदेवनिरता विप्राद्या वैष्ण-वास्तु ते । यल्लब्धं भगवद्भुक्तं तस्मादादाय चांशकम् । तेन कृत्वा वैश्वदेवमवशिष्टांशकेन तु । कुर्यात्प्राणादियात्रान्तु विधा-नेन द्विजोत्तम' इति । एवञ्च यथा दर्शपौर्णमासादियज्ञ-

विष्णूपहृतं भक्षयेयुः' इति । एष च विधिरास्थीयते । श्रीमद्रामायणे 'महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले । शेषं च हविषस्तस्य प्राश्या-शास्यात्मनः प्रियम् ॥ इति । एवं च प्रतिदिनं क्रियमाणस्य भगवन्नैवेद्यस्य वैश्वदैवादेश्च यज्ञस्य शिष्टमवशिष्टं यदमृतं तद् भुञ्जते ते यज्ञशिष्टामृत-भुजः ।तदुक्तं मानवशास्त्रे 'विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः । विघसो भुक्तशेषन्तु यज्ञशेषं तथामृतम्' (म. ३।२८५) इति । यज्ञक्षपितकल्मषाः यज्ञानुष्ठानेन क्षपितं विनाशितं सांसारिक बन्धप्रदं कल्मषं यैस्ते तथा सन्तः सनातनं ब्रह्म 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' (   ) इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्यं यान्ति । अत्र शंकराचार्यप्रभृतिभिर्यज्ञशिष्टामृतभुज इत्यस्य 'यथोक्तान् यज्ञान् कृत्वा तच्छिष्टेन कालेन यथाविधिचोदितमन्नममृताख्यं भुञ्जते ये ते यज्ञ-शिष्टामृतभुज इत्यर्थः स्वीकृतः । कैश्चिच्च क्षणिकानुमोदितैरनाघ्रातगीता-तत्त्वैर्यज्ञैः शिष्टं सर्वश्रेष्ठममृतं ब्रह्म भुञ्जते सेवन्ते स्मरन्ति वा इति यज्ञशिष्टामृतभुज इत्यर्थः स्वकपोलकल्पनयाऽऽहृतः । इमौ चार्थौ गीता-

शिष्टस्य पुरोडाशादेरमृतत्वं तथा भगवन्नैवेद्ययज्ञशिष्टस्य भगवत्प्र-सादस्याऽप्यमृतत्वम् । तादृशामृतभोजिनः पुरुषाः सनातनं ब्रह्म यान्ति । संसारबन्धनान्मुक्ताः सन्तः परमपदवाच्यं भगवद्धाम प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यस्तु यज्ञकर्मानुष्ठानं न करोति तस्य जीवनमेव व्यर्थमित्याह—नेति । हे कुरुसत्तम ! अयज्ञस्य प्रोक्तेषु यज्ञेषु मध्ये एकमप्यकुर्वतो नित्ययज्ञाद्यकुर्वत इति यावत् । अयं लोको ब्रह्मलोकेतरलोको प्राकृतलोक इति यावत् । नास्ति । अन्यो

चार्याभिप्रायानवबोधविजृम्भितौ । तृतीयाध्याये 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' (गी. ३ । १३) इति स्वयमेव गीता-चार्यैः स्वाभिप्रायस्य स्पष्टीकृतत्वात् । तत्र चैभिरपि यज्ञावशिष्टान्नद्र-व्याशनशीला इत्यर्थस्य स्वीकृतत्वात् । तुल्यवित्तिवेद्यतया च 'यज्ञक्ष-पितकल्मषाः' 'यज्ञशिष्टामृतभुज' इति वाक्ययोरपि तत्समानार्थाभिधा-यित्वात् । न चात्र केषु चिद्यज्ञेष्वन्नादिद्रव्यमेव नास्तीति कुतो यज्ञ-शिष्टाशित्वमिति वाच्यम् । सर्वैर्यागानुष्ठातृभिर्भगवन्नैवेद्यादेर्वैश्वदेवादेश्च यज्ञस्यावश्यानुष्ठेयत्वेन तदवशिष्टस्यान्नद्रव्यस्याक्षतत्वादिति दिक् ॥ कर्म-ण्यधिकृतः श्रेयार्थी पुमान् नित्ययज्ञानवश्यमनुतिष्ठेदन्यथाऽनर्थावाप्तिरि-त्याह—**नेति** । हे कुरुसत्तम ! अयज्ञस्य नित्यकर्मतया यज्ञस्यापि प्रत्य-हमनुष्ठेयता विद्यते तथा च यज्ञानुष्ठानरहितस्यायं प्राकृतोऽपि लोको नास्ति । कर्मभिः प्राकृतलोकस्य सिद्धिर्भवतीति शास्त्रवित्समयः । परन्तु नित्ययज्ञस्य भगवदर्चनादेर्वैश्वदेवादेश्चानुष्ठानमन्तरेण कुतः कर्मसिद्धिः कुतस्तराञ्च तत्फलोपलब्धिरिति भावः । अन्योऽप्राकृतलोकस्तु कुतः ? नियतकर्मानुष्ठानेन ज्ञानेन चाप्राकृतलोकस्य मोक्षस्य कथञ्चित्सम्भ-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।

ब्रह्मलोकस्तु कुत एव स्यादित्यर्थः ॥ २९–३०–३१ ॥

एवं निरुक्तप्रकारेण बहुप्रकारा यज्ञा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे प्राथमिके कर्मकाण्डे वितता विस्तरशः प्रतिपादिताः । तान् सर्वान् कर्मजान् नित्यनैमित्तिककर्मभ्यो जातान् विद्धि । एवमुक्तप्रकारेण सम्यक्परिज्ञाय भगवत्प्रसत्तिकराणि नित्यनैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठाय विमोक्ष्यसे नान्यथा ॥ ३२ ॥

अथाभिहितेषु द्वादशयज्ञेषु प्रधानभूतस्य ज्ञानयज्ञस्यैव श्रेष्ठत्वान्नित्ययज्ञानुष्ठानमन्तरेण नतरां तत्सम्भवतीति भावः ॥२९-३०-३१॥

एवमवान्तरभेदप्रदर्शनपूर्वकं कर्मयोगो निरूपितस्तस्य च वेदमूलकत्वमभिधत्ते—**एवमिति**। एवं प्रोक्तप्रकारेण बहुविधा यज्ञा वर्णाश्रमधर्मान्तर्भूता नित्ययज्ञा ब्रह्मणः परमात्मनो मुखे मुखप्रादुर्भूतत्वादाम्नायस्य तद्रूपे मुखेऽखिलवेदे काण्डद्वयात्मके विततः प्रतिपादितास्तान् सर्वान् कर्मजान् कायिकवाचिकमानसिकप्रभेदेनानेकविधानि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि सन्ति तेभ्यः सम्भवान् विद्धि जानीहि । एवं कर्म्मोद्भवाँस्तान् ज्ञात्वा नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि भगवदाज्ञारूपत्वात् परमेश्वरार्पणबुद्ध्या प्रत्यहमनुष्ठाय विमोक्ष्यसे नह्यत्र सन्देहलेश इति फलितार्थः ॥ ३२ ॥

कर्मणि ज्ञानांशस्यैव प्रधानतामापादयति—**श्रेयानिति** । द्रव्यमयाद्

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

त्वमुच्यते—**श्रेयानिति** । हे परन्तप ! शत्रुनिवारणसमर्थ ! द्रव्यमयाद्यज्ञात् दैवमेवापरे यज्ञमित्यारभ्य द्वादशयज्ञा निर्दिष्टास्तेभ्यो ज्ञानयज्ञः श्रेयान् द्रव्ययज्ञसम्पादने ह्यासक्तिरवश्यमुपजायतेऽतस्तेभ्योऽनासक्तिमतो ज्ञानयज्ञस्यैव ज्यायस्त्वमित्यर्थः । एतेन 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन' (गी. ३।१) इत्यस्योत्तरं दत्तम्भवति । अयमाशयः कर्मणामवश्यानुष्ठेयत्वेऽपि अहं कर्त्ताऽस्य कर्मणोहमेव फलभोक्ता मयेदमनुष्ठितमित्यभिमानमास्थाय यदि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते तदा तेषां ज्ञानापेक्षया लघीयस्त्वमेव । एतदभिप्रायेणैवोक्तं 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय' (गी. २।४९) यदि तु कर्माऽनुष्ठानेप्यासक्तेरभावो 'भगवदाज्ञापालनमेव मया क्रियते न हि कस्य चित्फलस्येच्छया किमपि कर्मानुष्ठीयते' इति निश्चयेन कर्मानुष्ठीयते तदा तादृशं कर्म ज्ञानाकारतामाप्नुवानं श्रेयस्त्वमाश्रयति । अतो ज्ञानांशमादायैव कर्मणो ज्यायस्त्वं निष्पद्यते । एतदभिप्रायेणैव ज्ञानयज्ञस्य ज्यायस्त्वेन प्राधान्यमुपपद्यते । अत एवोच्यते—**सर्वमिति** । हे पार्थ ! सर्वं कर्मैकादशयज्ञादिरूपमखिलमविकलं× वर्णाश्रमोचितधर्मादिसाध-

द्रव्यत्यागबहुलात् । यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । अयम्भावः—कर्मणो ज्ञानं क्रिया चेत्यंशद्वयम् । तयोः क्रियांशापेक्षया ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यमस्ति ।

×अत्राखिलशब्दस्यावैकल्यरूपमर्थमभिधाय विषयभेदेन पुनरुक्तिरपाकृता सर्वाखिलशब्दयोर्भगवद्भिरानन्दभाष्यकारैः।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

नयुक्तमित्यर्थः । कर्म ज्ञाने ज्ञानयज्ञे परिसमाप्यतेऽन्तर्भवति । नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन निवृत्तकल्मषम्प्रति तदेव कर्म ज्ञानाकारेण परिणमते । एवञ्चानुष्ठातुस्तथानुष्ठीयमाने कर्मणि ज्ञाननिष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तत् कर्मसमुद्भवमात्मयाथात्म्यगोचरं ज्ञानं त्वं प्रणिपातेन साष्टाङ्गप्रणामादिरूपेण प्रह्वीभावेन परिप्रश्नेन तद्विषयकजिज्ञासापनुत्तये सविनयं विविधप्रश्नेन सेवया कायिकवाचिकमानसिक

कुत इति चेदाह–**सर्वमिति** । हे पार्थ ! सर्वं सर्वप्रकारम् । अखिलमविकलञ्च कर्म क्रियांशः । ज्ञाने साध्यभूते ज्ञानात्मकेंऽशे । परिसमाप्यते पर्यवसन्नं भवति ॥ ३३ ॥

एवं कर्मान्तर्निविष्टं ज्ञानमेव श्रेयःसम्पादकमित्युक्तं तत्कथमहं वेद्मीत्याशंकायामाह–**तदिति** । तत्स्वपरस्वरूपनिर्णायकं ज्ञानं 'नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः' (गी. २।१२) इत्यादिना द्वितीयाध्याये मयाऽभिहितमिदानीमपि कर्मोपदेशप्रसङ्गे कर्मणो ज्ञानप्राधान्याज्ज्ञानात्मकत्वमुपदिष्टमित्येतज्ज्ञानं त्वं तत्वदर्शिभ्यो वेदविद्भ्यः प्रणिपातपरिप्रश्नपरिचर्यादिभिर्विद्धि । आत्मयाथात्म्यज्ञानवन्तो ह्याचार्या विनयावनताञ्चिच्छिष्यान् गुह्यमपि कथयन्तीति शास्त्रमर्यादा । तदुक्तं श्रीमद्भागवते–'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' (भा. १।८) तत्वपरिज्ञानाय चाचार्यस्य परमोपादेयत्वं श्रुतिस्मृतिषूपलभ्यते । तथा च श्रुतयः–

परिचर्यया विद्धि । तत्वदर्शिनस्तत्वसाक्षात्कारवन्तो ज्ञानिनो ज्ञान-

'आचार्यदेवो भव' (तै.) 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा.) 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः । (श्वे. ६।२३) इति । स्मृतयश्च–'तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्' (भा. ११।२१) 'आचार्यं मां विजानीयात्' इति च तत्रैव । 'मन्त्रे तद्देवतायाञ्च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ । त्रिषु भक्तिः सदा-कार्या सा हि प्रथमसाधनम् ॥' आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः (गी.) तत्र प्रणिपातः प्रकर्षेण नितरां प्रह्वीभावेन पतनं साष्टाङ्गप्रणामादिरूपः । अयञ्च तत्वोपदेष्टरि गुरावावश्यकस्तथा चोक्तं 'दण्डवत्प्रणमेद् भूमौ निर्लज्जो गुरुसन्निधौ । शरीरमर्थं प्राणञ्च सद्गुरुभ्यो निवेदयेत्' इति तेन । प्रणिपातपरस्यापि परिप्रश्नस्त्वावश्यकः स च 'स्वमनीषोन्मिषिताकारमाच्छाद्याजानत इवागतार्थस्यापि स्थिरीकरणाय वैनत्येन प्रश्नरूपो न हि हार्दिक्या मोहग्रन्थेरुच्छेदः शक्यते कर्तुमृते परिप्रश्नात् । न हि ज्ञानिनोऽपि जिज्ञासाविष्करणमन्तरेण शिष्येप्सितं प्रभवन्ति वक्तुम् । शिशुवत्सलापि माता रोदनादिना ज्ञापिताभिप्रायाय शिशवे स्तन्यमर्पयतीति लोकरीतिः । शास्त्रमर्यादाऽपि 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्' (छा. ७।१।३) इति परिप्रश्नपूर्वक एव तत्वोपदेश इति । तेन परिप्रश्नेनेति । सेवयाऽऽचार्यपरिचर्यया ज्ञानप्राप्तिर्भवति नाऽन्यथा । अत एवाचार्यशुश्रूषाया महत्वं शास्त्रेषूपदिश्यते । 'यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति । तथा

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

प्रक्षीणवासना महात्मानस्ते तुभ्यं तज्ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति ॥३४॥

प्रोक्तस्यात्मयाथात्म्यज्ञानस्य फलमाह—यदिति। हे पाण्डव! पाण्डुनन्दन ! यज्ज्ञानं सम्यगधिगम्यैवमिदानीं यथा देहात्म भ्रमेण मोहं प्राप्तोसि तथा पुनरहंतया ममतया च देहगेहादौ

गुरु गतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ' (म.) प्रणिपातादीनि च न तृणारणिमणिन्यायेन ज्ञानाधिगमम्प्रत्युपयोगीनि किन्तु त्रयाणां समुच्चयं आवश्यकः । तत्वजिज्ञासुना प्रणिपातपरिप्रश्नपरिचर्येति त्रयमपि सम्पाद्यैव तत्वज्ञानं ग्राह्यमिति निष्कर्षः। अत एव शृङ्गग्राहिकया त्रयाणामप्युपादानं गीताशास्त्राभिमतं संगच्छते । तत्वदर्शिनः साक्षात्कृताखिलतत्वग्रामा ज्ञानिन आत्मविषयकविज्ञानवन्तस्ते तुभ्यं तज्ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति । नन्वेकस्माद् गुरोर्ब्रह्मविद्याया ग्रहणं ' स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।' आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति च छान्दोग्यमुण्डकाद्युपनिषत्सु दर्शनादत्र कथं बहुत्वमिति चेत्सत्यमेकस्माद् गुरोरेवात्मविद्या ग्राह्या परन्तु तद्दार्ढ्याय चान्येऽपि तत्वविदोऽनुसरणीयाः । अत एव चैकादशीयमवधूतब्राह्मणकर्तृकं चतुर्विंशतिगुरुभ्यो ज्ञानग्रहणमपि संगच्छते । तथा च विद्याभ्यासायैवान्यानुसरणमित्येतदभिप्रायकमत्र बहुवचनम् ॥ ३४ ॥

ज्ञानस्य फलमभिदधाति—**यदिति**। हे पाण्डव ! यज्ज्ञानं ज्ञात्वा पुनरेवं देहदैहिकाहंममत्वविषयकं मोहं भ्रमं न यास्यसि न गमिष्यसि।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

मोहं न यास्यसि । येन सद्गुरूपदिष्टात्मविषयज्ञानेन सर्वभूतात्मस्वरूपाणि कात्स्न्र्येन स्वात्मनि ज्ञानैकाकारतया स्वात्मसाम्येन द्रक्ष्यसि । अनन्तरं विगलितसांसारिकभावमाविर्भूतगुणाष्टकत्वेन विशुद्धं सर्वमात्मस्वरूपं मत्साम्यमुपगतं मयि द्रक्ष्यसि। इदमेव दर्शनं मुक्तिप्रयोजकमिति ज्ञानफलत्वेनोक्तम् ॥ ३५ ॥

प्रोक्तस्य ज्ञानस्य विरोधिनिरसनसामर्थ्यमाह—**अपीति** । **यदि सर्वेभ्यः पापकृद्भ्योऽपि पापकृत्तमोऽसि तथापि सर्वं वृजिनं दुःखोत्पादकपापार्णवमनेन ज्ञानप्लवेनैव सम्यक्प्रकारेणैव**

येनात्मयाथात्म्यज्ञानेन । भूतानि गृहीतब्रह्मादिस्थावरान्तशरीराणि सर्वाण्यात्मवस्तूनि । अशेषेण कृत्स्नतया । आत्मन्येव स्वात्मन्येव । द्रक्ष्यसि। ज्ञानैकाकारत्वेन स्वात्मसमतयैव सर्वानात्मनः प्रेक्षिष्यस इत्यर्थः । अथो अनन्तरम् । मत्समानाकारतया सर्वाणि भूतानि मयि द्रक्ष्यसि ॥३५॥

एवं कर्महृदयस्य ज्ञानांशस्य मोहनिवर्तकत्वमुक्त्वाऽनेन मोहकार्यस्य ज्ञानविरोधिनोऽनादिसञ्चितपापपुञ्जस्य विनाशनेऽपि सर्वथा सामर्थ्यमस्तीत्युच्यते—**अपीति** । चेच्छब्दो यदिपर्यायः सम्भावनापरः । यदि सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृद्भ्यः पापकृत्तमोऽतिशयेन पापकृदसि तथापि सर्वं वृजिनं पापार्णवमनेन ज्ञानप्लवेनैव । एवकारः साधनान्तरनिरपेक्षत्वं द्योतयति । ज्ञानमेव केवलं वृजिननिचयलयहेतुरिति तात्पर्यम् । सन्तरिष्यसि । ज्ञानमिदमाश्रयाणेन त्वया स्वजनवधादिजन्यपापराशेर्न भेतव्य-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तान्तरेण कर्मणां पुनःकार्यकरत्वप्रसङ्गं वारयति—**यथेति** । हे अर्जुन ! समिद्धः सम्प्रवृद्धः । अग्निर्वह्निः। यथा येन प्रकारेण एधांसीन्धनानि । भस्मसात्कुरुते भस्मतां नयति । तथा। ज्ञानाग्निर्ज्ञानरूपोऽनलः। सर्वकर्माण्यनारब्धकार्याणि पुण्यापुण्यात्मकानि निखिलानि कर्माणि । भस्मसात्कुरुते । कार्त्स्न्येन नाशयतीत्यर्थः। अथैवं 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

मिति भावः ॥३६॥

सर्वं ज्ञानप्लवेनैवेति वचनं वृजिनात्सतः पारप्रापकं ज्ञानमभिधत्तेऽकूपारपारप्रापकप्लववत् । तथा च न हि प्लवोऽकूपारं नाशयितुमीष्टे तथैव प्रकृतं ज्ञानं चेन्नानेन विशिष्टं फलमित्यर्जुनस्य कदाचिदाशंका स्यात्तामपि निराकरोति—**यथेति** । हे अर्जुन ! यथा प्रोद्दीप्तोऽग्निरेकाक्येव सपदि सर्वाण्येधांसि अनन्तकाष्ठकूटानि निरवशेषं भस्मसात्कुरुते भस्मीकरोति तथाऽयं ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि प्रारब्धेतराणि भस्मसात्कुरुते । कर्मपदमत्र पुण्यस्याप्युपलक्षणम् । निरवशेषं नाशयतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिस्मृतयः 'तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते' (कौ. १।४।) 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय' (मु.) 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा. ६।२४।३) 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा. ४।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥" (ब्रह्मवैवर्त्त प्र. खं. २६–७०) इतिवचनविरोधः, मैवमस्य वचनस्य प्रारब्धकर्मविषयकत्वादन्यथा प्रायश्चित्तशास्त्रव्याकोपप्रसङ्गः स्यात् ॥३७॥

उक्तेऽर्थे हेतुमाह—**नेति** । यस्मादिह जगति ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनकर्तृ किमप्यन्यन्न विद्यते । तदेतज्ज्ञानं ज्ञानरूपं भजता कर्मयोगेन संसिद्धः पुरुषः कियता कालेनादरादनुतिष्ठन् स्वयमेवात्मनि प्राप्नोति ॥ ३८ ॥

१४ । ३) 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्र. सू. ४।१।१४) न च 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' (ब्र.प्र. २६।७०) इति वचनविरोधः शङ्क्यः । अस्य वचनस्य प्रारब्धकर्मपरत्वात् । प्रारब्धं कर्म भोगमात्रैकफलकं न तु कर्मान्तरोत्पादकम् । तदुक्तं 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' (ब्र. सू. ४।१।१५) चरमोपायरूपा पराभक्तिः शरणागतिस्तु 'प्रारब्धस्यापि सा हन्त्री'त्यादिवचनैः प्रारब्धस्यापि क्षयकारिणीति केषाञ्चिदाचार्याणां मतम् ॥३७॥

एवं भूतस्य ज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टं पावनकारित्वमाह—**नेति** । यस्मादात्मयाथात्म्यगोचरज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनकारीह संसारेऽन्यन्न हि विद्यते । ज्ञानमेव पावनानामपि पावनमिति तात्पर्यम् । तज्ज्ञानं योगसंसिद्धः स्ववर्णाश्रमोचिताचारनिषेवणेन संसिद्धः। अत्र कर्मण्येव ज्ञानदर्शनमिति सिद्धिस्तेन युक्तः पुरुषः कालेन दर्शनाभ्यासपरिपाकसमयेन स्वयमेवात्मनि लभते मध्याह्नार्क इव स्वयमेवात्मनि प्रकाशमातनोतीत्यर्थः ॥३८॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

ज्ञानाधिकारिणमाह–श्रद्धावानिति। श्रद्धा ह्युपदिष्टेऽर्थे आदरातिशयस्तद्वान् तत्परो ज्ञानाभिलाषपूर्णः संयतेन्द्रियो विरक्त्यादिसाधनैः सम्यग्वशीकृतेन्द्रियस्तत्वजिज्ञासुः शिष्यो ज्ञानमु-

एवमस्य ज्ञानस्योपादेयत्वं तन्माहात्म्यञ्चाभिधाय तदधिकारिणः शिष्यस्य लक्षणं विवक्षुः शिष्येण तत्प्राप्तये स्वशरीरादिसंयमो गुरौ सद्वृत्तिरिति द्वयोरप्यनुष्ठानमावश्यकम् । तत्राचार्ये प्रणिपातः परिप्रश्नः परिचर्या चेति त्रयं 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (गी.४।३४) इति श्लोकेन प्रागुक्तवान् । अवशिष्टमतिसन्निहितं श्रद्धा तत्वाभिलाषा शरीरेन्द्रियसंयमश्चेति त्रयम् । तदुक्तमभियुक्तैः 'सद्बुद्धिः साधुसेवी समुचितचरितस्तत्वबोधाभिलाषी शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः । शान्तो दान्तोऽनसूयुः शरणमुपगतः शास्त्रविश्वासशाली शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृतविदभिमतं तत्वतः शिक्षणीय' इति । तदप्यनेनाभिधत्ते । श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् गुरुशास्त्रोपदिष्टेऽर्थे आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा तद्वानास्तिक्यबुद्धिसम्पन्नस्तदेव ज्ञानं परः प्राप्तव्यत्वेनोत्कृष्टो यस्य स ज्ञानेऽति तृष्णावान् संयतेन्द्रियः सम्यग्वशीभूतानीन्द्रियाणि बहिरन्तःकरणानि यस्य स । येषां मते मनस इन्द्रियत्वं नास्ति तेषामत्र मनःसंयमस्यानुक्तत्वान्न्यूनतादोषः स्यादिन्द्रियशब्देन मनसोऽप्युपादाने तु लक्षणैव दोष इति यत्किञ्चिदेतत् । एतद्विशिष्टः शिष्यो ज्ञानं लभते । तथा च ज्ञानगर्भाणि वर्णाश्रमोचितकर्माण्यनुष्ठाय ज्ञानं लब्ध्वाऽचिरेणैव कालेन

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

क्तप्रकारकं ज्ञानं लब्ध्वाऽचिरेण प्रारब्धकर्मक्षयसमनन्तरक्षणेनैव परां शान्तिं भगवद्धाम्नि सायुज्यमधिगच्छति ॥ ३९ ॥

व्यतिरेकेणानिष्टफलं दर्शयति–अज्ञ इति । अज्ञः पूर्वोक्तज्ञानशून्योऽश्रद्दधानः स्वाचार्यशास्त्रवाक्ये श्रद्धारहितः संशयात्मा संशययुक्तमनाश्च विनश्यति । इमे त्रयोऽपि विनश्यन्तीत्यर्थः । संशयात्मनो द्वाभ्यां यद्वैशिष्ट्यं तदाह–नेति । संशयात्मनोऽयं

प्रारब्धकर्मावसानेन परां शान्तिमर्चिरादिमार्गेण भगवद्धाम्नि सायुज्यमुक्तिमधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ३९ ॥

श्रद्धादिसाधनविधुरस्यानिष्टं फलमभिधीयते–अज्ञ इति । अज्ञोऽनाद्यविद्याप्रवाहपतितत्वाज्ज्ञानरहितो न तूपदेशलब्धज्ञानरहित इत्यर्थो व्याहतत्वात् । अश्रद्दधानो गुरुशास्त्रोपदेशादावनादरयुक्तः संशयात्मा संशये आत्मा मनो यस्य स । ज्ञानं कर्म वा मोक्षहेतुः? आत्मा देहातिरिक्तोस्ति न वा? गुरुवेदान्तवाक्यं हितमहितं वा? इत्यादिसंशयानश्च पुरुषो विनश्यति । अज्ञत्वादिदोषाः प्रत्येकं विनाशहेतव इति तथाविध दोषवन्तस्त्रयोऽपि विनश्यन्तीति भावः । अज्ञाश्रद्दधानाभ्यां संशयात्मनो वैशिष्ट्यमाह—**नेति** । संशयमनसोऽयं लोकः परश्च लोको नास्ति । ऐहलौकिकेषु पारलौकिकेषु साधनेषु निश्चयबुद्धेरभावात् । तत्साधनानुष्ठानेऽप्रवृत्तेः । तथैहिकं पारत्रिकं सुखमपि तस्य नास्ति तत्रापि संशयहेतोर्विद्यमानत्वात् । वस्तुतस्तु सुखशब्दोऽत्र नित्यनिरतिशयाप्राकृतसुखवाचकस्ततोऽतिरिक्तस्य प्रा-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

लोकः परलोकश्चोभावपि न स्तस्तत्साधनधियोऽनिश्चितत्वात् । एवमैहिकं पारलौकिकं सुखमपि संशयग्रस्तत्वान्नास्ति मोक्षसुखन्तु दूरापास्तमिति भावः ॥ ४० ॥

अध्यायार्थमुपसंहरति—**योगेत्यादिद्वाभ्याम्**। हे धनञ्जय ! योगसंन्यस्तकर्माणं अहर्दिवमनुष्ठीयमानकर्मयोगेन भगवदाराधनात्मकेन संन्यस्तानि ज्ञानरूपेणापरिणतानि कर्माणि येन तं ज्ञानांशग्रहणमनस्कं ज्ञानसंछिन्नसंशयं स्वपरस्वरूपयाथात्म्यनिश्चयेन विनष्टः पूर्वोक्तः संशयो यस्य तमात्मवन्तं सयतेन्द्रियतया

कृतसुखस्य तु 'नायं लोकोऽस्ति न पर' इत्यनेनैवोक्तत्वात् । तथा चाऽस्य संशयात्मनो निरतिशयसुखं निःश्रेयसमपि नास्तीत्यर्थः। ननु यदि सन्दिहानस्यैहिकपारलौकिकमपि सुखं नास्ति किमुताप्राकृतसुखमिति कैमुत्यन्यायेनैव तल्लाभ इति चेन्न, सति तद्वाचकपदे कैमुत्यन्यायानवतारात् । प्रत्यक्षश्रुतसुखपदवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्मादत्र संशयात्मनो मर्त्यलोकः स्वर्गोऽपवर्गश्च नास्तीत्येवार्थ इत्यस्मद्गुरुचरणाः ॥ ४० ॥

एवं नियतकर्मणो यज्ञादेः परिणामे ज्ञानरूपत्वमुक्त्वा प्राकरणिकार्थस्य कर्मबन्धनिर्मुक्तिलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नुपसंहरति—**योगसंन्यस्तकर्माणमित्यादिद्वाभ्याम्** । हे धनञ्जय ! योगसंन्यस्तकर्माणं 'कर्मण्यकर्म यः पश्ये'दित्याद्युक्तयोगेन ज्ञानपरिणतपरमपुरुषाराधनात्मककर्मयोगेन संन्यस्तानि भगवदर्पितानि कर्माणि येन तं ज्ञानसंछिन्नसंशयं

तस्माद्ज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

विशुद्धमानसं कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानानि सन्ति न निबध्नन्ति संसारापादकबन्धकराणि न भवन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

एवमुक्तेऽर्थेऽर्जुनकर्तव्यमुपदिशन्निगमयति—**तस्मादिति** । यस्मादेवं तस्मादज्ञानसम्भूतमनादिप्राक्तनकर्मवासनासमुत्पन्नं सूक्ष्मरूपेण मनसि वर्तमानमेनमात्मनः संशयं ज्ञानासिना स्वपरस्वरूपयाथात्म्यरूपज्ञानेनासिना छित्त्वा क्षयं नीत्वा योगं भगवदनुग्रहजन्यमोक्षैकफलं निष्कामकर्मयोगमातिष्ठ समाचर। हे भारत !

तत्वयाथात्म्यज्ञानेन समुन्मूलित संशयं आत्मवन्तं कर्मयोगिनं कर्माणि भगवदाज्ञापालनैकप्रयोजनेनानुष्ठीयमानानि न निबध्नन्ति संसारबन्धं भर्जितबीजमङ्कुरमिव न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इदानीमुपसंहृतार्थमवश्यानुष्ठेयत्वेन धनञ्जयं ग्राहयति—**तस्मादिति**। यस्माज्ज्ञाननिवृत्तसन्देहो निर्मलान्तःकरणः कर्मयोगी कर्मबन्धान्मुच्यते तच्छिन्नोऽनाद्यज्ञानमलीमसचेताः संशयात्मा विनाशमुपयाति । तस्मादज्ञानसम्भूतमविवेकादुत्पन्नं हृत्स्थं वस्त्ववधारणाक्षमे स्वान्तरेऽवस्थितमेनमभ्यर्णोपदर्शितं सर्वानर्थहेतुभूतमात्मनः संशयं ज्ञानासिनाऽऽत्मयाथात्म्यज्ञानात्मनिस्त्रिंशेन छित्वा समूलमुन्मूल्य योगं मयोपदिष्टं कर्मयोगमातिष्ठानुष्ठानं कुरु । हे भारत ! उत्तिष्ठ फलाभिसन्धिरहितस्य वर्णाश्रमोचितकर्मयोगस्या-

उत्तिष्ठ एतत्कर्मयोगान्तःपातिवर्णाश्रमधर्मत्वेन युद्धस्यानुष्ठानायोत्तिष्ठ सन्नद्धो भवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः
श्रीमदानन्दभाष्ये कर्मज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

जगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्यप्रणीता–

श्रीगीतार्थसुधा

प्रोक्ता कर्मप्रसङ्गान्निजविभवकथा नित्यकर्माणि पश्चात्–
कर्माकर्मस्वरूपं मतिसृतिमशिषत्कर्मभिः सम्प्रवृत्ताम् ।
यज्ञानां द्वादशानामनुकथनमितो ज्ञानयज्ञस्य मौख्यं
ज्ञानाग्निर्नाशयत्येव वृजिननिचयं तूर्य इत्यभ्यधत्त ॥ ४ ॥

वश्यानुष्ठेयत्वात्तदनुष्ठातुं त्वमुत्तिष्ठ । भारतेति सम्बोधनेन भरतवंशोद्भवस्य तवैतदेवोचितमिति सूच्यते ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण जगद्विजयि सर्वतंत्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्येन ब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण
विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ।

वेदान्तवेद्यकरुणाकरनित्यबन्धोः
सीतापतेः श्रितजनाहितनाशकर्त्तुः।
भव्यां भवाब्धितरणे तरणिं प्रपत्तिं
भक्तिं विना च मनुजो लभते न मुक्तिम् ॥
जगद्गुरुश्रीमङ्गलदासमहामुनीन्द्रः।

श्रीरामः शरणं मम।

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

आ. भा.–एवमतीतेन ग्रन्थेन परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षम्प्रति ज्ञानकर्मणोरुभयोरप्यविशेषेण साधनत्वमुक्तम् । कर्मण एव परिणामे ज्ञानरूपता तादृशकर्मान्तर्गतज्ञानांशमधिकृत्यैव सर्ववृजिनसंतरणफलोक्तिः 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमि'त्यनेनात्मप्राप्तिश्चाभिहिता । उपसंहारे च 'योगसंन्यस्तकर्माणमि'त्यस्य योगेन–कर्मयोगेन संत्य-

अ. टी.—द्वितीये 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति कर्मण्येवार्जुनस्याधिकारितामुपपाद्य ततो 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी. २।४९) इति बुद्धियोगस्यानुष्ठेयत्वमुक्त्वा बुद्धेरेव चात्मप्राप्तिरूपं फलमभिहितम् । तत्र बुद्धेरेव यदि सर्वथा प्राधान्यं तर्हि कर्मणि मां कुतः प्रेरयसीत्यर्जुनस्य समुचितः सामयिकः सन्देहः समजनि । तदपाकरणाय भगवान् तृतीयेऽध्याये प्राङ्निष्ठाद्वयमुपदिश्य द्वयोरप्येकेनाधिकारिणाऽनुष्ठानपौर्वापर्य्याद्वर्तयितुं शक्यत इति निरचैषीत् 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गी. ३।४) ततश्च कर्माण्येवादौ सर्वैरनुष्ठेयानीति स्वयमेव गीताचार्यः प्रत्यपीपदत् । 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (गी. ३।८) 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'

क्तकर्माणं पुन'र्ज्ञानसंछिन्न संशयम्' इत्यत्रज्ञानेन विध्वस्तसंशयमित्यर्थस्वीकारेणोभयोरेव ज्ञानकर्मणोर्बन्धविच्छेदकमुक्त्वा 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठे'ति परमोपसंहृतिवचनेन च भूयोऽपि 'योगमातिष्ठेत्यभिदधत्फलाभिसन्धिरहितस्य भगवदर्पणबुद्ध्यानुष्ठितस्य क-

(गी.३।१९) 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गी.३।२०) इति। न चैवं दूरेणेति वचनविरोधस्तस्य मुमुक्षुम्प्रति ज्ञानमाहात्म्यप्रतिपादकत्वेन चारितार्थ्यात्। एवं च मुमुक्षुभिरपि ज्ञाननिष्ठाया उपकारकत्वान्निष्कामकर्माण्यवश्यमनुष्ठेयानीति 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' (गी. ३।३।३०) 'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्तिमानवाः' (गी. ३।३१) इत्यादिवचनैरवगम्यते। अज्ञमधिकृत्योपदिष्टानीमानि वचनानीति तु वक्तुं न शक्यते। 'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' (गी.३।२५) 'जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्' (गी. ३।२६) इत्याद्यनेकवचनविरुद्धत्वात्। एवं तृतीये कर्मयोगम्प्रतिपाद्य चतुर्थेऽध्याये तस्यैव परिणतावस्था प्रतिपाद्यते। अयम्भावः। अनुष्ठीयमाननित्यनैमित्तिदिकर्मणामाकारद्वयमस्ति। तत्र कर्ममात्रानुष्ठानं तत्तत्कर्मणि स्वस्य हेतुत्वेनानुसन्धानम्प्रथममाकारम्। स्वस्य प्रकृतिवियुक्ततयाऽत्मयाथात्म्यानुसन्धानगर्भं कर्मैव द्वितीयामाकारं धत्ते। ज्ञानिनः कर्माण्याचरन्तः कर्मान्तर्गतं ज्ञानमेव पश्यन्ति। एतादृशमनुभववन्तमुद्दिश्यैव 'ज्ञानाग्निर्दग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा' इत्युच्यते। कर्मान्तर्गतज्ञानांशमादायैव 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (गी.४।३८) ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमित्यादिफलप्रतिपादनं संग-

र्मयोगस्यैव श्रेयःसाधनत्वमुपादिशत्। एवञ्चोभयोर्ज्ञानकर्मणोः फलजननसामर्थ्यं ह्येकरूपां प्रशंसां श्रावं श्रावं पुनःस्तत्र संदिहानोऽर्जुन उवाच–संन्यासमिति। हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं कर्मपरिणामज्ञानयोगं पुनर्योगं वर्णाश्रमविहितनिष्कामकर्मयोगं च शं-

च्छते। तथाच कर्मान्तर्गतज्ञानांशस्यैव प्राधान्यमित्येतदुक्तं चतुर्थे। अथेदानीमेतस्य कर्मान्तर्गतज्ञानांशस्यैव विचारः प्रस्तूयते। तत्र ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' (गी. ४।३७) इति ज्ञानयोगस्य सर्वकर्मनाशकत्वं 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति'मिति तस्यैव च मोक्षदायित्वमुक्त्वा 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति' (गी.४।४१) इति वाक्येन कर्मणां बन्धकत्वं ज्ञानयोगस्यैव च कर्मबन्धक्षयकर्तृत्वमिति स्पष्टीकृतम्। एतत्सर्वं मनसि कृत्यार्जुन उवाच–**संन्यासमिति।** हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं सम्यङ्न्यस्यन्ते कर्माणि यत्रेति व्युत्पत्त्या ज्ञानयोगं पुनर्योगं कर्मणामित्यत्राप्यन्वेति। तथाच कर्मयोगञ्च शंससि कर्माण्यवश्यानुष्ठेयानीति च ब्रूषे। तत्रैतयोर्ज्ञानकर्मयोगयोर्मध्ये यच्छ्रेयो ज्येष्ठञ्च यद्भवेत्। अयमर्जुनस्याभिसन्धिः। पूर्वं हि कर्मानुष्ठानक्षालितान्तःकरणस्य विशुद्धाधिकारिणो ज्ञानयोग एव साक्षान्मोक्षसाधनमित्युक्तम्। ततश्च 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादिवचनैः कर्मणामपि मोक्षसाधनता निःसंशयं साधिता। एकस्य साक्षादपरस्य परम्परयेति त्वद्ययावन्न निश्चितम्। पुनः कर्मणामेव ज्ञानाकारतामाप्नुवानानामव्यवहिततयाऽत्मप्राप्तिसाधनत्वमित्यप्युक्तम्। एवञ्चोभयोरविशेषेण चेच्छ्रेयःसम्पादनसामर्थ्यं तर्ह्यनयोरविलम्बेन सौगम्येन च यदात्म-

श्रीभगवानुवाच-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोऽस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

ससि। एतयोर्द्वयोर्ज्ञानकर्मणोर्मध्ये यच्छ्रेयः स्वानुष्ठाने यत्सुकरमाशुफलप्रापकं सुनिश्चितं तदेकं मे ब्रूहि ॥ १ ॥

एवमर्जुनाशंकां निराकुर्वन् श्रीभगवानुवाच–**संन्यास इति।** संन्यासो ज्ञानयोगः कर्मयोगश्चेत्येतावुभावपि निःश्रेयसकरावपवर्गप्रापकौ यद्यपि स्तस्तथापि तयोर्ज्ञानकर्मयोगयोः कर्मसंन्यासाज्ज्ञानयोगान्नियतेन्द्रियत्वेन निर्मलमनस्कस्य कर्मयोग एव विशिष्यते। अनुष्ठानसौकर्यादत्र वैशिष्ट्यमिति भावः ॥ २ ॥

पूर्वोक्तार्थे हेतुं निर्दिशति–**ज्ञेय इति** । यः कर्मयोगी नित्यं

प्राप्तिसाधकम्भवेत्तदेकं सुनिश्चितं मे मुमुक्षवे तवानुरक्तभक्ताय ब्रूहि । ज्ञानकर्मणोर्यदाशुफलदमनुष्ठाने सुकरञ्च भवेत्तदेकमेवोपदिशेति तात्पर्यम् ॥१॥

एवमर्जुनकृतजिज्ञासां समाधित्सुः श्रीभगवानुवाच–**संन्यास इति** । संन्यासो ज्ञानयोगः कर्मयोगश्च। चः समुच्चये । इमावुभावपि परस्परनिरपेक्षत्वेनैव निःश्रेयसकरौ निर्वाणसम्पादकौ स्तः । न ह्यत्र सन्देहलेशो यतोऽन्यतरस्य सम्यगनुष्ठानेनापि सुतरां मोक्षसिद्धिस्तथापि तयोर्मोक्षहेतुभूतयोर्ज्ञानकर्मयोगयोर्मध्ये कर्मसंन्यासाज्ज्ञानयोगात्कर्मयोगो विशिष्यते। मृदुमध्यतीव्राधिकारिभिः सुखेनानुष्ठेयत्वादिति भावः ॥ २ ॥

पूर्वश्लोकेन ज्ञानयोगात्कर्मयोगस्य वैशिष्ट्ये प्रतिज्ञा कृता । अनेन

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

स्वकर्तव्यतया कर्माण्यनुतिष्ठन् तदतिरिक्तं स्वात्मने न कांक्षति न वान्यान् द्वेष्टि स नित्यसंन्यासी नित्यज्ञानयोगी ज्ञेयः । यतो हे महाबाहो ! निर्द्वन्द्वो रागद्वेषशून्यः स सुखमनायासेनैव संसारबन्धात् प्रमुच्यते । बन्धनिर्मुक्त्यै तस्य साधनान्तरनैरपेक्ष्येण कर्मैव परमं साधनमिति भावः ॥ ३ ॥

कर्मयोगिनो नित्यसंन्यासित्वं यथा भवति तथा विविच्य दर्शयति–**सांख्ययोगाविति** । बाला अल्पज्ञाः सांख्ययोगौ

तत्र हेतुरुपन्यस्यते–**ज्ञेय इति** । यः कर्मयोगी कर्मपरिणतेरात्मविषयकज्ञानरूपत्वेन स्वरूपगोचरज्ञानप्राप्त्याऽतिसन्तुष्टत्वादन्यत्किमपि स्वसुखाय न कांक्षति न वा द्वेष्टि। निष्प्रयोजनेषु केषुचित्केचिद् द्विषन्ति किन्त्वयं तेषु द्वेषमपि न करोति । स कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि नित्यसंन्यासी नित्यज्ञाननिष्ठो ज्ञेयः । यतः स निर्द्वन्द्वो रागद्वेषशून्यत्वाच्छीतोष्णादिद्वन्द्वेषु क्षोभरहितः। तस्माद् हे महाबाहो ! सोऽति सुगमे कर्मणि निरतत्वात्सुखमनायासेनैव बन्धात्संसारबन्धनात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

पूर्वं हि ज्ञानकर्मणोः स्वरूपपार्थक्यमभिधाय द्वयोरपि निःश्रेयसरूपस्यैकस्यैव फलस्य प्रदायित्वमिति बोधितम् । इदानीं फलभेदनिबन्धनो भेदो नास्तीत्येतदभिधीयते–**सांख्ययोगाविति** । सम्यक् ख्यायते ज्ञायत आत्मस्वरूपमनया सा संख्या बुद्धिरात्मप्राप्तिसाधनभूतं ज्ञानमिति यावत् ।

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

ज्ञानयोगकर्मयोगौ भिन्नफलकौ पृथगेव ज्ञानफलकं कर्म ज्ञानञ्च-मोक्षफलकमिति भिन्नफलत्वादिमौ ज्ञानकर्मयोगौ भिन्नावेवेति प्रवदन्ति । पण्डितास्तु नैवम् । ते हि तयोरेकफलदायित्वेनैक्य-मेवेति मन्वत इति भावः । कुत ऐक्यं तदाह—एकमिति । यत आत्मप्राप्तरूपैकफलप्रापकत्वाद् द्वयोरेकमपि सम्यगास्थितोऽनुष्ठा-नायाश्रितो मोक्षाख्यं फलं लभते ॥ ४ ॥

तदेव सांख्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । तच्च योगश्चेति सांख्ययोगौ ज्ञानकर्मयोगौ सांख्ययोगशब्दाभ्यामिह कापिलपातञ्जलमतयोर्नैव ग्रहणम्, पूर्वापरसन्दर्भ विरुद्धत्वात् । ‘बहवः पुरुषा राजन् सांख्ययोगविचारिणः । नैत इच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह’ (भा. शा.) इति गीताप्रणेतृद्वैपायनेन महर्षिणैव स्वयं तयोर्निराकृतत्वात् । ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ (ब्र.सू. १।१।५) रच-नानुपपत्तेश्च नानुमानम्’ (ब्र. सू. २।२।१) ‘एतेन योगः प्रत्युक्तः’ (ब्र. सू. २।१।३) इत्यादिगीताकृत्प्रणीतब्रह्मसूत्रैस्तन्मतस्य खण्डितत्वात् । उभावपि पृथक् । वर्णाश्रमविहितकर्मभिश्चित्तकल्मषमपाकृत्य ज्ञानाधिका-रिता सम्पाद्यते—ज्ञानयोगेन च श्रेयः समर्प्यत इत्युभयोर्विभिन्नफलजनक-त्वात्पार्थक्यं भजत इति बाला ज्ञानकर्मरहस्याऽनभिज्ञा अल्पज्ञाः प्रव-दन्ति । पण्डिताः सद्गुरूपासनलब्धज्ञानवन्तस्तु नैवम् । उभयोर्भिन्नमेव फलमतस्तौ भिन्नाविति न प्रवदन्तीत्यर्थः । यद्यपि स्वरूपेतिकर्तव्यतादिषु भेदो दृश्यते परन्तूभयोः फलजनने नास्ति भेदः । ज्ञानेन सम्पाद्यं यत्फलं तदेव कर्मणाऽपि सम्पाद्यत इत्येक फलजनकत्वादुभयोरैक्य-मिति भावः । तदाह—**एकमिति** । उभयोरेकमपि सम्यगास्थितोऽनुष्ठाना-याश्रितोऽन्यतरेण प्राप्यमात्मतत्वं फलं विन्दते ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

प्रोक्तार्थं विवृणोति—यदिति । सांख्यैर्ज्ञानयोगिभिर्यत्फल-त्वेनाश्रयणीयं स्थानं प्राप्यते तदेव स्थानं योगैः कर्मयोगिभिरपि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितैः कर्मभिरवाप्यते । तस्मादेकफलसाधक-त्वेनैकं सांख्यं योगञ्च यः पश्यति । स पश्यति स एव यथार्थदर्शी नान्य इति भावः ॥ ५ ॥

एवं ज्ञानकर्मणोरेकफलकत्वेन साम्येऽपि कर्मणो वैशिष्ट्य-मुच्यते—संन्यास इति । हे महाबाहो ! संन्यासो ज्ञानयोगस्तु

एकस्य सम्यगनुष्ठानादपि तत्फलावाप्तिर्भवतीत्युक्तं स्पष्टयति—**यदिति** । सांख्यैः सदसद्विवेचकं ज्ञानं संख्या तामाश्रयन्ति ये ते सांख्या ज्ञानयोगिनः । शैषिकोऽण् । तैर्यत् स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानमुपेयमात्मत-त्वरूपं फलं प्राप्यते तदेव फलं योगैः कर्मयोगिभिः । योगशब्दोऽत्रार्शा-द्यजन्तः । भगवत्प्रसादैकफलं फलाभिसन्धिरहितं कर्म सम्यगनुतिष्ठद्भिरपि गम्यते सुखेनासाद्यते । तस्मादेकफलजनकत्वेनैकं सांख्यं ज्ञानयोगं योगञ्च कर्मयोगञ्च यः सम्यग्दर्शी पश्यति स पश्यति । स एव विवेकदृङ् नान्य इति भावः ॥ ५ ॥

एवं समानफलसम्पादकत्वे ज्ञानकर्मणोः साम्यमुपपादितं भवति । तथा सति ‘तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते’ (गी. ५।२)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

कर्मयोगेन विनाऽऽप्तुं दुःखम् । यदा च कर्मभिर्मनोमलं समूलमुन्मूलितं भवति तदैव ज्ञाननिष्ठा जायते नेतरथा । परमात्मोपासनलक्षणकर्मयोगयुक्तस्तु मुनिर्मननशीलो नचिरेणैव ब्रह्माधिगच्छति मोक्षाख्यं फलं प्राप्नोति ॥ ६ ॥

ननु कर्मणां सर्वदा फलोत्पादकत्वात्कर्मयोगी कथं ब्रह्माधि- इति वाक्यं कथं संगच्छताम् । किञ्चोभयोरेकफलप्रापकत्वेन यदि साम्यमेव तदाऽन्यतरस्य कस्यचिदनुष्ठानमावश्यकं न द्वयोरिति कुतो नाऽहं ज्ञानयोगमेव निरापदं हिन्सादिदोषरहितञ्चानुसरामि इति स्मारयतीयं वस्तुस्थित्तिर्घट्टकुटीप्रभातन्यायमित्याशंकायां सिद्धान्तयति—**संन्यासस्त्विति** । हे महाबाहो ! संन्यासस्तु । तुशब्दः पक्षेऽस्मिन्ननिर्भरत्वं ग्राहयति । ज्ञानयोगोऽयोगतः कर्मयोगमन्तरेणाप्तुं दुःखम् । 'शक्यंचानेन क्षुत्प्रतिहन्तु'मितिवत् सामान्यविवक्षायां निर्देशः । योगयुक्तो कर्मयोगनिष्ठो मुनिः स्वात्मानुसन्धानपरायणो ज्ञानयोगेन विनाऽपि नचिरेण स्वल्पसमयेनैव ब्रह्माधिगच्छति परमात्मानं साक्षात्करोति । संसारबन्धाद्विमुच्य सायुज्यमुक्तिमवाप्नोतीत्यर्थः । एवं च चतुर्थाध्याये कर्मण एव चरमावस्थायां ज्ञानाकारत्वमुक्तं तथाच ज्ञानस्य कर्मान्तर्गतत्वात्तदवाप्तये यथाविधि कर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वमापततीति कष्टम् । वर्णाश्रमविहितस्य कर्मयोगस्य तु परमपुरुषाराधनात्मकत्वेन कर्मानुष्ठातुस्तत्क्रतुनायेनाशु निर्विघ्नं परमपुरुषसाक्षात्कारलक्षणमोक्षावाप्तिर्भवतीति सुलभः क्षिप्रफलदश्चायं कर्मयोग इति निश्चीयते ॥ ६ ॥

ननु योगयुक्तस्य मुनेराशु निःश्रेयसाधिगमो न सम्भवति । कुतः? यतो

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

गच्छतीत्यत आह—योगयुक्त इति । भगवदाराधनकर्मयोगयुक्तो विशुद्धात्मा निष्कामकर्माचरणात्क्षालितमानसोऽभ्यासवैराग्यादिभिर्वशीकृतान्तःकरणः संयमादिभिश्च जितेन्द्रियः सर्वभूतानां

नैरन्तर्येणानुष्ठितानि कर्माणि नैरन्तर्येणैव फलजनकानि स्युरिति न कर्हिचित्कर्मफलभोगसमाप्तिः स्यादित्याशंकां समाधत्ते—**योगयुक्त इति ।** योगयुक्तः । शास्त्रविहितानि नित्यनैमित्तिककर्माणि महापुरुषाराधनात्मकान्येव । तथा च तादृशकर्मयोगनिरतः शश्वन्महापुरुषोपासनपरायणः कर्मयोगीतियावत् । विशुद्धात्मा रागद्वेषादिदोषासंस्पृष्टमनास्तथा च न योगयुक्त इत्यनेन गतार्थत्वम् । विजितात्माऽभ्यासविरक्तिभिर्जितमनस्को जितेन्द्रियो जितानि प्राणायामप्रत्याहारादिसाधनैर्बाह्येन्द्रियाणि येन स विजिताऽखिलबाह्यकरणः । अत्र पूर्वपूर्वोदितानामुत्तरोत्तरवाक्यार्थप्रयोज्यत्वम् । तथा च विशुद्धमनस्त्वे योगयुक्तता निष्पद्यते । मनसो विशुद्धिर्हि मनोजयसाध्या। स च बाह्येन्द्रियसंयमाधीन इति हेतुहेतुमद्भावेनैवमुक्तम् । एतेन 'विजितात्मा स्ववशीकृतदेह' इति मधुसूदनादिव्याख्यानं प्रत्युक्तम्; जितेष्वशेषेष्विन्द्रियेषु देहस्य जितत्वात् । बाह्येन्द्रियाणां मनसश्च जय एव देहजयः । बाह्येन्द्रियेभ्यो मनसश्चर्ते हेयोपादेयेषु केवलस्य देहस्याप्रवृत्तेः । सर्वभूतात्मभूतात्मा देवमनुष्यादीनामात्मभूत आत्मा यस्य सः । स्वात्मनो देवमनुष्याद्यात्मनश्च वास्तविकं स्वरूपं ज्ञानैकाकारतया समानमेव । प्राकृतशरीरभेदास्तु अनादिकर्मप्रवाहनिमित्तका इति न तेषामत्र विचारोऽपि तु कर्मकृतप्रकृतिपरिणामोपाधिविशिष्टदेवमनुष्यपशुतिरश्चां समे-

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपेञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

देवमनुष्यादीनामात्मभूतो ज्ञानैकाकारतयाऽऽत्मा यस्य स आत्मस्वरूपानुसन्धानतत्परः पुरुषः कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि तत्कृताभिमानरहितत्वान्न सम्बद्धयते ॥७॥

कर्मयोगिनो यावच्छरीरधारणं व्यवहारान् प्रदर्शयति—नेति द्वाभ्याम् । युक्तः कर्मयोगनिष्ठस्तत्वविदात्मज्ञानसम्पन्नो दर्शन-

षामात्मस्वरूपस्यैव विचारस्तत्र स्वरूपेणात्मनां भेदेऽपि ज्ञानैकाकारतयाऽऽत्मसाम्यमनुसन्दधानस्य स्वात्मैव सर्वत्र विज्ञायते न कचिदात्मभेदः । तथा सति सर्वेष्वात्मसु स्वात्मवद् व्यवहार एवाऽस्य फलं लभ्यते । तथाविधः कर्मयोगी कुर्वन्नपि न लिप्यते आत्मानात्मविवेकाग्रहनिबन्धनाभिमानशून्यत्वेन तज्जन्यसुकृतदुष्कृताभ्याञ्च न संयुज्यते; 'एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इतिश्रुतेः ॥ ७ ॥

'कुर्वन्नपि न लिप्यते' इत्युक्तं प्राक् तत्केन प्रकारेण कर्मयोगी स्वशरीरयात्रां निर्वहन् तिष्ठेदित्याकांक्षितमर्थमभिधत्ते—**नेति द्वाभ्याम् ।** युक्तः समाहितमनाः कर्मयोगी तत्ववित् कर्मान्तर्गतात्मविज्ञाननिपुणः पश्यन्नित्यारभ्याश्नन्नित्यन्तेषु दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनेषु ज्ञानेन्द्रियाणां व्यापारेषु गच्छन् प्रलपन् विसृजन् ग्रह्णन्निति गमनप्रलपनविसर्जनग्रहणेषु कर्मेन्द्रियाणां व्यापारेषु विसृजन्निति तन्त्रेण पायूपस्थव्यापार-

श्रवणस्पर्शनघ्राणाशनेषु ज्ञानेन्द्रियाणां विषयेषु गमनप्रलपनविसर्जनग्रहणेषु कर्मेन्द्रियाणां विषयेषु स्वापश्वासोन्मेषणनिमेषणेषु प्राणानां व्यापारेषु प्रवृत्तिं कुर्वन् इन्द्रियादीन्येव स्वस्वविषयेषु वर्त्तन्ते इत्येवं विचारयन्नहं किञ्चिदपि नैव करोमि किन्त्वनादिकर्मसंसर्गप्रवृत्तकरणकलेवरादिसम्बन्धादियं मे प्रवृत्तिरिन्द्रियसम्बन्धप्रयुक्तमिदं कर्तृत्वं मत्स्वरूपानुगुणं नैवास्तीति मन्येत ॥ ८–९ ॥

योर्ग्रहणम् । तदुक्तं ब्रह्माण्डे—'पायूपस्थे विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणि । विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चाभिकामतः॥ इति । एवं च 'सुखमुपस्थस्येति तत्वप्रकाशिकाव्याख्यानं निर्मूलम् । एवं स्वपन् श्वसन्नुन्मिषन्निमिषन्निति स्वापश्वासोन्मेषनिमेषेषु प्राणव्यापारेषु । अत्र स्वपञ्छ्वसन्नित्यनन्तरं प्रलपन्नित्यादिपाठस्तत उन्मिषन्निमिषन्निति पाठः। स च 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूम्पचति' इतिवदर्थक्रमाद्योजनीयः । प्रवृत्तिं कुर्वन्निन्द्रियार्थेषु पूर्वोक्तेष्विन्द्रियाण्येव स्वस्वविषये स्वभावात्प्रवर्तन्ते इति धारयन्नात्मानुसन्धानेनैकप्रयोजनेनेति स्वबुद्धया निश्चिन्वन् 'अहं किञ्चिनैव करोमि' किन्त्वनादिकर्मारब्धकरणकलेवरादिसम्बन्धादेवेयं प्रवृत्तिर्न मे भगवच्छेषतैकस्वभावस्य स्वरूपानुरूपेति मन्येत । नन्वेवं 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' (ब्र. सू. २।३।३४) इत्यादिप्रमाणानुरोधादात्मन एव कर्तृत्वं नत्विन्द्रियादीनामिति कथं तद्विरुद्धस्यात्रोपदेश इति चेन्न ज्ञानैकस्वरूपस्वभावस्यात्मनः स्वरूपमात्रानुसन्धानवेलायां कर्मप्रवाहमूलकस्य करणकलेवरादेरेव तादृशं कर्तृत्वमिति ज्ञानस्य तदानीमावश्यकत्वेन तथैवानुसन्धानम् ॥८-९॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

तथा भावनायाः फलं दर्शयति–**ब्रह्मणीति** । ब्रह्मण्याधाये त्युक्तिवैचित्र्यात्पूर्वमिन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इत्युक्तत्वाद् ब्रह्मशब्देनेह प्रकृतिपरिणामविशेषेन्द्रियरूपा प्रकृतिरुच्यते । यद्यपि मम योनिर्महद्ब्रह्मेत्यादौ प्रकृतिरेव ब्रह्मशब्देन निर्दिष्टा तथापि प्रकृतिकार्यत्वादिन्द्रियेष्वपि प्रकृतिव्यवहारोऽक्षतः। तथा चेन्द्रियरूपायां प्रकृतौ पूर्वोक्तरीत्या क्रियमाणं कर्म समर्प्य फलकामनाम्परित्यज्य योऽनुतिष्ठति स प्रकृतिसम्बद्धोऽपि तदभिमानशून्यत्वात्कर्मबन्धजनितपापेनाऽम्भसा पद्मपत्रमिव न लिप्यते नार्द्रतामुपगच्छति ॥ १० ॥

एवमशेषेन्द्रियव्यवहारेषु नाहं किञ्चित्करोमीति विशुद्धभावनया तत्ववित्कर्मस्पृङ् न भवतीत्यभिधाय पुनरप्युक्तिवैचित्र्येण पापकर्मश्लेषराहित्यं ब्रूते–**ब्रह्मणीति** । यः पुरुषः कर्माणि । ब्रह्मणि प्रकृतिकार्यविशेषात्मक इन्द्रियवर्गे । आधाय 'पश्यञ्छृण्वन्नि'त्यादिप्रकारेण संन्यस्य । संगं फलासक्तिम् । त्यक्त्वाऽपहाय । करोत्यनुतिष्ठति । इन्द्रियवर्ग एव कर्म करोति, फलमपि न ममेत्यनुसन्धाय यः कर्म करोतीत्यभिप्रायः । स पुरुषः । अम्भसा पद्मपत्रमिव । पापेन देहात्माभिमानादिराहित्यादलौकिकानिष्टफलासाधारणहेतुभूतेनाधेन । न लिप्यते लिप्तो न भवति । बद्धो न भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

प्रोक्तमर्थं शिष्टाचारेण द्रढयन् विवृणोति—**कायेनेति** । योगिनः कर्मयोगिनः फलाभिकांक्षाम्परित्यज्यान्तःकरणान्तर्निविष्टकर्माशयविनाशाय । कर्तृत्वाभिमानम्परिहाय देहमनोबुद्धीन्द्रियैरपि कर्म कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

फलकामनायामेव बन्धस्तदभावे च मुक्तिरित्युपदिशति–**युक्त इति** । युक्त आत्मनिविष्टचेतसा कर्मानुष्ठानतत्परोऽनुष्ठी-

अस्मिन्नर्थे सदाचारं प्रमाणयति—**कायेनेति** । योगिनः कर्मयोगनिष्ठाः सङ्गं त्यक्त्वा फलकामनां सर्वथा परित्यज्यात्मविशुद्धये मनोनैर्मल्यहेतवे विषयलोलुपताविरहितैः कायमनोबुद्धीन्द्रियैरपि नित्यनैमित्तिकादिरूपं कर्म कुर्वन्ति । अथवा योगिनो महापुरुषाराधनयोगनिष्ठाः संगं त्यक्त्वा ऐहिकफलोपलिप्सां परिहाय भगवत्येव मनःस्थैर्यसम्पादनाय कायेन भगवन्नैवेद्यनिर्माणमन्दिरमार्जनादि मनसा तद्ध्यानादि बुद्ध्या तत्स्वरूपनिश्चयादि केवलैरिन्द्रियैरर्चनप्रणामादि भगवदाराधनात्मकमेव कर्म सर्वदा कुर्वन्ति । भगवदाज्ञापरिपालनायैव न तु फललिप्सया कानिचिदपि कर्माणि कुर्वन्तीति भावः ॥ ११ ॥

नन्वेवं कर्मानुष्ठानस्यावश्यकत्वे कर्मफलमप्यवश्यमेव भोक्तव्यं तद्भोगाय च संसारापत्तिरनिवार्या स्यादित्याशंकायां सिद्धान्तयति—**युक्त**

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन् ॥ १३ ॥

यमानकर्मणां फलं त्यक्त्वाऽऽत्यन्तिकीं शान्तिं मुक्तिं प्राप्नोति । अयुक्तः स्वात्मानुसन्धानरहितः प्रभिन्ने फलेऽतिशयासक्तिं दधानो निबध्यते संसारबन्धं प्राप्नोति ॥ १२ ॥

प्रकृतिपरिणामक्षेत्र एव कर्तृत्वादिकं संन्यस्यावतिष्ठमानस्य ज्ञानिनः स्थितिमाह–**सर्वकर्माणीति** । मनसा गुणसङ्गकृतप्राकृतक्षेत्रसम्बन्धादेव कर्तृत्वं न तु मम स्वाभाविकं तदितिविचाराश्रितचेतसा सर्वाणि क्रियमाणानि कर्माणि नवद्वारे ग्रीवाया उपरि भागे सप्तद्वाराणि पायूपस्थाख्यं द्वारद्वयमधस्तादिति नव-

इति । युक्तः सर्वाण्यपि कर्माणि महापुरुषाराधनायैव विहीतानीति ज्ञात्वा कर्मयोगनिष्ठो महापुरुषावाप्तिप्रतिबन्धकं कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिं संसारोपरमरूपां मुक्तिं प्राप्नोति । अयुक्तः भगवदनुभवपराङ्मुखः स्वैराचारपरायणः स्वमनोऽभिलषितफले समासक्तः सन्निबध्यते संसारबन्धभाग् भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

एवं युक्तायुक्तपदवाच्याया आत्मानुभवैकधियोऽनात्मभूतविषयगोचरधियश्च कर्मफलानासक्तिसमासक्तिभ्यां शाश्वतिकशान्तिबन्धौ फलत्वेन निर्दिश्य वशीकृताऽन्तःकरणस्य देहिनः स्थितिमिदानीमुपदिशति–**सर्वकर्माणीति** । मनसा सद्गुरूपदिष्टभगवन्निदिध्यासनवशीकृतचेतसा प्राक्तनवासनाविकासोपलब्धदेहसम्बन्धादेव जीवस्य कर्तृत्वं न सर्वथोपाधिप्रयुक्तं न वा स्वरूपप्रयुक्तमित्यसकृद्विविच्य क्रियमाणानि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य

द्वारात्मकेऽस्मिन् पुरे मनुजदेहे 'पुरमेकादशं द्वारमजस्यावक्रचेतस' इति काठके वचसि तु नाभिमूर्धन्यरंध्राभ्यां सहैकादशत्वोक्तिरत्र तु सर्वदोद्घाटितानामापामरं प्रत्यक्षतो दृश्यमानानां ग्रहणान्नवत्वोक्तिरिति न विरोधः। सन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्

सम्यक्परित्यज्य । अत्र न सर्वथा कर्मणाम्परित्यागोऽभिधीयते 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इत्यादिश्रुतेः । अनुपदमत्रैव प्रकरणे 'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति' इत्यादिस्ववचनविरोधात् । तथा 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' (गी. १८।११) इत्याद्यनेकस्थलीयवचनविरोधाच्च । तस्मादत्रापि कर्मफलत्याग एव तात्पर्यम् । फलाशाम्परित्यज्य कर्मानुष्ठाने स्वस्यासङ्गत्वमेव निष्पद्यते । तदा हि परतन्त्रवत्कर्माणि कुर्वन्नपि न कर्माचरणजन्यपुण्यपापभोक्तृत्वमित्यवसीयते । अत एव 'नैव कुर्वन्न कारयन्' कर्माणि फललिप्सया स्वयं नैव कुर्वन् न वा कारयन् स्वयं कर्मणां कर्तृत्वकारयितृत्वाभ्यां विरक्तो भूत्वा वशी देही देहाद्यधिष्ठाता नवद्वारे सप्तद्वाराणि कण्ठादुपरितनभागे विद्यमानानि द्वे श्रोत्रे द्वे अक्षिणी द्वे नासिकारन्ध्रे मुखञ्चैकमिति सप्त मूत्रपुरीषोत्सर्जनफलकं द्वारद्वयमधस्तादिति नवद्वारपरिशोभिते पुरे पुरमिव पुरं शरीराख्यं नगरं तदपि च नवद्वारपरिमण्डितमित्यनेन विशेषिते मानुषो देह एव सिध्यति । न हि समेषां जन्तूनां नवद्वारात्मकं वपुरुपपद्यते । तस्मिन् स्वनिवासस्थानत्वेन स्वीकृते नगरे

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

स्वयं कर्तृत्वकारयितृत्वादिभिर्व्यवहारैर्विरक्तो भूत्वा कर्मणां स्वरूपेण त्यागजन्या नेयं विरक्तिरपि तु कर्माणि कुर्वन्नपि मनसा तत्कर्तृत्वममत्वफलाशादिभिस्संन्यासोऽत्राभिप्रेतः। तथा विधाय सुखं स्वरूपमात्रावस्थः सन्नास्ते ॥ १३ ॥

प्रभुः स्वस्वरूपस्वभावविशिष्टोऽयं जीवो लोकस्यान्य जनस्य सुखमास्ते सर्वोऽपि जीवः स्वस्य कर्तृत्वेन पुण्यापुण्याख्यफलभोक्तृतया क्लिश्यति। स्वकर्तृत्वाद्यभिमाननिवृत्तौ च तन्निबन्धनशोकमोहाद्यपगमे परमानन्दसन्दोहाब्धिनिमग्नस्तिष्ठतीत्यर्थः। अत्र भाष्यकृतो 'नैव किञ्चित्करोमी'ति इति वाक्येन कर्तृत्वादिकं मनः प्राणेन्द्रियादिषूपस्थाप्य तदध्यक्षेण योगयुक्तेन पुरुषेणाहं कर्मनिर्लेप' इति मन्तव्यमेतद्व्याख्यायात्र प्रकारान्तरेण तदेव कर्तृत्वं सर्वप्राणेन्द्रियाधारभूते नवद्वारे पुरे शरीरे संन्यस्य तदधिष्ठातुर्जीवस्य निष्कर्तृत्वमाचक्षते। तदेतत्तेषां तात्पर्यमपि मदीयेऽस्मिन् व्याख्याने सुरक्षितम्भवति। सर्वकर्मणां मनसा संन्यासो न तु वपुषाऽपि वपुषा त्वनुष्ठानं सिध्यत्येव। अतः शरीरे संन्यस्येत्यस्य 'मनःप्राणेन्द्रियादिमच्छरीरं यथा प्राप्ते कर्मणि स्वतः प्रवर्तत' इत्यर्थ। नाहं प्रवर्तयामीति न मयि कर्तृत्वं न वाऽनुष्ठितफलस्य भोक्तृत्वमित्येवं मनसाऽऽकलय्य स्वरूपावस्थः सुखमासीनस्तिष्ठतीति भावः ॥ १३ ॥

एवं शरीरसम्बन्धमाश्रित्यात्मनाऽनुष्ठीयमानानां कर्मणां शरीरे सन्न्यास-

न देवमनुष्याद्यसाधारणं कर्तृत्वं तथा कर्माणि न कर्मफलसंयोगं नापि कर्मफलस्य संयोगं तत्तच्छरीरेषु सम्बन्धं सृजत्युत्पादयति। कथं तर्हि तथाऽभिमन्यमानो व्यवहरतीत्याह—स्वभावस्तु प्रवर्तत इति। अनादिकर्मवासनावशाद्देवमनुष्याद्याकारमासाद्य तस्य तथाविधप्राकृतस्वभाव एव कर्मफलसंयोगानुगुणं कर्तृत्वादिकं धत्ते। न पुनर्जीवस्य स्वरूपप्रयुक्तमेतत्सर्वम्; तस्य स्वतो विशुद्धत्वात् ॥ १४ ॥

मुक्त्वेदानीं तस्य वास्तविकरूपमुच्यते—**नेति**। लोकस्य प्राकृतसंसर्गविशिष्टस्यान्यजनस्य सर्वदेवमनुष्यासाधारणं तत्तच्छरीराभिमानजनितं कर्तृत्वं तथा कर्माणि तत्तद्रूपेणानुष्ठितकर्मणां फलसंयोगश्च प्रभुः कर्मापरतन्त्रः स्वकीयवास्तविकरूपेण वर्तमानोऽयमात्मा न सृजति कुलालादिवन्नोत्पादयति। कथं तर्हि जगत्प्रवृत्तिरित्याह—स्वभावस्तु प्रवर्तते। अनादिकर्मवासनाप्रयुक्तमेतत्कर्तृत्वादिकं नत्वात्मनः स्वभावनिबन्धनम्। विशुद्धस्वरूपस्यात्मनः कर्तृत्वादिकं नैव कदाचिदपि सम्भवतीति भावः। यत्त्वत्र केशवकाश्मीरिभट्टाचार्येण प्रभुः परमेश्वरो लोकस्य जनस्य कर्तृत्वं कर्माणि न सृजतीत्यादिकं व्याख्यातं तदयुक्तं प्रकरणविरुद्धत्वात्। प्रकरणञ्चेदं जीवनिष्ठस्वाभाविककर्तृताया निषेधकं नत्वीश्वरकर्तृतायाः। अव्यवहितपूर्वश्लोके 'सर्वकर्माणि मनसे'ति जीवस्यैव प्रकृतत्वात्। उत्तरश्लोकेऽपि स्वाभाविकस्वरूपापन्नजीवकर्तृकस्वभिन्नसम्बन्धिसुकृतदुष्कृतकर्मकादाननिषेधेन जीवस्यैवोपादानान्मध्येऽप्यकर्मपारवश्याज्जीव एव प्रभुपदेन ग्रहीतुं युक्त इतिदिक् ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

+विभुर्विशुद्धस्वरूपः स्वतो निर्विकारश्चायमात्मा कस्यचित् कर्मप्राप्तशरीरसम्बन्धयुक्तस्य परिजनादेः पापं पापफलं दुखं न स्वयमादत्ते गृह्णाति। कस्यचित् सुकृतं पुण्यफलमपि नैव गृह्णाति। किन्तु सात्त्विकस्य ज्ञानस्यावरकं तमोगुणजन्यमज्ञानमेव। तेनेदमात्मस्वरूपप्रकाशकं ज्ञानमावृतमाच्छादितम् तेन हेतुना-

अथात्मनोऽकर्त्तृत्वादिकमाह—**नादत्त इति।** विभुः प्रकृतीतरो विशुद्ध आत्मा। कस्यचिदात्मसम्बिन्धिनः पापं पापफलं दुखं सुकृतं सुकृतजन्यं सुखञ्च नैवादत्ते नैव परिहरति। स्वभावत एवानुकूल्यप्रातिकूल्यविवर्जितोऽयमात्मेतिभावः। तर्हि किंनिमित्तकमस्यानुकूल्याद्यभिमान इति चेद् वासनाहेतुक एवेत्युच्यते। कुतोऽस्य वासनेत्यत्राह—**अज्ञानेनेति।** अज्ञानेन 'अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते' (वि. पु. ६।८।११) इति प्रमाणसिद्धेन ज्ञानविरोधिना प्राचीनकर्मणा। ज्ञानमावृतं तिरोहितम्। तेन जन्तवो मुह्यन्ति मोहमवाप्नुवन्ति। ततोऽस्य

वैष्णवभाष्यकारस्वामिश्रीवैष्णवाचार्यवेदान्ततीर्थप्रणीता

* गीतागुह्यार्थदीपिका *

+'एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्यः' 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते॥' इत्यादिजीवाणुत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधादात्मन उत्क्रान्तिगत्यागत्यभिधायकश्रुतिव्यकोपप्रसङ्गाच्चात्र विभुशब्दो न विभुपरिमाणवाचकः।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

सर्वे जन्तवो मुह्यन्ति मद्वैमुख्येन संसारसागरे निमग्ना मोहं प्राप्नुवन्ति ॥१५॥

एवं कर्मणी कर्तृत्वाभिमानेनानर्थावाप्तिरुक्ताऽथतन्निवारणाय ज्ञानयोगस्यैत्र विशोधनं क्रियते—ज्ञानेनेति। येषां सुकृतभाजान्तु स्वरूपविषयकेनात्मनो ज्ञानेन तदज्ञानं ज्ञानाद्याच्छादकमज्ञानं नाशितं तेषां तत्स्वरूपप्रकाशकं परमानन्त्यविशिष्टं ज्ञानविपरीतवासना भवतीति भावः॥ १५॥

तदेवं कर्मणि कर्तृत्वाद्यभिमानेनाज्ञानविवृद्ध्या संमुह्य भूयो भूयः संसरतीति तन्निवारणक्षमं 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि' (गी. ४) 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (गी. ४) इत्यादिवाक्यैः पूर्वमुक्तं ज्ञानमेव निश्चितमतस्तद्वैशिष्ट्यमभिधत्ते—**ज्ञानेनेति।** येषां पुण्यकर्मणामात्मनां गुरुशास्त्रोपदेशजन्येन जागतिकपदार्थेषु वैतृष्ण्यमाधायश्रद्धापुरस्सरं मननीकृतेनात्मस्वरूपविषयकेण ज्ञानेन तत्स्वपरस्वरूपविवेकविपरीतमज्ञानं नाशितं तेषां तत्स्वाभाविकं परं सर्वपदार्थविशोधकमपरिच्छिन्नमसंकुचितं ज्ञानमादित्यवद्भास्वानिव सर्वदा प्रकाशयति। धर्मभूतज्ञानस्य स्वरूपभूतज्ञानवदेव नित्यत्वं प्रकाशत्वञ्च श्रुतिसूत्रादिष्वुक्तमेव। 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादात्मनः' (बृ.) अत्र विज्ञातृशब्देन ज्ञानविशिष्टमात्मस्वरूपं निर्दिश्य तस्य कदाचिदपि विज्ञानस्य लोपो न भवतीत्येतदात्मनोऽविनाशित्वेन

मादित्यवद्भास्करवत् प्रकाशयति कृत्स्नं जगद्याथार्थ्येनावभासयति । एतेनाज्ञानोपाधिवशादात्मनो नानात्वमवभाति व्यपेतोपाधौ त्वेक एवात्माऽवशिष्यते सोऽपि च ज्ञप्तिमात्रमिति मतं निरस्तम् । विनष्टाज्ञानानामेव 'तेषामि'ति बहुत्वेन निर्देशान्मुक्तिदशायामपि बहुत्वं सिद्धमेव । ज्ञप्तिमात्रमेवात्मेति मतमप्यपाकृतं 'तेषां ज्ञानमि'ति धर्मधर्मिभावेनैव निर्देशात् सर्वज्ञस्य भगवतो वचनस्यान्यथा व्याख्यातुमशक्यत्वात् ॥ १६ ॥

हेतुनाऽभिहितः । एवञ्चात्मनो विज्ञानविशिष्टत्वेनैवोपलम्भादविनाशित्वाच्च धर्मिपारतन्त्र्यात्तद्धर्मभूतस्य ज्ञानस्य नित्यत्वं सुतरामुपपद्यते । सूत्रमपि 'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् (ब्र. सू. २) इत्यस्य यावदात्मभावित्वेन नित्यत्वं दृढयति । एवं पुराणरत्नेऽपि 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा' (वि. पु.) इत्यादिभिर्वचनैस्स एवार्थो दृढीकृतः । अत्र ज्ञानेन येषामज्ञानं नाशितं तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयतीति सर्वेषां गुरोः सर्वज्ञस्य भगवतोऽतिशयप्रियमर्जुनम्प्रत्युपदेशादुपाधिभूताज्ञाने विनष्टेऽप्यात्मनां बहुत्वं ज्ञायते । तेनाज्ञानोपाधिकृतमात्मनां बहुत्वं मुक्त्यवस्थायान्त्वेकत्वमेवेति मायिमतं व्युदस्तम् । तेषां ज्ञानं प्रकाशयतीत्युक्त्या च धर्मभूतज्ञानस्य भेदोऽभिहितः । ततस्तेषामितिनिर्देशाद्धर्मितयाऽऽत्मनां सर्वावस्थासु पार्थक्यमुक्तम् । तेन च ज्ञानमात्रमेवात्मेतिवदतां मतमपाकृतं वेदितव्यम् । पूर्वोत्तरपक्षयोर्विस्तरस्त्वस्माभिर्द्वितीयाध्यायार्थचन्द्रिकायां सम्यङ्निरूपित इति नेह प्रपञ्च्यते ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

ज्ञानाभ्यासं दर्शयति । तद्बुद्धय इति । तद्बुद्धयस्तस्मिन्नात्मज्ञाने बुद्धिर्दृढनिश्चयो येषान्ते तथा तदात्मानस्तस्मिन्मनो येषान्ते तथा तन्निष्ठास्तस्मिन्नेव श्रद्धावन्तस्तत्परायणास्तदेव परमयनं प्रयोजनं येषान्ते स्वरूपविषयकज्ञानैकप्रयोजना इत्यर्थः। तथाविधा ज्ञानैकचित्ता ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ज्ञानापनीतकर्मवासना उपासका अपुनरावृत्तिं पुनरावृत्तिवर्जितं पदमात्मानं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अत्रापि तद्बुद्धयः परमात्मबुद्धय इति तच्छब्देन परमात्मग्रहणे प्रकरणभङ्गापत्तेः परव्याख्यानमसङ्गतं ज्ञेयम् ॥१७॥

इदानी प्रकृतोपयोगिनीं ज्ञानवृत्तितामभिधत्ते—तद्बुद्धय इति । तद्बुद्धयस्तस्मिन्नात्मविषयकज्ञाने बुद्धिर्निश्चयो येषान्ते । अत एव तदात्मानस्तस्मिन्नेवात्मज्ञाने लग्नमनसस्तन्निष्ठास्तस्मिन्नेव निष्ठाऽचलश्रद्धा 'इदमेवात्मज्ञानं मन्मनोरथपूरकं नेतोऽतिरिक्तमिति परमोपादेयबुद्ध्या तदेव ध्यायन्तोऽत एव तत्परायणास्तदेव परायणं परमप्रयोजनं येषान्ते विशुद्धात्मस्वरूपप्रापकत्वात्तज्ज्ञानेऽपि फलत्वोक्तिः संगच्छते । अत एव ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ज्ञानेन निर्धूता समूलमुन्मूलिताऽनादिकर्मरूपाऽविद्या यैस्ते तादृशा आत्मज्ञाननिरता मुमुक्षवोऽपुनरावृत्तिं पुनरावृत्तिर्यम्प्राप्य न भवति तमात्मस्वरूपलक्षणं दिव्यं पदं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अयम्भावः । ये मुमुक्षवः सेन्द्रियमन्तःकरणं वशीकृत्य विशुद्धात्मज्ञानाभ्यासतत्परा भवन्ति ते तादृशमात्मानं साक्षात्कृत्य मुक्तबन्धना सन्तोऽपुनरावर्तिनो भवन्ति ॥ १७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

एवं भूतस्य ज्ञानिनोऽन्यत्र समानव्यवहारो भवतीत्याह—विद्येति । विद्याविनयसम्पन्ने विद्यया शास्त्राभ्यासेन विनयेन च सम्पन्ने विद्वद्ब्राह्मणे जातिमात्रेण च ब्राह्मणे सात्विकप्रकृतिके गवि हस्तिनि राजसप्रकृतिके शुनि चैव श्वपाके चेति तमःप्रकृतिकेऽत्यन्तविषमाकारेषु पण्डिता आत्मयाथात्म्यवेदिनः

साक्षात्कृतात्मतत्वानां विदुषां स्वात्मस्वरूपदर्शनवत् परत्रापि साम्यदर्शनमावश्यकं भवतीत्युच्यते—**विद्याविनयसम्पन्न इति ।** अत्र हि भगवता समदर्शिनमुद्दिश्य पाण्डित्यं विधीयते । ये समदर्शिनस्त एव पण्डिता इति । यद्वा पण्तिमुद्दिश्य समदर्शित्वं विधीयते पण्डितैस्समदर्शिभिर्भाव्यमित्यर्थोऽस्तु । सर्वथा हि समदर्शित्वे तात्पर्यम् । तत्रापि ज्ञानैकाकारेणैवात्मा समतया सर्वत्रावतिष्ठत इति बुबोधयिषया समुपक्रान्तोऽयं-श्लोकः। तथा च सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाध इति न्यायेन समदर्शिन इति दर्शनस्य स्वाभाविकत्वात्तद्विशेषणतावच्छेदकस्यैव विधाने बोधने वा तात्पर्यम् । साम्यञ्च तत्प्रतियोगिवैषम्ययुक्तेषु पदार्थेषु सद्गुरुशास्त्रसेवनाभ्यासजनितज्ञानदृष्ट्या सम्पादनीयम् । वैषम्यमपि जातिगुणस्वभावाकारादिभेदेनानेकविधं वरीवर्ति । तत्र जात्याकाराभ्यां साम्येऽपि गुणस्वभावकृतवैषम्ययोर्द्वयोरुदाहरणं दर्शयति—विद्याविनयसम्पन्ने विद्या वेदादिशास्त्राभ्यासो विनयस्तज्जनितविवेकप्रावण्यं ताभ्यां सम्पन्ने श्रुतवृत्तसमन्विते विद्वद्ब्राह्मणे जन्मतो ब्राह्मणे चेति द्वयोर्जात्याकारसमत्वेऽपि प्रवृद्धवृद्धसत्वाभ्यां प्रभिन्नयोर्गुणस्वभावकृतवैषम्यश्रुतवृत्तादिसम्पन्नविद्वद्ब्राह्मणस्य जातिब्राह्मणस्य च गुणस्वभावाभ्यां महद्वैषम्यमस्ति । एतदभिप्रायेणैव स्मृतिषु ब्राह्मणद्वैविध्यं प्रतिपादितम् । ‘तपः श्रुतञ्च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारकम् । तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः’ इति । तथा च गुणस्वभावकृतवैषम्येऽप्यात्मस्वरूपन्तु ज्ञानाकारेणोभयत्र समानमेव । अत्र श्रीधरमधुसूदनप्रभृतिभिस्तु विद्याविनयसम्पने ब्राह्मणे इत्यभेदेन ब्राह्मणस्य विद्याविनयसम्पन्न इति विशेषणमभिधाय ब्राह्मण इत्येकमेव सत्वप्रकृतिकमुदाहरणमुक्तं तच्छ्लोकतात्पर्यानवबोधविलसितम् । तथा हि प्रकृतश्लोके प्रवृद्धसत्ववृद्धसत्वप्रभेदेन श्रोत्रियब्राह्मणयोः सात्विके द्वे उदाहरणे प्रवृद्धरजोवृद्धरजःप्रभेदेन गोगजयो राजसे द्वे उदाहरणे तथा प्रवृद्धतमोवृद्धतमःप्रभेदेन तामसे द्वे उदाहरणे इत्येवं षडुदाहरणानि स्पष्टमेव प्रतिभान्ति । तैस्तु सात्विके ब्राह्मणस्य राजसे च गोरित्येकैकमेवोदाहृत्य तामसे हस्तिश्वश्वपचानां त्रयाणामुदाहरणं दत्तमिति क्रमभङ्गः स्पष्ट एव । गोहस्तिनो राजसोदाहरणत्वे श्वश्वपचयोश्च तामसत्वेऽपि दोषस्य तादवस्थ्यात् । सात्विकोदाहरणस्यापि द्वैविध्येन भाव्यमेव । किञ्च गोहस्तिश्वश्वपचानां निर्विशेषणत्वे तत्समभिव्याहृतब्राह्मणस्यापि तथात्वौचित्यादिति न विद्येत्यादिकं ब्राह्मण इति श्रूयमाणसप्तम्यन्तार्थस्य विशेषणम् । अतो विद्याविनयसम्पन्नस्य गोः श्वपचस्य च क्रमेण प्रवृद्धसत्वरजस्तमसामुदाहरणत्वं ब्राह्मणहस्तिशुनाञ्च केवल सात्विकराजसतामसोदाहरणत्वमित्येवार्थो ज्यायान् । शुनोऽपि श्वपचस्य प्रवृद्धतामसत्वं तु प्रकृतभगवद्वाक्यबलादनेकशास्त्रबलाच्चाभ्युपग-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

समदर्शिनः सर्वत्र ज्ञानाकारेण सममेवात्मानं पश्यन्तीत्यर्थः॥१८॥

इदानीं समदर्शिनां प्रशंसया समदर्शनस्य फलमुच्यते— इहेति। इह समदर्शनानुष्ठानसमय एव तैर्मुमुक्षुभिः साधकैस्सर्गस्संसारप्राप्तिप्रयोजककर्मबन्धो जितो निवारितो येषां सज्जनानां म्यते। अत्र वाक्ये क्रमेण ब्राह्मणगोहस्तिश्वश्वपचोपादानेनोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वापेक्षया जघन्यत्वात्। तस्मादस्मद्भाष्यकृतां व्याख्यानमेव सम्यक्। प्रवृद्धराजसराजसयोरुदाहरणे दर्शयति गवि हस्तिनीति। अनयोर्जात्याकाराभ्यां वैषम्यमेव दृष्टान्तबीजम्। प्रवृद्धतामसतामसयोश्चोदाहरणे शुनि चैव श्वपाके चेति। अनयोर्जातिगुणस्वभावाकारैस्सर्वथा वैषम्यमस्ति। तथा च सत्स्वपि वैषम्येष्वात्मनो ज्ञानाकारेण सर्वत्र साम्यमेवास्तीति ज्ञानिभिस्समदृष्टिरेव कार्येत्याशयः। अत्र केचिल्लोकायतमतमतयः स्वाच्छन्द्यमीहमाना एतच्छ्लोकस्थेन 'पण्डिताः समदर्शिन' इति वाक्यखण्डगतेन 'समदर्शिन' इति शब्देन 'साकन्तु सार्धं सत्रा समं सह' इति कोशसाहाय्येन स्वोपयोगिनः समपदस्य सहार्थकत्वमङ्गीकृत्य सहदर्शित्वं, सहयायित्वं, सहभोजित्वं, सहकार्यसम्पादकत्वं, सहस्पर्शित्वमन्योऽन्यस्पर्शनशीलत्वमितियावदित्याद्यर्थजातमाविष्कुर्वन्ति स्वीकुर्वन्ति च। तदेतदेतेषामज्ञानविजृम्भितम् ॥ १८ ॥

इदानीं समदर्शी स्तूयते—इहेति। तैः साधकजनैरिह साधनावस्थायामेव सर्गो सृज्यते संसारोऽनेनेति सर्गः कर्मबन्धो जितो विनाशितः

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥२०॥

मनः साम्ये सर्वात्मनां समभावे स्थितम्। यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म प्राकृतसंसर्गदोषविनिर्मुक्तं समपदवाच्यमात्मतत्वमेव ब्रह्मास्ति। तस्मात्साम्यस्थास्ते ब्रह्मण्येव स्थिताः। कर्मबन्धविनाशे ब्रह्मस्थितिः सम्भवति। सृज्यते संसारोऽनेनेति सर्गः कर्मबन्धस्तस्य विनाश एव हि तज्जयः। स चात्मसमदर्शनेन भवतीत्यर्थः ॥१९॥

प्रियाप्रियसमागमे साम्यदृष्टिः कथं स्यादित्याशंकायामाह— नेति। ब्रह्मवित् सदाचार्योपदेशेनात्मपरमात्मतत्त्ववेत्ता। ब्रह्मणि समूलमुन्मूलित इतियावत्। कैरुन्मूलित इत्यपेक्षायां येषां पुरुषधौरेयाणां मुमुक्षूणामिति यावत्। साम्ये प्रोक्तमखिलेस्वात्मसु यत्साम्यं ज्ञानाकारेण समानदर्शनं तस्मिन्मनः स्थितम्। यस्मान्निर्दोषं प्रकृतिपरिणामक्षेत्रसंसर्गरूपदोषविनिर्मुक्तं सममात्मस्वरूपमेव बृहत्त्वगुणयोगाद्विशुद्धत्वाच्च ब्रह्मास्ति। तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः सर्वात्मसु ज्ञानाकारेण समदृष्टिः स्थिरा यदि जाता तदा तादृशे साम्ये ये स्थितास्ते ब्रह्मण्येव स्थितास्तादृश ब्रह्मस्थितौ भूयस्ते संसारे नैव प्रच्यवन्ते। मुक्तबन्धनाः सन्तो मोक्षमाप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

एवं सर्वत्र समब्रह्मदर्शनेनानाद्यविद्याकर्मबन्धो विनश्यति जगज्जयो जायते इत्युक्तमिदानीं विज्ञानसिद्धये मुमुक्षोः समदृष्टेरुपायानुपदिशति— नेति। स्थिरबुद्धिः सर्वत्र समरूपेण स्थिर आत्मन्येव बुद्धिर्यस्य स। व्यधिकरणपदबहुव्रीहिस्त्वर्थबलादाश्रितः। असम्मूढः सम्मोहः प्रमादस्तद्रहितो ब्रह्म-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

स्थितो यतमानः । असंमूढः परित्यक्तास्थिरदेहात्माभिमानः । स्थिर आत्मन्येव बुद्धिर्यस्य स स्थिरबुद्धिः पुरुषो दैवात् प्रियमनुकूलं प्राप्य न प्रहृष्येत् । अप्रियमननुकूलञ्च प्राप्य नोद्विजेदुद्वेगं न प्राप्नुयात् ॥ २० ॥

एवमनुष्ठितेऽक्षय्यं सुखं मोक्षं प्राप्नोतीत्युच्यते—**बाह्यस्पर्शेष्विति** । यः । बाह्यस्पर्शेष्वात्मेतरेषु शब्दादिबाह्यविषयेषु । न सक्तोऽसक्त आसक्तिरहितः, असक्त आत्मा मनो यस्यासावसक्तात्माऽऽसक्तिवर्जितमनाः। आत्मनि सुखं विन्दति । स ब्रह्मयोगयु-

वित्सद्गुरुशास्त्रोपदेशेनात्मपरमात्मविषयकज्ञानसम्पन्नो ब्रह्मणि स्थितः सन् ज्ञातमेवार्थं निदिध्यासनेन दृढीकुर्वन् स्वपरस्वरूपैकपरायणोऽविवेकी प्रियं प्रारब्धानुसारेणोपनतमिष्टम्प्राप्य न प्रहृष्येन्मनसि तत्रानुरक्तिं न कुर्यादन्यथा 'ब्रह्मणिस्थित' इत्यनेनोदीरिताया ब्रह्मस्वरूपपरायणताया विच्छेदसम्भवात् । तथाऽप्रियमनिष्टं स्वमनःप्रतिकूलमिति यावत् । प्राप्य च नोद्विजेल्लेशतोऽप्युद्वेगं न कुर्यात् । यदृच्छोपनतेष्विष्टानिष्टेषु हर्षामर्षप्रकर्षरहितः सन्नात्मस्वरूपमेव सर्वदा सम्भावयेदिति भावः ॥ २० ॥

एवं समदृष्टेः प्रयोजकं हर्षामर्षराहित्यं तथा भावयतः स्थिरबुद्धेर्यदात्यन्तिकं सुखमुत्पद्यते तद्वर्णयति—**बाह्यस्पर्शेष्विति** । यः श्रेयोऽर्थी बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा स्पृश्यन्तेऽनुभूयन्त इति स्पर्शाः शब्दादयो विषयाः, बाह्यांश्च ते स्पर्शा बाह्यस्पर्शाः, बहिरिन्द्रियाणां विषयास्तेष्वसक्त आत्मा-

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

क्तात्मा ब्रह्माभ्यासयुक्तमनस्कः । अक्षय्यं नित्यं । सुखं ब्रह्मानुभवरूपं मोक्षसुखम् । अश्नुते ॥ २१ ॥

अनादिकालादनुभूतविषयेभ्यो विरतिस्तु दोषदर्शनादेव जायते तदाह—**य इति** । हे कौन्तेय ! ये हि विषये संयोगजनिता भोगा

न्तःकरणं यस्य स विशुद्धात्मातिरिक्तवस्त्वभिलाषवर्जितः स्वान्तःकरणे सुखं विन्दति स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मणो विशुद्धात्मनो योगो निरन्तराभ्यासस्तेन युक्त आत्मा मनो यस्य सोऽक्षय्यमात्मावलोकनजन्यं सुखमश्नुते॥२१॥

ननु चिरादनुभूतेषु विषयेषु प्रवर्तमानमन्तःकरणमात्मावलोकनक्षमतां कुतो धत्तां कुतश्च ततो विषयप्रावण्यं निवर्ततामित्याशंक्य विषयवैराग्यादेव मनोनिरोधस्तच्च विषयदोषदर्शनादिति भोगान्निन्दन् तेषु विरक्तिमेव दृढयति—**य इति** । हे कौन्तेय ! हि यस्माद्ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्मानो भोगा भुज्यन्त ये ते भोगास्ते आद्यन्तवन्त उत्पत्तिनाशवन्तः। सांसारिकपदार्थानां क्षणभङ्गुरता ह्यसकृद् घोष्यते श्रुतिषु—'श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः इतिकाठके। अभियुक्तैरप्येतदुक्तम्—'येषां निमेषोन्मेषाभ्यां जगतां प्रलयोदयः। तादृशाः पुरुषा याता मादृशां गणनैव का ॥ सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम् ॥' पृथिवी दह्यते- यत्र मेरुश्चापि विशीर्यते । सुशोषं सागरजलं शरीरे तत्र का कथा ॥' इति । दुःखयोनयो दुःखानामात्मप्रतिकूलानां योनयः कारणान्येव ।

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

दिव्या मानुषाश्च ते सर्वे दुःखयोनय दुःखानां योनयः सर्वेषु कालेषु दुःखप्रदा एव। आद्यन्तवन्त उत्पन्नविनश्वरा न तु नित्याः। अतो बुध आत्मयाथात्म्यज्ञाननिपुणस्तेषु क्षुद्रफलेषु क्षुद्रकालावसानेषु भोगेषु न रमते। किन्तु विरमत इत्यर्थः ॥२२॥

ऐन्द्रियकसुखपरित्यागमुक्त्वा परवैराग्ययुक्तस्य फलमाह— **शक्नोतीति**। यो नरः शरीरविमोक्षणात् कर्मयोगिन एतत्सा-

तदाहुः श्रुतयः 'हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते' (का०) इत्याद्याः। स्मृतयश्च 'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥ गतसारेऽत्र संसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम्। लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः॥ क्षिपसि शुकं वृषदंशकरदने मृगमर्पयसि मृगादनवदने। वितरसि तुरगं महिषविषाणे विदधच्चेतो भोगवितानं॥' इत्यादयः। तेषु भोगेषु बुधो आत्मप्रेक्षको धीमान् न रमते। 'त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ। विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥' 'तृषाशुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभिः क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांसाज्यकलितान्। प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूः प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥' इत्येवं वैराग्यं विधाय विरमत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

एवं भोगानां क्षणिकत्वं क्लेशहेतुत्वञ्चाभिधाय तितिक्षा वैराग्यफलं दर्शयति—**शक्नोतीति**। यः कर्मयोगी नरः शरीरविमोक्षणात्

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

धनदेहविमोकात् प्रागिहैव साधनानुष्ठानदशायामेव कामक्रोधोद्भवं कामो विषयभोगेच्छा क्रोध इष्टोपलब्धेरन्तरायभूतेषु द्वेषस्ताभ्यां जनितं वेगं चित्तविकारं सोढुं शक्नोति स्वान्तःकरण एव परवैराग्येण शमयितुं समर्थो भवति स एव युक्तः कर्मयोगविशिष्टः स एव च सुखी। दिव्यात्मानुभवलक्षणसुखयुक्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

आत्मावलोकनेऽन्तरङ्गसाधनान्याह—**योऽन्त इति**। यो योगी अन्तःसुखोऽन्तरात्मन्येव सुखं यस्य स तथाऽन्तरारामोऽन्तरात्मन्येवारामो यस्य स 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इति श्रुत्यर्थोऽनेन विवृतो

साधनसमारब्धदेहवियोगात् प्रागिहास्यां साधनानुष्ठानदशायामेव कामक्रोधोद्भवं कामो विषयस्पृहा क्रोधः कामप्रतिघातकेषु द्वेषस्तावेवोद्भवो यस्य स वेगः कामोद्भवो वेगः पुलकाङ्गानुमेयश्चित्तविकारविशेषस्तं क्रोधोद्भवो वेगो रक्तनयनप्रस्फुरिताधराद्यनुमेयश्चित्तविकारविशेषस्तञ्च सोढुं शक्नोति फलवैतृष्ण्यविषयदोषदर्शनादिभिर्निवारयितुं समर्थो भवति सोऽधिकारी सुखी, आत्मावलोकनयुक्तः सन्नात्मसाक्षात्कारलक्षणसुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

एवं कामक्रोधजितस्य युक्तात्मनः सुखफलमुक्त्वाऽन्तरङ्गोपायमभिधत्ते—**य इति**। यः स्वात्मप्रेप्सुर्योगी। अन्तःसुखोऽन्तरात्मन्येव सुखं यस्य सोऽन्तस्सुखस्तथाऽन्तरेवारामः। आरमन्त्यस्मिन्नित्यधिकरणे घञ्। क्रीडास्थानं यस्य स 'आत्मक्रीड आत्मरतिः, इति श्रुतेः। तथाऽन्तर्ज्योतिरेवान्तरेव:

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानस्सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

भवति । तथाऽन्तर्ज्योतिरन्तरेव ज्योतिः प्रकाशरूपं विमलं ज्ञानं यस्य स ब्रह्मभूतः शुद्धात्मनिष्ठः स योगी ब्रह्मनिर्वाणं स्वात्मानन्दलक्षणं सुखमधिगच्छति ॥ २४ ॥

छिन्नद्वैधाश्छिन्नं नष्टं सुखदुःखात्मकं द्वैधं येषान्ते यतात्मान नियतमानसाः सर्वभूतहितेरताः सर्वेषां भूतानां हिते समुपकारे रता निरता ऋषयः श्रुत्यभ्यासपाटवमापन्ना मुमुक्षवः क्षीणकल्मषा विगतकर्मबन्धाः सन्तो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते । परां गतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

ज्योतिः प्रकाशबहुलं ज्ञानं यस्य सोऽन्तर्ज्योतिरत्र सर्वत्र सर्वं वाक्यं सावधारणमिति नियममनुसृत्यान्तरेवात्मन्येव सुखारामज्ञानानि यस्य विद्यन्त इत्यर्थोऽवसितः। तेन बाह्यक्षणिकसुखस्य बाह्यपुत्रकलत्रगृहक्षेत्रोद्यानादीनां बाह्यसांसारिकपदार्थविषयकज्ञानस्य च व्यावृत्तिः फलति । स ब्रह्मभूतो ब्रह्मनिष्ठो योगी ध्यानयोगपरायणो मुमुक्षुर्ब्रह्मनिर्वाणात्मानुभवलक्षणं सुखमधिगच्छति ॥ २४ ॥

समदर्शिनोऽप्यन्तरङ्गसाधनमुपदिशति—लभन्त इति । छिन्नद्वैधाश्छिन्नं विनष्टं द्वैधं शीतोष्णादि द्वन्द्वं संशयो वा येषान्ते साम्ययुक्ता महानुभावा यतात्मानो नियतमनस्काः सर्वभूतहितेरताः सर्वेषां भूतानां हिते सर्वदोपकारे रतास्तत्परा ऋषयो वेदाभ्यासकुशलाः क्षीणकल्मषा निवृत्तपापाः सन्तो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते । आत्मसाक्षात्कारजन्यं सुखं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

एवम्प्रकारेण साधनमनुतिष्ठतां ब्रह्मप्राप्तिर्नेदीयसीत्याह—कामक्रोधवियुक्तानामिति । कामक्रोधवियुक्तानां त्यक्तकामक्रोधानां यतीनां प्रयत्नशीलानां यतचेतसां संयतमनसां विदितात्मनां निश्चितात्मस्वरूपाणां ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मदर्शनलक्षणानन्दोऽभितोऽतिसमीपतो वर्तते ॥ २६ ॥

एवं कर्मज्ञानयोगावभिधाय मोक्षोपयोगि योगसाधनं योगिभिरवश्यमनुष्ठेयमित्याह—स्पर्शानिति द्वाभ्याम् । यो योगी बाह्यान् स्पर्शान् बहिर्भवान् विषयान् बहिः कृत्वा चक्षुश्च भ्रुवोर-

अथैवं साधनसम्पन्नस्यासन्नतमा ब्रह्मप्राप्तिरित्यभिधत्ते—कामक्रोधवियुक्तानामिति। कामक्रोधाभ्यां ये वियुक्ताः सर्वथा निष्कामा निर्वैराश्च ये सन्ति तेषां यतीनां बाह्येन्द्रियसंयमयुक्तानां यतचेतसा वशीकृतान्तःकरणानां विदितात्मनां दृढीकृतात्मानुभवानामात्मयाथात्म्यानुभवशालिनामिति यावत् । ब्रह्मनिर्वाणमात्मसाक्षात्कारलक्षणनिरतिशयसुखमभितोऽव्यवहितमत्यासन्नमिति यावत्। वर्तते ॥ २६ ॥

पूर्वं ' स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ' (गी. ५।) इत्यतिसंक्षेपेण ब्रह्मध्याननिष्ठस्य निःश्रेयसावाप्तिरुक्ताऽथ विस्तरेण योगिनो ध्यानधारणादियोगानुष्ठानप्रकारं विवक्षुरुपोद्घाततया संक्षेपेणाध्यायान्ते

यतन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

न्तरे मध्ये च कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ नो रन्ध्रयोरुच्छ्वासनिश्वासरूपेण सञ्चरन्तौ प्राणापानौ समौ समानगतिकौ कृत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्यताः संयताः स्वस्वविषयेभ्यो निवृत्ता बाह्येन्द्रियाणि मनोऽन्तरिन्द्रियं बुद्धिरध्यवसायश्च यस्यासौ तथोक्तः। अत एव विगतेच्छाभयक्रोधः कामनाभयक्रोधादिरहितः केवलं मोक्षपरायणः मोक्षफलैकलिप्सया धृतजीवनोऽत एव मुनिरात्मस्वरूपचिन्तनचतुरः स सदा मुक्त एव। तादृश आत्मचिन्तकः सांसारिकक्लेशनिवृत्त्या परमानन्दमनुभवन्मुक्तवदिहावतिष्ठते । जीवन्मु-

योगोपायमुपदिशन्नुपसंहरति–**स्पर्शानित्यादिद्वाभ्याम्** । यो ध्यानयोगी बाह्यान् स्पर्शान् बहिरिन्द्रियैरन्तःकरणे स्थापितान् । स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादिविषयास्तान् । गुरूपदेशानुसारेण बहिः कृत्वा सर्वाणीन्द्रियाणि तत्तद्विषयेभ्य उपसंहृत्य सिद्धपद्मादिषूपयुक्तमासनं परिबध्य स्थिरकायः पवित्रासन उपविश्य चक्षुर्दृष्टिञ्च भ्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वेषदुन्मीलितनयने विधाय । पूर्णतया निमीलनोन्मीलनाभ्यां क्रमेण निद्राविक्षेपयोः सम्भवादिति भावः । नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावुच्छ्वासनिःश्वासैः पूरककुम्भकरेचकादिभिस्समौ कृत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्यता संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य सः, अत्रेन्द्रियेष्वेव मनसः समावेशान्मुख्यकार्यसम्पादकत्वेन पृथगुक्तिर्बुद्धिवदन्यथा बुद्धेरपि मनोवृत्तितया तद्ग्रहणेनैव गतार्थतया व्यर्थं तदुपादानं स्यात् । अत एव विगतेच्छाभयक्रोधो मोक्षा-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

क्तो भवतीति परव्याख्यानन्त्वयुक्तं मुनिर्मोक्षपरायण इत्यादिपदप्रतिपाद्यार्थानामसंगत्यापत्तेः । न हि मुक्तस्य मोक्षपरायणता सम्भवतीति ॥ २७–२८ ॥

एवमुक्तस्य योगस्य सर्वसुहृदो भगवत्स्वरूपस्य ज्ञानात्सिद्धिः शान्तिफलोपलब्धिश्चेति दर्शयन्नुपसंहरति–**भोक्तारमिति**। योगी मां यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषामाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां

तिरिक्तेच्छारहितस्तथा मोक्षप्रयत्ने भयक्रोधरहितश्च । अत एव केवलं मोक्षपरायणो मोक्ष एव परायणं परमप्रयोजनं यस्य स मोक्षपरायणः । स एवम्भूतो मुनिरात्मस्वरूपाभ्यासशीलः सदा मुक्तः । एवं साधनानुष्ठानसमयेऽपि मुक्तवदात्मसाक्षात्कारसुखमनुभवतीत्यर्थः ॥ २७–२८ ॥

समासेनोक्तस्य योगस्य विशिष्टभगवत्स्वरूपपरिज्ञानादेव सिद्धिस्तत एव च शान्तिरूपं फलमुपलभ्यते नान्यथेति द्रढयन्नध्यायार्थमुसंहरति–**भोक्तारमिति** । प्रोक्तयोगयुक्तो नरो मां यज्ञतपसां भोक्तारं यज्ञदानतपोभिस्समाराध्यं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनां लोकानां महेश्वरं महासमर्थं नियन्तारं 'पतिं पतीनां परमं महेश्वरम्' (श्वे.) इति श्रुतेः। सर्वभूतानां सर्वेषां ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानां स्वशरीरभूतानां भूतानां सुहृद्वत्सुहृदं पितृवत्पालकं 'सर्वविधबन्धुमिति यावत् । एष सर्वाधिपतिः एष

स्वातन्त्र्येण महन्नियन्तारं सर्वभूतानां पालकत्वेन परमसुहृदं ज्ञात्वा शान्तिं शश्वत्सुखरूपामृच्छति प्राप्नोति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये कर्मज्ञानयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

जगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्यप्रणीता–

श्रीगीतार्थसुधा

ज्ञानाकारं विधत्ते श्रुतिविदितफलं कर्मसम्पच्यमानं–
संन्यासस्तस्यनेष्टः सममतिरुदिता ह्यात्मलब्धेरुपायः ।
भोगानां दुःखदत्त्वाद्विरतिरतितरां पण्डितैस्तेभ्य इष्टा
स्वर्थानेतानवादीत्प्रणतसुरतरुः पञ्चमे वासुदेवः ॥५॥

भूतपालः' (   ) इतिश्रुतेः' ज्ञात्वा सम्यगवगम्य शान्तिमृच्छति नित्यसुखरूपां शान्तिमाप्नोतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण जगद्विजयिना सर्वतंत्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायेन ब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ।

अवैमि सीतापतिमञ्जुबन्धुतां तथा च सीतापतिदिष्टभोग्यताम् ।
ततश्च सीतापतिनित्यधामदां करोमि सीतापतिभक्तिमुत्तमाम् ॥
भजामि सीतापतिमेव केवलं रटामि सीतापतिमेव केवलम् ।
श्रयामि सीतापतिमेव केवलं प्रयाणि सीतापतिमेव केवलम् ॥

जगद्गुरुश्रीगङ्गाधराचार्यः ।

श्रीरामः शरणं मम ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

भगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

गतेनाध्यायेन कर्मसंन्यासकर्मयोगावभिहितौ कर्मपदेनाऽत्र वर्णाश्रमधर्माणामेव ग्रहणम् । गृहस्थविरक्तयोरुभयोरप्यत्राधिकारात् । अतोऽत्र कर्मयोगस्य द्वैविध्यं शक्यमाख्यातुम् । तत्र प्राथमिकः कर्मयोग एव द्वितीयप्रकारे परिणमन् मध्यमषट्केण निरूप्यमाणस्य परमपुरुषपरिज्ञानस्य प्रयोजकतामाश्रयति । एवञ्च

अ. टी.–इतः पूर्वतनैरध्यायैः साङ्गस्य कर्मयोगस्य ज्ञानयोगापरपर्यायस्य कर्मसंन्यासस्य च स्वरूपमुपवर्णितम् । नित्यनैमित्तिककाम्यप्रभेदैरनेकविधानि कर्माणि गृहमेधिभिर्विरक्तैश्च स्वस्वाधिकारानुगुणमनुष्ठेयानीतिशास्त्रमर्यादामङ्गीकृत्याविशेषेणैव सर्वैरनुष्ठेयेष्वपि कैश्चित्सर्वानिष्टनिवृत्तिविशिष्टपरमेष्टप्राप्तिलक्षणविलक्षणमोक्षात्मकस्वकीयाऽसाधारणहितप्रापिपयिषया फलाभिसन्धिरहितानामेव तेषामनुष्ठानमित्येतदेव कर्मसंन्यासपदेनाभिधीयते । न हि कर्मणामात्यन्तिकस्त्यागः संन्यासपदजन्यबोधविषयो भवितुमर्हति । तादृशत्यागस्य स्वयमेव गीताचार्येण निषिद्धत्वात् । विहितत्वाच्च, संघफलविरहितानां कर्मणामनुष्ठानस्य 'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनी-

साङ्गस्य कर्मयोगस्य प्रयोज्यः समाधियोग इदानीमुच्यते -अनाश्रित इति । कर्मफलमैहिकामुष्मिकसुखमनाश्रितः फलाभिसन्धिरहितः सन् कार्यं स्वावश्यककर्तव्यत्वेनाबधार्य यः कर्मानुतिष्ठति स संन्यासी ज्ञानयोगपरायणो योगी च प्रोदीरितः कर्मयोगस्तन्निष्ठो ज्ञानकर्मोभयसाध्यसमाधि योगादिकार्यमपि स इति भावः न निरग्निर्न चाक्रियोद्रग्निसाध्याग्निहोत्रादिकर्मपरित्यागत्तपोदानमौनजपादिक्रियोपरमाच्च संन्यासियोगिनौ नैव मन्तव्यमित्यर्थः ॥१॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

भोः पाण्डव ! मनीषिणो -यं संन्यासमिति । प्रकर्षेणाहुस्तं योगं कर्मयोगमेव विद्धि कर्मयोगान्तर्गतमेव कर्मसंन्यासं विजानीहि । अनेन ज्ञानकर्मयोगयोः कात्स्न्र्येनाभेद इति नोपपद्यतेद्रपि त्वंशतो योगसाफल्यमासादयतः संन्यासस्य योगाङ्गत्वमात्रम् । अत एव न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्प इति तदुपपादनं घटते । अयं भावः कामपदवाच्यास्सर्वे दृष्टानुश्रविकविषयाः सङ्कल्पप्रभवाः । तथा च यावत्सङ्कल्पजयो न जायते तावत्स्वपरस्वरूपानुसन्धानात्मके योगे

निरूप्यमाणस्य परमपुरुषपरिज्ञानस्य प्रयोजकतामाश्रयति । एवञ्च साङ्गस्य कर्मयोगस्य प्रयोज्यः समाधियोग इदानीमुच्यते अनाश्रित इति । कर्मफलमैहिकामुष्मिकसुखमना

श्रितः फलाभिसन्धिरहितः सन् कार्यं स्वावश्यककर्तव्यत्वेनावधार्य यः कर्मानुतिष्ठति स संन्यासी ज्ञानयोगपरायणो योगी च प्रोदीरितः कर्मयोगस्तन्निष्ठो ज्ञानकर्मोभयसाध्यसमाधि योगादिकार्यमपि स इति भावः न निरग्निर्न चाक्रियोऽग्निसाध्याग्निहोत्रादिकर्मपरित्यागत्तपोदानमौनजपादिक्रियोपरमाच्च संन्यासियोगिनौ नैव मन्तव्यावित्यर्थः ॥१॥

भोः पाण्डव ! मनीषिणो यं संन्यासमिति प्रकर्षेणाहुस्तं योगं कर्मयोगमेव विद्धि कर्मयोगान्तर्गतमेव कर्मसंन्यासं विजानीहि । अनेन ज्ञानकर्मयोगयोः कात्स्न्र्येनाभेद

इति नोपपद्यतेऽपित्वंशतो योगसाफल्यमासाद्यतः संन्यासस्य योगाङ्गत्वमात्रम् । अत एव न ह्यसंन्यस्तसंकल्प इति तदुपपादनं घटते । अयं भावः कामपदवाच्यास्सर्वे दृष्टानुश्रविकविषयाः संकल्पप्रभवाः । तथा च यावत्संकल्पजयो न जायते तावत्स्वपरस्वरूपानुसन्धानात्मके योगे मनसः स्थैर्यमपास्तचिन्तत्वमतः प्राग् योगानुष्ठानस्य संकल्पविलयः सम्पाद्य इति । एतदेव न ह्यसंन्यस्तसंकल्प इत्याद्युत्तरार्धेनोपपाद्यते ॥२॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

मनसः स्थैर्यमपास्तचिन्तत्वमतः प्राग् योगानुष्ठानस्य संकल्पविलयः सम्पाद्य इति । एतदेव न ह्यसंन्यस्तसंकल्प इत्याद्युत्तरार्धेनोपपाद्यते ॥ २ ॥

नन्वेवं कर्मयोगस्य श्रेष्ठत्वाभिध्यानाद्यावज्जीवं कर्मैवानुष्ठेय-

तथाविधदेहादावहंभावस्य जागरूकत्वे त्वात्मापहारित्वमेवाम्नायविदनुमतम् । तदाह शौनकः 'योऽन्यथा सन्तमात्मानं ह्यन्यथा प्रतिपद्यते । किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणेति । अतोऽत्र विगलितदेहात्माभिमान एव परमात्मयाथात्म्यज्ञानसम्पादकः साधको योगी भगवदनुध्यानयोगभाग्भवति । तथाविधसाधनविधुरस्तु कश्चनापि योगी नैव भवतीति तदर्थः । तदुक्तं वैष्णवेऽपि षष्ठे—'आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः । तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥ एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणः । यस्य योगः स वै योगी मुमुक्षुरभिधीयते ॥ योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयते । विनिष्पन्नसमाधिस्तु परब्रह्मोपलब्धिमान् ॥ इति ॥२॥

ननु समाधियोगप्राप्तये प्राक्कर्मयोगानुष्ठानमावश्यकमित्यभिहितं तदुदितसमाधियोगे हेयमुतावर्तनीयं तत् ? यदि सहावस्थानकृत्कारणं कर्मयोगः स्यात्तर्हि सर्वथा शश्वत्सम्पादनीयः । समाधिनिष्पत्तये चेतसि योग्यतां निर्वर्त्तयितुं चेत्कर्मणामनुष्ठितिस्तर्हि न कारणत्वमासादयेदसम्बन्धादित्याशंकायामाह—**आरुरुक्षोरिति** । योगं परमपुरुषानुध्यानाख्यसमाधियोगमारुरुक्षोः सम्प्राप्तुमिच्छोर्मुनेर्भगवद्भजनशीलस्य कर्मकारणमुच्यते मुनिरत्र

मित्यत आह—आरुरुक्षोरिति । भगवन्निदिध्यासनलक्षणसमाधियोगमुपसेदुषो मुनेर्भगवद्धर्मभावितात्मनः कर्मयोगः कारणतामाश्र-

भगवदेकचिन्तनपरः प्रपन्नो न तु तूर्याश्रमनिष्ठो यतिस्तस्याप्रकृतत्वात् । कर्मणः कारणत्वमव्यवहितोत्तरोपजायमानसमाधियोगयोग्यतापादकत्वम् । यावत्सम्यक्समाधियोगो न निष्पद्यते तावत्तन्नियतपूर्ववर्त्तित्वेन कारणत्वात्कर्मणामनुष्ठानमावश्यकमितिभावः । योगारूढस्य समभ्यस्तभगवद्ध्यानस्य 'तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते नृप ! इत्युक्तप्रकारेण ध्यानावस्थितस्य तस्य शमः फलकर्तृत्वादिरूपकर्मनिवृत्तिः कारणमुच्यते । भगवदाराधनलक्षणकर्मप्रवाहे प्रसृते तत्पूर्वभाविनां कर्मणां निवृत्तिरेव कारणताम्भजते । यत्त्वत्र 'शंकरानन्देन' ब्रह्मण्यारोपितनामरूपाद्यग्रहणमेव शमशब्दार्थः सर्वसंन्न्यासलक्षणः स एव विदेहमुक्तेः कारणमित्युच्यते' इत्याभिधाय चित्तशुद्ध्यर्थमेव कर्मानुष्ठानमिति च प्रदर्श्य 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा इत्यादिश्रुतिवाक्यानां यावज्जीवमग्निहोत्रादिकर्मणः कर्तव्यत्वप्रतिपादकानामविद्वानेव गतिर्न तु विद्वानन्यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' 'सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः' ते ह स्म पुत्रेषणायाश्च' 'यदा तु विदितं तत्वं परं ब्रह्म सनातनम् । तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्' इत्यादिकं योगारूढस्यानुष्ठेयत्वमुक्तं योगारूढ एव च तुर्याश्रमी संन्यासीति च साधितं तत्सर्वं प्रकरणविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम् । नायं षष्ठोऽध्यायश्चतुर्थाश्रमिकर्तव्यनिरूपणाय प्रवृत्तोऽपि तु भगवद्भावलाभाय कर्मयोगसंन्यासयोगोपो-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।

यति। समारूढसमाधियोगस्य तस्य तु शमः फलकर्मकर्तृत्वत्यागात्मककर्मनिवृत्तिरेव कारणमुच्यते ।। ३ ।।

कदा योगारूढो भवतीत्याह–यदेति । इन्द्रियाणां श्रोत्राद्युल्कतया परभक्तिसाधनभूतसमाधियोगाभिधानार्थैव । योगं समाधिमारूढो योगारूढ इत्येवं योगारूढशब्दस्यापि प्रकृतार्थबोधकत्वादत एवोत्तरत्र 'मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः' (गी. ६।१४) 'शान्तिनिर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति' (गी. ६।१५) 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (गी. ६।२५) 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते' (गी.६। ३१) इत्यादिवाक्यैर्भगवद्भजनजन्यतन्निदिध्यासनस्यैव फलत्वेनाभिधानात् । उपसंहारे च 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' (गी. ६।४७) इत्युक्तत्वादस्य प्रपाठकस्य भगवदनुध्यानान्तरङ्गसाधनसमाधियोग एव तात्पर्यम् । तादृशसमाधियोगनिष्ठ एवात्र 'योगिपदाभिलप्यो न तु कर्माधिकारप्रापकशिखासूत्रपरित्यागी गृहीतैकदण्डः कश्चित्संन्यासिविशेषः । भगवन्निष्ठानान्तु स्वेष्टदेवताराधनाद्युपयोगि कर्मणां नैयत्येनाजीवनमनुष्ठेयतया यत्याश्रमिणामपि तत्राधिकारिता पालनाय शिखोपवीतादिधारणं परमावश्यकम्। तदुक्तं यतिलिङ्गसमुच्चये 'ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च शिखां चैवैकवस्त्रकम् । यस्यैतद् विद्यते लिङ्गं स यतिर्नेतरो यतिः॥' इत्येतद्यतिधर्माणामग्रे वक्ष्यमाणत्वादत्राध्याये प्रोक्तयोगिन एव स्वरूपनिर्देश इत्यास्तां तावत् ॥ ३ ॥

पूर्वत्र योगारूढः प्रोक्तः स च कदाभिधीयत इत्युच्यते–यदेति ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

दीनामर्थाः शब्दादयो विषयास्तेषु तदनुविधायिषु कर्मसु च यदा साधको नानुषज्जते तेष्वात्मानमसङ्गम्भावयति तदा तस्यामवस्थायां सर्वसंकल्पसंन्यासी सर्वविषयस्पृहाविरहितः स योगारूढ इत्यन्वर्थसंज्ञामादधान उच्यते ॥ ४ ॥

योगारूढः किं कुर्यादित्याह–उद्धरेदिति । अत्र तृतीया-

यत्तु श्रीधरेण कीदृशोऽसौ योगारूढो यस्य क्षमः कारणमुच्यते इत्यवतरणमुक्तं तदयुक्तं यदा तदेति पदयोस्स्वारस्यभङ्गात् । श्रोत्रादीन्द्रियाणामर्थेषु शब्दादिषु तदनुरक्तिमुपजनयत्सु कर्मसु च यदा यस्मिन् कालेऽनुषङ्गं न करोत्येते शब्दादयो विषया ममानन्दप्रदायिन इति दुर्धियं परिहाय सङ्गदोषान् भावयँस्तेभ्यो विरक्तो भवति । विरक्तश्चात्र दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी बोध्यो न चतुर्थाश्रमनिष्ठः । विषयदोषभावना च प्रत्यपादि पातञ्जलदर्शने व्यासभाष्ये 'स खल्वहं लब्धा लोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति' स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्' (पा. सू. ३।५१) तदा सर्वसंकल्पसंन्यासी असङ्गास्त्रसमुच्छिन्नाखिलवासनः स मुमुक्षुर्योगारूढ इति पदेन व्यपदिश्यते ॥ ४ ॥

ननु योगारूढत्वमधिगम्यैव कृतकार्यत्वमुतात्मसाक्षात्कारं ? सोऽपि किम-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

न्तात्मशब्दो विशुद्धान्तःकरणपरः। तथा च निरस्तसंसारिवासनेन मनसा स्वकीयमात्मानं जगद्गभीरगह्वरादुद्धरेदूर्ध्वमानयेन्नत्वात्मानमसंस्कृतान्तःकरणेनावसादयेदवसन्नं कुर्यात् । यत उद्धरणावसादनयोर्मन एव कारणम् । एतदेवोच्यते—आत्मनो जीवलोकस्यात्मैव बन्धुर्विशुद्धभावनान्वितत्वात् । तदेव च रिपुः कल्मषोपचितत्वात् । तदुक्तमेकादशे—मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरिति । नन्वेकस्यैव बन्धुत्वमरित्वञ्च व्याहतमित्याशंकां स्वयमेव

प्यनुतिष्ठेदित्याशंकायामाह—**उद्धरेदिति** । अत्रात्मशब्दो यदि जीवमात्रपरस्तर्हि जीवत्रयमत्रोक्तम्भवति । उद्धरेदितिक्रियायाः कर्तृत्वेन कर्मत्वेन करणत्वेनेति । तथा चोद्धरणकर्तुस्स्वस्यैव तत्क्रियायामेव करणत्वमनुपपन्नमतस्तृतीयान्तात्मशब्दोऽविकृतमनोऽभिधत्ते । एतदभिप्रायेणैवभाष्ये 'अत्र तृतीयान्तात्मशब्दो विशुद्धान्तःकरणपर 'इत्युक्तम् । एवञ्चाहरहरनुष्ठीयमानपरमपुरुषसंस्मरणपाटवाहितसंस्कारविलीनाखिलकल्मषेन मनसा स्वात्मानं जीवमुद्धरेज्जागतिकक्लेशातंकपङ्कादूर्ध्वमानयेत् । न ह्यात्मानमवसादयेत् तस्मिन् क्लेशपङ्के निमज्जयेत् । यस्मादात्मोद्दिधीर्षाऽन्यस्य कस्यचिदपि लौकिकस्य बन्ध्वादेर्न भवति । तस्य स्वार्थसाधनैकप्रयोजनत्वात् । एतदेवकारेण ज्ञाप्यते । अतोऽस्यात्मनो विशुद्धं मन एव बन्धुः । सांसारिकमोहापन्नं मनस्तु रिपुरूपमेवेत्याह—**आत्मैवेति** । ननु तथापि मनसो बन्धुत्वे सम्पन्ने तस्यैव पुना रिपुत्वमयुक्तमित्यत

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

गीताचार्यो निरस्यति । बन्धुरिति । येन पुरुषेण स्वमनसो नियमनं स्वयमेव कृतं तस्य पुंसो नियतस्थितिकत्वात्तन्मनो बन्धुरेव अजितमनस्कस्य कस्यचित्तदेव मनः शत्रुवच्छत्रुत्वेवर्तेत । तथा च श्रुतिः 'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति' (का. १।३।८) यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते. (का. १।३।८) अतो योगारूढेनादौ मनोवशीकारे यत्नः समास्थेय इत्युक्तम्भवति ॥ ५–६ ॥

आह—बन्धुरिति । प्रकारभेदेनैकस्यैव मनसो बन्धुत्वमरित्वञ्च शक्यसम्भवम् । तदेव निर्दिशति । येन पुरुषेण स्वेनैव स्वमनो जितं वशीकृतं तस्य तद्वशीकृतं मनो बन्धुः । एतेन मनोजय एवादौ सम्पाद्य इति निष्पद्यते । अत एवोक्तं 'हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च । अङ्गान्यङ्गैस्तथाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः (महोपनिषदि) इति । अनात्मनोऽवशीकृतमनसः पुरुषस्य त्वात्मा तदनर्गलं विषयवासनामलीमसं मनः शत्रुवच्छात्रवे दुःखोत्पादकेऽपकारे वर्तेत । तथैवाहुः श्रुतिस्मृतयः—यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति । यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते' (का. १।३।७।८) मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं तथा' (वि. पु. ६।७।२८) इति ॥ ५–६ ॥

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

अथ योगारम्भदशाभिधीयते–जितात्मन इति । शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोर्जितस्वान्तस्यात एव प्रशान्तस्यात्मा परमधिकं समाहितः समाधियुक्तो भवति ॥ ७ ॥

अलौकिककर्मापेक्षितदेहादिभिन्नात्मविषयकज्ञानेन मुमुक्षोर्विशेषतोऽपेक्षितेन नित्यनिरतिशयानन्दात्मविषयकविज्ञानेन च सम्प्रसन्नान्तःकरणः ×कूटस्थो निर्विकारितया शश्वद्वर्तमानो विजितेन्द्रियो विशेषेण वशीकृतेन्द्रियगणो मृत्पिण्डप्रस्तरखण्डकनकादिपदार्थेषु समभावमादधानस्तत्तद्वस्तुनो हेयोपादेयव्यवहारे सम-

शीतोष्णसुखदुःखेषु शीतोष्णादिरूपद्वन्द्वपदार्थेषु सहनशील एव जितमना इत्यभिधीयते । शरीरन्द्रियाणां भोगोपकारकत्वात्तत्र लेशतोऽपि क्लेशोऽसह्यो भवत्यनभ्यस्तयोगानामत आधिभौतिकक्लेशेषु तथाऽध्यात्मिकयोर्मानापमानयोरादरानादरयोरपि जितात्मनः साम्येन दृढान्तःकरणस्य ततश्च प्रशान्तस्यान्तरिन्द्रियमनोविकाररहितस्यात्मा परमत्यन्तं समाहितो ध्यानविषयतामवाप्नोति ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा देहादिव्यतिरिक्तात्मविषयकज्ञानेन नित्यनिरति-

---

वैष्णवभाष्यकारस्वामिश्रीवैष्णवाचार्यवेदान्ततीर्थप्रणीता

*** गीतागुह्यार्थदीपिका ***

×एवं ज्ञानविज्ञानशब्दयोः पुनरुक्तिर्व्युदस्तेति बोध्यम् ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

प्रवृत्तिक इति यावत् । एवंविधो योगी युक्तः समाधियोगेऽधिककुशल इत्युच्यते ॥ ८ ॥

एवं सुहृद उपकारिणः मित्राणि सखायोऽरयः शत्रव उदासीनो रागद्वेषादिनिमित्तमन्तरेण प्रियाप्रियपक्षरहिता मध्यस्था द्वयोरपि हितैषिणो द्वेष्याः स्वात्मनोऽप्रिया बन्धवः सम्बन्धिनस्तेषु साधवः कारुण्यादिगुणवन्तः सदाचारनिष्ठाः पापा दुरा-

शयानन्दात्मविषयकविज्ञानेन च तृप्त आत्मा मनो यस्य स तथाविधः । कूटस्थो विकारवर्जितः । विजितेन्द्रियः । समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः । प्रकृतिविलक्षणात्मनिष्ठत्वाल्लोष्ठकाञ्चनाद्युत्कृष्टापकृष्टप्राकृतवस्तुषु* समदर्शितामापन्न इत्यर्थः । योगी कर्मयोगी । युक्तो योगाभ्यासयोग्यः । इत्युच्यते ॥ ८ ॥

गतश्लोके 'समलोष्टाश्मकाञ्चन' इत्युक्त्याऽचेतनपदार्थेषु समत्वं प्रादर्शि । अथानेन चेतनत्वेनाभिमतेषु यत्र च वैषम्यं निसर्गादेवोत्पद्यते तेष्वपि प्रियाप्रियत्वज्ञानविषयेषु समबुद्धिरावश्यकी । तथानुष्ठातुर्वैशिष्ट्यमभिधत्ते–**सुहृदिति** । सुहृदः प्रत्युपकारमनपेक्ष्योपकर्तारः । मित्राणि स्नेहादिकमनुरुध्य हितेच्छवः । अरयः परोक्षापरोक्षयोरपकर्तारः । उदासीनाः पक्षपातानुपातविरहिणः । मध्यस्था विरोधकुर्वतोर्द्वयोरपि हिताशंसिनः । द्वेष्या

---

*निरुक्तात्मनिष्ठस्यात्मेतरेषु प्राकृतवस्तुषु सञ्जातवैराग्यत्वेन स्वरूपकार्यकारणादिभिर्विषमेष्वपि लोष्ठाश्मकाञ्चनेषु समदर्शिता न दोषावहा ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

चारनिरतास्तेषु च समबुद्धिः साम्यशेमुषीकः समाधियोगाभ्यासे विशिष्यते ॥ ९ ॥

एवं समाधियोगस्य वैशिष्ट्यमभिधायाथाध्यायसमाप्तिपर्य्यन्तं तत्स्वरूपमभिधीयते–योगीत्यादिभिः । योगी समादृतकर्म-

अपकारपरायणत्वाद् द्वेषविषयाः। बन्धवः पित्रादयः सम्बन्धिनः। इत्यर्थवतामेषां सुहृन्मित्रबन्धुषूदासीनमध्यस्थयोररिद्वेष्ययोर्न पौनरुक्त्यम् । अपि च साधवो विहिताचारचतुराः करुणादिगुणार्णवाः। पापा निषिद्धाचरणाः। एतेषु समबुद्धी रागद्वेषरहितप्रज्ञः पुरुषो विशिष्यते । अत्र कैश्चित् सुहृदित्यादिकमेकवचनान्तेन विग्रह्य व्याख्यातं तदेतत्प्रकृतश्लोकस्वारस्यविरोधादुपेक्ष्यम् । अत्र हि ‘साधुष्वपि च पापेष्वि’ति बहुवचनान्ताभिधानादर्धजरतीयस्यानौचित्यात् ॥ ९ ॥

एवं समाधियोगमहत्त्वमुपवर्ण्येदानीं तत्स्वरूपमभिधत्ते—**योगीत्यादिभिः ।** योऽप्यनुपदमुपदर्शितकर्मयोगतत्परः रहस्यध्यरण्यं गिरिगुहादौ वा विजने प्रदेशे स्थितः तादृशे प्रदेशे स्थितिं विधाय न तु प्रत्यहं तत्र गत्वा गतागताभ्यां चित्तव्युत्थितेः सम्भवात् । एकाकी परिजनपुत्रकलत्रशिष्याद्यसहायः सत्यस्मिन् भगवदेकतानताप्रत्ययविच्छेदस्यानिवार्यत्वात् । ये तु ‘रहसि स्थितः एकाकी चेति विशेषणात्संन्यासं कृत्वा इत्यर्थ’ इत्याहुस्तदपेशलम्; प्रोदीरितपदयोस्तथाविधार्थप्रतिपादनेऽक्षमत्वात् । किञ्च संन्यासं कृत्वेत्यर्थवर्णनस्य प्रकृतानुपयोगात् संन्यासं

योगः समुपक्रान्तसमाधियोगो वा रहस्येकान्ते विजने प्रदेशे स्थितः एकाकी समाधिकाले विक्षेपकरजननिकररहितो यतचित्तात्मा वशीकृतान्तर्बहिरिन्द्रियगणो निराशीर्निराकांक्षोऽपरिग्रहः सर्वपरिग्रहशून्यः सन् सततं प्रत्यहं योगानुष्ठानसमय आत्मानं

कृत्वेत्यत्र कर्मसंन्यास उच्यते ? यतिसाध्यसंन्यासविशेषो वा ? नाद्यस्तस्य प्रागेवोक्तत्वात् । पुनरिहकथने पौनरुक्तं स्यात् । न द्वितीयस्तस्याप्रकृतत्वात् ‘न पुनः मुख्यं संन्यासित्वं योगित्वं चाभिप्रेतमिति स्वोक्तिविरोधाच्चेति । यतचित्तात्मा वशीकृताखिलकरणकलेवरो निराशीर्दूरीकृतसमस्तभोग्याभिलाषोऽपरिग्रहश्चित्तवृत्तिविक्षोभजनकपरिग्रहरहितः सन् सततमात्मानं युञ्जीत स्वमनस्सर्वतः समाहृत्यैकस्मिन् परमात्मनि स्थापयेत् । तथाच श्रुतिः–‘यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि’ (का. १।३।१३) इति । एवं प्रकारेण परमात्मनि मनोधारणस्यैव महर्षिणा पतञ्जलिना ‘योग’ इत्यभिधा न्यदर्शि स्वतन्त्रे । ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ (यो. सू. १।२) इति । अत्र चित्तमन्तःकरणं तद्धि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् । तस्य वृत्तयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिरूपाः पञ्च तद्दर्शनेऽभिहिताः । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । यथावस्थितवस्तुव्यवहारानुगुणज्ञानं प्रमा तत्करणं प्रमाणम् । तत् त्रिविधम् । ‘प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता’ (म. १२।) इति मानवधर्मशास्त्रेऽपि त्रैविध्यस्यैवोक्तत्वात् । एवञ्च परैरभिमतानां प्रमाणान्तराणामत्रैवान्तर्भावो बोध्यः । विपर्ययो

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

युञ्जीत स्वान्तःकरणमभ्यासेन समाहितवृत्तिकं विधाय परमपुरुषनिष्ठं कुर्यात् ॥ १० ॥

योगसौकर्यापादकबाह्योपकरणभूतमासनमुच्यते—शुचाविति। शुचौ सततशुचिम्लेच्छान्त्यजपाषण्डिपतितादिवर्जिते पवित्रतमे तीर्थे तीर्थसदृशे वा देशे ब्रह्मावर्तादयो देशाः स्वभावत एव शुद्धाः। तत्र गङ्गादिपुण्यप्रवाहस्य चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानस्य च शुद्धिप्रयोजकस्य निसर्गत एव सत्त्वात्। चातुर्वर्ण्यव्यवस्थितिरहितस्य तु म्लेच्छदेशत्वमुक्तं विष्णुस्मृतौ—'चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे निवर्तते। म्लेच्छदेशः स विज्ञेयो ह्यार्यावर्त्तादनन्तरः॥' इति। एवंविधेषु देशेषु स्वारसिकवासस्यापि निषेधो 'न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधा-

मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। मिथ्याज्ञानमित्यस्य व्यवहाराक्षमं ज्ञानमित्यर्थः। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। अनुभूतविषयाऽप्रमोषः स्मृतिः। एतासां पञ्चवृत्तीनां निरोधोऽभ्यासादिसाधनैः स्वाधिकरणे स्थापनं लयो वा। स च सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदभिन्नो योग इति तदर्थः ॥ १० ॥

शुचौ पवित्रे। देशे। आत्मनः स्वस्य। न। अत्युच्छ्रितमत्युन्नतम्। नातिनीचम्। चैलाजिनकुशोत्तरमुपरिभागे चैलं वस्त्रं तद-

र्मिकजनावृते। न पाषण्डजनाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः॥'(विष्णुः) इत्यादिवचनैर्दृश्यते। तर्हि का कथा तत्र योगानुष्ठानस्य। योगसमृद्धिविधायकास्तु देशाः प्रतिपादिताः विष्णुधर्मोत्तरे—प्रभासे पुष्करे काश्यां नैमिषे मणिकर्णिके। गंगायां सरयूतीरे निवसेद्धार्मिको जनः॥' एवं निसर्गतः संस्कारतश्च पवित्रे 'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः' (श्वे. २।१०) इत्यादि श्रुतिप्रतिपादिते देशे नात्युच्छ्रितं नात्युन्नतमत्युन्नतासनेऽपेक्षितदेहस्थैर्यासम्भवात्। तथाचोन्नतिवर्जितमित्यर्थः। नातिनीचं बहुनिम्नताविशिष्टमपि न भवेत्। अन्यथाऽऽसन्नधरणितया शैत्यातिशयवशान्मशकदंशाद्युपद्रवोऽनिवार्यः स्यात्। चैलाजिनकुशोत्तरम्। चैलं कार्पासक्षौमोर्णादितन्तुनिर्मितं मृदु वस्त्रखण्डमजिनं मृदुदीर्घरोमराजिराजितं मृगचर्म ते कुशोत्तरे यस्मिन्स्तत्। उपरिभागे चैलं तदधस्तादजिनं तदधः कुशैः समन्वितम्। तथा स्थिरं निश्चलमृजुकाष्ठोपलालंकृतं भूमिष्ठं स्थण्डिलस्थं वाऽऽत्मनः स्वस्यासनं प्रतिष्ठाप्य संस्थाप्य। वस्तुतस्तु 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (ब्र.सू. ४।१।११) इत्युक्तत्वाद्यत्र देशे काले च मनसो भगवदाकारग्रहणोन्मुखता सम्पद्येत स एव देशः कालश्च ज्यायान्विशेषरूपेणैव शास्त्रेष्वभिहितत्वादिति निष्कर्षः। एवमासनं प्रतिष्ठाप्य किमनुतिष्ठेदित्याह—तत्राऽऽसने सुसुखं सिद्धासनाद्यासनप्रभेदेष्वन्यतमेन चिरस्थितिसाधनयोग्येन उपविश्यैव न पुनरुत्थाय

धोभागेऽजिनं शुद्धं मृगादिचर्म तदधस्तात् कुशाँश्चास्तीर्य। स्थिरमचलमासनं काष्ठादिनिर्मितम्। प्रतिष्ठाप्य। तत्रासन उपविश्य मनश्चैकाग्रं

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

शयित्वा वा तिष्ठतश्चित्तवैयग्र्यध्रौव्याच्छयानस्यच निद्रातन्द्रादिसम्भवात् । तदुक्तं ब्रह्मसूत्रे 'आसीनः सम्भवादि'ति । मनोऽन्तःकरणमभ्यासवैराग्यादिसाधनैकाग्रं भगवद्वैमुख्यापादकवृत्तिविरहितं भगवदाभिमुख्यावेदकवृत्तिविशिष्टञ्च कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियो यताः संयताश्चिन्तनवृत्तिकस्य चित्तस्य बाह्येन्द्रियाणाञ्च क्रिया वृत्तयो येन स। योग्यात्मविशुद्धये आत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये । नन्वात्मशब्देनात्रान्तःकरणस्यैव ग्रहणात्तस्य च विशुद्धत्वे एवैकाग्र्यसम्भवात् तदैकाग्र्ये चात्मविशुद्धिरित्यन्योऽन्याश्रयदोषदौस्थ्यात्कथमर्थसंगतिरिति चेदुच्यते 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता' (का. २।३।१४) इत्यादिश्रुत्यनुसारेणानादिकर्मप्रवाहसमुद्भूतरागद्वेषनिमित्तककल्मषस्य मनोऽन्तर्वर्तिता निश्चीयते । स च परमपुरुषैकतानताप्रत्ययेनामूलचूडमुच्छिद्यते । इयमेव चात्मविशुद्धिरत्र गीताचार्यसम्मता । एतत्समानाधिकरणमन्तःकरणैकाग्र्यं ह्यभ्यासवैराग्यादिपाटवजन्यमनोनिरोधसमनन्तरजायमानमस्याः प्रयोजकतयाभिमतं तथा चाभ्यासवैराग्यादिसाधनैर्निरुद्धवृत्तिके मनसि शाश्वतिकतद्विशुद्धिविधायकमैकाग्र्यमुत्पद्यते । अत्र चाभ्यासवैराग्यादिसाधनानामेवोपयोगो न तु चरमफलभूतायाश्चित्तविशुद्धेरिति नान्योऽन्याश्रयः। योगं समाधियोगं युञ्ज्यादनुतिष्ठेत् ॥ ११–१२ ॥

कृत्वा । यतचित्तेन्द्रिय उपरतचित्तेन्द्रियवृत्तिः सन् । आत्मविशुद्धयेऽन्तःकरणविशुद्धये। योगमुक्तलक्षणलक्षितं समाधियोगं युञ्ज्यात् ॥११-१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

समाधियोगसाधकानि देशासनादीनि बाह्योपकरणान्यभिधाय देहावयवाद्यन्तरंगोपकरणान्याह—**सममिति** द्वाभ्याम् । कायशिरोग्रीवं । कायशब्दोऽखिलशरीराभिध्याय्यप्यत्र शिरोग्रीवस्य पृथङ्निर्देशान् मूलाधारचक्रादारभ्य विशुद्धिचक्रान्तमात्रं मध्यभागमभिधत्ते । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । कायश्च शिरश्च ग्रीवा चेमान्यङ्गानि सममवक्रं यथा स्यात्तथा । समत्वेऽपि पार्श्वयोश्चलनसम्भवादाह—**अचलमिति** । निष्कम्पं यथा तथा । ननु निष्कम्पताऽपि त्रिचतुरक्षणव्यापिन्येव स्यान्न तेन योगसिद्धिः स्यादित्यत आह—**स्थिरमिति** । ध्यानानुष्ठानकालपर्यन्तं स्थैर्ययुक्तमिति तदर्थः । एतत्त्रयमपि धारणक्रियाविशेषणम् । **दिशश्चानवलोकयन्** । दिगवलोकनराहित्यस्य ध्येयातिरिक्ताखिलपदार्थावलोकननिषेधे तात्पर्यम् । न चैवं नासिकाग्रसंम्प्रेक्षणेनैव दिशां तन्निष्ठाऽखिलवस्तूनाञ्चानवलोकनं स्वतः प्राप्तमिति व्यर्थमेतदिति वाच्यम् । नासिकाग्रसम्प्रेक्षणस्य दृष्टिस्थापनप्रदेशेयत्तानियम एव तात्पर्यम् । न तु वस्त्वन्तरावलोकननिषेधे । त-

अथ ध्यानोपयोगिनीमङ्गस्थितिमभिधत्ते—**सममिति** द्वाभ्याम् । कायशीरोग्रीवं मध्यदेहशिरःकण्ठं सममचलं स्थिरं धारयन् दिशश्चानवलोकयन्नपश्यन् । स्वं स्वीयं नासिकाग्रं नासाग्रं सम्प्रेक्ष्यावलोक्य ।

द्व्यावृत्यर्थमिदम् । किञ्च नोऽग्रावलोकनमत्र नावटीटकर्तृकस्वनोऽग्रावलोकनवत्स्वाभाविकं साधनाभिधानाधिकारे तदुपादानवैयर्थ्यात् । न वा नोग्रावेक्षणमेव पुरुषार्थः सम्प्रेक्ष्येत्युत्तरकालिकार्थकल्यपोऽनिष्पत्तेः । किञ्च नोऽग्रसंप्रेक्षणस्यैव प्रधानकर्तव्यत्वे 'युक्त आसीत मत्परः' (गी. ६।१४) 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' (गी. ६।३५) इत्यादिवाक्यानामसंगत्यापत्तेः । तस्मादुक्तार्थ एव तात्पर्यम् । सम्प्रेक्षणन्तु निद्रातन्द्रादिनिरासार्थमन्यथा नेत्रनिमीलनेनापीष्टसिद्धेः । परनासिकाप्रेक्षणव्यवच्छेदार्थं—**स्वमिति** । प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण शान्त उपशमप्राप्त आत्मा मनो यस्य स । विगतभीर्विगता विलयमुपगता भीः कायिकवाचिकमानसिककठोरव्रतानुष्ठानेन जातु मच्छरिरे वातपित्तादयः प्रकोपमवाप्य मरणमुत्पादयेयुरितिभीतिर्यस्य स । **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**। ब्रह्मचारिणो यद् व्रतमावश्यककर्तव्यं मन्वादिधर्मशास्त्रेऽभिहितं 'वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः। शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ (म. २।१७७) 'एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् । कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ (म. २।१८०) नैष्ठिको ब्रह्मचारी च ताम्बूलाभ्यंजने तथा । मैथुनं कांस्यपात्रस्थमन्नं चैव न भोजयेत् ॥' (सनत्कुमारः) स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्य-

प्रशान्तात्माऽनाकुलमनस्कः । विगतभीर्निर्भयः। ब्रह्मचारिव्रते स्थितो ब्रह्मचर्ययुक्तः । मनः संयम्य विषयेभ्यो निवृत्तं कृत्वा । मच्चितो मय्येव। चित्तं यस्य

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

वसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् (आग्नेय०) इत्यादिरूपं तत्र स्थित । एतद्व्रतानुष्ठानतत्पर इत्यर्थः। एतेन चतुर्थाश्रमिण एवैतत्कर्तव्यमिति मतं परास्तम् । ब्रह्मचारिव्रतानां प्रायस्तद्धर्मनियतत्वात् । अतश्चतुर्ष्वप्याश्रमिषु यः कोऽपि भगवत्स्वरूपावाप्तिप्रयोजकमिमं समाधियोगमनुष्ठातुं शक्नोतीति निश्चीयते । मनःसंयम्य मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य स मदेकावलम्बनो मत्परोऽहमेव पर आराध्यो यस्य स तादृशो युक्तः समाधिनिष्ठ आसीत सन्तिष्ठेत ॥ १३–१४ ॥

एवमुक्तप्रकारेण नियतमानसो नियतं विनिवृत्तकर्मवासनं मानसं यस्य स योगी समाधियोगनिष्ठः सदाऽऽत्मानं मनो युञ्जन्

स मच्चित्तो मामेवावलम्बमानः । युक्तः । मत्परः सन् आसीत ॥१३-१४॥

विधित्सितसमाधियोगे 'मच्चित्तः' इत्यादिवाक्यैः परमपुरुषे मनोधारणमभिहितं तस्य फलमिदानीमुच्यते—**युञ्जन्निति** । एवं योगी समनुष्ठितसमाधियोगः सर्वाराध्ये मयि मनसः शुभाश्रये सदा सर्वस्मिन् काल आत्मानं मनो युञ्जन् समाहितं कुर्वन् नियतमानसोऽभ्यासवैराग्यादिसाधनैर्नियतं निरुद्धं मनो यस्य स मत्कृपाकटाक्षक्षालिताखिलहृदयकल्मषः सन् निर्वाणपरमां निर्वाणस्य परमां परमनिःश्रेयसरूपां मदधीनां शान्तिमधिगच्छति प्राप्नोति । तदुक्तं वैष्णवे—योगयुक् प्रथमं

नात्यश्नस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

मनः शुभाश्रये परमपुरुषे स्थापयन् निर्वाणपरमां निर्वाणस्य परमां चरमकाष्ठां मयि संस्थितां शान्तिमधिगच्छति ॥ १५ ॥

अथ योगोपकारिणमाहारनियममाह—**नेति** । हे अर्जुन ! अत्यश्नतोऽधिकभोजनशीलस्य । तु । योगो नास्ति न सिध्यति । न च नाप्येकान्तमत्यन्तमनश्नतोऽभुञ्जानस्य । न चातिस्वप्नशील- योगी युंजमानोऽभिधीयते । विनिष्पन्नसमाधिस्तु परब्रह्मोपलब्धिमान् ॥ विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि । प्राप्नोति योगी योगाग्नि-दग्धकर्मा च यो चिरात् ॥ (वि. पु. ६।७।३५।) इति ॥ १५ ॥

एवमुपक्रान्तसमाधियोगस्योपयोग्यङ्गजातं तत्साध्यं परमपुरुषाराधनञ्च सफलमुक्त्वाऽवशिष्टाहारविहारादिकमभिधत्ते—**नेति द्वाभ्याम्** । हे अर्जुन ! अत्यश्नतो मितादधिकं भुञ्जानस्य योगः समाधियोगनिष्ठा । नैवास्ति । बहुभोजननिन्दा हि श्रुतिस्मृतिष्वसकृद् दृश्यते । तथाहि 'यदु ह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति' इति श्रुतेः । (   ) अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति-भोजनम् । अपुण्यलोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥' (म. २।५७) इति स्मृतेः । अधिकभोजिनो योगविघातकानाम्प्रमादालस्यनिष्प्रतिभत्वा-नारोग्यत्वादिदोषाणामनिवार्यत्वात्तद्वर्जनं कृतम् । न चैकान्तमनश्नतोऽपि योगः सिध्यति । अत्यल्पाहारादनाहाराद्वा रसादिधातूनां पोषणासम्भवेन बलारोग्याद्यनुत्पत्तौ तत्प्रयुक्तात्मप्रापकयोगानुष्ठानानुपपत्तेः । तथा चाह-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

स्यात्यन्तनिद्रालोर्नैव जाग्रतोऽत्यन्तजागरणशीलस्यापि योगो सि-द्धिमवाप्नोति ॥ १६ ॥

तर्हि कथंभूतो जनो योगसिद्धिमुपयातीत्यत्राह—**युक्ताहार-विहारस्येति** । युक्ताहारविहारस्य परिमिताहारविहारशीलस्य श्रुतिः 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्' (मु ३।२।४) एतेदेवाभिप्रेत्यान्यत्राशननियमः शास्त्रकृद्भिः प्रदर्शितः । प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नीयान्मध्ये च कठिनाशनः । अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बला-रोग्ये नमुञ्चति (वि. पु.   ) जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलस्य च । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥' (वि. पु.   ) इति अष्टौ-ग्रासा मुनेर्भक्ष्या षोडशारण्यवासिनः । द्वात्रिंशत्तु गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्' (व. स्मृ. ६।१८) एतेनात्यशनमल्पाशनमनशनं वा कुर्वतो योगो न सिद्ध्यतीत्येतन्निष्पन्नम् । न चातिस्वप्नशीलस्य तथा-तिनिद्रालोरपि योगसिद्धिर्न भवति न वातिजाग्रतोऽपि ॥ १६ ॥

तर्हि किमाचारस्य योगो भवतीत्याह—**युक्तेत्यादि** । आहरण-मन्नजलादिभोजनमाहारो विहरणं पादप्रक्षेपादिरूपं विहारो युक्तौ नियतौ तौ यस्य स नियताशनगमनादिमान् कर्मसु स्नानजपादिनित्यकर्तव्येषु युक्तचेष्टस्य तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य स्वप्नजागरणयोर्नियतवृत्तिकस्य समा-धिसाधकस्य योगो दुःखनिवर्तको भवति । तदुक्तं दक्षस्मृतौ 'अभि-योगात्तथाभ्यासात्तस्मिन्नेव सुनिश्चयात् । पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगाः सि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

कर्मसु युक्तचेष्टस्य परिमितचेष्टावतो युक्तस्वप्नावबोधस्य परिमितनिद्राजागरस्य दुखं हन्तीति दुःखहा जराजन्मादिदुःखनाशको योगो भवति सिध्यति ॥ १७ ॥

अथ सम्पन्नयोगावस्थामाह–यदेति । विनियतं विशेषेण नियन्त्रितश्चित्तं यदाऽऽत्मन्येवावतिष्ठते प्रतिष्ठितं भवति । तदा ध्यन्ति नान्यथा (द. स्मृ. ७।७) स्वप्नेऽपि योभियुक्तश्च जागृच्चैव विशेषतः । ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥' (द. स्मृ. ७) इति । तत्राहारस्य युक्तत्वमुपवर्णितमव्यवहितपूर्वश्लोके विहारस्यापि योजनान्न परंगच्छेदित्यादि योगशास्त्रोक्ता युक्तता ज्ञेया । नित्यकर्मस्वपि प्रत्यवायपरिहारायानुष्ठानेऽपि संक्षेप आवश्यकः । स्वापप्रबोधयोरपि युक्तताऽपेक्षितैव । अन्यथा पुण्यक्षयादिदोषाणां निवार्यत्वेन योगफलमान्द्यापत्तेः । तथा चोक्तं रत्नावलीग्रन्थे । ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी । तां करोति तु यो मोहात् पादकृच्छ्रेण शुध्यति । तस्मात् त्रियामायास्त्रियामेष्वाद्यन्तयोर्जागरणं मध्ये स्वाप इति शास्त्रनियमः । तदुक्तम्–रात्रेस्तु पश्चिमो यामो मुहूर्तो ब्रह्म उच्यते । ततः पूर्वं समुत्तिष्ठेद्धरिर्हरिरिति ब्रुवन् ॥ एवं समस्तकृत्येष्वपि योगशास्त्रानुसारेण व्यवस्था ज्ञातव्येति ॥ १७ ॥

एवं समाधियोगोपयोगिदेशासनाशनादीन्यभिधाय संक्षेपात्तत्फलश्चोक्त्वा भूयोऽपि योगावस्थामाह–यदेति । विनियतं विशेषेण नियन्त्रितं

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

सर्वकामेभ्यो निस्पृहो गतस्पृहः सन् युक्तः समाहितचित्त इत्युच्यतेऽभिधीयते ॥ १८ ॥

अथ योगिन आत्मस्वरूपं दीपदृष्टान्तेनाह–यथेति । निवातस्थोऽनिलवर्जितस्थानस्थितो दीपो यथा नेङ्गते न चलति । अचयोगानुष्ठानेन निरुद्धं चित्तमेकस्मिन् स्वोपास्यपरमपुरुषे निरतिशयानुरागवशाद् यदा स्थितिमाप्नोति । एवकारव्यवच्छेद्याः क्षणिकसुखप्रदा विषया एवेति तेषु स्पृहारहित इत्युच्यते–निस्पृहः सर्वकामेभ्य इति । तदा तस्मिन् काले युक्तः समाहितचित्त इत्युच्यते । तदाह श्रुतिः 'सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ' (मु. ३।२।५) इति । स्मृतिरप्याह–तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥ (वि. पु. ६।७।९१) तस्यैव कल्पनाहीनस्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ (वि. पु. ६।७।९२) इति ॥ १८ ॥

निवातस्थो वातविवर्जितप्रदेशावस्थितप्रदीपो यथा नेङ्गते नैव कम्पते दीपकलिका निष्कम्पमूर्ध्वप्रदेश एव यथा प्रवहति यतचित्तस्य वशीकृतचित्तस्यात्मनि योगं युञ्जतः सम्यग्ध्यानं कुर्वतो योगिनः समाधिनिष्ठस्यात्मनो निरस्तसमस्तकल्मषतया आविर्भूतस्वरूपस्य विशुद्धस्थितेः समुद्दीप्तज्ञानकलिकस्य सोपमा स्मृता । अत्र योगिनः सोपमेति न तच्छ-

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

लप्रभः सँस्तिष्ठतीत्यर्थः। यतचित्तस्य वशीकृतचेतसो निवृत्ताखिलबाह्यमनोव्यापारस्येत्यर्थः। योगं युञ्जतो योगिन आत्मनः स्वस्वरूपस्य सोपमाऽनिलवर्जितस्थलस्थो दीप एव दृष्टान्तः। स्मृता ॥१९॥

पुनरपि सफलं योगस्वरूपं निर्दिशति—यत्रेत्यादिचतुर्भिः। योगसेवया सम्यग्योगानुष्ठानेन निरुद्धमेकाग्रतामापन्नं चित्तमन्तःकरणं यत्र योग उपरमते सर्वतोऽधिकमिदमिति विजानन् ससुखं स्थिरीभवति। यत्र चात्मनान्तःकरणेनात्मानं परमपुरु-

रीरस्योपमा। तस्य समं कायशिरोग्रीवमिति प्रागेवोपदर्शितत्वात्। न वान्तःकरणस्य, योगिन इत्युक्तत्वादेव तन्निरासात्। अतो योगिन आत्मनः सोपमेत्यन्वय एव युक्तः। उभयत्र व्यधिकरणषष्ठी तदानीं धर्मभूतज्ञानं वाहीकं वस्त्वविषयीकुर्वत् स्वरूपेऽवतिष्ठते। एतदेवोक्तं योगशास्त्रे 'तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति (यो. सू. १।१।२) ॥ १९ ॥

भूयोऽपि तत्वबुभुत्सूनां प्रवृत्तिसौकर्यायास्यैव सर्वातिशायिपुरुषार्थत्वमिति प्रतिपादयन् प्रकृतयोगस्वरूपमेवोपदिशति—**यत्रेत्यादिचतुर्भिः**। योगसेवया प्रोद्दीरितसमाधियोगाभ्यासपाटवेन निरुद्धं निवातप्रदीपवन्निश्चलीकृतं चित्तं यत्र योग उपरमते सर्वानन्दकन्दभूतेऽस्मिन्नुपरतिं प्राप्नोति। यत्र चात्मना विशुद्धमनसात्मानं परमपुरुषायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकं स्वस्वरूपं पश्यन् सम्यगवगच्छन्। एवकारोभिन्नक्रमः। आत्मन्येव तुष्यति। तं- योगसंज्ञितं विद्यादित्युत्तरेणान्वयः। 'यत्र यस्मिन् 'काले' इति पर-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥ २१ ॥

षशेषरूपं पश्यन् स्वात्मन्येव संतुष्यति 'तं योगसंज्ञितं विद्यात्' इत्युत्तरेणान्वयः ॥ २० ॥

यत्र यत्तदतीन्द्रियं विशुद्धबुद्ध्यतिरिक्तेन्द्रियाग्राह्यमत एव बुद्धिग्राह्यमात्यन्तिकं दुःखलेशादप्यसंसृष्टं सुखं वेत्ति। यत्र चायं

व्याख्यानमयुक्तमुत्तरवाक्यस्थयोगाभिधायितच्छब्दानन्वयप्रसंगात्। एतेन यत्र यस्यामवस्थायां दशायां वेत्यादि श्रीधराद्युक्तमपि प्रत्युक्तमुपसंहारस्थतच्छब्दानन्वयात् ॥ २० ॥

यत्रेति पदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्रान्वेति। यस्मिन् योगे यत्तदतीन्द्रियं लौकिकविषयग्राहकबहिरिन्द्रियैरसंस्कृतमनसा चाग्राह्यं 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' (मु. ३ । १ । ८) इति श्रुतेः। चक्षुर्वाचावुपलक्षणे विशुद्धमनोऽतिरिक्ताखिलेन्द्रियाणाम्। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः (मु. ३।१।८) 'मनसा तु विशुद्धेन' ( ) इत्यादिश्रुतिभिरहरहरुपचीयमानभगवद्भक्त्युद्रेकजनितज्ञानप्रसादविशुद्धचेतसा तु ग्राह्यमितिभावः। अत एव बुद्धिग्राह्यमित्युक्तम्। तथा च श्रुतिः 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। (का. १ । ३ । १२) सूक्ष्मत्वञ्चात्र परमपुरुषानुध्याननिरस्ताखिलकल्मषत्वमुदाहृतश्रुत्युक्तज्ञानप्रसादरूपमेव बोध्यम्। आत्यन्तिकं सुखं तत्रात्यन्तिकत्वं दुःखात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम्। वेत्ति। यत्र योगे चायं योगी स्थितः सन् तत्वतः

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

परिनिष्ठितयोगः स्थितः सन् तत्वतः परानुभवान्नैव चलति ॥२१॥

यं योगं परमात्मानुभवं लब्ध्वा ततोपरं लाभं नैव मन्यते । यस्मिन् योगे स्थितो गुरुणापि दुःखेन न विचाल्यते । तं

परमात्मशेषत्वेन स्वरूपानुसन्धानजन्यनिरतिशयसुखरूपयोगतो नैव चलति । यत्र यस्मिन् सुखे च स्थित इति तत्वप्रकाशिकाव्याख्यानमयुक्तं समुच्चयार्थकचकारस्य वैयर्थ्यात् । न च योगसुखयोरैक्यात्तथा निर्देश इति वाच्यं धर्मधर्मिणोरैक्यासम्भवात् । अधिकरणाभिधायिनो यत्रशब्दस्यात्रात्यन्तिकं सुखमित्यत्राप्यन्वयात् ॥ २१ ॥

यं परमपुरुषस्वरूपसाक्षात्कारलक्षणयोगं लब्ध्वा सम्प्राप्य ततोऽधिकमपरं कमपि लाभं न मन्यते । यथागाधेऽम्बुन्यधस्तलं बलान्नीतापि शुष्कतुम्बिका सत्वरमुपरिष्टादेवोपयाति तथा लौकिके क्षोदीयसि विषये नीयमानमप्यस्य मनो न क्षणमप्यवतिष्ठतेऽन्तरेण परमात्मनुभवमित्यस्यैव सर्वोत्कृष्टलाभत्वम् । यस्मिंश्च योगे स्थितोऽयं गुरुणा महतापि दुःखेन न विचाल्यते ततश्चालयितुं न शक्यते । यत्वत्र शंकरानन्दो नन्वात्मव्यतिरिक्तसर्वब्रह्मविष्ण्वादिलोकप्राप्तिस्तु विदुषो लाभ एवेति चेन्न, सत्यलोकवैकुंठादेरपि मायिकत्वेनोक्तदोषवत्तया मिथ्यात्वाविशेषात्तल्लाभस्तत्स्वामित्वलाभोऽप्यलाभ एव भवतीत्यादिकं व्याचख्यौ तद-

दुःखलेशसंश्लेषरहितं योगसंज्ञितं विद्यात् । स एतादृशफल-

नर्गलम् । उदक्षरत्वात् । वेदान्तसिद्धान्तविरुद्धत्वाच्च । न हि वेदान्तशास्त्रे वैकुण्ठलोकस्य तुच्छत्वं दुःखबीजत्वं मिथ्यात्वञ्च प्रतिपाद्यते । तथा सति मुक्तानामर्चिरादिगत्यैव देशविशेषगतिप्रतिपादकस्य ब्रह्मसूत्रीयतुरीयाध्यायस्य वैयर्थ्यापत्तेः । नचार्चिरादिना कार्यब्रह्मप्राप्तये सगुणोपासकानामेव गतिस्तत्रोदिता । निर्गुणोपासकानान्तु 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ. ४।४।६) इत्यादि श्रुतिबलादिहैव ब्रह्मलोकप्राप्तिः। ब्रह्मलोकशब्दश्च ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति व्युत्पत्त्या न कस्यचिद् धामविशेषस्य वाचक इति वाच्यम् । कार्यब्रह्मावाप्तये सगुणोपासकानामेवार्चिरादिना गतिरित्यर्थस्य तद्दर्शने क्वाप्यनुक्तत्वात् । प्रत्युताप्रतीकालम्बनान्नयतीत्यादिवेदान्तसिद्धान्ताभिधायिना 'प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र. सू. ४।२।१२) इति सूत्रेण तन्मतस्यापाकृतत्वात् । न तस्येति श्रुतिरपि न शरीरात्प्राणोत्क्रमणनिषेधं ब्रूतेऽपि तु शरीराध्यक्षाज्जीवात्प्राणोत्क्रान्ति निषेधति । प्रतिपादयतीममेवार्थं ब्रह्ममीमांसायाः प्रतिषेधादिति चेन्नेत्यादिसूत्रम् । ब्रह्मलोकशब्दोऽप्यत्र नाभेदप्रतिपत्तिपरः । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' इत्यादिषु व्यतिरेकनिर्देशबलाल्लोकस्य स्वरूपाद् भिन्नत्वसिद्धेः । तथा च पदशब्दस्वारस्यान्नित्यसूरिकर्तृकस्य सर्वकालीनदर्शनस्याबाधाच्च सर्वकालपश्यदनेकद्रष्टृविशिष्टस्थानविशेषो नित्य इत्यवगम्यते । स च निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वादिलक्षणकोऽवगन्तव्यः । प्रतिपादयन्तीममर्थं श्रुतिस्मृतयः । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्'

साधको योगोऽनिर्विण्णचेतसा सोत्साहेन मनसा निश्चयेन योक्त-

'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (पु. सू.) 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानाम्पूरयोध्या तस्यां हिरण्मयः कोशः' (तैत्तिरीयारण्यके) 'अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि' तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनः तद-पराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् (छा. ८।५।३) इति । अब्रह्मविद्भिः प्राप्तुमशक्यत्वेन नान्यैः पराजिताऽयोध्यापरपर्याया परब्रह्मणः पूः पुरीत्यर्थः । मोक्षधर्मे च 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः' (भारते) इत्युक्तम् । एवमनेकश्रुतिस्मृतिप्रतिपादिता नित्यमुक्तैरुपास्यमाना नित्यविभूतिर्विर्तते । यत्रायोध्यावैकुंठादयो ब्रह्मलोका नित्या एव सन्ति । तत्रोद्यानवाटिकायतनकल्पतरुरत्नसिंहासनायुधभूषणवसनपरिजनादयो विचित्रा नित्या एवेति शास्त्रनिर्णयः । न चैवं नित्यविभूतेर्नित्यत्वाभ्युपगमे वेदान्तोदितैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा विरुद्ध्येतेति वाच्यम् । येनाश्रुतं श्रुतं भवति (छा. ६।१।३) इत्यादावश्रुतादिशब्दानां नित्यविभूतिव्यतिरिक्तत्वेन संकोचादेव तदुपपत्तेः । तदेवं श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित-नित्यत्वेऽप्यसत्त्वतुच्छत्वमिथ्यात्वादिव्यपदेशोऽस्य द्वेषमूलक एवेति विभावयन्तु सुधियः ॥ २२ ॥

तं दुःखसंयोगवियोगम् । वियुज्यतेऽनेनेति वियोगः करणाधिकरणयोश्च(पा.सू. ३।३।१७) इति करणे घञि वियोगशब्दो वियोगहेतुपरः । तथा च दुःखानामाध्यात्मिकादीनां शरीरेन्द्रियमनस्तापकानां यः संयोगस्तस्य वियोगहेतुः शरीरेन्द्रियमनस्सु तापकत्वेन विद्यमानानां तेषां विनाशे

संकल्पप्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

व्योऽनुष्ठेयः ॥ २२–२३ ॥

अथ विषयपरित्यागपूर्वकं योगाभ्यासप्रकारमाह–**संकल्पप्रभवानिति** । सर्वानखिलान् सङ्कल्पप्रभवान् देहात्माभिमा-

इति नार्थः किन्तु तापयितुमुत्पत्तिरेव तेषां विनाश्यत इति दुःखसंयोगवियोग इत्युच्यते तम् । योगसंज्ञितं योगशब्दवाच्यं विद्याद् विजानीयात् । स चायं योगो निरतिशयपुरुषार्थरूपत्वादनिर्विण्णचेतसा दृष्टफलैरेवालं किमेभिः शरीरशोषणनिपुणैर्यमनियमोपवासव्रतैरितिनिर्वेदमनाप्नुवानेन चेतसा निश्चयेन अवश्यमहमिमं योगमधिगमिष्यामीति दृढनिश्चयेन । एतन्निश्चये वद्धपरिकरेणैव साधकेनास्मिन्परमपुरुषार्थे प्रवृत्तिः सम्भवति । यतो यदवाप्तौ धीराणामपि व्यामोहः श्रुतिषु प्रतिपाद्यते । तथा च श्रुतयः । श्रवणायापि० (का. १।२।७) 'क्षुरस्य धारा० (का. १।३।१४) इति । तस्माद्धार्दिकं खेदमपाकृत्योपलब्धौ दृढविश्वासमुत्पाद्य बुभूषुणायं योक्तव्य एव नत्वनाश्वासमास्थाय प्रयत्नशैथिल्येन त्यक्तव्य इति भावः ॥ २३ ॥

एवमभ्यासवैराग्यसाध्यं समाधियोगं सप्रयोजनमभिधायाधुना तस्यैव चरमदशां दिदर्शयिषुस्तत्स्थायित्वप्रतिपक्षिणः कामादयोऽवश्यं निरसनीया इति तेषां स्वरूपपरिचयपूर्वकं त्याज्यत्वमाह–**संकल्पेति** । संकल्पप्रभ-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

नरूपसङ्कल्पोद्भूतान्। काम्यन्त इति कामा विषयास्तान् कामान्। अशेषतस्त्यक्त्वा। समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः। इन्द्रियग्रामश्चेन्द्रियसमूहश्च। मनसैव विषयदोषानुसन्धानपरेण चेतसैव विनियम्य विशेषेण संयम्य। शनैः शनैर्धृतिगृहीतया धैर्येण वशीकृतया

वान् कामान् काम्यन्त इति कामा विषयाः संकल्पक्षणलब्धजन्मानस्ते हि बुभूषुं पुरुषं समुच्छलत्कल्लोलिनीसलिलोपद्रुतं विशीर्णमूलसंहतिं तीरतरुमिव स्वरूपस्थितेः प्रच्याव्याऽधस्तात्पातयन्ति। परध्यानयोगस्य वैराग्याकृष्टायामभ्याससमीकृतायामपि विषयप्रवणमनोभूमौ प्राक्तनवासनावातप्रेरितप्रावृषेण्यपयोदसम्पातसलिलसम्पर्कादुपजातप्ररोहास्ते सुदृढतरप्रयत्नमन्त्रेण नोपयान्त्याशु विनाशमिति मनसा धारणापरवशीकृतचेतसैतान् सर्वानशेषतस्त्यक्त्वा सन्त्यज्य, मनसैव इति च पदद्वयं काकाक्षिगोलकन्यायेन पूर्वपरयोरुभयत्रांन्वेति। तथा च तथाविधेन तेनैव मनसेन्द्रियग्रामं मनःप्रवृत्तिनिवृत्त्यनुविधायिनामिन्द्रियाणां चक्षुरादिकरणानां समुदायं समन्ततः तत्तद्विषयसंसर्गेभ्यो विनियम्य हठाद्वशीकृत्य वशीकारश्चात्र 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि (का.१।३।१३) इत्यादिश्रुत्युक्तो नियमनरूप एव बोध्यः। ततः शनैः शनैः धृतिगृहीतया मनोवाक्कायक्लेशैः प्रह्रियमाणेऽपि देहादावकम्पतया स्थितिरत्र धृतिस्तया स्वरूपानुसन्धानकार्यें सूक्ष्मीकृतया बुद्ध्या 'दृश्यतेत्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (का.१।३।१२) इतिश्रुतेः। मन आत्मसंस्थम्। सावधारणमेतत्पदम्। आत्मस्वरूपातिरिक्तेभ्य इष्टोदासीनार्थेभ्यः प्रत्याहृत्यात्मसंस्थितमेव कृत्वा किञ्चिदपि ततोऽतिरिक्तं न चिन्तयेत्। फलि-

यतो यतो निश्चरति मनश्चश्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

बुद्ध्योपरमेद्विरमेत्। मन आत्मसंस्थमात्ममात्रनिष्ठं कृत्वा किञ्चिदप्यात्मातिरिक्तं किमपि न चिन्तयेत्॥ २४–२५॥

अथ मनश्चाञ्चल्यवारणप्रकारमाह—यतो यत इति। चञ्चलं रजोगुणविशिष्टयाच्चाञ्चल्यमापन्नमत एवास्थिरमात्मनि स्थैर्यमनापन्नं मनो यतो यतो यस्मिन् यस्मिन् विषये निश्चरति निर्याति। ततस्तत एव विषयादेतन्मनो नियम्यात्मन्येव वशं नयेन्निश्चलतां

तार्थकथनमेतत्। स्थिरधीप्रवर्तितमनसा न गोचरयेदित्यर्थः। एतदेवोक्तमेकादशे—धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्। अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥ मनोगतिं न विसृजेत् जितप्राणो जितेन्द्रियः। सत्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥ इति। सत्वसम्पन्नैव बुद्धिर्धृतिगृहीतेत्युच्यते॥ २४–२५॥

नन्वापातरमणीयस्थूलपदार्थेषु रंरम्यमाणं मनः कथं सहसा सूक्ष्ममात्मस्वरूपमेव गोचरीकुर्यादतिचञ्चलत्वात्ततश्चलेदपि तदा किमनुष्ठेयमिति चेत्तत्राह—**यत इति।** एवमात्मनिष्ठो योगी चंचलमत एवात्मस्थितावस्थिरं मनो यतो यतस्तत्तदिन्द्रियविषयेषु तत्तदिन्द्रियद्वारा निश्चरति विषयसंनिकर्षजन्यक्षणिकानन्दमुपादातुं निपतति। ततस्तत एतन्मनो नियम्य किमेभिः परिणामदुःखप्रदैः क्षुद्रैर्विषयैरिति भावयन् गुरुशास्त्रोपदिष्टमार्गेण विषयदोषदर्शनजनिततीव्रवैराग्येण च सर्वथा निरुध्यात्मनि परमानन्दसन्दोहाब्धौ निजात्मनि निरतिशयनित्यसुखाश्रयोयमिति भावनयाऽप्रमत्तः

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

प्रापयेत् ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं निरुद्धवृत्त्या स्वात्मनि प्रशान्तमासादितस्थैर्यं
मनो यस्य तं शान्तरजसं हेतुगर्भितं विशेषणद्वयम् । शान्तं सत्वो
द्रेकाद्विनष्टं रजो यस्य स तमत एवाऽकल्मषं निर्धूताखिलदुर्वासनो-
पचितपापपुञ्जमत एव ब्रह्मभूतं देहादावहंबुद्धिपरित्यागादनु-
सन् वशं नयेत् ॥ २६ ॥

एवमात्मनि वशं नीते मनसि योगिनो यत्फलं भवति तन्निर्दिशति । **प्रशा-
न्तमनसमित्यादिना** । यत्तु तात्पर्यचन्द्रिकायाम् 'आत्मवशीकरणोपायः
प्रागुक्तः, अनन्तरं च तदेवाह—प्रशान्तमनसमितिश्लोकेनेत्यवतरणिकात्वेनोक्तं
तन्मन्दम् । प्रकृतश्लोके उपायस्यानभिधानात् । प्रत्युतोपायप्रतिसम्बन्धिन
उत्तमं सुखमुपैतीत्यनेनोपेयस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । शान्तं विशुद्धसत्वो-
द्रेकाद्विनष्टं रजः स्वकार्यलोभादिसहितं यस्य स तम् । रज इत्युक्त्या
तन्निकृष्टस्य तमसोऽपि निवृत्तिरत्र फलति कैमुतिकन्यायात् । अथवा रजः-
शब्दोऽत्र तमोभिभूयोद्रिक्तरजःपरः । प्रशान्तमनसं विशुद्धसत्वोद्रेकेन
प्रशान्तं विषयासंस्पृष्टवृत्तिकमत एवान्तर्वृत्तिकं मनो यस्य स तम् । अस्य
च हेतुगर्भं विशेषणं शान्तरजसमिति । एतच्च :काकाक्षिगोलकन्या-
येनाकल्मषमित्यस्मिन्नपि हेतुगर्भितविशेषणतयान्वेति । कुतो हेतोः प्रशा-
न्तं मनोऽस्य भवति ? शान्तरजसत्वात् । रजोगुण एव हि चलनहेतुः ।
रजःकृतं हि चाञ्चल्यं मनस्यवश्यमागच्छेत् । निवृत्ते तु रजसि

युञ्जन्नेवं सदाऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

संहितस्वस्वरूपमेनं योगिनं ह्युत्तमं यस्मादुत्कृष्टमन्यन्नास्ति तादृशं
सुखमुपैति । स्वत एव सुखं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

उत्तमसुखस्योल्लेखं करोति—युञ्जन्निति । एवं प्रोक्तप्रकारेण
विगतकल्मषो योगी सदा प्रत्यहमात्मानं मनोयुञ्जन्नात्मस्वरूपे
स्थिरीकुर्वन् ब्रह्मसंस्पर्शं परमपुरुषानुभवरूपं सुखमत्यन्तं सुखेनाना-
यासेनैव सदाऽश्नुते ॥ २८ ॥

मनसः प्रकृष्टा शान्तिरुत्पद्यते । तथाचोद्रिक्तसत्वेन रजस्तमसोरभिभवं
प्राप्तयोस्तत्कार्यवैमुख्यं चेतसि जायते । तमसः कार्येषु निद्राप्रमादालस्य-
मोहादिषु प्रवृद्धेषु पुमान् पापमाचरति । निवृत्ते तमसि व्यपेतकल्मषो
भवति । अतोऽकल्मषमपि शान्तरजसमेव शक्यते वक्तुम् । तत एव च
हेतोर्ब्रह्मभूतं देहाभिमाने विनिवृत्ते सति स्वस्वरूपेणावस्थितं ह्येनं योगि-
नमुत्तमं सर्वोत्कृष्टं सुखमुपैति प्राप्नोति ॥ २७ ॥

पूर्वस्मिन्नुत्तमसुखप्राप्तिरभिहिता तामेवावाप्तान्तिमकाष्ठां स्पष्टयति—
युञ्जन्निति । एवमुक्तप्रकारेणात्मानं मनो युञ्जन् योगी समाधियोगनिष्ठो
विगतकल्मषो निरस्तसमस्तपूर्वकर्मोपार्जितपापसमूहः सन् ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्म-
साक्षात्काररूपमत्यन्तमपरिमितं सुखं सुखेनानुष्ठितयोगमहिम्ना सिद्धसंक-
ल्पतया शारीरिकाद्यायासमन्तरेणैव सदा शश्वदश्नुते । महतायासेन
साधितेऽस्मिन् योगे स्वरूपपररूपयोरनुभवः करतलामलकवद्भवति ॥२८॥

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

निरूपितः सफलः समाधियोगः । तन्निष्ठानां योगिनां योगपरिपाकावस्थानां तीब्राद्यधिकारिभेदेनानुष्ठानक्रमतारतम्येन च चातुर्विध्यं फलति । तदनुरोधाद्योगिचातुर्विध्यमपि स्वाभाविकम् । योगिस्वभावप्रतिपादनमुखेन तत्प्रपंचयति—**सर्वभूतस्थमित्यादिचतुर्भिः** । योगयुक्तात्मा विपक्कसमाधियोगमहिम्नाऽऽविर्भूतस्वस्वरूपोऽत एव सर्वत्र ब्रह्मादिपिपीलिकान्तेषु चिदचिद्वस्तुषु समदर्शनः साम्यदृष्टियुक्तः । अयम्भावः । अनादिकर्मरूपाविद्योपाधिवैचित्र्याज्जीवानां प्रकृतिपरिणामरूपदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिशरीराकारवैचित्र्यमुत्पद्यते । एवं सति यद्यच्छरीरमसावुपादत्ते तत्तदनुकूलप्राक्तनवासनोदयात्तत्संसृष्टान्तःकरणतया तथा तथाभिमानवान् भवति । व्युत्थानकाले जीवः समुद्रिक्तप्राकृताभिमानतयाऽशेषजगद्व्यवहारेष्वहं करोमि मयैतदनुष्ठितं मदीयमिदं गृहमित्यादिरूपेणाभिमानं धत्ते । एवमनादिकालात्प्रवृत्ते जीवव्यवहारे कर्हिचिन्निर्व्याजभगवत्कृपाकटाक्षवीक्षितोऽयं जीवः सात्त्विकभावाविष्टः सायुज्यमुक्तिसाधने स्वपरस्वरूपानुसन्धाने प्रवर्तते । तदुक्तं मोक्षधर्मे—जायमानन्तु पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः । सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥ इति । तथा च जन्मत एवास्य शुभाश्रयदृष्टया योगा-

सर्वत्र प्रकृतिसम्बन्धापेतेषु सर्वेष्वात्मसु । समदर्शनः समद्रष्टा । सर्वेषामात्मनां ज्ञानैकाकारत्वेन समदर्शीत्यर्थः । योगेन युक्त आत्मा

नुष्ठानसंधुक्षितपरानुध्यानानलेन सपरिकरं कर्मबीजं निर्दग्धं भवति । एवं विनिवृत्तकर्मोपाधिकस्य भगवदनुध्यायिनस्तस्य वैराग्यादिसमन्वितं विशुद्धविज्ञानमुत्पद्यते । अनेन च विज्ञानेन समाधियोगी सर्वत्र स्वात्मनि परात्मसु च ज्ञानैकाकारतया साम्यमेव पश्यति । स च देहादिवैषम्यं विवेकतोऽपहाय प्रकृतिवियुक्तेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया साम्यं मन्वानः स्वात्मानमेव सर्वभूतस्थं सर्वभूतानि च स्वात्मनीक्षते । ज्ञानमात्रैकस्वरूपस्यात्मनः सर्वत्राविशेषादेकस्मिन् स्वात्मन्यवलोकिते सर्वात्मनां तत्साम्यात्सर्वात्मवस्तुविषयकदर्शनस्योपपन्नत्वात् । तथाच सर्वभूतसमानाकारं स्वात्मानं स्वात्मसमानाकाराणि च सर्वभूतानीक्षत इति तदर्थः । एतादृगेव समदर्शित्वं यत्र तत्र गीताचार्येणाभ्यधायि । 'पण्डिताः समदर्शिनः' (गी. ५।१८) इत्यादिवचनैः । संसारदशायान्तु देवमनुष्यादिदेहविशिष्टानां जीवानां भेदोऽवर्जनीय एव । एवञ्च सर्वभूतेषु तिष्ठतीति सर्वभूतस्थमात्मानं स्वात्मानमीक्षत इति नार्थः । न ह्यणुपरिमाणस्य स्वात्मनोऽन्यत्रात्मसु स्थितिरुपपद्यते । न हि कुण्डवदरवदाधाराधेयभावोऽत्र सम्भवत्यणुत्वादेव । तस्मात्साम्येक्षणमेवात्राभिहितम् । अन्यथा '**योयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन**' (गी. ६।३३) इत्यर्जुनप्रश्नस्यासंगत्यापत्तिर्दुर्निवारा स्यात् ॥ २९ ॥

मनो यस्य स योगयुक्तात्मा । आत्मानं स्वस्वरूपं सर्वभूतस्थं सर्वभूतसमानाकारं सर्वभूतानि च सर्वभूतात्मस्वरूपाणि चात्मनीक्षते । सर्वभूतानि च स्वसमानस्वरूपाणि पश्यतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।**

ततोप्यधिकां विपाकावस्थामुदीरयति—य इति । योगी मां निरमत्स्वरूपं सर्वत्राखिलेष्वात्मस्वरूपेषु पश्यत्यवलोकयति । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इतिश्रुतेः प्रकृतिसम्बन्धापेतानामात्मनां परमात्मनश्च स्वरूपाणां ज्ञानैकाकारत्वेनात्यन्तसमत्वादिति भावः । सर्वश्च ज्ञानैकाकारमात्मवस्तु मयि ज्ञानैकाकारे परमात्मनि पश्यत्यन्योन्यसाम्यदर्शी भवति । अहं तस्य न प्रणश्यामि 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्युक्तप्रकारेण कदाचिदपि तदनुभवागोचरतां नावैमि । मे च मम परमात्मनश्च स योगी न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

ततोऽपि विपाकावस्थामभिदधाति—**सर्वभूतस्थितमिति** ।

यः पूर्ववस्थातोऽपि विपकावस्थामापन्नो योगी सर्वत्र मां पश्यति मयि च सर्वं पश्यति । एतच्च दर्शनं परमपुरुषानुध्यानान्निरस्ताऽखिलकर्मवासनस्य परमात्मसादृश्यमुपेतस्य भवति । तादृशो योगी सर्वस्मिन् वस्तुनि सिद्धमत्साम्यानुसन्धानो मामेव निभाल्यते । तत एव सर्वं ज्ञानाकारत्वेनैक्येऽपि वस्तुतो भिन्नमेवात्मवस्तु च मयि तन्नियामके परमात्मनि पश्यति । तस्य योगिनोऽहं न प्रणश्यामि । सर्वदैव तदनुभवगोचरो भवामि । स चापि योगी मे न प्रणश्यति । सर्वदा मत्साम्यमनुभवन्मदनन्यभावविशिष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

द्वितीयावस्थावतो योगिनस्तृतीयावस्थावस्थितस्य तस्य वैलक्षण्यमाह—

**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥**

यो योगी सर्वभूतस्थितं मामेकत्वमास्थितः संकोचककर्मलक्षणाविद्याविरहादसंकुचितज्ञानैकाकारतया ब्रह्मापृथग्विसिद्धविशेषणतया वैक्यमङ्गीकुर्वन्÷ सन् भजति । स योगी । सर्वथा । न समाधिदशायामेवापि तु व्युत्थानकालेपीत्यर्थः । वर्त्तमानः स्वात्मानं सर्वभूतानि च चिन्तयन् मयि वर्त्तते मामेव चिन्तयति । मत्प्रकारतयावस्थितेषु सर्वभूतेषु स्वस्मिंश्च मत्सादृश्यमेवावलोकयतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अथोत्कृष्टतमां विपाकावस्थामाह—**आत्मौपम्येनेति** । हे अर्जुन ! यो योगी । आत्मौपम्येनात्मनामसंकुचितज्ञानाकारत्वेन **सर्वभूतस्थितमिति** । यः विपकसमाधियोगः पुरुष एकत्वमास्थितः परमात्मानुसन्धाने विशदतमज्ञानवैशिष्ट्येन ज्ञानाकारतयैकत्वमनुभवन् । सर्वभूतस्थितं मां भजति । स योगी सर्वथा वर्तमानोऽपि व्युत्थानदशायां समाधिदशायां वा मय्येव वर्तते । मत्प्रकारतयाऽवस्थितत्वेन मत्सादृश्यं स्वस्मिन् सर्वभूतेषु च पश्यति ॥ ३१ ॥

अथ सर्वोत्कृष्टां चतुर्थीं योगावस्थामभिधत्ते—**आत्मौपम्येनेति** । हे अर्जुन ! यः समाहितमना महात्मा सर्वत्र परमात्मप्रकारभूतेषु सर्वात्मसु । आत्मौपम्येन । अस्य पश्यतीतिक्रियया नान्वयः सममित्यनेन पौनरु-

---

÷तथा च नेयमेकत्वोक्तिः स्वरूपभेदनिरासिकेति बोध्यम् ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

देहादि लक्षण्येन वा तुल्यतया सर्वत्र स्वस्मिन्नितरेषु वा वर्त्तमानं सुखं दुख वा समं तुल्यं पश्यति । परकीयसुखदुःखे अपि स्वकीयसुखदुःखतुल्यतयाऽवलोकयतीत्यर्थः । स परमः सर्वोत्कृष्टो मतोऽभिमतः ॥ ३२ ॥

अथ योगसाधकमनोनिग्रहसाधकोपायं पृच्छन्नर्जुन उवाच—य इति । हे मधुसूधन ! त्वया साम्येन समभावेन योऽयं योग

क्त्यापत्तेः। स्वात्मसादृश्येन सर्वत्रेतिशब्दस्यात्राप्यन्वयः। तथाच सर्वत्र सर्वात्मसु समं तुल्यं सुखं वा यदि वा दुःखं पश्यति परमात्मप्रकारतयैव सर्वात्मनां स्वरूपस्थितिरिति दृढनिश्चयवतः स्वात्मवदेव सुखदुःखयोरनुभवो जायते । तस्य वैषम्यहेतुरागद्वेषयोरभावात् । तस्मादसंकुचितज्ञानाकारत्वादन्यात्मन्यपि सुखदुःखयोर्वर्तमानयोः स्वात्मवत्पश्यति । स योगी परध्याननिर्धूताखिलकिल्बिषः परम उत्कृष्टो मतः । प्रोक्तयोगनिष्ठेष्वस्य श्रैष्ठ्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

एवमवस्थाभेदेन चतुर्विधानां योगिनां ज्ञानैकाकारतया स्वात्मनि परात्मसु च साम्यं निरस्तकर्मपारतन्त्र्येण च परमात्मसाम्यमित्यादिनिरूपणेन समदर्शनाख्यो योगः प्रपञ्चितः। अस्यैव पुनः स्पष्टप्रतिपत्तयेर्जुन उवाच । किमुवाच तदाह—य इति । हे मधुसूदन ! मधुसंज्ञकं सत्वविरोधितामसभावाविष्टमसुरं सूदयतीति मधुसूदनस्तत्सम्बुद्धौ हे मधुसूदन ! अनेन सम्बोधनेन सात्विकभावप्रवर्तको जगद्गुरुरसि । अतस्त्वमेव मनोनिग्रहोपायं ब्रूहीत्याशयो

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

उक्तः । चञ्चलत्वादेतस्य त्वदुक्तस्य सर्वत्र समदर्शित्वात्मकस्य योगस्य स्थिराञ्चाञ्चल्यवर्जितां स्थितिमिह न पश्यामि ॥ ३३ ॥

हे कृष्ण ! हि यतो मनः चञ्चलं चाञ्चल्यविशिष्टं प्रमाथि प्रमथनशीलं दृढं बलवदतस्तस्य निग्रहमहं नैयत्येनैकत्र स्थापनं व्यज्यते । योऽयं योगः साम्येन सर्वत्र समभावेन त्वया प्रोक्तः एतस्य योगस्याहं स्थिरां स्थितिं नैव पश्यामि चंचलत्वान्मनसः । उत्तरश्लोके मनश्चांचल्यस्यैवोपदिष्टत्वेनात्र मनस एवाध्याहारः । अयमभिसन्धिः शास्त्रदृष्टिं परिहाय लौकिकदृष्ट्याऽवलोकने स्वात्मनि परेषामात्मसु च स्वरूपभेद एवावगम्यते । अणुकिञ्चिज्ज्ञकर्मवश्यत्वादिधर्मविशिष्टस्य जीवस्य विभुसर्वज्ञाकर्मवश्यत्वादिधर्मकेण परमात्मना च स्वरूपभेदः शाश्वतिक एवानुभूतः । त्वया च परमकारुणिकेन सर्वज्ञेनेदानीं स्वात्मनि सर्वभूतात्मसु च ज्ञानैकाकारतया साम्यमुपदिष्टं जीवपरमात्मनोरप्यकर्मवश्यत्वेन साम्यमुपादेशि । स चायं समदर्शनयोगो न शास्त्रदृष्टिमताऽप्यनुष्ठातुं शक्यः । कथञ्चित्महायासेनासादितेऽपि क्षणिकसाम्यदर्शने न तत्स्थायिभावमुपगच्छेत् । साम्ययोगोपायतया निश्चितस्य मनसश्चञ्चलत्वात् । अतोऽयमतिदुष्करः ॥ ३३ ॥

हे कृष्ण ! एतत्सम्बोधनेन प्रपन्नमनोऽघकर्षणकृत्त्वमसि मम मनसः कल्मषं विनाश्य विशुद्धं कुर्वित्यर्जुनाशयः । हि यतश्चंचलं मनो निमिषमात्रमपि न स्थिरम् । चांचल्येऽप्यल्पायासदम्यतास्य नास्ती-

श्रीभगवानुवाच-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

वायोः सदाप्रवहणशीलस्य वातस्य निग्रहमिव सुदुष्करं मन्ये। यथा वायुर्निरोद्धुं न शक्यते तथा मनोऽपीति भावः ॥ ३४ ॥

अथ मनोनिग्रहोपायमाह—हे महाबाहो ! चल मनो दुर्निग्रहं वशीकर्त्तुमशक्यमित्यसंशयम्। अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। हे

त्याह प्रमाथि करणकलेवरग्रामस्य प्रमथनशीलं बलवन्न तु दुर्बलम्। दृढं
प्रचलवासनातन्तुनिबद्धतया दुर्भेद्यम्। न हि केवलं श्वासप्रश्वासादिधा-
रणमात्रेण भेद्यमितिभावः। अतस्तस्याहं वायोरिव सुदुष्करं निग्रहं मन्ये।
यथान्तरिक्षे वायुर्न निरोद्धुं शक्यते तद्वन्मनस्ततदिच्छाचारान्निरुध्य
परमात्मनि न क्षणमपि धारयितुं शक्यं मनोनिरोधाभावे योगसिद्ध्यभाव-
स्तथासति तत्प्रयोज्यसमदर्शनस्यानुपपत्तेरिति सर्वमिदं सिकताप्रबद्धमूलभि-
त्तिनिभमितिभावः ॥ ३४ ॥

चाञ्चल्यान्मनसस्तन्निरोधस्य दुष्करत्वमित्यर्जुनोक्तमभिनन्दन् तन्निग्र-
होपायप्रतिपिपादयिषुः श्रीभगवानुवाच—**असंशयमिति द्वाभ्याम्**। महा-
न्तौ बाहू यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे महाबाहो ! महाबाहुत्वाच्छत्रुजये तव
नैसर्गिकी शक्तिरस्ति। अतो बलवत्यपि दुर्निग्रहेऽपि मनोरिपौ विजये
तव सामर्थ्यमक्षुण्णमिति महाबाहुशब्दविहितसम्बोधनस्याभिप्रायः। चलं
मनो दुर्निग्रहमेव; तथैव लोकवेदयोः प्रसिद्धत्वादिति भावः। इत्यसंशय-
मेतत्। मन्दप्रयत्नात्तदग्राह्यम्। तथापि तन्निरोधसाधनानां भगवद-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

कौन्तेय ! अभ्यासेन भगवद्व्यतिरिक्तपदार्थदोषानुसन्धानजन्येन वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

एतस्याहं न पश्यामीत्यादेरुत्तरमाह—**असंयतात्मनेति**। अ-
संयतात्मनाऽवशीकृतचेतसा योगः साम्ययोगो दुष्प्रापोऽधिगन्तुम-

न्यभक्तेस्तदङ्गभूतानां यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधीनां
भूयो भूयोऽनुष्ठानरूपाभ्यासेनाखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणगणैकनि-
लयपरमपुरुषश्रीरामेतरसमस्तपदार्थेषु वैराग्येन दोषदर्शनोपजातवैतृष्ण्येन च
गृह्यते। अयमेवोत्तमोपायः शास्त्रेषु तद्दर्शिमहर्षिभिश्च निश्चितः ॥३५॥

एवमर्जुनकृताशंकाया आंशिकमुत्तरं दत्त्वा 'एतस्याहं न पश्यामि चंच-
लत्वात्स्थितिं स्थिराम्' (गी.६।३३) इत्याद्यशंस्योत्तरमभिधत्ते—**असंय-
तात्मनेति**। असंयतात्मना असंयतोऽस्वाधीन आत्मा मनो यस्य स समुद्रिक्त-
परभक्त्यङ्गाभ्यासवैराग्यादिसाधनैरवशीकृतान्तःकरणस्तेनासंयतात्मना शास्त्रा-
भ्यासवताऽपि पुंसा योगः समाधियोगस्तत्फलभूतः साम्ययोगश्च दुष्प्रापो
दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यस्तदनन्यसाधनस्य चित्तस्थैर्यस्याभावात्। कार-
णासत्वप्रयुक्तं कार्यासत्वमिति मे मतिः। मदीयोऽयं निश्चय इत्यर्थः। एवं
चेत्तर्हि न केनाप्यवाप्तुं शक्य इत्यत आह—**वश्यात्मनेति**। तुशब्द-
स्तर्किताशङ्कामुच्छिनत्ति। उपायतः परमपुरुषानुध्यानाङ्गभूताभ्यासवैराग्य-
सहकृतयमनियमाद्यष्टाङ्गैरुपायैरपास्तसमस्तकिल्विषतया वश्यात्मना वश्यो
विषयासंगादाकृष्य स्वाधीनीकृत आत्मा मनो येन स तेन तथाविधेनापि

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अर्जुन उवाच।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

शक्यः। इति मे मतिर्मन्तव्यमस्ति। उपायतः पूर्वोक्तेनाभ्यासवैराग्यसहकृतेन मदाराधनात्मककर्मयोगादिना वश्यात्मना वशीकृतचेतसा यतता यत्नं विदधता तु योगोऽवाप्तुं शक्यः ॥ ३६ ॥

अथ योगमाहात्म्यजिज्ञासुरर्जुन उवाच—अयतिरिति। हे कृष्ण! श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या। उपेतो युक्तः। अयतिरभ्यासे यतताऽहर्दिवं प्रयतमानेनायं योगोऽवाप्तुं शक्यः। अत्रोपायतो 'वश्यात्मना, यततेति शब्दत्रयोपादानान्न केवल्योरभ्यासवैराग्ययोरेव मनोवशीकारसाध्यसाम्ययोगे साधनत्वमिति सूच्यते किन्तर्हि सर्वोपायपूर्णतासम्पादिकायाः प्रभुभक्तेरेवानन्योपायत्वमित्यवगम्यते। तथा चोक्तं स्वयमेव भगवता श्रीमद्भागवते—निर्विण्णस्य (११।२०।२३) (११।२०।३१।३२।३३) इत्यादि। एवं च जागतिकक्लेशजालान्निर्मुक्तिकामेनैहिकामुष्मिकविषयेभ्यो विरज्य परं वैराग्यमाश्रित्य यमनियमादियोगाङ्गानुष्ठानपुरस्सरं परेशानुध्यानाभ्यास एवाहर्दिवं विधेयः परिपक्वाभ्यासवता चायं सम्पादितः साम्ययोगो दृढभूमिमुपैतीति साधीयानर्थः ॥ ३६ ॥

एवं योगी युञ्जीत सततमित्यादिभगवद्वचनैर्योगसाधनं 'युञ्जन्नेवं सदात्मानं, योगी नियतमानसः। शान्तिनिर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति (गी. ६।१५) सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते' (गी. ६।२८) इत्यादिवचनैश्च तत्फलं कात्स्न्र्येनोपश्रुत्य येऽन्येरविन्दाक्ष० इत्यु-

शिथिलो योगाच्चलितमानसो योगच्युतमनस्को योगसिद्धि-

क्तारुह्यपतनन्यायेन योगधारणया संसिद्धिमुपगतस्यापि कदाचित्पतनं स्यात्तदाऽस्य किमिष्टमनिष्टं वा भवेदित्याशंकामुच्छेदयितुकामोऽर्जुन उवाच—**अयतिरिति।** हे कृष्ण! श्रद्धयोपेतो योगानुष्ठाने श्रद्धासमन्वितोऽपि केनचिदन्तरायविशेषेणोपहतत्वाद् योगाच्चलितमानसः समाधियोगाच्चलितं मानसं यस्य सः। अत एवायतिः सातत्येनानुष्ठेये यत्नेऽपि शिथिलोत्साहः पुरुषो योगसंसिद्धिं 'यदात्मन्यर्पितं० (भा. ११।१९।२५।२७) इत्यादिरूपां शास्त्रेषु प्रतिपाद्यमानां योगसंसिद्धिं संसिद्धिः सम्यक्प्रकारेणसिद्धिः सा चात्र परमपुरुषप्राप्तिरूपा सायुज्यमुक्तिरेव। संसिद्धिशब्दस्य 'ज्ञानविज्ञानयज्ञेन' (११।१९।३) इत्यादिस्थले मोक्षरूपार्थे एव प्रयुक्तत्वात्। एवंच योगानुष्ठानेन सञ्जातपरभक्तिर्मनुष्यो भगवद्धामप्राप्तिरूपां संसिद्धिं प्राप्नोति। एतदप्युक्तं तत्रैव 'सर्वं मद्भक्तियोगेन० (भा. ११।२०।३३) इति। एवंविधां योगसंसिद्धिमप्राप्य कां गतिं स्वर्गनरकयोर्मध्ये स्वर्गतिं नरकगतिं वा गच्छति। अत्र तात्पर्यचन्द्रिकायां कां गतिमिति किं शब्दार्थः कामभोगमोक्षनिरयेषु कतमाम्' इति स्पष्टीकृतः स तु चिन्त्य एव। योगसंसिद्धिं मोक्षमप्राप्येति स्वयमेवार्जुनेन मोक्षाख्यगतेर्निषिद्धत्वात्। योगसंसिद्धिमप्राप्य ततोऽतिरिक्ताया एव कस्याश्चिद्गतेरत्र कां गतिमित्यनेन जिज्ञास्यत्वात्। अथ योगसंसिद्धिपदेन मोक्षकारणं परानुध्यानमुच्यते तर्हि 'परानुध्यानमप्राप्य' इत्यर्थो निष्पद्यते। एवं च सति मोक्षसाधनमपि येन न प्राप्यते कुतस्तरान्तेन मोक्षाशेति सुगमोऽयमर्थः। तस्मात्कांगतिमित्यत्र मोक्षगतेरपि निवे-

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

मप्राप्य कां गतिं गच्छति ॥ ३७॥

हे महाबाहो ! नास्ति प्रतिष्ठा स्वर्गादिफलेषु स्थितिर्यस्यासावप्रतिष्ठः । ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्त्युपायात्मके योगमार्गे । विमूढः प्रच्युतः । अत उभयभ्रष्टो भोगमोक्षोभयरहितः । सन् । छिन्नाभ्रमिव । न नश्यति कच्चित् ? उभयतो भ्रष्टत्वेन किमयं नश्यत्येवोत न ? इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

हे कृष्ण ! मे ममैतं संशयं सन्देहमशेषतः कात्स्न्र्येन छेत्तुमर्हसि । हि यतस्त्वदन्यस्त्वदपरोऽस्य संशयस्य छेत्ता परिहारको नोपपद्यते ॥ ३९ ॥

शोऽनावश्यकः ॥ ३७ ॥

हे महाबाहो ! अप्रतिष्ठोऽनुष्ठीयमाने कर्मणि फलासक्तिशून्यो ब्रह्मणः पथि योगमार्गे विमूढः प्रच्युतोऽत उभयभ्रष्टः सन् छिन्नाभ्रमिव कच्चिन्न नश्यति ? ॥ ३८ ॥

हे कृष्ण ! ममैतं संशयमशेषतो निःशेषतया छेत्तुमर्हसि । हि त्वदन्योऽस्य संशयस्य छेत्ता छेदको नोपपद्यते ॥ ३९ ॥

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथ पार्थसंशयमपाकुर्वञ्छ्रीभगवानुवाच—पार्थेति । हे पार्थ ! तस्य पूर्वोक्तस्य योगाच्चलितमानसस्येहास्मिँल्लोकेऽमुत्र परस्मिश्च लोके विनाशो न विद्यते । अत्र विनाशो हि द्विविधो मतः। प्राकृतभोगब्रह्मान्यतरानुभवरूपेष्टानवाप्तिः प्रत्यवायात्मकानिष्टावाप्तिश्चति । स चास्य योगभ्रष्टस्य न भवति । हे तात ! हि यतः कल्याणकृत् कल्याणात्मकयोगकर्त्ता दुर्गतिमुक्तामिष्टानवाप्तिमनिष्टावाप्तिश्च न गच्छति न प्राप्नोति ॥ ४० ॥

अथ कथमयं भविष्यतीत्याह—प्राप्येति । योगभ्रष्टः पुरुषः पुण्यकृतां पुण्याचरणशालिनां प्राप्यान् स्वर्गादिलोकान् प्राप्य लब्ध्वा तत्र शाश्वतीः समा वत्सरानुषित्वा स्थित्वा । योगभ्रंशहेतून् स्वाभिलषितान् भोगान् तेषु पुण्यसम्पाद्येषु लोकेषु बहु कालं यावद् भुक्त्वेत्यर्थः । शुचीनां विशुद्धानां श्रीमताश्चगेहे भवनेऽभिजायते ॥ ४१ ॥

हे पार्थ ! तस्य योगाच्चलितमानसस्येहामुत्र च विनाशो न विद्यते। हे तात ! हि कल्याणकृत् कल्याणात्मकयोगानुष्ठाता दुर्गतिं न गच्छति ॥ ४० ॥

योगभ्रष्टो पुण्यकृतां सुकृतिमतां लोकान् स्वर्गादीन् प्राप्य तत्र शाश्वतीः समा वत्सरानुषित्वा शुचीनां सदाचारिणां श्रीमतामैस्वर्यवतां गेहेऽभिजायते ॥ ४१ ॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

अथ परिपक्वायोगाद् भ्रष्टस्य गतिमाह—अथवेति । अथवा पक्षान्तरे । परिपक्वयोगाद् भ्रष्टो जनः । धीमतां स्वतो योगोपदेशशक्तानां योगिनां योगं विदधतां कुले भवति । जायत इत्यर्थः । ईदृशं यज्जन्मैतल्लोके हि दुर्लभतरमत्यन्तं दुष्प्रापमेवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ननु ततः किम् ? न हि शुचीनां श्रीमतां धीमतां योगिनां वा कुले समुत्पत्तिमात्रं मोक्षापादकं भवतीत्यत्राह—तत्रेति । हे कुरुनन्दन ! तत्र द्विविधेऽपि तस्मिञ्जन्मनि पौर्वदैहिकं पूर्वदेहे भवं तम् । बुद्ध्या संयोगो बुद्धिसंयोगस्तं योगविषयकबुद्धिसम्बन्धं लभतेऽधिगच्छति । ततोऽनन्तरम् । जन्मान्तरे सुकृतिनाम्प्राक्तनसंस्काराणामुच्छेदाभावात् स सुप्तजागरित इव भूयः पुनरपि संसिद्धावन्तरायवर्जितायां योगसिद्धौ विषये यतते यत्नमादधाति ॥ ४३ ॥

अथवा धीमतां स्वतो योगोपदेष्टृणां योगिनां कुले भवत्युत्पन्नो भवति । ईदृशं यज्जन्म जननमेतल्लोके दुर्लभतरमतिशयेन दुर्लभम् ॥ ४२ ॥

हे कुरुनन्दन ! तत्र तस्मिञ्जन्मनि पौर्वदैहिकं पूर्वदेहेऽभ्यस्तं तं बुद्धिसंयोगं लभते । ततो भूयोऽपि संसिद्धौ विघ्नविहीनयोगसिद्धिविषये यतते ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

तत्र हेतुमभिधत्ते—पूर्वाभ्यासेनेति । अवशोऽपि देहादिपरवशोऽपि स योगभ्रष्टस्तेन पूर्वाभ्यासेन ह्रियते योग एवाकृष्यते। हि प्रसिद्धम् । योगस्य× योगे जिज्ञासुरपि । न तु योगे प्रवृत्त इत्यर्थः । शब्दब्रह्मातिवर्त्तते प्रकृतिसम्बन्धमतिक्रामति । 'नाहं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा । ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः ॥' इति पाञ्चरात्रवचनप्रामाण्याद् देवमनुष्यादिशब्दाभिलापायोग्यज्ञानानन्दैकस्वरूपमात्मानमधिगच्छतीत्यर्थः । तर्हि योगे प्रवृत्तस्य तु किमु वक्तव्यमितिभावः । अत्र देवमनुष्यपृथिवीस्वर्गप्रभृतिशब्दाभिलापार्हं ब्रह्म प्रकृतिरेव न तु परब्रह्मजीववेदादयस्तेषामतिवर्त्तनीयत्वानुपपत्तेः ॥ ४४ ॥

तस्य परगतिप्राप्तिमाह—प्रयत्नादिति । योगी चलित-

स योगभ्रष्टोऽवशोऽपि तेन पूर्वाभ्यासेनैव योगे ह्रियत आकृष्यते । योगस्य जिज्ञासुरपि शब्दब्रह्म देवादिशब्दवाच्यप्रकृतिसम्बन्धमतिवर्त्तते । योगे प्रवृत्तस्य तु किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

स परां गतिमवाप्नोतीत्याह—**प्रयत्नादिति** । चलितयोगस्तु **योगी**

×योगस्येति षष्ठी सम्बन्धसामान्ये न कर्मणि 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (पाणिनिसू० २-३-६९) इतिनिषेधात् ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

योगोऽपि प्रयत्नादिन्द्रियनियमनादिप्रयत्नेन यतमानो योगे प्रयत्नमालम्बमानः संशुद्धं किल्बिषं यस्य स संशुद्धकिल्बिषो विधूतपापोऽनेकजन्मसंसिद्धोऽनेकजन्माभ्यासनिष्पन्नयोगस्तस्मादेव परां परमोत्कर्षवतीं गतिं यात्यवाप्नोति ॥ ४५ ॥

योगिनस्तपस्विप्रभृतिभ्यः श्रेष्ठतामाह—**तपस्विभ्य इति**। योगी तपस्विभ्यः केवलतपोनिष्ठेभ्योऽधिकः श्रेष्ठः। केवलतपःसाधितपुरुषार्थाधिकपुरुषार्थसाधनविशिष्टतया योगी तपस्विभ्यः श्रेयानित्यर्थः। एवं ज्ञानिभ्यः केवलशास्त्रजन्यज्ञानविशिष्टेभ्योऽप्यधिकः। कर्मिभ्यः केवलकर्मानुष्ठातृभ्यश्चाधिको मतः। हे अर्जुन! तस्मात् त्वं योगी भव ॥ ४६ ॥

प्रयत्नाद्यतमान इन्द्रियजयादिप्रयत्नेन योगे यत्नमादधानः संशुद्धकिल्बिषो धूतपाप्माऽनेकजन्मसंसिद्धोऽनेकजन्माभ्यासेन प्राप्तयोगः सन् तत एव परां गतिं याति ॥ ४५ ॥

अथ योगिनस्तापसादिभ्य आधिक्यमापादयति—**तपस्विभ्य इति**। योगी तपस्विभ्यः केवलतपस्साधनेभ्योऽधिकः श्रेष्ठः। ज्ञानिभ्य केवलशास्त्रीयज्ञानवद्भ्योऽप्यधिकः। कर्मिभ्यश्च केवलकर्मानुष्ठानपरेभ्यश्चाधिकः। तस्मद्धेतोः। हे अर्जुन त्वं योगी भव ॥ ४६ ॥

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥ समाप्तं प्रथमं षट्कम् ॥

एवमात्मदर्शनमभिधाय×विवेकादिसाधनसप्तकजन्यपरविद्याप्रस्तावं विदधाति—**योगिनामिति**। यो योगी मामपरित्यक्तात्ममहिमानं वाङ्मनसाऽनवच्छेद्यस्वरूपस्वभावमशेषदोषव-

अथ परविद्यां प्रस्तौति—**योगिनामिति**। यो योगी मां सर्वेश्वरं मद्गतेन प्रीत्याधिक्यान्मदेकप्रवणेनान्तरात्मना मनसा श्रद्धावान् मत्प्रा-

---

×विवेकादिसाधनसप्तकञ्च पुरुषोत्तमाचार्यापरनामधेयबोधायनवृत्तिकारश्रीमद्बोधायनमहर्षीणां शिष्यवर्यैर्जगद्गुरुश्रीगङ्गाधराचार्यैःप्रतिपादितं साधनदीपिकायाम्। तथाहि—

※ साधनदीपिका ※

सीतानाथसमारम्भां बादरायणमध्यमाम्।
बोधायनाख्यगुर्वन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥ १ ॥
रामस्य ब्रह्मणोऽनन्यभक्त्यैव मुक्तिराप्यते।
भक्तिर्ध्रुवा स्मृतिः सा च विवेकादिकसप्तकात् ॥ २ ॥
जात्याश्रयनिमित्तैर्यद् दुष्टमन्नं भवेदिह।
तस्माद्देहस्य संशुद्धिर्विवेकः कथ्यते बुधैः ॥ ३ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धेषु विषयेषु यः।
अनादरः स तत्त्वज्ञैर्विमोकः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥
शुभाश्रयस्य यच्चात्र संशीलनं पुनः पुनः।
अभ्यासः साधनं तद्धि योगध्यानोपकारकम् ॥ ५ ॥

र्जितनित्यानवधिकातिशयापरिमितकल्याणगुणगणार्णवं सर्वव्यापकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्तञ्च मां सर्वेश्वरं मद्गतेन मत्प्रवणेनान्तरात्मना मनसा श्रद्धावान् मय्यत्यधिकया प्रीत्या मदवाप्तिविषयकत्वरावान् सन् भजते। उपास्त इत्यर्थः। स सर्वेषां योगिनां सर्वेभ्योऽपि पूर्वोक्तेभ्यो योगिभ्यो मे मम युक्ततमः श्रेष्ठतमो मतः। योगिनामिति षष्ठी पञ्चम्यर्थे न तु निर्धारणे। सर्वभूतस्थमात्मानमित्यादिश्लोकाभिहितेषु योगिषु वक्ष्यमाणस्य योगिनोऽनन्तर्गतत्वात् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीभगवद्गीतायाः
श्रीमदानन्दभाष्येऽभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

प्तिविषयकत्वरावान् सन् मामखिलदोषप्रतिभटानन्तकल्याणगुणोदधिं भजत उपास्ते। स सर्वेषां योगिनां सर्वेभ्योऽपि प्रागभिहितेभ्यो योगिभ्यो मे

यथाशक्ति हि पञ्चानां यज्ञानां महतां तथा।
आश्रमान्तरधर्माणामनुष्ठानं क्रिया मता ॥ ६ ॥
अहिंसा चानभिध्या च सत्यार्जवे तथा दया।
दानञ्चेतानि कल्याणतयाऽऽम्नातानि सूरिभिः ॥ ७ ॥
शोकभीतिनिमित्तेनावसादश्चित्तदीनता।
तदभावो हि सम्प्रोक्तोऽनवसादो महात्मभिः ॥ ८ ॥
उद्धर्षः खलु सन्तोषोऽनुद्धर्षस्तद्विपर्ययः।
शोकवच्चातिसन्तोषे मनःशैथिल्यहेतुता ॥ ९ ॥
पुरुषोत्तमशिष्यश्रीगङ्गाधरार्यनिर्मिता।
अज्ञानध्वान्तहृद् भूयादेषा साधनदीपिका ॥ १० ॥

जगद्गुरुश्रीमदनुभवानन्दाचार्यप्रणीता–

श्रीगीतार्थसुधा

योगाभ्यासस्य रीतिर्विरतिरतिशया संसृतेर्मोहजालाच्–
चातुर्विध्यं प्रतीतं सममतिरधिको योगिनां तत्र चोक्तः।
योगस्योत्कृष्टसिद्धिः परगतिफलिका श्रद्धया यः स युक्तो
योगिष्वेतेषु चेडयं भजति हरिमिति प्राह षष्ठे पदार्थान् ॥६॥

मम युक्ततमः श्रेष्ठतमो मतोऽभिमतः। अत्र योगिनामिति षष्ठी पञ्चम्यर्थे ज्ञेया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण जगद्विजयिना सर्वतंत्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायेन ब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण
विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्भवां दधच्च मालाममलो हि कण्ठतः।
सज्जन्मकर्माणि हरेरुदाहरेद् गुणाँश्च नामानि शुभप्रदानि ॥
धनुर्धरस्याशृणुयान्निरन्तरं कथां च गायेद् सुयशोऽङ्कितां मुहुः।
रूपं तदीयं तु चराचरात्मकं पश्यन् सतां सङ्गमुदारधीश्चरेत् ॥
चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गकः समीक्ष्य हृष्टश्च हरिप्रियानसौ।
तथाविधान् भक्तिपरः समर्चयेत् सुवैष्णवाञ्जन्मफलादि संस्तुवन् ॥

आनन्दभाष्यकार भगवान्श्रीरामानन्दाचार्यः।

नमो भगवते भाष्यकाराय श्रीरामानन्दाचार्याय ।
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यप्रधानशिष्यजगद्गुरुश्रीमदनन्ता-
नन्दाचार्यप्रणीतं

❀ श्रीयतीन्द्राष्टकम् ❀

नमो भगवते श्रीमत्सुशीलानन्ददायिने ।
राघवानन्दशिष्याय यतीन्द्राय नमो नमः ॥ १ ॥
नमो भगवते श्रीमत्सूनवे पुण्यसद्मनः ।
आचार्यसार्वभौमाय यतीन्द्राय नमो नमः ॥ २ ॥
नमो भगवते श्रीमद्रामानन्दाय धीमते ।
आनन्दभाष्यकाराय यतीन्द्राय नमो नमः ॥ ३ ॥
नमो भगवते श्रीमद्वैष्णवधर्मरक्षिणे ।
विजेत्रेऽनन्तसिद्धानां यतीन्द्राय नमो नमः ॥ ४ ॥
नमो भगवते श्रीमद्रामभक्तिप्रचारिणे ।
सम्प्रदायाब्धिचन्द्राय यतीन्द्राय नमो नमः ॥ ५ ॥
नमो भगवते श्रीमद्विशिष्टाद्वैतवादिने ।
वादिवारणसिंहाय यतीन्द्राय नमो नमः ॥ ६ ॥
नमो भगवते श्रीमद्रामाय गुणसिन्धवे ।
तीर्थराजेऽवतीर्णाय यतीन्द्राय नमो नमः ॥ ७ ॥
नमो भगवते श्रीमद्वेदतत्त्वार्थभाषिणे ।
निगमागमरक्षित्रे यतीन्द्राय नमो नमः ॥ ८ ॥

संशुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५	२	षोऽमस्तु	षोऽस्तु
५	५	इयश्च	इदश्च
१७	५	शुश्रषो	शुश्रूषो
२२	३	सौभद्रौ	सौभद्रो
१४१	१६	गूढार्थ	गुह्यार्थ
१६२	११	नास्तै	नास्तौ
१६२	११	ब्राह्म	ब्रह्मा
१९९	२०	गूढार्थ	गुह्यार्थ
३४५	१५	भूमिष्ठं स्थण्डिलस्थं	भूमौ स्थण्डिले

स्वामिश्री वैष्णवाचार्यवेदान्ततीर्थविरचितं

❧ परम्परावन्दनम् ❧

श्रीरामं वसुधात्मजामनिलजं वेधोवशिष्ठौ तथा
शक्तेः पुत्रमथो शुकेन सहितं व्यासश्च बोधायनम् ।
श्रीगङ्गाधरदेशिकं वरसदाचार्यं च रामेश्वरं
द्वारं देवयुतं श्रुतार्यसहितं श्यामं चिदानन्दकम् ॥ १ ॥
पूर्णानन्दयुतं श्रियार्यसहितं हर्यार्यवेदान्तिनं
त्रय्यन्तार्थविदं त्रिदण्डिषु मणिं श्रीराघवानन्दकम् ॥
आनन्दाख्यसुभाष्यरत्नरचकं रामं महायोगिनं
रामानन्दमुनिं यतिक्षितिपतिं वन्दामहे शाश्वतम् ॥ २ ॥

महामहोपाध्यायस्वामिश्रीरघुवराचार्यप्रणीता ग्रन्थाः—

१ तत्त्वप्रकाशिका (आनन्दभाष्यभूमिका संस्कृत)
२ वेदान्तसूत्रवृत्ति (आनन्दभाष्यानुसारिणी ,,)
३ पं. श्रीबालकृष्णाचार्य वेदान्तरत्नकृत भाषाटीका सहितं श्रीराममन्त्रस्य वैदिकत्वम् (संस्कृत)
४ श्रीरामानन्दसम्प्रदाय और वर्णव्यवस्था (हिन्दी)
५ श्रीसम्प्रदाय और अन्त्यजस्पर्श ,,
६ सेवासमीक्षा ,,
७ विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तसार ,,
८ साधुओं का कर्त्तव्य ,,
९ श्रीमद्भगवद्गीतार्थचन्द्रिका (संस्कृत)
१० धर्मसंग्रह (गुजराती)
११ संसृतिचक्र और तत्परिहारोपाय (हिन्दी)
१२ श्रीरामपद्धति की अर्थचन्द्रिकाटीका ,,

प्राप्तिस्थानम्—

महान्त स्वामी श्रीबालकृष्णाचार्य वेदान्तरत्न
वेदान्ताश्रम
सिद्धपुर (गुजरात)

श्रियः श्रियै नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता—

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ द्वितीयषट्कमारभ्यते

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

आ. भा.—श्रीमद्गीताशास्त्रस्य प्राधान्येन प्रतिपाद्यविषयः परमपुरुषार्थावाप्तिनिदानं महापुरुषस्वरूपं तदवाप्तिसाधनं परभक्त्यपरपर्यायोपासनमिति । एतद्द्वयमप्यनेन मध्यमषट्केन प्रतिपाद्यते । तत्रापीप्सिततमस्य भगवत्स्वरूपस्य साध्यतया तत्प्राप्तये साङ्गोपासनमेव प्राङ्निरूपणीयमिति फलति । एवं च प्रथमषट्केनास्यैवोपासनस्याङ्गभूते कर्मज्ञाने निरूपिते । अथाङ्गिनः प्राप्यस्वरूपोपायभूतस्य महापुरुषोपासनस्य निरूपणमवशिष्यते तदनेन सप्तमाऽध्या—

अ. टी.—परात्परब्रह्मश्रीरामप्राप्त्युपायात्मकोपासनाङ्गभूतकर्मानुष्ठानसाध्यप्रत्यगात्मदर्शनं प्रथमषट्केनाभिधाय मध्यमेनानेन षट्केन परमपुरुषभगवच्छ्रीरामस्वरूपं परभक्त्यपरपर्यायं तदुपासनं चाभिधीयेते मय्यासक्तेत्यादिना – हे पार्थ ! मदाश्रयोऽहमेवाश्रय

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

येनारभ्यते । तत्र पूर्वमनितिरसाधारणस्य जगदुदयविभव-लयलीलस्य नित्यनिर्दोषदिव्यकल्याणगुणाकरस्य भगवतस्व-रूपस्य कात्स्न्र्येन परिज्ञानोपपत्तयेऽर्जुनस्यावहितमनस्कतां चिकीर्षुः श्रीभगवानुवाच-मय्यासक्तेति । हे पार्थ ! इति पृथासम्बन्धद्योतनेन प्रीत्यतिशयः सूच्यते । मय्यासक्तमना मयि सर्वभूतशरण्ये जगदीश्वरे निबद्धं मनो यस्य स सर्वा-तिशायिनि मत्स्वरूपे निरतिशयप्रेमाबद्धहृदय इत्यर्थः । मदाश्रयोऽहमेवाश्रयो यस्य स मदेकजीवनाधार इत्यर्थः। योगं मयि मनोयोगं युञ्जन्नसंशयं समग्रं गुणवैभवादि-परिपूर्णं मां यथा येन ज्ञानप्रकारेण ज्ञास्यसि तज्ज्ञान-प्रकारं मयोदीर्यमाणमवहितमनास्त्वं शृणु ॥१॥

आ. भा. अहं ते मदेकचित्ताय तुभ्यं मत्स्वरूपगो-चरमिदं प्रतिज्ञातं ज्ञानं सविज्ञानं मच्छरीरतयावस्थितयो-

आधारो यस्य स तथाभूतः । मां विना स्वात्मधारणेऽसमर्थ इत्यर्थः । मयि सर्वेश्वर आसक्तं मनो यस्य स मय्यासक्तमना मच्चेतस्कः । योगं युञ्जन् विधातुं प्रवृत्तोऽसंशयं निसंशयं समग्रं गुणवैभवादिसमन्वितं मां योगविषयात्मकं मां सर्वेश्वरं यथा येन ज्ञास्यसि तत् तज्ज्ञानं श्रृणु ॥१॥

अ. टी.——संशयविपर्ययरहितं कात्स्न्र्येन यथाऽवगमिष्यसि तदाकर्णयेति पूर्वप्रतिज्ञातेऽर्थे श्रोतुरवहितमनस्कतां व्युत्पादयन्

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

श्चिदचितोर्विवेकसहितमशेषतः कात्स्न्र्येन वक्ष्यामि । यज्ज्ञा-त्वा यज्ज्ञानं सम्यगभ्यस्येह मत्स्वरूपविषये पुनरन्यत् किमपि श्रेयःसाधनसमर्थं ज्ञेयं नावशिष्यते ॥२॥

आ. भा. प्रतिज्ञातस्य ज्ञानस्य दौर्लभ्यमभिधत्ते मनुष्याणामिति । मनुष्याणां निःश्रेयसार्थिनां सहस्रेषु, असंख्यातेषु मध्ये सहस्रशब्दोत्रासंख्यातवाची कश्चिदेकः

वक्ष्यमाणज्ञानमेवाशेषज्ञेयविषयकत्वकथनमुखेन स्तौति–ज्ञानमिति । अहं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः सर्वज्ञादिगुणकस्ते निरतिशय-मत्प्रियाय तुभ्यमिदं प्रतिज्ञातं ज्ञानं सविज्ञानं मदपृथक्सिद्धयो-र्मन्नियाम्यभूतयोश्चिदचितोर्धर्मस्वरूपपरिज्ञानेन सहितमशेषतः साक-ल्येन सोपपत्तिकं वक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा यज्ज्ञानं समभ्यस्येह मत्स्वरूपविषये भूयः पुनरन्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यते । वक्ष्यमाण-ज्ञानस्य महापुरुषस्वरूपगुणविभूतिज्ञानत्वेन ज्ञातव्यसर्वविषयक-त्वादतिरिक्तं ज्ञातव्यं नैवावशिष्यत इत्यर्थः ॥२॥

अ. टी.——प्रतिज्ञाते चिदचिदीश्वररूपगोचरज्ञाने शुश्रूषोरभि-रुचिमुत्पादयितुं तस्य दौर्लभ्यमुच्यते मनुष्याणामिति । मनु-ष्याणां स्वकीयानेकजन्मार्जितपुण्यदेहभाजां देवमनुष्यादीनां न तु कृमिकीटपतङ्गादीनामित्यर्थः । सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेकः सिद्धये

सुकृतशतशाली सिद्धिर्मत्स्वरूपयाथात्म्यावगमसाधनरूपा तस्यै यतते मद्भजनादिरूपं यत्नमातनोति । न हि सुकृतातिरेकमन्तरेण यस्य कस्यापि मत्स्वरूपगुणवैभव-परिज्ञानैकसाधने भगवद्भजने प्रवृत्तिरूपजायते इतिभावः । सिद्धानां तादृशसिद्धिभाजां यततां महापुरुषाराधनमनुतिष्ठता-मपि सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेको मत्कृपाकटाक्षावेक्षितस्तत्वतो मां स्वरूपगुणविभूतिमहिमातिशयवैशिष्ट्येन विशिष्टस्वरूपं वेत्ति न हि प्रयतमानाः सर्वेपि यथावन्मां जानन्ति शनैरूपचितानुध्यानयोगास्तु जानन्त्यपीति भावः ॥३॥

यतते । मूले परस्मैपदप्रयोग आर्षः । महापुरुषब्रह्माधिगमसाधन-साधने प्रवर्तत इत्यर्थः । असंख्यातेष्वपि श्रायससुखैकलिप्सा-ऽऽकुलितान्तःकरणः कश्चिदेको धीरो महापुरुषपरिचर्याप्रयत्न-परायणो भवतीति समुदितार्थः । अर्थौचित्यादपेरत्र भिन्नक्रमः । सिद्धानां सम्प्राप्तपरमपुरुषपरिचर्याख्यसिद्धिमतामपि यततां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेको मदीयदयोदितानुध्यानविधूतहार्दान्धतमसस्तत्वतो याथातथ्येन मां स्वनियाम्ययोश्चिदचितोर्नियन्तृत्वेनाखिलहेयप्रत्यनीक-कल्याणगुणसागरं वेत्ति । एवमनेन संसाराकूपारपतितानां जन्तूनां भगवत्स्वरूपविषयकस्य तात्विकज्ञानस्यातिदौर्लभ्यमुक्तम्भवतीति भावः । यत्त्वत्र केशवकाश्मीरप्रभृतयः ' मनुष्यसहस्रेषु कश्चिदेकः सिद्धये यतते । यततां सहस्रेषु कश्चिदात्मानं वेत्ति तादृशानां सहस्रेषु कश्चिन्मां परमात्मानं वेत्ति, तद्विदामपि सहस्रेषु कश्चिदेव मां तत्वतो वेत्ति, इत्येवं

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

आ. भा. प्रतिज्ञातमर्थमाह–भूमिरिति । भूम्यादि-शब्दानां स्थूलसूक्ष्मभूतपरत्वं मनसोन्तर्बाह्यकरणपरत्वं ।

चतस्रः कक्षा आत्ममद्विदादिपदान्यध्याहृत्य, मामिति वेत्तीत्यादिप-दान्यावृत्य चोदाजहुस्तद्गीताचार्याशयविरुद्धत्वाद्धेयम् । न हि भगवद्वाक्यं विभज्य स्वकपोलकल्पितानि पदानि निक्षप्य कक्षान-न्त्यसाधनेऽस्ति कश्चिद्विशेष ऋते निष्प्रमाणकथनात् । यत्त्वन्ये-' मद्विदां सहस्रेषु कश्चिदेव तत्वतो यथावस्थितं मां वेत्ति, न कश्चिदित्यभिप्राय इत्याहुर्यच्च तट्टीकाकृतः कश्चिन्मां वेत्ति, इत्यत्र कश्चिद्वेत्येवेतिविवक्षा चात्र निरर्थका दौर्लभ्यवचनविरुद्धा चेत्यादि तदवतरणमाहुस्तदतिरभसात् । विधिमुखेनोक्तस्य भगवद्वाक्यस्य निषेधे तात्पर्याऽसम्भवात् ॥३॥

अ. टी.— एवं श्लोकत्रयेण श्रोतृप्रवृत्तिं प्रसाध्य ' ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः, इति प्रतिज्ञातं विज्ञानपद-वाच्यस्वरूपोपादानपूर्वकं ज्ञानमुपदिशति–भूमिरिति । भूम्यादि-पञ्चशब्दाः सूक्ष्मस्थूलभूतप्रतिपादनपराः । मनःपदमेकादशेन्द्रियो-पलक्षकम् । बुद्धिशब्दश्च कार्यकारणयोरव्यक्तमहत्तत्त्वयोपलक्षकम् । अहंकार इति स्वरूपनिर्देशस्तथा च ' महाभूतान्यहंकारो बुद्धि-रव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचरा इति

बुद्धिशब्देन चाव्यक्तमहत्तत्वयोर्ग्रहणम् । अहंकारश्च इतीयं मे ममाश्रया प्रकृतिरष्टधा भिन्ना मच्छरीरतयावस्थितेयमेकैव-प्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्वात्मिका ह्यष्टभिर्भेदैरभिधीयते ॥४॥

स्वयमन्यत्र परिगणितानि प्रकृतितत्परिणामस्वरूपाणि चतुर्विंशतित--त्वानि संगृह्यात्राष्टधा व्यपदिश्यन्ते । तथा हि–स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन प्रत्यक्षसिद्धानि भूम्यादयः पञ्च तत्वानि, सर्वेन्द्रियाणां प्रेरकत्वा न्निर्वाहकत्वाद् व्यापकत्वाच्च मन इत्यकेमेव तत्त्वम् । बुद्धिरित्य-व्यक्तमहत्तत्त्वयोरव्यवहितपौर्वापर्य्येणावस्थितयोरेकं तत्त्वं निगद्यते । सात्विकराजसतामसभेदभिन्नोऽप्यहमिति वृत्तिविषयतयैकमित्यष्टधा व्यपदेशः । इतीयं मे प्रकृतिर्मदाश्रया मच्छरीरभूता प्रकृतिपद-व्ययदेश्याऽष्टप्रकारेण भिन्नाऽष्टभेदयुक्ता वर्तते । एतेन भूम्यादि पञ्चशब्दैस्तत्कारणभूतानि गन्धादिपञ्चतन्मात्राणि गृह्यन्ते न स्थूल-भूतानि तेषां विकारत्वेन प्रकृतित्वाभावात्, इत्यादिकेशवकाश्मीरादि-व्याख्यानं प्रत्युक्तम् । प्रकृतिपदेनात्र विकृतिप्रतियोगितया सांख्यतन्त्रसिद्धायाः कस्याश्चित्प्रकृतेरनभिधानात् । स्वकंठरवेणोक्तानां भूमिराप इत्याद्यर्थानामपलापात् । मनः पदोपादानस्य च वैयर्थ्यात् । अजहत्स्वार्थलक्षणापेक्षया जहत्स्वार्थलक्षणाया जघन्यत्वाच्च । मन्मते त्वजहत्स्वार्थलक्षणैव सर्वत्र विद्यते । एवं सति ' एतद्योनीनि भूतानीत्युत्तरग्रन्थोक्तिरपि संगच्छते । न च ' भिन्ना प्रकृति-रष्टधा, इति कथनं विरुध्यते इति वाच्यम्, प्रोदीरितार्थ एवैत-त्कथनस्य सामञ्जस्यात् । अन्यथा मूलप्रकृतेरेकस्या ग्रहणेनैव सिद्धौ बुद्ध्यादीनां ग्रहणमनर्थकं स्यात् । इन्द्रियस्थूलभूतानाम-

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

आ.भा.—एवं सविज्ञानपदार्थविचारे प्रस्तुते प्रागपर-प्रकृतेर्भोग्यभूतायाः स्वरूपभेदौ निर्दिश्याथभोक्तृत्वेन तदध्य-क्षायाः परायाः स्वरूपमाह–अपरेति । इयमुपदिष्टाष्टविधा

नभिधानेन न्यूनत्वदोषस्यानिवार्यत्वात् । न चात्र सर्वविकाराणां प्रकृतय एवोपदिश्यन्त इति वाच्यं तथा सति मनोग्रहणस्य वैयर्थ्यात् । न हि मनसः कस्यापि प्रकृतित्वम् । केचित्त्वत्र स्थूलपञ्चभूतानां व्यष्टिसृष्ट्यपेक्षया मन आदीनाञ्च समष्टिसृष्ट्य-पेक्षया प्रकृतित्वमित्याहुस्तन्मदम् । उभयथाऽपि तन्मात्राणामनुपादानात् । ' एतद्योनीनि भूतानि, इत्युत्तरश्लोके सर्वजगत एतत्प्रभवत्वेनाव-सीयमानत्वे सर्वजगदन्तर्भूतानां तन्मात्राणामेतत्पदवाच्यप्रकृति-प्रभवत्वाभावेन तेषामाकस्मिकत्वप्रसक्तेः ॥४॥

अ. टी.—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिति प्रतिज्ञातज्ञान-पदार्थबुभुत्सया ' भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत, (श्वे. १।) इति श्रुतिनिर्दिष्टदिशा भोक्तृभोग्ययोः स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः समारब्धसविज्ञानघटकविज्ञानपदार्थविवेचने भोग्यभूतायाः शरीराद्याकारेण परिणतायाः अचेतनात्मिकाया आदाव-परप्रकृतेः स्वरूपमभिधायेदानीं चेतनात्मकत्वेन तदधिष्ठातृतयाऽव-स्थिताया जीवभूतायाः प्रकृतेः स्वरूपमभिधत्ते---अपरेति । इयं स्वरूपप्रकारभेदपूर्वकमुपदिष्टा प्रकृतिरपरा भोग्यतयाऽचेतनतया च

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

प्रकृतिरपरा भोग्यभूतत्वादनुत्कृष्टा । तुना ह्यस्या विजातीयत्व-मुच्यते। इतोऽस्याः प्रकृतेः सकाशादन्यां जीवभूतां जीवरूपां मे सर्वेश्वरस्य मम परामुत्तमां प्रकृतिं विद्धि । ययेदं जगत् स्थावरजंगमात्मकं सर्वं धार्यते ॥ ५ ॥

आ.भा.—अथ स्वस्य समस्तचिदचिज्जातजगतत्कारण-त्वमभिदधात्येतदित्यादिना सर्वाणि । स्तम्बपर्यन्तानि चतुर्मुख-निर्दिश्यमानाया अस्याः प्रकृतेरनुत्तमा । इतस्त्वन्यां तुशब्दो-दीर्यमाणायाः परप्रकृतेर्विजातीयत्वद्योतनपरः । अपरप्रकृतेरत्यन्त-विलक्षणां जीवभूतां जीवपदाभिलप्यां मे सर्वनियतुरीश्वरस्य परा-मुत्तमां मच्छरीरस्थानीयां प्रकृतिं विद्धि । ययाऽनया इदम्परि-दृश्यमानं नामरूपविभागार्हं सर्वं जगदन्तरवस्थाय 'अनेन जीवे-नाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी, (६।३।२) इत्यादि-श्रुत्युक्तरीत्या धार्यते ॥५॥

अ.टी.—एवं भगवन्नियाम्यतयाऽवस्थितयोर्भगवच्छरीर-भूतयोश्चिदचितोः स्वरूपमुपवर्ण्य तयोर्जगद्योनित्वप्रतिपादनमुखेन स्वस्यैवाऽखिलजगत्कारणत्वमभिधत्त एतद्योनीनीति । सर्वाणि चरा-चरात्मकानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तानि भूतोन्येतद्योनीनि मदीय-चेतनाचेतनात्मकपराऽपरप्रकृतिकारणकानीत्युपधारय निश्चिनुहि । मच्छरीरभूताभ्यामुभाभ्यां पराऽपरप्रकृतिभ्यामस्य विश्वस्य जाय-

प्रभृतीन्यखिलानि भूतान्येतत् परापरात्मकप्रकृतिद्वयं योन्यु-पादानं येषां तान्येतद्योनीनीत्यनेन प्रकारेणोपधारय विद्धि । "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् कृत्स्नस्य समस्तस्य मदीयपरापरात्मकप्रकृतिद्वयकारणकस्य जगतोऽहं सर्वेश्वरः प्रभवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिकारणं तथा प्रलीयतेऽस्मिन्निति प्रलयो लयकारणं चास्मीति शेषः ॥ ६ ।

मानत्वात्तयोश्च मदपृथक्स्थितिप्रवृत्तिकत्वेन मत्स्वरूपत्वान्मत्कारण-कमेवेदं स्थावरजङ्गमात्मकं विश्वमित्युच्यते—अहमिति । तथा चेति शेषः । प्रकृतिपुरुषयोर्मत्स्वरूपरूपयोर्जगत्कारणत्वेनाऽहमेवास्य कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रभत्यस्मादित्युत्पत्तिस्थानमुच्यते । प्रलयः प्रलीय-तेऽस्मिन्निति प्रलयस्थानम् । विविधाकारेण परिणतमिदं स्थूल-सूक्ष्मरूपं जगन्मत्त एवोत्पद्यते मय्येव च लीयते इत्युपधारय तत्येव निश्चयं कुर्वित्यर्थः । निर्णीतश्चायमर्थः श्रुतिस्मृतिषु । तथा हि यस्याव्यक्तं शरीरम् (सुबा०) यस्य पृथिवी शरीरम्, (बृ ३।८।३) 'यस्य विज्ञानं शरीरम्' (बृ३ ।८ २२) 'जग-त्सर्वं शरीरन्ते' (वा.रा.यु.) 'सरित्समुद्राश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः' (भाग.) इत्याद्यास्ताः प्रकृतिपुरुषयोर्महापुरु-षस्य शरीरत्वमुपदिशन्ति । 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे.४।९) 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त, । 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः । इत्याद्याश्च तस्यैव महापुरु-

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

आ.भा.—यस्मादेवं तस्माद् हे धनञ्जय ! परिदृश्यमानविश्वबीजयोश्चेतनाऽचेतनयोरपि कारणत्वेन तत्स्वा-षस्य जगद्योनित्वमुपदिशन्ति । एवञ्चात्राखिलजगतः प्रभोरेव प्रभवप्रलयत्वेन व्यवदिष्टत्वात्प्रकृतिपुरुषयोरपि महापुरुषयोनित्वमवसीयते । तदुक्तं सुबालश्रुतौ 'महानव्यक्ते विलीयते अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरम् तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति, (सुबा.) पुराणरत्नेऽपि–विष्णोः स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र, (वि.पु. १-२-२४) प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताऽव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाऽप्युभावेत लीयेते परमात्मानि । परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः । विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते' (वि.पु. ६।४।३१ । एवमितिहासरत्नेऽपि 'सेनानीर्ग्रामणीः सर्वं त्वं बुद्धिस्त्वम् क्षमा दमः प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः, (वा.पु.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु स्पष्टीकृतश्चायमर्थः । सुबालश्रुतौ–'महानव्यक्ते विलीयते, इति प्रकृतिपुरुषयोः परमपुरुषे विलयो न स्वरूपैक्यलक्षणोऽपि तु पयःपाथसोरिव स्वरूपपार्थक्ये विद्यमानेऽपि विश्लेषाऽक्षमविलक्षणसंयोग एवेत्यनेकप्रमाणानुरोधादवसीयते । तेन चिदचिदीश्वरतत्वानां स्वरूपभेदेऽपि सर्वदाऽपृथक्सिद्धावस्थितिरिति सिद्धान्तः फलति ॥६॥

अ.टी.— पूर्वश्लोके परमेश्वराधीनाः जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलया भवन्तीत्यभिहितेऽप्यद्वितीयः सम्राडिवास्मादपि कश्चिन्नियामकः

मित्वेन चाहं स्वतंत्रः शेषी परतरस्तथा दिव्यकल्याणगुणगणाश्रयत्वेनाप्यहमेव परतरः । मत्तः परतरमन्यत्किञ्चिदपि नास्ति । इदं सर्वं कार्यकारणरूपेणावस्थितं

स्यादुत्पत्त्यादिकार्यशक्तिमत्परपुरुषप्रेरकः परतरः स्यादि इतीमां शंकामपाकरोति मत्त इति । हे धनञ्जय ! यस्माच्चिदचिच्छरीरतयाऽखिलजगद्योनित्वं मय्येवास्ति, अहमेव च निखिलजगत्कारणत्वेन व्यपदिष्टयोश्चिदचितोरपि नियामकस्तदुत्पत्तिस्थितिनियामकस्तस्मान्मत्तः परतरमत्युत्कृष्टं नित्यज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोविशिष्टगुणवत्त्वेन किञ्चिदप्यन्यत्तत्त्वं नास्ति । सर्वेभ्यो नियन्तृत्वेन शेषित्वेन च स्वतन्त्रः परतरोऽहमेवास्मीत्यर्थः । तथा चाहुः श्रुतिस्मृतयः । 'स कारणम् करणाधिपाधिपः' (श्वे.६।९) न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते' (श्वे. ६।८) 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, (बृ.४।४।२२) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, (श्वे.६।१६) 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्, पद्मपुराणेऽपि 'त्वमादिपुरुषः साक्षात् परंब्रह्म परोऽव्ययः त्वमनन्तो महाविष्णुर्वासुदेवः परात्परः, (पाद्म) इत्याद्याः । सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तमिदं कार्यकारणोभयावस्थं मच्छरीरतया निर्देश्यं जगत्सूत्रे मणिगणा इवान्तर्यामिरूपेण सर्वदाऽवस्थिते मयि प्रोतम् मामन्तर्यामिणं व्याप्याऽवस्थितम् । इयमात्मशरीरतयाऽवस्थितिश्च 'यस्य पृथिवी शरीरम्, 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृ.) जगत्सर्वं शरीरन्ते स्थैर्यते वसुधातलम्, (वा.रा.यु.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु स्पष्टमेवोपवर्णिता ।

मच्छरीरभूतं जगत् सूत्र एकस्मिन्नेव तन्तौ मणिगणा इव निखिलाधारे मयि प्रोतमुपनिबद्धम् । आत्मतयाऽहमाधारः शरीरतया च जगत्कार्यमिति भावः ॥ ७ ॥

न चैवं भगवतः सर्वोपादानत्वे विकारित्वदोषापत्तौ निर्विकारत्वाभिधायिनीनां श्रुतीनां व्याकोप इति वाच्यम्, विलक्षणाश्रयाश्रयिभावोपगमे प्रोक्तदोषानवकाशात् यथा शरीरन्तरवस्थितं जीवं शरीरेन्द्रियगतखर्वदीर्घान्धबधिरत्वादयो दोषा न स्पृशन्ति नैवैवमन्तर्बहिर्विलक्षणाधारतयावस्थितं परमात्मानमपि तदाश्रयिणोश्चिदचितोर्दोषा इति सर्वशक्तिसमन्वितो महापुरुषो नित्यनिरवद्यादोषगन्धो दिव्यकल्याणगुणगणार्णव एवावतिष्टते । प्रतिपादयतश्चेममर्थं पारमर्षे सूत्रे 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि, (ब्र. सू. ३।२।११) 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि. (ब्र.सू.३।१२९) इत्याभ्यां सूत्राभ्यामुभयलिंगत्ववैशिष्टयं स्पष्टमुपपाद्यते । एवं सर्वशक्तियोगोऽप्यस्य ' पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते स्वाभाविको ज्ञानबलक्रिया च, (श्वे.) यथा भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहोऽनादिरनन्तो देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नस्तद्वदेव स्वेच्छया सर्वारम्भसामर्थ्यमपिशाश्वतिकमेव विद्यतेतःश्रुतौ स्वाभाविकोत्युच्यते । नहि कस्यचित्स्वभावः कादाचित्को दृष्टचरस्तदाःहु सूत्रकृतः 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात् , (२।१।३१) इति । एतेन कृत्स्नप्रसक्त्यादयो दोषा अपि परिहृता भवन्ति । परिमितशक्तिमतो जीवस्यैव तथाऽऽशंका सम्भवेन्नत्वपरिमितशक्तिमति महापुरुष इत्येतत्सर्वमत्र सूत्रदृष्टान्तेन 'मयि प्रोत, मिति सहेतुकपदोपन्या-

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

आ.भा.—एवं चिदचित्प्रपञ्चस्य शरीरभूतस्य सर्वस्य महापुरुषात्मकत्वमभिधाय सूत्रोपनिबद्धमणिगणवच्चिदचित्परिणामरूपं जगदेतत्कथं भगवदायत्तस्थितिप्रवृत्तिक-

सेन च संगृहीतम्भवतीति सम्प्रदायरहस्यवेदिनः । अत्र धनञ्जय इति सम्बोधनेनोत्तरगोग्रहे दिग्विजये च भीष्मप्रभृति राज्ञो खिलीकृत्य प्रचुरवस्त्रानयनकर्तुस्तवैतादृशे कर्मणि यथा परतरत्वं तथा ममापि जगत्सर्गादिकार्ये परतरत्वमस्तीति ज्ञाप्यते ॥७॥

अ. टी. — एवमखिलस्थावरजङ्गमस्य परमात्मनः शरीरतया शरीरवाचकानां शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानमितिन्यायेनात्मशरीरभावेन च सामानाधिकरण्यान्महापुरुष एव सर्वप्रकार इत्युक्तमिदानीं सर्वात्मतया वर्तमानस्य तस्यैव प्राधान्येन सर्वत्रावस्थानं सामानाधिकरण्येन प्रदर्शयति—रस इत्यादिभिश्चतुर्भिः । हे कौन्तेय ! रसाश्रयासु परमात्मशरीरभूतास्वप्सु प्रकारित्वेन रसादिशब्दार्थसामानाधिकरण्याद्रसोऽहमेव । अप्स्विति स्थूलद्रव्योपादा तत्रोत्कृष्टरसस्यैव प्राधान्येन तद्रसरूपात्मकोऽहमप्प्रकारितयाऽवस्थित इत्यावेदयितुम् । सर्वद्रव्यात्मकशरीराणामाधारभूतः परमात्मा तत्र तत्र स्थूलद्रव्याधारशब्दादितन्मात्रतया व्याप्त एव । अस्मिन्नर्थे च 'काठिन्येन यो विभर्त्ति जगदेतदशेषतः । शब्दादिसंश्रयो व्यापी तस्मै भूम्यात्मने नमः (वि. पु. १।१४।२८) इति पाराशर्य

मित्येतत्प्रतिपादयितुं प्रधानस्थलान्यभिधत्ते रस इत्यादि चतुर्भिः । हे कौन्तेय ! मच्छरीरभूताद्द्रव्यप्रकारत्वेन मम च प्रकारित्वात्सामानाधिकरण्येन रसस्यापि प्रकारित्वविधया सत्वादप्सु रसोऽहमस्मि रसस्यैवाप्स्थितिप्रवृत्त्योर्नियामकत्वाद्रसशरीकोऽहमेवेत्यर्थः । एमवग्रेतनेष्वपि योज्यम् । शशिसूर्ययोः प्रभाऽहमस्मि प्रभाद्वारैव च चन्द्रप्रभाकरयोर्लोकोपयोगित्वात्तस्याः प्राधान्यमिति तद्रूपेणाऽहमेवाव-

वचः प्रमाणम् । अप्सु स्पर्शरूपरसानामविशेषेण विद्यमानत्वेऽपि रसोऽहमिति रसरूपत्वोक्तिस्त्वपां रसतन्मात्राया एव प्राधान्यात् स्पर्शरूपयोस्तु पयःपरिणतिप्रयोजकानिलानलयोरपि विद्यमानत्वात् । नचवं रसस्यापि रसवत्यामुपलम्भात्सलिल एव कथं रसस्य प्राधान्यमिति वाच्यम्, तस्य प्राधान्येनाम्मात्रगुणत्वात् । तदाहुः पराशरमहर्षयः— 'ज्योतिश्चापि विकुर्वाणं रसमात्रं ससर्ज ह । सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि च, (वि. पु. १।२।४१) एवं तत्वान्तरगुणवद्रसगन्धतन्मात्रयोरप्यम्मेदिनोर्द्रव्यप्रधानगुणत्वेन व्यपदेशस्तैरेवाभिहितः ।

'आपो ग्रसन्ति व पूर्वं भूमेर्गन्धात्मकं गुणम् ।
आत्तगन्धा ततो भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते (वि.पु.६।४।१४)
प्रणष्टे गन्धतन्मात्रे भवत्युर्वीजलात्मिका ।
आपस्तदा प्रवृद्धास्तु वेगवत्यो महास्वनः ॥१५॥
अपामपि गुणो यस्तु ज्योतिषा पीयते तु सः ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

स्थित इति भावः । प्रणवमूलकत्वाद्वेदानां सर्ववेदेषु प्रणवोऽहमेव शब्दोपबृंहकत्वात्तदाश्रयत्वाच्चाकाशस्य शब्दोऽहमेव पुरुषेषु च पौरुषं सर्वारम्भसामर्थ्यमहमेवास्मि ॥८॥

आ.भा.—पृथिव्यां सारभूतः पुण्यो गन्धः पवित्रकारी तुलसीचन्दनादिगन्धोऽहम् । विभावसावग्नौ तद्धारिका

नश्यन्त्यापस्ततस्ताश्च रसतन्मात्रसंक्षयात् ॥१६॥ इति

एवञ्च यथा रसगन्धाधीनत्वमम्भोधरयोर्विद्यते तथाग्निमोदीर्यमाणप्रभादिष्वपि तदाश्रितद्रव्यप्राधान्यमवगन्तव्यम् । शशिसूर्ययोश्चन्द्रभास्करयोस्तत्प्रधानभूतप्रभैव मत्स्वरूपम् । सर्ववेदेषु प्रणवस्योंकारस्य प्राधान्यमतः प्रणवोऽहमेव । खे नभसि शब्दतन्मात्रायाः प्राधान्यात्तदाश्रयः शब्दोऽहम् । नृषु पौरुषं कारकचक्रनियोजनसामर्थ्यमुद्रिक्तसत्वापरपर्यायः । पुरुषप्रवर्तकत्वमितियावत् । सत्वोत्कर्षेण पुरुषेऽखिलकार्यारम्भोत्साहः समुज्जृम्भते । ततो हि सर्वोऽपि पुरुषो हेयोपादेयेषु प्रवर्तते । एवञ्च प्रवृत्तिजनक पौरुषमेव प्रधानमतस्तदेवाहमित्यर्थः ॥८॥

अ. टी.——पृथिव्यां पृथिवीरूपशरीरभूते द्रव्ये पुण्यो गन्धस्तुलसीचन्दनादिष्वनुभूयमानः सुरभिगन्धोऽहम् । विभावसौ वह्नौ दहनप्रकाशनसामर्थ्यमहमस्मि । सर्वभूतेषु जीवनं प्राणनशक्तिः शरीरधारणसामर्थ्यमिति यावत् । तदहम् । तपस्विषु व्रतोपवासपञ्चाग्निसेवना–

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०

दाहकत्वशक्तिरहं सर्वभूतेषु शरीरधारिषु ब्रह्मादिपिपी-लिकान्तेष्वहमेव प्राणनशक्तिलक्षणजीवनाधारस्तपोऽनुष्ठातृषु व्रतोपवासादिरूपतपोधर्मोऽप्यहमेव ॥ ९ ॥

आ.भा.—हे पार्थ ! सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानां सनातनं बीजमुपादानकारणं मां विजानीहि । बुद्धिमतां ज्ञान-जुषामध्यवसायोऽहम् । तेजस्विनाम्प्रतापवतां तेजः पराभि-भवसामर्थ्यमहमेवास्मि ॥ १० ॥

दिरूपं तपस्तत्परायणेषु तदाधाररूपञ्च तप एवास्मि । तपोधर्म-परायणेषु तत्र एव तज्जीवनधारकमतस्तपोधर्मस्यैव प्राधान्यमिति भावः ॥९॥

अ. टी.—हे पार्थ ! सर्वभूतानां जगदन्तर्वर्तिनां चराच-राणां सनातनं नित्यं प्राधान्येन वर्तमानं बीजमुपादानकारणं मामेव विद्धि । केचिदत्र बीजशब्देनाव्याकृताख्यं तत्वमाहुरन्ये च प्रकृतितत्वं तदुभयमसङ्गतं प्रकरणविरुद्धत्वात्प्रकरणं चेदं प्रधान-धर्मनिर्देशस्य । बुद्धिमतां बुद्धिरध्यवसायात्मिका प्रज्ञाहमस्मि । तेज-स्विनां प्रतापशीलानान्तेजः पराभिभवसामर्थ्याख्यं प्रागल्भ्य-महमस्मि ॥१०॥

बलं बलवतामस्मि काम्यरागविवर्जितम् ।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

आ०भा०—हे भरतर्षभ ! बलवतां शक्त्युत्साहसमन्वितानां बलस्य प्राधान्याद् बलं देहधारणसामर्थ्यं न तु परापकारजननहे-तुकं बलमत्र ग्राह्यं तस्याधर्मजनकत्वेन निषिद्धत्वात् । अत एव काम्यरागविवर्जितमिति तद्विशेषणं संगच्छते । काम्येषु विषयेषु रागस्तद्रहितं स्वशरीररक्षणमात्रोपयोगि सामर्थ्यमहमस्मि । भूतेषु मनुष्येषु धर्माविरुद्धो मन्वादिधर्मशास्त्रानुमोदितो भोग्यभूतभा-र्याभूतिभवनादिषु कामोस्मि ॥११॥

आ०भा० प्रोक्तमर्थं सर्वभावेषु निर्दिशन् प्रकृतमुपसंहरति-य इति । ये चोक्तादन्ये सात्विका भावा हर्षानन्दादयो राज-

हे भरतर्षभ ! बलवतां शरीरसंहननशक्तिमतां काम्यरागविवर्जितं काम्येष्वभिलष्यमाणवस्तुषु समर्दे प्रीतिकरं न जात्वपहीयतामित्यभि-निवेशात्मा यो रागस्तद्रहितं बलं करणकलेवरेषु स्वधर्मानुष्ठानसा-मर्थ्यञ्चाहं जगद्धितानुशासनप्रवृत्ताम्नायप्रतिपादितेन धर्म्मेणाविरुद्धो भूतेषु पुरुषार्थसाधनाधिकारिषु प्राणिषु कामस्तथाविधधर्मानुमोदितो भोग्याभिलाषोऽहमस्मि ॥११॥

एवं सर्वचिदचिच्छरीरकस्य परमात्मनोऽबादिषु प्रधानभूतरसा-दिसामानाधिकरण्येन प्रकारतयाऽवस्थितस्य तत्तन्नियामकत्वं तदा-यत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वमुक्तमिदानीं सर्वभावेष्वविशेषेण तमेवार्थं दृढयन् प्राकरणिकमर्थमुपसंहरते—य इति । किम्बहुनोक्तेन ये च सात्विका

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

सास्तृष्णालोभादयस्तामसाः शोकमोहादयो यद्वा सात्विका देवादयो राजसा मनुष्यादयस्तामसाः सरीसृपादयो भावास्तान्मत्त एव सम्भूतान् विद्धि विजानीहि। तेष्वहं न तदधीनतया वर्तेऽपि तु ते मयि मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकाः सन्ति। अहन्तु सर्वथा स्वतन्त्रः स्वेच्छयैव यथा सुखमवतिष्ठे। यथाहमेतेषां नियामकस्तथा मन्नियामकोऽन्यः कश्चिदपि नास्तीति भावः ॥१२॥

आ० भा० – एवं जगति सर्वभावेषु सर्वावस्थाऽवस्थितः परमात्मा स्वांशभूताखिलस्थावरजङ्गमस्य नियामकः सर्वशेषी स्वतन्त्रो वरीवर्तीत्युक्तमिदानीं गुणप्रभावमोहितो जीवनिकायः स्वपरस्वरूपज्ञानेन वञ्चितो भवतीत्युच्यते–त्रिभिरिति। एभिः सत्वप्रधाना भावा हर्षादयो राजसा रजःप्रधानास्तृष्णादयो भावास्तामसास्तमोगुणप्रधाना मोहादयो भावा यद्वा सात्विकराजसतामसाः क्रमेण देवमनुष्यतिर्यगादयश्च ये भावास्तान् मत्त एव समुद्भूतान् विद्धि। ते हि भावा मदाश्रयतया मदधीनस्थितिप्रवृत्तितया च मय्येवावस्थिता न त्वहं स्वतन्त्रो जातु तेषु तत्परतन्त्रो भवामि ॥१२॥

एवं गतेन प्रकरणेन नित्यनिरवद्यदिव्यकल्याणगुणाश्रयत्वेन सर्वाधारत्वेन शरीरभूतयोश्चिदचितोर्नियामकत्वेन सर्वस्मात् परतरः परमात्मेत्युपपादितमतः परं प्रसङ्गात् सार्धश्लोकेन परात्परस्यास्य भगवत्स्व-

पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्गुणमयैः सुखदुःखमोहात्मना परिणतैः सात्विकराजसतामसाख्यैर्भावैः सर्वमिदं प्राणिसमूहात्मकं जगत् मोहितं स्वपरस्वरूपयाथात्म्यावगमात् प्रच्याव्य विपरीतार्थग्राहितां नीतमेभ्यो गुणमयेभ्यः सत्विकादिभावेभ्यः परमप्राकृतदिव्यकल्याणगुणैकनिलयं प्राकृतगुणाधिकारान्तःपातिब्रह्मरुद्रेन्द्रमरु–रूपस्यानवगमहेतुभूतं प्रतिबन्धकमुपन्यस्य द्वितीयोत्तरार्धेन तन्निरसनोपायं महापुरुषप्रपदनमभिधीयते–त्रिभिरिति द्वाभ्याम्। एभिः प्राङ्निर्दिष्टैर्गुणमयैः 'मयड्वैतयोर्भाषायाम्' (पा. सू.) इति विकारे मयट्। तथा च तादात्म्यार्थोऽयं मयडिति राघवेन्द्रोक्तमयुक्तं। गुणमयैर्भावैरिति सामानाधिकरण्यविरोधात् तादात्म्ये मयटोऽनभिधानाच्च। त्रिभिर्भावैः सुखदुःखमोहोत्पादकैः सात्विकराजसतामसाख्यैरिदं सर्वं चेतनजातं जगत्। यद्यप्यन्यत्र जड़चेतनत्वं जगच्छब्दशक्यतावच्छेदकं तथाप्यत्र मोहितपदार्थतावच्छेदके मोहेऽनन्वयप्रसङ्गाच्चेतनत्वमेव लक्षणया प्रत्याय्यते। तथा च देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मकं जगन्मोहितं जगच्छरीरकस्य महापुरुषस्य यथार्थपरिज्ञानात् प्रच्याव्य विवेकवैधुर्यं नीतम्। तदुक्तं विष्णुपुराणे-'ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्या पशवस्तथा। विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः ॥ (५।३०।१७) एतदेवोक्तं वाराहेपि –'प्रजापतिश्च रुद्रश्च सृजामि च वहामि च। तेऽपि मायां न जानन्ति मम मायाविमोहिताः ॥ (वा.पु.१२५।५०) इति। अत एभ्यस्त्रिगुणसम्भूतेभ्यः प्राकृतसात्विकादिभावेभ्यः परं 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' इत्यादि श्रुतिभिरुपदिश्यमानस्वरूपं सकलेतरविसजातीयं निरस्तसमस्तप्राकृताकारं दिव्या-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

द्रणादिसेव्यचरणमव्ययमपक्षयविनाशरहितं नित्यानन्दस्वरूपं मां सर्वेषां नियामकं निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोराशिं 'आदित्यवर्णं तमस परस्तादि'त्यादिश्रुतिशतप्रतिपाद्यं नाभिजानाति ॥ १३ ॥

आ० भा०— ननूक्तभगदवदाश्रयप्रतिभटाज्ञानजनकमोहापगमोपायः क इत्याशङ्कायामाह—दैवीति । दैवी लीलाप्रवृत्तेन देवेन मया निर्मितैषा मम माया*विचित्रकार्यकारिणी प्रकृतिर्हि दुरत्यया दुरतिक्रमणीया । ये पुरुषा मां सर्वेश्वरमेव प्रपद्यन्ते शरणमवाप्नुवन्ति त एवैतां मत्सम्बन्धिनीं मायां तरन्ति ॥१४॥

नन्तकल्याणगुणाकरं त्रिगुणवशवर्तिं ब्रह्मरुद्रेन्द्रदेवाभिवन्द्यमानाङ्घ्रिसरोरुहमव्ययं नित्यमेकरूपं मां लीलया गृहीतावतारं दिव्यैश्वर्यसमन्वितं सर्वेषां नियन्तारं नाभिजानाति ॥१३॥

नन्वेवं त्रैगुण्यप्रभवत्वादखिलजन्तूनां बुद्धीन्द्रियदेहादेस्त्रैगुण्यकार्यमायिकहर्षक्लेशमोहमलिनतया गुणमय्या मायायाश्चानाद्यनन्ततया न कर्हिंचिदप्यस्या निस्तारः स्यात् त्रिगुणमयजीवस्वभावस्यानपायित्वादित्यत आह—दैवीति । मम सर्वनियन्तुर्ह्येषा निदर्शितस्वरूपा गुणमयी सत्वादिगुणत्रयसमुद्भवा माया यतो दैवी लीलाधिकारस्थितेन स्वतस्तु परमस्वतन्त्रेण मया देवेन निर्मिता विचि-

* "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।,, (श्वे. ३।४।१० इति श्रुत्यनुगुणमेवात्र मायाशब्दस्य प्रकृतिवाचकत्वम् ।

त्रार्थसृष्टिविलासविधायिनी ततो दुरत्ययाऽनवाप्तमच्चरणैर्दुःखेनाप्यत्येतुमशक्या । एवं देवमायायाः प्राबल्यं दुस्तरत्वञ्चाभिधायेदानीं तस्याः स्वाभिप्रेतं सन्तरणोपायमुपदिशति—मामिति । ये तु श्रद्धालवो मद्विषयकनिरतिशयप्रीतिपवित्रितस्वान्ता मत्प्राप्त्युत्कटानन्यभावनया मामेव सर्वेश्वरं प्रपन्नार्तिहरं दिव्यकारुण्यजलधिं सर्वलोकैकशरण्यं प्रपद्यन्ते मत्प्रपत्तिमाश्रयन्ति । प्रपदनेनात्र शरणागतिरेव भगवदभिप्रेता यतस्तस्या एव मायासन्तरणौपयिकत्वं शास्त्ररहस्यवेदिभिर्निश्चितम् । तदुक्तंपञ्चरात्रशास्त्रे—प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जन सर्वोऽप्यकिञ्चनः । श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेदिति ॥ तदेवाहुः—अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम् । तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः ॥ शरणागतेरपि लक्षणमित्थमदर्शि । अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनो गतिः । त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः । शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥ आचार्यान्तरैरपि— 'साधनं भगवत्प्राप्तौ स एवेति मतिर्दृढा । साध्यभक्तिः स्मृता सैव प्रपत्तिरिति गीयते ॥ इति । इयञ्च भावनाप्रभेदेनानेकविधा । तासु महापुरुषशरणवरणत्वरूपाया भावनायाः सर्वत्रानुस्यूतत्वात्तस्या एव प्राधान्यमभ्यधायि श्रीमदाचार्यपादैः । स्पष्टमेतत्—अहं भीतोस्मि देवेश संसारेस्मिन् भयावहे । त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष ! न जाने शरणं परम् । इत्यादिश्चाचार्यप्रबन्धेषु । स्मर्यते च परात्परस्य महापुरुषस्य तदुपोद्बलकं प्रतिज्ञावाक्यम् । 'आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः । अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥ (वा. यु.) सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो.

ददाम्येतद् व्रतं मम। (वा. यु.) अत्र सर्वभूताभयप्रदत्वेन ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिदेवतिर्यङ्मनुष्यादिस्वामित्वं सर्वशेषित्वं सर्वनियामकत्वञ्च स्पष्टमवगम्यते । न हि चराचरविश्वनियन्तारमन्तरेण निःसंकुचितसर्वभूताभयप्रदायिनी प्रतिज्ञेयमुपपद्यते । अत एवेतिहासरत्ने स्थलान्तरेऽपि सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञेनाञ्जनेयेन स्वकण्ठरवेणैतन्निरणायि—ब्रह्मास्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा । इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रांतु न शक्ता युधि रामवध्यम् । (वा. सु.) इति । प्रोक्तविशेषणविशिष्टाश्चैते प्रत्येकं समुदिता वा युधि संग्रामे रामवध्यं त्रातुं न शक्ताः-शरणं सम्प्राप्य तु त्रातुं शक्ता इति गम्यते । अनेन भगवति महापुरुषे श्रीरामे 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, (पु. सू.) 'न सन्न चासच्छिव एव केवलः, 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, इत्यनादित्वे प्रतिपादितेभ्यः परेभ्योपि देवत्रयेभ्यः परतरत्वमभिधीयत इति भावः । एवं परात्परस्य तस्य शरण्यस्य शरण्यगतरक्षणव्रतं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्वसकृदुद्घोषितम् । तथा च श्रीरामयणे—'विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः' इत्यादिवचोगोचरं तमेव महापुरुषमुद्दिश्य तत्वज्ञेन विभीषणेन स्पष्टमेवेदमुक्तम्—'निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने । सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्।।' अत्र शरणे रक्षणे साधुः 'तत्र साधुः' (पा.अ.) इति यत् । 'सर्वलोकशरण्याय सर्वथाऽनालोचितविद्यावृत्तकुलवित्तायुरादिविशेषाशेषलोकशरण्यायेत्यर्थः । 'राघवाय' 'महात्मने' इति द्वाभ्यां पदाभ्यां शरण्याङ्गभूतं सौलभ्यं परत्वञ्चाभिधीयेते । न हि शरणमाश्रयद्भिः शरणवरणीयः सौलभ्यादिधममन्तरेण शरणीकर्तुं शक्यः । यत्तदनिर्देश्यमित्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यस्य परब्रह्मणः सकल-

देवमुनिनरकिन्नरोरगादिमनोनयनसाक्षात्कारक्षममनुजावतारग्रहणमतिसौलभ्यं व्यञ्जयत्येव तस्य । एवञ्चास्य प्रपत्तिधर्मस्य जपतपोदानव्रतयमनियमसंयमज्ञानानुध्यानरूपेभ्योऽखिलधर्मेभ्यः परमवैशिष्ट्यं स्वयमेव गीताचार्यैर्निष्कर्षाध्याये स्पष्टमभ्यधायि——सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः'(गी. १८) इति। सर्वसिद्धान्तसारभूतोऽयं प्रपत्तिधर्म इत्येतद्गीताचार्यहृदयमत्र तद्वाक्ये निगूहितमेतत्तद्व्याख्यानावसर एव स्पष्टमुपपादयिष्यामः । तथा चैतदेव शरणागतिरूपप्रपदनमत्र मायानिवर्तकत्वेनाभिधीयते । मामेवेत्येवकारेण देवतान्तरप्रपदनस्य मायासन्तरणरूपमोक्षोपयोगित्वं नास्तीति तद् व्यवच्छिद्यते । त एव मदाश्रयाः सन्तः सन्ततमेतां मत्सम्बन्धिनीं निरुक्तत्रिगुणमयीं मायामनायासेनैव तरन्ति । मत्सायुज्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ । स्पष्टितश्चायमर्थो भगवता पराशरेण—'यैः स्वधर्मपरैर्नाथ ! नरैराराधितो भवान्। ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये' । (वि. पु. —५—३०—१६) त इति सावधारणम् । तेन ये भगवत्प्रपत्तिविरहिणस्ते त्विमां नैव तरन्तीति गम्यते। मदाश्रया मदीयेयं माया मदनुकम्पामपहायातिदुस्तरेति भगवदाशयः । ये तु मिथ्यार्थोत्पादिनीं मिथ्यारूपां मायामभिदधुस्तेषां भगवद्वचनविरोधः स्पष्टः । न ह्यसत्यार्थापगमाय भगवत्प्रपदनरूपस्सत्योऽर्थस्तत्साधनत्वेनोपयुज्यते । न च रज्जौ मिथ्याभुजङ्गापगमायाधिष्ठानभूतसत्यरज्जुविज्ञानमुपयुज्यत इति वाच्यं रज्जौ भुजङ्गज्ञानस्य सत्यत्वावगमात् । प्रकृते विचित्रार्थोत्पादकत्वेन मायापदप्रयोगः। अत एव विविधविचित्रकार्यसम्पादकत्वेन परमार्थभूतायामेव प्रकृतिपरिणतौ मायापदव्यपदेशो यत्र

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

आ० भा० एवमुपासनाङ्गभूतप्रपत्तेर्मायानिवर्तकत्वं प्रतिपाद्य दुरात्मनां तद्दौर्लभ्यमुच्यते-नेति । दुष्कृतिनः पापाचारपरायणा ह्यत्र चतुर्विधा भवन्ति । तत्र मूढा मद्विभूतिं स्वविभूतित्वेनोपयुञ्जाना अयथावद्ग्राहिण आद्या नराधमाश्च द्वितीया आपाततो ज्ञातमत्प्रभावा अपि मत्प्रतिकूलमाचरन्तः माययाऽपहृतज्ञाना अनादिकर्मवासनया स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानवञ्चितत्र श्रुतिस्मृतिषूपलभमानः संगच्छते । अत एव चासुरमायाराक्षसास्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्दप्रयोगः पुराणादिषु दृश्यते 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।' (श्वे.) 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः (श्वे. ४।७) 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते' इत्यादावनादिकर्मवासनारूपमायोच्यते । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (वृ.) जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता (वा. १. १.२६) 'मायया सततं वेत्ति प्राणिनाञ्च शुभाशुभम् (वि. पु) इत्याद्या शतश उपलभ्यन्ते । एवञ्च त्रिगुणमय्या भगन्मायायाः पारमार्थिकत्वं शास्त्रसम्मतम् । इयञ्च त्रिगुणमयी मायाऽऽपातरमणीयेष्वर्थेषु भोग्यताधीरूपेति निसर्गेण बाह्यमनस्कं जीवजातं भगवदनुध्यानात् प्रच्याव्य स्वस्वरूपे स्थापत्यतोऽस्याः सन्तरणोपायो मुक्तिसाधनमिति तदुपदेशः ॥१४॥

अ० टी०—एवमस्मिन्नुपासनाप्रकरणे प्रपन्नोपयोगिनीमुपासनाङ्गभूतां मायोन्मूलनक्षमां प्रपत्तिं तदधिकारिणश्चाभिधाय तदनधिकारिणो

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन ॥
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तास्तृतीयास्तथाऽऽसुरंभावमाश्रिताः शास्त्रीयज्ञानवन्तोऽपि प्राक्तनकर्मपरवशद्वेषवशादासुरभावाविष्टास्तुरीयाः । इमे सर्वेऽपि स्वकीयस्वाभाविकदौष्कर्म्यान्मां नैव प्रपद्यन्ते ॥१५॥

आ० भा० एवञ्चेत्तर्हि के त्वाम्भजन्तीत्याकांक्षायामाह—चतुर्विधा इति । हे अजुन ! चतुर्विधास्तत्तत्सुकृतस्याल्पानभगवद्विमुखान् स्वरूपतः कार्यतश्च दर्शयति—नेति । अत्रोत्तरश्लोके यथा सुकृतिनाञ्चातुर्विध्यं स्वयमेव गीताचार्येण निर्दिष्टं तथाऽत्रापि प्रतिपाद्यार्थदुष्कृतिप्रकारीभूतस्य दुष्कृतस्य तारतम्यात् तथैव निर्देशाच्च चातुर्विध्यं बोध्यम् । अव्यवहितोत्तरश्लोकादावभिधीयमानस्य 'चतुर्विधा' इति शब्दस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनेहाप्यन्वयाद्वा । दुष्कृतिनो दुर्वृत्ततारतम्येन चतुर्विधा भवन्ति । ते च मां प्रपन्नपारिजातं ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिदेवसेव्यं सर्वशक्त्याधारं सर्वभूताधिवासं न प्रपद्यन्ते । प्रपत्तावनाश्रयणे हेतुमाह—यतस्ते मूढा उभयविभूतिनायकस्यैव सर्वमिदं भोग्यजातं न तु परनियन्त्रितास्मदादेरिति ज्ञानविधुरा नराधमा मद्वैभवमापाततोवगच्छन्तोपि मत्पारवश्यावहेलनपरा माययाऽपहृतज्ञानाः स्वकीयदुष्कर्मवशवर्तितया विनष्टस्वपरस्वरूपपरिचया आसुरम्भावमाश्रिता परात्परपरमपुरुषपराक्रमवेदिनोपि स्वकर्माधीनासुरभाववशीकृतचेतस इत्येते स्वकीयदौष्कर्म्यमन्दाऽमन्दप्रभेदेन भिन्नां दशामनुभवन्तो मच्छरणागतिं नाङ्गीकुर्वन्ति । प्रतिबन्धकस्य दुष्कृतस्य सत्वादिति भावः ॥१५॥

अ० टी—नन्वेवं तर्हि तवोसनाधिकारिणां दौर्लभ्यमेव प्रसज्येत

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

ल्पत्वप्रभेदेन चतुर्विधा एव सुकृतिनो जनाः स्वस्वेष्टसिद्धये तेषु चतुर्विधेष्वाद्यास्त्रयः सकामा अन्तिमस्त्वेको ज्ञानिभक्तो निष्कामः। आदिमेष्वपि त्रिष्वार्तार्थिनौ बाह्यैश्वर्यादिपुरुषार्थलिप्सू तृतीयो जिज्ञासुरध्यात्मज्ञानमिच्छुरिति विवेकः। सर्वेऽपीमे मदीयां प्रपत्तिमाश्रयाणा मां भजन्त एव। तत्रार्त ऐहिकदुःखनिवृत्तयेऽर्थार्थी प्रनष्टैहिकैश्वर्यलाभाय जिज्ञासुर्विशुद्धस्वपरस्वरूपत्रिवेकप्रबोधाय ज्ञानी च भगवच्छेषतैकस्वभावं स्वरूपं मन्वानः स्वकर्तव्यतया सततमुपास्ते। स्वार्थमुद्दिश्य भजन्त एवाद्यास्त्रयो मत्कृपयऽवाप्तकामा उपासनसारभूतां ध्रुवां प्रपत्तिमन्ततः समाश्रयन्त्येव ॥१६॥

प्रायः सर्वस्यापि लोकस्य लौकिकस्वार्थकामनामुद्दिश्यैव प्रवृत्तिमत्वादित्याशंकां समाधत्ते—चतुर्विधा इति। हे अर्जुन! सुकृतिन इह जन्मनि पुण्याचारपरायणाः पूर्वजन्मार्जितपुण्यपवित्रितान्तःकरणाश्च शुभाचारतारतम्याच्चतुर्विधा एव जना देवतिर्यङ्मनुष्यपशवः केऽपि प्राणिनो मां सर्वसिद्धिप्रदायिनं सर्वनियन्तारं स्वरक्षकत्वेनाश्रणीयमेकमेव भजन्ते कायेन वाचा मनसा चाराधयन्ति। के च त इत्यपेक्षायामाह—आर्त इति। आर्ती रोगारिभूतोपद्रवादिनिबन्धनः क्लेशस्तद्वानार्तस्तथाविधक्लेशविनाशकामनया प्राक्तनसुकृतवशादेव मामुपास्ते। यथा ग्राहगृहीतो गजो द्यूतसंसदानीता पाञ्चाली वृकासुरभिया पलायनपरो रुद्रश्च। आर्तभक्तनिर्देशसमनन्तरमर्थार्थिनो निर्देश एवावश्यकः पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानितिन्यायात्। तथाचैश्वर्यादिकामनया यो मामाराधयति सोऽर्थार्थी। यथा जायापत्यराज्यकामनाय सुकण्ठो विभीषण औत्तानपादिश्चेति। एतयोरुभयोरैहिक्येव

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

आ०भा०—निर्दिष्टेषु भक्तेषु ज्ञानिभक्तस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयति—तेषामिति। नित्ययुक्तो नान्यव्यक्तिवत् स्वेष्टावाप्तिपर्यन्तमेव मया योगवानपि तु मया नित्ययोगवान्। एवं नान्यवत् स्वेप्सितपदार्थे तत्साधनात्मके मयि च भक्तिमानपि त्वेकभक्ति-

कामना दुःखनिवृत्तिरैश्वर्यावाप्तिश्चेति पौर्वापर्यक्रमो युक्तियुक्तस्ततस्तृतीयो जिज्ञासुर्यः स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानकामनाश्रयो माम्भजते। यथा युधिष्ठिरो जनको भीष्मश्च। तत्त्वजिज्ञासापूर्तय एवासौ भगवत्परो भवतीति भावः। ततश्चतुर्थः पूर्वानिकजन्मोपार्जितपुण्यपुञ्जोपजातमत्कृपाकटाक्षवीक्षितो ज्ञानी निष्कामभावनया केवलं मत्सायुज्यमेवेच्छुर्मामेवानुध्यायति। यथा श्रीमदाञ्जनेयः प्रह्लादः शुकाचार्यश्च। गोपिकोद्धवाक्रूरादीनामपि ज्ञानिभक्तेष्वेवान्तर्भावः। यतो गोपिकादिनिष्ठोनन्यानुरागोऽपि परां काष्ठामुपगतं ज्ञानमेवेति वेदान्तसमयः ॥१६॥

अ० टी० प्रोक्तेषु चतुर्विधभक्तेषु निष्कामभक्तस्य ज्ञानिनो ज्यायस्त्वमुच्यते—तेषामिति। तेषां चतुर्विधभक्तानां मध्ये ज्ञानी स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानवान् विशिष्यते। सर्वभक्तेभ्यः श्रेष्ठोस्तीत्यर्थः। श्रेष्ठत्वे हेतुगर्भितं विशेषणमाह—नित्ययुक्त इति। कायेन वाचा मनसा च सदा मदाऽराधनतत्परः क्षेत्रापत्यकलत्रादिविषयेभ्यो मनः समाकृष्य मदेकचित्त इति यावत्। अत एवैकभक्तिरेकस्मिन् सर्वेषामात्मभूते मय्येव भक्तिः श्रवणकीर्तनस्मरणचरणसेवनार्चनवन्दनदास्यसख्यस्वात्मनिवदेनरूपा नवधा भक्तिर्यस्यासावेकभक्तिः। आर्तादीनान्तु स्वाभिलषितार्थे तत्साधनत्वे-

**रेकस्मिन् सर्वेश्वरे मय्येव भक्तिमान् । ज्ञानी तेषामुक्तानां च-
तुर्विधानां मद्भजनशीलानां मध्ये विशिष्यत अतिशयमवाप्नो-**
न मयि चेति द्वयोरर्थयोर्भक्तिः। तदितरजीवानान्तु संसारवासनावासितचे-
तसां देहगेहाद्यनुरक्तिमतां यथा विषयेष्वनुरक्तिस्तथा ज्ञानिभक्तस्य तद-
नुरक्तिविषयः केवलोहमेव । तदुक्तमेकादशे—न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मे-
च्छति मद्विनान्यत् (भा.११।१४।१४)

तात्पर्यवशाद्व्यधिकरणपदोपि बहुव्रीहिराश्रियत एवार्षत्वाद्वा तथा
प्रयोगः । एका भक्तिर्यस्येति कस्यचिद् व्याख्यानं त्वयुक्तं पुवद्भा-
वासम्भवात् । इदमेवोक्तंप्रहलादेन—या प्रीतिरविवेकानां विषये-
ष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ इति (विष्णुपुराणे)
ज्ञानिभक्तस्य नित्ययुक्तत्वे हेतुतयोत्तरार्द्धस्योपयोगं दर्शयति । हि यतो
ज्ञानिनोहमेवात्यर्थम्प्रियोस्मि । अर्थमभिधेयमतिक्रम्य वर्तत इत्यत्यर्थम् ।
ज्ञानिजनस्य यथाऽहं प्रियस्तथा मया सर्वज्ञेनाप्यभिधातुं न शक्यत
इत्यर्थः । नन्वत्राभिधेयशब्देनैव सर्वं संगृहीतं तत्वस्य केवलान्वयित्वा-
दतोत्यर्थशब्देनाभिधातुमशक्यतैव सम्प्राप्ता । तथा च सर्वज्ञेन परमपु-
रुषश्रीकृष्णेनापि यद्वस्तु ज्ञातुमभिधातुञ्च न शक्यते तत्रासामर्थ्यमेव
भगवतः प्राप्तं तच्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरयुक्तमिति चेन्न त्रैकालिकात्य-
न्ताभाववद्वस्तुविषयकाज्ञानस्य सार्वज्ञ्यभञ्जकत्वाभावात् । खपुष्पादेरस-
त्वादेवाज्ञानत्वं सर्वज्ञस्यापि सम्भवति । असत्पदार्थस्यापि परिज्ञाने ज्ञातु-
र्भ्रान्तित्वमेवापादितं स्यात् तादृशार्थस्य निरवधिकत्वेन तदभिधायकशब्दा
भावात् । तद्वाचकपदानुपादाने न सार्वज्ञ्यहानिरिति भावः । स्पष्टोऽ

**उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
अस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥**

ति । अहं च ज्ञानिनो हि निश्चयेनात्यर्थमर्थमतिक्रान्तं यथा भवति
तथा प्रियोऽनिर्वचनीयप्रीतिविषयोऽस्मीतिशेषः । स ज्ञानी च
ममात्यर्थं प्रियोऽस्तीति शेषः ॥१७॥

आ०भा० ज्ञानिनः प्रियत्वातिशयं प्रतिपादयत्युदारा इति।
एते पूर्वोक्ता आर्त्तादयश्चत्वार उदारा मम सर्वस्वदातार एव ।
तु परन्तु ज्ञानी ममात्मैव । शरीरस्येव ममधारणं तदायत्तमेवेति
भावः । हि यस्माद्धेतोर्युक्त आत्मा यस्य स युक्तात्मा मदेकाय-
त्तस्थितिस्वरूपः स ज्ञान्यनुत्तमां सर्वोत्कृष्टां गतिं प्राप्यं मामे-
वास्थित आश्रितोऽस्तीतिशेषः ॥१८॥

यमर्थः श्रीप्रह्लादस्यानुभवे'सत्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः ।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः ॥ (वि०पु०२।१७।३९)
इति। प्रतिक्षणाभिनवप्रेमरसाप्लुतहृदयत्वाद्विस्मृतेतरसवविषय इति भावः।
स च ज्ञानिभक्तस्तथैवाऽत्यर्थं मम प्रियः । उक्तञ्च—'मयि निर्बद्धहृदयाः
साधवः समदर्शनाः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
(भा०९।४।६६) 'न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः । नच
संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ (भा० ११ । १४ । १५)
भवान् इति शब्देनानन्यभक्तिरसोद्रिक्तहृदय उद्धवभक्त एव भक्तिप्रा
धान्यान्निर्दिष्टः ॥१७॥

अ० टी० – ' तेषां ज्ञानी विशिष्यते ' इति निष्कृष्योक्तत्वात्
तस्यैव च श्रेष्ठता । ततो भिन्नानां भक्तकोटिनिविष्टानां स्वार्थित्वेनाधमत्वमे-

व प्राप्तं न चैतद् भगवद्भक्तानां युज्यत इत्यत आह—उदारा इति। एत आर्तादयः सर्वे एवोदारा उत्कृष्टा एव मदुपासकत्वात् । अनेकजन्मोपार्जितपुण्यनिचयेन मच्छरणागतिरवाप्यते । एतदभिप्रायावेदकमन्यत्राप्युक्तम्—जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ।। इति । नन्वेवमपि स्वार्थिभक्तः स्वार्थसिद्धौ तव भक्ति बह्यादिति कुतस्तस्यौदार्यं सम्भवेदिति चेन्न स्वार्थसिद्धयेऽपि समादृता मद्भक्तिरुत्तरोत्तरसत्वविवृद्धया स्वकीयमानन्त्यं फलमर्पयत्येव। यथा क्षुन्निवृत्तयेऽनिशमशितमाज्यप्रचुरमोदकं क्षुधमुन्मूल्याङ्गपुष्टिमुत्पादयति। तथार्तादिभक्तेः स्वार्थसंसाधनायैव समारब्धा मद्विषयिणी भक्तिस्तदर्थं सम्पाद्य ज्ञानविवृद्धयापवर्गोपायभूतां परां भक्तिं जनयति। इदमेवासाधारण्यं नाम मद्भक्तेः । अत एवोक्तमेकादशे — बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ।। (११ । १४ । १८ ।) मद्भक्तेरप्यन्तवत्फलप्रदत्वे तु देवतान्तरभक्तितोऽस्या वैशिष्ट्यं न स्यात् । किञ्च 'न मे भक्तः प्रणश्यति, (गी.) 'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ' 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। (गी०) इत्यादि भगवद्वचसां विरोधः प्रसज्येत। ज्ञानीत्वात्मैव—तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। सर्वेषामौदार्याविशेषेऽपि ज्ञानिभक्तस्तु ममात्मैव। आत्मशब्दस्य स्वरूपार्थकत्वेऽप्यत्र हृदयपरत्वं प्रत्यक्षाद्यनेकप्रमाणानुरोधात्। हृदयं यथा जीवनधारणे प्रधानभूतमङ्गं ज्ञान्यपि तथा मद्धारकः प्रधान एव। यथा वा लोके—गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः। अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ।। इत्यादौ प्रोक्ता-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।

सुदुर्लभज्ञानिमहिमानमभिदधाति बहूनामिति । बहूनां जन्मनां पुण्यशालिनां जन्मनामन्तेऽवसाने निखिलब्रह्माण्डनायकोनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरोऽतिरमणीयदिव्यविग्रहवान् सर्वशेषी भगवान् श्रीराम एव परात्परं ब्रह्माहं च

नि गवादीनि धरणिधारणे प्रधानसाधनानि तेषामभावे धरणिध्वंसप्रसङ्गात्। तथैव प्रकृते ज्ञानिनः सर्वाङ्गसारभूतहृदयसत्त्वाद् भगवतो जीवनाधारत्वमिति भगवद्वचनाशयः । अनेन ज्ञानिनि भगवत्प्रेम्णः पराकाष्ठा व्यज्यते । अत एव श्रीमद्भागवते नवमे स्वयमेवाभिहितम्—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि । (भा० ९ । ४ । ६८ ।) इति। एवकारोऽस्मिन्नर्थे निर्भरतां सूचयति । इति मे सर्वशास्त्रयोनेः सर्वज्ञस्य गीताचार्यस्य मतम् । मदीयाभिमतमतत्वादिदमेवाम्नायसिद्धान्त इति भावः । ज्ञानिनः स्वात्मप्रियत्वे हेतुं निर्दिशति — हि यतो युक्तात्मा सर्वानन्दधाम्नि निविष्टचेताः सोऽनुध्यानभक्तिपरायणो ज्ञानिभक्तोनुत्तमां गतिं सर्वथोपायभूतं मामेवोपेयं चरमफलस्वरूपमास्थितः स्वीकृतवान् । स्पष्टीकृतोयमर्थः श्रीमद्भागवते नवमे—'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां—गतिरहं परा ।। (भा० ९ । ४ । ६४ ।) इति । १८ ।।

अ०टी०-पुनरपि ज्ञानिनमेव स्तौति—बहूनामिति । ज्ञानिभक्तः स्वकीयोपचितपुण्यनिवहान्मदनुध्यानसातत्याच्च बहूनां मत्कृपाकटाक्षवी-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकस्तच्छेष इति ज्ञानवान् सन् सर्वं परमप्राप्यप्रापकादिकं * वासुदेव एव समस्तचिदचिन्मिश्रं जगद् वासुदेव एव भगवदात्मकमेव वेति यो मां प्रपद्यत उपासते स महात्मा महाध्यवसायवान् सुदुर्लभः सुतरां दुर्लभः । महद्भाग्येनैव लभ्यत इत्यर्थः ॥१९॥

ज्ञानिश्रेष्ठत्वाभिधानप्रकरणेऽन्यदेवाराधकानामन्तवत्फलमुपलभ्यत इत्येतत्प्रदर्शनमुखेन पुनर्ज्ञानिन एव श्रैष्ठ्यमुच्यते-क्षितानां पुण्यपवित्रितानां जन्मनां स्पष्टीकृतोऽयं भगवदाशयो-मोक्षधर्मे-जायमानन्तु पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥ (महाभारत) इति । अन्ते अवसाने ज्ञनवान् सर्वशेषितयाऽवस्थितस्य परमात्मनो नियाम्योहं स एव च मन्नियामकः शरीरभूतस्य जगत आत्मतयाऽऽधारो वासुदेवः 'सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि । भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥ (वि.पु.)इति। पाराशर्यविग्रहज्ञातो वासुदेव एवेदं सर्वमित्येव शरीरात्मभावेनैव सामानाधिकरण्यमस्तीति ज्ञानमाश्रयाणो मां सर्वात्मकं यः प्रपद्यते प्रपदनं करोति स तथाविधो महात्मा । अत्रात्मशब्दोऽध्यवसायपरः । महान् आत्मा मत्स्वरूपाध्यवसायात्मिका वुद्धिर्यस्यस सुदुर्लभः सुतरां दुर्लभः । प्राक्तनानेकपुण्यपवित्रितस्वान्तैरेव तादृशज्ञानिभक्तस्य दर्शनं लभ्यत इति तात्पर्यम् ॥१९॥

*** अत्रादिशब्देनेतरेषामपि मनोऽभिलषितानां पदार्थानां ग्रहणम् ।**

कामैरित्यध्यायान्तम् । तैस्तैः प्राग्भवीयवासनावशात् कामैरापातरमणीयार्थविषयकाभिलाषैर्हृतज्ञानाः सर्वजीवोपास्योऽक्षय्यफलप्रद एक एव सर्वेश्वरोऽहमित्येतज्ज्ञानरहिताः स्वया प्रकृत्या नियता अनेकजन्माभ्यस्तसंस्कारजनितस्वभावपरवशास्तं तं तत्तद्देवतातुष्टिकरं मन्त्रव्रतोपवाससाधकं नियममाश्रित्यान्यदेवता मद्व्यतिरिक्ता इन्द्रादित्यकुवेरादिरूपाः प्रपद्यन्ते । न चेदं सात्विकजनानुगुणं कायमिति भावः ॥२०॥

अ०टी०—तदेवं निष्कामभक्तस्य ज्ञानिनः सर्वेभ्यो वैशिष्ट्यमभिदधद्भगवान् श्रीकृष्णः स्वकीयसकामभक्तानामार्तादित्रयाणामपि स्वार्थसिद्धिद्वारा ज्ञातानुरागाणामनायासेनैवापवर्गफलमभ्यधात् । अथ भूयोऽपि स्वीयप्रियभक्तस्य ज्ञानिन एव श्रैष्ठ्यम्प्रतिपिपादयिषुरादौ देवतान्तरोपासकानां क्षुद्रफलप्राप्तिमभिधत्ते—कामैरित्यादिभिश्चतुर्भिश्श्लोकैः । तैस्तैरनादिकर्महेतुकैः काम्यन्त इति कामा गृहापत्यकलत्रादिरूपास्तैर्हृतज्ञाना हृतं मोक्षैकोपायभूतश्रीपतिपरिचर्यातःपृथक् कृतं ज्ञानं ज्ञानसाधनं मानसं येषान्ते तथाविधाः । किञ्च स्वया स्वकीयया प्रकृत्याऽनेकजन्मसंस्कारसध्रीचीनस्वभावेन नियता नैयत्यमश्नुवाना रजस्तमःप्रधानाः पुरुषास्तं तं तत्तद्देवतोपयोगिनं मन्त्रस्तोत्रव्रतोपवासक्रियाकलापनिबद्धमर्यादं तत्तद्देवताऽऽराधनायानुष्ठीयमानं नियमं सावेशविशेषमास्थायान्यदेवताः सर्वेश्वराच्छ्रियः पत्युरतिरिक्ताः क्षुद्रफलप्रदायिनीर्देवताः प्रपद्यन्ते वाङ्मनःकायेन तत्तद्देवकीयमन्त्रेणैवार्चनवन्दनादिकं विधाय तत्तद्देवतोपासनां विदधते । इमे च सर्वाभीष्टप्रदं परमसुलभं कल्पद्रुममपहायार्कतरुसमाश्रयणवत्सर्वभूतसुहृदं भगवन्तम्परमपुरुषम्परित्यज्य क्षुद्रफलोपलिप्सया

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

अ० भा०– यो यो भक्तस्तदाराध्यदेवतास्वपि सर्वान्तर्यामिणो ममैवावस्थितिरस्तीत्येवं मदीयं सर्वत्र व्यापकभावं प्राधान्यञ्चानवगच्छन् स्वाराध्यदेवताया एव च प्राधान्यं मन्वानः श्रद्धया यां यां मच्छरीरतयावस्थितां तत्तद्देवतारूपां तनुमर्चितुमिच्छति तस्य तस्य पराग्दर्शिनो भक्तस्याहं तामेव श्रद्धामचलां तस्यामेव देवतायां स्थिरां विदधामि । यस्य भक्तस्य यस्मिन्देवे स्वार्थप्रयुक्ता श्रद्धा प्रादुरभूत् तस्य तस्य तस्मिन्नेव देवे तामेव सुस्थिरां करोमि । देवतान्तरभजनेऽपि मदीयसाहाय्यमावश्यकमित्याशयः ॥ २१ ॥

देवतान्तरमुपासतेऽतश्च दुर्बुद्धयः । उक्तञ्च 'वासुदेवम्परित्यज्य योऽन्यदेवं हि सेवते । तृषितो जान्हवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः, (भारते) एवञ्च देवतान्तराराधनं न निःश्रेयसप्रयोजकमतो मुमुक्षुभिर्नैवानुष्ठेयमिति सिध्यति ॥२०॥

अ० टी० – आपातरमणीयक्षुद्रफलप्राप्तये देवतान्तरोपासने प्रवृत्तेभ्योऽपि सन्मार्गसमाश्रयणाय नित्यदयार्द्रचेतसा मयैव तत्तद्भजनानुगुण्येन फलं दीयत इत्याह–यो य इति द्वाभ्याम् । यो यो भक्तः क्षुद्रफलकामनया देवान्तरोपासकः सर्वदेवशरीरकस्य ममैव यां यामिन्द्रादित्यादिरूपां तनुं देवतापदमनुपादाय शरीरमात्राभिधायितनुशब्दग्रहणेनैतदवगम्यते । सर्वा अपि देवता मदङ्गभूतास्तथा च 'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नमि'ति न्यायेनाङ्गिनो ममाराधनेनैव सर्वेष्टसिद्धिस्स्यादिति वेदान्तनिश्चयमनधिगम्य तद्देवताविशेष एव स्वार्थसिद्धिं मन्वानस्तद्देवतामेवार्चितुमिच्छति । तस्य तस्य भक्तस्याहं मदङ्गमुद्दिश्यैवाराधनमयं चिकीर्षतीत्यतस्तद्देवताविषयिणीं तामेव श्रद्धां तस्यामेव देवतायामचलां निष्प्रत्यूहं सुस्थिरां विदधामि ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।२२॥

आ० भा० – स फलविशेषेच्छुर्भक्तस्तया विलक्षणया श्रद्धया युक्तस्तस्याः स्वाभिलषितफलप्रदानसामर्थ्येनाङ्गीकृताया राधनं तद्देवतानुगुणविधिना पूजनादिकं सादरमनुतिष्ठति । ततस्तदाराधनान्मयैव यथाकर्मफलप्रदात्रा विहिताँस्तान् कामान् समाराधनफलभूतान् लभते । अज्ञानान्मदङ्गमेव प्राधान्येनाराध्य मत्प्रहितफलमपि लब्ध्वा सर्वेश्वरं सर्वकारणकारणं मां नैव भजते । तावतैव कृतकृत्यः सन् विहरतीति खेद इति भगवदभिप्रायः ॥ २२ ॥

अ० टी० – पूर्वश्लोके श्रद्धाया अचलत्वमुक्तम् तच्चेयमेकैव देवता मदभिलषितमर्थं दातुं समर्थाऽत इयमेकैव मया सानुक्रोशमुपास्येति निश्चयलक्षणम् । तद्वतो भक्तस्य यथा फललाभस्तथा निर्दिशति-स इति । सः पूर्वोक्तः स्वार्थसाधनपरो भक्तस्तया मयैव निर्बाधविहितया श्रद्धया युक्तस्तस्याः स्वाभिमतार्थप्रदायित्वेनाभिमताया देवताया राधनमुपासनमीहतेऽनुतिष्ठति । ततो मच्छरीरभूतादित्यादिदेवताराधनाद्धेतोर्हि स्वाभिमतांस्तांस्तान् कामानाराधनफलत्वेन मयैव विहितान् लभते । यतः सर्वफलदातृत्वं मय्येव विद्यते निरंकुशैश्वर्यशक्तिशालित्वात् । न तु

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

आ ० भा ० इतरदेवभक्तभगवद्भक्तयोः फलवैचित्र्यमभिदधात्यन्तवदिति। तेषां पूर्वोक्तानामिन्द्रादियाजिनामल्पमतीनां तदिन्द्राद्याराधनजनितं फलमन्तवद् विनाशि भवति। कुत इत्याशंकायामाह – देवान् भगवदितरेन्द्रादीन् सुरान् यजन्ति पूजयन्तीति देवयजः । इतरदेवपूजका इत्यर्थः । देवान् स्वपूजितानमरान् यान्ति । चतुर्मुखलोकपर्यन्तलोकसम्बन्धिभोगानामनित्यत्वादनित्यं स्वोपासितदेवसायुज्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । मद्भक्तास्तु मामपि मामेव । एवार्थकोऽत्रापिः । यान्ति । नित्यं मत्सायुज्यमवाप्नुवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यते च भगवतैव " मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गी० ८। १६)इति ॥ २३ ।

तया देवतया स्वातन्त्र्येण तस्मै स्वभक्ताय क्षोदीयोऽपि फलं दातुं शक्यम् । तस्या मत्पारतन्त्र्यादिति भावः ॥ २२ ॥

अ० टी० – ननु क्षुद्रफलोपलिप्सया देवान्तरभजने प्रवृत्तेभ्यस्तत्तद्देवताभ्योऽपि त्वमेव चेत्फलं ददासि तर्हि पूर्वोदितैस्तव भक्तैः साधारण्यमेवायातमित्याशंकायामाह–अन्तवदिति। तेषां देवान्तराराधकानामल्पमेधसामल्पानुदारा मेधा येषान्ते । क्षुल्लकविषयलिप्सादोषान्मेधसोऽनुदारत्वम् । मेधसोऽल्पत्वात्तादृशमेधसाऽनुष्ठीयमानकर्मणस्तत्फलस्य चाल्पत्वं फलति । अथवाल्पेषु तत्तत्कार्याधिकृतेषु वस्वादिदेवेषूपास्यमेधा येषान्तेऽथवाल्पेषु ऐहिकपारलौकिकेषु स्रक्चन्दनस्वर्गाङ्गनाविहारादिषु मेधा मतिर्येषान्तेऽल्पमेधसस्तेषां तन्मया प्रहितमपि तदभिलाषानुसारि

फलमन्तवद् भवति । कस्मादेवमित्यत आह–देवानिति । देवयज इत्यार्षप्रयोगः । अन्यथादेवोपपदे यज्धातोः क्विपि ' वचिस्वपियजादीनां किति, (पा० सू०) इति पाणिनीयेन सूत्रेण सम्प्रसारणे गुणे च देवेज इति रूपं स्यात् । अत्र मद्भक्त इति तुरीयपादे प्रोक्तत्वाद् देवशब्दार्थे भगवदतिरिक्तत्वेन सङ्कोचः । तथा च तत्तद्देवपूजकाः स्वकीयं मोक्षातिरिक्तं स्वार्थं साधयन्तस्तत्तद्देवसायुज्यं प्राप्नुवन्ति । ननु यदि भगवतैव फलं प्रदीयते कथं तर्हि फलेऽल्पत्वं सम्भवतीति चेदत्रोच्यते – सातिशयफलदायिदेवोपासनायाः सातिशयमेव फलं निष्पद्यते ' यक्षानुरूपो बलिः ' इति न्यायात । तद्देवसायुज्यमत्र तद्देवभोगवद्भोगकर्तृत्वम् । एतत्सूचयितुं मद्भक्ता इति तत्प्रतिकोटिविधयोच्यते । अपिरेवार्थकः । मद्भक्तास्तु मामेव यान्ति निरतिशयफलदं मां मत्सायुज्यं मोक्षञ्च प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एतदुक्तम्भवति । देवतान्तरभक्तानां निःश्रेयसातिरिक्ताभिलषितफलसिद्धिरेव फलं मुक्तिरूपफलन्तु महापुरुषभक्तस्यैव निष्पद्यते। तदुक्तं श्रीमद्भागवते द्वितीये-अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ (भा– २। ३ । १०) आर्तादिचतुर्विधेषु भगवद्भक्तेष्वाद्यास्त्रयः सकामा अन्तिमस्त्वेको निष्कामः । तत्राद्यत्रयाणां स्वार्थमुद्दिश्यैव महापुरुषप्रपत्तिस्सम्भवति। क्रमेण स्वार्थसिद्धिश्चित्तशुद्धिश्चेति द्वयं युगपदुत्पद्यते । ततः सत्वोद्रिक्तत्वं प्रपत्तिदार्ढ्यञ्चेतिद्वयमुत्पद्यते । ततः प्रवृद्धश्रद्धातिशयाद् भागवते भगवति चानन्यानुरक्तिस्तया च स्वपरस्वरूपयाथात्म्यानुभवः समुदेति । अयञ्चानुभवोनुध्याननिदिध्यासनादिशब्दबोध्यां मुक्तेः साक्षात्साधनभूतां परभक्तिमुत्पादयति। एतदेवोक्तं श्रीमद्भागवते प्रथमे

—'एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः । भगवत्तत्त्वविज्ञानमुक्तस—ङ्गस्य जायते' (भा० १ । २ । २० ।). एवञ्चार्तादीनां स्वार्थ-भक्तिरपि क्रमेण भगवत्सायुज्यमेव फलति । निष्कामभक्तस्य तु कैमु—त्यन्यायेन करगतैव मुक्तिरित्यार्तादिभगवद्भक्तानामनन्तं फलमस्तीत्यत एवोच्यते 'मद्भक्ता यान्ति मामपीति ।' एतदेवोक्तं भारद्वाजसं-हितायाम्—एकान्ती शक्तितः कुर्वन् विहितानि समुत्सुकः । तथैव प्र—तिषिद्धानि त्यक्त्वा याति पराङ्गतिम् ॥' (भा० सं० । १ । ९२) इति । यत्त्वर्थसंग्रहे — 'मद्भक्तास्तु मामपि देवान् प्राप्यान्ते मामपि यान्ति' अतोऽनन्तं तेषां फलं तस्मान्मदाराधनं प्राधान्येनान्यदेवता—राधनञ्च परिवारतया कार्यमितीत्युक्तं तदसत् प्रकृतविरोधात् । तथा हि — 'गीताचार्यो दैवी ह्येषा गुणमयी'त्यनेन स्वमायायाः प्राब—ल्यमुक्त्वा तत्सन्तरणकामैर्मत्प्रपत्तिर्विधेयेति प्रकृतार्थं संक्षिप्तवान् । इ—ममेवार्थं विस्तरेण विवक्षु परेशः स्वप्रपत्तिं कर्हिचिदप्यननुष्ठायिनां मू-ढादिदुष्कृतिनां 'नमामिति, चातुर्विध्यमदर्शयत् । ततः स्वभक्तानां सुकृतिनामार्तादीनामपि चातुर्विध्यमभ्यधात् 'चतुर्विधा भजन्ते मामिति' । एतेषु चतुर्विधेषु निजभक्तेषु ज्ञानिनः पुनः सर्वोत्कृष्टत्वमचीकृतत्स्वय—मेव 'तेषा ज्ञानीति' त्रिभिः श्लोकैः । एवं सुकृतिदुष्कृतिनोः स्वरूप—भेदौ निर्दिश्य सुकृतिनो मद्भक्ता भवन्ति दुष्कृतिनस्तु न मद्भक्ता न वा देवतान्तरभक्ताः किन्तु पापाचारा एव भवन्तीत्येतन्निरचैषीत् । इतः परं ये सुकृतदुष्कृतविरहिणः किन्तु कामिनस्तेषां विचारोऽवशि—ष्यते । त एव च स्वकामनावशाद् देवतान्तरमाश्रयन्त इति तानेव 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना, इत्यारभ्य पादोनचतुर्भिश्श्लोकैर्निरदिशद् भगवान् श्री-

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

आ० भा० यदि त्वद्भक्तानां त्वत्प्राप्तिरूपमनन्तं फलमुपलभ्यते तर्हि कुतस्त्वदुपासनविमुखा भवन्तीत्यत आह-अव्यक्तमिति । मम सर्वेश्वरस्याव्ययमनाद्यनन्तमनुत्तमं सर्वातिशायि परं सर्वकारणकारणं "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" ततस्तत्परमं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः । सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः' (वि० पु० १।२।२८) इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितं सर्वश्रेष्ठं भावं स्वरूपमजानन्तोऽत एवाबुद्धयः सदसद्विवेकबुद्धिविधुरा अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नमितः प्राङ् नासीदिदानीमेवास्मदादिवत् कर्मकृत-प्राकृतशरीरधारिणमिति मन्यन्ते । अतो मदाराधनपराङ्मुखा भवन्तीत्याशयः ॥२४॥

कृष्णः । एवं वस्तुस्थितौ 'मद्भक्तास्तु मामपि देवान्प्राप्यान्ते मामपि यान्तीत्युक्तिः कोपयुज्यते ? । अत्र तु स्वयमेव स्पष्टयति 'देवयजो देवानेव यान्ति मद्भक्ता मामेवेति । अपेर्महिम्नाऽयमर्थः पर्यवस्यतीत्यपि न शोभनम् । देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपीति पृ—थगुक्तिविलोपप्रसङ्गात् । किञ्च यो यद्भक्तः स तत्सायुज्यभागिति व्याप्तेर्जागरूकत्वात् । सर्वदेवसमाराध्यपरमपुरुषस्य भक्तस्तदतिरिक्तं देवं कथं प्राप्नुयात् ? न हि कामतरुमाश्रितः कश्चित्कटुक्षीरोदर्कमर्कतरुं सिसेविषति । तस्मादयुक्तमेव भगवद्भक्तस्यान्यदेवप्राप्तिवचनमिति विभावयन्तु सुधियः ॥ २३ ॥

अ० टी० — नन्वेवं देवतान्तराराधनवतां क्षुद्रमेवफलं भवतीति

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५

आ० भा० स्वविषयकाज्ञाने हेतुमाह—नेति। अहं सर्वेश्वरः सर्वस्य लोकस्य स्वासाधारणस्वरूपेण प्रकाशस्तत्तल्लोकज्ञानविषयतां गतो नैव भवामि। स्वाप्रकाशे हेतुमाह—योगमायासमावृतः सर्वविलक्षणसामर्थ्याख्ययोगरूपमायया समावृतोऽस्मि। तस्मादयं मूढो मन्मायया मोहितो लोकः मां पारमेश्वरसामयुक्तं किन्त्वपरोक्षतया दृष्टाद्भुतपराक्रमत्वेन ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिदेवाशक्यकर्मानायासानुष्ठातृत्वेन लोकचमत्कृतिजनकज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसामाश्रयत्वेनानन्तफलदत्वेन च सर्वैरसकृदनुभूतोऽपि भवाँस्तैर्न कथमाराध्यत इत्याशङ्कामपनुदन्नभिधत्ते — अव्यक्तमिति। ममाखिलदेवाधिनायकस्य सर्वलोकशरण्यस्याव्ययं जन्मवृद्धिविनाशरहितम्। सदैकरसमिति यावत्। अनुत्तमं सर्वोत्कृष्टं परं भावं निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजःसमन्वितं सकलसुरासुरनरकिन्नरोरगवन्द्याङ्घ्रिपद्मं नित्योभयलिङ्गलक्षितं परात्परतरं मत्स्वरूपमजानन्तोऽर्वाग्दृशः केचिदबुद्धयः शास्त्राचार्यपरिचयशून्या मदीयदिव्यावतारलीलाप्रभावानुभवविधुरा अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नमयं वसुदेवतनयः पूर्वं नासीद् देवकीगर्भसम्भूत इदानीन्तन एवातोऽस्मदादिवत्परिमितशक्तिकः प्राकृतशरीरधृङ् मनुष्य इत्येवं मां सर्वजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयबीजं निरंकुशैश्वर्यशालिनं मन्यन्ते। एतादृङ्मत्स्वरूपाज्ञानादेव मत्प्रपत्तिवैमुख्यमाश्रयन्त इति भावः ॥ २४ ॥

अ० टी० — ननु सर्वेश्वरस्य तव दिव्यावतारादारभ्याद्यावधि सर्वलोकचमत्कृतिविधायिनोऽनितरसाधारणाद्भुतपराक्रमाननुदिनम्पश्य-

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

श्वैश्वर्यतेजोदधानमप्ययमजन्माऽव्ययो वृद्धिक्षयादिरहित इत्येवं नाभिजानाति ॥२५॥

आ० भा० मदाश्रितेयं माया मदीयं ज्ञानं लोकवन्नावृणोतीत्यतोऽहं सर्वदा सर्वज्ञस्तिष्ठामीत्युच्यते—वेदेति। हे अर्जुन ! अहं समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि चेति कालत्रयावस्थानि चराचरात्मकानि वेदाऽकर्मवश्यत्वेन नित्याऽनावृतन्तोपि कथं तेऽज्ञानिन एव सन्तीत्यपेक्षायामाह — नेति। अहं सर्वस्वतन्त्रः सर्वस्य जीवलोकस्य प्रकाशः स्वकीयसर्वपरस्वरूपेण प्रकटो नैव भवामि किन्तु केषाञ्चिन्मदनन्यभक्तानां पुरस्तादेव स्वप्रकाशं तनोमि यतो योगमायासमावृत्तः सर्वजगद्विलक्षणसामर्थ्यं योगः स एव माया विविधविचित्रकार्यसम्पादकत्वात्। तया समावृतस्तिरोहितः सर्वातिशायिस्वस्वरूपोऽस्मि। यद्यप्यलौकिकज्ञानैश्वर्यविक्रमादीनां स्वाभाविकधर्माणामद्यापि विद्यमानत्वात् स्वकीयप्राकृतदिव्यस्वभावो न मया कास्न्यैनान्तर्हितस्तथाप्ययं लोकः मूढः प्राक्तनविपरीतकर्मवासनाक्रान्तस्वान्तोऽखिलमर्त्यसाधारणस्वभावो मनुष्य एवायं न सर्वनियन्तेति मोहमापन्नो मां सर्वेश्वरं सशिरोनति ब्रह्मरुद्रेन्द्राग्निमरुदादित्याद्यमरपरिवृढविहितशासनमसकृदनुभूयमानातिमानुषपराक्रममजमव्ययं जन्मजरामरणादिविकारविधुरं मत्प्रपन्नजनमनोनयनानन्ददायिन्या लीलाया विस्ताराय मानुष्यमाश्रितमिति नाभिजानाति ॥ २५ ॥

ननु लोको मायावृतत्वान्मूढ इति त्वां न जानाति तथा

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥

**ज्ञानत्वात् । मां सर्वेषां योगक्षेमनिर्वाहाय परमसुलभमनुष्यावता-
रमाश्रितवन्तमपि न कश्चन वेद कर्मवश्यत्वेन मायाऽऽवृतज्ञा-
नत्वात् ॥२६॥**

**सर्वभूतानां मद्विषयकज्ञानाभावे संमोहमपि कारणमस्ती-
त्याह–इच्छेति । हेभारत ! इच्छाद्वेषसमुत्थेनेष्टविषये प्रीति-
रिच्छा तथाऽनिष्टविषयेऽप्रीतिर्द्वेषः प्राचीनानन्तजन्मानुभूते-
च्छाद्वेषाभ्यां समुत्थेन शीतोष्णादिद्वन्द्वविषयकमोहेन सुख-
दुःखानुरागविरागव्यापृतचित्तवैक्लव्येन सर्वभूतानि सर्गे
स्थूलदेहधारणसमय एव संमोहं स्वपरस्वरूपविवेकवैधुर्यात्-**
त्वमपि योगसमावृतत्वाद् भूतानि न जानीया अतो लोकसाधारण्यमेव
तवाप्यायातमित्यपेक्षायामाह-वेदेति । हे अर्जुन ! अहं नित्यस्वरूपः
समतीतानीदानीं स्वरूपेण नोपलभ्यमानानि वर्तमानानीदानीमुपलभ्य-
मानस्वरूपाणि भविष्याणीत ऊर्ध्वमुपजनिष्यमाणस्वरूपाणि कालत्रया-
वस्थितानि च भूतानि चराचराणि वेद मायानिष्प्रतिबद्धज्ञानत्वात् ।
मां तु मायाऽध्यक्षं समाश्रयणसुलभमनुष्यावतारेणाऽखिलजनमनोनयन-
गोचरतां गतमपि नैव कश्चन वेद । अनादिकर्मरूपाऽविद्यावृतज्ञान-
त्वात् । मत्स्वरूपं याथार्थ्येनानवच्छिन्न मदाराधने प्रवर्तत इति
तात्पर्यम् ॥२६॥

लोकानां मत्स्वरूपविषयकं ज्ञानं येन कारणेन प्रतिबद्धं **तदाह
इच्छेति । हे** भारत ! इच्छाद्वेषसमुत्थेनेष्टानिष्टविषययोरनुरागविरागा-

विच्छाद्वेषौ ताभ्यां पूर्वपूर्वजन्मजनितसंस्कारसध्रीचीनेच्छाद्वेषाभ्यां समु-
द्भूतेन द्वन्द्वमोहेन सुखदुःखादिद्वन्द्वविषयकमोहेन सुखदुःखानुराग-
विरागरूषिताचित्तवैक्लव्येन सर्वभूतानि सर्वप्राणवन्ति सर्गे स्थूलदेहजन्म-
समय एव सम्मोहं स्थूलदेहाभिमानं एतद्देहविशिष्टोऽहमेवोत्कृष्टो मम
यथा सुखमेव स्याद् दुःखं च कदाचिदपि न स्यात्तथाहं प्रयतिष्य
इत्येवं प्रकारेण सम्यङ्मोहं यान्ति । अयभभिसन्धिः । सर्वस्यापि लो-
कस्य प्राक्तनकर्मविपाकानुगुणैव वासना समुदेति । वासनामनुस्टत्य
संस्कारजनकोऽनुभवः सञ्जायते । ततः संस्कारस्ततश्च स्मृतिरितिक्रमः ।
सेयं स्मृतिः कर्मविपाकवासनानुभवसंस्काराननुरुध्येष्टानिष्टविषययोरिच्छा
द्वेषावुत्पादयति । स चायं क्रमोऽनादिकर्मप्रवाहजनितत्वेनामुक्त्यनुवर्तते ।
अयमेवार्थोऽत्र गीताचार्यैः सर्वभूतानि स्वदेहसर्गे सम्मोहं यान्तीत्युक्तः।
स्फुटश्चायमर्थः पातञ्जलदर्शने "ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-
र्वासनानाम् ,, जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तेर्यं स्मृतिसंस्कार-
योरेकरूपत्वात्, (पा. सू. कै. ८ । ७) इति सूत्रयोः । प्रत्य-
पीपददिममर्थं महर्षिर्वेदव्यासः स्वकीये भाष्ये "यज्जातीयस्य कर्मणो
यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभि-
व्यक्तिः । न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतियङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्ति-
निमित्तं भवति किन्तु दैवानुगुणा एवास्यवासना व्यज्यन्ते नारकतिर्यङ्-
मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः । एवं स्मृतिसंस्करयोरेकरूपत्वाद्यथानुभवा-
स्तथा संस्कारास्तेच कर्मवासनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति
जातिदेशकालव्यहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः । स्मृतेश्च पुनः संस्कारा
इत्येते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्तेऽतश्च व्यवहि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

स्वदेहाभिमानमाप्नुवन्ति । ततः सर्वान्तर्यामिणं मां सर्वशेषिणमविज्ञाय न प्रपद्यन्त इति भावः । भारतपरन्तपेति सम्बोधनाभ्यां क्षत्रियश्रेष्ठभरतवंशोद्भवत्वात् स्वयं च शत्रुतापकत्वात्त्वैतत्सम्मोहो न भवितुमर्हतीति सूच्यते ॥२७॥

आ०भा० सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति चेन्न केऽपि त्वां भजेरन्नित्यत आह—येषामिति । येषां प्राक्तनपुण्यकर्मणां जनानां मत्प्रपत्तिप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमस्तं यातं ते सुकृताचारपरायणा द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः शीतोष्णादिविषयकमोहाद्विनिर्मुक्ताः सन्तो मां सर्वाभीष्टदातारं प्रणतकल्पपादपं सर्वापन्निवृत्तयेऽपरिमितसम्पत्प्राप्तये च दृढनिश्चयाः सन्तोऽनन्यभावेन भजन्ते ।।२८॥

तानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति,, एवञ्च विपच्यमानकर्मणां वासनावशादनुभवः समुत्पद्यते । तदनुसारी संस्कारस्तदनुगुणामेव स्मृतिंजनयति । इयं हि स्मृतिः पूर्वपूर्वसंस्कारमाश्रयन्तीष्टद्विष्टयोः सुखदुःखादिविषयकमोहमुत्पाद्य जन्मत एवाशेषक्षेत्रज्ञान् सम्मोहयति । तदनेन स्वदेहव्यामोहेनाखिलजन्तवः सर्वनियामकस्य ममोपासनातः पराङ्मुखा भवन्तीत्याशयः । भारतेति प्राक्सम्बोध्य पुनः परन्तपेति सम्बोधयता भगवता त्वं तु भरतवंश्य शत्रुतापनश्चासि । अतः सम्मोहाविश्यतां गन्तुमनर्ह इति सूच्यते ॥२७ ॥

ननु यदि सर्वभूतानि सम्मोहंयान्ति चेत्तर्हि 'चतुर्विधा भजन्ते मां, इत्युक्तानां त्वद्भक्तानां का गतिरित्यपेक्षायामह — येषामिति । अत्र तु शब्द आशङ्कितपक्षमुच्छिनत्ति । येषान्तु पुण्यकर्मणां प्राक्तनसुकृतसंस्कारवशात् सद्धर्मानुष्ठायिनां सज्जनानां मदनुध्यानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमपध्वस्तं ते तथाविधा मद्भक्ता द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता जागतिकसुखदुःखादिद्वन्द्वमोहान्निर्मुक्ता द्वन्द्वासक्तिजनितवैचित्र्यरहिता अत एव दृढव्रता मयि निबद्धहृदया मां सर्वलोकशरण्यं स्वकामनाऽवाप्तये मत्सायुज्यसंसिद्धये च भजन्ते मामेवानवरतमाराधयन्ति ।।२८।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

आ०भा० अथैतेषां भक्तानां कर्तव्यफलमुपदिशतिजरामरणमोक्षायेति द्वाभ्याम् । ये मद्भक्ता जरामरणत्रासविनाशाय स्वकीयविशुद्धस्वरूपावाप्तय इति यावत् । मां प्रपद्य यतन्ति मदाराधनात्मकेषु फलकामनारहितेष्वेव कर्मसु प्रयत्नं विदधते । ते हि भक्तास्तत्परिज्ञेयं ब्रह्म कार्त्स्न्येनाध्यात्ममखिलं कर्म च विदुः । त एव हेयोपादेयवस्तुज्ञानसमन्विता इत्यर्थ ॥२९॥

एवं पुरोदीरितस्वभक्तानां ज्ञानोपयोगिविशिष्टार्थपरिज्ञानेनैव साफल्यमिति कथयन्नष्टमाध्यायकृतार्जुनप्रश्नोत्थानबीजमतिसंक्षिप्ततया निर्दिशन् प्रकृतमुपसंहरति — जरामरणमोक्षायेति द्वाभ्याम् । ये मद्भक्ता जरामरणमोक्षाय कर्मोपाधिविनिर्मुक्तस्वकीयस्वाभविकरूपनिष्पत्तये च मामुश्रित्य मच्छरणमुररीकृत्य यतन्ति । परस्मैपदप्रयोगोऽत्र आर्षः । मत्प्रसत्तिफलकं मदाराधानमनुतिष्ठन्ति । ते मत्सेवकास्तद्ब्रह्म विदुः कृत्स्नमशेषमध्यात्मं यथावद्विदुरखिलं कर्म चापि विदुर्ज्ञातव्यमर्थं यथावज्जानन्तीत्यर्थः ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः ।
प्रयाणकालेपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां श्री कृष्णार्जुनसंवादे विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—०—

ये च पुनरधिभूताधिदैवाधियज्ञैः सह मामेवावगच्छन्ति ते सर्वेऽपि च शरीरावसाने मामेव ध्यायन्तोऽवगच्छन्तश्च मद्भक्ता मयि संलग्नमनसः स्वेष्टफलसिद्धये स्वरूपगुणविभूतिसमन्वितं मां विदुः । अत्र संक्षेपेणोद्दिष्टानां सप्तानामपि विवेचनमुत्तराध्यायेऽर्जुनप्रश्नानन्तरमुत्तरतया स्वयमेव विधास्यति भगवान् श्रीकृष्णः ॥३०॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

—०—

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

व्याप्तिर्देवस्य देहे जगति जनचयो मायया मोहमाप्त-
स्तामेतां तर्तुकामैर्मधुरिपुचरणे सुप्रपत्तिर्विधेया ।
सेवा देवान्तराणां परिमितफलदा नैव कार्या प्रपन्नै-
र्ज्ञानी श्रेष्ठः समेषामितिमतमवदत् सप्तमे श्रीमकुन्दः ॥७॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतञ्च किम्प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥२॥

एवं परमात्मोपासनस्य साक्षात्परमपुरुषार्थसाधनत्वं तदनुष्ठातुश्च सर्वेभ्य उत्कृष्टत्वमभिधाय तत्फलस्यानन्त्यं प्रसङ्गाद् देवतान्तराराधनस्यान्तवत्फलप्रापकत्वञ्चोपदिश्योपादेया-

ज्ञातव्यान्तरमप्याह — साधिभूताधिदैवमिति । ये मद्भक्ता अधिभूतेनाधिदैवेन अधियज्ञेन च सहितं मां विदुर्मद्विषयकवेदनवन्तस्ते युक्तचेतसः । अनेन पूर्वोक्तं 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते, इति स्मारितम् । युक्तं मद्योगयुक्तं चेतो येषान्ते सर्वप्रकारेण मय्यावेशितचित्ता इत्यर्थः । अत एव भाष्ये 'मयि संलग्नमनस, इत्युक्तम् । एदेवोक्तं श्रीमद्भागवते' मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः, (भा. ७–४ ६६) इति । मां यथोक्तस्वरूपगुणविभूतिसहितं प्रयाणकाले चरमदेहावसाने मत्सायुज्यावाप्तयेऽर्चिरादिनाऽध्वनाऽन्तिमप्रयाणकालेऽपि विदुः । अत्र षण्णामुपायविषयऽन्तिमस्य च फलविषयोपयोग इति भगवद्वचनस्वारस्यादवगम्यते ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायब्रह्मवित् स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

र्थः समग्राहि । अध्यायान्ते च जरामरणमोक्षायोपयोगिनो ज्ञेयत्वेनोद्दिष्टाः सप्तपदार्थास्तेषां ब्रह्मानुध्याने सहकारितया स्वरूपविज्ञानमावश्यकमिति भगवद्वचनमाकर्ण्य तत्वबुभुत्सुरर्जुन उवाच । स्वजिज्ञास्यमर्थं शब्दतः प्रकटीकरोति- किमिति द्वाभ्याम् । हे पुरुषोत्तम ! ब्रह्माध्यात्मादिकं ज्ञातव्यतया त्वयोक्तम् । तत्परिज्ञातुकामोऽहं सानुनयं पृच्छामि । तद्ब्रह्म किमुच्यते ? अध्यात्मशब्देन किमभिधीयते?कर्मपदबोध्यं किम्? भूताधिदैवशब्दाभ्यां किमुच्यते ? हे मधुसूदन ! अस्मिन् देहे ऽधियज्ञपदार्थः केनप्रकारेण कोऽवगन्तव्यः नियतचित्तैर्देहत्यागसमये च कथं केन प्रकारेण ज्ञातव्योऽसि ? ॥१॥२॥

गतेनाध्यायेन परमात्मनः सर्वव्यापकत्वेन सर्वनियामकत्वेन सर्वाधारत्वेन सर्वशरीरत्वेन सर्वोपास्यत्वमुक्तम् । दुरत्ययभगवन्मायाया महापुरुषसमाश्रयणमन्तरेण सन्तरणेऽशक्यता चाभिहिता । भगवत्प्रपत्तिनिरतस्यैकान्तिन एव ज्ञानित्वं तस्यच चतुर्विधभगवद्भक्तेभ्योऽपि श्रेष्ठत्वम्प्रतिपाद्य देवतान्तरभक्तानामन्तवत्फलोपलब्धिं विनिर्दिश्य महापुरुषप्रपन्नस्यैवानन्तफलनिःश्रेयसावाप्तिर्नान्यस्येति च प्रत्यपादि । अथेदानीं गताध्यायान्ते प्रस्तावविधया जरामरणमोक्षाय ज्ञातव्यतया निर्दिष्टाः सप्तपदार्थास्तेषां लक्षणस्य स्वरूपस्य च परिज्ञानमावश्यकं मत्वा तज्जिज्ञासुरर्जुन उवाच-किमिति द्वाभ्याम् । अभ्यर्णमेवाभ्यधायि भवता यन्माश्रित्य यतमानानां जरामरणादिरूपजगद्बन्धनविमुक्तये तद्ब्रह्माध्यात्मादिकं वेदनीयं तदेव चोपादेयमित्यादिकम् । हेपुरुषोत्तम ! पुरुषेषूत्तम समाश्रयणीयत्वेन सर्वश्रेष्ठ ! तत्र पदार्थतत्वावधानाय मदीयेयं

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

सप्तानां प्रश्नानाम्मध्ये पूर्वपूर्वोपात्तानां त्रयाणां क्रमेणोत्तरं श्रीभगवानुवाच–अक्षरमिति । त्वया पृष्टं तद्ब्रह्म किमिति । तत्परमं प्रकृतेः परं ब्रह्माक्षरमेव न क्षरतीत्यक्षरं "अव्यक्तमक्षरे लीयते" इति श्रुतिबलात् प्राप्यतया ज्ञेयमविनाशि प्रत्यगाजिज्ञासाऽस्ति । तद् ब्रह्म किं विवक्षितमध्यात्मपदवाच्यश्च किं कर्मशब्दनिर्दिष्टश्च किमधिभूतमधिदैवशब्दव्यपदेश्यश्च किमुच्यते ॥१॥

किञ्च हे मधुसूदन ! भवदभिहितेऽस्मिन् देहेऽधियज्ञोऽधियज्ञपदार्थोः यज्ञेऽधिकृतः कश्चिज्जीवविशेषः परमेश्वरो वा ज्ञेयः ? कथं केन प्रकारेण कोऽवगन्तव्यः । कथमिति न प्रकारप्रश्नो भिन्नः किन्त्ववगमप्रकारपूर्वक एक एव । प्रयाणकालेऽस्माच्छरीरान्निष्क्रान्तिसमय एतत्समये विद्वदविदुषामपि मरणक्लेशकालुष्यान्मनोवैक्लव्यस्यावश्यकत्वान्नियतात्मभिरित्युक्तम् । चिराभ्यस्तभगवदाराधनजनितसमाहितमनोभिस्तवानन्यभक्तैरिति तात्पर्यम् । कथं केन प्रकारेण स्मरणीयोऽसि ? न हि तदानीं सिद्धपद्मापासनादीनि विधाय ध्यानधारणासमाधिविधयोऽनुष्ठातुं शक्याः । अतः कोऽस्ति सुगमप्रकारो यो झटिति चित्तभूमिं समारूढो भवेत् । एतान् मज्जिज्ञासाविषयीभूतानर्थांस्त्वमेव सर्वज्ञः प्रपन्नार्तिहरोऽसीत्यतः कृपया ब्रूहीति भावः ॥२॥

एवमर्जुनविहितसप्तप्रश्नानामुत्तरं श्लोकत्रयेण भगवताऽभिधीयते । तत्र येन क्रमेण प्रश्नोपन्यासस्तेनैव क्रमेण तत्प्रतिवचने प्रतिवक्षरि

त्मस्वरूपम् । एवं परमात्मसाधर्म्यादुपचारतया ब्रह्मशब्दवाच्यं प्रत्यगात्मस्वरूपमभिधाय त्याज्यतया ज्ञेयमध्यात्मपदवाच्यमाह–स्वभावः प्रकृतिस्तद्वासनादिकं च कर्मप्रयुक्तात्मसम्बद्धत्वेनाध्यात्ममुच्यतेऽभिधीयते । अथोद्वेजनीयत्वेन परिहरणीयत्वेन च ज्ञेयं कर्मोच्यते–* भूतानां भावो भूतभावस्तस्योद्भवकरो मनुष्यादिदेहयोगोत्पत्तिकरो विसर्गः पञ्चाग्निविद्योक्तहोमयागादिः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

प्रतिपत्त्यतिशयपरिज्ञानेन श्रोतुरुत्पद्यते निरतिशयो निर्विशयः संतोषस्तेन च प्रष्टुः सावधानता निष्पद्यते। प्रश्नक्रमविपर्यासे तु निष्प्रतिभोयमित्यवगमसत्वेऽनवधानताप्राप्तौ वक्तुरुत्साहनाशे प्रस्तुतप्रसंगभंगस्तस्मात् प्रश्नक्रममनुसृत्यैवोत्तरयितुं श्रीभगवानुवाच–अक्षरमिति । तद् ब्रह्म किमिति तव प्राथमिकः प्रश्नस्तदुत्तरमक्षरमेव परमं ब्रह्मेति न क्षरतीत्यक्षरं विनाशरहितं क्षेत्रज्ञसमष्टिरूपम्। तथा चाहुः श्रुतयः-अविनाशी वाऽरेयमात्मा' (बृ.) 'अव्यक्तमक्षरे विलीयतेऽक्षरं तमसि विलीयते' (सुबा०) अत्र ह्यक्षरपदप्रवृत्तिनिमित्तं प्रकृत्यवस्थाविशेषविशिष्टचेतनत्वमेव परमिति विशेषणेन च प्राकृतांशविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपमेव ज्ञेयत्वेनोक्तम्। ननूपास्यत्वं ज्ञेयत्वञ्च महापुरुषपदवाच्यश्रीरामस्य परब्रह्मण एव गीतादिसकलशास्त्रसिद्धान्तः । स च प्राकृतसंसर्गविनिर्मुक्तात्मस्वरूपस्याक्षरस्यात्र ज्ञातव्यत्वेनाभिधीयमाने बाध्येतेति चेन्न ब्रह्मशब्दाभिधेयताऽप्यस्याऽसंकुचितज्ञानत्वेन तद्द्वारा सर्वव्यापकत्वेन स्वयंप्रकाश-

*** अत्र 'भूतभावोद्भवकरः, इतिविशेषणाभिधानान्मूत्रमलादिविसर्गाणां व्यावृत्तिः ।**

त्वेन च संगच्छते । यद्यपि वाजसनेयिनः 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु, (बृ.५।८।८) एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, (बृ–५।८।९) इति । आथर्वणिकाश्च 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, (मु. १। १। ५) इत्यादावक्षरशब्दवाच्यं परमात्मानमेवाभिदधते । निर्णीतमप्येवमेव 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः, (१। ३।१०) इति पारमर्षे सूत्रे। व्याख्यातञ्चैवमेव प्रकृतसूत्रीयश्रीमदानन्दभाष्ये श्रीमद्रामानन्दभगवत्पादैः " अक्षरं परंब्रह्मैव। कुतः अम्बरान्तधृतेः। अम्बरस्य गगनस्यान्तः समाप्तिर्यत्र तदम्बरान्तमव्याकृतमम्बरस्य कारणम्. इत्यारभ्य तस्माद् द्युपृथिव्याधारस्याव्याकृतस्याधारत्वादक्षरं ब्रह्मैव न प्रधानम्, इत्यन्तेन ग्रन्थेन। तथाप्यत्राक्षरशब्दनिर्दिष्टं पूर्वोक्तमात्मतत्वमेव । तत्रैव गीताशास्त्रतात्पर्यनिश्चयात् । विज्ञेयतयोक्तस्यास्य विशुद्धात्मस्वरूपस्य क्षेत्रज्ञस्य पुनरप्यस्मिन्नेवाष्टमे प्रपाठके' अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्, इति वचनेन स्वयमेव निर्दिष्टत्वात्। तथा 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥ (गी. १५।१६)। यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। (गी. १५ । १८) इत्याद्युत्तरग्रन्थेऽक्षरपरमात्मनोर्भेदेनाभिधीयमानत्वात् । अथ किमध्यात्ममिति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह–स्वभावः प्राक्तनकर्मसंश्लिष्टतन्मात्रादिरूपा प्रकृतिरेव । इयमपि वेद्यतया पंचाग्निविद्यायां निर्दिश्यते । तत्र हि 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति (छा.५। ३ । ३) इति वेदनविषयकः प्रश्नः। अत्रापूशब्दो भूत-

अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥४॥

अथैश्वर्यकामैः प्राप्यत्वेन ज्ञेयमधिभूतपदवाच्यमभिधीयतेऽधिभूतमिति । हे देहभृतां देहधारिणां मध्ये वर श्रेष्ठ अर्जुन ! क्षरन्तीति क्षरा विनाशशीलाः स्वाश्रयसहिताः शब्दादयः । अत्राकाशादिभूतानां सम्बध एव शब्दादीनामधिभूतशब्दनिर्देशे हेतुः । पुरुषश्चैश्वर्यकामैः प्राप्यत्वेन ज्ञेयां सूक्ष्माभिधायी । तद्वेद्यत्वं तद्य इत्थं विदुरित्यादिफलश्रुत्याऽवगम्यते । तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—भूतभावोद्भवकरो भूतानां चराचरात्मकवस्तूनां भावः सत्वं तस्योद्भवमुत्पत्तिं करोति तथाविधो विसर्गो होमयागादिरूपः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति, (छा.५-७।१) इति श्रुतिनिदर्शितः 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति, (छा. ५।८।२) इति श्रुत्युक्तप्रकारेण योषिदग्नौ रेतसो होमस्तथा देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो याग इत्युभयविधविसर्गस्य कर्मसंज्ञास्ति । एतत्परिज्ञानमप्यावश्यकम् । यतः 'स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति । यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति' (छा.५।९।२) इति श्रुतेर्मुहुर्मुहुर्गर्भवासादिदुःखोत्पादकत्वेन तथा 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः । (मनु०) इति स्मृत्युक्तदिशा चास्य यागात्मकविसर्गाद्यकर्मणो भूयो भूयः संसृतिजनकत्वेन वर्जनीयतया श्रेयोऽर्थिभिर्ज्ञातव्यमित्युपदेशः ॥३॥

चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह—अधिभूतमिति । अधिभूतं भूतशब्दस्य यद्यपि

भोक्तृत्वावस्थामवाप्तो जीव एवाधिदैवतम् । इन्द्रादिदेवताभोग्यविलक्षणशब्दादिभोक्तृत्वेन हेतुनेन्द्रादिदेवतानामुपरि वर्त्तमानत्वमेव जीवस्याधिदैवतशब्दनिर्देशे हेतुः । अहं सर्वेश्वर एवात्रास्मिन् देहेऽधियज्ञः । यज्ञैराराध्यत्वेन वर्त्तमानत्वमेव भगवतोऽधियज्ञशब्दनिर्देशे हेतुः । आह च भगवती श्रुतिः "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यादि ॥४॥

'भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ जन्ताविति कोषादाकाशादौ प्राणिष्वपि शक्तिस्तथाप्यत्राकाशादयोऽचित्परिणामविशेषा भूतपदवाच्यास्तादृशभूतमधिकृत्य भवत्यधिभूतं तच्च क्षरो भावः क्षरणशीलः शब्दस्पर्शादिरूपस्तद्वन्तस्सर्वेऽपि भावाः पदार्था वेदनीयाः । क्षरो भाव इत्येकत्वन्तु जात्यभिप्रायेण बोध्यम् । इमे च भावा भोगिनामिष्टसिद्धये भोग्यत्वेन ज्ञातव्या भवन्ति । मुमुक्षुभिरपि हेयतया ज्ञानोपयोगिनः । पञ्चमप्रश्नस्योत्तरमाह—अधिदैवतं दैवतान्यधिकृत्य वर्तत इत्यधिदैवतं पुरुष एव । स चाक्ष्यादिस्थानापन्नादित्यादिदेवेभ्यो विलक्षणस्तत्तद्भोगाधिष्ठातृत्वेन प्रेयोऽर्थिभिः श्रेयोऽर्थिभिश्च ज्ञातव्यो भवति । तदधीनत्वात्समस्तकरणकलेवरग्रामस्य । षष्ठप्रश्नस्योत्तरमाह—अत्र देहेऽधियज्ञपदव्यपदेश्योऽहमेव । यज्ञमधिकृत्याऽधिकारिभिर्देहेष्वाराध्यमानस्तत्तद्देहान्तर्यामितयाऽवस्थितोऽहमेवाधियज्ञ इत्यर्थः । अथवा यज्ञसमाराधितेन्द्रादिदेवान्तर्यामितया वर्तमानोऽधियज्ञोहमेव । मदधीनैव यजमानाराध्यदेवतायाः फलप्रदानप्रवृत्तिरिति तदर्थः । देहभृतां वर इति सम्बोधनेन मत्संगसञ्जातमद्विषयकानुरक्त्यतिशयसमुद्भूतमदनुरागध्वस्तसमस्तकिल्विषत्वादखिलदेहभृतां वरस्त्वमसीत्यतो मदभिप्रायं सम्य-

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

क्रमप्राप्तसप्तमप्रश्नस्योत्तरमाह—अन्तकाल इति । यः पुमानन्तकाले प्रारब्धदेहावसाने मां सर्वेश्वरं सर्वस्यात्मानमनुध्यायन् निजकलेवरं हित्वा देवयानपथा प्रयाति स मद्भावमाविर्भूतगुणाष्टकः सन् मत्सायुज्यं प्राप्नोति न तु मत्स्वरूपैक्यम् । अत्रार्थे न कश्चिदपि संशयः । निःसंशयं निःश्रेयसमवाप्नोतीति भावः । प्रपञ्चितश्चायमर्थोऽस्माभिर्ब्रह्ममीमांसाया दहराधिकरणीयभाष्ये—भगवद्भावापत्तावात्मनो यथास्वरूपावस्थितिरिति ॥५॥

गवगन्तुं समर्थोऽसीति सूच्यते ॥४॥

एवं षण्णां प्रश्नानामुत्तरस्वरूपमक्षरादिषट्पदार्थस्वरूपविवेचनपूर्वकं तत्परिज्ञानमावश्यकमित्यभिधाय तत्प्रयोजनतया परमोपादेयं सप्तमप्रश्नस्योत्तरमभिधत्ते—अन्तकाल इति। यः श्रेयोऽर्थी अन्तकाले शरीरावसानसमये च मां निखिलात्मभूतं मुमुक्षुजनकल्याणकल्पद्रुममशेषचिदचिद्वस्तुनियन्तारमेव स्मरन् कर्मोपात्तं स्वकीयं कलेवरं मुक्त्वा प्रयाति विद्याभ्यासलब्धमहापुरुषानुग्रहेण मूर्धन्यनाड्योत्क्रम्यार्चिरादिमार्गेण गच्छति । प्रोपसर्गमहिम्नायमर्थोऽवसीयते । स मच्चिन्तको मद्भावंप्राकृतनामरूपाभ्यां निर्मुक्तं ज्ञानैकाकारतया मत्स्वभावं मम नित्यनिरवद्यदिव्यकल्याणगुणगणार्णवस्योभयविभूतिनायकस्य साधर्म्यमौपाधिकधर्मान् परिहायाविर्भूगुतणाष्टकं स्वकीयं वास्तविकज्ञानस्वरूपं न तु मत्स्वरूपैक्यमुपयाति । कर्मकृतदेवमनुष्यादिदेहस्वरूपभेदमपास्य ज्ञानैकाकारतया मत्स्वरूपमासादयति । अयमेव चास्य परमपुरुषार्थोऽत्र संशयो

नास्ति । यत्त्वत्र गूढार्थदीपिकायां 'स उपासको मद्भावं मद्रूपतां निर्गुणब्रह्मभावं हिरण्यगर्भलोकभोगान्ते याति प्राप्नोति । निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्षे तु कलेवरं त्यक्त्वा प्रयातीति लोकदृष्ट्यभिप्रायम् । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते, इति श्रुतेस्तस्य प्राणोत्क्रमणाभावेन गत्यभावात् स मद्भावं साक्षादेव याति 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेरित्युक्तं तद्गीतातात्पर्यविरुद्धम् । अत्र च स्वकण्ठरवेणैव गीताचार्येण निर्णीतोऽयमर्थः 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (गी १४ । २) इत्यत्र ब्रह्मज्ञानवतां ब्रह्मणः समानधर्मत्वमेवोक्तं न तु ब्रह्मतादात्म्यम् । न च साधर्म्यधारणानन्तरं तादात्म्यं भजत इति वाच्यं, साधार्म्यमागतानामेव सर्गप्रलययोरुत्पत्तिविनाशाभावबोधनस्य श्लोकोक्तस्य वैयर्थ्यात् । एवं गीताशास्त्रस्याम्नायसारभूतत्वादुपनिषदर्थप्रकाशकत्वाच्चोपनिषद्रूपतैव सर्वैराचार्यैरङ्गीकृता । अथाप्युनिषत्स्वप्ययमेवार्थः प्रतिपाद्यते । छान्दोग्ये तावत् 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' (छा ८ ।१२ । ३) इत्यादयः सर्वलोककामचारत्वादिव्यवहारा मुक्तात्मन उपलभ्यन्ते । न ह्येते व्यवहारा ब्रह्मतादात्म्यमुपगतस्य सम्भवन्ति । न च क्रममुक्तिपक्षे तथा व्यवहारस्याक्षतिः सद्यो मुक्तिपक्षे तु ब्रह्मातादात्म्यमेवेति वाच्यम् , श्रुतिगीताशास्त्रसम्मतायां मुक्तौ त्वदभिमतयोरनयोः पक्षयोरसम्भवात् । क्रममुक्तिपक्षस्य कथञ्चित् सम्भवेऽपि सद्योमुक्तिपक्षस्य सुतरामसम्भवात् । अत एव न मोक्षे जीवब्रह्मणोस्तादात्म्यम् । एतदभिप्रायेणैव मुण्डकश्रुतिः- 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, (मु ३। १।३) इति परमं साम्यमभिधत्ते । साम्यञ्च भेदघटितमेव भवति । एवं तैत्तिरीयश्रुतावपि 'सोऽश्नुते

सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता, (तै.) इत्येवं प्रतिपादनान्मुक्तौ तादात्म्यं वार्यते । अत एवोत्तरमीमांसायां मुक्तस्य संकल्पमात्रेणव सर्वेश्वरत्वादिकमपि स्यादित्याशंक्य 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च, (ब्र. सू.) 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च, (ब्र. सू. ४।४।२१) इति सूत्रद्वयेन तस्य ब्रह्मणा सह भोगमात्रेणैव साम्यं न तु जगदीश्वरत्वेनापीति समाहितं संगच्छते । किञ्च सद्यो मुक्तिरिति पक्षस्याङ्गीकारे परजीवस्वरूपस्थित्यादिनिर्णयमात्रफलिकाया ब्रह्ममीमांसायाः फलाध्यायीयद्वितीयपादादिसमस्तोऽपि भागो वैयर्थ्यमासादयेत् । नन्वेवं 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते. इति सद्योमुक्त्यभिधायिन्यः श्रुतयो निर्विषयतां प्राप्नुयुरितिचेद् वाढं नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति । न ह्युच्छास्त्रेऽर्थे श्रुतयो बलादन्वेतुमिष्यन्ते । भवदभिमतश्रुतिपाठोऽपि वाजसनेयिनामुपनिषदि नोपलभ्यते । तत्र हि न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, (बृ. ४।४।६) इत्येवं श्रूयते । अत्र ब्रह्मविद उत्क्रान्तिर्न निषिध्यतेऽपि तु जीवात्पार्थक्येन प्राणानामुत्क्रान्तिर्वार्यते । न तु विद्वच्छरीरादुत्क्रान्तिर्न भवतीत्युच्यते । यतस्तस्येति तच्छब्देन ब्रह्मवित षष्ठ्या च प्रत्यासत्या तत्सम्बन्ध एवोच्यते । अथवा नटस्यगाथां शृणोतीति वदपादानलक्षणसम्बन्धे षष्ठी । अत एव माध्यन्दिनाः शारीरावधिकप्राणानुत्क्रमणमामनन्ति । " योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति । अतएव काठके 'अत्र ब्रह्म समश्नुते, (का० २।६।१६) इति वचनान्तरं "शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । " तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति (का. २।६।)

इत्युच्यते । तदेतदवगम्यते यद् ब्रह्मविदः प्राणाः सुषुम्नया नाड्यैव शरीरान्निःसृत्यार्चिरादिमार्गेणैव ब्रह्मलोकं प्रयान्ति । स्पष्टमेतच्छारीरकमीमासायाः 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् स्पष्टो ह्येकेषाम् , (ब्र. सू. ४।२।१२) इति सूत्रे तदीयानन्दभाष्ये च । एवमनेकप्रमाणैः सद्योमुक्तिर्न सिध्यति नतरां जीवब्रह्मणोस्तादात्म्यम् । यदपि तयोस्तादात्म्ये कीटभृङ्गन्यायस्य निदर्शनमुपपाद्यते तदपि विचाराक्षमम् । न हि कुड्यस्थकृशोदरीनीडान्तर्गतः कीटो बहिर्बम्भ्रम्यमाणकृशोदर्यास्तादात्म्यं भजते । अपि तु परिणतनीडकीटकृशोदर्यौ युगपदेवनीडसुषिरान्निःसृत्य बहिःप्रदेशयोर्बम्भ्रम्यमाणावलोक्येते इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । कृशोदर्याः साम्यं ताद्रूप्यं न तु तादात्म्यमिति शक्यते वक्तुमिति नैतन्निदर्शनं परजीवयोस्तादात्म्यसाधकमित्यवधारयन्तु सुधियः । एतेन जीवन्मुक्तिरपि पराकृता वेदितव्या । न हि कर्मकृतप्राकृतशरीरसम्बन्धसत्वे कश्चिदपि मुक्तिभूमिमध्यास्ते । 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, (छा. ८।१२।१) इति श्रुतेः शरीरसम्बन्धानपगमे प्रियाप्रियत्वयोरविच्छेदबोधनात् । किञ्च का पुनर्जीवतो मुक्तिरिति विवेचनीयम् । जीवत एव ब्रह्मविदः शरीरसम्बन्धात्कर्मसम्बन्धादज्ञानादशनादिव्यवहाराद्वा मुक्तिरिति चत्वारः पक्षा उपस्थिता भवन्ति । तत्र नाद्यः। न हि जीवन्नेव कश्चिच्छरीरसम्बन्धमुच्छिनत्ति । उच्छिन्नशरीरो वा जीवन्नवतिष्ठते । तदिदं जीवन्नपि देहान्मुक्तश्चेति 'ममास्ये रसना नास्तीतिवद् व्याहतं वचः । न द्वितीयः सशरीरस्य जीवतश्च कर्मसम्बन्धो दुस्त्यजः । एतदपि निस्तैलप्रदीपो ज्वलतीति वचोवद् व्याहतमेव । यतो जीवतो मूलं शरीरावस्थानं तस्य च मूलं कर्मसम्बन्ध इत्यतो

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अन्तकालिकस्मरणसमनन्तरजन्मनि साधारणनियमं दर्शयति—यमिति । हे कौन्तेय । अन्तकाले यं यं वापि भावं देवमनुष्यादिस्वभावं स्मरन्ननुध्यायन् कलेवरं त्यजति यः प्राणी

जीवन्मुक्तौ कर्मसम्बन्धापगम इति रिक्तं वचः। व्यपेतकर्मसम्बन्धेन शरीरं धारयितुमशक्यत्वात् । निःशरीरस्य चेह जगति जीवितुमशक्यत्वात् । नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति भगवद्वचनविरोधाच्च । न तृतीयो जीवन्मुक्तिवादिमतेऽज्ञानात्कर्मसम्बन्धस्ततो देहसम्बन्ध इत्येवं वस्तुस्थितौ मूलभूतेऽज्ञाने विनष्टे·तत्कार्यभूतयोः कर्मशरीरयोः सम्बन्धस्य क्षणमपि स्थातुमशक्यत्वात् । अथ कियन्ति दिनानि छिन्नमूलद्रुमवत्तिष्ठतीति चेन्नैतद् युक्तिसहम् । यत्क्षणे मूलमुन्मूलितं तत्क्षण एव विशीर्णपर्णः शुष्यदुपशाखो म्लानशाखः सूक्ष्मोपजातविक्रियः शाखी सूक्ष्मदृग्भिरध्यक्षमीक्ष्यते । महाखनिकेन मूलमुत्खन्यमाने शिखरिणोऽपि क्षरन्तो दृश्यन्ते किमुत क्षुद्रशाखिनः । नापि चतुर्थः । पानाशनविसर्गादिक्रियामन्तरेण क्षणमपि शरीरयात्रा न सिद्ध्येदिति स्वानुभाव्यमेतत् । अत एव गीताचार्यः 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः, (गी.) इत्यकर्मणः स्पष्टमेवाह शरीरयात्रानिर्वाहाक्षमताम् । न हि ब्रह्मवित्तमोऽपि क्षुत्तृडादिक्लेशलेशं सोढुं प्रभवति क्षणमात्रम् । तस्मादशास्त्रीयैवेयं सद्योमुक्तेर्जीवन्मुक्तेश्च कल्पनेत्यास्तां तावत् ॥५॥

अन्तकाले भगवदनुध्यानजन्यभगवत्सायुज्यप्राप्तिर्नैयत्येन स्याच्चेत्कलत्राद्यनुचिन्तकानां वैषयिकप्राणिनां कामिन्यादिलोकावाप्तिरपि

स सदा स्वजीवनकृत्स्नसमये प्राणवियोगसमयेऽपि च तद्भावभावितस्तस्य भावविशेषस्य भावेन भावनया भावितः स्वायत्तीकृतस्तं तं स्मर्यमाणं देवमनुष्यादिस्वभावमेवैत्यवश्यं प्राप्नोति ॥६॥

स्यादित्याशंकाया वाढमित्युत्तरेणापनोदनीयत्वेऽपि यो यो मरणानन्तरं यद्यल्लोकवान् सोन्तकालिकतद्विषयकस्मरणवानिति साधारणव्याप्तिं बोधयितुमभिधत्ते—यमिति । हे कौन्तेय ! कुन्तायाः पितृष्वसुः सूनुत्वेन सम्बोधनं कृतवतो भगवतस्तस्मिन् प्रेमातिशयस्तेन च गोप्यार्थप्रकाशनार्हता च सूच्यते । यत्त मधुसूदन्यां 'तेन च प्रतारणाशंकाशून्यत्वमिति सम्बोधनभावतया प्रकाशितं तदयुक्तं भगवद्वचसि प्रतारणशंकायाः संभव एव कथं स्यात् । अन्ते प्राणवियोगसमये यं यं वापि वीप्सयात्र व्याप्तिरभिमता भावं देवतिर्यङ्मनुष्यादिस्वभावं स्मरन् सञ्चिन्तयन् कलेवरं त्यजति यः स । स्मरन् त्यजतीति सामानाधिकरण्येन स्मरणत्यागयोः समानकालिकत्वं विवक्षितम् । एतच्च कदा सम्भवति यदा प्राणवियोगात् प्राक् स्वस्थदशायां चिरकालाभ्यासातिशयेन तदेकमनस्कता सम्पादिता स्यादन्यथा मरणवेदनाधीनमनोविस्तृतिर्नियतेत्यत आह—सदेति । सदा तद्भावभावितस्तस्य प्राणिनो भावेन स्वभावेन सदा भावितः स्वायत्तीकृतस्तस्मिन् भावो भावितो येनेतिवा । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात्परनिपातसिद्धिः । तस्मिन्नभ्यस्तनिरतिशयभक्तिकस्तं तमेव स्मर्यमाणं देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावमेवैति प्राप्नोति । अत्रायमभिसन्धिः । संसृतेरनादितयाऽनेकजन्मानुभूतकर्मवासनारब्धसंस्काराणां चित्तभूमिमधिशयानानां बाहुल्यात्प्राणवियो-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

यस्मात् सार्वदिकभावनाभावितो विषय एवान्तकालेऽपि स्मृत्युपारूढो भवति तस्मात् सर्वेषु कालेषु यावदायुषमित्यर्थः । प्रत्यहं प्रतिक्षणं मामेवानुस्मर । एवमवश्यानुष्ठेयत्वेन विशेषधर्ममुपपाद्य सामान्यधर्ममप्युपदिशति–युध्य चेति ।

गोत्तरकाले यः कोऽपि संस्कारः समुदेत्य स्मृतिद्वारा यत्किमपि शरीरं समुत्पादयेदिति नैवमपरजन्मग्रहणे संस्कारस्वातन्त्र्यमस्ति किन्तु मुमुर्षोः प्राणवियोगकाले चरमस्मृतिनियन्त्रितः संस्कारोऽभिनवस्मृतिविषयीभूतार्थात्मना परिणमते । तथा चान्ते या मतिः सा गतिरिति सिद्धान्तः समुज्जृम्भते । तथा चाह श्रुतिः 'तदेव सक्तं सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य, (वृ.४।४।६) अत एवादिभरतादेर्ज्ञानिसिद्धस्याप्यन्तकाले मृगशावकानुध्यानान्मार्गदेहावाप्तिरिति निदर्शनं संगच्छते । स्वीकृतोऽयमर्थो महर्षिपतञ्जलिनाऽपि 'ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् । जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् (यो. सू. ४।७) विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ॥६॥

यद्यपि देहत्यागकालेऽसह्यक्लेशकालुष्यादपरिपक्वसंस्कारस्य तज्जन्यस्मृतेरपि च नाशः सम्भवति तथापि पूर्वपूर्वजन्मनि चिराभ्यस्तभावनया दृढीकृतः संस्कारस्तद्विषयिणीं स्मृतिमुत्पादयेदेवेति कॢप्तं सिद्धान्तं मनसि कृत्याह–तस्मादिति । यस्मात् पूर्वं चिरभावनया भावितोऽर्थ एवान्तिमस्मृतिविषयतामायाति तस्मात् सर्वेपु कालेषु

युध्यस्व च क्षत्रियस्यायोधनं वर्णधर्म इति सोऽप्यनुष्ठेयस्तेन वर्णाश्रमधर्ममपरित्यज्यैव भगवद्भजनमनुदिनं विधयेमिति फलति । एवं नित्यनैमित्तकादिकर्मसचिवा भगवदनुस्मृतिर्भगवन्मनस्कतामापादयतीत्युच्यते–मय्यर्पितमनोबुद्धिः । मयि सर्वेश्वरे परमात्मन्यर्पिते मनश्च बुद्धिश्च येन तथाविधस्त्वं मामेवैष्यसि सर्वथाभीष्टं मत्सायुज्यमेव प्राप्स्यसि । अत्र संशयो नास्तीत्यर्थः ॥७॥

नक्तंदिवं नैरन्तर्येणासुप्तेरामृतेः कालं मामेवानुस्मर गुरुशास्त्रोपदेशदिशाऽनुध्यानविषयी कुरु । समामनन्ति चैवमेव श्रुतिस्मृतयः 'प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत' (प्र. ५।१) 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, (छा. ८।१५।१) 'आप्रयाणं तत्रापि हि दृष्टम्, (ब्र. सू.४।१।१२) इति । अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः (गी.८।१४) इत्येतदभ्यर्णमेव वक्ष्यमाणवाक्यमप्यत्रानुसन्धेयम् । एवं स्वोपास्तिं सर्वैरुपादेयतया प्रतिपाद्य फलाभिसन्धिरहितानां नित्यनैमित्तिककर्मणामपि वर्णाश्रमधर्मतयाऽवश्यानुष्ठेयतां निर्वक्ति–युध्येति । युधमिच्छत्यर्थे क्यजन्ताल्लोटि सिपि रूपम् । चक्षिङो ङित्करणादनुदात्तत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमिति सामान्यज्ञापनाद्वा । युध्यस्वेत्यर्थः । एतद्विहितस्य युद्धस्य क्षत्रियवर्णधर्मत्वाद्वर्णधर्मोपलक्षणविधयोपादानम् । तथा च नित्यनैमित्तिकादिवर्णधर्माणामप्यवश्यानुष्ठेयत्वमुक्तम्भवति । अत्र फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायेन युद्धस्यानुस्मृत्यङ्गता सिध्यति । एवं वर्णाश्रमधर्मोपचितया भगवदनुस्मृत्या महापुरुषे

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसानन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

एवमर्जुनप्रश्नेषु षण्णामुत्तरं समासेन सप्तमस्य च व्यासेना-
भिधायेदानीमुपासकविशेषानुगुणोपास्यस्वरूपमभिधत्तेअभ्या-
सेति । हे पार्थ ! अभ्यासयोगयुक्तेन निरन्तरसंशीलनरूपा-
भ्यासेन ध्यानयोगेन च युक्तं मनस्तेन नान्यगामिना
ऽन्यविषये गमनशीलचेष्टावर्जितेन चेतसाऽनुचिन्तयन् मर-
णात् प्रागवस्थायां मरणसमयेऽपि चानुक्षणं ध्यायन्नुपासको
दिव्यमप्राकृताकारमितरविलक्षणं परमं पुरुषं परमात्मानं
प्राप्नोति ॥८॥
भगवति चकोरचन्द्रन्यायेन मनोलग्नता सम्पद्यते । तदाह–मयि नित्यनि-
रवद्यकल्याणगुणधाम्नि अर्पिते मनोबुद्धी येन स त्वं मामेवैष्यसि
प्राप्स्यसि । अत्र संशयो नास्ति । श्रुतिरप्याह–'एतमितः प्रेत्याभि-
सम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ॥७॥

एवं गीताचार्येणार्जुनकृतप्रश्नानां प्रतिवचनेऽभिधीयमानेऽन्तिम-
प्रश्नस्य प्रतिवचनं व्याप्तिप्रदर्शनपुरस्सरमुपपाद्य निरन्तरोपासना-
सञ्जातान्तिमानुस्मृत्या स्वधामप्राप्तिरिति सामान्येन व्यवस्थाप्याधु-
नोपासकविशेषाणामपि तदुपासनफलभूता मत्प्राप्तिरनिवार्येत्येतदु-
च्यते–अभ्यासयोगयुक्तेनेति । अभ्यासः स्वोपास्यदेवस्य स्वरूप-
गुणविभूत्यादेर्भूयो भूयः संशीलनम् । योगश्चिन्तनीये स्वोपास्ये संय-
मस्ताभ्यां युक्तेन वशीकृतेनात एव नान्यगामिनाऽन्यत्र विषया-
न्तरे गन्तुं शीलमस्येत्यन्यगामि नान्यगामि नान्यगामि तथा भूतेन

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ९

अथैश्वर्यकामिनामन्तिमस्मृतिप्रकारमभिदधाति–कविमि-
ति । भक्त्या सर्वाधिकप्रेमस्वरूपया योगबलेन च युक्तो यः प्रया-
णकाले भ्रुवोर्मध्ये प्राणं सम्यगावेश्य संस्थाप्य तत्र कविमखि-
लात्रगन्तारं पुराणमनादिमनुशासितारं निखिलनियन्तारमणोः
सूक्ष्माज्जीवादप्यणीयांसमतिसूक्ष्मस्वरूपं सर्वस्य समस्तस्य
चेतसा चिन्तयन्नहर्दिवं प्राणवियोगसमयेऽपि चानुध्यायन् हे पार्थ !
दिव्यं सकलेतरविसजातीयं 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्,
इत्यादि श्रुत्युपदर्शितस्वरूपं परमं पुरुषं याति । 'निरञ्जनः परमं
साम्यमुपैति, इति श्रुत्युक्तदिशा स्मर्यमाणसमानैश्वर्यमाप्नोतीत्यर्थः ॥८॥

अथैकेन श्लोकेन तमेवोपेयभूतं दिव्यं परमपुरुषं विशि-
नष्टि–कविमिति । कविमशेषधिषणाधिकृतार्थदर्शिनं पुराणं सर्वेषामादि-
भूतं सर्वकारणमितियावत् । आभ्यां विशेषणाभ्यां 'यो ब्रह्माणं
विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा' इतिश्रुतेः पूर्व-
भागो विवृत्तो भवति । अनुशासितारमखिलजगतः प्रशासितारं तथा
च श्रुतयः–'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, 'एतस्य वाक्षरस्य
प्रशाशने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, (बृहदारण्यके)
अणोरणीयांसं सूक्ष्मतमजीवेष्वपि तदात्मतया तदन्तरवस्थितमेव-
मेवोक्तं मानवेऽपि शास्त्रे 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्' (मनुस्मृतौ)
सर्वस्य धातारमुत्पादकमचिन्त्यरूपमप्राकृतदिव्यरूपं तदुक्तं पुरा-

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जगतो धातारं निर्मातारमचिन्त्यरूपमितरसजातीयतया चिन्त-
णरत्ने 'प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्, (वि. पु.) आदित्यवर्णं निरतिशयदीप्तियोगादादित्यस्यापिप्रकाशकम् । तथा चाहुः श्रुतयः 'यस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति, (ऋग्वेदः) तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, (मु० २।२।११) 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्, (बृ ४।४।१६) 'तमसः परस्तात् प्रकृतेः परस्ताद्वर्तमानमेतेनादित्यवर्णं तमसः परस्तादिति श्रुतिः स्मारिता भवति । एवमप्राकृतासाधारणदिव्यस्वरूपं भगवन्तं योऽनुस्मरेत् स तं परं पुरुषं दिव्यमुपैतीति परेण सम्बन्धः । यत्तु शांकरभाष्ये 'तमनुचिन्तयन् याति इति पूर्वेण सम्बन्धः' इत्युक्तं तदसङ्गतम् 'अनुस्मरेद्य' इति यत्पदेनोक्तार्थस्य स तम्परं पुरुषमुपैतीति तत्पदेनैव निर्देष्टव्यत्वात् । अत एव 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इत्यभियुक्तोक्तिः संगच्छते । अन्यथा स इति तत्पदमनाकांक्षितार्थकं स्यात् । पूर्वत्र यत्पदोपादानस्य वैयर्थ्यञ्च स्यात् । यातीति पूर्वश्लोकीयक्रियायामन्वये स इत्यध्यहारकल्पनाक्लेशश्च ॥९॥

एवमुक्तविशेषणविशिष्टमप्राकृतस्वासाधारणदिव्यस्वरूपं परमपुरुषं कदा केनोपायेनानुस्मरेदित्युच्यते—प्रयाणकाले इति प्राणनिर्गमनका-

यितुमशक्यं तमसः प्रकृतेः परस्तात् परमप्राकृतमादित्यस्य वर्ण इव वर्णो यस्य स आदित्यवर्णस्तं दिव्यं परं पुरुषमनुस्मरेत् स तमेव पुरुषं भगवन्तमुपैति प्राप्नोति । तत्समानैश्वर्यो भवतीत्यर्थः ॥९॥१०॥

लेऽचलेन ध्येयस्वरूपातिरिक्तविषयगतिवर्जितेन मनसा भक्त्या परमपुरुषभजनं भक्तिस्तया युक्तो योगबलेन योगो भगवति मनःसमाधानं तस्य बलेनैतल्लक्षणसाधनबलेन प्राणापानावेकीकृत्य गुरुशास्त्रोपदर्शितयुक्त्या क्रमेणाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरचक्राण्यतीत्य सर्वप्राणनाडीकन्दभूतेऽनाहतचक्राख्ये हृदयपुण्डरीके शनैरानीय ततः प्राणवाहिन्यौ नाड्याविडापिंगले वर्जयित्वाऽनवरतानुष्ठीयमानमहापुरुषोपासनासामर्थ्यात् प्रकाशितद्वारयोर्ध्वगामिन्या सुषुम्नाऽपरपर्यायया मूर्धन्यनाड्या भ्रुवोर्मध्य आज्ञाचक्राख्ये द्विदले भृकुटिपुण्डरीके प्राणं "अस्य सोम्य प्रयतस्य वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा. ६। ८। ६।) इति श्रुत्यभिहितक्रमेणावेश्य संस्थाप्य तदुक्तं ध्यानविन्दूपनिषदादिषु 'सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः । इडापिंगलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः । इडा वामे स्थिता मार्गे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता । सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः, (ध्या. वि. ५४।५५) सूचिवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया उद्घाटयेत् कपाटन्तु यथा कुंचिकया गृहम् । कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् , (यो. चू. ३७) इति । सम्यग्दृढोपायः सन् यः स्मरेत् सोऽनुस्मर्ता ब्रह्मोपासकस्तमेव दिव्यं परं पुरुषमुपैति प्राप्नोति । इदमेवोक्तममृतनादोप-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११

उपासकविशेषस्येष्टसिद्धये योगधारणयोपासनमुच्यते– यदक्षरमित्यादित्रिभिः। वेदविदो ब्रह्मविद्यावेदिनो मुनयो यदक्षरं "एतद्वै यदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनवण्ह्रस्वदीर्घम्, (बृ.) इति श्रुत्युपदर्शितरूपेण प्रतिपादयन्ति। वीतरागास्त्यक्तैषणात्रया यतयो यत्नशीलाः सिद्धा यद्विशन्त्यनवरतोपासनेन निरस्तकर्मबन्धनाः प्रकृतिविनिर्मुक्तं मुक्तस्वरूपमवाप्य स्वोपास्यभूतपरमपुरुषसाम्यमनुभवन्ति। साधकाश्च यत्प्राप्तुमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तदक्षराख्यं पदं प्राप्यभूतं तत्प्राप्त्युपायसहितं संक्षेपेण प्रवक्ष्यामीति प्रतिजानीते॥११॥

निषदि–' यस्येदं मण्डलं भित्वा मासतो याति मूर्धनि। यत्र तत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते, (२९) इति। एवञ्च प्राणत्यागात् प्रागेवाभ्यासपाटवादेतदुरसि कृत्यान्ते सम्यक् दृढसंकल्पो यः साधकः स तं दिव्यं सर्वस्मात् प्राकृतभावाद्विलक्षणं परं पुरुषमुपैति तत्पुरुषसमानाकारः समानैश्वर्यशालितया दिव्यधाम्नि मोदमानश्चिरं तिष्ठतीत्यर्थः॥१०॥

उपासकाधिकारतारतम्यात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् (का. १।२।१५) इतिं श्रुत्यनुसारेण भूयोऽपि सफलमुपासनं वक्तुं प्रतिजानीते–यदक्षरमिति। वेदविदो वेदवेदान्त-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥

प्रतिज्ञातमर्थं सोपपत्तिकमाह–सर्वेति। तत्तद्विषयोपलब्धौ द्वारभूतानीन्द्रियाणि संयम्य विषयवैतृष्णयाभ्यासादिभिस्तेषां विषयप्रावण्यमुन्मूल्य मनश्च हृदि हृदयपुण्डरीकोदरवर्तिपरमपुरुषे निरुध्य संस्थाप्यात्मनः प्राणं मूर्ध्नि सद्गुरूपदिष्टमार्गेणापानगतिं प्राणे सन्निवेश्य प्राणञ्च सुषुम्नया

वेदिनो यदक्षरं 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वदीर्घम्, (बृ.) इत्यादिवचनैर्वदन्ति वीतरागा नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानसहकृतोपसननिरस्ताऽखिलवासना यतयः सिद्धा यद्विशन्ति स्वकीयविशुद्धस्वरूपेण मुक्तौ भगवत्स्वरूपसाम्यमनुभवन्ति। यदिच्छन्तो यत्पदमभिलषन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति नैष्ठिकब्रह्मचारिणो वानप्रस्था गृहस्थाश्च साधकास्तपोवेदाध्ययनेन्द्रियसंयमादिरूपं ब्रह्मचर्यव्रतमनुतिष्ठन्ति तत्पदं पद्यत इति पदं प्राप्यस्वरूपतत्प्राप्त्युपायसहितं संग्रहेणैव प्रवक्ष्ये तुभ्यं कथयामि॥ ११॥

एवं प्रतिज्ञया शुश्रुषोरर्जुनस्य वक्ष्यमाणेऽर्थेऽभिरुचिं सावधानताञ्चोत्पाद्येदानीं सपरिकरं तमेव प्रतिज्ञातमर्थमभिधत्ते–सर्वद्वाराणीति द्वाभ्याम्। सर्वद्वाराणि शब्दादिविषयग्रहणे जीवस्य द्वारभूतानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि सद्गुरूपदिष्टैर्विषयदोषदर्शनादिसाधनैः संयम्य सम्यग्वशीकृत्य मनोऽतिरिक्तेष्विन्द्रियादिषु स्वस्वाधिष्ठाने निरुद्धेष्वपि मनसः सर्वेन्द्रियसहायभूतस्य सर्वत्र गतिमत्वेन क्व निरोधः कर्तव्य इति शंकामपाचिकीर्षुर्मनस इन्द्रियत्वेऽपि निश्चितस्थानविशेषे हृद्येव तन्निरोधं

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

भ्रुवोरन्तरालमार्गेण भ्रुवोरुपरि ब्रह्मरन्ध्रे समाधाय योगधारणां मयि समाधिमास्थितः । एकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मवाचकत्वात् प्रतिपादकत्वाद्वा ब्रह्म प्रणवात्मकम् ओ३मिति । अस्याक्षरस्य परमात्मरूपता चोक्तोपनिषत्सु ' तस्माद्रामाङ्गं प्रणवः कथित' इति (रा.र. १।७) ' य एतत्तारकं ब्रह्म ब्रह्मणो नित्यमधीते स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति, (रा. ता.२) इति । व्याहरन् वाचा समुच्चारयन् एतदक्षरवाच्यभूतं मामेवानुस्मरन् मनसा चिन्तयन् देहञ्च त्यजन्. अनेन कायमनोवचसामेकवृत्तिकत्वं विवक्षितम् एवमनुतिष्ठन् यः प्रयाति देवयानमार्गेण याति स उपासकः परमां गतिमपुनरावृत्तिलक्षणां मत्साम्यरूपां याति प्राप्नोति ॥१२॥१३॥

वक्तुं पृथङ् निर्दिशति मनो हृदि निरुध्य च बाह्येन्द्रियवशीकारेऽपि मनसा विषयस्फूर्तिसम्भवत्येवेति हृदयपुण्डरीके तन्निरोधोऽभिहितो मनःप्रभृतिसर्वेन्द्रियाणां वृत्तिनिरोधः सूचितो भवति । एवं कार्यद्वयसम्पादनानन्तरमात्मनः प्राणं मूर्ध्नि सद्गुरूपदेशदिशा स्वाधारादपानमुन्नमय्य क्रमेण स्वाधिष्ठानमणिपूरस्थानेऽतिक्रम्यानाहते हृन्निकेतने प्राणेन संयोज्यापानसंयुक्तं प्राणं परमगतिगमयित्र्या सुषुम्नया विशुद्ध्याज्ञादलाभ्यामुद्गमय्य भ्रुवोरुपरिष्टात् सहस्रदलकमलकुसुमोपमे ब्रह्मरन्ध्रे समाधाय योगधारणामास्थितो मयि निश्चलं मनोयोगं विधाय सुदृढः । एकश्च तदक्षरश्चैकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मवाचकत्वाद् ब्रह्मैवनामनामिनो-

स्तादात्म्यमत्र विवक्षितम् । प्रणवस्य ब्रह्मरूपता चोपनिषत्स्वसकृदभिहिता । तथा हि–'तस्माद्रामाङ्गम्प्रणवः कथित इति, रामरहस्योपनिषदि 'अकारः प्रथमाक्षरो भवति उकारो द्वितीयाक्षरो भवति मकारस्तृतीयाक्षरो भवति अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति । विन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति नादः षष्ठाक्षरो भवति तारकत्वात्तारको भवति तदेव तारं ब्रह्म त्वं विद्धि तदेवोपासितव्यमिति ज्ञेयम् इति रामोत्तरतापिन्याम् । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् । एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् । इति काठके । यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः, इति प्रश्ने । 'ओमित्येवं ध्यायथात्मानम् , इति मुण्डके । 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् , ईति माण्डूक्ये । 'ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम् , इति तैत्तिरीये । ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् , 'एवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदं सर्वम् (छा.–२। २३।३) इतिछान्दोग्ये । 'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् इति श्वेताश्वतरे। ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यम् इत्येतदक्षरं परं ब्रह्मास्य पादाश्चत्वारो वेदाश्चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म ,, इत्यथर्वशिखायाम् । तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टा निनादवत् । प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत् तदग्रं ब्रह्म चोच्यते । शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा । न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा, इति योगचूडामणौ, । 'ओमित्येतदक्षरं परं

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

अथ भगवदनन्यभक्तस्योपासनेन फलसिद्धेः सौलभ्यमुच्यते–अनन्येति। हे पार्थ ! अन्यस्मिन चेतो यस्य सोऽन्यचेता अन्यचेता न भवतीत्यनन्यचेता मत्स्मृतिं विनाऽऽत्मधारणासमर्थो यो नित्यश उद्योगकालादारभ्य सततमविरतं मां सर्वेश्वरं स्मरति। अन्येषामत्यन्तं दुर्लभोऽप्यहं ब्रह्म तदेवोपासितव्यम्, इति तारसारे। 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन् दृष्टे परावरे। ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः। ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्। ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः। अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः, इति च ध्यानविन्दौ। इत्येवं सर्वोपनिषत्सु प्रणवस्यासाधारणमाहात्म्यं श्रूयतेऽत ओ३मिति व्याहरन् मामेव सर्वनियन्तारमनुस्मरन् देहञ्च त्यजन्, अत्र व्याहरन्, अनुस्मरन् त्यजन्निति शत्रा सामानाधिकरण्यं बोध्यतेऽतः कायेन वचसा मनसा च युगपत्तत्तत्कार्यमनुतिष्ठन् यः साधकः प्रयाति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकम्, (कौ. ब्रा. १।३) इत्युक्तरीत्याऽर्चिरादिपथा यो गच्छति स उपासकः परमां गतिं याति प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपं मत्साम्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१२॥१३॥

एवं प्रकारान्तरेणोक्तानामुपासनानां स्वरूपप्राप्तिरूपं फलमभिधायेदानीं स्वानन्यभक्तकृतोपासनेन फलसिद्धिसुलभतामाह–अनन्येत्या-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

नित्ययुक्तस्य मम नित्ययोगार्थिनस्तस्य योगिनो मदनुध्यायिनः सुलभः सुखेनावाप्तुं शक्योऽस्मीति शेषः ॥१४॥

अधिकारो हि यथारुचि। यथाधिकारं हि फलं भवति स्थिरमस्थिरं च। तत्र भगवदवाप्तिकामानां ज्ञानिनां कैवल्यार्थिनां चापुनरावृत्तिरूपं स्थिरमैश्वर्यार्थिनां च पुनरावृत्तिरूपमस्थिरं हि फलं भवति। तत्र ज्ञानिनामपुनरावृत्तिमाह–मामिति। मां सर्वेश्वरमुपेत्यावाप्य पुनर्भूयो दुःखानामालयो दुःखालयस्तं त्रिविधतापैकास्पदमशाश्वतमस्थिरं जन्म देवमनुष्यादिप्राकृतदेहसम्बन्धं नाप्नुवन्ति नोपयन्ति। कस्मादित्यपेदिना। हे पार्थ ! अन्यस्मिन् पदार्थे नास्ति चेतो यस्य सोनन्यचेतास्त्यक्तमदन्यार्थाभिलाषो यो मद्भक्तो नित्यशो नक्तंदिवं सततमविरतनिरतिशयप्रेमधारया मां सर्वाधारं नित्यनिरवद्यदिव्यकल्याणगुणाकरं स्वजीवनसर्वस्वमेव जानन्मां स्मरति। तस्य नित्ययुक्तस्यानुक्षणमत्सम्बन्धाभिलाषिणो मत्संबन्धमन्तरेणात्मस्थितेरसम्भवं मन्यमानस्येति यावत्। योगिनो मदनुध्यायिनो ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिदेवैरनिशमासेवमानैरपि दुष्प्राप्योऽहं सुलभो भक्तपराधीनत्वात् सुप्राप्यः। अनेन सततानुस्मरणात्मिका भक्तिरेव सुलभोपायः पूर्वमुपदर्शितेषूपायेष्वायासाधिक्यमित्युक्तम्भवति। १४

ननु सौलभ्येन प्राप्तस्य वस्तुनो वियोगोऽपि सौलभ्येनैव भवतीत्यतो भवन्तमुपेत्याऽप्यचिरवियोगसम्भवान्न किमपि विशिष्टम्फलमित्यपेक्षायामभिधत्ते–मामिति। निरतिशयनित्यानन्दनिधानं परात्परमुपेत्यानपायिन्या-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

क्षायां "यस्मात् ते,, इति द्वयमध्याहार्यम् । यस्मात् कारणात् ते महानात्मा मनो येषां ते महात्मानो मय्येवासक्तचेतसः परमां संसिद्धिं समीचीनां सिद्धिं पुनरावृत्तिवर्जितां सायुज्यमुक्तिं गताः ॥१५॥

भगवत्प्राप्तिकामानामपुनरावृत्तिरुक्ता । तथा चैश्वर्यकामानां पुनरावृत्तिरर्थादायाता । अथोक्तयोः पुनरावृत्त्यपुनरावृ-ऽनन्यभक्त्या सम्प्राप्य पुनर्दुःखालयमनन्तदुःखानामावासं भूयश्चाशाश्वतं परमास्थिरम् । ननु दुःखालयजन्मनोऽस्थिरत्वे झटिति दुखःभङ्गे सुखसम्पत्तिरेवोदीयादिति किमनेन विशेषणेनेति चेन्न जन्मावाप्य यावज्जीवं दुःखसन्ततिरिति दुःखालयमित्युच्यते । जन्ममरणयोस्तु महद्दुःखमिति नियमादशाश्वतमित्यनेन यावदायुः स्थायिनि दुःखे व्यपगतेऽपि पुनः पुनर्जन्ममरणयोर्दुःखं जायते इति मुहुर्मुहुर्महद्दुःखमुत्पद्यत इति द्योतयद्विशेषणं सार्थकम् । एवं दुःखाकरं जन्म सांसारिकदेहसम्बन्धं । नाप्नुवन्ति अत एव महात्मानो मदनन्योपासनयाऽवधूतकल्मषा मन्निबद्धहृदया इति यावत् । परमां संसिद्धिं पुनरागमनवर्जितां सायुज्यमुक्तिं गताः प्राप्ताः । अत्र मामुपेत्य परमां संसिद्धिं गता इति वचनादर्चिरादिमार्गेण परमात्मानमुपेत्यैव निश्रेयससिद्धिरिति स्पष्टमेवोक्तम् ॥१५।

ननु केषान्तर्हि पुनर्जन्मेत्यपेक्षायाम्पुनरावृत्यनावृत्योर्निर्णयं करोति आब्रह्मभुवनादिति । आब्रह्मभुवनादभिविधावाङ् ब्रह्मभुवनमभिव्याप्य

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिर्युगसहस्रान्ता तेहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

त्त्योर्हेतुमभिधत्ते–आब्रह्मेत्यादिना । हे अर्जुन ! ब्रह्मणो भुवनं ब्रह्मभुवनं ब्रह्मभुवनादा इत्याब्रह्मभुवनं तस्मादाब्रह्मभुवनाच्चतुर्मुखलोकमभिव्याप्य लोकाः सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनो विनाशशीलाः । अतस्तत्तल्लोकप्राप्तानामैश्वर्यार्थिनां पुनरावृत्तिरवर्जनीयेतिभावः । हे कौन्तेय । मामविनश्वरं सर्वेश्वरं करुणावरुणालयं मां तूपेत्यावाप्य पुनर्जन्म पुनरावृत्तिर्न विद्यते ॥१६॥

अथ पुनरावृत्तित्वहेतुभूतां भगवत्सङ्कल्पप्रयुक्तां ब्रह्मलोकाद्युत्पत्तिविनाशानुबन्धिकालव्यवस्थामुदीरयति–सहस्रेत्यादिना । ब्रह्माण्डवर्तिनो लोकास्सर्वेऽपि जना अनाराधितानन्यभावभगवन्तोऽपि तु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मणामेव केवलमनुष्ठातारो ब्रह्मलोकपर्य्यन्तेषु लोकेष्ववस्थिता अपि पुनरावर्तिनः प्राकृतेऽस्मिन् जगति पुनःपुनरावर्तनशीलाः । नन्वेवं ब्रह्मलोकावस्थितानां सर्वेषामविशेषेणैव पुनरावृत्तिश्चेत्तर्हि कृतं भगवदनन्योपासनादिसाधनैरिति चेन्न, ब्रह्मलोकान्तरवस्थितिर्द्वेधा सम्भवति । सज्जनानां केषाञ्चिद् वर्णाश्रमधर्मानुष्ठायिनामेव प्रबलकर्मपरिपाकनिमित्तैका ब्रह्मोपासनयाऽर्चिरादिमार्गेणातिवाहिकैस्तत्रोपस्थापितानां द्वितीया । अनयोर्द्वयोरवस्थित्योराद्यस्थितिमतां पुनरावृत्तावेव भगवद्वचनतात्पर्यम् । न तूपासनबलादर्चिरादिनाध्वना ब्रह्मलोकमुपसेदुषां विदुषां पुनरावृत्तौ । विनिश्चितश्चायमर्थः श्रुतिस्मृतिषु 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे, (मु. ३ ।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राञ्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अहोरात्रविदो मत्सङ्कल्पायत्तब्रह्माहोरात्रादिकालव्यवस्थाभिज्ञा
ये जनास्ते ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य यदहो दिनं तत् सहस्रयुगपर्यन्तं
रात्रिं रजनीं च युगसहस्रान्तां विदुरवगच्छन्ति। अह्न आगमो-
ऽहरागमस्तस्मिन्नहरागमे चतुर्मुखदिवसागमे सर्वा व्यज्यन्त
इति व्यक्तयो देहेन्द्रियादयस्त्रैलोक्यवृत्तयो भोग्यभोगस्थाना
२। ६) 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्, (ब्र- सू ४
। ३ । ९) स्पष्टितश्चैवमेव भाष्ये "कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये नाशे
सति तदध्यक्षेण तल्लोकस्वामिना हिरण्यगर्भेणाधिकारिणा सह तत्रैवा-
धीतविद्यो विद्वान् अतो हिरण्यगर्भलोकात् परं ब्रह्म प्राप्नोति। कुतोऽभि-
धानादिति। स्मृतेश्च, (ब्र-सू. ४ ।३ । १०) ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते
प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् । (कू. पु.)
तदेतदाह—मामुपेत्येत्युत्तरार्धेन। तुशब्दोऽत्र पक्षव्यावर्तकः। हे कौन्तेय !
मां नित्यनिरवद्यकल्याणगुणसागरं परात्परं सर्वकारणं जगदीश्वरमना-
द्यनन्तपुतुन मुपेत्यर्जन्म नैव विद्यते। सदातने मयि सायुज्यमुपेत-
त्वादिति भावः ॥१७॥

इदानीं ब्रह्मभुवनपर्य्यन्तानां स्वकर्मोपार्जितफलभोगभाजामचिरा-
दिगतिगतातिरिक्तानामशेषाणां लोकानां भगवदायत्तकालवश्यत्वात् पुन-
रावृत्तिरस्तीति त्रिभिरुच्यते । सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽव-
सानं यस्य तद ब्रह्मणो यदहः श्लोके यदित्यहर्विशेषणम् । न हीति
यद्विदुरित्यन्वयः सम्भवति न वा ये विदुस्तेहोरात्रविदो जना इत्यन्वयः

दिकार्यभूताः पदार्था अव्यक्ताच्चतुर्मुखशरीरात्मकप्रकृतेः
प्रभवन्ति जायन्ते । ब्रह्मणो राञ्यागमे तत्रैव तस्मिन्नेवोत्प-
सन्दर्भस्वारस्यादहोरात्रविदां प्रशंसाया हानिप्रसङ्गात् । अतो यदि-
त्यह्नो विशेषणम् । तच्छब्दबलाद्यच्छब्दस्याध्याहार आवश्यकस्तथा
चायमर्थो निष्पद्यते । तथा युगसहस्रान्तां युगसहस्रमन्त यस्यास्तां रात्रिं
ब्रह्मण इति शेषः । येऽहोरात्रविदो जनाः कालज्ञास्त एवं विदुर्नान्य
इति प्रशस्यते । अन्ये तु समयज्ञानविहीना अस्मिन् जगन्मण्डले केवलं
जन्ममरणचक्रचुम्बिन एवेति भावः । एवमेवोक्तं पुराणरत्नेऽपि—'कृतं
त्रेता द्वापरञ्च कलिश्चेति चतुर्युगम् । प्रोच्यते तत्सहस्रन्तु ब्रह्मणो
दिवसो मुने, (वि. पु. १।३।१४) एवञ्च मानवे शास्त्रे यदेवमुक्तं
'तद् ये युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिञ्च तावतीमेव तेहो-
रात्रविदो जनाः इति तत्र पाठमाहात्म्यात्तथैवान्वयो बोध्यः । एवञ्च
चतुर्युगसहस्रं ब्रह्मण एकस्य दिनस्य परिमाणं तावत्परिमाणपरि-
मितैका रात्रिरपि ज्ञेया । एतदहोरात्रमानेनैव पक्षमासर्त्वयनवत्सराणां मान-
मवगन्तव्यम्। एतन्मानेन पूर्णं वर्षशतं द्विपरार्धाभिधं प्रजापतेः स्वकीयं
परमायुर्यावदवस्थितिस्ततस्तस्यापि भगवन्नियन्त्रितकालपरिच्छेद्यत्वात्तल्लो-
कात् पुनरावृत्तिरिति फलितम् । एवं ब्रह्मायुषा सत्यादिलोकानां काल-
परिच्छेद्यतामुक्त्वा तदधोलोकानामपि जनिमृतिभाक्त्वमुपदिशति—
अव्यक्तादिति । एवमहरागमे प्रजापतेरह्नः प्रारम्भ एवाव्यक्तान्मच्छ-
रीरभूतप्रकृतिपरिणामस्वरूपप्रजापतिदेहात् सर्वा व्यक्तयः स्वर्लोका-
दिरूपाः शरीरेन्द्रियविषयात्मना परिणताः सर्वाः प्रभवन्ति । पुनश्च-
तुर्मुखस्य राञ्यागमे रात्रेः सम्प्राप्तौ तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके मदीयसूक्ष्म-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

त्तिहेतुभूतेऽव्यक्तसंज्ञके ब्रह्मदेहावस्थप्रकृतिपदार्थे प्रलीयन्ते । हे पार्थ ! सः पूर्वं विद्यमान एवायमवशः कर्मपराधीनो भूतानां देवमनुष्यादीनां ग्रामः समुदायोऽहरागमे भूत्वा भूत्वा भूयो भूय उत्पद्य राज्यागमे पुनः पुनः प्रलीयते लयमाप्नोति। अहरागमे पुनः प्रभवति ॥१७॥ १८॥ १९॥

शरीरभूतप्रकृतिपरिणामस्वरूपकार्यब्रह्मणो देहे प्रलीयते ॥१८॥

एवं स्वर्लोकाद्यखिलब्रह्माण्डस्योत्पत्तिप्रलयनिर्देशात्तस्य पुनरावृत्तिरनिवार्या भवतीत्यभिधायेदानीं यत उत्पत्तिस्तत्रैव स्वकारणे विलये पुनरन्यस्योत्पत्तौ तत्तत्कर्मस्वकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषावापद्येतामतः संसारस्यानादित्वेन तत्तत्कर्मणामप्यनादित्वाद्बीजाङ्कुरवदनवस्थायाः क्षतिकरत्वाभावात् । प्राक्तनकर्मवशाद्यः प्रलीयते स एवोत्पद्यत इत्यामोक्षमयं कर्मायत्तोऽखिलजगत्प्रवाहो न निवर्तत इत्याह—भूतग्राम इति । हे पार्थ ! भूतानां स्थावरजङ्गमानां ग्रामः समूहो यथा पूर्वं कल्प आसीत्तथैवास्मिन्नपि कल्पे समुत्पद्यतेऽतः स एवायमित्युच्यते । तथा ह्याह श्रुतिः 'धाता यथा पूर्वमकल्पयद्दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः, इति । अनेनावान्तरप्रलये महाप्रलयोऽपि व्यख्यातः । अयञ्च तत्तत्कर्मपरतन्त्रभूतसंघप्रवाहोऽहरागमे समुत्पद्य प्रजापतेः राज्यागमे प्रलीयते स्वकारणे विलयमुपगच्छतीत्युच्यते भूत्वा भूत्वा प्रलीयत इति । एतदेवाम्नाति सुबालश्रुतिः—'पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयते आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि

परःस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

पूर्वं भगवन्तं प्राप्तानामपुनरावृत्तिरुक्ता तत ऐश्वर्यं प्राप्तानां पुनरावृत्तिरभिहिता सम्प्रति कैवल्यं प्राप्तानामपुनरावृत्तिमभिदधाति—पर इत्यादिना । तस्मादचेतनात्मकादव्यक्तात् पुरुषार्थतया पर उत्कृष्टोऽन्यो × ज्ञानैकाकारोऽचेतनविजातीयः केनचित् प्रमाणेन ग्रहीतुमशक्यतयाऽव्यक्तः * सनातन उत्पादविनाशशून्यो यो भावः पदार्थोऽस्तीतिशेषः ।

तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलियन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयतेऽक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति, (सुबा० २) एवञ्च परदेवपरमात्मनः सकाशान्निखिलभूतानामुत्पत्तेस्तस्मिन्नेव च लयस्य प्रतिपादनाद् भूतजातस्य कालक्रमेण पुनरावृत्तिरस्ति परमात्मनस्तदनन्योपासनया ध्वस्तसमस्तकर्मबीजानां देवयानेनोर्ध्वमुपेतानां भगवद्भक्तनान्तु नैव तस्याः शंकालेशोऽपि । अत एव मोक्षधर्मे-नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् । (भा० शा० मो० ३४७।३२) तस्मान्मुमुक्षुभिः पुनरावृत्तिनिवर्तकं भगवदनुध्यानमन्तरेण पारमेष्ठ्यमपि नेष्टव्यमिति सिद्धम् ॥१९॥

एवं भगवच्छरीरभूतप्रकृतिपरिणामस्वरूपाव्यक्तपदवाच्यकार्यब्रह्मणो

× अत्रान्यशब्दस्य प्रकारान्यत्वपरकत्वेन न पुनरुक्तिः ।

* प्रमाणैर्ग्रहीतुमशक्यत्वेऽपि न तस्याकाशकुसुमत्वप्रसङ्गः स्वसंवेद्यत्वात् ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

सर्वेष्वाकाशादिषु भूतेषु नश्यत्सु सत्सु न विनश्यति विनाशं न प्राप्नोति । शास्त्रेष्वव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तोऽभिहितस्तमक्षरशब्दाभिहितं प्रकृतिसंसर्गविरहितात्मस्वरूपं तत्त्वज्ञाः परमां गतिं प्राप्यमाहुरुदीरयन्ति । यमात्मस्वरूपं प्राप्योपलभ्य न निवर्त्तन्ते न पुनरावर्त्तन्ते तदात्मस्वरूपं मम सर्वेश्वरस्य परमं धाम प्रकाशो ज्ञानमित्यर्थः । प्रकृतिसंसृष्टपरिच्छिन्नज्ञानात्मकादात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानवत्त्वेन मुक्तात्मस्वरूपस्य परत्वमस्तीति भावः ॥२०॥२१॥

जगदुत्पत्तिप्रलयावभिहितौ । अत्र कार्यकारणयोर्व्यक्ताव्यक्ततया निर्दिष्टयोरुभयोरपि कालक्रमेण विनाशित्वञ्चावधारितमतःपरं यमव्यक्तं सम्प्राप्य पुनरावृत्तिर्न भवति तस्य स्वरूपं नामनिर्वचनञ्चोच्यते— पर इति द्वाभ्याम् । तुशब्दः पक्षान्तरव्यावर्त्तकः । तस्मात् प्रोदीरिताऽखिलभूतग्रामजनकप्रजापतेरव्यक्तात् प्राकृतात् परोऽचित्संसर्गविनिर्मुक्तत्वादुत्कृष्टोऽन्योऽस्मादव्यक्ताद्विलक्षणः सनातनो ज्ञानैकाकारत्वेन सदैकरूपत्वादुत्पादविनाशधर्मरहित इत्यर्थः । भावः स्वसत्तया प्रतीयमानोऽव्यक्तः शब्दप्रमाणातिरिक्तप्रमाणैर्नव्यज्यत इत्यव्यक्तः प्रकृतिविनिर्मुक्तविशुद्धात्मस्वरूपमित्यर्थः । यः सर्वेषु कार्यकारणरूपेण संहतेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि स्वयं न विनश्यति सर्वदाऽविनश्यद्विशुद्धस्वरूपेणैव तिष्ठति स एवायमव्यक्तोऽक्षर इतिशब्देन प्रागुक्तोऽस्मिन्नेवाध्याये 'अक्षरं ब्रह्म परममिति सप्तप्रश्नप्रतिवचनप्रकरणे । तथा 'येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

विशुद्धात्मनोऽपि क्षेत्रज्ञात् परमपुरुषः परः प्राप्यश्चेत्युच्यते-पुरुष इति । तुशब्दः पक्षान्तरव्यावतकः । हे पार्थ ! परमगतिशब्देनोक्तक्षेत्रज्ञादपि पुरुषः 'सहस्रशीर्षा पुरुषः,' पुरुष एवेदं सर्वम् ।, 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्, (श्वे. ३ । ७) 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयंपुरुषमीक्षते, (प्र. ५।५) इत्याद्यनेकश्रुतिसिद्धः परमात्मा परः प्रकृतक्षेत्रज्ञात् परः सर्वो-
पर्युपासते, (गी० १२।३) 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते, (१५।१६) इत्यादिष्वप्ययमेव प्राकृतभावविनिर्मुक्तो विशुद्ध एवात्माऽक्षरपदेन विवक्षितस्तमेव परमां गतिं शास्त्ररहस्यवेदिन आहुः । 'यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्, इत्यादिस्थले मयाप्येवमेवाभ्यधायि । प्रकृतिपरिणामाव्यक्तादनादिकर्मपरिबद्धप्राकृतभावसंश्लिष्टबद्धजीवेभ्यश्चोत्कृष्टत्वात् परमगतिशब्दव्यपदेश्योऽयम् । यं परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यत, इति श्रुत्युक्तमाविर्भूतगुणाष्टकमप्राकृतविशुद्धरूपमात्मानम्प्राप्य प्रकृतिमण्डले पुनर्न निवर्तन्ते । तथाविधिमात्मतत्वमसंकुचितज्ञानस्वरूपत्वेन मम परमं सर्वोत्कृष्टं धाम नियामकतयाऽवस्थातुं निवासस्थानम् । परममिति विशेषणेनाचिद्विशिष्टात्मनः श्रैष्ठयमुक्तवम्भवति । ॥२०॥२१॥

एवं योगधारणया प्राणत्यागे परमगतिप्राप्तिरभिहिता । सा च परमगतिरव्यक्तपदवाच्यस्य प्राकृतभावासंस्पृष्टस्याऽसंकुचितज्ञानवतः क्षेत्रज्ञस्य स्वधामाभिधानाद् ब्रह्मतादात्म्यमापन्नस्य तस्यैव परत्वमपि

त्कृष्टत्वेन प्राप्यत्वेन सर्वनियामकत्वेन च भिन्न एव । सचानन्यया भक्त्यैव लभ्यः प्राप्यः । यस्यान्तरवस्थितानि चराचरात्मकानि भूतानि तिष्ठन्ति । अनेन सर्वभूतानां परमकारणत्वमुक्तम् । येन चेदं सर्वं विश्वं ततं व्याप्तम् । अनेन च सर्वव्यापकत्वं सूचितम् ॥२२॥

स्यादित्यर्जुनस्य कदाचिदाशंका भवेत् ताम्परिहरन्नाह—पुरुष इति । तुशब्दोऽत्र पूर्वोक्तोपेयोपायाभ्यामनयोर्वैलक्षण्यं द्योतयति । हे पार्थ ! एतच्छब्देन सम्बोधयन् प्रभुस्तस्मिन् स्वकीयं निरशियं प्रेमाऽभिव्यनक्ति । प्रेम्णार्जुने स्वकीयचरमसिद्धान्तप्रकाशनयोग्यता सूच्यते । परमगतिशब्दवाच्यात् प्रकृतिविनिर्मुक्तात्मनोऽपि पुरुषः परो भिन्न उत्कृष्टश्चास्ति । मुमुक्षुभिरुपेयतया समाश्रयितुं स एव योग्यः । पुरुषशब्दश्चात्र 'सहस्रशीर्षा पुरुषः, 'पुरुष एवेदं सर्वम्, (पु. सू.) 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्, (श्वे. ३।७) 'अव्यक्तात्पुरुषः परः पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ,(का. १।३।) औत्कृष्ट्यमत्र क्षराक्षरयोरव्यक्तयोर्नियामकत्वेन । सचानन्यया भक्त्यैव लभ्यः प्राप्यः । योगधारणाद्युपायातिरिक्ता निरतिशयप्रेमसचिवानन्यभक्तिरेव तत्प्राप्तेः प्रधानोपाय इत्यर्थः । उपाये प्राधान्यञ्च देवतान्तरफलान्तरासक्तिराहित्यम् । स एव परमपुरुषः सर्वकारणं सर्वव्यापकश्चेत्युच्यते यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् । यस्मिन् चराचरात्मकमिदं विश्वमन्तर्निहितं येन च पुरुषेणेदं सूक्ष्मस्थूलभावपन्नमखिलं जगद्व्याप्तम् । अनेन 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति श्रुतिः स्मारिता भवति ॥२२॥

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

एवं परमपुरुषोपासनया तद्धामप्राप्तिरिति स्थिरीकृतं परमपुरुषसायुज्यमुपेतानामिहलोके पुनरावृत्तिर्न भवतीत्यपि निश्चितम् । अथेदानीं केनाध्वना गतानामनावृत्तिः केन चावृत्तिरिति निश्चेतुमनावर्तनपुनरावर्तनयोरध्वानौ वक्तुम्प्रतिजानीते—यत्रेति । हे भरतर्षभ ! देहात् प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र कालेऽध्वनिर्देष्टृभिरातिवाहिकदेवैरभिमतेऽध्वनि प्रयाता योगिनो ब्रह्मोपासनान्यस्तकर्मवासना अनावृत्तिमर्चिरादिमार्गेणोर्ध्वं परमप्राप्यस्थानं सम्प्राप्य पुनरावृत्तिराहित्यं यान्ति । अन्ये चेष्टापूर्तादिकर्मानुष्ठानयोगिनः स्वानुष्ठितकर्मफलभोगावृत्तिं धूममार्गेणचन्द्रलोकमासाद्य पुनरावृत्तिं यान्ति । एवशब्दस्यावृत्त्यनावृत्त्योरुभयोरप्यन्वयः । तथा चानावृत्तिमेव यान्ति । न कदाचिदपि निवर्तन्तेऽर्चिरादिमार्गगामिनो धूममार्गगामिनस्त्वावृत्तिमेव यान्ति । चन्द्रलोकमासाद्य निवर्तन्त एवेत्यर्थः । तं कालं तत्तदातिवाहिकनीयमानमध्वानं वक्ष्यामीति प्रतिजानीते ॥२३॥

पूर्वोक्तपरेशोपासनया योगधारणया च निर्धूतसमस्तकर्मवासना ये स्वात्मशरीरकं परम्ब्रह्मोपासते ये च ब्रह्मात्मकस्वात्मानमुपासते तेऽनुक्रमेण महापुरुषसायुज्यमक्षरधाम्नि परमगतिञ्च सम्प्राप्य पुनरावृत्तिरहिता भवन्ति ये चान्ये वर्णाश्रमधर्माभिमानिनः कर्मफलानुसन्धानतत्परास्ते त्वनिशमस्मिन् संसृतिचक्रे समावर्तन्त इत्यनयोरपि फलभे-

दात् सृतिभेदोऽप्यावश्यकः। सृतिरत्र करणव्युत्पत्त्या मार्गवाचिका। तत्र येन मार्गेण समुपासितभगवच्चरणा ब्रह्मात्मकत्वेन प्रत्यगात्मोपासकाश्च प्रयान्ति स देवयानपदवाच्योऽर्चिरादिमार्गः प्राथमिको द्वितीयश्च पितृयाणपदवाच्यो धूममार्गः कर्मिणां भूयो भूयः संसृतिसम्पादकः। तत्राऽस्मिन्नध्यात्मशास्त्रेऽस्य पितृयाणस्योपदेशस्त्वर्चिरादिसृतेर्माहात्म्यातिशयद्योतनायाभिसंहितफलकर्मानुष्ठायिनां पितृयाणेनासकृत्संसारगर्तपात इति मुमुक्षुभिर्दूरतः परिहरणीयोऽयम्पन्था इत्यावेदयितुं वा समादृतः। तदेवं सफलं मार्गद्वयं विवक्षुरादौ तत्प्रतिजानीते—यत्रेति। हे भरतर्षभ ! प्राणोत्क्रान्तेरनन्तरं यत्र काले तत्तदातिवाहिकदेवताभिर्नीयमाने मार्गे प्रयाता योगिनो ब्रह्मानुध्यानयोगिनः सद्विद्यानुष्ठानयोगादनावृत्तिमेव यान्ति पुनरावृत्तिं नैवप्राप्नुवन्ति। इष्टापूर्तादिकर्मानुष्ठानयोगिनत्वावृत्तिमेव प्राप्नुवन्ति, अभिसंहितफलकर्म्मानुष्ठानयोगात् तं। देवयानाख्यं पितृयाणाख्यं च कालं तत्तत्कालाभिमानिनीभिरातिवाहिकदेवताभिर्नीयमानं पन्थानं वक्ष्यामि। यत्त्वत्र मधुसूदनेन 'यद्यपि देवयानेऽपि पथि प्रयाताः पुनरावर्तन्ते' इत्युक्तमाब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन इत्यत्र तथापि पितृयाणे पथि गता आवर्तन्त एव न केऽपि तत्र क्रममुक्तिभाजः। देवयाने पथि गतास्तु यद्यपि केचिदावर्तन्ते प्रतीकोपासकास्तडिल्लोकपर्यन्तं गता हिरण्यगर्भपर्य्यन्तममानवपुरुषनीता अपि पञ्चाग्निविद्याद्युपासका अतत्क्रतवो भोगान्ते निवर्तन्त एव तथापि दहराद्युपासकाः क्रमेण मुच्यन्ते भोगान्त इति न सर्वं एवावर्तन्ते। इत्याद्युपन्यस्तं तदयुक्तमुपनिषद्गीताब्रह्मसूत्रविरुद्धत्वात्। तथा हि—छान्दोग्ये स्थलद्वयेऽर्चिरादिगतिः श्रूयते। तत्र चतुर्थेऽध्याये 'अर्चि-

षोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्युपक्रम्य स एनान् ब्रह्मगमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त, (छा. ४।१५।६)इति स्पष्टमेवाऽनावृत्तिराम्नाता। पञ्चमेऽप्यध्याये 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, इत्यारभ्य चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्मगमयत्येष देवयानः पन्था इति, (छा. ५।१०।१।२) इत्याम्नायते। अत्र चन्द्रलोकादूर्ध्वं विद्युल्लोकप्राप्तिस्ततोऽत्राश्रवणेऽपि श्रुत्यन्तरे श्रुतत्वाद् वरुणादिलोकानाम्प्राप्तिः 'तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्, (ब्र. सू. ४।३।३)इति न्यायेन। आन्येषाञ्च 'आगन्तूनामन्ते निवेश, इति न्यायात्तदूर्ध्वं निवेशः। तथा चात्रापि 'एनान् ब्रह्म गमयति, इत्यविशिष्टश्रवणादपुनरावृत्तिः स्पटमेव प्रदर्शिता। नपुंसकब्रह्मपदं परस्मिन्नेव ब्रह्मणि निरूढमिति मुख्यार्थं परिहाय न गौणोऽर्थः शक्यो गृहीतुमतो ब्रह्मप्राप्तिरपुनरावृत्तिलक्षणैवात्राभिप्रेता। एवं छान्दोग्येऽष्टमप्रपाठकेऽपि श्रूयते 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, (छा. ८।१२।३)अत्र शरीरात् समुत्थायेति मूर्धन्यनाड्योत्क्रम्य देयानेनोद्गमनाभिधानम्। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति विवरणश्रुतावायन्निति शतृप्रत्ययेनार्चिरादिमार्गप्रस्थितानाममृतत्वप्राप्तेर्मध्ये लोकविशेषचिरकालस्थितिलक्षणव्यवधानराहित्यं प्रतिपादयता 'एष सम्प्रसाद, इति मूलश्रुतौ समुत्थायेति ल्यप्प्रत्ययार्थस्य विवक्षितत्वादुक्तश्रुतेरर्चिरादिमार्गप्रस्थितानामव्यवधानेनामृतत्वप्राप्तिप्रतिपादकत्वं स्पष्टमेवातोऽपि न पुनरावृत्तिः। एवं वाजसनेयके पञ्चमषष्ठयोः प्रपाठकयोः 'स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन् वसति

शाश्वतीः समाः, इति । ‘ तान् वैद्युतान् पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः (बृ. ६।२। १५) अत्रापि स्पष्टमेवापुनरावृत्तिराम्नाता । अत्र ब्रह्मलोकानित्यदितिः पाशानितिवहुबचनमुपपत्त्या कर्मधारयसमासमाश्रित्यार्थस्य संगतिरथवाऽप्राकृतलोकानामपि बहूनां प्रमाणप्रतिपन्नतया तत्पुरुषसमासोऽपि युक्त एव । ननूपनिषत्स्वेव मुण्डके ‘ ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे, (मु. ३।२।६) इति वचनादर्चिरादिमार्गेण कार्यब्रह्मलोकगतिरवगम्यते । अत एव छान्दोग्ये ‘प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, इत्यष्टमाध्यायीयवाक्यमपि संगच्छते । अत एव च मुण्डकश्रुतिः समानार्थाभिधायिनी ‘ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् , इति स्मृतिरपि संगच्छते । तथा च ये सगुणब्रह्मोपासकास्तेऽर्चिरादिना ब्रह्मलोकं प्रयान्ति। तत्रापि ये पञ्चाग्निविद्योपासीनास्ते पुनरावर्तन्ते प्रतीकोपासकास्तु देवयानेन गता अपि तडिल्लोकादेवावर्तन्ते न तेषां ब्रह्मलोकावाप्तिः ।तदुक्तं भामत्यां ‘उत्तरोत्तरभूयस्त्वाद्ब्रह्मक्रतुभावतः । प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नामानवो नयेदिति ।’ ब्रह्मोपासकास्तु परविद्यासामर्थ्याद् ब्रह्मलोकं सम्प्राप्य तत्रोत्पन्नविज्ञाना हिरण्यगर्भेण सह परमं विशुद्धं विष्णोः पदं प्रयान्तीत्येषा तेषां क्रममुक्तिरुपपद्यते । अत एव कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् , (ब्र. सू. ४।३।९) इति ब्रह्मसूत्रं संगच्छते । तस्मात्त एव नावर्त्तन्त इति चेन्न, अज्ञातशास्त्ररहस्यानामिदं चोद्यम् । तथा हि— उदाहृतश्रुतिस्मृत्योरेकविषयताया असम्भवात् । ते ब्रह्मलोके त्वित्यादिश्रुतेः

प्रकरणानुरोधादयमर्थः । स्याः अस्खण्डिकायाः पूर्वार्धे—‘ वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः, (मु. ३।२।६) एवमाम्नायते । निर्मलान्तःकरणा मुमुक्षवः इहैव लोके सद्गुरुमुपसम्पद्य वेदान्तविज्ञानेन सुनिश्चितार्थाः सन्तोऽनभिसंहितकर्मफला अत एव यत्नशीलाः शुद्धस्वभावाः सम्यग् ब्रह्मविद्योद्भासितान्तःकरणास्ते सर्वे ब्रह्मलोके ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोको निषादस्थपतिन्यायेन कर्मधारयसमास एवात्राभिप्रेतस्तस्मिन्नुपास्ये परब्रह्मणि वर्तमानाः परान्तकाले परोऽन्तिमो योन्तः कालस्तस्मिन् प्राब्धकर्मभोगहेतुप्राकृतचरमदेहावसानसमये परामृतात् परममृतं प्राप्य परिमुच्यन्ति सर्वस्माद् बन्धाद्विमुच्यन्त इति । नह्यत्रकार्यब्रह्मलोकमासाद्य तत्र विद्यामभ्यस्य परान्तकाले ब्रह्मणा सह मोक्षमाप्नुवन्तीत्ययमर्थः सम्भवति पूर्वार्धपरार्धवाक्यविरुद्धत्वात् संदर्भविरुद्धत्वाच्च । सन्दर्भोऽयं परस्य ब्रह्मणः प्राप्तेरेव । यतः प्रथममुण्डके द्वितीयखण्ड एकादशखण्डिकायां तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्या चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतस्स पुरुषो ह्यव्ययात्मा, इत्यस्यां सूर्योपलक्षितार्चिरादिमार्गगामिनां ब्रह्मविदां ह्यमृतत्वाव्ययात्मत्वविशेषितपरमपुरुषतल्लोकावेव प्राप्यतया निर्दिष्टौ न तु द्विपरार्धावसानकालविनाशिहिरण्यगर्भतल्लोकाविति प्रस्फुटमेवाभिधीयते । इतः स्मृतिस्त्वर्थान्तरमेव प्रतिपादयति । सा चेहलोकसमभ्यस्तविद्यस्य देवयानपथा प्रस्थितस्य विदुषो विषये न किमप्यभिधत्तेऽपि तु पुण्यकर्मानुष्ठानेन प्रजापत्तिलोकमुपेतानामविदुषां ‘तदुपर्यपि बादरायण, इति न्यायेन ब्रह्मलोक एवाभ्यस्तविद्यानां परमपदप्राप्तिप्रकारमेव । तदर्थश्च ते सर्वे पुरुषविशेषाः स्वोपार्जितपुण्य-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

कर्मणा ब्रह्मणा प्रजापतिना सह कृतात्मानः ब्रह्मलोक एवाधिगतविद्या-स्सन्तः परस्य प्रजापतेरायुषोऽन्ते प्रतिसंचरे महाप्रलये सम्प्राप्ते सति परं पदं प्रविशन्ति, इति । तस्माच्छ्रुतिस्मृत्योरैकार्थ्यमेव नास्ति । श्रुतिर्विदुषां प्रारब्धशरीरावसानेऽर्चिरादिना परब्रह्मप्राप्तिमभिदधाति । स्मृतिस्त्वविदुषां पुण्यकर्मविशेषेण कार्यब्रह्मणः प्रजापतेर्लोकं भेजुषां तत्रैवाधिगतविद्यानां प्रारब्धकर्मफलभूतहिरण्यगर्भसायुज्यानुभवावसाने तेनैव सार्धं मोक्षस्थानप्राप्तिमिति द्वयोर्विविक्तः पन्थाः । ब्रह्मविदः शरीरादुच्चिक्रमिषोर्मूर्धन्यनाड्यैवोत्क्रम्यार्चिरादिमार्गेणैव गमने लोकविशेषे चिरकालवासलक्षणव्यवधानमन्तरेणैव परब्रह्मप्राप्तिरिति स्पष्टमुच्यते छान्दोग्ये षष्ठाध्याये सद्विद्याप्रकरणस्थया 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये , इति श्रुत्या सद्विद्यानिष्ठस्य मोक्षप्राप्तेर्देहपातमात्रावधिविलम्बप्रतीतेरिति । अपि च 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति छान्दोग्यश्रुत्युपबृंहणभूतया याज्ञवल्क्यस्मृत्या 'ऊर्ध्वमेकस्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्' (या. स्मृ. ३ । १६७) इति देवयानपथप्रस्थितानामेकसंवेगेनैव प्रजापतिलोकमप्यतिक्रम्य तत ऊर्ध्वं गत्वा ह्यमृतत्वप्राप्तिस्वरूपपरमगतिप्राप्तिमभिदधत्या निवारितैव तेषां हिरण्यगर्भप्राप्तिर्हिरण्यगर्भलोके च चिरकालं स्थित्वा महता विलम्बेन पश्चादमृतत्वप्राप्तिरित्यपि । तस्मादुपनिषद्विरुद्धैवैषा कल्पना यदर्चिरादिमार्गेण गतानां चतुर्मुखलोकस्थितिरावश्यकी केषाञ्चित्पुनरावृत्तिरपीति । नापि गतिशास्त्रे देवयानेन ब्रह्मलोकमागतानाम्पुनरावृत्तिर्बोध्यते । यदि देवयानमार्गगामिनामावृत्तिर्भगवतोऽभिमता चेत्तर्हि 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिश्चैव

योगिनः' इति प्रतिज्ञावाक्यमेव नोच्चारयेन्न वोपसंहार एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः, इति स्पष्टतयोपदिशेदतो गीता शास्त्रविरुद्धमेतद् यद् देवयानेन पथा गतानामप्यावृत्तिरिति । एवमनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दाद् (ब्र० सू० ४।४।२२) इति ब्रह्ममीमांसायामप्यनावृत्तिमेव प्रत्यपीपदद्भगवान् बादरायणः । ननु 'अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च (ब्र० सू ४।३।१४) इति सूत्रेऽप्रतीकालम्बनान् नयतीत्युक्तत्वान् नामादिप्रतीकोपासकानां नामानवः पुरुषो विद्युल्लोकादूर्ध्वं नयतीति स्पष्टमेवावगम्यते । किञ्च प्रतीकोपासका हि न परविद्याविदिव प्रधान्येन ब्रह्मोपासका यतस्तेऽर्चिरादिना मार्गेण गत्वा 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्युक्तं साक्षाद्ब्रह्मविद्योपासकफलं लभेरन् । न पितृयाणतृतीयगतिभ्यां वैषां गमनं सम्भवति, चन्द्रलोकादिप्रापककर्माननुष्ठायित्वादतस्तेषामर्चिरादिमार्गेणैव गतिर्वक्तव्या । अतश्चैते तडिल्लोकपर्यन्तमर्चिरादिमार्गेणैव गच्छन्तीति निश्चीयते । एवं पञ्चाग्निविदामपि कार्यब्रह्मलोकं यावदेव गतिः पुनरावृत्तिश्च । तथा च ' ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते, (बृ० ६।२।१५) इत्यत्राद्येन यच्छन्देन पञ्चाग्निविदो गृह्यन्ते द्वितीयेन यच्छब्देन च तपःसत्यादिपदवाच्यपरब्रह्मविषयकविद्यावन्तः प्रतीकोपासकाश्च सर्वेऽपि गृह्यन्ते । तत्र प्रतीकोपासका देवयानेन गत्वाऽपि विद्युल्लोकं यावद्गत्वा पुनर्निवर्तन्ते । एवं पञ्चाग्निविदामपि ब्रह्मलोकं यावद्गतिः पुनरावृत्तिश्च, उभयोरब्रह्मोपासकत्वात् । तृतीयोपासकास्तु सगुणब्रह्मविद्यावन्त इति तेषामर्चिरादि-

मार्गेण कार्यब्रह्मलोके गतिस्तत्र चिराय चतुर्मुखसायुज्यमनुभूय तच्छरीरावसाने तैनैव सार्धं द्विपरार्धकाले परब्रह्मधामप्राप्तिः । निर्गुणब्रह्मानुध्यायिनान्तु न परिच्छिन्ने देशे गतिरुपपद्यते सर्वगतत्वाद् ब्रह्मणोऽतस्तन्मुक्तिर्न देशविशेषे किन्त्विहैव ब्रह्मभूयता प्राप्यते । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्त इति श्रुतेरिति विवेक इति चेन्न, सूत्रतात्पर्यानवबोधविजृम्भितत्वात्तवाभिप्रायस्य, सूत्रेऽप्रतीकालम्बनान् नयतीति कथयता बादरायणर्षिणा बादरिजैमिनिमते व्युदस्ते । तथाहि प्रतीकालम्बनत्वेन हिरण्यगर्भलक्षणकार्योपासकस्यापि ग्रहणेन तस्यार्चिरादिगतिनिषेधसिद्ध्या बादरिमतमप्रतीकालम्बनत्वेन पंचाग्निाविद्ब्रह्मनिष्ठोभयविधोपासकग्रहणं विधाय देवयाननागति प्रतिपादनेन जैमिनिमतञ्चेति सूत्रेऽप्रतीकालम्बनान्नयतीत्युक्तम् । अत्रैतत्पदघटकप्रतीकालम्बनाश्चाचिन्मात्रवस्तु अचिन्मिश्रं वा ब्रह्मदृष्ट्या स्वरूपेण वा तद्वस्तूपासनपराः परमप्राप्यादर्वाचीनभूतप्राप्यरूपप्रतीकोपासनपरा इति पिण्डितार्थः । न चैवं परब्रह्मणोऽर्वाचीनप्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मत्वाबलम्बिनां पञ्चाग्निविदामपि प्रतीकालम्बनत्वेन तेषामप्यर्चिरादिना गतिर्नैव सिध्येदितिवाच्यम्, प्रकृतिवियुक्तस्य प्रत्यगात्मस्वरूपस्य परमप्राप्यत्वेन प्रतीकत्वासिद्धेः । अयमभिसन्धिः । यस्मिन् प्राप्ये प्राप्तेऽपि परं तत्वं न प्राप्तं भवति पश्चात् प्राप्तव्यतयैव चावशिष्यते तत्प्रतीकशब्दवाच्यमर्वाचीनप्राप्यम् । यस्मिंश्च प्राप्ते सर्वस्मात् परं तत्वं प्राप्तमेव भवति पश्चात् प्राप्तव्यतया च नावशिष्यते तत्परमप्राप्यम् । तत्र परमपुरुषस्य स्वयं परतत्वरूपत्वेन तत्प्राप्तेः परतत्वप्राप्तिरूपत्वात् तस्य स्वत एव परमप्राप्यत्वम्, एवं

भगवत्स्वरूपतिरोधायकनिःशेषाविद्यानिवृत्त्यनन्तरमेव विशुद्धात्मस्वरूपावाप्तिः स्थानविशेषावाप्तिश्च सम्भवत इति तादृशप्राप्तिसमकालमेव भगवत्प्राप्तिनैयत्येन तयोरपि परमप्राप्यत्वं सम्भवत्येवात 'एव त्रयाणामपि परमपदव्यपदेश्यत्वं यत्र तत्र श्रुतिस्मृतिषु दृश्यते । यथा 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, (   ) इति श्रुत्या परमस्थानमेव परमपदवोध्यं भवति । सर्गस्थित्यन्तकालेषु त्रिधैव सम्प्रवर्तते । गुणप्रवृत्त्या परमं गुणं तस्या गुणं महत् । इति प्रकृतिविनिर्मुक्तक्षेत्रज्ञस्वरूपम् । समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदमितिस्मृत्या च भगवत्स्वरूपमेवपरमपदशब्देन व्यपदिश्यते । तथा च ब्रह्मप्राप्तितदभावयोरेव परमप्राप्यत्वप्रतीकत्वप्रयोजकत्वावगमादचिद्वस्तुतन्मिश्रयोरेव प्रतीकता विश्राम्यति तत्रैवाविद्यया ब्रह्मप्राप्तिप्रतिरोधात् । यथोक्तरीत्याऽविद्याकृततिरोधानविगमेन ब्रह्मप्राप्तिगर्भस्वप्राप्तिकत्वात् प्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मस्वरूपन्तु परमप्राप्यमेवेति तत्वम् । अत एव गीताशास्त्रे तामाहुः परमां गतिमिति परमगतिशब्दे नैतदेव प्रकृतिविनिर्मुक्तप्रत्यगात्मस्वरूपं निर्दिष्टम् । तथा च परान्महत् परममिति विग्रहे पृषोदरादिवत्तत्तदवयवलोपमाश्रित्य व्युत्पादनीयेन परमशब्देन सह प्राप्यशब्दस्य कर्मधारयसमासमाश्रित्यापरत्वेनाभिमतात् कस्माच्चित्प्राप्यात् परत्वेनाभिमतं यत्प्राप्यं तस्मादुत्कृष्टप्राप्यं परमप्राप्यशब्देन बोध्यते । एवञ्च प्रकृतिपदवाच्याचित्तत्वात् परं यदचिन्मिश्रचित्तत्वरूपं प्राप्यं तस्मादुत्कृष्टत्वलक्षणं परमप्राप्यत्वं स्वोत्कृष्टप्राप्योत्कृष्टत्वसम्बन्धेन प्राप्यविशिष्टप्राप्यत्वपर्यवसितं विशुद्धक्षेत्रज्ञपरमात्मलक्षणप्राप्यद्वयसाधारणम् । परमात्मप्रकृतिविनिर्मुक्तप्रत्यगात्मस्वरूप-

परमस्थानेषु त्रिष्वपि पर्याप्तं परमप्राप्यत्वन्तु स्वप्राप्त्युत्तरकालप्राप्तव्य-स्वोत्कृष्टप्राप्यकभिन्नप्राप्यत्वं स्वप्राप्त्युत्तरकालप्राप्तव्यत्वस्वोत्कृष्टत्वोभयसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतासम्बन्धेन प्राप्यविशिष्टान्यप्राप्यत्व-रूपम् । प्रोदीरितसम्बन्धेन प्राप्यविशिष्टप्राप्यत्वरूपमर्वाचीनप्राप्य-त्वमेव च प्रतीकपदप्रवृत्तिनिमित्तमिह विवक्षितम् । परम्मा यस्मात्त-त्परम परम च तत्प्राप्यञ्च परमप्राप्यमितिविग्रहे परमशब्दघटकपरशब्द-स्योत्तरकालप्राप्तव्योत्कृष्टसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेकावच्छिन्नपरतया यस्मात् प्राप्तादुत्तरकालप्राप्तव्योत्कृष्टप्राप्यवस्तु नास्ति तादृशं प्राप्यमित्यर्थ-सिद्ध्या परमप्राप्यशब्देन यथोक्तरूपावच्छिन्नोऽर्थः पर्यवसितो भवतीति बोध्यम् । स्थानविशेषस्य विशुद्धक्षेत्रज्ञस्वरूपस्य च प्राप्तिदशायां परमात्म-नोऽपि प्राप्तेरुत्तरकालप्राप्तव्यत्वाभावेनोक्तलक्षणं परमप्राप्यत्वं तयोरपि सम्भवत्येव । तथा च परमप्राप्यादर्वाचीनत्वरूपं प्रतीकत्वं प्रकृतिवियुक्त-प्रत्यगात्मव्यावृत्तमेव ज्ञेयम् । तेन पञ्चाग्निविदो न प्रतीकालम्बना भवन्ति । अथेदानीं प्रतीकालम्बनपदार्थो विचार्यते । तत्त्वं हि न तावत् स्व-प्राप्तिप्रयोजकस्वनिष्ठविलक्षणविषयतानिरूपकत्वसम्बन्धेन प्रतीक-विशिष्टोपासनाश्रयत्वं सर्वेषां ब्रह्मविदां प्रतीकालम्बनत्वापत्तेः । किन्तु ब्रह्मप्राप्त्यभावविशिष्टस्वप्राप्तिप्रयोजकस्वनिष्ठविलक्षणविषयतानिरूपकत्वस-म्बन्धेन प्रतीकविशिष्टोपासनाश्रयत्वमेव तद् विवक्षितं तदेकप्राप्तिप्रयोजकतान्निष्ठविलक्षणविषयताशाल्युपासनाश्रयत्वस्यैव तदा-लम्बनत्वरूपत्वात् । स्वप्राप्तौ प्राप्त्यभाववैशिष्टयञ्च समानकालिकत्व-सामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन । एवञ्च सति पञ्चाग्निविदां नप्र-तीकालम्बनत्वप्रसङ्गः । ब्रह्मप्राप्त्यन्तःपातितयैव प्रकृतिविनिर्मुक्तप्रत्य-

गात्मप्राप्तेस्तदीयविद्याफलत्वात्तदर्थमेव तदीयविद्यायास्तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मात्मकत्वेन प्रकृतिनिर्मुक्तप्रत्यगात्मोपासनरूपतया शिक्षणात् । ब्रह्मविदां तु मुक्तिदशायां ब्रह्मप्राप्तौ विद्यमानायामेव तदन्तःपातितया प्रतीकपदार्थप्राप्तेर्विद्यमानतया न प्रतीकालम्बनत्वमिति तत्त्वम् । तदयं निर्गलितोऽर्थः 'स्ववृत्तिविषयतानिरूपकत्व, स्वकार्यविषयकत्व, स्वसंसृ-ष्टचिन्निष्ठविषयतानिरूपकत्वैतदन्यतमसम्बन्धेन प्रकृतिविशिष्टोपासना-विषयत्वपर्यवसितमेवार्वाचीनप्राप्यत्वरूपं प्रतीकपदप्रवृत्तिनिमित्तम् । एतादृशप्रतीकालम्बनानामर्चिरादिमार्गेण गतिर्न शास्त्रसम्मता यतो हि सिद्धान्तसूत्रस्थाप्रतीकालम्बनानित्यत्रोपासकपदमनुच्चार्य तत्रालम्बन-पदं प्रयुञ्जानस्य बादरायणमहर्षेरयमाशयो यत्प्राप्यतया प्रतीकमुद्दिश्य ये प्रतीकोपासकास्ते सर्वेऽपि प्रतीकालम्बनपदेनोच्यन्ते । तथा च नामा-दिकं वस्तु माणवकेऽग्निदृष्टिवद् ब्रह्मदृष्ट्या स्वरूपेण वा तद्वस्तू-पासका हि ते तादृशानर्चिरादिगणो नैव ब्रह्मलोकं नयतीत्यर्थः । प्रती-कोपासकव्यतिरिक्तान् गत्यव्यवधानेन ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलमुपलिप्सवो येऽ-धिकारिणस्तादृशाक्षय्यं फलं लब्धुं तत्परास्तानेवार्चिरादिरातिवाहिक-गणो नयति । चतुर्मुखादिकार्योपासकानां नामादिप्रतीकोपासक वत् प्रतीकालम्बनत्वान्न तेषां देवयानेन गतिरुपपद्यते । प्रतीकोपासकानां फलन्तु 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, (छा. ७। १। ५) इत्यादिरूपेण छान्दोग्ये स्पष्टमेवाम्नातम् । पञ्चाग्निविदां दहरादिविद्यावतां साक्षाब्रह्मोपासकानाञ्च 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेर्चिष-मभिसम्भवन्ति, (छा. ५। ।) इत्यर्चिरादिनाऽपुनरावृत्तिलक्षणा गति-

राम्नायते । एवञ्चात्र स्वनिष्ठविषयतानिरूपकत्वस्वविशिष्टवस्तुविषय-
कत्वाभ्यां सम्बन्धाभ्यां प्रकृतिवियुक्तात्मविशिष्टोपासनाश्रयत्वमेवानावृ-
त्तिविशेषप्रयोजकतावच्छेदकं निष्पद्यते । सम्बन्धघटकवैशिष्ट्यञ्च
स्वशरीरकब्रह्माभिन्नत्वस्वकर्मकब्रह्मात्मकत्वानुसंधानवत्वैतदन्यतरसम्ब-
न्धेन ग्राह्यम् । एतादृशोपासनाशालिनां पुनरावृत्तिर्न हि शास्त्रसम्मतेति
निर्णयः । पञ्चाग्निविदोऽपि यद्यचिद्विशिष्टमेव प्रत्यगात्मानं प्राप्यतयो-
पासीरंस्तर्हि तत्क्रतुन्यायेन न स्यात् तेषां ब्रह्मप्राप्तिरनावृत्तिश्च । तत्क्रतु-
न्यायश्च 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन् पुरुषो भवति
तथेतः प्रेत्य भवति, (छा. ३। १४। १) तं यथा यथोपासते तथैव
भवतीति द्वाभ्यां श्रुतिभ्यां तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्येवं रूपः । एत-
न्न्यायबलेनानुपासितस्य ब्रह्मणः प्राप्त्ययोगात् । क्षरणस्वभावाचिन्मि-
श्रप्रत्यगात्मोपासनेन तस्यैव प्राप्तिस्तस्य च विनाशशीलत्वेन पुनरावृत्ति-
रवश्यम्भाविनीत्यतः पञ्चाग्निविदः प्रकृतिवियुक्तब्रह्मात्मकत्वेन प्रत्यगा-
त्मानमेवोपासते । क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मात्मकत्वन्तु 'यस्यात्मा शरीरमित्याद्यनेक
श्रुतिभिरवगतमेव । तस्मात्पञ्चाग्निविदां देवयानगतिरपुनरावृत्तिश्च सिध्य-
त एव । ननु सर्वगतस्य ब्रह्मणः क्वचिल्लोकविशेषो नोपपद्यते न वा तस्य
सभावेश्मादिकं यतस्तत्र तदुपासकस्य गतिरुपपद्यतां न वा निर्धूतनि-
खिलाविद्यः पुमान् लोकविशेषस्थैश्वर्यं कामयेत् । तथाविधैश्वर्यप्राप्ति-
रेव मोक्षश्चेत् तस्य विनश्वरत्वेन मोक्षस्याप्यनित्यत्वमापद्येत । तस्मा-
न्निर्गुणब्रह्मविदस्तु नार्चिरादिना देशान्तरे गतिरस्तीतिचेन्न, श्रुतिशत-
प्रतिपादितार्चिरादिमार्गेण देशांतरं गत्वैव ब्रह्मप्राप्तिरिति श्रौतनिश्चयेऽ
त्रैव निःशेषाविद्यानिवृत्ताविहैव च मुक्तिरिति कुतर्कोपबृं-

हितस्य त्वन्मतस्याप्रामाणिकत्वात् । न हि तर्कशतमेकामपि श्रुतिं बाधितुं
प्रभवति । लोके यथा वह्नेरौष्ण्यं सलिलस्य च शैत्यं
वचादीनां धियो वर्धकत्वं तुण्ड्यादीनाञ्च तन्नाशकत्वं
इत्यसकृत्तत्तद्भावस्वभावो विलक्षणशक्तिमत्वेनानुभूयते । तथैव प्राकृ-
तिकजगति कर्मवासनाख्याविद्याजननशक्तिः परमव्योमाख्यदेशवि-
शेषस्य तादृशाविद्यानिवर्तनशक्तिश्च नापह्नवमर्हतः । स्वाभाविकविचि-
त्रभावशक्तयस्तर्केणाशक्यनिह्नवा इति निश्चिनोति भगवान् पराशरः
" शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु
सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णता "
इति । अपि च श्रुतिसचिवस्तर्कोऽप्यत्र प्रामाण्यमासादयति । यथा
पंकोपलिप्ताङ्गं न हि पंकिलाम्भस्यवस्थितं निर्मलमपि जलं क्षालयितुं
क्षमते तथा ह्यविद्यिकप्रकृतिमण्डलेऽविद्याख्यमलस्तोमं तिरस्कर्तुं न
पार्यते विद्याबाहुल्येनापि । तदत्र यथा पंकोपलिप्तं वस्तु कश्चिच्च-
तुरो निष्पङ्कं प्रदेशं प्रसन्नसलिलतीर्थं वाऽऽनीय प्रक्षाल्य निर्मली-
करोति तथाऽत्रापि स्वभक्तानुकम्पाकूपारो भगवान् भक्तोपासनयाऽनुग्र-
हाविष्ट उपासकानातिवाहिकगणैरर्चिरादिभिः प्राकृतलोकेभ्य ऊर्ध्वं प्राकृ-
तसम्बन्धविधुरं देशविशेषमानीय समस्ताविद्याकल्मषं प्रक्षाल्य स्वात्मानं
प्रापयतीति विदुषां ब्रह्मावाप्तयेऽवश्यमेव गतिरुपपद्यते । समस्ताविद्या-
निवृत्तिभूमयोऽप्राकृता देशविशेषाः परमात्मनः श्रुतिस्मृतिप्रति-
पादिताः सन्त्येव । तथा च श्रुतयः 'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा
प्रतिष्ठितः, (मु० २।२७) 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्,
(पु० सू०) 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' तद्विष्णोः परमं पदं सदा-

पश्यन्ति सूरयः, इत्याद्याः शतशस्तल्लोकमामनन्ति । श्रुतिप्रतिपन्नेऽर्थे यथाश्रुतिविचारस्यैव न्याय्यत्वादन्यथा शास्त्रकप्रमाणकस्य ब्रह्मणोऽपि तर्कबलेनापलापप्रसङ्गात् । न चैवमुत्तरमीमांसायाः कार्याधिकरणस्य का गतिरिति वाच्यम् । कार्याधिकरणीयाद्ययोर्बादरिजैमिनिपक्षयोः पूर्वपक्षतयावस्थाप्य भगवता बादरायणेनाप्रतीकालम्बनान्नयतीत्यादिसूत्रद्वयेन सैद्धान्तिकस्य स्वाभिप्रायस्य स्पष्टम्प्रतिपादितत्वात् । तथा हि—कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेरिति चतुर्मुखादिरूपकार्यब्रह्मोपासकानातिवाहिकगणो हिरण्यगर्भलोकमेव नयतीति बादरिमतमयुक्तं बहुषूपनित्सु ब्रह्मविद्याप्रकारणे श्रूयमाणाया अर्चिरादिगतेः परब्रह्मप्राप्तिहेतुतयैव तत्र तत्र समाम्नानात् । तादृशश्रुतीनामपरब्रह्मविषयत्वे दहराद्यनेकविद्याविरोधात् । सर्वगतस्यापि ब्रह्मणो गतिशास्त्रबलसिद्धस्य देशविशेष एव निःशेषाविद्यानिवृत्तिसम्भवस्य दुरपह्नवतया तं विना प्राप्तेरयुक्तत्वेन मार्गविशेषेण देशविशेषगतिपूर्वकप्राप्तेरेव युक्तत्वात् । अस्य च बादरिमतस्य जैमिनिनैव निराकृतत्वात्तन्मतमत्र च न प्रपञ्च्यते । उभयमतयोर्दोषमुद्भाव्याप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणस्य महर्षेः सिद्धान्तः समुज्जृम्भते । इदं पुना रहस्यं यद्यपि कार्याधिकरणेऽपि देवयानमार्गगामिनां पुनरावृत्तिस्तु क्वापि नोदीरिता न वा तत्प्रमाणभूतासूपनिषत्सु तथाप्यत्र मधुसूदनेन तट्टीकायाम्पुनरावृत्तिः प्रतिपाद्यत इति चित्रमतस्तन्मतं वेदानुसारिभिरनादरणीयमिति संक्षेपः । विस्तरस्तु अस्मद्गुरूपनिबद्धपरमगतिमीमांसायाष्टीकायां मत्प्रणीतायां द्रष्टव्यः ॥ २३ ॥

अग्नर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

प्रज्ञितमर्थमभिधातुमादावपुनरावृत्तिलक्षणां शुक्लगतिमाह—अग्निरिति । अग्न्यादिशब्दास्तत्तदभिमानिदेवलक्षकास्तथाच तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, इत्यादि श्रुतिदर्शितार्चिरादिक्रम एवात्राभिप्रेतः । अत्रास्मिन्नर्चिरादिमार्गे प्रयाता ब्रह्मविदो जना ब्रह्मपरमव्योम्नि परमपुरुषं प्राप्नुवन्ति । न चैते पुनरावर्त्तन्त इति भावः । तथोक्तं श्रीरामचिन्तनरत्ने—"निवार्य भवसम्बन्धमर्चिरादिपथेन हि । स्वधामानुभवौ दत्त्वा नित्यां सेवां ददाति च ॥२३॥" इति ॥२४॥

प्रतिज्ञातयोर्द्वयोर्गत्योरादावनावृत्तिलक्षणं देवयानमार्गमभिधत्ते-अग्निरिति । अत्राग्न्यादिशब्दैस्ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतात् पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः, (बृ. ६।२।१५) इत्यादिश्रुतिगतार्चिराद्यभिमानिन्यो देवता लक्ष्यन्ते । तत्रार्चिरादिमार्गे प्रयाता ब्रह्मविदो जना ब्रह्म गच्छन्ति । अयम्भावः । छान्दोग्येऽप्ययमर्चिरादिमार्गो व्यपदिश्यते । तत्र 'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ इत्यादिरूपेण कथितः 'ब्रह्म गमयति, इति ब्रह्मशब्दोत्र नपुसकलिङ्गनिर्दिष्टो निरूढलक्षणया परस्मिन्नेव

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

इदानीमावृत्तिकारकं पितृयाणाख्यं धूममार्गमाह–धूम इति । अत्रापि धूमादिशब्दास्तत्तदभिमानशालिदेवविशेषानुपलक्षयन्ति । अयमप्यध्वा छान्दोग्ये श्रूयते–अथ य इमे ग्रम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति, (छा ।५।१०।३) ब्रह्मणि वर्तते । तथा च ब्रह्मविदो जनाः परं ब्रह्मसायुज्यमवाप्य पुनर्नैव निवर्तन्त इति सिद्धं भवति । अर्चिरादिमार्गक्रमस्तूत्तरमीमांसायाश्चतुर्थाध्यायीयतृतीयपादे सूत्रकृद्भिः स्वयं निर्णीतः । भाष्यकारैरपि 'तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्, (ब्र० सू० ४।३।३) इति सूत्रभाष्ये क्रमस्योल्लेखोऽकारि । 'तत श्चायं क्रमः सम्पन्नः । नाडीरश्मिप्रवेशान्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं सम्वत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युताद्वारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति । अयञ्च क्रमः सर्वासूपनिषत्स्वेकप्रकारेणैव वेदितव्यः । संक्षिप्तमेतदस्मद्गुरुभिः परमगतिमीमांसायाम्–

अर्चिर्दिनं सितं पक्षञ्चोत्तरायणवत्सरे ।
वातं रविं विधुं विद्युद्वरुणेन्द्रांश्चतुर्मुखम् ॥
विरजां प्राप्य वैकुण्ठं गोलोकं समुपैति च ।
ततः साकेतलोके हि भक्तः प्राप्नोति राघवम् ॥ इति ॥२४॥

एवं प्रशस्तमनावृत्तिसम्पादकमर्चिरादिमार्गमभिधायावृत्तिजनकमत एवाप्रशस्तमपरं धूममार्गमुपदिशति–धूम इति । इहापि धूमादिशब्दैः

३) इति । ये गृहस्था यागदानहोमादिपरास्ते धूमयानमार्गेण चन्द्रलोकमुपयान्ति । तत्र स्वानुष्ठितकर्मफलमुपभुज्य कर्मानुष्ठानयोगी पुनरप्यस्मिन् संसारे निवर्तते । अयं मार्गः कर्मिणां भूयो भूयः संसृतिप्रापकः । अतो मुमुक्षूणां वैराग्यसिद्ध्येऽत्र दर्शितः ॥२५॥

पितृयाणमार्गाभिमानिन्यो देवता लक्ष्यन्ते । अयमपि मार्गो वाजसनेयोपनिषदि स्पष्टमाम्नातः–'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रम्प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते । आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते । लोकान् प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्ते" (वृ ६।२।१६) इति श्रुत्युक्तप्रकारेणेष्टापूर्तादिकर्मानुष्ठानपरायणो योगी पितृयाणाख्येऽस्मिन् मार्गे चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य ततो निवर्तते । येन मार्गेण चन्द्रमण्डलमारुढस्तेनैव क्रमेण तद्विपर्ययेण च प्रत्यवरोहन्ति । तदुक्तं ब्रह्मसूत्रे–कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च, (ब्र० सू०-३।१।८) येऽत्र कर्मभूमौ रमणीयं पुण्यं कृतवन्तस्ते चंद्रलोकात् प्रत्यवरुह्य रमणीयां ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते । तदुक्तं श्रुतौ–'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥

प्रोक्तयोर्देवयानधूमयानमार्गयोः फलं स्पष्टयति—शुक्लकृष्णे इति । एते प्रागभिहिते । शुक्लकृष्णे गती अर्चिरादिधूमादिमार्गौ । अनयोर्गत्योः शुक्लकृष्णशब्दाभ्यामभिधाने हेतुस्तु शुक्लकृष्णपक्षघटितत्वादिरेव । जगतो भक्तस्य पुण्यकर्मशीलस्य च । शाश्वते मते । हि पञ्चाग्निविद्यादौ प्रसिद्धम् । उभयोरेकया शुक्लया गत्या गत उपासकोऽनावृत्तिं याति । न स पुनरावर्त्तत इति श्रुतेः । अत एवोक्तं अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा, (छा० ५।१०।७) इति । तस्मादनेन धूममार्गेण चंद्रमण्डलं गत्वा गत्वा पुनरावृत्तिर्नियतैवातो मुमुक्षुभिरयं पन्था यथा निवृत्तो भवेत् तथा प्रयत्नो विधेय इति ज्ञापनायात्रोपदिष्ट इति। ॥२५॥

एवमर्चिरादिधूमादिगत्योः स्वरूपमुपदर्श्यानावृत्त्यावृत्तिभ्यां तयोः शाश्वतिकत्वमभिधत्ते—शुक्लकृष्णे इति । शुक्लकृष्णे—शुक्लपक्षघटित्तत्वाज्ज्ञानप्रकाशाधिकाग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वात् प्रकाशलोकाधिक्याद् ब्रह्मप्राप्तिप्रयोजकत्वेनोत्कृष्टत्वात् पुनरावृत्तिकार्याप्रदायित्वाद्वाऽर्चिरादिगतिः शुक्लेत्युच्यते । एवं कृष्णपक्षघटितत्वादनधिकप्रकाश—धूमरात्र्यादिदेवताधिष्ठितत्वादप्रकाशलोकाधिक्याद् भूयः संसृतिजनकत्वेनापकृष्टत्वाद् वा धूमयानमार्गः कृष्णा गतिरित्युच्यते । एते हि गती जगतो ज्ञानिनः कर्मिणश्च शाश्वते मते । तत्रैकया

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

श्रीरामप्राप्तिपद्धतौ– " श्रीरामं समवाप्तोऽयं कर्मयोनिं न गच्छति ॥४७॥ आनन्दी नाथ जीवोऽयं रामं प्राप्य रसात्मकम् । समिच्छति पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ॥४८॥ सत्यसन्धः प्रतिश्रुत्य प्रपन्नायाभयं स्वयम् । निवर्त्तयेद् भये नैनं श्रीरामः श्रितवत्सलः ॥४९॥" इति । अन्यया कृष्णया । धूमादिगत्येत्यर्थः । गतः पुण्यकर्त्ता पुनरावर्त्तते । 'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति श्रुतेः ॥२६॥

एतद्गतिज्ञानवन्तं स्तुवन् प्रकृतमुपसंहरते––नैते इति । हे पार्थ ! परधामप्राप्तयेऽर्चिरादिसृतिं संसृतिप्राप्तये च धूमसृतिं जानन् ग्राह्याग्राह्यतया निश्चिन्वन् योगी कश्च- शुक्लया गत्या ब्रह्मानुध्यायी विद्वाननावृत्तिं निःश्रेयसपदं याति 'तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः, (बृ० ६।२।१५) इति श्रुतेः । अन्यया कृष्णाख्यया गत्या कर्मानुष्ठायी जनः पुनरावर्तते 'एनांस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते, (बृ. ६।२।१६) प्राप्यान्नं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे, (बृ.) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्कृष्णां गतिं परिहाय मुमुक्षुः शुक्लामेव गतिं प्रेप्सुर्भवेदितिभावः ॥२६॥

शुक्लकृष्णगतिविषयकज्ञानस्य फलं प्रदर्शयन् गतिप्रकरणमुपसंहरते—नैते इति । हे पार्थ ! एते पूर्वोदाहृते शुक्लकृष्णाख्ये सृती गती

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ॥
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

—०✱✿✿✱०—

नापि नैव मुह्यति । हे अर्जुन तस्मात् संसारनिवृत्तये परमपुरुषावाप्तये च सर्वेषु कालेषु योगयुक्तोऽर्चिरादिमार्गप्रापकब्रह्मोपासनाख्ययोगयुक्तो भव ॥२७॥

उपदिष्टार्थस्य फलमुपदर्शयन्नुपसंहरते-वेदेष्विति । सविधिवेदाध्ययनयज्ञतपोदानेष्वनुष्ठितेषु यत् पुण्यफलं शास्त्रेण

संसृतिविमुक्तिप्रयोजिकां शुक्लाख्यामाद्यां सृतिं संसृतिप्रयोजिकाञ्च कृष्णाख्यामपरां सृतिं जानन्नुपादेयतया शुक्लामनुपादेयतया च कृष्णामवगच्छन् योगी वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानपूर्वकभगवदनुध्यानपरायणो न कश्चन मुह्यति । समयमनुसृत्य कर्तव्याकर्तव्यविषये वैक्लव्यं नोपैति । अत एवैतयोः सृत्योः सम्यगवगमो येषां नास्ति तादृशपुरुषाणां निन्दैव श्रूयते बृहदारण्यके—'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दंदशूकम्, (बृ ६।२।१६) इति । हे अर्जुन यस्मादेवं तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः संसृतिसृतिपरिहाराय ब्रह्मोपासनपरायणो भव ॥२७॥

एवमुक्तस्यार्थस्य सर्वोत्कृष्टफलजनकत्वेन परमोपादेयतां

प्रदिष्टं तत् सर्वमिदं भगवदुपासनं विदित्वाऽत्येति स्वयञ्च योगी भगवदनुध्यानयोगनिष्ठो भूत्वा सर्वेषामाद्यं सनातनं सर्वोत्कृष्टं स्थानं "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति श्रुतिप्रतिपाद्यमुपैति ॥२८॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्येऽक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

—०✱✿✿✱०—

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

प्रश्नाः पार्थस्य सप्त प्रतिवचनमथो वर्णनं चान्तिमस्य
ब्रह्मानुध्यानतोऽद्धा ह्यसुगतिसमये ब्रह्मभावं सदैति ।
क्षेत्रज्ञस्याप्युपास्तौ प्रकृतिविरहिणः सद्गतिः सैव शुक्ला
हेतुर्नैवागतेः सा सृतिरिति भगवानष्टमे स्पष्टमाख्यत् ॥८॥

ग्राहयन्निदं प्रकरणमुपसंहरते—वेदेष्विति । ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषादिनियममास्थाय यथाविध्यधीतेषु वेदेषु साधिकारं साङ्गोपाङ्गमनुष्ठितेषु यज्ञेषु मनःकायेन्द्रियाणि संयम्य सोत्साहं सुतप्तेषु तपस्सु पुण्यदेशकालयोः सत्पात्रेभ्यो दीयमानेषु दानेषु यत्पुण्यफलं तथानुष्ठितधर्माणां यत्फलं शास्त्रेण प्रदिष्टं प्रतिपादितं तत्सर्वमिदं सप्तप्रश्नप्रतिवचनतयोपदिश्यमानं विदित्वा सम्यगुपासनं विधाय प्रकरणे विद्युपास्त्योरैकार्थ्यात् । उपासने सम्यक्त्वञ्च 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र- सू. ४।१। १) इति न्यायेनोपास्यस्वरूपप्रत्ययैकतानत्वमहरहो निरवच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम् । अत्ये-

आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

आ० भा०—एवमुपासकविशेषस्वरूपपरिचयपूर्वकं तत्तदुपासनप्रकारं सफलमुपवर्ण्यार्जुनप्रश्नाभिकांक्षितः सर्वोऽप्यर्थः प्रतिपादितः । अधुनोपासनोपासकयोः स्वरूपविज्ञानेनोपासस्यस्वरूपजिज्ञासा ह्यधिरोहति । तामुपास्यस्वरूपमाहात्म्य-

त्यतिक्रामत्यस्मिन् महानन्दसन्दोहसिन्धौ निमग्नोऽन्यत्सर्वं सुखं फल्गु मन्यते । स च योगी परानुध्यानयोगी स्वप्राप्यमाद्यं सर्वेषामाद्यमनादिनिधनं परं सर्वोत्कृष्टं स्थानं 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, 'तदक्षरे परमे व्योमन्, (तै- ना. ६।१।२) 'दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयम्' (भा. मौ. ५।२७) 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः' (भा. शा. मो. १९६।३१) इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृत्युपगीतमहिमुपैति ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥८॥

कथनेनादौ समाधाय भूय उपासनस्वरूपमेव वक्ष्यत्यानवमाध्यायम् । तत्रादावुपासनात्मकज्ञानस्य माहात्म्यमभिधीयते—इदमिति । पूर्वं कर्मज्ञाने प्रतिपादिते । ते च गुह्यगुह्यतरे इदन्तु गुह्यतममतिशयगोप्यमप्यनसूयवेऽसूयारहितायोपदेश्येऽर्थे प्रेमादरविशिष्टाय ते तुभ्यं तच्च विज्ञानसहितमुपास्यदेवस्वरूपगुणविभूतिविस्तारसहितमेव प्रवक्ष्यामि । यज्ज्ञात्वा झटित्येवाशुभात् संसारप्रापककर्मफलान्मोक्ष्यसे मुक्तिं प्राप्स्यसि ॥१॥

अष्टमे परमपुरुषोपासकानां स्वरूपभेदावुपपाद्य तेषामुपासनानुगुणा फलोपलब्धिरपि गतिविशेषनैयत्येन सम्यङ् न्यरूपि । अथाऽनेनादावुपास्यरूपपरदेवतायाः स्वरूपं तन्माहात्म्यप्रदर्शनपूर्वकं प्रतिपाद्य विशिष्टोपास्तेस्तद्भक्तेः प्रशंसाभिधीयते—इदमिति द्वाभ्याम् । इदमिति ज्ञानमुपक्रम्यते । तदेव चात्र गुह्यतमत्वेन विशेष्यते । ज्ञानञ्चात्र भजनोपासनपदवाच्या एतदध्यायसमधिगता परभक्तिरेवेति निश्चीयते । अस्य प्रकरणस्य 'मन्मना भव मद्भक्तः (गी. ९।३४) इत्यध्यायान्तेन वाक्येन भक्तकर्तृकभगवदनुध्यानं विधायोपसंहृतत्वात् । अत एव चोपक्रमे सर्वविद्यानां राजभूतेयमिति राजविद्याशब्देनोपस्तुतिरुपपद्यते । किञ्चाग्रे त्रयोदशचतुर्दशश्लोकयोर्येऽनन्यमनसो भजन्ति, 'भक्त्या उपासते, ते महात्मानः । अथवाऽनन्यमनसा भजनं भक्त्या च भगवदुपासनमेतन्महात्मनामेव कार्यं नान्येषामित्युपपादितत्वादत्र ज्ञानपदाभिधित्सितपरभक्तिरेवोपक्रम्यत इति सिद्धम् । तच्च परभक्तिलक्षणं ज्ञानं विज्ञानसहितमुपास्यस्वरूपविशिष्टोपासनप्रकारसहितम् । उपासने ह्युपास्यस्वरू-

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

सर्वेभ्य उपायेभ्योऽस्य श्रैष्ठ्यमाह—राजविद्येति । विद्यानां राजा राजविद्यं गुह्यानां राजा राजगुह्यं सर्वविद्यासु सर्वगोप्येषु च परमश्रेष्ठमिदमुत्तमं पवित्रं सांसारिकक्लेशमुन्मूल्य पवैशिष्टचज्ञानवद्यदिव्यकल्याणगुणाश्रयत्वसर्वेश्वरत्वाद्यनुसन्धानपूर्वकत्वेन बोध्यम् । केवल कर्मयोगज्ञानयोगयोः क्रमेण गुह्यत्वं गुह्यतरत्वमस्य च पुनः परभक्तिलक्षणज्ञानस्य गुह्यतमत्वमितीदं तुनास्योत्कृष्टत्वं द्योत्यते । एवञ्चेदं तु गुह्यतममनसूयवे । असूया गुणेषु दोषाविष्करणरूपा तद्विपरीता ह्यनसूया गुणेषु गुणत्वबुद्धिरूपा तद्वते—अनेन विनेययोग्यता प्रदर्शिता । यो ह्यसूयावान् भवति न स उपदिष्टेऽर्थे उपादेयबुद्धिं तनुते । अतोऽनसूयुना भाव्यमुपदेश्येन । अत एवोक्तं मानवे शास्त्रे 'असूयकाय मां मादास्तथास्यां वीर्यवत्तमा, (मनु.) इति । गीताशास्त्रेऽपि वक्ष्यत्युत्तरत्र 'न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति' (गी. १८।६७) इति । ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा यदभ्यर्हिततमं मत्प्राप्तिसाधनभूतं ज्ञानं स्वरूपतोऽनुष्ठानतश्चावगम्याशुभान्ममत्प्राप्तावन्तरायभूतान्मोक्ष्यसे । अत्र भगवत्प्राप्त्यन्तरायत्वेन पुण्यापुण्ययोरुभयोरपि विमुक्तिरभिमता । निरयसम्पादकं दुष्कृतं यथा परप्राप्तिप्रतिबन्धकं तथा सुकृतमपि । अतोऽन्तरायतयोपस्थिताभ्यां ताभ्यामत्र विमोक्षोऽभिहितः ॥१॥

पुनरपि परभक्तिरूपमिदं ज्ञानं प्रशंसति—राजविद्येति । विद्यानां राजा राजविद्या 'राजदन्तादिषु परमिति पाणिनीयेन नियेमेन विद्या-

मत्स्वरुपावेदकत्वादुत्तमं पुण्यार्जकत्वाच्च पवित्रमअवगम्यत इत्यसाववगमोऽर्थः प्रत्यक्षोऽवगमो यस्य तत्प्रत्यक्षावगमं स्वविषयीभूतमर्थं हस्तामलकवत् प्रकाशकमिदम्,उपासनात्मकेनानेन ज्ञानेन वशीभूतोऽहमुपासकं स्वात्मानमपि दर्शयामीति भावः । धर्म्यं धर्मादनपेतं यथा यागादेः स्वर्गसाधनत्वेन धर्म्यत्वं तथाऽस्यापि मत्स्वरूपावाप्तिलक्षणमोक्षसाधनतया धर्म्यत्वमत एव सुसुखं कर्त्तुं सम्यगनुष्ठान आयासरहितमव्ययं मदवाप्तिं विधायापि स्वरूपेण न विनष्टं प्रत्युत स्वरूपेणाधिक्यमासाद्यावस्थितम् ॥२॥

शब्दस्य परनिपातः । सर्वविद्यासु श्रेष्ठेत्यर्थः । राजगुह्यं गुह्यानां राजेति राजगुह्यं गुह्येषु गोपनीयेष्वपि श्रेष्ठं परमगोप्यमपीदमिति भावः । राज्ञां क्षत्रियाणां विद्यत्यर्थस्तु न रमणीयः । न हि राज्ञां क्षत्रियाणामेव प्राधान्येनेयं विद्यास्ति । अनेकश्रुतिशास्त्रविरोधात् । क्षत्रियस्यापि मुमुक्षुत्वाविशेषात्तेनाऽप्यङ्गीकृतैवेयमिति त्वन्यदेतत् । मनोवाक्कायार्जिताशेषकिल्विषविनाशकत्वात् सर्वेभ्यो व्रतोपवासादिभ्य इदं पवित्रम् । अन्ये व्रतोपवासादयः कियत्कालमेव शोधयन्ति । इदन्त्वार्जवनं पावयित्वा निःश्रेयसपदं नयतीत्यत उत्तमं प्रत्यक्षावगमम वगम्यत इत्यवगमो विषयः प्रत्यक्षभूतोऽवगमो यस्य तदेतज्ज्ञानरूपया परभक्त्याहं भक्तपरवशः सन् तद्हृदि परमाह्लादजनकस्वरूपमाविष्करोमीत्यर्थः । धर्म्यं धर्मादनपेतमन्येषां धर्माणामनुष्ठाने शरीरायासादिक्लेशबाहुल्यमस्य तु पुनरनुष्ठाने न क्लेशलेशोऽपीत्याह—सुसुखं कर्तुं गुरुशास्त्रोपदेशमात्रेण सम्यगनुष्ठेयमव्ययं मत्साक्षात्कारस्वरूपं फलमुत्पा-

अश्रद्दधानाः पुरुषाः धर्मस्यास्य परन्तप !
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

एवमिदं ज्ञानं प्रशस्यात्राभिरुचिरहितान् निन्दति- अश्रद्दधाना इति। हे परन्तप ! अस्य मद्विषयकोपासनात्मकज्ञानस्य धर्मस्याश्रद्दधाना अस्मिन् धर्मे तत्फलेऽपि च श्रद्धारहिताः पुरुषा मां सर्वेश्वरमखिलहेयप्रत्यनीकदिव्यकल्याणगुणसागरमप्राप्यैव मृत्युप्रदसंसारवर्त्मनि पुनः पुनर्निवर्त्तन्ते संसारभयात् कदाचिदपि नोपरमन्ते । अतोऽत्र मदुपासनात्मकज्ञाने सर्वात्मना श्रद्धा विधेयेति तत्त्वम् ॥३॥

द्यापि तथाविधफलानन्त्याय स्वयमक्षय्यतयावस्थितं नत्वन्यकर्मवदसकृदेव फलं दत्त्वोपक्षीणम् । एतादृगिदं महाफलकमिति प्रशंसया सश्रद्धमस्मिन् त्वयोपादेयताबुद्धिरास्थेयेति भगवतोऽभिप्रायः स्फुटति ॥ २ ॥

एवं परभक्तिरूपस्य ज्ञानस्य परमपावनत्वेन सर्वोत्तमत्वेन प्रशस्यैतत्पराङ्मुखानामसकृत् संसारगर्तपात इत्युच्यते—अश्रद्दधाना इति । हे परन्तप ! अस्य भजनात्मकज्ञानरूपस्य धर्मस्य, अधिकरणतायाः सम्बन्धविविक्षया षष्ठी । धर्मपदश्चात्र जन्यजनकोभयपरम् । तथा च एतज्ज्ञानाभिन्नधर्मे तज्जन्यनिःश्रेयसाख्ये फले चाश्रद्दधानास्तादृशः 'सदानन्दरूपं मोक्षाख्यं फलमेव नास्ति, कदाचित् केषाञ्चिन् मतेन तादृशफलसम्भवेऽपि तस्येदं ज्ञानं साधनमेव नास्ति, 'श्रुतिस्मृतिष्वस्य माहात्म्यवर्णनन्त्वर्थवाद एव, इति मन्यमानाः पुरुषाः मां सर्वेशितारं परमपुरुषार्थरूपमप्राप्यैव मृत्युसंसारवर्त्मनि—मृत्युशब्देन

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

एवं परभक्तिरूपापन्नं ज्ञानं प्रशस्य तत्स्वरूपं स्पष्टतया विवक्षुः सति कुड्ये चित्रमिति न्यायेन सत्युपेयपरिज्ञाने तदुपायः शक्योऽवगन्तुमित्यादावुपेयस्वरूपं प्रतिपादयति—मयेत्यादिना प्रकरणेन । इदं चराचरं सर्वं जगत् । अव्यक्ताऽप्रकाशिता मूर्तिः स्वरूपं यस्य सोऽव्यक्तमूर्तिस्तेन मया धारकेन नियामकेन । शेषिरूपेणेति यावत् । ततं व्याप्तम् । अतः सर्वभूतानि मत्स्थानि मयि स्थितानि । अन्तर्यामिणो ममाधीनस्थितिनियमनानि सन्तीत्यर्थः । अहञ्च तेषु नावस्थितः । मम स्थितिस्तु न तेषामायत्तेत्यर्थः ॥४॥

जन्मजरादयोऽपि गृह्यन्ते । तथा च जन्मजरामृत्युदुःखाकुले संसारवर्त्मन्येव निवर्तन्ते । मदनुरक्तिवैधुर्यान्न तेषामपुनरावृत्तिलक्षणो मोक्षः कदाचिदपि सिद्ध्यतीति खेदः प्रकाश्यते ।। ३ ॥

एवमुपक्रान्तस्य ज्ञानात्मकस्य परभक्तिरूपोपासनस्य माहात्म्यमभिधाय तत्स्वरूपस्पष्टताप्रतिपत्तये तदन्तःपातिन इष्टतमस्योपेयलक्षणोपास्यदेवस्वरूपस्य परिज्ञानमन्तरेण साङ्गोपाङ्गोपासनस्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यतयादावुपास्यस्वरूपप्रबोधाय स्वस्वरूपमहत्त्वस्य प्रतिपादकं प्रकरणमेवारभते—मयेत्यादिभिः कतिपयैः श्लोकैः । इदं स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना— अव्यक्ता अनिन्द्रियगोचरा मूर्तिः स्वरूपं यस्य तेनालक्षितस्वरूपेण नियामकतयाऽन्तरवस्थितेनेति यावत् । मया सर्वेश्वरेण सर्वव्यापकेन ततं व्याप्तम् । अनेन 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

ननु यदि सर्वभूतानां त्वमेव धारकश्चेज्जलादिधारकघटादेरिव तवाप्यस्वतन्त्रधारकत्वं घटेतेत्यत आह—न चेति । भूतानि घटादाविव न मत्स्थानि न मयि स्थितानि । यथा घटादिर्जलादिकं पतनप्रतिघातिना संयोगेन सम्बन्धेन धारयति नाहं तथा भूतानि धारयामीत्यर्थः । तर्हि प्रागुक्तयोस्तव धारकत्वनियामकत्वयोर्विरोधः स्यादित्यत आह—पश्येति । मे मम सर्वधारकस्य सर्वनियन्तुश्चैश्वरमीश्वरसम्बधिनमीश्वरस्य पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवा न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः, (बृ. ३।७।३) 'य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरमित्यादिरूपमन्तर्यामिब्राह्मणं स्मारितम् । अत्र चराचरात्मकस्य सर्वस्यापि वस्तुनो परमात्मशरीरत्वेन तन्नियामकतया शरीरिणस्तत्र नियतत्वाद् व्याप्तिरेव परमपुरुषस्य बोधिता । अत एव मत्स्थानि सर्वभूतानीत्युच्यते । सर्वाणि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि भूतानि मय्येव सर्वाधारे सर्वनियामक आधेयतयानियाम्यतयाऽवस्थितानि अत एवोक्तं 'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इति । न हि नियामकमन्तरेण नियाम्यं स्वातन्त्र्येण जातु स्थातुमर्हति । मदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकान्येवेत्यर्थः । तथैवामनन्ति श्रुतयः 'यो देवानामधिपो यस्मिन् लोका अधिश्रिताः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् । (श्वे० ४।) इत्याद्याः । यद्यखिलं जगत् त्वय्यवस्थितं क तर्हितवस्थितिरिति शंकां समाधत्ते—न चाहं तेष्ववस्थितः । अहं तु तेष्वाधेयतया नावस्थितः

ममासारधणमितियावत । योगं युक्तिमघटितघटनाचातुरीमित्यर्थः । पश्य । अहं भूतानि विभर्तीति भूतभृद् भूतानां धारको न च भूतस्थो न च भूताधीनस्थितिकः । ननु न च मत्स्थानि भूतानीतित्वदुक्त्या त्वय्यनवस्थितानि चेद् भूतानि कथं त्वं भूतभृदित्यत आह—ममेति । ममात्मा संकल्पो भूतभावनो भूतानां भावनो धारको नियामकश्चातो न काचिदनुपपत्तिः ॥५॥

मच्छरीरभूतभूताधीनोऽहं न तिष्ठाम्यपि तु स्वतन्त्रत्वात् स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तिकोऽहमित्यर्थः । एवञ्च मया ततमिदं सर्वमित्यभ्यर्णमेवोक्तस्य यः पृथिव्यां तिष्ठन्, इति श्रुतिनिर्दिष्टस्य चापाततो दृश्यमानो विरोधश्च परिहृतो भवति । एतच्चाम्नातं छान्दोग्ये 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति, (छा ७।२४।१) न च मत्स्थानि भूतानि । स्वसंकल्पबलेन स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तकानि सर्वभूतानि विधाय तेषु व्याप्याहमेव तिष्ठामि । न तु कुण्डबदरवदाधाराधेयभावमात्रेण मयि भूतानि सन्ति । परिच्छिन्नयोरेव तथा व्यवहारात् । अहन्त्वपरिरिच्छन्नोऽतोऽपृथकसिद्धिलक्षणविलक्षणसंयोग एव भूतानां मत्प्रतिष्ठितत्वे नियामकः । तथापि कथं व्याप्यव्यापकाभाव इत्यपेक्षायामाह—पश्य मे योगमैश्वरम् । योगशब्दस्यात्र संकल्पाख्यंध्यानमर्थः 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु, इति कोषात् । तथा च सर्वशक्तिमतः सत्यसंकल्पस्य कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थस्य ममानितरसाधारणं संकल्पस्य प्रभावं पश्य । निरतिशयसामर्थ्ये मयि संकल्पबलात् सर्वाश्चर्यकरं कार्यमपि सम्भवत्येवेति भावः । एतच्चोक्तमुत्तरमीमांसायाम् 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (ब्र० सू०२।१२।८) इति

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः सङ्कल्पायत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वे दृष्टान्तमाह–यथेति । यथा येने प्रकारेण नित्यमाकाशस्थितो नभसि स्थितः सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः सर्वत्र गतिमान् महान् वायुर्मत्स्थो मद्धीनस्थितिप्रवृत्तिकस्तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि मदधीनस्थितिप्रवृत्तिकानीत्युपधारय "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।,, (तै. आन. ८ अनु.) " भीषास्माद्वातः पवते,, इत्यादिश्रुतेः ॥६॥

सूत्रे । एतदेवोत्तरार्धेन विवृण्वन्नाह – भूतभृन्न च भूतस्थः । भूतानि बिभर्तीति भूतभृत् सर्वभूतधारकः पोषकश्चाप्यहं न च भूतस्थः । यथा क्षेत्रज्ञः स्वशरीरस्थः शरीरं तदवयवांश्च धारयन पोषयन् तिष्ठति तत्स्थतया तत्कृतगुणदोषयोः सुखदुःखयोरनुसङ्गी भवति तथाहं न भवामि निर्लेपत्वादासक्तिरहितत्वाच्च । कुतश्चैतदित्याह – ममात्मा भूतभावनः । आत्मशब्दोऽत्र ममात्मेतिवैय्यधिकरण्यान्मनोवृत्तिसंकल्पमाचष्टे । तथा च मम संकल्प एवाऽखिलभूतानां भरणपोषणनियमनादिकार्यहेतुः । मत्समवेतनित्यसंकल्पेनैव सर्वदा सर्वभूतानां धारणपोषणादिव्यवस्था सम्पाद्यते न मया भूतस्थितिप्रयुक्तः कश्चिदतिशयोऽनुभूयतेऽतो भूतस्थोऽपि न भूतस्थ इत्येव ब्यपदिश्यत इति भावः ॥४॥५॥

मत्स्थानि सर्वभूतानीत्यनुपदमुक्तं तत्र सर्वभूतानां भगवत्स्थत्वं कीदृगभिप्रेतमिति स्वयमेवोदाहरणेन स्पष्टयति–यथेति । यथा गति-

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

भूतानां भगवदधीनस्थितिप्रवृत्तिवदुत्पत्तिप्रलयावपि भगवदधीनावेवेत्याह – सर्वेति । हे कौन्तेय ! सर्वभूतानि द्विपरार्धकालरूपं ब्रह्मण आयुःकल्पस्तस्य क्षयेऽवसाने मामिकां मच्छरीररूपाम्प्रकृतिमविभक्तनामरूपां तमःशब्दाभिधेयां यान्त्यवाप्नुवन्ति। मत्सङ्कल्पात् प्रकृतिमाविशन्तीत्यर्थः । कल्पस्यादावारम्भे तानि तत्सजातीयानि सर्वाणि भूतान्यहं सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पश्चाहं सर्वेश्वरः पुनर्विसृजाम्युत्पादयामि । " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते .... ,, "मनसैव जगत्सृष्टिं संहारं च करोति यः ,, इत्यादयः श्रुतयः स्मृतयश्च तथैवाहुः ॥७॥

निरोधकस्वभावरहिते महत्याकाशे स्थितः महानपि वायुर्निरालम्बः परममहति मय्यदृष्टे स्थिते मदवलम्बमवाप्यैव सर्वत्रगो मदन्यकर्तृकधृत्यन्तराभावान्मत्कर्तृकधृतिविशिष्ट एवेति निश्चयस्तथा सर्वाणि भूतानि अज्ञातमदाधारकाणि मय्येव स्थितानि मदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकानीत्युपधारय त्वं विनिश्चिनुहीत्यर्थः । प्रतिपादयन्तीममर्थं श्रुतयः–एतस्य वाक्षरस्य गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः, इत्याद्याः ॥६॥

सर्वभूतानां भगवति स्थितिमुक्त्वेदानीं प्रलयोऽपि तस्मिन्नेव परमकारणे सम्पद्यते । यत्र च लयस्तत एव चोत्पत्तिरित्यभिधीयते–सर्वभूतानीति । हे कौन्तेय ! कल्पक्षये–ब्रह्मायुषोऽवसाने ब्रह्मादिस्थावरान्तानि सर्वाणि भूतानि मामिकां मत्तनुभूतां प्रकृतिं यान्ति प्राप्नु-

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अथ सृष्टिप्रकारमाह—प्रकृतिमिति । स्वां स्वीयां विचित्रविकारोत्पादिकां तमःस्वरूपाम्प्रकृतिमवष्टभ्याश्रित्य भूमिरापोऽनलो वायुरित्युक्तप्रकारेणाष्टधा परिणमय्येत्यर्थः । महामोहोत्पादिकायाः प्रकृतेर्वशादायत्तत्वादवशं पराधीनमिमं देवमनुष्यतिर्यक्स्थावररूपं भूतग्रामं भूतसमुदायं पुनः पुनर्विसृजामि विविधरूपेणोत्पादयामि ॥८॥

वन्ति । नामरूपविभागानर्हावस्थाविशिष्टतमःशब्दाभिधेया प्रकृतिरत्र बोध्या । सुबालश्रुत्या पृथिव्यप्सु प्रलीयते इत्यारभ्याक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकी भवति, इत्यन्तयाऽस्य विषयस्य स्पष्टम्प्रतिपादितत्वात् । कल्पादौ ब्रह्मण उत्पतिसमये सर्गारम्भकाले वा पुनस्तान्येव सर्वभूतानि यथा पूर्वमासन् तथैवाहं विसृजामि 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्, इति श्रुतेरिति मच्छरीरभूताद् ब्रह्मणोऽपि सृष्टिर्मत्कारणिकैवेतिभावः ॥ ७ ॥

कल्पादौ विसृजामीत्युक्तं तत्र केन प्रकारेणेत्यपेक्षयोच्यते प्रकृतिमिति । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी च ( ) 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' ( ) इत्यादिश्रुत्यनुसारेणाह—स्वां प्रकृतिं स्वकीयां विचित्रविकारोत्पादिनीं समविकारास्तु प्रलयेऽपि जायन्ते न हि तदानीं प्रकृतेर्विलयः सम्पद्यते परमपुरुषशरीरत्वेन तस्या अनाद्यनन्तत्वात् । सर्गादौ तु भगवत्सिसृक्षावशात् सा महदादिरूपेण परिणमते । तथा भूतां त्रिगुणमयीं प्रकृतिमवष्टभ्य मद-

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

लोकोत्तरशक्तिसम्पन्नस्य मम जीववद् बन्धो न भवतीत्याह नेति । हे धनञ्जय तानि नानाविधजगत्सर्जनादीनि कर्माणि मां सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पञ्च दिव्यगुणार्णवं न निबन्धन्ति मयि वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च नापादयन्ति । कस्मादितिचेदुच्यते—तेषु विषमकर्मस्वसक्तमासक्तिरहितम् । प्राक्तनानाञ्जीवकर्मणामेव सृष्टिवैषम्यप्रयोजकत्वात् प्रयोजकत्वसम्बन्धशून्यमित्यर्थः । उदासीनवदासीनं स्थितं मां न बन्धन्ति ॥९॥

धिष्ठितायास्तस्या एवोपादानद्रव्यत्वेनाङ्गीकृत्य तथाष्टधा परिणमय्य मायिनामपि मोहिन्याः प्रकृतेर्वशादवशमिमं भूतग्रामं ब्रह्मादिस्थावरान्तं भूतसंघं कृत्स्नमेव पुनः पुनर्विसृजामि ॥ ८ ॥

ननु सृष्टिकर्तुस्तव विषमसृष्टिं विदधतो जीववत् कर्मबन्धः कुतोनेत्यपेक्षायामाह—नेति । हे धनञ्जय ! तानि विषमविविधजगद्रचनादीनि कर्माणि च मां नित्यनिरवद्यदिव्यकल्याणगुणसागरं सदैकरसं न निबध्नन्ति वैषम्यनैघृण्यपक्षपातित्वादिदोषान् मयि नापादयन्ति । कुतो नैतदतो हेतुविशिष्टविशेषणमुपादत्ते उदासीनवदासीनं तत्तद्विश्वसर्गादिकार्यमनुतिष्ठन्नप्यहं तत्र हर्षशोकादिरहितत्वात् प्रकृतिस्थ एवोदासीनवदासीनो भवामि । न चैवमुदासीनस्याप्यन्यस्य जन्तोः प्राक्तनकर्मवासनया तदनुगुणफलावाप्तिः स्यादेवेत्यत आह—तेषु जगद्रचनादिकार्येषु सर्वदाऽसक्त आसक्तिरहित एव वर्ते । अनेन स्वस्य स्वार्थराहित्यं पूर्णकामत्वं च दर्शितम् । तथा च फलाभिस-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

प्रकृतिरेव स्वातन्त्र्येण जगद्रूपेण परिणमते इति मतमपाकरोति–मयेति । अध्यक्षेण मयेक्षिता भूता प्रकृतिर्मदीया प्रकृतिः प्राक्तनजीवकर्माण्यनुसृत्य तत्तज्जीवभोग्यभोगोपकरणादिरूपेण सचराचरं जगत् सूयते । अनेन हेतुना मदाध्यक्ष्येण हे कौन्तेय ! सर्वमिदं जगत् विपरिवर्तते । विलक्षणाकारप्रकारं धत्ते । अतो न कश्चिद्विरोध इति भावः ॥१०॥

न्ध्यानुष्ठीयमानान्येव कर्माणि बन्धप्रदानीति निष्कर्षः । समर्थितोऽयमाशयो ब्रह्ममीमांसायामपि, वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति, (ब्र० सू०२।१।३४) 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च (ब्र० सू० २।१।३५) इति सूत्राभ्याम् ॥ ९ ॥

ननूदासीनवदासीने त्वयि जगत्सर्गो न युज्यते तदा प्रकृतिरेव स्वातन्त्र्येण परिणमत इत्येवायातमित्याशंकां वारयन्नाह–मयेति । मयाऽध्यक्षेण सर्वाधिनायकेन नित्यसत्येक्षणेन नियामकेन मया मत्संकल्पप्रवर्तिता त्रिगुणात्मिका प्रकृतिर्मच्छरीरभूता विकारजननी माया सचराचरं जगत् सूयते । मदाऽऽध्यक्ष्येणेति पाठे तु 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च, (५।१।१२७) इति पाणिनीयेन ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वान्माध्यस्थ्यवदाध्यक्ष्यं भावे ष्यञि निष्पद्यते । पूरणगुणेति समासनिषेधस्यानित्यत्वमाश्रित्य 'बुद्धिमान्द्य, मितिवत्समासः । मदीयं यदाध्यक्ष्यं सर्वोत्कृष्टत्वेन निराबाधं स्वाम्यं तेन प्रेरितेयं मदीया

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

एवं मदीयं सर्वाधिपत्यं जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्वं न सर्वेऽपि जानन्तीत्याह–अवजानन्तीति । मम सर्वेश्वरस्य परं मदितरचेतनविलक्षणं भावमपारकारुण्यवात्सल्यसौशील्यौदार्यादिकल्याणगुणगणप्रयुक्तमनुष्यभावमजानन्तो मूढाः कर्मकृतज्ञानसंकोचवन्तो जना महांश्चासावीश्वरो महेश्वरो भूतानां महेश्वरो भूतमहेश्वरो तं मानुषीं मनुष्यसम्बन्धिनीं तनुमाश्रितं करुणया सर्वेषामाश्रयणाय गृहीतमनुष्यावतारं मां सर्वेश्वरमवजानन्ति तिरस्कुर्वन्ति ॥११॥

प्रकृतिः सचराचरं जगत् सूयते । अनेन मदाऽध्यक्ष्येण 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः' (श्वे० ६।११) इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितेन हेतुना हे कौन्तय ! इदमखिलं जगद्विपरिवत्तते तत्तद्विशिष्टरूपेण परिणतिमाप्नोति । अतो मयि सदा कर्मनिर्लेपत्वमेवेति भावः ॥ १० ॥

तदनेन प्रकरणेनोपास्ये भगवत्स्वरूपे सर्वजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणत्वं सर्वभूताधिपतित्वं निर्विकारतया शश्वद्वर्तमानत्वमित्यादि गुणजातं स्पष्टतयोक्त्वा एतद्गुणगणविशिष्टं सर्वाध्यक्षं मां स्वमुक्तये मूढ़लोका नाश्रयन्त इत्याह – अवजानन्तीति । मुढा मम सर्वेशितुः सर्वजगदेककारणत्वरूपं सर्वसमाश्रयणीयत्वायैव मनुष्याकारेणाखिलजनमनोनयनगोचरीभवितुं धृतावतारमिति परं भावमजानन्तः सर्वभूतमहेश्वरमपि मां मानुषीं तनुमाश्रितं सामान्यमनुष्योऽयमस्माददिवदेव मनुष्यचेष्टाश्रयत्वात् क्षत्रिय एवायं वसुदेवसूनुरित्येवमवजा-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

प्रागुक्तावज्ञाया हेतुं फलं चाभिधत्ते—मोघाशा इति । मामवजानन्तस्ते मूढा रक्षसामियं राक्षसी तां रजःप्रचुराम् । असुराणामियमासुरी तां तमःप्रचुराञ्च मोहिनीं मोहविधायिनीं प्रकृतिं स्वभावं श्रिता आश्रिता अत एव मोघाशा निष्फलाभिलाषा मोघकर्माणो निष्फलारम्भा मोघज्ञाना निष्फलज्ञाना विचेतसो विगतयथार्थबुद्धयश्च भवन्तीति शेषः ॥१२॥

नन्ति ममावज्ञां कुर्वन्त्यतो मां नाश्रयन्त इति भावः ॥११॥

अत एव ते मूढा अनिष्टफला भवन्तीत्याह—मोघाशा इति । ते हि मूढा राक्षसीं रक्षःसम्बन्धिनी राक्षसी द्वेषबहुला तमोगुणप्रचुरा तां तथाऽसुरसम्बन्धिनी आसुरी कामलोभबहुला रजोगुणप्रचुरा राजसी तां मोहिनीं तत्तद्गुणकार्यैं मोहमुत्पादिकां प्रकृतिं श्रिता अनादिकर्मवासनोत्थस्वभावमनुगताः । एवं कारणमभिधाय कार्यं दर्शयति—मोघाशा निष्फलमनोरथा मोघकर्माणो विफलकर्माणोमोघज्ञाना मिथ्याप्रतिपत्तयो विपररीतग्राहिणोऽनर्थेऽर्थबुद्धयः । अकार्यें कर्तव्यबुद्धय इत्यर्थः । विचेतसो ज्ञानशून्याः । ननु ज्ञानशून्यत्वे स्वार्थसाधनेऽपि तेषां प्रवृत्तिर्न स्यादिति चेन्न पश्वादिवत् स्वाहारविहारमात्रैकज्ञाननिरता इत्यर्थः । एवं मोघाशा इति न सर्वथाशायानिष्फलत्वं सांसारिकाणां कासाञ्चिदाशानान्तु साफल्यात् । अत्रेयमभिसन्धिः । मय्यनाश्वासान्मनुष्यबुद्ध्यैव मां प्रति व्यवहारात् फललिप्सयाऽनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलस्योपलब्धिर्न भवतीत्यतो

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

भगवद्विमुखानुष्ठितस्य वैयर्थ्यमुक्त्वा भागवतानुष्ठानस्य सार्थक्यमाह—महात्मान इति । तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः हे पार्थ ! पुण्यकर्माणो ये दैवीं शुद्धसत्वप्रचुरां सात्विकीं प्रकृतिमाश्रिताः शान्तवृत्तिप्रवाहोपचितनिर्मलस्वभावमापन्ना महात्मानो मदनुरक्तिरागरूषितचेतसो मां सर्वेश्वरं दीनजनैकशरणं निखिलजगदुपकाराय लीलावनाववतीर्णं भूतादिमखिलजगदादिरूपमव्ययमनादिनिधनं ज्ञात्वाऽनन्यमनसो मदेकनिष्ठया मनोवृत्त्या भजन्ति सततं मामेवाराधयन्ति ॥१३॥

मोघाशत्वादिकमिति भावः । एवं मामवजानतां मूढानामिदं सामान्येन फलमित्यत्र दर्शितं विशिष्टन्त्वेतेषां भूयो भूयः संसाराब्धिनिमग्नतारूपं फलं षोडशे वक्ष्यति स्वयमेव – 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ आसुरीयोनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ (गी० १६।२०) अत्रापि मूढत्वेनैत एव प्रत्यभिज्ञाता इति तात्पर्यम् ॥१२॥

एवं भगवद्विमुखानां मूढानां जीवनस्य नैष्फल्यमाख्यायेदानीं भगवद्भक्तिरसोत्फुल्लमनसां महात्मनां जन्मनः साफल्यमभिधत्ते—महात्मान इति । तुना मूढादतः पक्षो व्यवच्छिद्यते । हे पार्थ ! ये तु प्राक्तनकर्मानुकूल्यात् सद्गुरुमुपसम्पद्य मद्भजनान्तरायरूपकल्मषमुपहत्य दैवीं देवसम्बन्धिनीं भक्तिज्ञानविरक्तिजननीं शुद्धसत्वगुणप्रचुरां प्रकृतिमाश्रिता

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्तया नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

अथ महात्मनां भजनप्रकारमाह – सततमिति । भक्त्या मद्विषयकनिरतिशयप्रीत्या सततं निरन्तरं मां सर्वेश्वरं रामकृष्णादिनामभिः कीर्त्तयन्तो मम कीर्तनं कुर्वन्तो दृढव्रता दृढसङ्कल्पवन्तश्च सन्तो यतन्तो मदर्चनादिषु तदुपकारिमत्कर्मसु च यतमाना नमस्यन्तो दण्डवत् प्रणमन्तो नित्ययुक्ता नित्यमत्सम्बन्धाभिलाषिणश्च सन्त उपासते ॥१४॥

महात्मानो महानात्मा ज्ञानादिसत्सम्पत्तिविशिष्टं मनो येषान्ते महात्मानस्ते भूतादिसमस्तजगतामादिकारणमव्ययं शश्वदेकरसं निस्सीमकरुणावरुणालयत्वेन साधुपरित्राणाय मदाराधनकर्मप्रकाशनाख्यधर्मसंस्थापनार्थाय धृतमनुजावतारं मां ज्ञात्वा अनन्यमनसो वाक्कायमानसानि मदेकप्रयोजनायैव व्यापारयन्तो भजन्ति मामेववोपासते इत्यर्थः ॥१३॥

अनन्यमनसो भजन्तीति समान्येन भजनमुक्त्वेदानीं भजनप्रकारं निर्दिशति-सततमिति । सततं कीर्तनयतननमनानां भजनात्मकतया त्रिष्वन्यतमे सातत्यं बोध्यम्, कीर्तनादित्रयातिरिक्ते कस्मिन्नपि कार्ये क्षणमपि कालमनीत्वा सर्वदा तेष्वन्यतममनुतिष्ठन्तः कीर्तनेन हर्षगद्गदकण्ठेन मन्नामोच्चारणं स्वरविशेषमाश्रित्य मद्गुणगानं प्रेम्णा मत्सम्बन्धिनृत्याभिनयसहितं संगीतकमिति सर्वं संगृह्यते । नमनयतनाभ्यां मनःकायव्यापारौ गृह्येते । एवञ्च श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा, (भा. ७ । ५ । २२) इति नवधाभक्तेरप्यैत्रैवा-

न्तर्भावोऽवगन्तव्यः । भक्तिश्चात्र भगवद्विषयकमनोवृत्तिविशेषरूपैव । श्रवणकीर्तनादीनां च तज्जन्यतया भक्तिपदेन व्यवहारः । अत एवोक्तं पुराणरत्ने 'नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् । तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि (१ । २० । १६) एवञ्च कार्यकारणयोरुभयोरपि मनोवृत्तिर्भक्तिशब्दाभिलप्या । तथैव शास्त्रेषु व्यवहारदर्शनात् । कारणे मनोवृत्तिरूपे प्रयोगो यथा–'यथा ते निश्चलं चेतो मयि भक्तिसमन्वितम् । तथा त्वं मत्प्रसादेन निर्वाणमपि यास्यसि (वि. पु. १ । २०।२७) इत्यादिषु दृश्यते । सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता इतीयन्तु कार्यें प्रयुज्यते । ननु भगवद्विषयकमनोवृत्तिविशेषरूपैव यदि भक्तिश्चेत्तर्हि विद्वेषवतां शिशुपालादीनामपि भक्तत्वापत्तिस्तेषांविद्वेषभावनायाः श्रीकृष्णे भगवत्युल्लेखात् । अत एवोक्तमत्रिस्मृतौ 'विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन् । शिशुपालो गतः स्वर्गं किम्पुनस्तत्परायणः, इति । अपि च विद्वेषस्य भक्तिपदाभिधेयत्वे 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु '(गी. १६।१९)इति गीताशास्त्रोक्तो भगवन्तं द्विषतां नराधमानामसुरयोनिक्षेपोऽसंगतः स्यादतः स्ववृत्तिविषयतानिरूपकत्वस्वान्यनिष्ठविषयत्वानिरूपकत्वसम्बन्धाभ्यां भगवद्विशिष्टमनोवृत्तिविशेषत्वं न भक्तिपदप्रवृत्तिनिमित्तमपि तु स्ववृत्तिविषयताविशिष्टत्वस्वातिरिक्तवृत्तिविषयत्वानिरूपकत्वसम्बन्धाभ्यां भगवद्विशिष्टमनोवृत्तिविशेषत्वमेव तत् । मनोवृत्तौ स्ववृत्तिविषयतावैशिष्टयञ्च स्वनिरूपकत्वस्वनिरूकानुरक्त्याश्रयत्वैदुभयसम्बन्धाभ्याम् । तेन दमघोषात्मजे भगवद्विषयकद्वेषविशिष्टायां मनोवृत्तौ सत्यामपि न क्षतिः । अतो द्वेषकार्ये हि द्विष्टान्निवृत्ति-

स्तद्विरोधिनीयमिष्टे प्रवृत्तिनिर्वाहिका भजनीयविषयकानुरक्तिरञ्जिता विलक्षणमनोवृत्तिरेव भक्तिपदार्थः। अत एवानेकैर्हेतुभिरनुरागवत्त्वमनुमायानुरागवतोऽनुरञ्जनोये निरतिशयभक्तिमानिति शास्त्रेणावबोध्यते। प्रसिद्धमेतत् ‘ पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन, इत्यादौ। अत एव च ‘या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥ (वि. पु. १। २०। १७) इत्यादौ-निरतिशयप्रीतेरेवान्तःकरणस्थापनेनानुरक्तिरूषितचेतोवृत्तेरेव तत्वमिति सिध्यति। भगवदनन्यभक्तानां द्वेषवृत्तिः कदाचिदपि नोत्पद्यते। तदुक्तं भारतेऽनुशासनपर्वणि ‘ न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः। भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥’ कथं तर्हि शिशुपालादेर्भगवद्द्वेषिणोऽपि मोक्षसिद्धिरिति चेदुच्यते। द्वेषवासनावेशात्तेषामनुक्षणं स्वरिपुत्वेन भगवतः स्मरणं ततः प्रतिबन्धकपापसंक्षयात् परा भक्तिस्ततो मुक्तिरिति क्रमः स्मरणस्योत्कटत्वेन स्मरणपरभक्तिमुक्तीनां पौर्वापर्येऽपि शतपत्रभेदनवद्यौगपद्यभ्रान्तिः। इयमेव भक्तिश्चिराभ्यस्ततया पराभक्तिरूपतां प्राप्नोति। तदुक्तं गीताचार्यैः—भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः। ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (गी० १८) अस्याभिप्रायस्तद्व्याख्यानावसर एव व्यक्तो भविष्यति। इयमेव भक्तिः कचिदाचार्यैर्भावशब्देनापि व्यवहृता। यथा ‘भावोऽस्ति चेत् कुशिकनन्दनपादयोर्मे, इत्यादौ भावाः भक्तिरिति निश्चीयते। अत एव ‘गंगाजले किं न वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणा वसन्ति। भावोज्झितास्तेन फलं लभन्ते तीर्थाच्च देवायतनाच्च मुख्यात् ॥ इत्युक्तमपि संगच्छते। ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्थैव भजा-

म्यहम् ॥ इति च इदन्त्वत्रावधेयम्। स्मरणकीर्तनश्रवणवन्दनादिरूपासु सर्वास्वपि भक्तिषु भजनीये मनःसमर्पणन्तु परमावश्यकम्। मनसोऽन्यत्र सत्वेऽस्या यथोक्तं फलं नैवोत्पद्यते। अतो मनोऽभिलाष एव भक्तेरात्मेति शक्यते वक्तुम्। अत एवानन्यभक्तानां मनोरथेषु मुक्तेरपि निस्पृहत्वं यत्र तत्रोक्तमुपपद्यते। यथा—यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति। निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हति ॥ न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे। ऐश्वर्यं वापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥ पत्युः प्रजानामैश्वर्यं पशूनां वा न कामये। अहं कदम्बो भूयासं कुन्दो वा यमुना तटे ॥ इति। अत एव सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघविनाशनम् ॥ अवशेनाऽपि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥ इत्यादिषु भगवन्नाम्नोऽशेषाघविनाशकत्वमुक्तम्। भगवन्नामस्मरणात् सद्यः पापतमांसि समुदितभास्करे इव विनष्टानि भवन्ति, ततोऽन्तःकरणे विशुद्धे भगवदनन्यविषया मनोवृत्तिरुदेति, ततः पुरुषोत्तमसाक्षात्काररूपा तत्सायुज्यप्राप्तिरिति क्रमः सिध्यति। इयञ्च परा भक्तिः साधूनां समागमान्मोहाकुले जगति स्पृहामपास्य सद्गुरुमुपसम्पद्य प्रपद्य च परमपुरुषमुपजायते नान्यथा। अत एव साधुसमागमस्य माहात्म्यं भक्तिशास्त्रेऽसकृदुपलभ्यते। तथाहि—सेव्याः श्रेयोऽर्थिभिः सन्तः पुण्यतीर्थफलोपमाः। क्षणोपासनयोगोऽपि न तेषां निष्फलो भवेत् ॥ साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः। कालेन फलदं तीर्थं सद्यस्साधुसमागमः ॥ अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः। मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ॥ इति ॥ इतिहाससमुच्चये च तस्माद्विष्णुप्रसा-

दाय वैष्णवान् परितोषयेत्। प्रसादसमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः।इति। तथा शांडिल्यस्मृतौ—केवलं भगवत्पादसेवया विमलं मनः न जायते यथा नित्यं तद्भक्तचरणार्चनात् ।।इति। एवमेव भागवताराधने महत्फलमुक्तम् । आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् । तस्मात्परतरं प्रोक्तं तदीयाराधनं शुभम् ।। इति। एवं सत्सङ्गाद् भक्तेरुचपयो जायते तथाऽसज्जनराणां सङ्गादपचयोपि जायत एवातस्तेषां सङ्गो दूरत एव परिहरणीयः। तदुक्तं—असतां दर्शनात् स्पर्शात् सम्पर्काच्च सहासनात्। धर्माचाराः प्रणश्यन्ति यथा सैकतमम्भसा।।इति। शांडिल्यस्मृतौ च—मूढैः पापरतैः क्रूरैः सदागमपराङ्मुखै सम्बन्धं नाचरेद्भक्तिर्नश्यत्येतैस्तु सङ्गमात् ।।इति। अन्यत्रापि वरं हुतवहज्वालपञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः । न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ।। इति । संग्रहे च-अवैद्यः प्राकृतः प्रोक्तो वैद्यो वैष्णव उच्यते। अवैद्येन न केनापि वैद्यः किञ्चित्समाचरेत् ।। इति । एवं कार्यकारणरूपेणोपचीयमानेयं भक्तिः परमपुरुषावाप्तेः साक्षात्साधनमिति वेदान्तडिण्डिमः। 'यतन्तश्च दृढव्रता' महत्यापद्यपि प्राणसंकटेऽपि भगवद्भक्तिं नैव त्यक्ष्यामीति दृढसंकल्पाः सन्तः सततं यत्नशीलाः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या 'पादौ शिरस्तथा हस्तौ निकुञ्च्य मुकुलाकृतिः। मनो बुद्ध्यभिमानैश्च प्रणामोऽष्टाङ्गसंज्ञितः ।। इत्युक्तप्रकारेणाष्टाङ्गैर्गुरुभगवत्सन्निधौ समविषममहीतलमविचारयन्तो द्रागेव दण्डवत् प्रणिपतन्तो नित्ययुक्ता नित्यसम्बन्धमभिकामयमाना उपासते ।।१४।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।।१५।।

अथ पूर्वोक्तेभ्योऽप्युत्कृष्टानुपासकानाह—ज्ञानयज्ञेनेति । अपिरित्यस्य त्वन्य इत्यत्रान्वयस्तथात्व एव तत्सार्थक्यात् । अन्येऽपि प्रागभिहितेभ्य--इतरेऽपि ज्ञानं मत्स्वरूपादिविषयकं ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन चकारात् कीर्त्तनादिभिश्चयजन्तः प्रीणयन्तो विश्वतो विश्वानि स्थूलसूक्ष्मावस्थानि चिदचिद्वस्तूनि मुखं शरीरत्वेन प्रकारो यस्य स विश्वतोमुखस्तं मां बहुधा समष्टिव्यष्टयात्मकैर्बहुप्रकारैः पृथक्त्वेन नामरूपविभागरूपकार्यत्वरूपेणैकत्वेन नामरूपाविभागरूपकारणत्वरूपेण चोपासते ।।१५।।

एवं महात्मोपासकेषु प्रागनन्यमनसः प्राथमिकाँस्ततोऽन्तरंगसाधनान् सततकीर्तनादिभक्तिसमन्वितांश्चाभिधायेदानीं चिदचिच्छरीरकं साक्षात्परमात्मानमेवोपासीनान् परभक्तिविशिष्टानुत्कृष्टोपासकानभिधत्ते-ज्ञानयज्ञेनेति । अन्येऽपि महात्मोपासकेषु ये पूर्वं द्विविधा अनन्यमनसः कीर्तनादिसाधनसम्पन्नाश्च प्रतिपादितास्तेभ्य अन्ये विलक्षणा ज्ञानज्ञेन स्वपरस्वरूपयाथात्म्यज्ञानलक्षणेन यज्ञेन यजन्तः स्वानुभवे स्थापयन्तो मामुपासते । उपासनप्रकारमाह—पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखं यदिदं परिदृश्यमानं नामरूपभिागावस्थं स्थूलभावापन्नं जगदस्ति तच्चिदचिच्छरीरकस्य महामायिनः परमेश्वरस्यैकोऽहं बहु स्याम. इति संकल्पात्तच्छरीरभूतादव्याकृतादुत्पन्नत्वात् परमात्मैवैकस्तथा विश्वरूपेणावस्थित इत्येकत्वेनानुसन्धायोपासते।। १५ ।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

अथोक्तं स्वस्य विश्वशरीरकत्वं स्पष्टतया दर्शयति—अहमिति । क्रतुर्ज्योतिष्टोमादिरहम् । यज्ञः पञ्चमहायज्ञा अहम् । स्वधा पितृहविरहम् । औषधं हविरहम् । मन्त्रोऽहम् । आज्यमाज्यात्मकं होमद्रव्यमहमेव । अग्निराहवनीयादिरूपोऽग्निरहम् । हुतं होमश्चाहमेव ॥१६॥

अस्याखिलचिदचिदात्मकस्य जगतः पिता जनको माता जननीत्वेन वर्त्तमानश्चेतनो धाता पितामहः पितुः पिता पवित्रं

पूर्वं हि ज्ञानं विज्ञानसहितमित्युक्तं तत्र प्रसङ्गाज्जगति तत्तद्रूपेणाहमेव स्थितः सर्वस्यास्य जगतो मच्छरीरत्वादिति स्पष्टतया दिदर्शयिषुस्तत्तद्वस्तुविज्ञानं प्रतिपादयति-अहमित्यादिचतुर्भिः । अहं सर्वात्मा इदानीं त्वदुपदेष्टा क्रतुर्ज्योतिष्टोमादिरूपोऽहं यज्ञो ब्रह्मयज्ञादिपञ्चमहायज्ञा लौकिकाग्नावनुष्ठीयमानाः स्वधाऽहं पितृभ्यो दीयमानमन्नमहमेवाहमौषधं ब्रीहियवादिरूपमौषधं हविरहमेव मन्त्रोऽहं हविःप्रक्षेपसमय उच्चार्यमाणो मन्त्रो याज्यादिरूपोऽहमेवाहमाज्यमाज्यसोमादिरूपं होमद्रव्यमहमेवाहमग्निरहमाहवनीयादिरूपोग्निरहमेव च हुतम् ॥१६॥

अस्य सचराचरस्य जगतः पिता पितृत्वेनाभिमतशरीरेऽन्तर्यामिरूपेणावस्थितत्वात् पिताहमेव माताऽहमेव धाताऽत्र मातापितृसदृशः

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवप्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

पावनं वेद्यम् । ओंकारः प्रणवः । ऋक् पादशालिवृत्तबद्धो मन्त्रः । साम गीत्यात्मको मन्त्रः । यजुश्च वृत्तगीतिविवर्जितो मन्त्रश्चाहमेव ॥१७॥

गम्यत इति गतिः स्वर्गपृथिव्यादिकं गन्तव्यस्थानं भर्त्ता धारणकर्त्ता प्रभुः शासनकर्त्ता साक्षी साक्षादवलोकनकर्त्ता । निवासो गृहादिकं निवासस्थानं शरणं रक्षकः सुहृन्मित्रं प्रभवश्च प्रलयश्च प्रभवप्रलयौ तयोः स्थानमुत्पत्तिलयस्थानं निधानमुत्पाद्यमुपसंहार्यं चाव्ययमविकारि बीजं कारणश्चाहमेव ॥१८॥

हे अर्जुन अहं तपाम्यनलादिरूपेण तापं विदधामि । अहं वर्षं नीरं निगृह्णामि स्वीकरोम्युत्सृजामि मुञ्चामि च । अहमपालनादिकर्ता पितुः पिता पितामहो वेद्यं पावनमोंकारश्चाहमेवमृकसामयजूंषि सर्वाण्यहमेव ॥१७॥

गतिर्गम्यते यत्तद्गन्तव्यस्थानं स्वर्गादिकं भर्ता धारयिता प्रभुः शासकः साक्षी सक्षात्कर्मद्रष्टा निवासो निवासस्थानं शरणं शुभप्राप्तयेऽशुभनिवृत्तये च रक्षकत्वेन स्वीकरणीयोऽहमेव सुहृद्धितोपदेष्टा प्रभवप्रलयस्थानमुत्पत्तिप्रलययोः स्थानं निधानं निधीयत इति निधानमहमेवाव्ययमपक्षयादिविकाररहितं बीजं कारणं तदहमेव ॥१८॥

एवं प्रातिस्विकरूपेणोक्त्वा तत्कार्यकारित्वेनाप्यहमेवावस्थित

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

मृतञ्जीवनसाधकं पीयूषं मृत्युर्मरणसाधकं विषश्चाहमेव । तथैव सद् वर्त्तमानमसदतीतमनागतश्च सर्वमहमेव ॥१९॥

अथ केवलं कर्मपराणामनुष्ठानं तत्फलञ्चाभिधत्ते—त्रैविद्या इति । ऋग्यजुःसामाभिधेयास्तिस्रो विद्यास्त्रिविधं तदधीयते विदुर्वेति त्रैविद्या ऋगादिवेदत्रयप्रतिपादितकर्ममात्रानुष्ठातारो यज्ञैरिन्द्रादिदेवताकैर्ज्योतिष्टोमादिभिर्मामिन्द्राद्यखिलदेवान्तर्यामिणं सर्वेश्वरमविदित्वा केवलं मच्छरीरभूतेन्द्रादिदेवस्वरूपेणैव

इत्युच्यते—तपामीति । तापकर्त्रादित्यादिरूपेण ग्रीष्मसमयेऽहमेव तपामि ततो वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च वृष्टेरनन्तरं यद्वर्षं पृथिव्यां सञ्चितं तन्निगृह्णाम्यादित्यकिरणैराकर्षामि । एवमष्टौ मासान् यावदाकृष्यानन्तरमुत्सृजामि वर्षधाराभिर्भूमिमासिञ्चामि । एवममृतं सर्वप्राणिनां जीवनं मृत्युश्चाहमेव किं बहुनोक्तेन हे अर्जुन ! सदसच्चाहम् । यत्सत्तया वर्तमानं यच्चाऽवर्तमानं भूतभविष्यद्रूपं तत्सर्वमहमेव ।, बहुधा विभक्तनामरूपभाक्त्वेनैकत्वेन तत्तदवस्थावस्थिताखिलचिदद्वस्तुशरीरतयातत्तद्रूपेणाहमेवावस्थित इत्युनुसन्धाय मामुमासते महात्मान इति पूर्वेण समन्वयात् ॥१९॥

एवं मूढानामासुरीप्रकृतिकानां मोघाशत्वादिरूपं फलं महात्मनान्तु गीतातात्पर्यावसितं नवमाध्यायेऽसकृदुद्घोषितं 'यान्ति मद्या-

मामिष्ट्वा तत्तत्फलकामनयाऽऽराध्य सोमं पिबन्तीति सोमपा यज्ञशिष्टसोमपानकर्त्तारोऽत एव पूतानि शोषं गतानि स्वर्गादिफलावरोधकानि पापानि येषान्ते पूतपापाः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते-याचन्ते । ते पुण्यं सुरेन्द्रलोकं दुःखमिश्रसुखरूपेन्द्रलोकमासाद्य दिवि स्वर्गे दिव्यान् दिवि भवान पार्थिवभोगेतरान् देवानां भोगा देवभोगास्तानमरभोग्यान् विषयानश्नन्त्यनुभवन्ति ॥२०॥

जिनोऽपि माम्, विमुक्तो मामुपैष्यसि, 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्, 'तेऽपि यान्ति परां गतिम्, 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति' 'मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणम्, इत्युक्तं फलं स्पष्टमेव । एवं भगवद्भक्तानां तद्विमुखानाञ्च कर्तव्यं तत्फलञ्च सामान्येनोपपाद्येदानीं भगवद्विज्ञानावज्ञानवर्जिता ये केवलं कर्मपरायणास्तेषां कर्तव्यं तत्फलञ्च भक्तानुष्ठानफलयोर्वैशिष्ट्यप्रदर्शनायैवाभिधीयते—त्रैविद्या इति द्वाभ्याम् । त्रैविद्या ऋग्यजुःसामवेदाख्यास्तिस्त्रो विद्यास्त्रिविद्या तामधीयते विदुर्वा त्रैविद्याः क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठगितिपाणिनीये 'विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्'इति वार्तिकेन प्राप्तस्य ठकोऽङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यमितिवार्तिकेन निषेधादत एव च त्रिविद्या शब्दादणि प्रोक्तरूपनिष्पत्तेर्वेदत्रय्यध्यनमात्रशीलास्त्रयीज्ञानपरायणा वा वेदपाठिनो याज्ञिका वा गृह्यन्ते, न तु त्रय्यन्तवेदिनो ब्रह्मज्ञाः । यत्तु जगद्विजयिकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्येण 'ऋग्यजुःसामाख्यास्तिस्रो विद्याः स्वाभीष्टार्थबोधिका येषान्ते त्रिविद्यास्त्रिविद्या एव त्रैविद्या वेदत्रय्युक्तकर्मनिष्ठाः, इति व्याख्यातं तदयुक्तमनुपसर्जनादेव 'प्रज्ञादिभ्यश्चेति, स्वार्थिकाणः

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

त इन्द्रादिलोकसुखानुभवितारस्तं विशालं स्वर्गलोकं स्वर्ग प्रसक्तेर्न तु समस्तत्रिविद्याशब्दात् । किञ्च वेदश्शूद्रस्याप्यभीष्टं बोधयत्येवेति तस्याऽपि त्रैविद्यत्वापत्तः । यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिर्मां सर्वदेवान्तर्यामिणं तत्तद्देवस्वामिनमनवगम्य मच्छरीरभूतानेवेन्द्रादित्यादिदेवान् फलविशेषकामनयेष्ट्वा सोमपाः सोमादियागे सोमपायिनस्तथा पूतपापास्तत्तत्कर्मफलप्रतिबन्धकपापेभ्यः पूतास्तादृशपापरहिताः सन्तः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते न तु परमप्राप्यमक्षय्यं मद्भावम् । ते सकामा जना दिवि देशविशेषे दुःखासम्भिन्नं पुण्यफलं सुरेन्द्रलोकधूमादिमार्गेणासाद्य तत्र दिव्यान् दिवि भवान् भौमभोगविलक्षणान् देवभोगान् देवैः पुण्यफलत्वेन दीयमानान् परिमितदेशकालविशिष्टानश्नन्त्यनुभवन्ति । एवमस्य परिमितफलस्य स्वर्गस्य त्रय्यन्तभाग एव निन्दा श्रूयतेऽथ योन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां यथा वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युरिति । तस्मात्पशुभोग इवायं परिमितफलभोग इत्यस्माद्विरज्येतेति भगवदभिप्रायो न विस्मरणीय इति तत्वम् ॥ २० ॥

ते च कामिनो विशालं विपुलं पुण्यवैपुल्यादिति तदाशयः । तम्प्र-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

लोकसुखं भुक्त्वोपभुज्य पुण्ये तादृशस्वर्गलोकसुखजनके सुखे क्षीणे नाशमुपगते सति मर्त्यलोकं मृत्युलोकं विशन्त्याप्नुवन्ति । एवमित्थं कामान् कामयन्त इति कामकामाः स्वर्गादिफलाभिलाषुकास्त्रयीधर्मं वेदत्रयापादितकर्ममात्रमनुप्रपन्ना अनुगन्तारो गतागतं यातायातं लभन्तेऽवाप्नुवन्ति । पुनरावृत्तिमेवाप्नुवन्तीत्यर्थः ॥२१॥

एवं प्रसंगात् कामिनां पुनरावृत्तिमुक्त्वा स्वभक्तानां योगक्षेमवाहकत्वं स्वस्यैवास्तीत्युच्यते–अनन्या इति। न विद्यतेऽमिद्ध स्वर्गलोकं भुक्त्वा तदुपयिके पुण्ये क्षीणे सति पुनरपि पुण्यसम्पत्तिसम्पादनाय मर्त्यलोकमेव विशन्ति । कर्मानुशयवन्तस्ते चन्द्रलोकाद् धूमादिमार्गेण कर्मभूमिमवतीर्य गर्भजन्मजरामरणादिविविधक्लेशाननुभवन्तीत्यर्थः । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना वेदत्रय्यां फलविशेषमुद्दिश्य यानि कर्माणि विहितानि क्षयिष्णुफलानि काम्यकर्माणि तेष्वेवानुरक्ता न तु त्रय्यन्ताधिगतब्रह्मोपासनानुरक्ता अत एव कामकामाः कामान् भौमदिव्यभोगान् कामयमानास्ते गतागतमेव लभन्ते कर्मभूमिमागत्य पुनः कर्मानुष्ठाय स्वर्गं गच्छन्ति ततः कर्मफलमुपभुज्य भूयो भूमावागच्छन्तीति गतागतान्न निवर्तन्त इत्यर्थः ॥२१॥

नवमाध्याये प्रथममुपास्यरूपभगवत्स्वरूपस्योपदेशः कृतस्तत्रचावज्ञावतां मूढानां परिचयस्तदाचरणस्य नैष्फल्यञ्चादर्शि । ततस्तत्प्रतिकोटितयाऽमूढा महात्मान एवावसरतो ह्यधिरूढा भवन्तीति

न्यो चिन्तनीयो येषां तेऽनन्या मच्चिन्तनैकप्रयोजना मामेव चिन्तयन्तोऽनिशमनुस्मरन्तो ये जना महात्मानो मद्भक्ता पर्युपासते मत्स्वरूपगुणविभूतीः सम्यक् पर्यालोच्योपासते तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमेव मयि निरतिशयानुरक्तिमीहमानानां योगक्षेमं मत्स्वरूपावाप्तिरूपं योगं सर्वकालं तद्रक्षणरूपं क्षेमञ्चाहमेव वहामि तथाविधेभ्यो मद्भक्तेभ्यो मच्चिन्तने समागतान्

तेषां स्वरूपनिरूपकं प्रकरणमिदमारब्धम् । मध्ये च महात्मनामेव माहात्म्यं स्पष्टयितुं मूढामूढव्यतिरिक्तानां कामिनामभीप्सितकर्माणि तेषामन्तवत्फलमुपपाद्येदानीं पुनरपि महात्मनां भगवदनन्योपासकानां साधूनां वृत्तस्य तत्फलस्य चाभिधित्सयैवाग्रेतनमध्यायं प्रकरणमास्थीयते । तत्रोपासकविशेषणीभूतमुपासनं साङ्गोपाङ्गं सप्रयोजनं यावन्नोक्तम्भवेत् तावदुपासकस्वरूपस्याभिधातुमशक्यत्वात् संक्षिप्तमुपासनस्वरूपमुपदिशन् विशिष्टफलप्रापकत्वेन स्वोपासकमुपवर्णयति—अनन्या इति । नास्तिमदन्य उपासनालम्बनः फलविशेषो वा येषान्तेऽनन्या मय्येव निविष्टहृदया मामखिलहेयप्रत्यनीकदिव्यकल्याणगुणाकरं परात्परं चिन्तयन्तः स्वकीयध्यानविषयीकुर्वन्तो ये जना महात्मानः साधवः पर्युपासते मनोवाक्कायैः सर्वकालमुपासते तेषां नित्याभियुक्तानां मद्वियोगं क्षणमप्यसहमानानां नित्यं सर्वकालमेव मत्संश्लेषविशेषाभिलाषुकानामहं स्वभक्ताभीष्टदो भक्तवत्सलस्तदवाप्तिरूपं योगं तथाभूताया मत्प्राप्तेरनवरतं रक्षणञ्च वहामि मद्भक्तव्यन्तरायान् सर्वान् दूरीकृत्यामोक्षं तद्रक्षणं विदधामि । निदर्शनतया चात्राञ्जनेयप्रह्लादाम्बरीषादिकथा इतिहासपुराणादिभ्योऽनुसन्धेयाः ॥२२॥

सर्वप्रत्यूहव्यूहानपवार्यामोक्षमानन्दं प्रयच्छामि ॥ २२ ॥

ये त्वन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

भगवदतिरिक्तदेवभक्तानां यजनादेरविधिपूर्वकत्वमाह-य इति । तुशब्दः पक्षपरिवर्तनार्थः । ये तु फलकामनयाऽन्यासां देवतानां भक्तास्तत्तद्देवे मह्यमयमवश्यमिदं फलं दास्यतीति श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते । हे कौन्तेय! तेऽपि सकामा भक्ता मामेव सर्वशक्तिसमन्वितं सर्वेषामात्मभूतं यजन्ति किन्त्वविधिपूर्वकम् । फललोलुपतया तेषां सर्वात्मतया प्राधान्येन ममैव पूजनं जायत इति ते न जानन्त्यपि तु मच्छरीरभूताया देवताया एव प्राधान्यमङ्गीकृत्य तेषामिष्टदेवतापूजनमितीदमेवाविधिपूर्वकत्वम् ॥२३॥

ननु ये च त्रैविद्या यज्ञादिभिस्त्वच्छरीरभूतानिन्द्रादित्यादिदेवानाराधयन्ति तेऽपि तत्तद्देवशरीरकस्य सर्वान्तर्यामिणस्तवैव भक्ता इति तेषां योगक्षेमं कथन्न वहसि कुतस्तेषामस्यां संसृतौ गतागतमुच्यत इत्यपेक्षायामाह—य इति द्वाभ्याम् । तुः पूर्वोक्तान् त्रैविद्यानुपस्थापयति । ये तु त्रैविद्याः कर्मकाण्डप्रतिपादकवेदत्रयीनिष्ठा यज्ञादिभिरन्यासामिन्द्रादित्यादिदेवतानाम्भक्ताः श्रद्धयान्वितास्ता एव यजन्ते तेपि चराचरात्मकस्य जगतो मच्छरीरभूतत्वात्तदन्तःपातिनामिन्द्रादित्यादिदेवानामपि मदात्मकत्वेन तेषां यजनं तन्ममैव यजनमित्युक्तप्रकारेण मामेव यजन्ति । किन्तु हे कौन्तेय ! अविधिपूर्वकं फलगृध्नुतात्वराकुलतया शास्त्रचोदितयजनभावनाम्परिहाय यजन्ति । अयम्भावः । 'यस्याग्निः शरीरम्' 'यस्यादित्यः शरीरम्, (बृहदा०) इत्याद्याम्नाया-

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४

अविधिपूर्वकत्वमेव विवृणोति-अहमिति। यतः सर्वयज्ञानां दर्शपूर्णमासादीनामहमेव तत्तद्देवशरीरकस्तत्तदात्मभूतः परमात्मा भोक्ता तत्तत्कर्मसमाराध्यः प्रभुश्च तत्तत्कर्मफलप्रदाताऽपि 'फलमत उपपत्ते, रिति न्यायेनाहमेवेति तत्त्वेन त्रय्यन्तसमधिगतेनार्थेन वस्तुगत्या ते फलमात्रैकबुद्धयः कामिनो मां सर्वेश्वरं नाभिजानन्ति। अतश्च्यवन्ति, अत एव च्यवनधर्माणो भवन्तीत्यर्थः। मदध्यक्षबुद्ध्या कर्मानुष्ठाने मोक्षसिद्धिस्तद्विपरीतानुष्ठाने तु पुनरावृत्तिरितिभावः ॥२४॥

न्तभागेनेन्द्राद्यखिलदेवानां भगवच्छरीरतया शरीरिणः परमात्मनश्चान्तर्यामिरूपेण तत्तद्देवनियामकत्वमितिसिद्धान्तस्यावबोधनेन शरीरपूजनेन वस्तुतः शरीरिणो ब्रह्मण एव पूजा सिद्ध्यति । क्षिप्रफलाभिलाषिण एवं जानन्तोऽपि फलतृष्णया मोहम्प्राप्येन्द्रादिदेवा एव प्राधान्येन फलदायिन इत्येवं मन्वानास्तानेव भजन्तेऽतस्तेषामन्तवत्फलसिद्धिः । परमात्मायत्ताः सर्वेऽपि देवाः परमात्मैव च तच्छरीरभूतदेवेष्वपि पूज्यत इति शास्त्ररहस्यं विस्मृत्य प्राधान्येनेन्द्रादिदेवानेव यजन्त इतीदमेवाविधिपूर्वकत्वम् ॥२३॥

त्रैविद्यानां यजनं भावनावैकल्याद् यथाशास्त्रं न भवति । अत एव मत्प्राप्तिलक्षणं फलमपि नोपलभ्यत इत्याह—अहमिति । यस्मादिन्द्रादित्यादिदेवतोद्देश्येनानुष्ठीयमानानां सर्वयज्ञानां तत्तदाराध्यदेवतात्मत्वेनाऽवस्थितोऽहमेव भोक्ता तत्तद्यज्ञाख्याराधनयाऽऽराध्य एवं

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

नित्यकर्मणामपि बुद्धिभेदात् फलभेद इति स्पष्टयति-यान्तीति । देवव्रता देवाराधने व्रतं नियता भक्तिर्येषान्ते देवभक्तयो देवान् यान्ति देवलोकं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । पितृव्रताः पितृभक्तयस्तु पितृलोकं प्राप्नुवन्ति । भूतप्रेतादियजनकर्तारश्च

प्रभुश्च 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र-सू० ३।२।३७) इति न्यायेन फलप्रदाताऽप्यहमेवास्मि । एवं त्रय्यन्तसिद्धान्तं तत्वेनेन्द्रादिशरीरकः परमात्मैव सर्वकर्माराध्यः फलप्रदाता चेत्येतद्रूपेण याथार्थ्येन ते मां नाभिजानन्ति । किन्तु आपातरमणीयफलोपलब्धिव्यामोहात् सिद्धान्तमिमं विस्मृत्य यथेष्टमनुतिष्ठन्ति । इन्द्रादिदेवानेवाराध्यान् फलदांश्च मन्वते । एवं भावनाया ईषद्वैषम्यात्तत्फले महद्वैषम्यमुपपद्यते । तदाह—अतश्च्यवन्ति च्यवनशीला भवन्ति । धूमादिमार्गेण भूयो भूयः संसृतिगर्ते पतन्तीतिभावः । निर्णीतश्चायमेवमेव मोक्षधर्मे भारते 'चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चेति पृथक् पृथक् । तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः । अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् । ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः । सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षवान्, (३५०) इति । ॥ २४ ॥

कर्मणः फलमवश्यमस्तीतिनियमान्नित्यकर्मणां फलवत्त्वे तेषु कर्मस्वाराध्यबुद्धिवैविध्यात्तत्फलेऽपि वैविध्यमिति प्रातिस्विकरूपेणाभिधत्ते—यान्तीति । देवव्रता इन्द्रादित्यादिदेवाराधने व्रतं नियमो येषान्ते

भूतलोकमेव प्राप्नुवन्ति मद्याजिनो मां सर्वेश्वरं यष्टुं पूजयितुं शीलमेषान्ते मदनन्यभक्ता मामेव प्राप्नुवन्ति। एतदुक्तम्भवति। 'एतत्कर्माराध्योऽयमेव देवोऽयमेव च फलं मह्यं दास्यति' इति बुद्ध्या कर्मानुष्ठाने परिमितफलस्य देवलोकस्यैवावाप्तिर्यतः पुनरावृत्तिः। एतत्कर्माराध्यैतद्देवशरीरकः परमात्मैवेति बुद्ध्याऽनुष्ठाने त्वनन्तस्य फलस्य भगवद्धामरूपस्यावाप्तिरिति बुद्धिभेदादेव फलभेद इति ॥२५॥

देवव्रताः। अर्थानुरोधाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। अथवा गमनार्थकस्य व्रजेः 'गोचरसंचरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च, (पा. सू ३।३।११९) इति पाणिनीयेन घान्तोऽयं निपात्यते। पृषोदरादेराकृतिगणत्वाच्च जस्य तस्तथा च देवव्रता व्रजननिरूपिताधिकरणताश्रया येषान्ते देवव्रताः सात्विकाः पुरुषाः प्राधान्येन देवानेव भजन्ते ते देवभक्ता देवान् यान्ति। स्वोपास्यदेवसायुज्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। राजसा मनुष्याः प्राधान्येन पितृव्रता अग्निष्वात्तादीन् पितृनाराधयन्ति ते पितृनेव यान्ति तामसाश्च भूतेज्याः प्राधान्येन भूतपूजकास्ते भूतानि यान्ति भूतलोकं प्राप्नुवन्ति। विशुद्धसत्वगुणयुक्ता मद्भक्तास्तु मद्याजिनो मां सर्वेश्वरं जगन्नियन्तारं यष्टुमाराधयितुं शीलमेषान्ते मद्याजिनो मदनन्योपासका मामपि यान्ति। अपिरत्र भिन्नक्रम एवार्थकश्च। मत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। तदुक्तं यजन्ते सात्विका देवान् पितृन् वै राजसा जनाः। तामसा भूतप्रेतादीन् शुद्धसत्वास्तु मामपि ॥ अनेन सहैकवाक्यत्वाय 'जायमानन्तु पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥ इति मोक्षधर्मीय वाक्ये सात्विकपदं शु-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

एवं भगवद्याजिनामुपासनविधावप्यायासराहित्यमुच्यते—पत्रमिति। पत्रं पुष्पं फलं तोयमिति चतुर्णां पार्थक्येनैवोपादानं न तु हेतुफलभावेन तोयपदार्थस्य पूर्वोपात्तेषु तेषु यथा नैराकाक्ष्यं तथा फलादेरपि। नवाऽभ्यर्हितत्वेनापि पत्रपुष्पफलजलानां क्रमः किन्तु स्वभावोक्तिरियम्। एवञ्च कदाचित् कस्यचित् पत्रेण प्रथितस्य तरोरेकमपि पत्रमेव, कदाचित् कस्यचित् पुष्पेण प्रथितस्य तरोरेकमपि पुष्पमेव, कदा-

द्धसात्विकपरमिति ज्ञेयम्। भगवन्मनस्कानां तदेकेज्यावताञ्च शुद्धसत्वगुणाश्रयत्वमेव। मिश्रसत्वादतिरिक्तमेव तत्। एतच्चोक्तमेकादशे श्रीमद्भागवते 'सत्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः। तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः, (भा. ११। २५। २२) अत्र निर्गुणपदं शुद्धसत्वगुणाश्रयपरम्। अन्यथा गुणाधिकारस्थितिमन्तरेण स्थातुमशक्यत्वेन निर्गुणानां भगवत्प्राप्तिवचनं श्लोकोक्तं वैयर्थ्यं भजेत। तस्माद्देवादिलोकं प्राप्तानां देवव्रतादीनां तत्तल्लोकस्य क्षयिष्णुत्वात् पुनरावृत्तिरवर्जनीया। मद्याजिनांन्तु नित्यादिकर्मस्वपि तत्तद्देवशरीरकस्य ममैव प्राधान्येनाराधनीयत्वेनार्चिरादिमार्गेण नित्यसुखैकनिलयं मामेव समधिगम्य क्लेशाकुले जगन्मण्डले न पुनरावृत्तिरिति विवेकः ॥२५॥

ननु यथा देवव्रतानां देवाराधनात्मके कर्मणि द्रव्याद्यङ्गवैकल्येन नैव फलनिष्पत्तिः सम्भवत्येवं त्वद्याजिनामपि कर्मवैगुण्ये फलोपल-

चित् कस्यचित् फलेन प्रथितस्य तरोरेकमपि फलमेवैतेषामभावे प्राणिमात्रसुलभं तोयं जलमेव वा यो मदीयो जनो मे स्वस्य परमप्रियाय श्रितवत्सलाय सर्वेश्वराय मह्यं भक्त्या सर्वाधिकप्रीत्या प्रयच्छत्यनभिसंहितान्यप्रयोजनः सन् समर्पयति। प्रयतो विशुद्ध आत्मा मनो यस्य स प्रयतात्मा तस्य प्रयतात्मनो भक्त्या मद्विषयकानन्यप्रेम्णोपहृतमुपहारतयाऽर्पितं तत् पत्रपुष्पादिकमहमवाप्तसमस्तकामत्वेऽप्यहमश्नामि। निरतिशयप्रीत्या तदहमवश्यमङ्गीकरोमीत्यर्थः * ॥२६॥

ष्घिर्नैव स्यात्। नच 'यस्य श्रुत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥' इति स्मृत्या यस्य वन्दनमात्रेण कर्मणां पूर्णता सम्पद्यते तर्हि तमुद्दिश्यानुष्ठितस्य कर्मणः कुतो वैकल्यशंकाऽपि सम्भवतीति वाच्यमेवं विध वाक्यानामार्थवादिकत्वात्। अन्यथा सर्वोऽपि लोको यथा कथञ्चित् कर्माण्यनुष्ठायाच्युतवन्दनेनैव पूर्णतामानयेत्। अथवा 'प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु च। स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादितिश्रुति' रिति श्रुतिवचनेनैकार्थ्यात्। क्वचित्प्रमादादीषत् प्रच्युतिरभ्यापन्ना नत्वङ्गप्रधानयोः सा भगवत्स्मरणात् संशुध्यतीति वचनबलादवगम्यते। तथा च कुतस्त्वदाराधनेऽपि सौलभ्यमत आह—पत्रमिति। पत्रं पुष्पं फलमिति त्रयाणां कार्यकारणभावेन लोकानुरोधात् क्रमोऽवगन्तव्यः। पूजनसमये यदेव सुलभं स्यात्तदेवोपादेयमित्यत्रापि सौलभ्यमभिव्यनक्ति। तत्रापि न

---

* उक्तं च पञ्चरात्रे— अण्वप्युपहृतं भक्तैर्मम भोगाय जायते। भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे भोगाय जायते॥ इति।

समुदितानि त्रीण्यपि पत्रादीनि युगपद् ग्राह्याणि समुच्चयद्योतकचकाराभावादसमस्तत्वाच्च। अथवा तोयपदस्य पृथगुपादानात् पत्रादीन्यपि पृथक् पृथगेव ज्ञेयानि न हेतुफलतयोपनिबद्धानि। तथा च कस्यचित् कदाचित् पत्रमेव कदाचित् कस्यचित् पुष्पमेव कदाचित् कस्यचित् फलमेव एवं सति क्रमोक्तिः पौर्वापर्यसम्भवाभिप्रायेण। अतएव भाष्ये "कदाचित् कस्यचित् पत्रेण प्रथितस्य तरोरेकमपि पत्रमेव कदाचित् कस्यचित् पुष्पेण प्रथितस्य तरोरेकमपि पुष्पमेव कदाचित् कस्यचित् फलेन प्रथितस्य तरोरेकमपि फलमे"वेत्युक्तम्। तत्र तुलसीपत्रस्य भगवदर्चने प्रधानसामग्रीत्वात्तदभावेऽर्चनस्यैव नैष्फल्यादेरपि तस्य परमोत्कृष्टत्वाच्च पत्रपदेन तस्य तदरिक्तस्यान्यस्यापि साधारणस्य ग्रहणम्। तुलसीपत्रविषये तूक्तं भगवता स्वयमेव 'तुलसीं प्राप्य यो नित्यं न करोति ममार्चनम्। तस्याहन्तु न गृह्णामि पूजाञ्च शतवार्षिकीम्, (ग.पु.) पद्मपुराणेऽपि —सर्वेषाञ्चैव पुष्पाणां पत्राणाञ्चैव सुन्दरि। आधिक्यात् तव देवेशि प्रीतोऽहं तव दर्शनात्॥ स्कान्देऽपि ' न विप्रसदृशं पात्रं न दानं सुरभिसमम्। न गंगासदृशं तीर्थं न पत्रं तुलसीसमम्॥ इति साधारणपत्रेषु चोक्तम्। श्रीशस्याराधनार्थाय कुर्यात् पुष्पस्य संचयम्। तुलसीबिल्वपत्राणि दूर्वां कौशेयमेव च, इति। एवं बिल्वशमीधात्र्यादिपत्राण्यपि भगवतोऽतिसंतोषकराणीति पूजारहस्ये स्पष्टम्। पुष्पं जातिकुन्दकदम्बपुन्नागपाटलागस्त्यमल्लिकाकमलवकुलचम्पकमालतीमाधवीयूथिकाकेतकीसहकारादिपुष्पेष्वेकमपि फलं द्राक्षाम्रदाडिमपनसलिकुचक्रमुककदलीखर्जूरबदरीनालिकेरकरमदामलकीराजादनादिफलेष्वेकमपि तोयं किम्बहुना पत्राद्यभावे प्रेम्णाऽञ्जलिपूर्णतोयमपि यो मदु-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

एवमुक्तमुपासनं यावज्जीवमनुतिष्ठन् शरीर यात्रा निर्वाहाय लौकिकं वर्णाश्रमोचितं नित्यनैमित्तिकं कर्म तत्फलञ्च मामेवार्पयेत्युपदिशति–यत्करोषीति । हे कौन्तेय ! यत् करोषि विदधासि । एतच्च शरीरयात्रानिर्वाहकं लौकिकं कर्म वेदितव्यमन्यथाऽशनहोमदानतपोरूपाणां वक्ष्यमाणानां कर्मणामानर्थ्यकमापद्येत । यदश्नासि शरीरं धारयितुं यदत्सि । यज्जुहोषि होमात्मकं यद्वैदिकं कर्म विदधासि । यद्ददासि यद् दानं करोषि । यत्तपस्यसि यच्च तपः करोषि । हे पासको भक्त्या निरतिशयप्रेमप्रवणचेतसा मह्यं भक्तवत्सलाय महापुरुषाय प्रयच्छति । प्रयतात्मनस्तस्य मदनन्यभक्तस्याहं पूर्णकामोऽपि शिशुजननीन्यायेन भक्त्युपहृतं स्वादुतममन्वानोऽश्नामि । अत एवोद्योगपर्वणि भारते 'अन्यत् पूर्णादपां कुम्भादन्यत् पादावनेजनात् । अन्यत्कुशलसम्प्रश्नान्न चेच्छति जनार्दनः ॥' परमपुरुषपरितोषायेत्येतत् पर्याप्तमिति जानन्तोऽपि भगवति केचित् पराङ्मुखा भवन्तीति-साश्चर्यं खेदः प्रकाश्यते। नारसिंहे–पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु । भक्तचैकलभ्ये पुरुषे पुराणे मुक्त्यै किमर्थं क्रियते न यत्नः ॥' (ना० पु० ६२।१९) अत्राश्नामीति कथनेन भक्त्या समर्पितस्यावश्याङ्गीकार्यता सूच्यते ॥ २६ ॥

एवं महात्मोपासकानामुपासनस्य सौलभ्यं तत्फलस्य चानन्त्यमुक्त्वा स्वाभिप्रेतस्यास्यैवोपासनस्य नित्यनैमित्तिककर्मणाञ्च मदर्पण-

कौन्तेय ! तदखिलं मय्यर्पितं कुरुष्व । अत्रापर्णमिति कर्मणि ल्युडन्तम् । तथा चोक्तं निखिलं कर्म मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्वेत्यर्थः सम्पद्यते । स्वानुष्ठीयमानस्य लौकिकस्य वैदिकस्य च निखिलस्य कर्मणः कर्त्ता भोक्ताऽऽराध्यश्चाहं सर्वेश्वर एवेति त्वमनुसंदधीतेति तात्पर्यम् ॥२७॥

बुद्ध्यानुष्ठानमेव श्रेयस्करमित्युपदिशति–यत्करोषीति । हे कौन्तेय ! 'यत्करोषि तन्मदर्पणं कुरु, इत्यनेनैव सर्वस्यापि शास्त्रार्थस्य समाप्तेर्यदश्नासीत्यादीनामुपादानं व्यर्थमेवापद्येतातो यत्करोषीत्यनेन तपोहोमदानाशनाद्यतिरिक्तं मनःशरीरचेष्टया शुभसंकल्पहेतुकं सर्वं कर्म गृह्यते । मदुपासनाहेतुभूतदेहधारणाय यदश्नासि यज्जुहोषि, यद् ददासि, यत्तपस्यसि, इति होमदानतपोभिर्नित्यनैमित्तिककर्मणां ग्रहणम् । तदेतत्सर्वं भगवदर्पणमर्प्यत इत्यर्पणमिति बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् । मय्यर्पितं यथा भवेत्तथा कुरुष्व । ननु होमादेरग्नावाहुतिप्रक्षेपानान्तरं भस्मीभूतत्वाद्दानादेश्च स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकमुद्देश्यभूते ब्राह्मणे समर्पितत्वान्न तस्य फलोत्पादकता सम्भवति । अपूर्वादिकं द्वारीकृत्य सम्भवन्त्यपि क्षणध्वंसिनः कर्मणः फलोत्पादकता कर्तर्येव फलमर्पयेत । किञ्चान्यदेवतोद्देश्येनानुष्ठितस्य कर्मणो भगवदर्पणबुद्धिरपि भ्रान्तावेव परिणमेदिति कुतस्तत्कुरुष्व मदर्पणमित्युक्तिः संगच्छतामिति चेदित्थमत्राभिसन्धिः । 'यस्याग्निः शरीरम्, 'यस्यादित्यः शरीरम्, कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' (ब्र. सू.   ) 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिरशेषचिदचिद्वस्तुनो भगवच्छरीरतया तन्नियाम्यत्वं तस्यैकस्यैव च सर्वनियामकत्वमित्याराध्यदेवानां कर्मकर्त्तुश्च भगवदधीनस्वरूपस्थि-

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।२८।

पूर्वोक्तस्य फलमाह—एवं मदुक्तप्रकारेण संन्यासयोगयुक्तात्मा कर्मकर्तृत्वादिकस्य मय्यर्पणमेव सन्न्यासस्तथानुसन्धानेन योगेन युक्तमनास्त्वं शुभाशुभ फलैर्मदुपासनसमकाले ततः प्राक्काले चानुष्ठीयमानानुष्ठितकर्मणामिष्टानिष्टफलदैः कर्मबन्धनैर्मोक्ष्यसे । न त्वयि तानि कर्माणि बन्धनाय सेत्स्यन्तीत्यर्थः । कर्मबन्धनैर्विमुक्तः सन्मामेव प्राप्स्यसि । प्रतिबन्धकस्य कर्मणोऽभावान्न संसारं प्राप्स्यसीति भावः ॥२८॥

तिप्रवृत्तिकत्वं परमात्मन एव सर्वस्वामित्वमित्याम्नायनिर्णयोऽतः स्वामिन्येव परमाराध्ये कर्मकर्तृत्वफलभोक्तृत्वादिकं सद्बुद्ध्या प्रविचार्य संस्थापनीयमिति भगवतोऽभिप्रायः । इदमेव भगवद्वाक्यं मध्यमपुरुषस्थान उत्तमपुरुषयोजनया कर्मार्पणानुसन्धानमन्त्रः सम्पद्यत इति गुरुभिरुपदिष्टम् । स चेत्थम्—यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् । यत्तपस्यामि भगवन् तत्करोमि त्वदर्पणम् ॥ इति ॥ २७ ॥

एवं सर्वाणि कर्माणि भगवति पुरुषोत्तमे समर्पणेन यत्फलं निष्पद्यते तदाह—शुभाशुभफलैरिति । एवं मन्निर्धारितप्रकारेण संन्यासयोगयुक्तात्मा सर्वकर्मणां कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं मयि सर्वेश्वरेऽर्पणमेव संन्यासस्तदाख्येन योगेन युक्त आत्मा मनो यस्य स त्वं शुभाशुभफलैरिष्टानिष्टफलैः कर्माण्येव बन्धनानि तत्तत्कर्मणः सम्भूतं पुण्यं पापं वा भोक्तुमवश्यमेव जगज्जालान्तरवस्थानेन भाव्यमिति बन्धनवद्बन्धनानि तैर्मोक्ष्यसे । कर्मस्वहं करोमीति बुद्धिरेव बन्धः । नाहं करोमि किन्तु

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

नन्वेवं स्वभक्तस्योद्धारेऽभक्तस्य च तिरस्कारे वैषम्यं स्यादितीमां शंकामपवारयति—सम इति । जात्या स्वभावेन गुणैश्चात्यन्तोत्कृष्टतयाऽनुत्कृष्टतया च स्थितेषु सर्वेषु ब्रह्मादितरुगुल्मान्तेषु भूतेषु समाश्रयणेऽहं समस्तुल्योऽस्मि । जात्यादिभिरनुत्कृष्टत्वेन कश्चिन्मे द्वेष्यो द्वेषार्हस्तैरुत्कृष्टत्वेन कश्चिन्मे प्रियः प्रेमार्होऽपि नास्ति । कस्यचिन्मत्क्रृत्संग्रहासंग्रहयोर्न जात्यादेरुत्कर्षापकर्षौ कारणतां भजेतामित्यर्थः । तुशब्दः शंकापरिहारकः । ये जात्यादिभिरुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा वा जना भक्त्या निरतिशयप्रीत्या मां भजन्त्याराधयन्ति । ते मयि वर्त्तन्ते मदेकाश्रिततया वर्त्तन्ते तेष्वहमपि वर्त्ते इति शेषः ॥२९॥

मदन्तर्यामिणः प्रेरणया करोम्यतः स एव मत्स्वामी परेशः कर्त्तेति बुद्धिरेव मोक्षदायिनीति भावः । विमुक्तश्च मामेवोपैष्यसि न हि किमपि प्रतिरोद्धुं समर्थ इति भावः ॥ २८ ॥

ननु स्वभक्तेभ्यः स्वधामार्पयस्यभक्तेभ्य आसुरभावापन्नेभ्यश्चासुरीं योनिं ददासीति तवातिवैषम्यं प्राप्तमित्यपेक्षायामाह—सम इति । सर्वेषु जातिस्वभावगुणैरुत्तममध्यमाधमत्वेनावस्थितेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्वाराधनीयत्वेऽहं सम एवास्मि । अयं जात्या स्वभावेन गुणेन वापकृष्ट इति समाश्रयणे मे द्वेष्यो नास्ति । अयञ्च जातिस्वभावगुणेनोत्कृष्ट इति प्रियो वा नास्ति । मत्कर्तृकापेक्षणीयत्वोपेक्ष-

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

किञ्च मद्भजनस्यापरमपि प्रभावमाकर्णयेत्याह-अपीति। यद्यपि सत्संगादनन्तरं सद्गुरुमुपसद्य भजनारम्भात् प्राक् सुदुराचारः कुलेन वृत्तेन हीनोऽपि मामाश्रितार्तिहरं सर्वेश्वर-मनन्यभागनन्यानुरागेण मत्सेवैकप्रयोजनो भजते चेत्स साधु-रेव मन्तव्यो ममाऽनन्यभक्त एव मन्तव्यो यतः स भजनानन्दः सम्यग् व्यवसितो नैरन्तर्येण मद्भजनमात्रैकव्यवसाययुक्तोऽतः परमभागवत एवेति तात्पर्यम् ॥३०॥

णीयत्वे न जात्याद्युत्कृष्टत्वापकृष्टत्वनिबन्धने इति भावार्थः। नचैवं 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु, (गी. १६।) इत्युत्तरवाकेचन विरोध इति वाच्यम्। तत्तत्कर्मापेक्ष्य फलदातृत्वेनादोषादिति गृहाण। नन्वेवं प्रियोऽपि नास्ति चेत् किं तवाश्रयणफलमित्यत आह—य इति। तु शब्दः शंकानिरासार्थः। ये तु मदनन्यभक्ता भक्त्या निरतिशयानुरागान्मां भजन्ति सततमाराधयन्ति ते जातिस्वभावगुणेनोत्कृष्टा अपकृष्टा वा स्युर्मय्येव वर्तन्ते मद्विषयकप्रेम-परवशा मदेकाश्रया वर्तन्त। इत्यर्थः। तेषु चाप्यहं तेषां प्रेमलक्षणया-भक्त्या तान् मदनुभावानन्दसिन्धुसन्धुक्षितान् कुर्वन्नहमपि ताने-वाश्रित्य वर्त इत्यर्थः ॥ २९ ॥

अपि चानन्यभावेन परमात्मानं भजतः पुरुषस्याचारहीनत्वमप्य-किञ्चित्करमित्यभिधत्ते—अपि चेदिति। सुदुराचारोऽपि चातुर्वर्ण्ये चातु-राश्रम्ये ये नियताचाराः श्रुतिस्मृतिविहिताः सन्ति तानतिक्रम्य यथेच्छं-विहरन्मनुष्यो दुराचारो भवति। एतच्चोक्तं वसिष्ठस्मृतौ—'चतुर्णामपि

वर्णानामाचारो धर्मपालनम्। आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः ॥ भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते। समुल्लंघ्य सदाचारं कश्चिन्नाप्नोति शोभनम् ॥ इति। ब्राह्मणस्य शूद्राचारवर्तनं दुराचारः। उक्तश्चात्रिसंहितायां 'सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ एवं परिचर्यैककर्मणः शूद्रस्य याजनादिवर्तनं दुराचारः। संक्षेपात् कर्तव्याकरणाकर्तव्यकरणरूपदुरा-चारो दोषस्तत्परिपूर्णोऽपि यो भवेत् किन्त्वअनन्यभाक् मदेकमनाः सन् मां सर्वेश्वरं भक्तवत्सलं भजते मदाराधनं कुरुते चेत् साधुरेव स मन्तव्यः। परमभागवत एव स इति सादरं मन्तव्य इत्यर्थः। जन्मा-न्तरसहस्रेषु तपोयज्ञक्रियादिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥ 'साधवः क्षीणदोषाः स्युरित्यादिप्रामण्याद् दुराचारस्य कथंसाधुत्वमितीयंशंका 'मन्तव्य, इति पदेनापाक्रियते। बहुमा-नयोग्यः स इति तदर्थः। सामान्यधर्मानुष्ठाने स्खलितोऽपि परम-धर्मानुष्ठाने तत्परत्वाच्छ्रेष्ठः। साधुरिति भावः। भगवद्भजनादिधर्माणां परमधर्मत्वमुक्तं योगियाज्ञवल्क्येन 'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म-दर्शनमिति। यथा भृत्यः स्वकर्तव्यकर्मणः स्खलितोऽपि स्वामिनि निरतिशयप्रीतिमादधानस्तत्कैंकर्ये सावधानो न दोषभाग्भवति प्रत्युत तत्स्वामी तं बहुमानयँ स्तस्मिन् स्वकीयत्वं दृढयति तद्वत्। अत्र हेतुमाह-सम्यग्व्यवसितो हि सः, यतः स सम्यग्व्यवसाययुक्तो'भगवान् विश्वाध्यक्षो महापुरुषो मम प्राणप्रियो मम हृदयेशः, इति भावनया सर्वदा मद्भजनसंलग्नो न लेशतोऽप्यन्यव्यवसायवानिति साधुरेव सः। परप्राप्तौ व्यवसायस्यावशयकत्वन्तूक्तं मोक्षधर्मे-ज्ञानञ्च व्यवसायश्च द्वौ परप्रतिपा-

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।३१।

ननु दुराचारिणो दुराचारात्मकस्य भजनप्रतिबन्धकस्य विद्यमानतायां त्वद्भजनोपपत्तिरेव कथं स्यादित्याशङ्कायामाह—क्षिप्रमिति । स दुराचारी यतः सम्यग् व्यवसितोऽतः क्षिप्रमाशु धर्मे मदनन्यभजनलक्षणे धर्मे आत्मा मनो यस्य स धर्मात्मा भवति । तस्य मदनन्यभजनोद्देश्यकव्यवसायेन प्रतिबन्धकीभूतस्य पापस्य निवृत्तावचिरादेव स मदनन्यभजनैकमनस्को भवतीत्यर्थः । शश्वत् पुनरवर्त्तनरहितां शान्तिमुक्तदुराचारनिवृत्तिं च निगच्छत्यवाप्नोति । हे कौन्तेय ! प्रतिजानीहि त्वं प्रतिज्ञां विधेहि । मे मम भक्तो भक्तिविषयकोपक्रमवान् न प्रणश्यति किन्तु भक्त्युपक्रमप्रभावान्निर्धूतदुराचारः सन् मम पूर्णां भक्तिमेव समवाप्नोतीति भावः ॥३१।

दकौ। व्यवसायादृते ब्रह्म नासादयति तत्परम्॥ इति । एवं भगवद्व्यवसायिनो भक्तस्य सामान्ये स्वधर्मे प्रच्युतिरपि न दोषायापि तु भगवदनन्यमनस्कता सर्वोत्कृष्टगुणायैवेतिभावः ॥३०॥

ननु 'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति । (का० १। ३। ७) 'पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः। नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ॥ (भा .उ.३५।६२) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां पापाचारस्याधर्मवृद्धिरेव नित्यं जायते ततश्च संसारक्लेशा एव स्युः कुतस्त्वस्य धर्मशीलतेत्यत आह- क्षिप्रमिति । मद्भक्तिपरायणः क्षिप्रमविलम्बेनैव धर्मात्मा प्रकरणाद्धर्मशब्दः

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।३२।

एवमागन्तुकपापाचाराणां भगवद्भक्तिः संशुद्धिं विधाय भगवदाभिमुख्यं प्रापयतीत्युक्तमिदानीं जन्मदुष्टानामपि भगवद्भजनादेव सद्गतिमाह—मामिति । हे पार्थ ! येऽपि पापयोनयः पापहेतुका योनिर्जन्म येषान्ते पापकर्मारब्धजन्मशालिनः स्युः स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः । तत्र स्त्रीशूद्राणां जन्माशुभकर्मवासनोपचिततमःप्राधान्याद् भवति । अत एव

परमधर्मपरस्तथाच भगवदाराधनादिरूपधर्मनिष्ठो भवति । केवलं मन्त्रजपेनापि सर्वपापनिवृत्तिरुच्यते श्रुतौ 'यत्प्रयागादितीर्थोक्तप्रायश्चित्तशतैरपि । नैवापनोद्यते पापं तदप्याशु विनाशयेत्, इति । तथा सति शश्वच्छान्तिं निगच्छति । मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकानर्थजातनिवृत्तिं नितरां गच्छति । हे कौन्तेय ! प्रतिजानीहि त्वमेव प्रतिज्ञां कुर्विति श्रोतुः प्रतिज्ञायैकंथनमुदीर्यमाणेऽर्थेऽतिदाढर्च्यसूचकम् । नमे भक्तः प्रणश्यति , भक्तिप्रकरणे भक्तशब्देन गौणमुख्योभयप्रकारकानां भक्तानामविशेषेण ग्रहणम्। तथा चोपक्रान्तः सुदुराचारोऽपि मद्भजनबलान्निवृत्तदुराचारः साधुर्भागवतो भवति। ततः सुव्यवसायी भूत्वा क्षिप्रमेव धर्मात्मा मद्भजनैकमनाः सन् भजनपरिपन्थिनिवृत्तिमुपगच्छति । निवृत्ताऽखिलभक्तिविरोधिव्रातो दृढभक्तिः सन् न कर्हिचित् प्रणश्यति। चिरमवतिष्ठत इत्यर्थः ॥३१॥

एवं दुर्वृत्ततया पापात्मनां भगवच्छरणमागतानां परम्परयोत्कृष्टसिद्धिप्राप्तिरूपं फलमुक्त्वेदानीं पापयोनीनामपि परमपुरुषसंश्रयमात्रेण

तेषां वेदाध्ययनादिष्वनधिकारोऽपशूद्राधिकरणेऽभिहितः संगच्छत उत्तरमीमांसायाम् । अतस्तेषां पापयोनित्वम् । वैश्यस्य तमःप्राधान्यादुत्पत्तेः कृष्यादिवृत्तेश्च पापयोनित्वमिति शास्त्रेणावगन्तव्यम् । तेऽपि मां व्यपाश्रित्य मद्भजनेन मदाश्रयं सम्प्राप्य क्रमेणोपचितसत्वाः परामुत्कृष्टां गतिं प्राप्नुवन्ति ॥३२॥

परमगतिप्राप्तिलक्षणस्य फलस्य नैयत्यमभिदधत् पुण्ययोनीनां दृढभक्तिमताञ्च कैमुत्तिकन्यायेन तत्फलं निर्दिशन् शुश्रूषवेऽर्जुनायापि परिज्ञातामितेष्टफलं स्वकीयभजनमेवोपदिशति-मामिति द्वाभ्याम् । हे पार्थ ! मामखिलजगदेकनाथं शरणागतवत्सलं व्यपाश्रित्य भजनेन सम्यगाश्रयणं विधाय येऽपि स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः पापयोनयः स्युस्ते सर्वेऽपि परां गतिं मदीयं धाम यान्ति प्राप्नुवन्ति । नन्वत्र वेदाधिकारिणस्त्रैवर्णिकस्य वैश्यस्य 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशोहयत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा, (छा. ५। १०। ७) इति श्रुत्युपदर्शितदिशा पुण्ययोनिषु परिगणितत्वात् पापयोनित्वकथनं कथमिति चेदित्थम्, सर्वस्यापि प्राणिनः स्वाभाविकगुणत्रयवश्यता शास्त्रेषु प्रत्यपादि । तत्र सत्वगुणप्रधानो ब्राह्मणः रजोगुणप्रधानः क्षत्रियस्तमोगुणप्रधानौ वैश्यशूद्रौ तयोरपि सत्वरजस्यभिभूय तमःप्राधान्यं वैश्ये सत्वरजस्यभिभूयोद्रिक्ततमःप्राधान्यं शूद्र इति विवेकः । एतच्चोक्तं ब्रह्मपुराणे—तमः शूद्रे रजः क्षत्रे

ब्राह्मणे सत्वमुत्तममिति। अत्र शूद्र इति वैश्यशूद्रयोरुपलक्षणम् । तथा च वैश्यस्य शूद्रादिभिस्सह पापयोनित्वेन परिगणनं तमःप्रधानस्वाभाव्यात् । किञ्च 'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः, इति मनुवचनाद् ब्राह्मणक्षत्रिययोर्नाभेरूर्ध्वभागतः समुद्भूतत्वादुत्तमत्वं वैश्यशूद्रयोस्तु नाभेरधोभागतो निष्पन्नत्वात्ततो जघन्यत्वात् पापयोनित्वम्। वेदान्ताचार्यास्तु सत्रानधिकारित्वाद् वैश्यस्य पापयोनित्वमाहुः । श्रुतौ रमणीयचरणेषु निर्देशस्तु द्विजत्वेन वैदिककर्माधिकारित्वेन च पुण्योपार्जनसम्भवमात्रेण । अयमभिसन्धिः। धर्मशास्त्रेषु चातुर्वर्ण्यं निश्चित्य तत्र वर्णानां धर्मा वर्णविभागपुरस्सरं निर्दिष्टाः । वर्णत्वञ्च 'ब्राह्मणत्वादिजातिचतुष्टयाऽन्यतमत्वं तज्जातिचतुष्टयव्यापकजात्यन्तरं वेत्यन्यदेतत् । तत्राद्येषु त्रैवर्णिकेषूपनयनसंस्कारसत्वाद्वेदाध्ययनाग्न्याधानादिष्वधिकारो विद्यते शूद्रस्य तूपनयनाभावात्तत्र नाधिकारः किन्तु त्रैवर्णिकशुश्रूषैव स्वाभाविकः सामान्यधर्म इत्येवं चातुर्वर्ण्यव्यवस्थायां सत्यामप्यनुलोमप्रतिलोमजातानामानन्त्यात्तत्तत्कर्मानिर्णयाच्च वर्णनिणयो दुर्घट इति। अत एव मानवे शास्त्रे वर्णापेतमविज्ञानं नरं कलुषयोनिजम्। आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ (म. १०। ५७। ५८)·इति वृत्तत एव पुण्याऽपुण्ययोनिनिर्णयः कर्तव्य इत्युक्तम् । तथा च पुण्यकर्मणो वैश्यस्य श्रुतिविषयतया तत्र पुण्ययोनिगणे पाठः संगच्छते । दुर्वृत्तस्य च तस्य श्रीमद्गीताशास्त्रविषयतया पापयोनिषु पाठः संगतो भवतीति दिक् ॥३२॥

किम्पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

ब्राह्मणाद्युत्तमजन्मवत्सु कैमुत्यन्यायेन फलं दर्शयति–किमिति । यदि च पापयोनिश्रिताः स्त्रीवैश्यशूद्रा अपि मदाश्रयात् परां गतिं प्राप्नुवन्ति तर्हि पुण्या जन्मना वेदाध्ययनादिवृतेन च पवित्रितस्वान्ता ब्राह्मणास्तथा राजर्षयो राजानश्च ते ऋषयो जनकजैवलिगाधिप्रभृतयो ममभक्ता परां गतिं प्राप्नुयुस्तत्र किमु वक्तव्यमत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपीति तात्पर्यम् । तस्मादनित्यं जन्ममरणाद्युपप्लवयुक्तत्वादसुखं क्षणिकमपि सुखं यत्र नास्त्येतादृशमिमं मनुष्याख्यं लोकं प्राप्य सर्वमन्यद् भगवदनुक्तिविपरीतं मत्वा मामखिलहेयप्रत्यनीकदिव्यकल्याणगुणगणार्णवमेव भजस्व । यतस्त्वं राजर्षिरसि तव त्वनायासेनैव परमगतिर्हस्तमोदकायिताऽतः प्राप्तमवसरं मा यापयेति भावः ॥३३॥

यद्येवं किं पुनः पुण्याः पुण्ययोनयो ब्राह्मणा राजर्षयश्च सामर्थ्यवन्तो राजानो मय्यनन्यभक्तिमन्तः परां गतिं प्राप्नुयुरत्र किमु वक्तव्यम् । अतस्त्वं षड्विकारविशिष्टमसुखं सुखरहितं सुखोपार्जने दुःखानुभवात् सुखोपरमेऽपि दुःखानुभवान्मध्येऽपि दुःखानुवृत्तेरादौ मध्येऽन्ते च दुःखमेवेमं मनुष्यलोकं प्राप्य दुःखोपसृष्टस्यास्य जगतो निवृत्तये परमसुखमत्स्वरूपावाप्तये च मामेव भजस्व ॥३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैव मात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोध्यायः ॥९॥

'भजस्व माम्' इति पूर्वश्लोकोक्तां भक्तिं निरूपयति–मन्मना इति । मद्भक्तो निरतिशयमत्प्रेमविशिष्टो भूत्वा मन्मना ईश्वराणामपि महेश्वरेऽखिलहेयप्रतिभटेऽनतिशयानन्तकल्याणगुणनिधानेऽखिलजगतत्कारणेऽखिलचिदचिच्छरीरिणि लावण्यार्णवे दिव्यविग्रहवति परमब्रह्मसंज्ञकेऽखिलजनशरणभूते महापुरुषे मयि मनोवृत्तिर्यस्य स तादृशो मद्याजी स्रक्चन्दनधूपदीपनीराजनाद्यात्मकमद्यजनस्वरूपमत्कैङ्कर्यपरश्च भव । मां सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्तं सर्वस्वामिनं च मां नमस्कुरु वन्दस्व । एवमात्मानं मनो युक्त्वोपलभ्याहमेव परमयनमाश्रयो यस्य स मत्परायणो मदेकाश्रितो मामेवोभयविभूतिनायकमेष्यस्यवाप्स्यसि ॥३४॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ पूर्वश्लोकोक्तभक्तिस्वरूपमभिदधाति–मन्मना इति ।

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

माहात्म्यं स्वस्य दिव्यं जगति भगवतो व्याप्तिरन्तः समस्मिन् भक्त्याराध्यः परेशः सुमहितमनसां लक्षणं कार्यमेषाम् । आवृत्तिश्चात्र भूयो विलयमुपगते कर्मिणां स्वर्गलोके श्रीशोपास्तेः स्वरूपं ततमिति नवमे प्रादिशद्देवदेवः ॥७॥

मद्भक्तो मयि सर्वातिशायिप्रीतिविशिष्टः सन् मन्मना मय्यनवच्छिन्नमनोवृत्तिमान् मद्याजी मम षोडशविधार्चनात्मकयजनकारकश्च भव । मां सर्वेश्वरं मां नमस्कुर्वभिवादय । एवं मत्स्मरणयजनवन्दनकर्त्तारमात्मानं मनो युक्त्वाऽधिगम्य मत्परायणोऽहमेव परमेश्वरः परमुत्कृष्टमयनमाश्रयो यस्य स मत्परायणो मां विना स्वात्मधारणाशक्तिमान् मां सर्वेभ्योऽभयदातारं सर्वशरण्यं मामेष्यसि प्राप्तो भविष्यसि । पुनरावृत्तिवर्जितं सायुज्यमुक्तिमवाप्स्यसीत्यर्थ ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महमहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकायां नवमोऽध्यायः ॥९ ॥

भगवते श्रीआनन्दभाष्यकाराय नमः ।

अथ दशमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ॥
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

नवमाध्याये 'मन्मना भव मद्भक्तः' इत्यन्तेन भक्तियोगोऽभिहितः । इदानीं तत्परिवर्द्धनोपायानभिधातुकाम आदौ सर्वस्वतन्त्रस्य परमकारुणिकस्य करणाधिपाधिपस्य जगच्छरीरकस्य महापुरुषस्य स्वरूपगुणविभूत्यादिकं ज्ञापयितुकामः श्रीभगवानुवाच—भूय इति । महाबाहो ! महान्तौ बाहू यस्य स तत्सम्बोधनं हे आजानुबाहो ! अर्जुन ! मे मम परममुत्कृष्टं वचो भूयः । एवकारोऽप्यर्थकः । पुनरपि श्रृणु । वचस्यौत्कृष्ट्यञ्च शरीरात्मभावेन जगन्मयत्वकथनम् । यद्वचोऽहं प्रीयमाणः श्रावं श्रावं मद्वचननिचयमभिनवप्रीतिविशिष्टस्त्वं तस्मै ते तुभ्यं हितकाम्यया हितमत्र परमपुरुषानुभवसमानकालिकभगवत्कैङ्कर्यमेव तत्सम्पादनेच्छया वक्ष्यामि ॥१॥

सर्वसाधनेष्वभ्यर्हितस्य भक्तियोगस्यैव प्राधान्यमत एव च तत्स्वरूपं नवमाध्याये 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् , (गी. ९।२९) इत्यादिवचनैर्विस्तरेण स्वयमेव भगवताऽभ्यधायि । अथानेन भक्तिरसपोषकानखिलजगन्नियामकस्य परमेशितुः परमपुरुषस्य स्वरूपगुणविभूत्यादीन् शरीरात्मभावेन जगदात्मकत्वञ्च विवक्षुर्हिततमोपायश्रवणायावहितमनस्कतां सम्पादयितुं श्रीभगवानुवाच—भूय इति । हे महाबाहो ! अनेन बाहुबलशालितया बाह्यशत्रुविजेतासीति सूचितम् ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥२॥

नन्वनन्यथासिद्धमेवार्थं श्रावय साधारणहितावहन्तु महर्षिभ्योऽपि श्रोतुं शक्यमित्यत आह–नेति । सुरगणा इन्द्रादयो देवगणा महर्षयो भृग्वादयो दिव्यज्ञानवन्तोऽपि मे मम प्रभवं प्रभावं जगदुत्पत्त्यवनादनादिसामर्थ्यं न विदुर्नैव जानन्ति । मदुपदेशमन्तरेण नैव ज्ञातुं शक्नुवन्ति । कुतो मनुष्याः । अवेदने हेतुं निर्दिशति–अहमिति । हि यतोऽहं देवानां महर्षीणाञ्चादिकारणम् । सर्वप्रकारेणोत्पादकत्वेन प्रवर्तकत्वेनाहमेव कारणमतो मदुपदेशं विना मत्स्वरूपप्रभावं देवर्षिमनुष्याः केऽपि नैवावबुध्यन्त इत्यर्थः ॥२॥

मे मम परममुत्कृष्टं वचः, अत्रौत्कृष्टयं चराचरात्मकस्याखिलजगतः परमात्मशरीरतया तदात्मकत्वेन तत्प्रवर्त्यत्वाभिधानमेव । यद्वचोऽहं प्रीयमाणाय मद्विषयप्रीतिमते ते तुभ्यं हितकाम्यया सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकदिव्यधामानुभवसमानकालिकभगवत्कैङ्कर्यसम्पादनेच्छया वक्ष्यामि । तद् भूय एव पुनरपि शृणु सावधानतया शृण्वतोऽप्यर्जुनस्य भूयः श्रवणायाभिधानं वक्ष्यमाणार्थे वैशिष्ट्यं गमयति ॥१॥

नन्विन्द्रादयो देवा व्यासादयो महर्षयश्च परावरज्ञाः सन्ति तेभ्योऽप्ययमर्थः श्रोतुम्पार्यते किमिति भवान् वक्ष्यतीत्यत आह–नेति । सुरगणा ब्रह्मादयो देवा महर्षयो भृग्वादयश्च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीन्द्रियार्थवेदिनोऽपि मे मम प्रभवं प्रभावमुत्पत्तिञ्च जगदुदयावनादनसामर्थ्यलक्षणं मन्महिमानं नैव विदुर्जानन्ति, कुतस्तरां परिमिताल्पज्ञा-

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असम्मूढः समर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अथ स्वविषयकज्ञानवतऽपापनिर्मोकपुरस्सरं फलानन्त्यमाह–य इति । यः कश्चिदुपासको मामजं जन्मरहितं नित्यमिति यावत् । अनादिं सर्वकारणत्वान्न विद्यत आदिः कारणं यस्य तमनादिम् । अनितेः पचाद्यचि अनस्य प्राणस्य करणस्य चादिमः

नवन्तो मनुष्याः । प्रभवश्चात्र प्रकृष्टसत्वमुच्यते । तथा च तद्विषयकवेदनमेवात्र निषिध्यते न प्रभावो नवोत्पत्तिः । विशेषणीभूतप्रभाववारणे फलाभावादुत्तरग्रन्थविरोधाच्च । विद्यमानभगवत्प्रभावजगदुत्पत्तिवद् भगवदुत्पत्तिं विद्यमानामेव न जानन्तीति तु नार्थो यतो जगदुत्पत्त्यादिसत्त्वमिव भगवदुत्पत्तेः सत्तैव नास्ति । तदसत्त्वाद् बोधाभाव इति भावः । वेदनाभावे कारणमाह-अहमिति । हि यतोऽहं देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः सर्वप्रकारेणादिरादिकारणभूतः सर्वस्याहमेव स्रष्टा । अतो मत्कार्यभूतैर्देवर्षिमनुष्यैरहं कारणभूतो न कथमपि ज्ञानविषय इति भावः । तथा च श्रुतिस्मृतयः । ‘को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्’ (तै. ब्रा.) यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः। जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदमिति (वि. पु.) ।२।।

एव देवाद्यज्ञेयत्वमुक्त्वेदानीं स्वविषयकज्ञानवतः सर्वपापनिर्मुक्तिरभिधीयते–य इति । यो मदुपासको मां परमात्मानमजं जन्मशून्यं नित्यम् , अनेन सततपरिणामिनोऽचित्पदार्थादनादिकर्मणाऽचित्सम्बन्धाज्जन्मभाजो बद्धाच्चित्पदार्थाच्च वैलक्षण्यमुक्तम्भवति । अनादिमाद्यक्षणसंबन्धाभाववन्तम्, अनेन मुक्तात्मवैलक्षण्यमुच्यते । मुक्तात्मनश्चादिमदज-

कारणरूपस्तमिति वा लोकमहेश्वरं भूरादिलोकानां महास्वामिनं च वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येष्वसम्भूढस्सम्मोहरहितस्सन् सर्वपापैर्भगवदनुध्यानविरोधिभिः संसारप्रापकैः पापैः प्रमुच्यते मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥३॥

त्वेन तद्व्यावृत्तिः। त्रैकालिकहेयसंसर्गरहितमितिभावः। लोकमहेश्वरं सर्वलोकानां महान्तमेकेश्वरम्, अनेन नित्यजीवेभ्योऽपि वैलक्षण्यं दर्शितम्। नित्यसूरयः 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' ( ) इत्यादिश्रुतिभ्यो भगवल्लोके कालत्रयध्वंसरहिताः स्वानुगुणमैश्वर्यं स्वसंकल्पेनोत्पाद्य लोकेश्वरत्वं भजन्तोऽपि न लोकमहेश्वरतामाप्नुवन्ति यतस्ते भगवत्संकल्पायत्तसंकल्पवत्त्वान्न निरंकुशैश्वर्यशालिनः। भगवांस्तु निरंकुशैश्वर्यशालीति लोकमहेश्वरताऽत्र युज्यते। एवञ्चैकं परमपुरुषं श्रीरामं विहायान्ये ब्रह्मावधिप्राणिनो कर्मभावना ब्रह्मभावनोभयभावनेति भावनात्रययुक्तत्वात् परिमितदेशकालाद्यैश्वर्यवन्तः परिमितफलार्पकाः परस्परं सालक्षण्यं दधते। तदुक्तं भगवता पराशरेण-

त्रिविधा भावना भूप विश्वमेतन्निबोधताम्।
ब्रह्माख्या कर्मसंज्ञा च तथा चैवोभयात्मिका ॥
सनन्दनादयो ये तु ब्रह्म भावनया युताः।
कर्मभावनया चान्ये देवाद्याः स्थावरावराः ॥
हिरण्यगर्भादिषु च ब्रह्मकर्मात्मिका द्विधा।
बोधाधिकारयुक्तेषु विद्यते भावभावना ॥

(वि. पु. ६।७) इति। एवं परेशितुः स्वरूपं सर्वस्माद्विलक्षणं सर्वेषां नियन्तारं च यो वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येषु असंभूढस्सम्मोहरहितस्सन् भगवदुपा-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

प्रकृतान् भक्तिवर्धकानुपायानेव निर्दिशन् सर्वत्र भगद्भावानभिधत्ते–बुद्धिरिति। बुद्धिर्मनसो निश्चयात्मिकावृत्तिर्ज्ञानं परजीवजगत्पदार्थविवेकोऽसम्मोहः सद्वस्तुतत्त्वावधारणं क्षमासहिष्णुता सत्यं यथावगतभाषित्वं दमो बाह्येन्द्रियनियमनं शमोऽन्तरिन्द्रियनियमनं सुखमिष्टप्रत्ययो दुखं द्विष्टप्रत्ययो भवश्चित्तैकाग्र्यमभावोऽस्थैर्यं भयं त्रासोऽभयं त्रासनिवृत्तिः। अहिंसा सर्वथा प्राणिवधनिवृत्तिः समता रागद्वेषवैधुर्यं तुष्टिर्यं-

सनप्रत्यनीकैः सर्वैपापैः प्रमुच्यते "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा. ४।१४।३) सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, (५।२४।३) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे, (मु. २।२।८) इत्यादिश्रतयोऽत्र मानम् ॥३॥

पुनरपि भक्तिवर्धनोपायं भगवद्भावमाचष्टे–बुद्धिरिति। बुद्धिर्निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्ज्ञानं चिदचिदीश्वरात्मकतत्त्वत्रयविषयकं ज्ञानमसम्महो भ्रमनिवर्त्तनं क्षमा सहनशीलता सत्यं यथार्थवादित्वं दमश्चक्षुरादीनां बहिरिन्द्रियाणां नियमनं शमो मनोनियमनं सुखमनुकूलावगमो दुःखं प्रतिकूलावगमो भवश्चित्तस्यैकाग्र्यताऽभावोऽस्थिरता भयं भीतिरभयं भयाभावोऽहिंसा त्रिविधहिंसावर्जनं समतासमदृष्टिः। अपक्षपात इत्यर्थः। तुष्टिः सन्तोषस्तपस्तपश्चर्या दानं देशादिकमनुसृत्य स्वस्व-

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

थागमसन्तोषस्तपः मनोवाक्कायक्लेशः दानं स्वार्जितधनस्य सुपात्रमुद्दिश्यत्यागो यशः कीर्तिरयशोऽपकीर्तिरित्यादयो भूतानां पृथग्विधा भावास्तत्तत्प्राणिकर्मानुसारेण मत्तो मत्सं-कल्पादेव भवन्ति ॥४ ॥५॥

लोकेशा अपि मदाज्ञावशवर्तिन इत्युच्यते–महर्षय इति । पूर्वे सप्त महर्षयो मरीच्यादयस्तथा पूर्वे प्राचीनाः स्वायम्भुव-स्वारोचिषरैवतोत्तमसंज्ञकाश्चत्वारो मनवो येषां लोके इमाः

त्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं यशो गुणितया ख्यातिरयशोऽगुणितया प्रसिद्धिरित्यादयः पृथग्विधा नानाविधा भूतानां प्राणिनां भावा मत्तो मत्सङ्कल्पादेव भवन्ति ॥४॥५॥

लोकाध्यक्षाणामपि भगवत्संकल्पायत्तत्वमित्याह-महर्षय इति । पूर्वे पूर्वेतनाः सप्त महर्षयो 'मरीचिरत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यःपुलहः क्रतुः। वसि-ष्ठश्च महातेजा पूर्वे सप्तर्षयः स्मृताः ॥ (मोक्षधर्मे) तथा च पूर्वे इत्यस्य पूर्वमन्वन्तरस्था इत्यर्थः । देहलीदीपन्यायेन 'पूर्व, इत्युभयत्रान्वेति । एवञ्च पूर्वेतनाश्चत्वारो मनवः स्वायम्भुवस्वारोचिषरैवतोत्तमनामानो येषां लोके इमाः सर्वाः प्रजा जाताः सन्ति । तथा चैते प्रजेशा मानसाः 'समानसान् सप्त पुत्रानसृजत् ,(सुबा. १ ख.) इत्यादि प्रमाणै-र्ब्रह्मशरीरकपरमात्मनो मनःसम्भवा मद्भावा मत्संकल्पायत्तप्रवृत्तय इत्यर्थः । अत्र महर्षयो भृग्वादयः सप्तर्षयश्चत्वारो मनवः सावर्णिपदो-पलक्षिता गृह्यन्त इति केचिदाहुस्तन्न तथा सति 'पूर्वे, इतिपदस्य

एतां विभूतिं योगश्च मम यो वेत्ति तत्वतः ॥
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

परिदृश्यमानाः प्रजाः सन्ति ते मानसा ब्रह्मणः परमात्मनो मनस्सम्भवा मद्भावा मत्संकल्पवशवर्तिनो जाताः ॥६॥

बुद्धिर्ज्ञानमित्याद्युक्तानाम्फलमाह–एतामिति । य उपासक एतां बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इत्याद्युक्तां मम विभूतिमैश्वर्यं योगं तदर्थोपादानादिसाक्षात्करणसामर्थ्यं च तत्वतो याथार्थ्येन वेत्ति सोऽविकम्पेन योगेन निश्चलभक्तियोगेन युज्यतेऽत्र विषये कश्चिदपि संशयो नास्ति ॥७॥

वैफल्यम् । निरुपपदेनसप्तर्षिपदेन मरीच्यादीनामेव ग्रहणं युक्तम् । तथा स्वायम्भुवादिचतुर्णां प्रथमसम्भूतानामेव पूर्वपदेन ग्रहणं युज्यतेऽन्यथा 'येषां लोक इमाः प्रजा इत्यस्यासंगात्यापत्तेः । चतुर्दशमनुषु चतुर्णा-मुपादानन्तु प्राधान्यादेवेति ॥६॥

भगवद्भावोपेतबुद्ध्यादिपरिज्ञानफलमभिधत्ते–एतामिति। य उपा-सक एतां बुद्धिर्ज्ञानमित्यादेर्मत्संकल्पाधीनजन्मस्थितिप्रवृत्तिलक्षणां मम विभूतिं 'एतां न मे विदुः सुरगणाः' इत्यादिनोक्तां विभूतिमिति तु न युक्तम्। तथोक्तस्य असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यत इत्यनेन प्रागे-वोक्तफलत्वात् । योगं युज्यत इति व्युत्पत्त्योभयलिङ्गत्वयोगं च तत्वतः स्वस्वाधिकारोचितस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यादिधर्मान् याथार्थ्येन पारतन्त्र्या-दिधर्मकश्चित्पदार्थ एव न वासुदेवस्तथा स्वातन्त्र्यादिधर्मको वासुदेव एव न चित्पदार्थ इत्येवम्प्रकारेण वेत्ति सोऽविकम्पेन निश्चलेन भक्ति-योगेन युज्यते सम्पन्नो भवति । अत्र विषये लेशतोऽपि संशयो नास्ति॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ॥
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

अहं स्वतन्त्रेश्वरः सर्वस्य चराचरात्मकस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिकारणं मत्त एवेदं सर्वं प्रवर्तते सर्वेषां प्रवृत्तिर्मत्सं कल्पायत्तेत्यर्थः। इति सर्वज्ञसर्वशक्तिसर्वान्तर्यामिसर्वप्रवर्तकत्वादिगुणगणैर्नित्ययुक्तं मां मत्वा सम्यक् परिज्ञाय भावसमन्विता अहरहरुपचीयमानप्रेमातिशयेन संयुक्ता बुधा भजनीयविषयविशेषे निश्चितज्ञानवन्तो भजन्तेऽनिशं ध्यायन्तीत्यर्थः ॥८॥

भजनप्रकारमाह—मच्चित्ता इति। मयि सर्वात्मके चित्तं येषांन्ते मयि न्यस्तमनसो मयि गता दत्ताः प्राणाश्चक्षुरादीनि

उक्तविभूतिविषयकपरिज्ञानमेव भक्तिरूपेण परिणमत्तामुपचिनोतीत्याह—अहमिति। अहं कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः सर्वेश्वरः सर्वस्य भूतजातस्य प्रभवोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणम्। सर्वमिदं मत्त एव प्रवर्तते स्यन्दनादिक्रियावद् भवति। इति समस्तहेयरहितदिव्यकल्याणगुणगणयोगं सर्वशक्तिवैशिष्टयं च मत्वा सम्यगवगम्य भावसमन्विता निर्निमेषध्यानाभ्यासेनोपचितप्रेमातिशययुक्ता बुधा भजनीयविषये स्थिरभावनावन्तो मां निरंकुशैश्वर्यशालिनं परात्परं भजन्ते ॥८॥

उपचितभक्तः स्वरूपमुपदिशति—मच्चित्ता इति। मयि परमपुरुषे चित्तमन्तःकरणं येषान्ते मल्लग्नस्वान्ता मद्गतप्राणा मयि गता

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

करणानि यस्ते मयि समर्पितजीवनाः परस्परं स्वस्वाचार्यमुखात् श्रुतं मां बोधयन्तो ज्ञापयन्तो मद्गुणकर्माणी वर्णनपूर्वकं मां परस्परं कथयन्तस्तुष्यन्ति वक्तारः प्रेम्णा पृष्टस्यास्वादनेनोत्तरदानेन च तुष्यन्ति श्रोतारश्च वक्तुः प्रेमसंवलितं सरहस्यमुत्तरमाकर्ण्य रमन्ति च हर्षं प्राप्नुवन्ति ॥९॥

तेषां पूर्वोदितोपचितभक्तिमतां सार्वदिकयोगाकांक्षा

रूपशृङ्गारसौकुमार्याद्यवेक्षितुं न्यस्ता प्राणाश्चक्षुरादयो यैस्ते मां गोचरयितुमेव चक्षुरादिप्राणानां सत्तामावहन्तो मय्येव सुदृढमर्पितान्तरवाह्यकरणा इति द्वयोः समुदितार्थः। नित्यं परस्परमन्योन्यं स्वस्वाचार्यमुखाच्छ्रुतं दिव्यगुणकर्मविशिष्टं मामेव वोधयन्तो ज्ञापयन्तः कथयन्तश्चात्र विशिष्टार्थस्याज्ञातर्थस्य ज्ञापनं हि बोधनमुभयपरिज्ञातस्याप्यर्थस्य दिव्यचरितादेर्भावमुत्कर्षयितुं वर्णनं तु कथनमित्यनयोर्भेदः। यत्त्वर्थसंग्रहे 'शिष्यान्प्रतिबोधयन्तो मामुपदेशेनेति योज्य, मिति यच्च गुढार्थदीपिकायां 'स्वशिष्येभ्यश्च मामेव कथयन्त उपदिशन्तश्चेत्युक्तं तन्न वरम् तथा सति परस्परमित्यस्यासंगत्यापत्तेः। न हि गुरु शिष्ययोः पारस्पर्येण बोधनकथने सम्भवतः। तुष्यन्ति च रमन्ति चेत्यत्र तोषरमणयोः सामानानाधिकरण्येन वर्णने तथा स्वारस्यं नास्ति यथा वैय्यधिकरण्येन। तथा चोपदेष्टारः पृष्टरहस्यगर्भितप्रश्नेन तुष्यन्ति पृष्टारस्तुवक्तुश्चमत्कृतोत्तराकर्णनेन रमन्ते निरतिशयमोदमावहन्ते ॥ ९ ॥

परमपुरुषगुणविभूतिभिर्भक्त्युपचायकैः समृद्धभक्तेः भगवत्कृपाक-

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजन्तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

वतां भजतां भजनमेवैकक्रियावतां तमतिप्रसिद्धं ज्ञानयोगं प्रीतिपूर्वकं ददामि येन ज्ञानयोगेन ते मदनन्यभक्ता मां मत्समीपमनायासेनोपयान्ति ॥ १० ॥

तेषामनन्यभक्तानामेवानुकम्पार्थमनुग्रहार्थमेव नान्यस्मै प्रयोजनायाहं सर्वेषां शास्ताऽऽत्मभावस्थस्तदीयान्तःकरणवृत्तिविषयीभूतः सन् भास्वता ज्ञानदीपेन मत्स्वरूपपरिज्ञानमयेन दीपेनाज्ञानजं कर्मरूपाविद्याप्रभवं तमोऽज्ञानकार्यसहितमज्ञानमपि नाशयामि ॥ ११ ॥

टाक्षः सम्पद्यत इत्याह—तेषामिति तेषां समुपचितभक्त्या मत्सायुज्यमिच्छतामत एवानुक्षणं भजनैककर्म्मणां ममानन्यप्रपन्नानां तमतिप्रसिद्धमप्रकम्प्यं बुद्धियोगं मद्विषयकविज्ञानयोगं प्रीतिपूर्वकं मदनन्यभक्ततया मदीयनिरतिशयानुरागविषयताया आश्रयाः सञ्जाता अतः प्रीतिपुरस्सरं ददामि येन विज्ञानयोगेन ते मामुपयान्ति मत्समीपमायान्ति ॥ १० ॥

प्रोक्तबुद्धियोगप्रतिकूलविषयवासनानिरसनमपि मयैव क्रियत इत्याह—तेषामिति । तेषां बुद्धियोगभाजामनुकम्पार्थमनुग्रहार्थमेव नत्वन्यत्फलमुद्दिश्याहं परमकारुणिक आत्मभावस्थोऽन्तःकरणधर्मे विषयतयाऽवस्थितो भास्वता ज्ञानदीपेन मत्स्वरूपविषयकज्ञानात्मकभास्वरदीपेनाज्ञानजं प्रोक्तबुद्धियोगोत्पत्तिप्रतिबन्धकं तमोऽन्धकारसदृशमज्ञानकार्यं कार्त्स्न्येन नाशयामि स्वसाक्षात्काराय दूरीकरोमि ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासस्स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

एवं संक्षेपतो भक्तिवर्धकगुणविभूतिमाहात्म्यमवगम्य विस्तरेण शुश्रूषुरर्जुन उवाच—परमिति । परं ब्रह्म परमुत्कृष्टं धाम ज्योतिःस्वरूपं परमं पवित्रं पावनकरं भवानेव । शाश्वतं नित्यं पुरुषं दिव्यमादिदेवमजं जन्मरहितं विभुं सर्वव्यापकं त्वां सर्वे वाल्मीकिपराशरादय ऋषय आहुस्तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलो व्यासश्चाहुः ' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ' (तै.) ' राम एव परं ब्रह्म ' (रा. र. १।६) 'यत्परं ब्रह्म'

एवमनितरसाधारणेन भगवद्विभूतिगुणयोगेन भक्तेरुपचितिं तया च स्वरूपविषयकविज्ञानयोगं स्वधामसमर्पकं संक्षेपेणाकर्ण्य विस्तरेण जिज्ञासमानोऽर्जुन उवाच—परमिति सप्तभिः । भवान् सर्वशक्त्याश्रयः सर्वेश्वर एव परं सर्वस्मात् परं ब्रह्म 'राम एव परं ब्रह्म' (रा. र. १।६।) 'यत्परं ब्रह्म' (रामोत्तरता०) 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते' (रा० पू० ता० १।६) राम एव परं ब्रह्म राम एव परन्तपः । राम एव परं तत्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम्' (रामरहस्योपनि० १।६) परं धाम । धामशब्दोऽत्र ज्योतिःपरस्तथा च

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

(रामोत्तरता.) 'यः परमपुरुषः' (रामोत्तरता.) 'अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव । लोकानां त्वं परो धर्मो विश्वक्सेनश्चतुर्भुजः (वा. यु ११९।१४) शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः । अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः (वा० यु० ११९।१५) 'ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः । ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥ (भा० आरण्यप०) इत्येवंरूपेण । तथा स्वयञ्चापि मे मह्यं ब्रवीषि ॥१२॥१३॥

परं ज्योतिः । 'ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।१६) पवित्रं परमं परमोत्कृष्टं पावनं वस्तुपावनकर्तृणां सूर्य्याग्निवाय्वादीनामपि पावनं 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्निः' इति स्मृतेः । यत्तु तात्पर्यचन्द्रिकायां 'परं ब्रह्म' इत्यादीनां प्राथम्यादिनोद्देश्यत्वं 'भवान्' इत्यस्य च विधेयत्वं प्रतीतमुद्देश्यस्य च पूर्वमेव सिद्धिरपेक्षितेत्युक्तम्, तदपेशलम् । अत्र हि पुरोवर्तिनि भवच्छब्दवाच्ये नित्यसिद्धे भगवत्युद्देश्यत्वं परब्रह्मत्वस्य हि विधेयत्वं स्पष्टम्प्रतीयते । तथैव ग्रन्थस्वारस्यं जायते । परोक्षं परं ब्रह्मोद्दिश्यापरोक्षस्य भवत्पदवाच्यस्य विधानं न स्वरसतां वहति । नचानुवाद्यमनुक्त्वा तु न विधेयमुदीरयेदिति नियमात् परं ब्रह्मादेरेवोद्देश्यत्वं प्रथमोपात्तत्वान्नतु पश्चात्पठितस्य भवत्पदवाच्यस्येति वाच्यम्, उक्तनियमस्य गद्यवाक्यविषयकत्वात् । पद्ये तु यथारुचि प्रयोगात् । पदार्थान्वययोजनायां भवानित्यस्यैव प्राथम्यात् । वाक्येऽपि च न दृढं निर्बन्धः शाब्दिकैः षष्ठीपदप्रयोज्यविषयताश्रयस्योद्देश्यत्वे स्वीकृतेऽपि 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा० सू० ८।१।२३) इत्यादौ द्वितीयापदोदितोद्देश्यता त्वामावित्यस्य विधेयतेति च स्पष्टं पातञ्जले । नचार्थविधाने तथा नियमोऽस्तीति वाच्यम् 'द्वाभ्यां प्रक्षालयेत्करौ' इति प्रामाणिकप्रयोगेषूक्तनियमस्यादर्शनात् । ऋषयो वेदार्थविज्ञानपारावारपारदृश्वानः वाल्मीकिपराशरप्रभृतयः सर्वे त्वामेव पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुमाहुः । तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलो व्यासश्चाहुः-

तथाहि—भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः । एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥ (वा० रा० यु०) सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः । पाद्मे श्रीरामंप्रति परशुरामवाक्यम्—'त्वमादिपुरुषः साक्षात्परंब्रह्म परोऽव्ययः । त्वमनन्तो महाविष्णुर्वासुदेवः परात्परः ॥ सहस्रशृंगो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः । त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः (वा. रा. यु.) 'कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः (वा. यु.) भीष्मपर्वणि ब्रह्मस्तवे च—शृणु चेदं महाराज 'ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ॥ साध्यानामपि देवानामपि सर्वेश्वरः प्रभुः ॥ लोकभावन भावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ भूतं भव्यं भविष्यच्च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह । यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि । देवानामपि देवञ्च त्वामाह भगवान् भृगुः ॥ पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति वै । वासुदेवो वसूनां त्वा शक्रं स्थापयिता तथा । देवदेवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् । एवं प्रजापतेः सर्गे दक्षमाहुः प्रजापतिम् । स्रष्टारं सर्वदेवानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ॥ अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम् । देवानां सम्भवश्चेति देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ॥ शिरसा ते दिवं व्यासं बाहुभ्यां पृथिवी तथा । जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ एवं त्वामभिजानन्ति

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! त्वं माम्प्रति यद्वदसि यच्च प्राचीनैर्महर्षिभिरुक्तमेतत्सर्वमहमृतं सत्यमेव मन्ये । हे भगवन् ! समग्रैश्वर्यादिशालिन् हि यतस्ते लोकोत्तरचमत्कारजननीं व्यक्तिं देवा ब्रह्मेशानादयो दानवाश्च न विदुः ॥ १४ ॥

तपसा भाविता नराः' इत्यादिभिर्वचनैः स्वयं त्वमपि मे मह्यं ब्रवीषि 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते, (गी. १०।८) इति ॥१२॥१३॥

हे केशव ! कश्चेशश्च केशौ ब्रह्मेशानौ तौ वाति नियाम्यतया पालयतीति सम्बोधनेन सर्वेषामादिकारणमुच्यते । त्वं मां प्रति यत्स्वकीयनिरतिशयवैभवं वदसि यदपि च सूक्ष्मार्थदर्शिभिर्महर्षिभिरभिहितं तदेतत्सर्वमहमृतं सत्यमेव मन्ये । हे भगवन् ! निरतिशयनित्यैश्वर्यादिसम्पन्न ! हि यतस्ते व्यक्तिं तवाचिन्त्यसामर्थ्यविशिष्टं स्वरूपं देवा ब्रह्मादयो दानवाश्च न विदुर्नैव जानन्ति । यत्तु तत्वप्रकाशिकायां 'ते तव व्यक्तिं प्रकटनप्रकारमिति' तात्पर्यचन्द्रिकायाञ्च 'व्यक्तिशब्दोऽत्र 'किमात्मिकैवैषा भगवतो व्यक्तिः' इत्यादिष्विव न विग्रहादिपरः' इत्याद्युक्तं तदुत्तरवाक्यानवधारणकृतम् । 'स्वयमेवात्मनाऽत्मानं वेत्थ, त्व,मित्यव्यहितोत्तरवाक्ये स्वयमेवार्जुनः स्वात्मविषयकवेदनाश्रयं भगवन्तमेवाह—अतो देवदानवा यद्विभूतिविशिष्टं भगवत्स्वरूपं न विदुस्तदात्मानं तादृशस्वरूपं त्वमेव वेत्थेत्युत्तरवाक्ये विलक्षणसामर्थ्यविशिष्टस्वरूपस्यैवात्मपदेन ग्रहणमतस्तस्यैव व्यक्तिपदेनात्र ग्रहणंयुक्तम् ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ! ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

एवं देवादीनां विलक्षणशक्तेः स्वरूपस्यावेदनमुक्त्वेदानीं स्वस्य वेदनविषयतां प्रकटयति—स्वयमिति । हे पुरुषोत्तम ! भूतभावन ! सर्वभूतोत्पादक ! भूतेश ! सर्वभूतनियन्तो देवदेव देवानामपि प्रकाशक जगत्पते सर्वजगत्पालक ! त्वं स्वयमेवात्मनाऽत्मधर्मेण ज्ञानेनाऽत्मानं विलक्षणसामर्थ्यविशिष्टं स्वरूपं वेत्थ जानासि 'त्वमेव त्वां वेत्थ योसि सोसि' (य० का० १।३।१) इति श्रुतेः । ॥ १५ ॥

विलक्षणवैभवातिशयशालिभगवत्स्वरूपस्य देवादेरवेद्यत्वेऽपि स्वयं भगवज्ज्ञानविषयत्वमस्त्येवेत्याह—स्वयमिति । हे पुरुषोत्तम ! अस्यैव विवृत्तिं चतुर्भिः सम्बोधनैः करोति—भूतभावन ! निखिलभूतोत्पादयितः 'स कारणं करणाधिपाधिपः' (श्वे ६।८) 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः' (श्वे ६।१६) इत्यादिश्रुतयोत्र मानम् । भूतेश सर्वभूतनियामक ! 'य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव' (श्वे० ६। १७) इतिश्रुतेः । देवदेव ! देवानामपि प्रवर्तकत्वेन स्वामिन् ! 'यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः (श्वे. ४।१३) इतिश्रुतेः । 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः (वा.रा.)इत्याद्याः स्मृतयश्च । जगत्पते ! सर्वजगतपालक 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्, (तैत्ति.आ-) 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः (बृ. ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ त्वं स्वयमेवात्मना स्वकीयात्मभावेनात्माश्रितज्ञानेनात्मानं सर्वातिशायिसामर्थ्यविशिष्टं स्वरूपं वेत्थ वेत्सि ॥१५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।१६
कथं विद्यामहं योगं त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७

याभिर्विभूतिभिस्त्वमिमान् सर्वान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि ताश्चात्मविभूतयस्त्वदीया असाधारण्यो विभूतयो हि दिव्या अतस्त्वमेवाशेषेण ता वक्तुमर्हसि । अत्राशेषेणेतिकथनाद्विभूतीनामानन्त्यं ज्ञापितम् । तासां कात्स्न्र्येन ज्ञापनं त्वहते नान्यस्य कार्यमतस्त्वमेव वक्तुमर्हसीति प्रार्थना ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! सदा त्वां दिव्यगुणनिधिं परिचिन्तयन् परितश्चिन्तयितुं प्रवृत्तः सन्नहं योगं तव विलक्षणसामर्थ्ययोगं केषु केषु भावेषु प्रोक्तेषु तद्व्यतिरिक्तेष्वपि वा मया चिन्त्योऽसीति च कथं विद्याम् जानीयाम् ॥ १७ ॥

आत्मविभूतयोऽनितरसाधारण्यस्तवात्मविभूतयस्सन्ति । याभिर्विभूतिभिस्त्वमिमान् सर्वान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि ता हि दिव्या अतोऽशेषेण त्वमेव वक्तुमर्हसि ॥१६॥

हे भगवन् ! प्रवृद्धभक्त्या सदाहरहस्त्वां दिव्यगुणधामानं परिचिन्तयन् सर्वप्रकारेण ध्यानप्रवृत्तिं कुर्वन्नहं योगं तव विलक्षणसामर्थ्ययोगं मया चिन्तकेन केषु केषु भावेषु प्रोक्तेषु 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्यादिषु–तद्व्यतिरिक्तेषु विभूतिपदाभिलपनीयेष्वेव पदार्थेषु चिन्त्यो ध्यानविषयीकर्तव्योऽसि, इति च कथं केन सुगमोपायेन विद्यां जानियाम् । 'अत्र तात्पर्यचन्द्रिकायां 'अत्र योगिन्' इति परेषां पाठोऽनार्षः

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन !।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८

हे जनार्दन ! आत्मनस्तव योगं विलक्षणापरिमितसामर्थ्ययोगं विभूतिञ्च भूयो विस्तरेण कथय । पूर्वं 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (गी० १०।८) इत्यादिना संक्षेपेणोक्तोऽपीदानीं विस्तरेण शुश्रूषुरहं हि यतस्त्वया स्वयं श्रीमुखेनोदीर्यमाणं वाक्यामृतं शृण्वतो मे तृप्तिर्नास्ति ॥ १८ ॥

सदेति विशेषणसामर्थ्यात् , इत्यनेन सम्बुद्ध्यन्तम्परपाठमनादृत्याहमिति प्रथमान्तास्मत्पदवाच्यार्जुनेनाभेदम्प्रसाध्य योगीति प्रथमान्तः पाठो व्यवस्थापितः सोऽप्यनार्षः श्रीमदानन्दभाष्यादृतस्य योगमिति द्वितीयान्तपाठस्यैवार्षत्वात् । यतो विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन । भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् (गी. १०।१८) इत्यव्यवहितोत्तरश्लोके योगविभूत्योरुभयोरपि जिज्ञासाविषयत्वात् । भवन्मते पूर्वं केनापि वाक्येन योगविषयकः सन्देह एव न व्यक्तीकृतः । सन्देहविषयीभूतस्यैवार्थस्य जिज्ञास्यत्वेनात्र योगे पर्यनुयोग एव न घटते । पर्यनुयुक्तश्च भगवानर्जुनेन 'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्चेत्यनेन विभूतेः पार्थक्येन योगविषयिणीं जिज्ञासामुद्भाव्य विभूतेर्जिज्ञासा तु 'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः । याभिर्विभूति०' इति पूर्वश्लोकार्थपर्यालोचनयाऽवगम्यते । तस्मादत्र 'कथं विद्यामहं योगं त्वां सदा परिचिन्तयन्, इत्येवर्षिसम्मतः पाठ इति सुधियो विभावयन्तु ॥१७॥

हे जनार्दन ! आत्मनस्त्वं स्वस्य दिव्यकल्याणगुणयोगं तथा स्वकीयविभूतिञ्च विस्तरेण पूर्वं सप्तमाष्टमनवमाध्यायेषु प्रसङ्गात्संक्षेप-

श्री भगवानुवाच ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

एवमर्जुनस्य श्रद्धातिशयं दृष्ट्वा श्रीभगवानुवाच—हन्तेति । हे कुरुश्रेष्ठ ! अनेनानुकम्पातिशयो व्यज्यते । हन्तेति हर्षे । ते तुभ्यं मदीया दिव्या विभूतयः प्राधान्यत औत्कृष्ट्येन मुख्या एव कथयिष्यामि । हि यतो मद्विभूतीनां विस्तरस्यान्तो नास्ति ॥१९॥

तत्त्वयोक्तमिदानीं व्यासतो भूयः कथय । हि यतस्त्वन्महिमप्रकाशकं स्वयं त्वयैवोच्यमानं वाक्यामृतं शृण्वतो मे त्वच्चरितश्रवणेऽनिशमुत्कमनसो मम तृप्तिर्नास्ति । जात्वलं बुद्धिर्न जायत इत्यर्थः ॥१८॥

एवं जिष्णोः प्रेम्णा साग्रहं योगविभूत्योः शुश्रूषामवगत्य स्वभक्तिमार्गपुष्टये श्रीभगवानुवाच—हन्तेति । हन्तेति हर्षे—हर्षश्चात्र भगवतः स्वविभूत्युत्कर्षवर्णनेन स्वकीयानन्यभक्तानामुपकारोऽवश्यम्भावीति भक्तप्रेमपारवश्यादेव । अत एव कुरुश्रेष्ठ ! इति सम्बोधनं हर्षनिर्भरचेतसोक्तम् । ते तुभ्यं मे दिव्या दिव्यगुणविशिष्टा आत्मविभूतयो मदनुबन्धिन्यो विभूतयः प्राधान्यतः कथयिष्यामि । हि यतो विस्तरस्य विभूतेरानन्त्यादन्तो नास्ति । यत्त्वत्र शंकरानन्देन 'स्वयं सर्वज्ञोऽप्यर्जुनप्रश्नवाक्येन मूढबुद्धेः प्रज्ञामान्द्यमुद्दिश्य परितपन्निव दयया मन्दप्रज्ञानानुग्रहीतुमिदं श्रीभगवानुवाचेत्यादिकमुक्तं तत्प्रामादिकम् । भगवत्कृपापात्रमर्जुनमुद्दिश्य तदनुकम्पावशगेन भगवता स्वीयानन्यभक्तोपकाराय च परमगुह्यानामेव दिव्यानां विभूतीनामुपदेशः कृतोऽत एव 'दिव्या

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश ! जितनिद्रत्वेन त्वयावगन्तुं शक्यत एवेति सूचयितुं सम्बोधनम् । अहं सर्वभूताशयस्थितः शरीरत्वेन स्थितानां सर्वभूतानामन्तर्हृदयेऽवस्थितोऽहमात्मा शरीरी नियामकः 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामिति' श्रुतेः । एवम्भूतोऽहमेव भूतानामादिरुत्पत्तिहेतुर्मध्यमवस्थितिहेतुरन्तः प्रलयहेतुश्च ॥ २० ॥

ह्यात्मविभूतयः, (गी. १०।१९) इत्युक्तं न ह्यत्र मन्दप्रज्ञेभ्योयमुपदेश इति क्वाप्युक्तमिति विज्ञवेद्यमिदम् ॥१९॥

प्रश्नोपक्रमे ह्यात्मनो विलक्षणगुणयोगो विभूतिश्चैतद्द्वयं जिज्ञासितं तत्रात्मनो योगस्य स्वरूपं निर्दिशन्नुत्तरयति—अहमिति भो गुडाकेश ! एतद्धि सम्बोधनं त्वं जितनिद्रोऽसि,अतः सावधानतया शृण्वित्यावेदयितुम् । सर्वभूताशयस्थितः सर्वेषां शरीरभूतानां भूतानामन्तःकरणेऽहमात्मरूपेण स्थितोऽन्तर्नियमनकर्त्ताऽस्मि । 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, 'यस्सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेऽभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ.) 'यस्यामा शरीरम् , (बृ.) अयमेव चात्मयोगः शास्त्रदृष्ट्यावगन्तुं शक्यः । विस्तरस्त्वत्राऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् (ब्र.सू.१-२-१९) इति सूत्रीय श्रीमदानन्दभाष्ये द्रष्टव्यः । एवं सर्वभूताशयस्थितोऽहमेव सर्वेषां भूतानामादिरुत्पत्तिहेतुर्मध्यश्चावनहेतुरन्तः प्रलयहेतुरेव ॥२०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरँशुमान् ।
मरीचिर्मरुतास्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

इदानीं प्रधानभूता विभूतीराह—आदित्यानामिति । आदित्यानां द्वादशानामादित्यानाम्मध्ये विष्णुनामकः सर्वोत्कृष्ट आदित्योऽहमेव ज्योतिषां प्रकाशकर्तॄणां मध्ये तिग्मगभस्तिमानुत्कृष्टतमो रविरहमेव मरुतामेकोनपञ्चाशत्संख्यासमन्वितानां मध्ये उत्कृष्टो मरीचिरहमेव नक्षत्रणां मध्ये सर्वोत्कृष्टः शशी चन्द्रश्चाहमेव ॥ २१ ॥

वेदानां मध्ये सामवेदोऽहमस्मि । देवानां मध्ये वासवो वज्रभृदिन्द्रोहमस्मि । इन्द्रियाणां मध्येऽन्तरिन्द्रियं मनश्चास्मि । भूतानां प्राणिनाम्मध्ये चेतनाशक्तिरहमेव ॥२२॥

एवमात्मयोगस्योपदेशं विधायेदानीं स्वात्मविभूतय एवोपदिश्यन्ते—आदित्यानामिति । आदित्यानां द्वादशसंख्यया परिच्छिन्नानां तेषाम्मध्ये विष्णुपदवाच्यः सर्वादित्यप्रधानभूतोऽहमेव । ज्योतिषां तेजोविशिष्टानां मध्येंऽशुमान् मरीचिमाली रविरहम् । मरुतां मरुद्गणमध्ये मरीचिरहमस्मि । नभोवस्थितानां नक्षत्राणां मध्ये शशी कलानिधिरहमेव । अत्र सर्वत्रोत्कृष्टत्वमेव विभूतित्वप्रयोजकमिति बोध्यम् ॥२१॥

वेदानां चतुर्णां वेदानां मध्ये गीतिप्राधान्याद् बृहदाकारतया

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुश्शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणामेकादशरुद्राणां मध्ये शंकरश्चास्मि यक्षाणां रक्षसाञ्च मध्ये रत्नसुवर्णरजतादिवित्तानामाधिपत्येनोत्कृष्टः कुबेरोऽहम् । अष्टवसूनांमध्ये पावकः शिखरिणामुच्चैःशिखरवतां पर्वतानां च मध्ये मेरुरहम् ॥ २३ ॥

चोत्कृष्टः सामवेदोऽस्मि । देवानां मध्ये वासवो देवराज इन्द्रोऽहम् । इन्द्रियाणामेकादशेन्द्रियाणां मध्ये सर्वेषामिन्द्रियाणामुपकारकत्वेनोत्कृष्टतयान्तःकरणाख्यं मनोरूपमिन्द्रियमहमेवास्मि, अनेन मनस इन्द्रियत्वमेव नास्तीति मतं व्युदस्यते । इन्द्रियाणि दशैकञ्च' (गी. १३।५) 'एकादशं मनश्चात्र' (गी.)'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' (गी.१५।७) इत्यादीनि प्रमाणान्यप्यत्रानुसन्धेयानि । नचेन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः,'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, इत्यादिषु मनस इन्द्रियभिन्नतयाभिधानस्य का गतिरिति वाच्यम् । ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन तस्याभिधानात् । भूतानां भूतसमूहानां मध्ये चेतना चेतनाशक्तिरहमेव ॥२२॥

रुद्राणामेकादशसंज्ञकानाम्मध्ये ध्यानमुद्रयावस्थाय नारदादिभ्यो ज्ञानोपदेशकत्वेनोत्कृष्टः शंकरश्चास्मि । यक्षाणां रक्षसाञ्च मध्ये रत्नादिधनाधिपत्येनोत्कृष्टः कुबेरोऽस्मि । अष्टवसूनां मध्ये पावकाख्यो वसुरहम् । उच्चैः शिलासमुच्चयः शिखरस्तद्वतां पर्वतानां मध्ये सर्वोन्नतशिखरमादधानः सुमेरुपर्वतोहमेव ॥२३॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दस्सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

हे पार्थ ! पुरोधसां पुरोहितानाञ्च मध्ये मुख्यं साक्षात्कृतकर्मस्वरूपत्वान्मुख्यं मां बृहस्पतिसंज्ञकं देवगुरुं विद्धि जानीहि । सेनानीनां मध्ये देवसेनापतित्वेनोत्कृष्टः स्कन्दः कुमारोहम् । सरसां स्थिरजलाशयानां मध्येऽगाधत्वेन सागरोऽस्मि ॥ २४ ॥

महर्षीणां मरीचिप्रभृतीनामहं भृगुः । गिरामखिलवाचां मध्ये अहमेकमक्षरं प्रणवोऽस्मि । यज्ञानां वेदविहितानां ज्योतिष्टोमादियज्ञानामहं जपयज्ञोऽस्मि । स्थावराणां पर्वतानां हिमालयोऽहमेव ॥ २५ ॥

सर्ववृक्षाणां पूज्यत्वेन रोगापहारकत्वेन मुख्योहमश्वत्थो

हे पार्थ ! पुरोधसां पौरोहित्यवतां मध्ये देवगुरुत्वेन बृहताम्पतिरित्यभिधया च मुख्यं मां बृहस्पतिं विद्धि । सेनानीनां सेनानायकानां मध्ये देवसेनाप्रवर्तकत्वेन मुख्यः स्कन्दोऽहं कार्तिकस्वामी । सरसां सलिलाशयानां मध्येऽपांनिधित्वेनोत्कृष्टः सागरोऽस्मि । अग्रे स्रोतसामस्मि जाह्नवीतिकथनादत्र सरःशब्देन स्थिरजलाशया एव गृह्यन्ते ॥२४॥

महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयस्तेषां महर्षीणां मरीच्यादीनां मध्येऽहं भृगुरस्मि । गिरां वाचां मध्य एकमक्षरमोंकारोऽस्मि । यज्ञानां मध्येऽहं जपयज्ञोऽस्मि । स्थावराणां मध्ये चाहं हिमालयोऽस्मि ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथस्सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

देवार्षीणां नारदः गन्धर्वाणां देवजातिविशेषाणां मध्ये चित्ररथ एतन्नामकोहं सिद्धानां स्वतस्तपःप्रभावाद्वा प्राप्ताणिमादिसिद्धिमतां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ॥ २६ ॥

अश्वानां वाजिनां मध्येऽब्धिसम्भवत्वेनोत्कृष्टमुच्चैःश्रवसं मां विद्धि । गजेन्द्राणामैरावतममृताब्धिसम्भूतं मां विद्धि नराणां मध्ये दिग्पालांशत्वादुत्कृष्टं नराधिपं च मां विद्धि॥ २७ ॥

आयुधानां वज्रं धेनूनां दोग्ध्रीणां कामधुग्दिव्यसुर-

महर्षीणां मध्येऽहं भृगुर्गिरामेकमक्षरमोंकारो यज्ञानां जपयज्ञः स्थावराणामद्रीणां हिमालयश्चाहमस्मि ॥२६॥

सर्ववृक्षाणां राजयक्ष्मादिभयंकररोगापहारितयार्हणीयत्वेन सर्ववृक्षोत्कृष्टोऽश्वत्थः पिप्पलोहं देवर्षीणां नारदो गन्धर्वाणां चित्ररथाख्योऽहमणिमाद्यैश्वर्यभाजां सिद्धानां कपिलो मुनिरहमस्मि 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति' (श्वे. ५।२) इति श्रुतेः । अश्वानां घोटकानां मध्येऽमृताब्धिसम्भवमुच्चैःश्रवसमश्वं मां विद्धि । तथा गजेन्द्राणाममृतोद्भवमैरावतं मां विद्धि । दहेलीदीपन्यायेनामृतोद्भवमित्यस्योभयत्रान्वयः । नराणाञ्चाधिकैश्वर्यशालित्वेनोत्कृष्ट

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

भिरहमस्मि प्रजनः प्रजोत्पादकानां कन्दर्पश्चास्मि सर्पाणां वासुकिश्चास्मि॥ २८ ॥

नागानां बहुमुखानां मध्येऽनन्तोहं यादसां जलचराणां वरुणोऽहं पितॄणां चन्द्रलोकाधिवासिनामर्यमा संयमतां च यमोऽहमस्मि॥ २९ ॥

दैत्यानां प्रह्लादः कलयतां संख्यां कुर्वतां कालोऽहं मृगाणां मृगेन्द्रः सिंहः पक्षिणां खेचराणां च गरुडोऽहमस्मि ॥ ३० ॥

नराधिपं मां विद्धि २६ ॥ २७ ॥

आयुधानां शार्ङ्गधनुराद्यतिरिक्तानां शस्त्रप्रयोक्तृपरिवृत्तिशीलानां शस्त्राणां मध्येऽहं वज्रम् । तस्य दधीचेरस्थिसम्भवत्वेन द्रढिम्ना युक्तत्वादुत्कृष्टत्वम् । शार्ङ्गधनुरादिभगवदायुधानान्त्वसाधारण्यात्परिगणनैव नास्ति । धेनूनां कामधुगस्मि । प्रजनः प्रजोत्पादकहेतुभूतः कन्दर्पोहं सर्पाणामेकशिरसां मध्ये वासुकिरस्मि ॥ २८ ॥

नागानां बहुशिरसो हि नागास्तेषांमध्येऽनन्तश्चास्मि । यादसां जलाधिवासिनां मध्ये वरुणोऽहम् । पितॄणाञ्चन्द्रलोकनिवासिनामर्यमाहमस्मि । संयमतां नियमनं कुर्वतां कर्मानुसृत्यफलदातॄणां मध्ये यमोऽहमस्मि ॥ २९ ॥

दैत्यानां दितेरपत्यानां मध्ये भगवत्कृपापात्रत्वादुत्कृष्टः प्रह्लादोऽस्मि ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवतां पावनंकर्तॄणां मध्ये पवनः शस्त्रभृतां शस्त्रास्त्रधारिणां मध्ये रामो जामदग्न्योहं तत्समये तस्य सर्वशस्त्रभृतामाचार्यत्वादहं झषाणां मत्स्यादीनां मकरो ग्राहविशेषोऽस्मि स्रोतसां प्रवाहशीलानां मध्ये जाह्नवी गङ्गाहमेवास्मि ॥ ३१ ॥

कलयतां गणयतां कालोऽहम् । मृगाणां मृगेन्द्रः पक्षिणामुड्डयनसाधनपक्षवतां गरुडश्चाहं पवतां पवनोस्मि शस्त्रभृतां शस्त्रधारणशीलानां मध्ये रामो जामदग्न्यश्चाहं त्रिषु रामेषु मध्ये परशुरामस्यैवात्र ग्रहणं तत्समयेऽस्यां लीलाविभूतौ विद्यमानत्वाद्भगवदंशावतारत्वात्तदानीन्तनानां प्रायः सर्वशस्त्रधारिणां साक्षात्परम्परया वाऽऽचार्यत्वाच्च । न तु जामदग्न्यदर्पहन्तुः सर्वविभूतिनायकस्य विभूतिमतो रमन्ते 'योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परम्ब्रह्माभिधीयते, (रा. पू. ता. ६) इति श्रुत्युपगीतमहिम्नोऽनादिकर्मवासनावशात्संसारसागरे पतितान् स्वजनान् स्वरूपदर्शनाराधनादिभिः समुद्धर्तुकामस्य परमकरुणया लीलाविभूताविक्ष्वाकुवंशे दाशरथिरूपेणाविर्भूतस्यावतारिणः परात्परस्य श्रीरामस्य । तस्यतु नित्यविभूतिस्थस्वकीयसाकेतधाम्न्यवस्थितत्वेन स्वासाधारणविग्रहेण तदानीं लीलाविभूतावसत्वात् । अत्र विभूतिनिदर्शनप्रकरणे लीलाविभूतिस्थानां तदानीन्तनानामेवोपादानात् । विभूतिप्रकरणे विभूतिमदुपादानस्यायुक्तत्वाच्च ॥ झषाणां मकरः स्रोतसां प्रवहतां जाह्नवी गंगाहमस्मि ॥३०॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यश्चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

हे अर्जुन ! सर्गाणां सृज्यमानानामादिरन्तो मध्यश्चोत्पत्तिस्थितिलयहेतुरहमेव चतुर्दशविद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या जीवतदन्तर्यामिवास्तविकरूपप्रतिपादिका विद्याहमेव प्रवदतां वादजल्पवितण्डादिभिः प्रवदतां वादोऽहमेव । अक्षराणामक्षरसमाम्नायस्थानां वर्णानां मध्येहमकारोऽस्मि सर्ववर्णप्राथम्यात् 'अकारो वै सर्वा वाक्, इति श्रुतेश्च । समासानां समूहः सामासिकस्तस्यमध्ये द्वन्द्वोहं तस्योभयपदार्थप्राधान्येन प्राधान्यात् । अक्षयः प्रवाहरूपेणाक्षयिष्णुः कालोऽहमेव । विश्वतोमुखः सर्वफलप्रदाता धातहमेव ॥३२॥ ॥३३॥

हे अर्जुन ! सृज्यन्त इति सर्गास्तेषां सर्गाणां सृज्यमानानां पदार्थानामादिर्मध्यमन्तश्च सृष्टिस्थितिलयकारणञ्चाहमेव सर्वासां विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्याऽऽत्मपरमात्मस्वरूपविषयकविद्या प्रवदतां वादकर्तॄणामर्थनिर्णायको वादश्चाहमेव ॥३२ ॥

अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्ये "अकारो वै सर्वा वाक्" इति श्रुतिप्रामाण्यात् सर्ववर्णोत्पादकोऽकारोऽहमस्मि । समासानां समूहः सामासिकस्तस्य सामासिकस्य पूर्वादिपदार्थप्राधान्यवतामव्ययीभावादिसमासानां मध्य उभयपदार्थप्राधान्यवान् द्वन्द्वो द्वन्द्वाख्यः समासश्चाहमस्मि । कलामुहूर्त्ताद्यौपाधिके भेदे सत्यपि स्वरूपेणाक्षयोऽविनाशी

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सर्वसंहर्तॄणां मध्ये सर्वहरः प्राणादिहरणकर्ता मृत्युरहं भविष्यतामुत्पत्स्यमानानामुद्भवोऽहमेव नारीणां मध्ये कीर्त्यादयः सप्त मद्विभूतयो यत्सम्बन्धलेशेनाऽपि जनः कृतकृत्यो भवतीत्यत उत्कृष्टत्वम् ॥ साम्नां पावमान्यादीनाम्भगवत्स्तावकसूक्तानाम्मध्ये बृहत्साम 'त्वामिद्धि हवामहे, इत्यस्यामृचि गीयमानं बृहत्सामाहमेव । छन्दसां गायत्र्युष्णिगनुष्टुबादीनां मध्ये चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री तन्नामकं छन्दोऽहमेव द्वादशमासानां मार्गशीर्षोऽहम् । षडृतूनां मध्येऽहं कुसुमाकरो वसन्तर्तुः पुष्पफलादीनां परिणतिहेतुत्वादुत्कृष्टः ॥३४॥३५॥

कालोऽहमेव । विश्वतोमुखः सर्वफलप्रदो धाता चाहमेवास्मि ॥३३॥

सर्वहरः प्राणादिनिखिलापहारको मृत्युरहमस्मि । भविष्यतां भविष्यत्कालिकानां पदार्थानामुद्भव उत्पत्तिरहमेव । नारीणां मध्ये कीर्तिः श्रीर्वाक् स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेति च सप्त तदभिमानिन्यो देवताश्चाहमेव ॥३४॥

साम्नां सामसंज्ञकानामीश्वरस्तावकसूक्तानां मध्ये बृहत्साम, गायत्र्युष्णिगादीनां छन्दसां मध्ये गायत्री गायत्रीनामकं छन्दः, मासानां चैत्रादिद्वादशमासानां मध्ये मार्गशीर्षः, ऋतूनां षण्णामृतूनां मध्ये कुसुमाकरो सर्वप्राणिसुखप्रदो वसन्तश्चाहमेवास्मि ॥३५॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।

छलयतां मायया परवञ्चनं कुर्वतां द्यूतमक्षदेवनमहं तेजस्विनां प्रकाशविशिष्टानां तेज एवाहमेवं जयिष्णूनां जयः व्यवसायिनां व्यवसायो निश्चयोहम् । सत्त्ववतां सात्त्विकानां सत्त्वं प्रकाशज्ञानादिकमहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वृष्णिवंश्यानां मध्ये साक्षादहं वासुदेवो वसुदेवनन्दनोऽस्मि । विभूतिमध्ये पाठस्तूपासनार्थः । पाण्डवानां धनञ्जयस्त्वमेव मे विभूतिः । मुनीनां मननशीलानां मध्येऽहं व्यासोऽस्मि कवीनां काव्यवतामहमुशना कविः शुक्राचार्योऽहमस्मि ॥३७॥

दमयतां दमनकर्तॄणां दण्डोहं जिगीषतां नीतिस्सामाद्यु-

छलयतां कपटव्यवहारं कुर्वतां द्यूतमक्षदेवनमहं तेजस्विनां तेजोहं परस्परं जेतॄणां जयोहमुत्कृष्टत्वात् । व्यवसायो निश्चयोऽस्मि सत्ववतां सात्विकानाम्मध्ये तेषामुत्कर्षहेतुः सत्वं प्रकाशज्ञानादिलक्षणमहमस्मि ॥३६॥

वृष्णीनां वृष्णिवंश्यानां मध्ये वासुदेवोहमेव साक्षदर्थान्तराभावात् । विभूतिषु कथनन्तु भक्तानुग्रहार्थम् । पाण्डवानां धनञ्जयस्त्वमेवाहं मुनीनां व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽहं वैदिकसिद्धान्तप्रवर्तकत्वादुत्कृष्टत्वमत्र । कवीनां सूक्ष्मार्थज्ञानवतामुशना शुक्राचार्योऽहमेव कविः ॥३७॥

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।

पायात्मिकाऽहमस्मि गुह्यानां गोपनसम्बन्धिषु मौनमेव चास्मि । ज्ञानवतां परमपुरुषार्थविषयकज्ञानवतां ज्ञानमेवाहम् ॥३८॥

हे अर्जुन ! सर्वभूतानामस्तितापादकं यद्बीजं यद्धेतुतयावस्थितं तदहमेव यन्मयात्मभूतेन विना भूतं स्यात्तच्चराचरं नास्त्येव ॥३९॥

हे परन्तप ! मम दिव्यानां कल्याणगुणेनोत्कृष्टानां विभूतीनामन्तो नास्ति । एष विभूतेर्विस्तरो मयोद्देशतः

दमयतामुन्मार्गगामिन उछृंखलान् सन्मार्गे स्थापयितुम्प्रवृत्तानां दण्डोऽस्मि जिगीषतां जेतुमिच्छतां जयोपायभूता नीतिः सामादिरूपाहमेव गुह्यानां गोपनीयानां गोपनहेतुर्मौनञ्चैवास्मि ज्ञानवतां प्रातिस्विकरूपेण तत्तद्वस्तुविषयकज्ञानशीलानां यज्ज्ञानं तदहमेव 'अध्यात्मविद्या विद्याना'मित्यत्र तु विद्यापदेन चतुर्दशविद्यानां ग्रहणमित्यनयोर्भेदः ॥३८॥

हे अर्जुन ! सर्वभूतानां सत्वनिर्वाहकं यदपि च बीजं तदहमेव । यच्चराचरात्मकं वस्तु मयात्मतयावस्थितेन विना भूतं स्यात्तन्नास्त्येव पूर्वं 'महमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थित, इत्युपक्रान्तस्यानेनैकच्यं द्योत्यत इत्थञ्चोपक्रमोपसंहारयोरेकार्थत्वं फलितम् ॥३९॥

हे परन्तप ! मम दिव्यानां विभूतीनामन्त इयत्ता नास्ति । एष मया

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ।
संक्षेपत एव प्रोक्तो विभूतीनामानन्त्यात् ॥४०॥

अथानुक्तप्रधानविभूतिसंग्रहार्थमभिधत्ते यद्यदिति। विभूतिमद्भुतैश्वर्ययुक्तं श्रीमद्धनधान्ययुक्तमूर्जितं बलान्वितम् । अत्र वा शब्दश्चार्थे प्रयुक्तः । यद् यत् सत्त्वम् । सर्वं प्राणिजातमित्यर्थः । तत्तदखिलं मम सर्वेश्वरस्य तेजसोंशस्तेजोंशस्तेजोंशः संभवो यस्य तत् तेजोंशसंभवम् । मन्नियमनसामर्थ्यांशकारकमित्यर्थः । एव । त्वमवगच्छ जानीहि ॥४१॥

हे अर्जुन ! स्थूलसूक्ष्मविभूत्युपसंग्रहार्थमथवेति । एतेनोक्तविभूतिविषयकज्ञानेन बहुना तव किं फलम् ? एतावत्परि विभूतेर्विस्तरस्तूद्देशत एकदेशेन शृगं ग्राहिकयेदमिति विशिष्य प्रोक्तो न साकल्येन तासामानन्त्यात् ॥४०॥

एवं संक्षेपेण विभूतीनां स्वरूपमुपदर्श्येदानीमुपलक्षणविधयोक्तानामनुक्तानाञ्च स्वरूपं संग्राहयति । यदिति । यद्यदिति वीप्सयाऽशेषार्थानां संग्रहः । विभूतिमद्विलक्षणैश्वर्यसम्पन्नं श्रीमद्धनधान्यसम्पत्समन्वितमूर्जितं बलाद्यन्वितमेव वा यद्यत्सत्वं तत्तन्मम तेजोंशसम्भवं मदीयसर्वातिशायिन्या विलक्षणशक्तेः कियदंशैनैकदेशेन सम्भूतमेव त्वमवगच्छ । भगवत्सम्बन्धातिरिक्तं किमपि नास्तीति भावः ॥४१॥

प्रोक्तमर्थं निगमयन्नाह—अथवेति । अथवा एतेन समुदीरितवि-

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ज्ञानमात्रेणैव विशिष्ट फलं नास्ति किन्तु इदमपि बोध्यम् । इदं चिदचिन्मिश्रं कृत्स्नं जगत् स्वीयैकांशेन स्वातिशयाकारस्यायुतायुतांशेन विष्टभ्याहमवस्थित इत्येतदेव निश्चेयमिति भावः ॥४२॥

इतिश्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥१०॥

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

व्याप्तं विश्वं समस्तं किल चरमचरं येन सर्वाधिपेना—
त्रासीमैश्वर्यशाली विमलगुणनिधिर्यः स्वतन्त्रः परात्मा ।
यत्स्वायत्तस्वरूपस्थितिगतिरुदिता यद्विभूतिस्त्वनन्ता
सर्वात्मा सोऽयमेकःप्रभुरितिदशमे निश्चिकायादिदेवः ॥१०॥

भूतिविषयकेण बहुना ज्ञानेन स्थूलसूक्ष्माणामनन्तानामपि विभूतीनां परिज्ञानेन तव किं प्रयोजनं किन्चिदमेव मदुक्तमवधारय । इदं चिदचि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

अथैकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

पूर्वं सपरिकरभक्तियोगमुपदिश्य गतेनाध्यायेन भक्तिसिद्धये स्वात्मगुणयोगो विभूतयश्चोपदिष्टास्तदन्ते विष्टभ्याहमिदमित्यनेन सर्वत्र स्वांशेन स्थितत्वाद्विश्वरूपताऽपि ख्यापितेमाञ्च विश्वरूपतां साक्षात्कर्तुकामोऽर्जुन उवाच— मदनुग्रहायेति चतुर्भिःश्लोकैः। मदनुग्रहाय स्वसुखसाधनदात्मकं कृत्स्नं जगदेकांशेन स्वमहिम्नोऽयुतायुतांशेन विष्टभ्य विष्टम्भनं कृत्वाहं स्थितोऽस्मि । तथा चोक्तं पुराणरत्ने 'यस्यायुतायुतांशेन विश्वशक्तिरियं स्थिता, इति ॥४२॥

इतिश्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण जगद्विजयिसर्वतंत्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एतावता प्रबन्धेन विशेषतः सप्तमाध्यायादारभ्य दशमाध्यायन्तंयावत् ज्ञानकर्मसचिवभक्तियोगः सपरिकरोऽभिहितोऽनुपदं भक्तियोगोपचयजननीः स्वासाधारणदिव्यकल्याणगुणयोगप्रतिपादनपुरस्सरविभूतीरुपदिश्यान्ते 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमि ति वाक्येन स्वस्यांशेन चराचर-

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

कर्मणि स्वतन्त्रोहमित्यज्ञानान्धतमसे मुह्यमानस्य ममानुग्रहार्थं परममुत्कृष्टं गुह्यं सर्वदुःखध्वंसपूर्वकभगवदनुभवात्मकसुखजनकत्वाद् गोप्यमध्यात्मसंज्ञितमात्मपरमात्मस्वरूपविवेचकं वचः 'अशोच्यानन्वशोचस्त्व'मित्यादिरूपं यत्त्वयोक्तं तेनायं मम मोहो'ऽहमेव हन्ता ममैते बन्धव हन्यन्त' इत्यादिरूपो विगतो दूरोत्सारितः ॥ १ ॥

हे कमलपत्राक्ष ! कमलपत्रे इव विशाले अक्षिणी यस्य स हे पुण्डरीकनयन ! 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गी०) इति त्वदादेशानुसारेणैव त्वत्तः परमपुरुषादेव भूतानां भवाप्यया उदयविलयौ हि विस्तरशो मया श्रुतौ, एवमव्ययं जगद्व्याप्तिरपि दर्शिता । अथेमां विश्वव्याप्तिं शृण्वन्नपि दृग्गोचरीकर्तुं विनयावनतोऽर्जुन उवाच—मदनुग्रहायेति चतुर्भिः— मदनुग्रहाय 'ममैते बन्धवो मरिष्यन्ति, स्वतन्त्रोऽहमेषां मारणे मोचने चेत्याद्यज्ञानोद्भूतमोहाम्बुधौ निमज्जतो ममानुग्रहैकफलकं परममुत्कृष्टतमं गुह्यमपवर्गान्न्योपायतया गोपनीयमध्यात्मसंज्ञितं आत्मयाथात्म्यस्वरूपावेदकं वचः 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्, इत्यारभ्य 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि'त्यन्तं वचनं यत्त्वया परमकारुणिकेन सर्वेश्वरेणोक्तं तेनायं मम हृदिस्थो मोहो विगतः समूलो विनष्टः ॥१॥

कमलपत्राक्ष ! कमलपत्रे इव दीर्घे अक्षिणी नयने यस्य स हे पुण्डरीकनयन ! एतच्चोपलक्षणं कमलकोमलकलेवरादेरपि, अनेन 'कप्या-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

माहात्म्यं सर्वशरीरत्वेऽप्यदोषभाक्त्वं सर्वाधारत्वेऽपि दिव्यगुणवत्त्वमित्यादिरूपमपि च श्रुतम् ॥ २ ॥

हे परमेश्वर ! अनेन जगदीश्वरे भगवति श्रद्धातिशयो दर्शितः । आत्मानं स्वस्वरूपं यथा त्वं सर्वनियामक आत्थ कथयसि–एवमेतत् तत्तथैवाहमङ्गीकरोमि । त्वमेव सर्वकासश्रुत्यर्थानुसारेण निरतिशयसौन्दर्यसौकुमार्यमाधुर्यधाम्नो भगवतो दिव्यमंगलविग्रहवत्त्वेन दृष्टचित्तापहारकत्वं सूच्यते । तथा हि–वाल्मीकिवाक्यम्––

चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ।
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टचित्तापहारिणम् ।
रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥इति॥

तस्मादनेन सम्बोधनेन सम्बोधयितुः प्रेमातिशयो व्यज्यते । त्वत्तः परमपुरुषादेव भूतानां चराचरलक्षणानां भवाप्ययौ हि विस्तरशो मया 'अहं सर्वस्य प्रभव, (गी.) इत्यादिवाक्यैरेव त्वन्मुखादेव श्रुतौ । एवमव्ययमविनाशि निरवधिकातिशयानन्तकल्याणगुणवत्त्वलक्षणं माहात्म्यमपि च त्वत्त एव श्रुतम् ॥२॥

हे परमेश्वर ! स्वाभाविकानन्तशक्ते ! अनेन भगवति प्रेमातिशयो व्यज्यते । आत्मानं सकलेतरविसजातीयं विचित्रानन्तशक्तिसमन्वितं स्वस्वरूपं यथा त्वं सर्वेश्वर आत्थ ब्रवीषि, एवमेव तत् तत्तथैव ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

श्री भगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

रणकारणः सन् सर्वान्तर्यामी सर्वशेषी सर्वज्ञः सर्वशक्तिरसि । हे पुरुषोत्तम ! ते तवैश्वरं सर्वसामर्थ्यविशिष्टं रूपं द्रष्टुमिच्छामि ॥ ३ ॥

हे प्रभो ! सर्वेश्वर ! तदपरिमिताश्चर्यशालि त्वद्रूपं मया द्रष्टुं शक्यमिति यदि त्वं मन्यसे चेत्ततो हे योगेश्वर ! दिव्यकल्याणगुणनिधे ! मे मह्यमनुरक्ताय त्वं स्वमात्मानं सर्वाश्चर्यनिधानमव्ययमविनाशिनं स्वरूपं दर्शय ॥ ४ ॥

एवं भगवतोऽद्भुतविश्वरूपदर्शने श्रद्धातिशयाज्जातकुतूहलवचने मे श्रद्धातिशयोऽस्तीति भावः । हेपुरुषोत्तम ! इदानीं ते सर्वसामर्थ्यसमन्वितस्य प्रणतजनमनोऽभिलाषपूरकस्य तवैश्वरमैश्वर्यवीर्यतेजोज्ञानबलशक्तिशालि दिव्यं रूपमहं त्वदाश्रितो द्रष्टुं स्वदृग्गोचरीकर्तुमिच्छामि ॥३॥

हे प्रभो ! सर्वातिशायिप्रकर्षशालिन् ! तच्चराचरव्यापि सर्वाश्चर्यनिधानं त्वदीयं दिव्यमप्राकृतं रूपं मया त्वदाश्रितजनेन परिमितशक्तिमता द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे चेत्ततो योगेश्वर ! अणिमाद्यैश्वर्यातिशायिदिव्याद्भुतसामर्थ्याधीश्वर ! मे श्रद्धालवे मह्यं त्वमात्मानं सर्वाश्चर्यनिधानं स्वरूपमव्ययं यथावद्दर्शय चाक्षुषप्रत्यक्षं कारयेति प्रार्थनेयम्, प्रार्थनायां लोड्विधानात् ॥ ४ ॥

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हलेनार्जुनेन प्रार्थितः श्रीभगवानुवाचेत्याह संजयः । किमित्यनुवदति पश्येतिचतुर्भिः । हे पार्थ ! मे मम शतशोथ सहस्रशो नानाविधानि विविधप्रकाराणि नानावर्णाकृतीनि नीलपीतरक्तश्वेतवर्णानि तथा परव्यूहविभवादिस्वरूपाकारभेदेनानेकाकृतियुक्तानि दिव्यानि—अप्राकृतानि स्वेच्छयाविर्भावितानि रूपाणि 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि श्रुतिसम्मतानि पश्यावलोकय ॥ ५ ॥

हे भारत ! मय्येकत्रैव द्वादशादित्यान् अष्टौ वसून्,

एवमैश्वर्यातिशयशालिविचित्राद्भुतपारमेश्वररूपदर्शनानुरागजनितप्रार्थनया प्रीतः परमपुरुषः स्वमहिमानं दिदर्शयिषुः पार्थमादौ सावधानयति—पश्येति । हे पार्थ ! साभिप्रायमामन्त्रणमिदं यतस्त्वं परमभक्तायाः पृथायास्तनयोऽसि तत्सदृश एव भक्तोऽस्यतोऽवश्यं मे दिव्यं रूपं दर्शनीयमित्यभिप्रायः । मे मम शतशोऽथ सहस्रशोऽपरिमितानि नानाविधान्यपरिमितप्रकाराणि नानावर्णाकृतीनि श्वेतरक्तपीतनीलवर्णानि तथा परव्यूहविभवादिभेदभिन्नानि देवमनुष्यतिर्यगादिसंस्थानवन्ति च दिव्यानि मदिच्छया वैलक्षण्यमावहन्ति । दिवि भवानि दिव्यानीति नार्थः प्रदर्श्यमानरूपेषु मानुष्यादेरपि सत्त्वात् । रूपाणि पश्य । अर्हार्थे लोट् । द्रष्टुमर्होऽसि ॥५॥

हे भारत ! मय्येवैकस्मिन्नेव, आदित्यान् द्वादशसंख्याकानपि

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

एकादशरुद्रान् तथा एकोनपञ्चाशन्मरुतः पश्य । अदृष्टपूर्वाण्यश्रुतपूर्वाणि च बहून्याश्चर्याणि पश्य ॥ ६ ॥

भो गुडाकेश ! ममेह देहे तत्राप्येकस्मिन्नपि भागे सचराचरं कृत्स्नं जगदवस्थितम्पश्य यदप्यन्यत्त्वं द्रष्टुमिच्छसि तदपि तत्रैव पश्य ॥ ७ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति यदुक्तं तस्योत्तरमाह—नेति। अनेनैव स्वचक्षुषा प्राकृतपदार्थग्रहणसमर्थेन चर्म-

वसूनष्टसंख्याकानपि रुद्रानेकादशसंख्याकानपि अश्विनौ द्वावपि दस्रौ तथा सप्तसप्तकान् मरुतोऽपि पश्य । अत्र मरुतस्तथेति मध्ये तथाशब्दनिक्षेपात् पूर्वपठितानां देवानां त्रयस्त्रिंशत्संख्यया परिच्छिन्नानां गणो विवक्षितः । तथाऽदृष्टपूर्वाणि पूर्वं जातु न दृष्टानि न वा श्रुतानि नानाश्चर्याण्याश्चर्यकराणि विचित्रविविधवर्णसंस्थानपरिमाणवन्ति 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृत्ताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा, इत्यादिश्रुतिशतदर्शितप्रभावाणि पश्य निभालय ॥६॥

हे गुडाकेश ! अनेनार्जुनस्य जितालस्यात्सावधानेन दर्शनयोग्यता सूच्यते । ममास्मिन्देहे तत्राप्येकस्मिन्नेव भागे कृत्स्नं सचराचरं जगदधुनैव पश्य । एवमितो मदुक्तनिर्देशादन्यदपि यत्त्वन्मनस्याकूतं जयपराजयादिकमप्यत्रैव पश्य ॥७॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

चक्षुषा मामप्राकृताद्भुतरूपविशिष्टं द्रष्टुं न तु शक्ष्यसे। अतस्ते तुभ्यं दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्महत्यपि तेजसि सुप्रसन्नं निर्निमेषं नयनं ददामि तेन चक्षुषा म ऐश्वरं विश्वरूपयोगम्पश्य ॥८॥

दिव्यचक्षुःप्रदानानन्तरं भगवता किं विहितमितिधृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—एवमिति षड्भिः। हे राजन्! ततो महायोगेश्वरो महतां दिव्यकल्याणगुणानां यो योगस्सामस्त्यं तत्रेश्वरः समर्थो हरिर्दुर्मेधसां विनाशकः परमपुरुष एवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा पार्थाय पृथातनयाय भक्ताय परममुत्कृष्टमैश्वरं स्वेतरसर्वविलक्षणं रूपं दर्शयामास ॥ ९ ॥

प्रागर्जुनो 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टु,मित्यादिकं प्रार्थयत्तत्र विशिष्टमभिधत्ते—नेति । अनेनैव स्वचक्षुषा सन्निकृष्टलौकिकविषयग्राहकेण त्वदीयप्राकृतचक्षुषा मां अलौकिकाद्भुतवर्णाकृतिविशिष्टं द्रष्टुं न तु शक्ष्यसे । तुना दर्शनाशक्तिर्बोध्यते । अतस्ते तुभ्यं दिव्यमलौकिकतेजोविशिष्टं प्रदर्श्यमानमद्रूपनिभालनक्षममप्राकृतं चक्षुर्ददामि । ततस्तेन चक्षुषा मेऽचिन्त्यशक्तेरैश्वरं लोकोत्तरैश्वर्यादिसमन्वितयोगं निरवधिककल्याणगुणयोगं विविधविभूतियोगञ्च पश्य साक्षात्कुरु ॥८॥

ततः किं वृत्तमितिधृतराष्ट्रजिज्ञासायां दिव्यचक्षुरवाप्त्यनन्तरं परमप्रसन्नायोत्कटदिदृक्षाशालिनेऽर्जुनाय स्वाद्भुतदिव्यरूपं दर्शयामास भ-

गवानित्यावेदयितुं संजय उवाच एवमित्यादिषड्भिः । हे राजन्! एवमुक्त्वोक्तप्रकारेणाभिधाय ततोऽनन्तरं यद्यप्यत्रोत्तरकालिकत्वरूपोऽर्थः क्त्वाप्रत्ययेनाभिधीयते तथाप्यनुष्ठीयमानाग्रेतनार्थस्यारब्धत्वसूचनाय तत इति पदस्य सार्थकत्वम् । महायोगेश्वरो महान् योगो येषान्ते ब्रह्मरुद्रभृग्वादयो देवर्षयस्तेषामीश्वर उत्पत्तिपालनादिभिः स्वामी। तथा च श्रुतिः—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्. (श्वे०) इति इममेवार्थमभिदधन्महायोगेश्वरेश्वर, इति केषाञ्चित्पाठोऽपि संगतो भवति । हरिर्हरति स्वभक्तानामार्तिमिति हरिः । तथाचोक्तम् 'अप्यहं जीवितं जह्याम्, 'अहं भक्तपराधीनः, 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (वा. रा.यु.) इति । पार्थाय परमभक्तायाः पृथायास्तनयाय परममुत्तममैश्वरं स्वेतरासाध्यं स्वासाधारणं रूपमद्भुतवर्णाकृतिविशिष्टं दर्शयामास ॥ यत्वत्र 'पश्य मे योगमैश्वरम्' इतीश्वरसम्बन्धिनो रूपस्याभिधानाच्छैवमेव रूपं भगवता श्री कृष्णेन पार्थाय दर्शितम् । तदसत्, उपक्रमोपसंहारादिभिस्तात्पर्यनिर्णायकैः षड्विधलिङ्गैर्वैष्णवमेवरूपं प्रदर्शितमिति निश्चीयते। तथा हि उपक्रमे 'पश्यमे पार्थ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः (गी.१५) इत्यत्र मे मम वासुदेवस्य रूपाणि पश्येत्येष एवार्थः स्वरसतः प्रतीयते । एवं 'मम देहे गुडाकेश' इत्यत्रापि ममेत्यनेन वासुदेवस्यैव देहे शरीरे' इत्यऽर्थो स्पष्ट एव प्रतिभाति। मध्ये च 'धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो' (गी.११.) 'स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या (गी.११ ।) इत्याद्यनेकवाक्येषु विराड्रूपधारिण एव 'विष्णो, 'हृषीकेश, इत्याद्यर्जुनकृतसम्बोधनैर्वैष्णवमेव रूपं निश्चीयते । एवं मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्। तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमी

दङ् ममेदम् । व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ (गी.११।४७।४९) इत्यादिभिरर्जुनम्प्रति प्रवृत्तविराड्रूपदर्शनसमकालिकभगवद्वासुदेववचनैरपि वैष्णवरूपस्यैव निश्चयः । एवमुपसंहारे 'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः । विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः (गी।१८।७७।) इति संजयवचने हरेरिति षष्ठ्यन्तहरिशब्देन वैष्णवरूपमेव दर्शितमिति व्यासप्रसादासादिताध्यक्षानुभवः सञ्जयोऽपि निरचैषंत् । किञ्च गीताया भारतान्तर्गतस्याप्यत्र प्रामाण्यं युक्तमुत्पश्यामः । तथा चाश्वमेधिकपर्वणि वासुदेवोदङ्कसंवादे 'अभिजानामि जगतः कर्तारं त्वां जनार्दन । द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं वैष्णवं तन्निदर्शय ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः । शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद्धनंजयः ॥ इत्येव वैशम्पायनेन स्वयमेव वैष्णवरूपस्यैव स्पष्टीकरणात् । 'न चैवमीश्वरशब्दस्य 'ईश्वरः शर्व ईशानः शंकरश्चन्द्रशेखरः ।' (अमरः) इति कोषाच्छूलपाणौ रूढिर्बाध्येतेति वाच्यम् 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता, (अमर) इति कोशादैश्वर्ययोगादधिपतिमात्रवाचकत्वेन निर्णयात् । ऐश्वर्यार्थकादीश्धातोः 'स्थेशभासपिसकसोवरच्, (पा. सू.)इति पाणिनीयेन कर्तरि वरचि निष्पन्नत्वादीश्वरशब्दस्य यौगिकत्वमेव । योगेनैव निर्वाहे रूढिकल्पनाया अनावश्यकत्वात् । शिवेऽप्यस्य शब्दस्य प्रयोगस्तु ऐश्वर्ययोगादेव । यदि तु रूढिर्योगमपहरतीतिमीमांसासिद्धन्यायेन यौगिकत्वमनादृत्य रूढत्वस्यैवाग्रहस्तर्हि निरूपाधिकनित्यैश्वर्यवत्त्वात् प्रसिद्धिप्राचुर्याच्च भगवतिविष्णावेवायंरूढ इत्यवेहि । अत एव 'ईश्वरो विक्रमी धन्वी, इति विष्णुसहस्रनामसु निर्देशोप्युपपद्यते । किञ्च 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्' (गी. ११)

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम् ॥११॥

तदैश्वरं रूपं विशिनष्टि—अनेकानि वक्त्राणि नयनानि यस्मिस्तद् अनेकाद्भुतानां दर्शनं यस्मिस्तद् अनेकानिदिव्यान्याभरणानि भूषणानि यस्मिस्तद् दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि यस्मिंस्तद् दिव्यमाल्याम्बरगन्धानुलेपनयुक्तं सर्वाश्चर्यमयं देवं दिव्यकान्तिधरमनन्तं देशकालपरिच्छेदशून्यं विश्वतो मुखं मुखप्रदेशे सर्वतो मुखम् ॥ १०॥ ११॥

'दर्शयात्मानमव्ययम् । (गी० ११) इति कथितानुसारेण भगवद्रूपदर्शने समुत्सुकस्य भगवता श्री कृष्णेन त्वदुक्तरीत्या शैवरूपं प्रदर्श्य प्रतारणैव कृता स्यात्तस्मादत्र स्वकीयमेव वैष्णवं रूपं भगवान् श्रीकृष्णः प्रादर्शयदिति दिक् । ९॥

परमैश्चर्यविशिष्टं तद्रूपं विशिनष्टि—अनेकेति द्वाभ्याम् । अनेकानि वक्त्राणि नयनानि यस्मिस्तद् भगवतो दिव्यमंगलविग्रहवत्वेऽपि विजातीयतया वक्त्रनयनादीनामनेकत्वमत्र सम्पाद्यम्. अनेकमद्भुतं दर्शनं यस्य तत् सर्वत्रैवातुलाश्चर्यतया विद्यमानदर्शनम् । अनेकानि दिव्यान्याभारणानि यस्मिस्तत् । दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधान्यस्त्राणि यस्मिस्तत् । आयुधानां दिव्यत्वं सज्जीकृतत्वमनेन ज्ञापितम् । धरतीति धरं दिव्यानां माल्यानामम्बराणां धरं 'महारजतं वासः, इत्यादिश्रुतेः । दिव्यो गन्धोऽस्येति दिव्यगन्धोऽनुलेपनं यस्य तत् सर्वाश्चर्यमयं

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भास्सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥१२

देवशब्देन दिव्यकान्तिविशिष्टतोक्ता तामेव निर्वक्ति दिव्याकाशे सूर्यसहस्रस्यैकदैवोदितस्य युगपदुत्थिता यदि भाः प्रभा भवेत्तदा तस्य महात्मनो दिव्यमङ्गलविग्रहवतो दिव्यभासः सदृशी सा स्यात् परन्त्वेतन्न कदाचिदपि सम्भवत्यतो निरुपमानन्तकान्तियुक्तं तद्रूपमासीदिति भावः ॥१२॥

'जगदेतन्महाश्चर्यं रूपं यस्य महात्मनः, (वि.५।१९।७) इति पुराणरत्नेऽपि । देवं द्योतमानं जातितद्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकशब्दानां जातिप्रवृत्तिनिमित्तकमेव विशेष्यवाचकमिति नियमस्यात्राप्रसरेऽनावश्यकत्वात् । रूपत्वजातिविशिष्यैव विशेष्यत्वाद् देवत्वस्य तद्विशेषणत्वात् । अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितं विश्वतो मुखं सर्वदिक्षुमुखविशिष्टम् । न तु सर्वत्र मुखयुक्तम् । पाणिपादादिषु मुखस्याविद्यमानत्वात् ॥१०॥११॥

पूर्वस्मिन् देवशब्देन द्योतमानतोक्ता, तामिदानीं विवृणोति—दिवीति । दिव्यन्तरिक्षे सूर्याणां सहस्रं सूर्यसहस्रं तस्य भास्करसहस्रस्य युगपदुदितस्य युगपदुत्थिता युगपदुदितसहस्ररश्मिसहस्राद् युगपदुदितसहस्रसंख्याका यदि भा भवेत्तदा तस्य विश्वरूपस्य महात्मनो विराट्कायस्य भासः प्रभायाः सदृशी सा स्यात् । नत्वेवं सम्भवत्यतस्तत्सादृश्याभावः इत्यभूतोपमारूपेयमतिमशयोक्तिः । वस्तुतोऽवाङ्मनसगोचरे भगवति यथाकथञ्चिन्मनोनिवेशनार्थमिदमुच्यतेऽन्यथा सूर्यसहस्रस्यापिप्राकृतत्वात्तदीयप्रभाभिरप्राकृतपरमपुरुषप्रभायाः कथं सादृश्यं कथमिव चोपमानोपमेयभावसम्भावनापि स्यादिति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

तत्र देवदेवस्य सर्वदेवेश्वरस्य दिव्ये विराड्देह एकस्थ एकत्र स्थितमनेकधा प्रविभक्तं सुरासुरनरतिर्यक्स्थावरादिरूपं तथा चतुर्दशभुवनसंस्थानं चराचरं कृत्स्नं जगत् तदा पाण्डवो देवदेवदयाप्तदिव्यदृष्टिरर्जुनोऽपश्यद् दृष्टवान् ॥ १३ ॥

ततो भगवतो विराड्रूपदर्शनानन्तरं विस्मयाविष्टो विस्मयेनात्यद्भुतदर्शनजनितालौकिकमनश्चमत्कारेण विशिष्टो हृष्टरोमा प्रफुल्लरोमराजिर्धनञ्जयोऽर्जुनो देवं दिव्यगुणधामानं

पूर्वमिहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरमिति श्रीकृष्णेन यथादिष्टं तथैव दृष्टवानित्यभिधत्ते--तत्रेति । तत्र सर्वाश्चर्यमये देवदेवस्य ब्रह्मादिदेवानामपि देवस्य दिव्ये शरीरे एकस्थं एकत्रैव यत्र कुत्रचिद्देहैकदेशे स्थितमनेकधा प्रविभक्तं भोक्तृभोग्यभोगोपकरणभोगायतनाद्यनेकभेदभिन्नं कृत्स्नमखिलं जगत् चराचरात्मकं विश्वं पाण्डवो भगवदनुग्रहावाप्तदिव्यदृष्टिरर्जुनस्तदा तस्मिन्नवसरेऽपश्यद् दृष्टवान् ॥१३॥

ततः किं वृत्तमित्याकांक्षायामाह—तत इति । ततो विश्वमूर्तेर्दिव्यरूपदर्शनानतरं विस्मयेन विलक्षणाद्भुताकृतिदर्शनजन्यचमत्कृतिसहकृतसात्विकोद्रेकेनाविष्टो हृष्टरोमा पुलकिततनूरुहो धनञ्जयो राजसूय उत्तरगोग्रहे च गोधनादीन्विजित्यानयनेन परमनिर्भीकोऽर्जुनस्तादृशीमदृष्टश्रुतपूर्वां सर्वलोकभयावहां विलक्षणां विश्वरूपस्याकृतिं दृष्ट्वा भयकम्पपलायनादि-

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवाँस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

विश्वमूर्तिं शिरसा प्रणम्य मूर्ध्ना वन्दनं विधाय कृताञ्जलि-र्हृदयाग्रे सम्पुटितोभयहस्तोऽभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच । हे देव ! तव देहे सर्वानेव स्वर्गस्थान् देवान् पश्यामि तथा सर्वान् भूतलस्थानां भूतविशेषाणां संघान् पश्यामि । सर्वानृषींश्चमरीच्यादीनन्तरिक्षचारिणो दिव्यान् शेषवासुक्यादींश्चोरगान् पश्यामि तथा ब्रह्माणश्चतुर्मुखं कमलासने ब्रह्मणि स्थितमीशं रुद्रञ्च । तदुक्तं

रहितः सन् देवं सर्वस्यात्मप्रकाशकं भगवन्तं शिरसा प्रणम्य साष्टाङ्गम्प्र-णिपत्य हस्तौ सम्पुटितौ कृत्वा प्रह्वीभावेनाभाषताब्रवीत् ॥१४॥

भगवता यथोक्तं तथैवार्जुनो दृष्ट्वा सप्रश्रयं निवेदयति—अर्जुन उवाच—पश्यामीति । भो देव ! सकलजगदवभासक ! तव देहे सर्वानेव सुरलोकस्थान् देवान् तथा मर्त्यलोकस्थान् भूतविशेषसंघान् जरायुजादिप्राणिविशेषसमूहान् ब्रह्माणं सत्यलोकाधिपतिमीशं रुद्र-लोकेश्वरं कीदृशमीशं कमलासनो ब्रह्मा तद्गतम् । एतच्च पाद्मेवर्णितम्—'विष्णुं समाश्रितो ब्रह्मा ब्रह्मणोऽङ्कगतो हरः । हरस्याङ्गविशेषेषु देवाः सर्वेऽपि संस्थिताः ॥' इति । अथवा कमला लक्ष्मीस्तया सहासने गरुडासने स्थितं विष्णुमपि वैकुण्ठाधिपतिं सर्वान् मरीच्यादीनृषीन्

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

पाद्मे—'विष्णुं समाश्रितो ब्रह्मा ब्रह्मणोऽङ्कगतो हरः । हरस्या-ङ्गविशेषेषु देवाः सर्वेऽपि संस्थिताः ॥' पश्यामीत्यन्वयः ॥१५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रमनेकशब्दोऽत्रानन्तवाची । त्वां जगन्नियन्तारमनन्तरूपं सर्वतः पश्यामि । पुनः हे विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! तवादिं मध्यमन्तञ्च न पश्यामि ॥ १६ ॥

दिव्यान्महाप्रभावान् शेषवासुकितक्षकादीनुरगांश्चाविशेषेण पश्यामि त्वद्दत्तदिव्यचक्षुषा गोचरीकरोमीति स्वभावोक्तिः ॥१५॥

हे विश्वेश्वर ! विश्वनियामक ! विश्वरूप ! जगच्छरीर ! 'जग-त्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्' (वा० यु० कां०) इति स्मृतेः । अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रमनन्तबाह्वादिविशिष्टमनन्तरूपमनन्तानि रूपाणि यस्य तं त्वां सर्वतः पश्यामि । तथा च श्रुतिः 'विश्वत-श्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः स्यात् । संबा-हुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमिं जनयन् देव एकः (इति ऋग्वेद-खिलभागे) इति । तवान्तं न पश्यामि मध्यं न पश्यामि न पुनरा-दिमपि पश्यामि । अत्र ह्यनन्तत्वस्यैव विवृतिरेषा वेदितव्या । अत्र चादिमध्यान्तानामसत्वादेव न पश्यामीत्युक्तिः संगच्छतेऽन्यथा सत्वे तु दिव्यदृष्टिमाहात्म्यादवश्यमर्जुनः पश्येत् । यद्वस्तु नास्त्येव कथं नु तन्निभालयेन्निभालनेतु मिथ्याप्रसयः स्यादत एवमुक्तम् ॥१६॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वा दुनिरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

किरीटिनं शिरसि ध्रियमाणभूषणविशेषवन्तं गदिनं चक्रिणञ्च चक्रगदाधारिणं पश्यामीत्यनेनैवान्वयः । तेजोराशिं दिव्यतेजसां निधानं 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इतिश्रुतेः । पुनश्च दीप्तानलार्कद्युतिमत एव समन्ताद् दुर्निरीक्ष्यं परिच्छिन्नत्वव्यावृत्तयेऽप्रमेयमितिविशेषणम् ॥१७॥

त्वं परमं वेदितव्यमक्षरं मुण्डकादिषु 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' (मु १।१।३) इत्यारभ्य 'अथ परा यया तदक्षरमधि-

किरीटिनं शिरोभूषणविशेषयुक्तं गदिनं चक्रिणञ्च चक्रगदायुधविशिष्टं तेजोराशिं दिव्यतेजसां धामानं सर्वतो दीप्तिमन्तम् । समन्तात् सर्वावयवविशिष्टदेहे दुर्निरीक्षं तत्र हेतुमाह—दीप्तानलार्कद्युतिं दीप्तानलार्कद्युतिवद्द्युतित्वे परिमितता स्यादतोऽप्रमेयमित्युच्यत एवं विधं त्वां पश्यामि ॥१७॥

परमं वेदितव्यं वेदनीयेषूत्तमं वेद्यं त्वमेवाक्षरं 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु १।१ ५) इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमित्यर्थः ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

गम्यते' (मु १।१।५) इत्यक्षरवेदनमुक्तं तद्वेदनविषयस्त्वमेव । अस्य विश्वस्य परं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाधारस्त्वमेव त्वमव्ययोऽविनाशी शाश्वतधर्मस्य गोप्ता त्वं सनातनः पुरुषो मे मतो ज्ञातः । अद्यैव मया दृष्टिगोचरीकृत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तं तव देहमहमादिमध्यान्तरहितं पश्यामि अनन्तवीर्यं निरतिशयपराक्रमशालिनमनन्तबाहुं शशिसूर्यने

अस्य विश्वस्य परमाधारस्त्वमेव । त्वमव्ययो विनाशरहितः । तथाचाक्षरशब्देनापौनरुक्त्यम् । स्वरूपगुणविभवैः सदा त्वमेकरूप्येण राजसे । शाश्वतस्य धर्मस्यानादिनिधनाम्नायप्रतिपादितस्य परमविशुद्धवैदिकवैष्णवधर्मस्य गोप्ता सनातनः पुरुषः सदाभवः 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, (पुरुसूक) इति प्रसिद्धपुरुषपदवाच्यः 'वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्' (भा० ११ ।) इत्यादिमहापुराणे तथा 'शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः । अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव, बृहद्बलः ॥ इति वाल्मीकीये च प्रतिपादितस्त्वमेव मे मतः मदीयचाक्षुषज्ञानविषयो जात इत्यर्थः ॥१८॥

अनादिमध्यान्तं त्वदीयदिव्यविग्रहमहमादिमध्यान्तहीनं । पश्यामि 'नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिमिति तु विश्वरूपसम्बोधनेनानन्तरूप-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

त्रं दीप्तहुताशवक्त्रं 'दीप्तानलार्कद्युतिमि'त्यत्र तु द्युतेर्दीप्तानलार्कद्युतिसादृश्यमुक्तमत्र पुनः सर्वोपसंहारकर्तृतासामर्थ्यं दीप्तहुताशशब्दस्वारस्यादुच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । इदमखिलं विश्वं स्वतेजसा प्रकाशन्तं त्वाम्पश्यामि ॥ १९ ॥

मितिविशेषाभिधानेन च केवलं भगवद्रूपविषयमनन्तवीर्यमित्युपलक्षणमन्येषामप्यसाधारणधर्माणाम् । तथा च निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसामानन्त्यं त्वयि विद्यत इत्यर्थः । अनन्तबाहुमसंख्येयबाहुविशिष्टं शशिसूर्यनेत्रं शशिवच्छान्तप्रकाशकनेत्रं सूर्यवत्प्रचण्डप्रकाशकनेत्रम् । स्वाश्रितभक्तान्प्रति शशिवच्छान्तदृक् क्रूरान् प्रति सूर्यवत्प्रचण्डदृगित्यर्थः । ननु विरुद्धत्वाद् युगपच्छान्तप्रचण्डदृष्ट्योरसम्भवात् । शान्तेषु दृक्षु प्राचण्ड्यस्यासम्भवात् प्रचण्डेषु च शान्तेरसम्भवात् । विरुद्धत्वादेव न वार्जुनोऽपि युगपदुभयधर्मौ शान्तिप्रचण्डताख्यावध्यक्षं कुर्यात् । न च कालभेदेनापि तथानुभवो व्यवस्थापयितुं शक्यः तदायौगपद्येन दृग्गोचरीकृतमिव शशिसूर्यनेत्रं पश्यामीति प्रात्यक्षिकी प्रतीतिर्बाधिता स्यादितिचेदित्थमत्र निर्णयः । पूर्वं हि स्वयमेवार्जुनेन साक्षादकारि प्रोक्तमप्यनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं त्वां पश्यामीति, अत्रानेकनेत्राणाम्प्रत्यक्षेण दृश्यमानानामेव प्रकाशकर्तृत्वरूपं धर्मं पश्यति । तथैवाभिधत्ते च तत्रैकस्मिन्नेव भगवतो विराड्देहेऽनन्तानां दृश्यानां विद्यमानत्वाद्युगपदुभयधर्मताऽपि संगच्छते । कानिचिन्नेत्राणि चन्द्रवच्छान्तप्रकाशानि कानिचिच्च मार्तण्डवत्प्रचण्डप्रकाशानीति युगपदुभयमप्यनुभवति । अत एव पश्यामीति कथनं संगच्छते । त्वा त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं प्रकाशयन्तं पश्यामि ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्चसर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्यावापृथिव्योर्द्युलोकभूलोकयोरिदमन्तरमवकाशो यत्राखिलं जगद्राजते त्वयैकेन हि व्याप्तम् । एवं सर्वा दिशश्च व्याप्ताः । हे महात्मन् ! विश्वात्मन् ! तवेदमद्भुतमुग्रञ्चातिप्रचण्डतेजोविशिष्टं रूपञ्च दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं त्रैलोक्यप्राणिनः प्रकर्षेण भयजन्यव्यथां प्राप्तवन्तः । अत्र सर्वशक्तेः परेशस्य वैज्ञानिकमेव लोकत्रयं भयकम्पादियुक्तमर्जुनेन दृष्टम् । तदपि च दिव्यचक्षुषो माहात्म्यादेकेनैवार्जुनेन साक्षात् कृतम् । नान्येनान्यथा दिव्यचक्षुः प्रदानस्य वैफल्यमेव स्यादिति तत्त्वम् ॥ २० ॥

सर्वाश्चर्यकरं भगवद्रूपमालोक्य भीतोऽर्जुनो व्यथां प्रथते । द्यावापृथिव्योरिति । द्यावापृथिव्योर्द्युलोकभूलोकयोरन्तरमन्तरालमिदं त्वयैकेन व्याप्तमेवं सर्वा दिशोऽपि च व्याप्ताः । महात्मन् ! भो विश्वकाय ! इदं तवाद्भुतमाश्चर्यजनकमुग्रमतितिग्मतेजोविशिष्टं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं त्रिलोकीमध्यवर्तिनः सर्वेऽपि जना भीतिजनितव्यथामन्वभूवन् ॥ अत्रेदं विचार्यते । भगवद्भक्तियोगस्य तदुपचायकविभूतियोगस्य च श्रवणेन जातहर्षोद्रेकोऽर्जुनस्तद्विश्वरूपं दिदृक्षुरसकृत्प्रार्थयामास । तत्प्रार्थनातिशयं दृष्ट्वा भगवान् स्वासाधारणं तद्रूपं दिदर्शयिषुः कृपया तस्मै तद्दर्शनक्षमं दिव्यं चक्षुरादावदात् । ततस्तेन भगवता प्रदर्श्यमानं

विराड्रूपं महतो महत्तरं सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं कार्त्स्न्येनादर्शि। ददर्श विश्वरूपमर्जुनः परमविस्मयमापन्नः स्वदृष्टमेव भगवन्तं निवेदयति दृष्ट्वाद्भुतमिति। अत्रायं विशयः समुदेति। कथमुग्रं भगवद्रूपं लोकत्रयेण साक्षात्कृतं कथन्तराञ्च प्रव्यथेद्रमो लोकत्रयस्यैव तत्रासत्त्वात्, कथञ्चित्सत्त्वेऽपि तस्य दिव्यदृष्टेरभावादन्तरेण दिव्यदृष्टिमन्येन केनापि द्रष्टुमशक्यत्वात्। तथैवोक्तं स्वयमेव गीताचार्येण, 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' (गी ११।८) इति' दिव्यशब्दस्यात्र दिवि भवत्वेन न यौगिकोऽर्थो गृहीतुं शक्यः। देवेषु तथा सत्वेन तेषां दर्शनकर्तृत्वेऽसाधारण्यव्याघातात्, 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः' (११।५२) इत्युत्तरवाक्यविरोधाच्च। तस्मादनन्यभक्त्येकसाध्यमप्राकृतमेव तदर्थः। तथा च भगवदनन्यानुकम्पैकभाजनार्जुनव्यतिरेकेणान्यस्य लोकत्रयवर्तिनः सुरासुरनरकिन्नरोरगविहगेषु कस्यचिदपि दिव्य चक्षुर्नास्त्येवेति कुतोऽर्जुनस्य लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्नित्युक्तिः संगच्छतामितिचेदित्थम्। महामायी परमेश्वर एकस्मायर्जुनायैव दिव्यं चक्षुः प्रदाय स्वेच्छया स्व रूपं प्रदर्शयामास। तथवोक्तं सञ्जयेन 'दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्' (गी ११।९) यद्यन्येभ्योऽपि स्वरूपदिदर्शयिषा चेत्तर्हि व्यासप्रसादलब्धदिव्यानुभवः सञ्जयो 'दर्शयामास सर्वेभ्य' इत्येवं ब्रूयात् तथोपक्रमेऽपि भगवदर्जुनयोरेव संवादः 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो! योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' ॥५॥ एवं विधो दृश्यते। यद्यन्येभ्योऽपि भगवतः स्वरूपदिदर्शयिषा चेत्तर्हि त्वदर्थं प्रकटीकृतं रूपमन्येऽपि द्रक्ष्यन्तीत्यतस्तेषामप्युपकारः

सेत्स्यतीत्येवमभिदध्यात्। किञ्चार्तेऽर्जुनादन्यस्मै न दिव्यचक्षुःप्रदानं कृतम्। न हि तदन्तरेण शक्यदर्शनं विश्वरूपम्। 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा' (गी ११।८) इति स्वमुखेनैव दर्शननिषेधात्। एवमुपसंहारेऽपि 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः। एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर'' (गी ११।४८) इति स्वयमेव भगवताऽन्यकर्तृकदर्शननिषेधस्योक्तत्वात्। तस्मादत्र सर्वकारणकारणः सर्वशक्तिर्मायिनामपि मोहिन्या मायायाः पतिर्भगवानर्जुनाय स्वमायया तत्कालोपात्तविग्रहं तावत्कालस्थितिकं वैज्ञानिकमेव लोकत्रयं दर्शयामास। तच्च लोकत्रयं भगवन्मायया भयकम्पव्यथाविशिष्टमेकेनैवार्जुनेन तदानीमध्यक्षमकारि। अर्जुनो भयकम्पव्यथाहितः पश्यंल्लोकत्रयविशिष्टमेव विश्वरूपमपश्यत्। भगवानपि कार्त्स्न्येन निरतिशयैश्वर्यदिदृक्षया तथानुतिष्ठंल्लोकत्रयविशिष्टमेव मामयं पश्यत्विति धिया तत्सर्वं वैज्ञानिकमेवाकल्पयत्। एवञ्च ' रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च। गन्धर्वयक्षाः सुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे, (गी. ११।२२) इत्याद्युक्तयोऽपि सगच्छन्ते। अन्यथा 'अमी हि त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः। भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः। वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि। केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः' (गी ११।२७) इत्याद्यर्जुनवचसां विरोधः स्यात्। युद्धार्थमुपस्थितेषु दुर्योधनादिषु भगवत्करालदंष्ट्रया चूर्णितेषु कथं पुनर्युद्धावसरःस्यादतोऽत्र वैज्ञानिकमेव सर्वं प्रकटय्यार्जुनाय प्रादर्शि। नचैतद्वैज्ञानिकप्रदर्शनं मिथ्याभूतं नवोत्कटकोटिकभावनाप्र-

अमीहि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

अमी हि सुरसंघास्त्वत्प्रभावज्ञदेववर्यास्त्वां शरणागत-कर्षजन्यं प्रातिभं सैद्धं वेति मन्तव्यम् । इदन्त्वनन्तनिरंकुशैश्वर्य्यशालिनो-भगवतः स्वरूपमेव विविधवर्णाकारप्रकारक्रियाकलापप्रभेदभिन्नमित्यर्जुन-स्यापि पारमार्थिकमेव ज्ञानमितिनिश्चयो न पुनर्भ्रान्तिः । एवञ्च तात्पर्यचन्द्रि-कादिषु 'ननु दर्शयामास पार्थाय, इतिह्युपक्रान्तम्, तत्कथं देवासुरादीना-मपि मानुषवन्मांसचक्षुषां भगवद्विग्रहसाक्षात्कार उच्यत इत्यत्राहेत्यारभ्य, देवादीनामपि दिदृक्षासम्भवात् सर्वेषामवतारसाक्षात्कारवत्सुकृतविपाक-सन्निपातात्क्षुद्राणामिव महतामपि भयावहत्वादिना निरंकुशैश्वर्यप्रकाशनेन प्रकृतोपयोगाच्च दिव्यचक्षुर्दानमिति भाव इत्यादिव्याख्यातं तत्पूर्वापर-सन्दर्भविरुद्धमप्रामाणिककल्पनाकवलितञ्च त्रिलोकीमध्यवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो दिव्यचक्षुः प्रदाने को हि विशेषोऽर्जुनस्य तेभ्यः । न हि लोकभयान्तःपातिन स्सर्वेऽप्यर्जुनवद्भगवत्कृपैकमात्रावलम्बा न वा तद्रूपदिदृक्षावन्त श्चेति कुतो दिव्यचक्षुःप्रदानम् । किञ्च सर्वेभ्योऽविशेषेण दिव्यचक्षुर्दाने किमिति भग-वता दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरमित्यनया महत्यारभट्या पार्थमुद्दिश्यैव कथितम् । अर्जुनायात्मीयमैश्वर्यं दर्शयितुमेव तथानुष्ठा-नमित्यपि न युक्तम्, वैज्ञानिकार्थस्वीकारेणैव स्वैश्वर्यदर्शनस्य सामञ्ज-स्यात् । प्रकारान्तरेणार्थसंगमनेऽनेकदोषप्रसङ्गाच्च । एतत्सर्वमनुसन्धा-यैवोक्तं श्रीमदानन्दभाष्यकारभगवत्पादैः– 'अत्र सर्वशक्तेः परेशस्य वैज्ञानिकमेव लोकत्रयं भयकम्पादियुक्तमर्जुनेन दृष्टम् । तदपि च दिव्य-चक्षुःप्रभावेण तेनैवैकेन साक्षात्कृतं नान्येन । अन्यथादिव्यचक्षुःप्रदानस्य

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षाऽसुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

वत्सलं विदित्वा विशन्ति समीपमायान्ति । केचित्त्वत्स्वरूपमव-लोक्य भीताः प्राञ्जलयो बद्धाञ्जलयः सन्तः गृणन्ति स्तुतिं-कुर्वन्ति । महर्षिसिद्धसंघाः भृगुवसिष्ठनारदादयस्तु स्वस्तीत्यु-क्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः स्तोत्रैस्त्वामेव स्तुवन्ति ॥२१॥

रुद्रादित्यादयो देवाः गन्धर्वयक्षाः सुरसिद्धसंघाश्च सर्वे विस्मिताः सन्तस्त्वामेव वीक्षन्ते ॥२२॥

वैफल्यमेव स्यादिति तत्वमिति सुधिय एवावधारन्त्विति संक्षेपः ॥२०॥

अमी सुरसंघा ब्रह्मादिदेवसमूहाः शरण्यं त्वां जानन्तस्त्वत्समीपं विशन्ति । त्वत्परिचयोत्सुक्यात् सप्रश्रयमागच्छन्तीत्यर्थः । केचिद्देवविशेषाः पुनर्भीताः प्राञ्जलयः सन्तो गृणन्ति त्वत्प्रसत्तिसम्पादनाय स्तोत्रमुच्चा-रयन्ति । महर्षिसिद्धसंघा भृग्वादयः सनकादयश्च जगद्रक्षाविहितम-नसः स्वस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिस्त्वद्गुणवर्णनप्रधानाभिर्वाग्भि-स्त्वामेव स्तुवन्ति ॥२१॥

किञ्च नाहमेकाकी विस्मितः किन्त्वेते विशिष्टा देवा अपि विस्मयमापन्ना इत्याह रुद्रादित्या इति । रुद्रादित्या एकादशरुद्रा द्वादशादित्या वसवोष्टौ साध्यगणः विश्वेदेवा अश्विनौ दस्रौ

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

देवादीनां सविस्मयावलोकने बीजमाह–रूपमिति । हे महाबाहो ! ते तव बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहूरुपादं बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं महदतिशयदैर्घ्यविशिष्टं दृष्ट्वा सर्वे लोका भयेन प्रव्यथितास्तथाहमपि प्रव्यथितो भयव्याकुलोऽभूवम् ॥२३॥

मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः उष्मपाश्च पितरः 'उष्मभागा हि पितरः, इति श्रुतेः । स्मर्यते च 'यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः, इति । गन्धर्वाश्चित्ररथादयो यक्षाः कुबेरादयो विरोचनादयः सिद्धाः कपिलादयश्च तेषां संघाः समूहाः सर्वे विस्मिता आश्चर्यचकितास्त्वां वीक्षन्ते । त्वदाज्ञापारवश्यं दधाना दूरत एव चित्रबद्धा इव सचकितम्पश्यन्तीत्यर्थः । श्लोकद्वयोक्तानामर्थानां वैज्ञानिकत्व एव तात्पर्यमिति न विस्मर्तव्यम् ॥२२॥

एवं रुद्रादिदेवैः सविस्मयं वीक्षणमुक्त्वाऽखिललोकभयावहं रूपं दर्शं दर्शं स्वस्य व्यथातिशयमभिधत्ते रूपमिति । हे महाबाहो ! ते तव रूपं महदतिविशालं बहुवक्त्रनेत्रं बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि यस्मिंस्तद् बहुबाहूरुपादं बहवो बाहव उरवः पादा यस्मिंस्तद् बहुबाहूरुपादं बहून्युदराणि यस्मिंस्तद् बहूदरं बहुदंष्ट्राभिः करालमुन्नततररदनेनाति भीषणं दृष्ट्वा सर्वे लोका प्रव्यथिता भयेन महाव्यथां प्राप्ता न केवलं लोका एव भयाकुला अपि तु अहमपि तथा व्यथातिशयमनुभवामि ॥२३॥

नभस्स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

प्रव्यथाया कारणं वक्ति–नभस्स्पृशमिति । हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! नभस्स्पृशं नभः शब्दोऽत्र सर्वपरलोके वर्तते । तथा च परात्परलोकव्याप्तं दीप्तमतिप्रज्वलितमनेकवर्णमनेकैर्वर्णैर्युक्तम् । व्यात्ताननं विवृतास्यं दीप्तविशालनेत्रं निरतिशयतेजोविशिष्टानि विशालानि नेत्राणि यस्य, एवं भूतं त्वां सर्वेभ्योऽद्भुतं विलक्षणञ्च दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं धैर्यं शमञ्च न विन्दामि नोपलभे ॥२४॥

प्रव्यथावैशिष्ट्यमभिधत्ते—नभःस्पृशमिति । नभःस्पृशमित्यत्र नभःशब्देन 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, इत्यादिश्रुतिशतैः प्रतिपादितस्य त्रिगुणप्रकृतेः पुरुषस्य चाश्रयरूपस्य परमात्मनः परमधाम्नोऽभिधानं भगवत्कृपाऽवाप्तदिव्यदृष्टिनार्जुनेन सर्वाश्रयस्यैव नभसोऽत्र ग्रहणात् । न हि प्रकृतिपरिणामभूतस्य भूताकाशमात्रस्य द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तमिति प्रागुक्तत्वाच्च । नभः परमव्योम स्पृशत इति नभःस्पृशं दीप्तमतिदेदीप्यमानमनेकवर्णमनेके सितकृष्णपीतादयो वर्णा यस्मिंस्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं व्यात्तानि विस्फारितानि आननानि यस्यतं दीप्तविशालनेत्रं दीप्तानि विशालानि नेत्राणि यस्य तमेवं विधं त्वां दृष्ट्वा हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! धृतिं धयै न विन्दामि शमञ्चेन्द्रियाणां शान्तिश्च

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥
अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वैः सहैवावनिपालसंघैः ।

ते तव दंष्ट्राकरालानि दंष्ट्राभिः करालानि भयङ्कराणि च कालानलसन्निभानि प्रलयकालिकदहनसदृशानि मुखानि दृष्ट्वैव दिशो न जाने दिङ्मूढो जातः शर्म सुखञ्च न प्राप्नोमि । अतो हे देवेश ! सर्वदेवस्वामिन् ! सर्वजगतां निवासभूत ! हे भगवन् प्रसीद मय्यनुरागदृष्टिं विधेहि ॥२५॥

एवं सर्वव्यापकत्वं सर्वस्वातन्त्र्यञ्च स्वकीयविश्वरूपदर्शनेनार्जुनाय विज्ञाप्येदानीं भाविनि युद्धेऽपि मयैव त्वद्विजयो न लभे । सर्वव्यापकस्य तव महाश्चर्यकरं भयानकञ्च रूपमवलोक्य व्यथितेन्द्रियो मनस्थैर्यविहीनो भवामीति भावः ॥२४॥

दंष्ट्राभिः स्थूलदीर्घदद्भिः करालानि भयावहानि कालानलसन्निभानि सर्वसंहारप्रवृत्तज्वलनसदृशानि च ते तव मुखानि दृष्ट्वैव दर्शनमात्रादेव दिशो न जाने भयोद्विग्नमानसत्वाद्दिग्भ्रान्तिमापन्नोऽत एव शर्म सुखञ्च क्वापि न लभे । अतो हे देवेश ! सर्वदेवनियामक ! हे जगन्निवास प्रसीद मयि प्रसन्नो भूत्वा कृपाकटाक्षं कुर्वित्यर्थः ॥२५॥

एवं सर्वनियन्ता भगवान् विश्वरूपं प्रदर्शयन् स्वव्यापकतां स्वसर्वैश्वर्ययोगं चार्जुनं जिग्राहयामासाथासुरभावमापन्नान् धार्तराष्ट्रान्

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

निर्वाह्य इत्याशयमपि तस्मै ग्राहयितुं तथा स्वरूपं दर्शयत्यर्जुनश्च यथादर्शनमुपवर्णयति । अमीत्यादिभिः । अमी मन्नयनसन्निकृष्टे वर्तमानाः सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः सर्वैस्तत्पक्षीयैर्भूपसंघैस्सहैव तथा भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्ण एवमस्मदीयैरस्मत्पक्षीयैरपि योधमुख्यैर्द्रुपदकाशिराजधृष्टद्युम्नादिभिस्सह त्वरमाणा अतिवेगान् त्वरयन्तस्ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति प्रबलशक्त्या प्रेर्यमाणा हठादिव त्वन्मुखेषु प्रविशान्तीत्यर्थः । केचिच्च दशनान्तरालभागे चूर्णितैरुत्तमाङ्गैर्विलग्ना बहिर्भागे लम्बायमाना स्पष्टमेव संदृश्यन्ते ॥२६॥२७॥

पाण्डवपक्षीयानपि तथा विधान् क्रूरानहमेव घातयिष्यामि । त्वन्तु निमित्तमात्रमेवेति ज्ञापयितुं तादृशमेव वैज्ञानिकार्थविशिष्टं रूपं दर्शयत्यर्जुनस्तथा पश्यन्नाह—अमीति । अमी पुरस्तात्प्रत्यक्षेण दृश्यमानाः सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वैः भूभृत्समूहैस्सह भीष्मः द्रोणस्तथासौ सूतपुत्रः कर्णश्चास्मदीयैरपि योधमुख्यैर्धृष्टद्युम्नादिभिस्सह समन्तात् त्वरमाणा अतित्वरां कुर्वन्तो दंष्ट्राभिः करालानि विकृतानि भयानकानि ते वक्त्राणि बला-

यथा नदीनाम्बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः

भगवदास्यप्रवेशे दृष्टान्तमुदीरयति–यथेति । यथा येन प्रकारेण नदीनां सरिताम्बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रं सर्वजलानामाश्रयमभिमुखा एव द्रवन्ति झटिति वेगाद्यान्ति तथैवामी नरलोकवीरा बलशालिनोऽपि राजानोऽभिविज्वलन्ति वक्त्राणि वेगाद्विशन्ति ॥२८॥

तत्रैव द्वितीयदृष्टान्तमाह–यथेति । यथा पतङ्गा सूक्ष्माः दाकृष्यमाणा इव मुखानि स्वनष्टये विशन्ति । तेष्वेव केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैर्दशनान्तरेषु दशनान्तरालभागे विलग्नास्सम्यङ् मया निभाल्यन्ते ॥२७॥

धार्तराष्ट्रादयस्तथान्ये लोकाः भगवदाननेषु कमिव विशन्तीत्यत्र निदर्शनमभिधत्ते–यथेति । यथा नदीनामापगानाम्भूयांसोऽम्बूनां वेगाः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तः समुद्रं सर्वापामाधारमकूपारं द्रवन्ति वेगात्प्रविशन्ति तथैवामी धार्तराष्ट्रा अन्येऽप्युभयपक्षीया राजवीरा अभितो जाज्वल्यमानानि तवाखिलजगदुपादनभूतस्य वक्त्राणि विशन्ति ॥२८॥

निदर्शानान्तरमाह–यथा पतङ्गाः क्षुद्राः शलभविशेषाः सम-

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानस्समन्ता-
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

शलभाः समृद्धवेगाः पूर्णवेगा नाशाय प्रदीप्तज्वलनमुद्गतार्चिषि समिद्धाग्नौ विशन्ति तथैव इमे लोका अपि समृद्धवेगाः स्वनाशाय तव वक्त्राणि विशन्ति । शलभस्य यथा स्वनाशध्रौव्यं तथैषामपि । राजलोकानामपीतिभावः ॥२९॥

हे विष्णो ! समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिरग्निज्वालाकुलैर्वदनैर्विवृत्तास्यैः संमन्ताद् ग्रसमानः शर्कराक्षोदमिव गलविलाधः-द्धवेगाः प्राप्तसमस्तजवा नाशाय प्रदीप्तज्वलनं प्रदीप्तविभावसुं विशन्ति भस्मसाद्भवितुं स्वयमेव प्रविशन्ति, तथैवेमे लोका अपि समृद्धवेगाः स्वयमेव नाशाय तवाखिलकालकालस्य वक्त्राणि विवृतास्यानि सरभसं विशन्ति ॥२९॥

एवं निदर्शनद्वयं प्रदर्श्य शलभायितानां तेषां कृशानुरिव भगवानप्युपसंहरणं करोतीत्युच्यते–लेलिह्यस इति । विष्णो ! हे सर्वव्यापक ! समग्रानशेषांल्लोकस्थितान् पूर्वोपात्तानासुरभावाविष्टान् राज्ञोऽन्यांश्च क्रूरान् प्राणिनो ज्वलद्भिर्वदनैर्ज्वालोल्काकुलैर्निस्सरदपरिमितानलविस्फुलिङ्गैः करालानलाननैः समन्तात् सर्वतो ग्रसमानोऽखण्डानेवादौ रदनैर्विदलय्य वा निगिलितु गलबिलाधःसंयोगिनः कुर्वन् दन्तुरतिग्मा-

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

संयोगं कुर्वंल्लेलिह्यस आस्वादातिशयमनुभवसि । तथा तवोग्राः भासो रश्मयः स्वतेजोभिर्निरतिशयप्रकाशेन समग्रं जगदापूर्य प्रकर्षेणोत्तपन्ति । निखिलं विश्वमुत्तापयन्तीत्यर्थः ॥३०॥

परमाद्भुतमदृष्टचरं रूपं दृष्ट्वा सभयमर्जुनः पृच्छति–आख्याहीति । उग्ररूपोऽतिघोररूपो भवान् कः किं चिकीर्षसीति मे मह्यमनुकम्पया सत्वरमाख्याहि । ते तुभ्यं नमोऽस्तु । हे

ग्रदद्वदननिर्गलदुष्णरुधिरधाराप्रपातमन्तश्चिकीर्षुः सृक्कण्यौ लेलिहान आसे । एवं तवोग्रा भासस्तिग्मतरगभस्तयस्तेजोभिस्तिग्मातपैः समग्रं जगदापूर्य प्रतपन्ति । यैस्तु 'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्, इत्यत्राहवं द्रष्टुमागतं शत्रुमित्रोदासीनरूपं लोकत्रयं प्रव्यथितमिति व्याख्यातं तैरनिच्छद्भिरप्यत्र भगवन्मायाविलसितो वैज्ञानिक एवार्थोऽङ्गीकृत इति पूर्वत्राऽप्येष एवार्थोऽङ्गीकर्तव्योऽर्धजरतीयस्यानौचित्यादिति विदाङ्कुर्वन्तु विवेकधियः ॥३०॥

भगवतोऽद्भुतरूपमतर्क्यचरितञ्चावलोक्य भूयो जातविस्मयोऽर्जुनः सविनयं पृच्छति–आख्याहीति । उग्ररूपः कातान्तिकरूपतोऽप्यतिवि-

देववर ! देवदेव ! प्रसीद त्वरया प्रसन्नो भव । सर्वेषामाद्यं भवन्तं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि । ननु त्वदनुग्रहायैव मयेदं दिव्यं रूपं त्वत्प्रार्थनयैवादर्शि स एवाहं त्वत्सखेति कुतः को भवानिति पृच्छसीत्याशङ्कायामाह–न हीति । एवमिदानीं जगत्संहरतो भवतः प्रवृत्तिं न हि प्रजानामि । मय्यनुजिघृक्षया स्वरूपदर्शनं चेत्तदा तु सर्वैश्वर्यशालिनो सौम्याकृतिरेव दर्शिता स्यान्न तु विकरालाकृतिरिति भावः ॥३१॥

एवं पर्यनुयुक्तः श्रीभगवानुवाच । लोकक्षयकृत् कालः सर्वप्राणिनां कलनां कुर्वन्नहं कालस्यापि प्रवृद्धः कालोऽस्मि । इह लोकानशेषाँल्लोकस्थप्राणिनः समाहर्तुम्प्रवृत्तः । फलितमाह–ऋत

लक्षणरूपो न हि कृतान्तो युगपदनेकान् प्राणिनो भक्षयितुं क्षमोस्ति किन्तु कर्मपरिपाकक्रमात् कञ्चिदेकमेव । भवाँस्तु युगपदनन्तानतिसमर्थानपीति कृतान्तादिभ्योऽप्यधिकप्रभावः । अतो भवान् क इति मे मह्यमाख्याहि । अयम्भावः । शश्वत् प्रसन्नवदनं सन्तप्तचामीकरदिव्यकान्तित्रिभुवनैकसुन्दरं कमनीयकलेवरं दर्शकजनमनोनयनानन्दकरमनवरतं भवद्रूपमवालोकि । अत्रैव किमप्यनिर्वचनीयवैलक्षण्यमादधानं निरतिशयसौकुमार्यादिगुणगुम्फितं लोचनाभिरामादृष्टश्रुतधर्मकं जातु स्वरूपम्भवेदितिधिया 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्, इत्युक्तप्रकारेण मदीयहृदये भवद्रूपदिदृक्षा समजनि । भवताऽपि च 'पश्य मे पार्थ रूपाणी, त्यभिधाय स्वरूपदर्शनायैव प्रत्यायितः । इदानीं च भवता जगद्भीषणाकृतिं दर्शयित्वा न केवलं मनोनयनयोरेव व्यथोदपादि, अपि तु रोमाञ्चमञ्चत्यङ्गे वेपथुरपि । तस्मात्पृच्छामि को भवानिति सम्यगुत्तरदानेन सपदि मत्सन्देहमपाकुरु । इत्ययमर्जुनस्याशयो विलक्षणधर्मविषयक-

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

इति । त्वा त्वामृतेऽपि विनापि न भविष्यन्ति विनाशमुपयास्यन्ति । ये च प्रत्यनीकेषु योधा भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयोऽवस्थितास्ते सर्वे । आत्मानन्तु केवलं निमित्तमात्रमवेहीति भावः ॥३२॥

एवमुक्त्वा फलितमाह–तस्मादिति । यतः सर्वकालकालोऽहमेव सर्वान् हनिष्यामि तव न कापि श्रमस्तस्माच्छ्रममन्तरेणापि परमदुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽर्जुनेन विनिर्जिता इति यशो एव स्फुटी भवति । भगवत्स्वरूपे गुणेषु वैभवादिषु तु सन्देह एव नास्ति । यतोऽनुपदमेव 'धृतिं न विन्दामि शमं च 'विष्णो' भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो' (गी.) ११) इत्यादिषु विष्णो इति सम्बोधनेन स्पष्टमेव स्वरूपप्रत्ययः प्रतिभाति । ते तुभ्यं नमोऽस्तु । हे देववर ! देवाधिदेव प्रसीद रोषमपहाय प्रसन्नो भव । आद्यं सर्वकारणं भवन्तमहं विशेषरूपेण विज्ञातुमिच्छामि यदिदानीं त्वं यत्कार्ये प्रवृत्तिमानसि तत्कार्यप्रवृतिमहं वैशेष्यान्न हि प्रजानामि । घोरतररूपाविर्भावे कुतः प्रवृत्तिरिति कृपयाऽवश्यं ब्रूहीति भावः ॥३१॥

एवं परमभीतेन धनञ्जयेन विशिष्टधर्ममुद्दिश्य स्वजिज्ञासाविष्कृता कार्यविशेषनिर्देशपुरस्सरं ताम्पूरयितुकामः श्रीभगवानुवाच—–काल इति । लोकक्षयकृत् सर्वलोकानाम्भुवनानां तत्स्थजनानाञ्च क्षयकृद् विनाशकः प्रवृद्धः सर्वातिशायी कालः सर्वकलनसमर्थः काल एवास्मि ।

मयैवैते निहिताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

लभस्व । युद्धायोत्तिष्ठ । त्वयि युद्धे सन्नद्धे तवैव विजयोतोऽप्रयासेनैव शत्रून् जित्वा समृद्धं महर्द्धिव्याप्तं निःसपत्नं राज्यं भुंक्ष्व । एते त्वदरयस्त्वत्प्रयत्नात् पूर्वमेव मयैव निहतास्तच्छौर्यमपहृत्य हतप्रायाः कृता अतो हे सव्यसाचिन् सव्येन वामहस्ते-यथा त्वयाऽन्यैश्च लोकैरवगम्यते तथा परिमितधर्मविशिष्टः कालो नास्मि किन्तु विलक्षणधर्मकः कालोऽस्मीत्यवेहीति भावः । काम्प्रवृत्तिं प्राप्स्यसीत्यस्योत्तरमाह–लोकानिति । इह प्रधनभूमौ समस्तानेव लोकान् समाहर्त्तुं प्रवृत्तः प्रवृत्तिमानस्मि । प्रवृत्तेः फलं निर्दिशति । त्वामृतेऽपि विनापि सर्वे भीष्मद्रोणादयो न भविष्यन्ति । मत्संकल्पादेव विनंक्ष्यन्ति । ये प्रत्यनीकेषु योधाः अवस्थिताः । अनेन "मनसैव जगत्सृष्टिं संहारं च करोति यः । तस्यारिपक्षक्षपणे कियानुद्यमविस्तरः ॥" इत्यादि स्मार्तं वचः स्मारितम् ॥३२॥

एवं स्वस्यैवोत्पत्तिपालनकर्तृत्ववत्संहारकत्वमप्यस्तीति प्रथममभिहितं प्रकृतेऽपि तथैव चेत्किमर्थं मां युद्धेऽसकृत् प्रवर्तयसीति जिष्णोर्मनस्याशंका स्यात्तामपाकर्त्तुमभिधत्ते–तस्मादिति । तस्माद् यस्मादहमेव तन्निधनकर्त्ता न लेशतोऽपि तव श्रमस्तस्मात्त्वं युद्धायोत्तिष्ठ सर्वान् शत्रून् भीष्मद्रोणकर्णजयद्रथादीन् जित्वा रणे हत्वा धनञ्जयेनैकेनैवैते महाबलशालिनोऽपि भीष्मादयो हता इति यशो लभस्व विजितं धर्म्यं विविधर्द्धिसमन्वितं निष्कण्टकं राज्यञ्च भुंक्ष्व । शत्रुविजयस्य यशसि राज्यभोगे च कारणत्वम् । हे सव्यसाचिन् ! सव्येन वामहस्तेन सचितुं शीलमस्येति

द्रोणश्च भीष्मश्च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

नापि शरान् सचितुं शीलमस्येति सव्यसाची करद्वयप्रहार-
कुशलस्तत्सम्बुद्धौ हे सव्यसाचिन् त्वं निमित्तमात्रं भव ॥३३॥

यत्रार्जुनस्य स्वपराजयशंकायाः सम्भवस्तान्विशिष्टान् पर-
सैनिकमुख्यान् नामतो निर्दिश्यैते हता एवेति वदन् तदीयशङ्का-
मपाकरोति—द्रोणमिति । द्रोणं ब्राह्मणत्वाद्धनुर्वेदाचार्यत्वाद्
सव्यसाची दक्षिणकरप्रहारकुशलस्तु साधारणोऽपि शूरो जगति जागरूकः
किञ्चायं वामकरशरसचनशीलत्वाच्छरान्तरासाधारण्यं दधानोऽविशेषेण
करद्वयशरसचनशीलशालीतिभावः । तत्सम्बुद्धौ हे सव्यसाचिन् ! एते तव
शत्रवो मयैव पक्षपातादिदोषविशिष्टत्वेनापराधिन इति पूर्वमेव निहताः
शौर्यवीर्यादिराहित्यं सम्पाद्य मृत्युस्थानम्प्रापितास्त्वमिदानीं गुरु-
वधजनितपापनिर्दयत्वपराजयादिशंकाम्परिहृत्य निमित्तमात्रम्भव ॥३३॥

ननु युद्धादुपरतौ स्वधर्मत्यागः प्रवृत्तौ तु बन्धुनिधनजनिताधर्मः 'अव्य
वस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजयौ, इति नियमाज्जयपराजययोरनिश्चित-
त्वात् पक्षे पराजयभयमपोत्यादिविचारास्तु तिष्ठन्तु नाम किन्तु द्रोणाचार्यस्य
धनुर्वेदाचार्यत्वेन दिव्यास्त्रसम्पन्नत्वेन भीष्मस्य स्वच्छन्दमरणत्वेन वशी-
कृताऽस्त्रग्रामत्वेन जयद्रथस्य मत्पुत्रघातिनश्शिरः कन्धराया धरातलम्पति—
ष्यतीति तत्पितृगृहीतवरत्वेन कर्णस्य च मरुदर्पितैकपुरुषघातिन्य-
मोघशक्तिकत्वेन सर्वथा दुर्जयत्वात् कथं शत्रून् जित्वा यशोराज्यावाप्तिः
सुकरेत्यर्जुनाशंकामपाकरोति भगवान्—द्रोणमिति । द्रोणभीष्मकर्णजय-
द्रथान् यांस्त्वमतिदुर्जयान् मन्यसे तांस्तथाऽन्यानपि योधवीरान् कृपशल्या-

मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

दिव्यास्त्रसम्पन्नत्वाच्च तज्जये सन्देहसम्भवात्तदुपादानम् । एवं
भीष्मजयद्रथकर्णेषु स्वाच्छन्द्यमरणपितृवरग्रहणेन्द्रदत्तशक्ति-
शालित्वेन सन्देहसम्भवात्तन्नामोपादानम् । तथाऽन्यानपि
योधवीरान् कृपशल्याश्वत्थामादीन् यांस्त्वं दुर्जयान् मन्यसे
तान् मयैव कालकालेन हतांस्त्वं जहि । कथमेतान् हनिष्या-
मीति मा व्यथिष्ठा व्यथां मा कार्षीः सुखेन युध्यस्वानाया-
सेनैव सपत्नान् रणे जेतासि ॥३४॥

ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायां सञ्जय उवाच—
एतदिति । केशवस्य ब्रह्मेशानेश्वरस्य भक्तजनमनोरथपूरकस्य
स्वत्थामभूरिश्रवोविकर्णभगदत्तादीन् दुर्योधनपक्षीयान् मया कालात्मना
हतांस्त्वं जहि घातय । हतप्रायान् हनने कः श्रमस्तवेतिभावः । अतो मा
व्यथिष्ठास्तेभ्यो भयं मा कार्षीः । निर्विशंकं युध्यस्व । मदनुकम्पया रणे
सपत्नान् शत्रून् धार्तराष्ट्रानवश्यं जेतासि नास्त्यत्र सन्देहलेशः । भग-
वत्कृपयैवानन्यभक्तस्य दुष्करमपि कार्यं सुकरं भवतीत्यनेन ज्ञाप्यते ॥३४

भगवतः श्रीकृष्णस्य वचनश्रवणानन्तरमर्जुनः किं कृतवान् इति धृत-
राष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—एतदिति । केशवस्य ब्रह्मशिवादीनां निया-
मकस्य प्रणतार्तिविनाशकस्य भगवतः श्रीकृष्णस्यैतत्पूर्वोक्तं वचनं श्रुत्वा-

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

भगवत एतत्पूर्वोक्तं वचनं श्रुत्वा वेपमानः कम्पमानः किरीटी धनञ्जयः कृताञ्जलिः कृष्णं नमस्कृत्वा भीतभीतः सगद्गदं प्रणम्य भूय एवेदं वक्ष्यमाणं वचनमाह ॥३५॥

हे हृषीकेश ! सर्वेन्द्रियप्रेरक ! सर्वेश्वरत्वेनात्यद्भुतप्रभावशाली त्वमसीत्यतस्तव प्रकीर्त्या सर्वं जगत्प्रहर्षमाप्नोति

वेपमानः कम्पमानः किरीटी धनञ्जयः कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तो नमस्कृत्वा सगद्गदं हर्षाश्रुपूर्णनयनत्वे सत्युद्रिक्तानुरागेण श्लेष्मव्याप्तकण्ठावरोधगद्गदया विलक्षणस्थूलस्वरविशिष्टया वाण्या सह वर्तत इति सगद्गदं यथा स्यात्तथा भीतभीतः पुनःपुनर्भयव्याप्तान्तःकरणः प्रणम्य क्षितितलं मूर्ध्ना संस्पृश्य भूय एव श्रीकृष्णम्प्रति इदमाह । अत्र भगवतो भूयो भूयः प्रणतिभिरेव किरीटकान्तिः कमनीयतामावहतीति सूचयितुं किरीटीति पदमुक्तम् ॥३५॥

हे हृषीकेश ! सर्वेन्द्रियाद्यधिष्ठातः । तवापरिमिताद्भुताश्चर्यशालिनः प्रकीर्त्या कीर्तनेन श्रवणेन चाखिलं जगत्प्रहृष्यति प्रकर्षेण हर्षम्प्राप्नोति न त्वेक एवाहं तथाऽनुरज्यतेऽपि सर्वं जगदनुरक्तिमुपैति । इत्येतत्स्थाने युक्तमेव । न चात्र किमप्ययुक्तं योग्यताया अधिकं वेति भावः । स्थान इति सप्तमीप्रतिरूपकमव्ययं योग्यार्थकम् । रक्षांसि रक्षो-

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

तव निरतिशयदिव्यकल्याणगुणविशिष्टस्वरूपमवगत्यानुरक्तिमाप्नोतीत्येतत्स्थाने युक्तमेव तवैतादृशप्रभावः स्वरूपश्च । एवं रक्षांसि जगदनिष्टकारीणि सत्वानि भीतानि भयोपेतानि भूत्वा दिशो द्रवन्ति दिक्षु धावन्ति । एतदपि स्थाने युक्तमेव । तथा सर्वे सिद्धानां कपिलपिप्पलादादीनां संघा नमस्यन्ति यत्तदपि युक्तमेव । अनन्ताद्भुतवतस्तवैतादृशमेव सामर्थ्यमिति भावः ॥३६॥

युक्तत्वमेवोपपादयति–कस्मादिति । हे महात्मन् ! ते तुभ्यं पूर्वोक्ता देवर्षिसिद्धाः कस्माच्च न नमेरन् ? ब्रह्मणश्चतुर्मुखादेरपि गरीयसे सर्वप्रकारेण श्रेयोगुणेन गुरुतमाय तथादिकर्त्रे हिरण्यगर्भादेरपिजनकाय । हे अनन्त ! हे देवेश

गणाः भीतानि भयाक्रान्ताः सन्तः दिशो द्रवन्ति दशदिक्षु पलायनपरा भवन्ति सर्वे सिद्धसंघाः कपिलपिप्पलादासुरिप्रभृतयश्च नमस्यन्ति साश्चर्याः नमस्यां विदधते । इदमपि युक्तमेव । सर्वलोकगुरुत्वात् त्वयि सर्वं युक्तमेवेति भावः ॥३६॥

भगवति सर्वदेवनमस्कारयोग्यतामुपपादयति–कस्मादिति । हे महात्मन् ? ते तुभ्यं देवर्षिसिद्धाः कस्मात्तु हेतोर्न नमेरन् । चस्त्वर्थः । सर्वथा त्वमेवैकः सर्वेषां नमनयोग्योऽसीति भावः । तत्र हेतून्निर्दिशति ।

अनन्तदेवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-

हे जगन्निवास! यतस्त्वमेवाक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञपदवाच्यं वस्तु त्वमेव । सदसन्नामरूपविभागार्हानर्हरूपदशाद्वयमापन्न-मचित्पदवाच्यं वस्त्वपि त्वमेवासि । तथैवाक्षरसदसत्पदाभि-धेयजीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणस्ताभ्यां यत्परं तत्वं तयोरन्त-र्नियमनकर्त्ता तयोरपि कारणं त्वमेव ॥३७॥

त्वमेवादिदेवोऽसि त्वत्तोऽन्ये ब्रह्मरुद्रेन्द्रादयो देवास्त्वच्छ-गरीयसे दिव्यानन्तकल्याणगुणगणैर्जुष्टस्त्वमेव सर्वेभ्यो गरीयानसि तस्मै तथा ब्रह्मणो हिरण्ययगर्भस्याप्यादिकर्त्रे सर्वचराचरस्यादिभूतस्य हिर-ण्यगर्भस्यापि जनकस्तस्मै भवते कथमिमे नमनं न कुर्यु-रित्यर्थः। किञ्च हे अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! 'अनन्तश्चात्मा यो देवानामधिपो यस्मिल्लोका अधिश्रिताः' इत्यादिश्रुतेरानन्त्यात् सर्वदेवाधि-पत्वात् सर्वलोकाधारत्वाच्च त्वमेव नमस्कार्यः । अक्षरं, 'एतस्यैवक्षरस्य प्रशासने गार्गि ।' (बृ०) इत्यत्राक्षरपदेन परमात्माऽभिधीयते । अत्र तु न क्षरतीत्यक्षरमितिव्युत्पत्त्या प्रकरणाच्च त्रिविधो जीववर्गोऽभि-धीयते । तथाविधमक्षरमपि त्वमेव सदसत् कार्यकारणोभयावस्थं व्याकृताव्याकृतपदाभ्यां बोधितमचित्तत्त्वमपि त्वमेव तथा तत्परम् तयो-रक्षरसदसतोः परं तन्नियामकतयावस्थितं यत्तत्त्वमस्ति तदपि त्वमे-वासीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः हिरण्यगर्भादेरपि जनकत्वात् पुरुषः पुरि शयनात् 'य

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यश्च परश्च धाम

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोग्निर्वरुणः शशाङ्कः

प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

रीरभूतास्त्वदुपादानकाः पुराणः पुरुषस्त्वमेव । ततस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानमाधारभूतम् । वेत्ता वेद्यश्च त्वमेव परमधाम 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यमपि त्वमेव । किम्ब-हुना हे अनन्तरूप त्वयेदं विश्वं ततं व्याप्तमतस्त्वमेव सर्वव्या-पकोऽसि । 'जगत् सर्वं शरीरं ते' इत्यादिप्रामाण्यात् ॥३८॥

वाय्वादिरूपस्त्वमेवेत्याह—वायुरिति। वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कश्चन्द्रस्त्वमेव । प्रजानाम्पतयः कर्दमदक्षादयस्त्वमेव। प्रपिता एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः, 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (पु.सू.२) इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यस्त्वमेव पुराणश्चिरन्तनस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं विश्वाधारभूतं वेत्तासि सर्वदा सर्वविषयकज्ञानवानसि वेद्यं सदाऽवहितचेतसा वेदनीयमपि त्वमेव परं धाम यद्गत्वा न निवर्तन्ते तत्परमं धाम च हे अनन्तरूप ! सर्वश-रीरक ! इदं विश्वमेकेन त्वयैव ततं व्याप्तं सर्वव्यापकोऽसि । अत-स्त्वमेव सर्वनमस्कार्य इति भावः ॥ ३८ ॥

अनन्तरूपतां दिदर्शयिषुर्वाय्वादिपदवाच्यत्वेनापि स्तौति । वायु-रिति । वायुर्यमोग्निर्वरुणश्शशाङ्कः क्षपानाथोऽपि त्वमेव । एतैः शब्दै-स्त्वमेवाभिधीयसे । तथा च श्रुतिः 'इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

नमो नमस्तेस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते

नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

महश्च पितामहस्य ब्रह्मणोऽपि पिताऽतः प्रपितामहस्त्वमेव 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' इत्यादिश्रुतेः । अतस्ते सहस्रकृत्वः सहस्रवारं नमो नमोऽस्तु पुनश्च भूयोऽपि ते तुभ्यं नमो नमोस्तु ॥३९॥

सर्वतो विलक्षणं सर्वस्वरूपञ्च परमात्मानं दिव्यचक्षुषा पश्यन् भक्त्युद्रेकाज्जातहर्षो विशिष्टरूपेण सर्वेति सम्बोध्य सर्वतो

सुपर्णोगरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ इति ब्राह्मणे । एभिः शब्दैः सामानाधिकरण्यमभिधीयते । प्रजापतिः प्रजानाम्पतयः कर्दमकश्यपदक्षादयस्त्वमेव प्रपितामहश्च, प्रजानाम्पितरः कर्दमादयस्तेषा पिता हिरण्यगर्भः पितामहस्तस्यापि पिता त्वमस्यतः प्रजानाम्प्रपितामहोऽसि 'यो ब्रह्माणं विदधात्ति पूर्वं; (श्वे०) इत्यादि-श्रुतयोऽत्र मानम् । अतस्सहस्रकृत्वस्ते नमो नमोऽस्तु । प्रेमोद्रेकात्पुनरपि नमति पुनश्च भूयोऽपि ते तुभ्यं नमो नमः । ॥ ३९ ॥

विश्वरूपदर्शनेन 'युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्' इत्यादि परमप्रसादविशिष्टभगवाद्वाक्यश्रवणेन च परमप्रीतोऽर्जुनो भक्त्युद्रेकाद् भूयोभूयः प्रणतिपुरस्सरं स्तौति—नम इति । ते तुभ्यं पुरस्तादग्रतो नमोऽस्तु पृष्ठतश्च नमोऽस्तु सर्वतश्चैव हे सर्व ! सर्वशरीरक । सर्वान्तर्यामिन् । 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न

अनन्त वीर्यामितविक्रमस्त्वं

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेमं

मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

नमस्करोति—नम इति । पूर्वार्धे सर्व इति सम्बोधनं कृतं तत्समर्थयति सर्वं समाप्नोषीति । सर्वपदवाच्येषु शरीरेषु शरीरितयाऽऽत्मतया व्याप्नोषीत्यतः सर्वस्त्वमसीत्यर्थः ॥४०॥

प्रणतिगर्भितस्तुतिं विधायेदानीं स्वापराधं क्षमापयति—सखेति। सखेति मत्वा मम वयस्य इति मत्वा मया प्रसभमविनयेन धार्ष्ट्येन वा कथितम् । प्रमादात् प्रणयेन स्नेहेन वा सत्कारहीनमिति यावत् । हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इत्येवं-

विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् (बृ ३।७।१५) अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्ववस्तुजातं समाप्नोषि तस्मात् सर्वपदवाच्योसि । अतोऽनन्तरूपता तव न विहन्यते । सर्वात्मकोऽपि सर्वस्वरूप इति भावः ॥ ४० ॥

एवं मुहुर्मुहुः । प्रणम्य संस्तुत्य चाज्ञानप्रमादादिभिर्जनितान् प्राक्तनान् स्वापराधान् क्षमापयितुं करुणावरुणालयं प्रणतकल्पपादपं भगवन्तं प्रार्थयते—सखेति द्वाभ्याम् । तवाखिलकल्याणगुणधाम्नः परमेश्वरस्येममनन्तरूपत्वसर्वान्तर्यामित्वजगत्स्रष्टृत्वापरिमितवीर्यपराक्रमत्वसमस्तसुरमुनिसिद्धदनुजमनुजनागखगजगद्वन्द्यपादारविन्दत्वादिरूपम—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥। ४२ ॥

प्रकारेण यदुक्तं सम्बोधनं कृतम् । सखेति सन्धिस्त्वार्षत्वात् । तत्तवेमं महिमानमजानतैव । किञ्च विहारशय्यासनभोजनेषु कार्येष्ववहासार्थं परिहासायैवासत्कृतोऽसि । एकान्तेऽथवा तेषां सखीनां समक्षमुक्तप्रकारेण किमप्यविनीतवदनुष्ठितं स्यात्तदहं त्वामप्रमेयं क्षामये क्षमापयामि ॥४१॥४२॥

हिमानमजानता मया सखेति ममायं प्रियवयस्यः स्निग्धसुहृन्मातुलेय इति मत्वा प्रमादान्मोहात् प्रणयेन प्रेम्णा वापि प्रसभं स्वाभिमानजनिताविवेकप्रयुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखे इत्येवंरूपं यदुक्तं तत्सर्वं क्षामय इत्युत्तरेण सम्बन्धः । हे सखेतिसन्धिस्त्वार्षत्वात् । एवं वाचानुष्ठितं स्वापराधं क्षमापयित्वा कायबुद्धिकर्मकृतमपि क्षमापयतियदिति । किञ्च यच्च विहारेषु प्रवृत्तासु क्रीडासु शय्यासु शयनेष्वासनेषु पाण्डुकम्बलाद्यास्तृतसिंहासनादिषु भोजनेषु भोजनावसरेऽन्नरसादिभोज्यभक्ष्यलेह्यचोष्यादिपदार्थानां ग्रहणाशनस्थापनेषु त्वमेको रहसि स्थितावथवा तत्समक्षं सखिपरिजनपरिवृतावहासार्थं प्रचलत्-परिहासायापि त्वमसत्कृतोऽसि हे अच्युत तदखिलमपराधजातं त्वामप्रमेयमतर्क्यशक्तिसमन्वितं क्षामये ॥ ४१ ॥ ४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥ ४३ ॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं

हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वमेवास्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकोऽसि पूज्यश्चासि गरीयान् परमपूज्यो गुरुरसि सर्वलोकस्य सर्वविधनिरुपाधिकाराध्योऽसि लोकत्रयेऽपि त्वत्समोऽन्यो नास्त्यभ्यधिकस्तु कुत एव ? ॥ ४३ ॥।

इदानीं स्वात्मसमर्पणरूपां प्रपत्तिमाश्रित्य स्वापराधान्

नन्वेवमपराधक्षमापणे मामेव कथं प्रार्थयसे मदतिरिक्तं लोके कमप्यन्विष्य तच्छरणमुपयाहीत्यत्राह—पितेति । प्रतिमीयतेऽनयेति प्रतिमा, प्रतिमा सादृश्यं नास्ति यस्य सोऽप्रतिमस्तादृशः प्रभावः सामर्थ्यं भगवत्त्वं यस्यासौ तत्सम्बुद्धौ हे अप्रतिमप्रभाव ! भगवन् ! त्वमस्य चराचरस्य लोकस्य पितासि सर्वलोकानामुत्पादकत्वेन जनकोऽसि पूज्यो गुरुश्चासि तथाऽस्य लोकस्य गरीयान् परमाराध्योऽसि । भगवत एव पितृपूज्यगुरुगरीयस्सु हेतुमाह—नेत्युत्तरार्धेन । लोकत्रयेऽपि त्वत्समोऽन्यो न विद्यतेऽन्यपदवाच्यानां चतुर्मुखत्र्यम्बकप्रमुखानां देवानां कर्मपारवश्याद् भगवत्साम्यं न शक्यते वक्तुम् । एवं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेज आदि दिव्यगुणानां त्वयि परस्मिन् भूम्न्येव निरतिशयोऽस्ति । अन्यत्र त्वेते गुणाः सातिशयतां भजन्त इत्यतस्त्वत्तोधिकोऽपि कोऽपि नास्तीत्याह-अभ्यधिकः कुतोऽन्यस्तस्मात्त्वमेवाश्रयणीयः शरण्यो मम सर्वलोकस्य च ॥४३॥

प्रसादये त्वामहमीशमीडचम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

क्षमापयति–तस्मादिति। यस्मात्त्वमस्य चराचरात्मकस्य लोकस्य पितासि तस्मात्त्वां सर्वेश्वरमीशमीडचमहं कायं प्रणिधाय प्रणम्य प्रसादये । मनोवचःकर्मभिः प्रपत्तिरत्रादृता । हे देव ! पुत्रस्यापराधयुक्तस्यापि स्वतनयस्य यथा तज्जनको यथा वा सख्युः प्रियवयस्यस्यापराधयुक्तस्यापि तत्प्रियसखा सोढुमर्हति तथैव त्वं प्रियोऽसि। अतः मह्यं प्रियाय सर्वमपराधजातं सोढुमर्हसि ॥ ४४ ॥

एवं सर्वलोकपितरं सर्वेश्वरं भगवन्तं सर्वप्रकारण प्रपद्य हृधं स्वहार्दमभिदधद् भूयोऽप्यपराधान् क्षमापयति–तस्मादिति । तस्माद् यस्मात् त्वं सर्वलोकस्य पिता पूज्यो गुरुरसि निरस्तसाम्यश्चासि तस्मात् त्वामीशं सर्वलोकाधिपतिमीडचं स्तवनार्हं कायं स्वदेहं भूमौ प्रणिधाय प्रकर्षेण स्थापयित्वा "निधाय दण्डवद्देहं प्रसार्य चरणौ करौ। बद्ध्वामुकुलवत्पाणी प्रणामो दण्डसंज्ञितः" इति साण्डिल्यस्मृत्यनुसारेणायं दण्डवत् प्रणामः स्वात्मनिवेदनपरोऽस्ति। एतच्चोक्तमीश्वरसंहितायाम्–'नमस्कारात्मकं यस्मै विधायात्मनिवेदनम् । मुक्तदुःखोऽखिलान् कामानश्नुते तन्नमाम्यहम् ॥ इति । एवमत्र दण्डवत्प्रणम्य प्रसादये । प्रणामज्ञापितात्मनिवेदनरूपां प्रपत्तिमङ्गीकृत्य भूयोऽपराधान् क्षमापयति–हे देव ! पितेव पुत्रस्येति दृष्टान्तत्रयस्योपादानमपराधक्षमापणे दार्ढ्यं द्योतयति । पितापुत्रयोर्जन्यजनकभाव-

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

एवं क्षमां सम्प्रार्थ्य स्वाभिलषितस्य प्रियरूपस्य दिदृक्षामुद्भावयति–अदृष्टपूर्वमिति द्वाभ्याम् । हे देव ! पूर्वं कदाप्यदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि । अदृष्टपूर्वत्वादेव मे मनो भयेन प्रव्यथितम् । अतस्तदेव यत्रेदं विराड्रूपं त्वया प्रदर्शितं तदेव प्रधानरूपं मे दर्शय । देवानामीश हे जगन्निवास मे मह्यं प्रसीद ॥ ४५ ॥

सम्बन्धात्तत्रापराधक्षमणमावश्यकं न ह्यत्र तव मम च तथा साक्षात्सम्बन्धोऽस्ति कथमहं तान् क्षमयामीत्यत आह–सखेव सख्युः । सख्यसम्बन्धस्यापि परस्परसापेक्षत्वेनैकस्मिन् तथाविधं नियन्त्रणं नास्तीत्यतः प्रियः प्रियाया इति तृतीयदृष्टान्तोपादानम् । यथा प्रियः स्वतन्त्रः कान्तः प्रियायाः पतिपरतन्त्रायाः प्रेयस्या अपराधान् क्षमते तथैव भवान् स्वतन्त्रः सर्वशेषी, मम प्राणाधिकः प्रियोऽसि । अहन्तु त्वदाज्ञापरिपालकस्त्वत्परतंत्रस्सर्वथा नियाम्यस्त्वदेकजीवनोऽस्म्यतो मेऽपराधान् सोढुमर्हसि ॥४४॥

अथ भयाकुलमनाः पार्थः पूर्वरूपं दिदृक्षुः सन् भगवन्तं प्रार्थयति––अदृष्टपूर्वमिति । हे देव ! अदृष्टपूर्वं पुरा कदाचिदप्यनवलोकितं विश्वरूपं दृष्ट्वाऽवलोक्य हृषितो हर्षमवाप्तोऽस्मि । भयेन मे मम मनश्च प्रव्यथितं व्यथामापन्नं । तद्यत्रेदं रूपं प्रदर्शितं तदेव

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।

तदेवरूपमित्यस्य स्पष्टीकरणमाह—किरीटिनमिति। किरीटिनं किरीटयुक्तं गदिनं गदावन्तं तथा चक्रहस्तं चक्रधारिणं त्वामहं तथैव द्रष्टुमिच्छामि । अतो हे विश्वमूर्ते ! हे सहस्रबाहो ! वर्तमानकालिकरूपविशिष्टस्य सम्बोधने एते । तेनैव पूर्वपरिचितेन चतुर्भुजेन रूपेण भव । वासुदेवरूपेण तथैव पूर्वदृष्टवत् स्वरूपं प्रकटयेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

एवमर्जुनेन प्रार्थितः श्रीभगवानुवाच—मयेति । हे अर्जुन !

मुख्यं रूपं मे मह्यं दर्शय । हे देवेश ! हे सर्वदेवेश्वर ! हे जगन्निवास ! मे मह्यं प्रसीद प्रसादं कुरु ॥ ४५ ॥

यादृक् तद्रूपं तदाह—किरीटिनमिति । किरीटिनं किरीटालंकृतं गदिनं गदाधारकं चक्रहस्तं चक्रपाणिं त्वामहं द्रष्टुं वीक्षितुमिच्छामि, हे विश्वमूर्ते ! हे सर्वशरीर ! हे सहस्रबाहो ! हे सहस्रभुज ! तेनैव प्राक्तनेन चतुर्भुजेन चतुर्बाहुणा रूपेण विशिष्टो भव ॥ ४६ ॥

एवमर्जुनस्य वन्दनस्तुतिप्रार्थनाभिः प्रसन्नः सर्वेश्वरः श्रीभगवानुवाच—मयेति । हे अर्जुन ! एतद्रूपविशिष्टं मां दृष्ट्वा भयं मा

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

मा भैषीर्यतः प्रसन्नेन मयाऽऽत्मयोगात् स्वकीयदिव्यसामर्थ्यादिदं परमुत्कृष्टं रूपं दर्शितम् । रूपे च परत्वं यादृशमासीत्तदपि स्वयमेव कथयति । तेजोमयं तेजसां राशिं विश्वं सर्वविश्वस्याधारभूतमाद्यन्तरहितमप्याद्यं सर्वेषामादिभूतं यद्रूपं मम त्वदन्येन केनापि पूर्वं न दृष्टम् ॥ ४७ ॥

हे कुरुप्रवीर ! एवंरूपो यथा त्वयाधुना दृग्गोचरीकृतोऽहं तथाऽस्मिन् नृलोके जगतीतले त्वदन्येन मद्भक्तेन मय्यात्मनिकार्षीर्यतो प्रसन्नेन मयात्मयोगात् स्वकीयदिव्यगुणयोगात् परं सर्वोत्कृष्टमिदं विश्वात्मकं विराट्संज्ञकं रूपं दर्शितम् । परत्वं विवृणोति—तेजोमयमिति । तेजसां निधानं विश्वं विश्वात्मकमनन्तमन्तेत्युपलक्षणमादिमध्ययोरपि तथा चादिमध्यान्तरहितमाद्यमखिलजगतामादिकारणं यद्रूपं मे त्वद्व्यतिरिक्तेन केनापि पूर्वं नैव दृष्टं तादृशं दिव्यरूपं मया त्वद्भक्तिपारवश्येन तुभ्यमेव प्रेम्णा दर्शितमिति भावः ॥४७॥

नन्वदृष्टपूर्वमपि रूपमिदं मदन्येनापि त्वद्भक्तेन त्ववश्यमेव दृष्टपूर्वम्भवेदित्याशंकायामाह—नेति । हे कुरुप्रवीर ! एवं रूपो विलक्षणाप्राकृतविश्वात्मरूपोऽहं त्वदनन्यभक्त्या त्वन्नयनविषयतां गतो यथा तथा नृलोके मर्त्यलोके त्वदन्येन साधारणभक्तियुक्तेनापि

एवं रूपश्शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।

वेदनभक्तिरहितेन केनापि वेदयज्ञाध्ययनैर्वेदाक्षरराशिग्रहणैर्यज्ञकर्मप्रतिपादकाध्वरमीमांसाद्यध्ययनैर्दानैर्गोभूमिहिरण्यादीनां सुपात्रे त्यागैः क्रियाभिरश्वमेधान्तकर्मभिरुग्रैस्तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिश्च द्रष्टुं न शक्यः । सन्ध्यभावस्त्वार्षः ॥४८॥

प्राङ् मम विश्वरूपदर्शनेन तव व्यथा भयश्चाभूतां तयोरधुनाऽपगमो भवत्वित्याह–मेति । ममेदमीदृग्घोररूपं दृष्ट्वा ते

परन्तु मय्यात्मनिवेदनलक्षणविलक्षणपरभक्तिरहितेन केनापि वेदाध्ययनैर्ऋग्यजुःसाम्नां गुरोः सकाशादक्षरराशिग्रहणैर्यज्ञाध्ययनैरत्र यज्ञशब्दो यज्ञानुष्ठानबोधकग्रन्थपरोऽतो यज्ञकर्मप्रतिपादकमीमांसादिशास्त्राध्ययनैर्दानैर्गोवान्नादिप्रदानैः क्रियाभिर्यागहोमजपादिकर्मभिरुग्रैस्तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणानशनादिदेहशोषकैश्च विविधसाधनैरपि न द्रष्टुं शक्यः । तथा च श्रुतिः 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (मु.३।२।३) नन्वेवं तर्हि पार्थेनापि न द्रष्टुं शक्य इति वाच्यम् । प्रकृतश्रुतिरेवोत्तरार्धेन' यमेवैष वृणुते स तेनलभ्यः, एवं च 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य, इत्युत्तरवाक्येऽनन्ययेति विशेषणं संगच्छते । प्रोदीरितसाधनैरेव न द्रष्टुं शक्यः परभक्तिविशिष्टैस्तु शक्य एवेति तत्त्वम् ॥४८॥

मदीयविराड्रूपदर्शनेन ते मनसि महान् खेदः समजनि स चेदानी

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदम्प्रपश्य ॥४९॥

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

व्यथा पीडा तथा च विमूढभावो वैचित्त्यं माऽभूत् । इदानीं त्वं व्यपेतभीर्भयरहितः प्रीतमनाः सन्निदं तदेव पूर्वमसकृदनुभूतं मे रूपं पुनर्भूयोऽपि प्रपश्य ॥४९॥

पुनरेतद्वृत्तं धृतराष्ट्रम्प्रति सञ्जय उवाच–इतीति । वासुदेवो भगवानर्जुनमिति कथितप्रकारेणोक्त्वा तथा यथार्जुनेन प्रागभ्यस्तं तथा स्वकं रूपं चतुर्भुजं शंखचक्रगदापद्मायुधं कि–

विनश्यत्वित्यभिधत्ते–मेति । मम सर्वेशितुरिदमनुपदं प्रदर्श्यमानं घोरं भयङ्करं रूपं दृष्ट्वा ते मनसि व्यथा मा भूद् विमूढभावश्चित्तवैक्लव्यश्च माभूद् विश्वरूपदर्शनेन मानसी व्यथा मनोवैयग्र्यञ्चास्तां तयोर्विनाशो भवत्वित्यर्थः । अथेदानीं व्यपेतभीर्निर्भयः प्रीतमना नैसर्गिकप्रेमान्तःकरणः सन्निदं मे मदीयं तदेवाखिलजगल्ललामलावण्यालंकृतं निखिलमाधुर्यनिधानं रूपं पुनस्त्वं मदेकचित्तोऽनन्यभक्तः प्रपश्य ॥ ४९ ॥

भगवानेवमभिधाय प्रियतमायार्जुनायाश्वासयितुं प्राक्तनमेव रूपमुपदर्शितवानिति वृत्तं धृतराष्ट्रम्प्रति सञ्जय उवाच– इतीति । वासुदेवो वसतीति वासुः 'बाहुलकादुण्, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः 'सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः । ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते, इति पुराणरत्नवचनाद् वासुदेवः परमपुरुषोऽर्जुनमित्युक्त-

आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

रीटकुंडलवनमालालंकृतं श्रीवत्साङ्ककौस्तुभमण्डितं भूयोदर्शयामास पुनश्च सौम्यपुर्भूत्वाऽसौ महात्मा दिव्यगुणगणार्णवो भीतमेनमर्जुनमतिवात्सल्येनाश्वासयामास ॥५०॥

प्रकारेणोक्त्वा तथा यथार्जुनेनेदानीं 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो! भवे'त्यादिवाक्येन प्रार्थितं तथा स्वरूपपरिचायकं स्वकं रूपमेकवक्त्रं चतुर्भुजं शंखचक्रगदापद्मायुधं भूयो दर्शयामास। एवमनन्यसाधारणं चतुर्भुजरूपम्प्रदर्श्य पूर्ववद्विश्वासमुत्पाद्याथ तमाश्वासयितुकामोऽयं महात्मा दिव्यैश्वर्यशक्त्याद्यपरिमितगुणगणः पुनः सौम्यवपुर्वसुदेवसूनुः कृष्णावतारे यादृशं वपुरभिमतं तादृशं वपुर्विधाय विश्वरूपावलोकनेन भीतम्भयाविष्टमेनमर्जुनमाश्वासयामास। अत्रेदं विचार्यते। स्वकीयं रूपमत्र किं कीदृशमर्जुनाय दर्शितम्। यदनुपदं सहस्रबाह्वादिविशिष्टं विश्वरूपं प्रादर्शि तदपि स्वकीयमेव रूपं, यच्च 'किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामित्वां द्रष्टुमहं तथैव। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते। (गी ११।४६) इति पूर्वपरिचितमपि रूपं दर्शनाय प्रार्थितं तदपि भगवतः स्वकीयमेवरूपं यत्पुनरधुना सारथ्येऽवस्थितस्य द्विभुजं सौम्यरूपं यस्य च निर्देशोऽत्रैवोत्तरार्धेन 'आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मे'त्यनेन क्रियते। एषु कतमद्रूपं दर्शयामासेति विशयस्तत्रेत्थमभिधीयते। परवासुदेवो भगवाञ्जगद्रक्षायै स्वेच्छया द्वीपाद्द्वीपान्तरवद्वासुदेवस्वरूपेणावतरति। एतच्चोक्तं पञ्चरात्रीयपाद्मबृहद्ब्रह्मसंहितादिषु

वासुदेवात्ततो जातो वासुदेवाह्वयः परः। एकवक्त्रचतुर्हस्तश्चक्राद्यायुधभूषितः। स्थित्यै चक्रं सरसिजं दधानः सृष्टये पुनः। मुक्तये पांचजन्यञ्च गदां संहृतये तथा। श्रीवत्सकौस्तुभोरस्को वनमालाविराजितः। मयूरवर्णवच्छ्यामः पीतनैसर्गिकोऽम्बरः। स वासुदेवो भगवान् सृष्टिस्थित्यन्तमुक्तिदः। एतद्रूपं जगन्मर्यादास्थापनाय प्रकटीकृतमित्यस्मिन्नेव स्वरूपेऽर्जुनस्य श्रद्धातिशयो दृश्यते। अत एव स्वयं तेनोक्तं—किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते (गी ११-४६) इति। एतद्वासुदेवाख्यं स्वस्य दिव्यं रूपं स एव परमपुरुषो दर्शयितुं शक्नोति नेतरः कोऽपीति सिद्धान्तः। एतद्रूपस्यापि निदानं परवासुदेवाख्यं परमं तत्वंम् तत्रैवोक्तम्। द्विहस्तमेकवक्त्रंञ्च शुद्धस्फटिकसन्निभम्। सहस्रांविवह्नीन्दुलक्षकोटिसमप्रभम्॥ मरीचिचक्रमध्यस्थं चक्राद्यायुधलाञ्छितम्। श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं वनमालाविराजितम्। किरीटहारकेयूरमञ्जीरपरिशोभितम्। पीताम्बरधरंसौम्यरूपमाद्यमनामयम्॥ स वासुदेवो विज्ञेयः सृज्यं सर्वं चतुर्मुखात्। ध्येयश्च योगिभिर्नित्यं हृत्पद्मान्तरविष्टरे॥ पश्यन्ति सूरयः पश्चात् तद्विष्णोः परमं पदम्। इदमेव च परस्य पुंसः सार्वदिकं स्वाभाविकं रूपम्। अत एवोक्तवाक्ये पीताम्बरधरं सौम्यरूपमाद्यमनामयमित्युक्तिः संगच्छते। एतद्द्विभुजात्मकरूपस्यैव परत्वमुपास्यत्वञ्च शास्त्रकृद्भिर्विनिश्चितम्। तथा च कृष्णयजुर्वेदीयपुरुषसूक्ते 'मुखं किमस्यासीत् किं बाहू' 'बाहू राजन्यः कृतः, इति वाक्याभ्यां 'दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पद्या द्वावूरू द्वौ बाहू आत्मैव पञ्चविंश, इत्यैतरेयवाक्यात्

'पाणिभ्यां त्रयीं सम्भरन्ती' इत्यादिरहस्याम्नायेन चैतत्सिध्यति । पाञ्चरात्रीयपौष्करसंहितायां–'द्विभुजं पुरुषाकारं युक्तमादित्यसन्निभैः । ध्वजैराभरणैश्चिह्नैश्शंखचक्रादिसंज्ञितै, रिति । सौमन्तवेपि–'निरस्त्रा द्विभुजा सौम्या शङ्खचक्रकराङ्किता । महापुरुषरूपा च सुप्रसन्ना विलक्षणा, इति । भारद्वाजसंहितायामपि–द्विबाहोश्चक्रधृत्पाणिर्दक्षिणश्शंखधृत्परः । उपविष्टन्तु मोक्षार्थी उत्थितं विश्वसिद्धये, इति । संकर्षणसंहितायामपि–'पुरुषोत्तमदेवस्य शुद्धस्य स्फटिकत्विषः । समपादस्य पद्मोर्ध्वे ह्येकवक्त्रस्य संस्थितिः । वरदाभयहस्तौ द्वावप्रवृत्ताख्यकर्मणः, एवमाद्यनेकसंहितावचनैरन्यागमपुराणवचनैश्चास्य द्विभुजरूपस्यैव ध्येयत्वं स्थिरीकृतम् । उक्तपाद्मसंहितायान्तु स्पष्टमेव स्वकण्ठरवेणोक्तम् । अत एवानन्दसंहितायां द्विभुजस्यैव परत्वं स्थापितम्–'स्थूलञ्चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम् । परञ्च द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्' इति । सुन्दरीतन्त्रे तु भगवतो द्विभुजरूपस्यैव परत्वेन तत एव सृष्टिप्रवृत्तिरित्यप्यभिहितम् द्विभुजाद्राघवान्नित्यात् सर्वमेतत् प्रवर्तत इति ।' एवं च चतुर्भुजाष्टभुजत्वाद्युक्तिर्भगवतः परात्परस्यावतारपरत्वेन नेया । प्रकृते च 'आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मे'त्यत्र सौम्यवपुरिति शब्देन तदेवाभिप्रेतरूपस्योक्तिरिति रहस्यविदः । एवं सति, दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन इत्युत्तरश्लोकोक्तं सौम्यं रूपमित्येतत्पदद्वयमपि संगच्छते । तथा च परावरज्ञैर्मुनिभिरनेनैव शब्देन सर्वत्रोल्लेखः कृतः । पाद्मसंहितायां–'पीताम्बरधरं सौम्यरूपमाद्यमनामयम्, प्रकृतश्लोके गीतायां 'भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा' तथा तत्रैवोत्तरश्लोके–'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

सौम्यरूपं दृष्ट्वा स्वस्थोर्जुन उवाच–दृष्ट्वेति । हे जनार्दन ! समस्तसुषमानिधानं सर्वजनमनोहरं दर्शनीयसर्वावयवपूर्णं तव

जनार्दन' इत्येवमादिषु तेनैव शब्देनाभिहितम् । मानुषं रूपम्, मनुष्याकृतिवदप्राकृताकृतिविशिष्टं दृष्ट्वैवार्जुनः सचेताः प्रकृतिं गतश्च संवृत्तः । न हि मनुष्येषु चतुर्भुजत्वादिकं क्वचिद्दृष्टचरं न वा षडंगुलिकं त्रिभुजं चतुर्भुजं मनुष्यं कश्चित् सौम्यरूपं ब्रूते । तस्माद्भगवता स्वावतारेषु केषुचिदसाधारण्याय भक्तपरिचयाय च चतुर्भुजरूपमास्थीयत इति निश्चीयते । सर्वावतारबीजमाद्यन्तु 'द्विहस्तमेकवक्त्रं चेत्याद्यागमानुसारेण सौम्यरूपमेवेति बोध्यम्, अत एव साक्षात्परावतारस्वरूपश्रीरामावतारे द्विभुजत्वादिविशिष्टं तदेव सौम्यरूपमाविष्कृतम् । तथा चेदमत्र तात्पर्यं ग्रन्थस्वारस्यान्निष्पद्यते । सहस्रबाह्वादिविशिष्टविश्वरूपदर्शनेन खिन्नोऽर्जुनः स एवायं भगवान्न वेतिसन्दिहानः पूर्वपरिचितं भगवतश्चतुर्भुजं रूपं दिदृक्षुस्तेनैव रूपेण चतुर्भुजेनेत्यादिना तद्रूपदिदृक्षाविष्कृता । भगवानपि तदेव स्वावतारस्वरूपं जगद्रक्षाऽनन्यप्रयोजनकमसकृदर्जुनेन साक्षात्कृतमेव भूयः प्रादर्शयत् । एवं श्रद्धाविश्वासावुत्पाद्य पुनः सौम्यवपुर्द्विहस्तमेकवक्त्रञ्च शुद्धस्फटिकसन्निभमित्यादिप्रागुक्तरूपमास्थाय तमाश्वासयामासेति ॥ ५० ॥

भगवत आश्वासनमवगम्य सौम्यरूपञ्चावलोक्य सन्तुष्टोऽर्जुन उवाच–दृष्ट्वेति । मानुषं मनुष्याकृतिवदेवाप्राकृताकृतिविशिष्टम् । शिष्टं

इदानीमस्मि संवृत्तस्सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

मनुष्यावयवाकृतिवदतिरमणीयमिदमप्राकृतं मानुषं सौम्यं रूपं दृष्ट्वेदानीं सचेताः संवृत्तः परां निर्वृत्तिमापन्नः प्रकृतिं गतश्चास्मि ॥५१॥

मम सर्वेशितुरिदं सर्वजगदाश्रयभूतं रूपं यत्त्वं दृष्टवानसि तद्रूपं सुदुर्दर्शं सुतरां दुःखेनान्येन द्रष्टुमशक्यम् । को लाभस्तर्ह्यस्य दर्शनेनेत्यत आह-अस्य रूपस्य देवा अपि नित्यं सर्वदा दर्शनमाकांक्षन्ते दर्शनाकांक्षावन्तः सन्ति न तु द्रष्टुं शक्नुवन्ति ॥५२॥

यथा येन प्रकारेण मां मत्स्वरूपं त्वं दृष्टवान साक्षात्कृत-

व्यख्यातमिदमव्यवहितपूर्वश्लोकव्याख्यायाम् ॥ ५१ ॥

प्रदर्शितविश्वरूपस्य दर्शनाशक्यत्वमुपपादयितुं श्रीभगवानुवाच—सुदुदर्शमिति । मम सर्वस्वतंत्रस्याखिलकोटिब्रह्माण्डनायकस्य यद्रूपं त्वं दृष्टवानसि तदिदं विश्वरूपं सुदुर्दर्शं दुःखेनाप्यन्येन केनापि द्रष्टुमशक्यम् । न केवलं मनुष्यैरेव सुदुर्दर्शमपि तु देवा—उपलक्षणमेतद् ऋषिगंधर्वसिद्धविद्याधरादीनाम् । ते सर्वेऽप्यस्य रूपस्य नित्यं सर्वदा दर्शनकांक्षिणो दर्शनमाकांक्षमाणा दर्शनाभाववन्त एव तिष्ठन्ति ॥५२॥

दर्शनाशक्यत्वमेवोपपादयति—नेति । प्रकृताध्यायेऽष्टचत्वारिंशत्त-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुंश्च तत्वेन प्रवेष्टुंश्च परन्तप ॥५४॥

वानसि । एवं विधोऽहं वेदैर्वेदाध्ययनादिभिस्तपसोपवासादिना दानेन गोभूमिहिरण्यदानादिनेज्यया यज्ञहोमादिलक्षणेन द्रष्टुं न शक्यः । उत्तरश्लोकार्थान्वयितयाऽस्यश्लोकार्थस्य केवलैर्वेदाध्ययनतपोदानयज्ञैर्द्रष्टुमशक्य इत्यर्थो निष्पद्यत इति फलितम् ॥ ५३ ॥

यथा शक्यस्तथोच्यते–भक्त्येति । हे अर्जुन ! हे परन्तप ! एवं विधो यथाविधस्त्वयेदानीं साक्षात्कृतस्तथाविधोऽहमन-

मश्लोकसमानार्थकत्वादस्यश्लोकस्येति तद्व्याख्यया गतार्थत्वं समर्थनीयार्थ आदरातिशयख्यापनाय पुनरुपादानम् । ननु छन्दोऽध्ययनादिभि र्वरीयः साधनैरपि न द्रष्टुं शक्यस्तर्हि नतरामन्येन केनाप्युपायेनेत्येवायातमित्यशक्येऽर्थेऽर्जुनस्य जिज्ञासा भगवतोऽभिधित्सा चेत्युभेऽप्यसङ्गते इत्यत आह–भक्त्येति । हे अर्जुन ! हे परन्तप ! अनेन सम्बोधनद्वयेन प्रतिपिपादयिषितेऽर्थे निर्भरत्वं सम्बोध्ये च प्रेमातिशय इत्येतदुभयं व्यज्यते । एवं विश्वरूपोऽहमनन्यया मदेकगोचरया भक्त्याऽनुरक्त्या तु तत्त्वेन याथार्थ्येन ज्ञातुं शक्यस्तत्त्वेन द्रष्टुं साक्षात्कर्तुञ्च शक्यस्तत्त्वेन प्रवेष्टुं-सायुज्यमवाप्तुञ्च शक्यः । सन्ध्यभावस्त्वार्षः । तुशब्दोऽत्रैवकारार्थकः साधनान्तराणि-व्यवच्छिनत्ति । नन्वनन्यभक्तेर्ज्ञानम्प्रति कारणत्वेन तत एव कृतकार्यत्वेन दर्शनप्रवेशनयोः कारणता न स्यादिति चेन्न, अधिकं प्रविष्टं-न तु तद्धानिरिति न्यायाद् भक्तेरेव तयोरपि कारणत्वाक्षतेः । तथा

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।

न्यया मदेकचिन्तनरूपया भक्त्यैतत्साक्षात्साधनसहकृतैर्वेदाध्ययनादिभिरपीत्यपि बोध्यम् । अनन्यभक्त्यपेतानां तेषामसाधनत्वमिति भावः । तत्त्वेन परमार्थतो ज्ञातुं द्रष्टुञ्च शक्यस्तत्त्वेन प्रवेष्टुं स्वरूपसाक्षात्कारानन्तरं यथासुखमनुभवितुञ्च शक्यः ॥५४॥

एवं भक्तियोगादेव स्वप्राप्तिं द्रढयति-मत्कर्मकृदिति । हे पाण्डव ! यः पुरुषो मत्कर्मकृत् सर्वेषां कर्मणां मत्प्रसत्तिरूपं फलं हि भक्तेरनन्यत्वमत्र प्रयोजनान्तरनिरपेक्षत्वमेव । एवं च सद्गुरुमुखाद्वेदान्तशास्त्रश्रवणेनादौ प्राप्यस्य भगवत्स्वरूपस्य याथात्म्यानुभवो जायते । अयञ्चानन्यभक्तेः प्राथमिकम्फलम् । अनन्तरमेतज्ज्ञानविशिष्टोत्कटदिदृक्षयोपास्यस्वरूपसाक्षात्कारो जायते । एतत्साक्षात्कारजननी भक्तिरेव परभक्तिपदेनाभिधीयते साम्प्रदायिकैस्ततश्च साक्षात्कारानुभवविशिष्टपरभक्त्या भगवत्सायुज्यमवाप्यते । सायुज्यफलिकेयमेव च परमभक्तिपदेन व्यपदिश्यते । एतद्भक्तिसङ्कृतानामेव वेदानुवचनादीनां भगवद्दर्शनप्रयोजकत्वं 'तमेतं वेदानुवचनेनेति, श्रुत्याऽवगम्यते । ये तु केवलज्ञानेन सायुज्यमाहुस्तेषामयमऽसङ्गत एवेतिध्येयम् ॥५३॥ ॥५४॥

तदेवमनन्यभक्तेः स्वरूपं सामर्थ्यञ्चोक्त्वा भक्त्यङ्गभूतानां साधनानां तत्रोपयोगं ब्रुवाणः साङ्गोपाङ्गभक्तियोगादेव स्वप्राप्तिमभिधत्ते—मत्कर्मकृदिति । हे पाण्डव ! यो मुमुक्षुः पुरुषः मत्कर्मकृद् वर्णाश्रमोचितानि कर्माणि मदाराधनबुद्ध्यैव करोति स मत्परमः सर्वाङ्गीणायाः

निर्वैरः सर्वभूतेषु यस्स मामेति पाण्डव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोध्यायः ॥११॥

—*—

मन्वानः कर्मकरोतीति मत्कर्मकृत् । मत्परमोऽहमेव परमप्राप्यतयोद्देश्यो यस्य स मद्भक्तः श्रवणकीर्तनादिरूपमद्भक्तियुक्तः सङ्गवर्जितो मद्भक्तिविरोधिसङ्गरहितः सर्वभूतेषु निर्वैरो भगवदायत्तेषु सर्वभूतेषु द्वेषरहितः स मदनन्यभक्तो मां सर्वभूताश्रयं सर्वनियन्तारं परमात्मानमवैति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरेचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्य एकादशोऽध्यायः ॥११॥

स्वकीयप्रवृत्तेरहमेव परम उद्देश्यभूतो यस्य स मद्भक्तः सर्वैर्भावैः सर्वदा मम श्रवणादिरूपनवविधभक्तिसमन्वितः सङ्गवर्जितः मद्व्यतिरिक्तेषुदेहापत्यकलत्रादिषु समस्तसांसारिकेषु पदार्थेष्वासक्तिरहितः सर्वभूतेषु निर्वैरो यच्छेषभूतेषु समस्तप्राणिषु मत्पारतन्त्र्यमनुसंदधानो मद्भक्तः सर्वत्र समदृष्ट्या निरस्तवैरबीजः मामेव पश्यतीत्यतो निर्वैरः स मामखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरं सर्वेश्वरमुभयविभूतिनायकं सर्वदुःखरहितः सन्नाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकः सायुज्यमुक्तिमेति । तथा चोक्तं मुण्डके—संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । ते सर्वगं सर्वतः प्राप्यधीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति (मु० ३ । २ । ५ ।) ज्ञानतृप्तत्वादिगुणविशिष्टा ऋषयस्तत्त्वदर्शिन एनं

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

श्रीशः पार्थं दिदृक्षुं स्ववपुरतिततं चर्मचक्षुर्न योग्यं
दत्त्वातस्तद्धि दिव्यं स्मयभयजनकं दर्शयामास रूपम् ।
मेघान् विद्युन्महीध्रान् क्षितिजलधियुतान् सूर्यचन्द्रादिदेवान्
दृष्ट्वा देवस्य देहे शरणमुपगतोऽवोचदेकादशेऽर्थान् ॥ ११ ॥

परमपुरुषं सम्प्राप्य जीवद्दशायामेवानुभूय युक्तात्मानः आविर्भूतगुणाष्टकाः सन्तः सर्ववस्तुगतं परमात्मानं देशविशेषविशिष्टमाविशन्तीति-तत्संक्षेपार्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्द स्वामिद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महामहोपाध्यायेन ब्रह्मवित्स्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायामेकादशोऽध्यायः ।

श्रीमते हनुमते नमः



आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

अथ द्वादशोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

मध्यमषट्केनोपास्योपासनादिवर्णनपुरःसरं भक्तियोगः प्रतिपाद्यतया प्रस्तुतः स च भगवत्स्वरूपगुणविभूतिज्ञानमन्तरेण न सद्योऽधिकारिणो हृदयंगमः स्यादित्यादशमं तत्सर्वमुपपाद्यैकादशे स्वासाधारणं देवतिर्यङ्मनुष्यादिदुर्विभाव्यं स्वस्वरूपमप्यदर्शयत्परमेश्वरः श्रीकृष्णः । एवं भक्तियोगोपकारकं सर्वमप्यङ्गजातं विवेकेन सम्पादितमितः परं ब्रह्मप्राप्तिप्रधानोपायो भक्तियोग एव विशिष्यावशिष्यते जिज्ञासितुं प्रतिपादयितुञ्चेति तमेव जिज्ञासुरर्जुन उवाच—एवमिति । एवं मत्कर्मकृन्मत्परम

एवं द्वितीयषट्केनोपास्योपासकोपासनानामेव विशेषतो वक्तव्ये सप्तमाध्यायादारभ्योपासनात्मकज्ञानस्यैव स्वरूपं सप्तमाष्टमयोस्सामान्यरूपेण नवमादित्रिषु च विशेषरूपेण प्रत्यपीपदद् भगवान् गीताचार्यः । तत्रापि नवम उपास्योपासकोपासनानां स्वरूपाणि शृंगग्राहिकया स्पष्टमुपादिशत् । तत्रोपास्यस्वरूपस्य तद्गुणविभूतिवैशिष्ट्येनैव परिज्ञानमावश्यकमिति मत्वा दशमे स्वस्याचिन्त्यशक्तियोगाद्विभूतयः समुपावर्णयत् । ततो यावद्विभूतिमन्तःपरमेशितुः साक्षात्कारो न स्यात्तावदुपासकस्य तदुपासने यथाभिरुचि मनोवस्थानं न स्यादित्येकादशे स्वासाधार-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

इति त्वदुक्तप्रकारेण संगवर्जिताः सततयुक्ताः सातत्येन भवद्योगं कांक्षमाणा ये भक्ता भक्तिमन्तस्त्वां सर्वेश्वरं देवदेवं पर्युपासते ये चाव्यक्तमक्षरमात्मस्वरूपमेवोपासते सर्वदानुसन्दधते तेषां मध्ये योगवित्तमाः स्वसाधनफलं के शैघ्र्येण प्राप्नुवन्तीति प्रश्नार्थः ॥ १ ॥

णमखिलहेयप्रत्यनीकदिव्यकल्याणगुणाकरमाश्रितार्तिनाशनसमर्थं स्वरूपमपि सहजानुकम्पापारवश्येनार्जुनाय दृग्गोचरतामनैषीत् । अथेदानीं प्रकृतिविनिर्मुक्तक्षेत्रज्ञप्राप्तेरुपायभूतात्मोपासनापेक्षया श्रद्धापूर्वकत्वविशिष्टोपास्तेः परभक्तिरूपतयाऽस्या एव परमपुरुषप्राप्तौ स्वप्राप्यश्रैष्ठ्येन क्लेशराहित्येनानुष्ठानाऽव्यवहितोत्तरावश्यक्षिप्रफलदत्वेन चोत्कृष्टतया ततोऽव्यक्तपदवाच्याक्षरस्यात्मनश्चिन्तकानां क्लेशेन बिलम्बितफलावाप्तिरिति बुबोधयिषया श्रद्धापूर्वकत्वविशिष्टभजनलक्षणस्य परभक्तिपदाभिधेयस्य परमपुरुषोपासनस्यैव कार्त्स्न्येन स्वरूपमस्मिन् द्वादशाध्याये प्रतिपाद्यतयाऽभिमतम् । तत्रोपास्योपासनतारतम्यानियतं तत्फलतारतम्यमित्याशयं स्पष्टतयाऽनवगच्छन्नर्जुन उवाच- एवमिति । एवं 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यःस मामेति पाण्डव ॥ (गी ११ । ५५ ।) इत्युक्तप्रकारेण सततयुक्ताः परमप्राप्यस्वरूपस्य तवैव प्रेप्सया सातत्येन भवद्योगमभिकांक्षमाणाः ये भक्तास्त्वां विश्वाध्यक्षं विश्वरूपं परात्परं पर्युपासते । ये चाव्यक्तं चक्षुरादीन्द्रियाग्राह्यमक्षरलक्षणं क्षेत्रज्ञं चोपासते तेषां योगवित्तमा उपासनाख्ययोगविदुत्तमाः के शैघ्र्येण परमप्राप्यरूपफलप्राप्तिकर्तारः के भवन्तीत्यर्थः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्तेमे युक्ततमा मताः ॥२॥

एवं परब्रह्माक्षरपदवाच्याव्यक्तात्मनोरुपासकयोर्मध्ये भवन्मते कः श्रेष्ठ इत्यर्जुनजिज्ञासायां स्वमतमाविष्कर्तुं श्रीभगवानुवाच–मयीति । ये भक्ताः सर्वेश्वरे नित्यानवद्यदिव्यकल्याणगुणगणार्णवे भक्तवत्सले मयि स्वकीयं मन इदमेव तत्त्वमानन्दनिधानं नान्यदिति प्रेमपरीवाहपूर्णं सद्वृत्तिकं चेत आवेश्य संस्थाप्य नित्ययुक्ताः-सततं मदनुध्यायिनः मद्योगमीहमानाः परया शुद्धसत्वोद्रिक्तया श्रद्धया सम्पन्नाः सन्तो मां जगदेककारणं सर्वदेवाराध्यमुपासते श्रद्धार्द्रचेतसा मद्भजनमेव विदधते ते मे मम युक्ततमा मता अभिप्रेता इत्यर्थः॥२॥

एवमर्जुनकृतप्रश्नस्य स्वाभिप्रायविशिष्टमुत्तरं श्रीभगवानुवाच— मयीति । ये मुमुक्षवो नित्ययुक्ता नित्यं मद्योगमाकांक्षमाणा निरंकुशैश्वर्यशालिनि समस्तचिदचिद्वस्तुशेषिणि परात्परे मयि स्वकीयं मन आवेश्य परयोत्कटकोटिकया श्रद्धयोपेताः सन्तो मामेवोपासते मदनुध्यानादिरूपं भजनमनुतिष्ठन्ति त एवोपासका मम युक्ततमा मतास्ते मामविलम्बेनैव प्राप्नुवन्तीति भावः । अत्रेदं रहस्यम् । अस्यामष्टादशाध्याय्यां सर्वार्थमूलभूतयोरहङ्कारममकारयोः समूलमुन्मूलनेन भगवत्पारतन्त्र्याध्यवसायेन निष्कामकर्मानुष्ठानेन च सवासनं विगलिताऽखिलकर्मबन्धस्य परमपुरुषप्राप्तिरवश्यम्भाविनीत्येतादृशं समयबि-

लम्बमप्यसहमानस्य द्रुततरमेव परमां सिद्धिमधिजिगांसमानस्य स्वस्वातन्त्र्यसाध्यादुपासनादुपरिरंसोश्च पुरुषस्य पुरुषोत्तमः स्वयमेवोपायभूत इतीदमेव प्रतिपिपादयिषितम्। तत्र चोदीर्यमाणमेव रहस्यं क्रमेण षट्कत्रयेण निश्चिकाय परमोपायतया परमपुरुषः श्रीकृष्णः। तत्रापि प्रथमद्वितीयषट्काभ्यामेव सपरिकरौ कर्मयोगज्ञानयोगावुपदिश्योपास्योपासकोपासनवैशद्येन स्वाभिप्रेतं परमोपायं परभक्तियोगं सम्यगभ्यधत्त। तृतीयषट्कस्य प्रथमषट्कशेषभूतत्वात् प्रथमषट्कान्तर्गतानामर्थानामेव निष्कृटतया स्वरूपं न्यरूपयदिति वस्तुस्थितिः। तत्र प्रथमषट्कस्यान्तिमेन वाक्येन श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः (गी ६।४७) इत्यनेन श्रद्धापूर्वकत्वविशिष्टभजनानुष्ठातुरेव युक्ततमत्वमिति निरचैषीद् गीताचार्यः स्वयमेव। इममेव स्वाभिप्रायं भूयोऽप्यत्र सस्मार 'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' (गी१२।२) इति पुनरप्यस्यैवेष्टतमस्य स्वकीयसिद्धान्तस्यानेन मध्यमषट्कान्तिमेन वचनेनापि 'श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः (गी१२।२०) इत्यनेन दृढयामास। किम्बहुनाऽन्तिमेऽपि षट्के 'श्रद्धावाननसूयश्चे'ति वाक्येनाप्येतदेव मतं स्पष्टयामास। न केवलं गीताशास्त्र एवास्य सिद्धान्तस्य मुक्तेः परमोपायतयाऽभिधानमपि तु च्छन्दोगा वाजसनेयिनोऽपि स्पष्टमामनन्ति ब्रह्मप्राप्तेः सर्वोत्कृष्टोऽयं पन्था इति। तथा हि—'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेर्चिषमभिसम्भवन्ति, (छा० ५।) 'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेर्चिषमभिसम्भवन्ति (बृ०६।२।१५) इत्युभयोः श्रुत्योरैकार्थ्यादेकस्याः श्रुतेरर्थः स्फुटीक्रियते।

ये पूर्वोक्ताः पञ्चाग्निविदस्तद्भूतसूक्ष्मपञ्चकरूपाचिन्मिश्रं चिद्रस्तु, इत्थं हेयभूताचिद्रूपविशेषणांशे त्याज्यतया तद्वियुक्ते शुद्धज्ञानानन्दमये तिरोधानविगमेन ब्रह्मात्मकतयाऽपि भासमाने ह्युपादेयभूतचिद्रूपविशेष्यांशे प्राप्यतया च विदुर्जानन्ति ये चेमे प्रसिद्धा ब्रह्मोपासकाश्चारण्ये निर्जनप्रदेशे तपः परं ब्रह्म श्रद्धयाधिगन्तव्यमिति तदेव पुरुषार्थविधया प्राप्यमित्यध्यवसायपूर्वकं तत्प्राप्तित्वरालक्षणां श्रद्धां कृत्वा तया तदेव प्राप्तव्यमिति मत्वेति यावदुपासते भक्तिरूपापन्नज्ञानेन विषयीकुर्वन्ति ते प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकं प्रत्यगात्मानं पुरुषार्थविधया प्राप्यत्वेनोपासीनाः पञ्चाग्निविदः परमेव ब्रह्म तयोपासीना ब्रह्मनिष्ठाश्चेत्युभयेऽर्चिषमर्चिरभिमानिनीमातिवाहिकदेवतामभिसम्भवन्ति प्राप्नुवन्तीति, एवमेतच्छ्रुतिद्वयोपबृंहणे याज्ञवल्क्यवचनेऽपि 'य एनमेव विन्दन्ति ये चारण्यमाश्रिताः। उपासते तपः सत्यं श्रद्धया परया युताः, (३।१९२) इत्यत्र तपः सत्यमिति सामानाधिकरण्यप्रयोगादुभयश्रुतिगततपःसत्यशब्दयोरेकार्थत्वं निर्व्यूढम्। 'श्रद्धया परया युताः, इत्यन्तिमपादेनोक्तश्रुत्योः श्रद्धाशब्दस्य परमपुरुषे श्रद्धापूर्वकत्वप्रतिपादनपरतया तदुपासन एतद्वैशिष्ट्यमुपदर्शितं भवति। श्रुतिवाक्ययोरुभयत्र—'तद्य इत्थं विदु'रित्येकं वाक्यम् 'ये चेमेरण्ये श्रद्धे'त्यादि द्वितीयम्। बृहदारण्यकेऽपि 'ते य एवमेतद्विदुरि'त्याद्यं 'ये चामी अरण्ये श्रद्धामि'त्याद्यपरम्। तत्राद्ययोर्वाक्ययोः श्रद्धेति पदाभावेन केवलं पञ्चाग्निविदां प्रकृतिवियुक्तब्रह्मात्मकस्वात्मानमुपासीनानामर्चिरादिगतिः फलतयाम्नायते। द्वितीये तु वाक्ये श्रद्धेतिपदस्य

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

अक्षरात्मोपासकानामपकर्ष इति स्वमतं प्रकटयति– य श्रूयमाणत्वात् परब्रह्मोपासीनानामेव श्रद्धापूर्वकत्वविशिष्टोपासनता गम्यते । अतोऽस्या एव परभक्तिशब्देन शास्त्रेषु यत्र तत्र व्यवहारः । एवञ्च 'श्रद्धातप इत्युपासते' 'श्रद्धां सत्यमुपासते' 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, 'श्रद्धावान् भजते यो मां श्रद्धाना मत्परमाः, 'उपासते तपः सत्यं श्रद्धया परया युताः' इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यो भगवन्निष्ठानामुपासनस्य श्रद्धापूर्वकत्वाद्भक्तियोगरूपत्वं 'तद्य इत्थं विदुः' 'ते य एवमेतद्विदुः' 'य एवमेनं जानन्ति, 'ये चाप्यक्षरमव्यक्तं' 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमि'त्यादि श्रुतिस्मृतिभिः पञ्चाग्निविदामुपासनस्य ज्ञानयोगरूपत्वञ्चावगम्यते । प्रकृते चानया सप्तस्याऽस्यैवार्थस्य वक्ष्यमाणतया 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तस्तमा मताः, इत्यनेन प्राथमिकेन वाक्येन भगवद्भक्तियोगनिष्ठा युक्ततमा इत्युच्यते । अत एव 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' इत्युत्तरश्लोकद्वयेनैषामेवोपपादनमपि संगच्छते। ततः 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमित्यादि पाश्चात्येन वाक्येन ज्ञानयोगनिष्ठाः प्रत्यगात्मोपासकाः सामान्येनाभिधीयन्ते । तत्र स्वापेक्षयोत्कृष्टपूज्यविषयकप्रीतिरूपापन्नोपासनस्यैव भक्तिरूपत्वेन स्वात्मानुसंधानरूपोपासनस्य भक्तिरूपत्वं न कथञ्चिदपि सम्भवति । तस्मात्पाश्चात्ये वाक्ये पर्युपासत इति पदं न भक्तियोगार्थकमिति दिक् ॥२॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥ ४ ॥

इति त्रिभिः । तुना प्रथमोक्तपक्षादस्याऽनुत्कृष्टत्वं द्योत्यते । ये त्वक्षरं प्रकृतिवियुक्तक्षेत्रज्ञस्वरूपमनिर्देश्यं देवमनुष्यादिशरीरेभ्यः पृथक् वर्त्तमानतया तत्तच्छरीरैर्निर्देशानर्हत्वेनानिर्देश्यमव्यक्तमिन्द्रियैरग्राह्यं सर्वत्रगं देवमनुष्यादिशरीरेष्ववस्थितमप्यचिन्त्यञ्च तत्तच्छरीरवैलक्षण्येण चिन्तयितुमशक्यं तथा कूटस्थं देवाद्याकारेष्वपरिणितं स्वासाधारणाकारेणैव सर्वदा स्थितमिति यावत् । अचलं स्वरूपस्वभाववैषम्यरहितं ध्रुवं सर्वदैकरसं नित्यमिन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकरणसमूहं सम्यग्वशीकृत्य सर्वत्र देवमनुष्यादिशरीरावस्थितेष्वात्मसु ज्ञानाकारतयैकरूपत्वबुद्धिमाश्रिता अत एव सर्वभू-

एवं परावरज्ञः परात्परः श्रीभगवान् स्वाभिमतमतं युक्ततमत्वेन शीघ्रफलोपधायकतया चोत्कृष्टत्वेनादावभिधायाक्षरब्रह्मपदवाच्यप्रकृतिविनिर्मुक्तात्मोपासकानां ततोऽपकृष्टोपासकत्वमित्यभिधत्ते––य इति त्रिभिः । तुशब्दो मतान्तरव्यावर्त्तकः । ये त्वक्षरं प्रकृतिसम्बन्धरहितं क्षेत्रज्ञस्वरूपमनिर्देश्यं देवमनुष्यादिदेहविलक्षणतया देहवाचकैर्देववाचकैः शब्दैरप्यनिर्देश्यमव्यक्तं चक्षुरादीन्द्रियानभिव्यक्तं सर्वत्रगं सर्वशरीरेषु वर्त्तमानमप्यचिन्त्यं च तत्तद्वैलक्षण्यात्तत्तद्रूपेण चिन्तयितुमनर्हमत एव कूटस्थं देवादिविशेषरूपेणापरिणतमचलं स्वरूपस्वभावप्रयुक्तविषमताशून्यं ध्रुवं नित्यमेकरसमिन्द्रियग्राममिन्द्रियसमूहं संनियम्य

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५॥

तद्धिते रताः सर्वत्र समबुद्धित्वात्सर्वेषामपि भूतानां हितमेव विदधते । रागद्वेषौ हि विषमबुद्धिनिबन्धनौ भवतः । सा च देवमनुष्यादिदेहेषु देहाभिमाननिमित्तैवेति प्रत्यक्षं नः सर्वेषाम् । तत्रानुरक्तेषु रागाधिक्याद्धितसाधनरतिर्द्विष्टेषु द्वेषाधिक्यादहितसाधनमतिर्भवतः । मतिवैषम्यजनितानुरक्तिविरक्ती मदनन्यभक्तानां नैव सम्भवति । पर्युपासते । ते तथाविधा अक्षरब्रह्मोपासका अपि मां प्राकृतभावविनिर्मुक्तस्वभावतया मदाकारमुपेतमव्यक्तपदवाच्यं प्रत्यगात्मानं प्राप्नुवन्ति । एवकारोप्यर्थकः । इयञ्चाक्षरब्रह्मप्राप्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तेरपकृष्टैव स्थितिरिति भावः । एवञ्चाव्यक्तासक्तचेतसां तेषां क्लेशोऽधिकतरः । मत्प्राप्तेस्तस्य साक्षात्साधनत्वाभावात् । स्वचेतसः साक्षान्मय्यनर्पितत्वादक्षरप्राप्त्यनन्तरमपि साक्षात्तत्प्राप्तौ प्रयत्नान्तराश्रयणमव-

सर्वत्र सर्वेष्वात्मसु समबुद्धयोऽत एव सर्वभूतहिते रताः सर्वेषामेव प्राणिनां हितकारकाः सन्तः पर्युपासते । ते निरुक्ताक्षरब्रह्मोपासनकर्त्तारोऽपि मां मदाकारविशिष्टं प्रत्यागात्मानं प्राप्नुवन्ति । इत्थञ्चाव्यक्तासक्तचेतसां तेषामात्मावाप्तीच्छुकानां तेषां क्लेशोऽधिकतरो हि यतोऽव्यक्ता अव्यक्तविषया गतिर्वृत्तिर्देहवद्भिः प्राणिभिर्दुःखं यथा स्यात् तथाऽवाप्यतेऽधिगम्यते ॥३॥४॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥७॥

शिष्यत एवेत्यर्थः । अव्यक्ता हि गतिरिन्द्रियमनोवृत्तेस्तदतिरिक्तविषयेषु विरतिः । सा च देहवद्भिर्दुःखेन प्राप्यते । तत्तद्देहात्माभिमानवैयग्र्यान्न तत्र स्थैर्यं क्षणमपि भजत इत्यर्थः ॥३॥४॥५॥

ये तु मदेकशरणाः सर्वाणि वैदिकलौकिकानि कर्माणि मयि सर्वात्मभूते सन्न्यस्य परमपुरुषशेषभूतोऽहं न प्राधान्येन किमपि कर्मानुतिष्ठामि, अपि तु स एव सर्वशेषी मन्नियामकः स्वातन्त्र्येण स्वयमेवाऽखिलानि कर्माणि विधत्त इति मत्पारतन्त्र्यधिया मदेककर्तृतामनुसन्धाय मत्परा मामेव परमोपेयं स्वीकुर्वन्तः सन्तोनन्येनैव मदेकध्यानभजना-

तुशब्दः पक्षान्तरं गमयति । ये मद्भक्ताः सर्वाणि नित्यनैमित्तिकादिरूपाणि वर्णाश्रमधर्मतयानुष्ठेयानि सफलान्यफलानि वैदिकलौकिकानि कर्माणि शास्त्रदृष्टिं पुरस्कृत्य सर्वात्मके मयि 'नाहं कर्माणि विदधेऽपि तु मदन्तर्यामी परमपुरुष एव स्वातन्त्र्येण तान्यनुतिष्ठति, अहन्तु केवलं तदाज्ञापरिपालक इत्यध्यात्मधिया सन्न्यस्य मत्परा अहमेव परः परमप्राप्यो येषान्ते मदेकसंयोगमभिकांक्षमाणा अनन्येनैव मदनुध्यानसततकीर्तनादिप्रयोजनेन योगेन मां ध्यायन्तो

दिरूपप्रयोजनेन योगेन मामेव ध्यायन्त उपासते । हे पार्थ ! तेषां मय्यावेशितचेतसां सर्वात्मके मयि निवेशितान्तः-करणानां मदनन्यभक्तानामिति यावत् । अहं सर्वेश्वरो मृत्यु-संसारसागरादचिरेणैव कालेन समुद्धर्त्ता भवामि ॥६॥७॥

मदीयध्यानार्चनस्तवनवन्दनादिरूपाणि मदाराधनकर्माणि स्वरूपेणैव प्रियात्मकानीति मत्वा सततं तान्येव वर्त्तमान उपासते । हे पार्थ ! मयि सर्वेश्वर आवेशितचेतसां स्वाश्रयणीयतयाऽवेशितं चेतो यैस्ते तेषां मृत्युसंसारसागरात् जन्ममरणादिदुःखसंकुलं जग-न्मृत्युसंसारः स एव सागरस्तस्माद् दुःखाकुलजगदम्भोनिधेर्न चिरादचिरकालेन क्षिप्रमेवेतियावत् । अहं कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः परमकारुणिकः समुद्धर्त्ता सम्यगुद्धरणकर्त्ता भवामि । नेतिपदस्य नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमितिवत्क्रियायां नान्वयः प्रकरणविरोधात् । अत्र 'संसारसागरात् समुद्धर्त्ता' इत्युक्तिर्जीवानां पुण्यपापकारिणामुभय-विधानामपि स्वकर्मपारतन्त्र्याज्जगज्जलधावश्यमेव निमज्जनोन्मज्ज-ने स्याताम् । यावदतिसमर्थस्य परमेशितुरवलम्बं नासादयन्ति मनुजा-स्तावदियं संसाराकूपारपातपरम्परा नतरां विलयमुपयातीत्यनवद्यम् । न हि कश्चित्परिमितशक्तिः संसाराब्धौ स्वयं निमज्जन्नपरमुद्धर्तुं क्षमते । भगवदर्पितमनोवृत्तीनां सर्वभावेन तच्छरणमुपगतानां प्रपन्नानान्तु स एव जगदीश्वरोऽपरिमितशक्तिः परमपुरुषो द्रागुद्धर्त्ता भवति । तस्मा-ज्जगज्जलधिनिस्ताराय स एवैकः शरणागतवत्सलः श्रीरामः समा-श्रयणीय इति स्पष्टमावेदयति ॥६॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

एवं स्थिते सर्वोपायेभ्योऽस्योपायस्य श्रैष्ठ्यात् क्षिप्रफ-लपर्यवसायित्वान्मत्सम्मतत्वादनुष्ठानसौकार्याच्च मय्येव-मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय मदुक्तोपायैर्मनो मयि संस्था-प्य सर्वसमाश्रयणीये मय्येवाध्यवसायं विधेहि । अत ऊर्ध्वं निश्चयपुरस्सरं मयि मनःसमाधानानन्तरं मय्येव सर्व-समाश्रयणीये निवत्स्यसि, अक्षय्यं मोक्षसुखमिव सुखं जीवन्न-पि भुञ्जानः शाश्वतं स्थास्यसि नात्र संशयलेशोऽपि ॥८॥

एवं भक्तसाधारण्येनोदीरितसाधनस्य फलमभिधाय गुडाकेशायापि विशिष्टफलप्रदर्शनपूर्वकं तदेव कर्तव्यं वैशिष्ट्येनोपदिशति—मयीति । एवं मत्प्राप्तिसाधनतयोदीरितार्थस्योपायान्तरोत्कृष्टत्वान्मदभिमतत्वा-दाशु फलोपपादकत्वात् सुगमानुष्ठानत्वाच्च मय्येव, एवकारोत्र देवतान्तरव्यावर्तकः । तथा च मदतिरिक्तदेवान्तरोपासने मत्प्राप्ति-लक्षणविलक्षणफलं नोपलभ्यते । अतो मय्येव मनः सर्वेन्द्रिय-वृत्तिविशिष्टं सस्ववृत्तिकं प्रोदीरितोपायैः स्थिरी कुरु । बुद्धिमध्यवसाय-रूपां मय्येव निवेशय, अत ऊर्ध्वमेवं मनसोध्यवसायधियश्च सुदृढं मयि-स्थापनसमनन्तरं मय्येव निवसिष्यसि नित्यनिरवद्ये निरतिशयदिव्या-नन्दनिधाने मत्स्वरूप एवाऽनवरतं निवासं करिष्यसि नात्र कश्चित्संशयः ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

प्रोक्तोपायेऽर्जुनस्य दुष्करत्वमनुमाय सुकरोपायमुपदिशति–अथेति । हे धनञ्जय ! अथ यदि मयि दोषप्रतिभटेऽनन्तकल्याणगुणसागरे सर्वेश्वरे चित्तं चेतः स्थिरं यथा स्यात् तथा समाधातुं समाहितं कर्तुं न शक्नोषि शक्तो न भवसि चेत् ततोऽभ्यासयोगेनानवच्छिन्नेन प्रेमपूर्वकस्मरणेन मामाप्तुमवाप्तुमिच्छ ॥ ९ ॥

सुकरोपायप्रदर्शनप्रकरणे प्रोक्ताभ्यासादपि सुकरमुपा-

एवं भगवन्मनस्कस्य भगवदुपास्तेः साक्षान्निःश्रेयसहेतुतामुपपाद्यादृष्टाप्राकृतगुणधाम्नि प्राकृतवासनानुगुणगुणगुम्फितान्तःकरणेनाञ्जसा मनः समाधातुमशक्यमित्यापाततोऽर्जुनशङ्कामाकलय्य सुकरमुपायान्तरमुपदिशति–अथेति । अथेति पक्षान्तरारम्भे । अथोपासनासमये द्रागेव मयि स्थिरमचञ्चलं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि चेत्ततो हे धनञ्जय ! अभ्यासयोगेन । निषादस्थपतिन्यायेन कर्मधारयसमासमनुसृत्य सामानाधिकरण्यलाभः । अभ्यासशब्दश्चात्र विरक्तिपूर्वकमभ्यासमभिधत्ते योगशब्दोत्तरत्वात् । तथा च स्वाभाविकानवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसौहार्दवात्सल्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यशौर्यवीर्यपराक्रमसार्वज्ञ्यसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वसर्वेश्वरत्वसकलकारणत्वाद्य–संख्येयगुणसागरे निखिलप्रत्यनीके मयि श्रद्धया निर्विशेषानुराग-

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

यान्तरमाह–अभ्यास इति । अनुपदमभिहिते स्मरणाभ्यासेऽप्यसमर्थश्चेदसि तर्हि मत्कर्मपरमो भव । उद्रिक्तसत्त्वगुणेनानुष्ठीयमानानि मदर्चनवन्दनैकादश्युपवासादीनि मत्प्रीतिजनकानि कर्माणि निरतिशयप्रेम्णा परिपालय । मत्कृतेऽपि कर्माणि मत्सम्बन्धीनि कुर्वन् स्वल्पेनैव कालेनाभ्यासवशान्मयि मनःस्थैर्ये मत्प्राप्तिलक्षणां सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

रञ्जितचेतसा मदसाधारणस्वरूपगुणवैभवसंस्मरणस्य भूयो भूयः संशीलनेन मनो मयि समाधाय प्राप्तुमिच्छ ॥९॥

एवमप्यनादिकर्मवासनावशीकृतस्य मनसो भगवत्स्वरूपगुणवैभवानुशीलनात्मकोऽभ्यासो नैवाशु सम्भवतीत्यतोऽस्मादपि कश्चित्सुकरोपायश्चेदवश्यमुपदेष्टव्य इत्यर्जुनजिज्ञासां स्वयमाकलय्य प्रोक्तादपि सुकरोपायं दर्शयति–अभ्यास इति । अथशब्दोऽत्राप्यनुषज्यते । पूर्वोत्तरयोः श्लोकयोरथशब्ददर्शनान्मध्यश्लोकेऽप्यनुषङ्गः सन्दशन्यायेनावश्यक एवेति तत्त्वम् । मन्निरूपिताभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि चेन्मत्कर्मपरमो भव । मत्कर्माणि च मदुद्दिश्यक्रियमाणानि मन्दिरमण्डपोद्याननिर्माणमार्जनोपलेपनप्रदीपकरणतुलसीपुष्पावचयार्चनवन्दनकीर्तनप्रदक्षिणनमनोत्सवविधाननैवेद्यनिवेदनमदीयजनाराधनादीनि सम्यगनुष्ठातुमुद्यतो भव । मदर्थमपि कर्माण्यहरहः कुर्वन्नपि प्रतिकर्मानुस्मरणाभ्यासपाटवमासाद्य मयि मनोलग्नतया सिद्धिं मत्प्राप्तिलक्षणामचिरादवाप्स्यसि ॥१०॥

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

इतोऽपि सुकरोपायमाह-अथेति । निरतिशयं मत्प्रियं भक्तियोगमाश्रित्य भक्तियोगे जाताभिरुचिस्तदनुष्ठातुकाम इति यावत् । एतन्मत्सम्बन्धिकर्मापि कर्तुं न शक्नोषि चेत्ततो यतात्मवान् क्रियायोग एव निश्चलमानसः सन् सर्वकर्मफलत्यागं कुरु, वर्णाश्रमधर्मोचितानि नित्यनैमित्तिकादीनि कर्माण्यनुतिष्ठतः कस्यचिन्मत्कृपापात्रस्य प्राक्तनपुण्यवशान्

ननु सर्वोऽपि लोकः स्वार्थसंसाधनायैव प्रवर्तते । परार्थसाधनप्रवृत्तिरपि स्वार्थप्रयुक्तैवेति कथं महायाससाध्यानि भगवन्तमुद्दिश्य कर्माणि विधाय तत्फलमपि भगवत एवार्पयेत् । निष्प्रयोजनाप्रवृत्तिर्न प्रेक्षावतो .युज्यतेऽतो न किमप्यनुष्ठेयमित्यजुनाशयमुन्नीय ततोऽपि सुकरोपायमभिधत्ते—अथेति । अथेति पक्षान्तरे । तथा च पूर्वोक्तात् सुकरोपायादप्यस्यातिसुकरत्वमितिपक्षोऽनेनोदीर्यते । मद्योगमाश्रितः मदीयभक्तियोगमादृत्यैतत्कर्तुं पूर्वोक्तं मत्कर्मयोगमनुष्ठातुमप्यशक्तोऽसि चेत्तर्हीतोऽपि स्वल्पायाससाध्यं परभक्तिरूपमहत्फलोत्पादकं सर्वकर्मफलत्यागं यतात्मवान् सेन्द्रियमनो नियम्य निश्चलचित्तः सन् कुरु । अयञ्चोपायोऽस्ति सुकर इतीममेव गृहाण । ननु कर्मफलत्यागो हि कर्मफलं भगवति वासुदेवे समर्पणं तच्चेश्वरार्थमुद्दिश्य स्वार्थमुद्दिश्यैव वा कर्मानुष्ठानेऽविशिष्टम् । तथा चाऽव्यवहितपूर्वोक्तोपायेऽप्यन्ततः कर्मफलत्याग एव फलतीति कुतोऽस्य पूर्वोपायाद्वैलक्षण्यं कुतस्तराश्चात्र सौकर्यमिति चेच्छृणु, पूर्वोपायाधिकारिणो नित्यनैमित्तिकादिकर्म्मानुतिष्ठत एव ततोऽधि-

मदेकप्राप्यताधीरुदेति । ततश्चानुष्ठीयमानकर्मसु फलाभिरुचिम्परित्यज्य भगवदाज्ञापालनमेव केवलमिति बुद्ध्या कर्म कुर्वतः प्रत्यगात्मनः साक्षात्कारः सम्पद्यते । सचायमक्षरसाक्षात्कारो मयि मे ध्रुवानुस्मृतिमुत्पाद्य तद्द्वारा मत्प्राप्तिमर्पयति । उक्तञ्चैतत् स्वेनैव 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य०' इति ॥११॥

कानि भगवत्प्रीतिजनकानि भगवदर्चनोपयुक्तानि कर्माणि कर्तव्यतयोपदिष्टानि । तथा भूतानां कर्मणां स्वरूपतः फलतश्च भगवत्तुष्टिजनकताऽवसीयते । अस्मिन्नतिसुकरोपाये तु वर्णाश्रमधर्मतयानुष्ठेयानि नित्यनैमित्तिकादीन्येव कर्माणि तेषामेव च फलत्याग इत्यस्ति विशेषः । एवञ्चैतेषां फलबुद्धिमपहाय भगवदाज्ञापालनधिया केवलमनुष्ठानेनाऽविद्याविनिवृत्तौ भगवच्छेषभूतस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपं स्पष्टमवगम्यते । ततश्च ध्रुवाऽनुस्मृतिरूपा परभक्तिः परमपुरुषेऽवश्यमुत्पद्यते । यो यस्य शेषस्स तं सर्वात्मनोपास्ते इति लोकप्रसिद्ध्या भगवच्छेषतां स्वस्मिन्निश्चिन्वानोऽयमात्मा स्वशेषिणि परमपुरुषे निरतिशयानुरक्तो भवति । अक्षरस्वरूपपरिज्ञानफलकः कर्मयोगोऽपि भक्तियोगस्य साधनमित्यसकृदुच्यते गीताशास्त्रे । उक्तञ्चैवमेवान्यत्रापि— 'तत्र चित्तं समावेष्टुं न शक्नोति भवान् यदि । तदाभ्यासपरस्तस्मिन् कुरु योगं दिवानिशम् ।। तत्राप्यसमर्थ्यवतः क्रियायोगो महात्मनः । ब्रह्मणा यस्समाख्यातस्तत्परस्स च तं भव ।। करोषि यानि कर्माणि देवदेवे जगत्पतौ । समर्पयस्व भद्रं ते

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

हि यतोऽभ्यासान्निरुक्तादभ्यासाज्ज्ञानमात्मसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं श्रेयो हितकरं भवति । ज्ञानादात्मसाक्षात्कारलक्षणाज्ज्ञानाद् ध्यानमात्मस्वरूपध्यानं विशिष्यते । ध्यानादात्मस्वरूपविषयकाद् ध्यानात् कर्मफलत्यागो विशिष्यते । त्यागात् कर्मफलत्यागादनन्तरं शान्ती रागद्वेषादीनां निवृत्तिर्भवतीति शेषः ॥ १२ ॥

ततः कर्म प्रहास्यसि ॥ प्रधानं कारणं योगो विमुक्तेर्दितिजेश्वर । क्रियायोगश्च योगस्य परमं तस्य साधनमिति ॥११॥

एवं परमपुरुषानुभवलक्षणविलक्षणपरमपुरुषप्राप्तेः साक्षाद्धेतुतया 'मय्येव मन आधत्स्व, इत्यादिवाक्येनोदिता भगवत्यालम्बने समाहितमनोयोगरूपा परानुरक्तिरेव मुमुक्षुभिरनुदिनमास्थेया । तत्राशक्तावनुस्मृतावभ्यासोऽभिहितस्तत्राप्यशक्तौ भागवतकर्मानुरक्तिस्तत्रापि चाशक्तावक्षरप्रेक्षणफलकः सर्वकर्मफलत्यागोऽधिकारतारतम्येनोक्तः । अथैतेष्वन्तिमोपायस्यैव परमोपेयसाक्षात्कारसमर्थध्रुवानुस्मृतिप्रापकोत्कृष्टोपायत्वमतस्तम्प्रशंसन्नभिधत्ते—श्रेय इति । तत्र भगवत्स्मृत्यभ्यासात्तदुपायभूतज्ञानस्य श्रेष्ठत्वमयुक्तमतोऽभ्यासशब्दोऽनवस्थितं निस्नेहमभ्यासमाचष्टे तात्पर्यानुरोधात् । चञ्चलचेतसा यथाकथञ्चिदनुष्ठितादभ्यासाज्ज्ञानमेव श्रेयः । इदञ्च ज्ञानं ध्यानजन्यत्वेन प्रत्यगात्मनः स्वस्वरूपावेदकमेव विवक्षितम् । यतस्तस्यापि परम्परया परस्वरूपावेदकत्वमित्यङ्गीकृतं सिद्धान्ते । ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । अत्रापि ज्ञानशब्दोऽनिष्पन्नज्ञानमभिधत्ते । तथा चानिष्पन्नज्ञानादपि तत्साधकभूतमात्मध्यानमेव विशिष्यते । ध्याने ज्ञानवैशिष्ट्यञ्च प्रत्यगात्मोपकृतिरेव, सा चोपायोपायस्यापि ध्यानस्य सौकर्यनिबन्धनैवेति भावः । ध्यानात् कर्मफलत्यागः । ध्यानशब्दोऽप्यत्रानिष्पन्नध्यानं लक्षयति तात्पर्यानुरोधादेव । तथा च प्रत्यगात्मनोऽनिष्पन्नध्यानात्तदुपायभूतमनभिसंहितफलत्वेनानुष्ठीयमाननित्यनैमित्तिकादिकर्मैव विशिष्यते । तथाविधकर्मानुष्ठानानन्तरं निष्कल्मषे चेतसि व्यपेतचाञ्चल्यतया शश्वच्छान्तिस्समुदेति । अयम्भावः । अनभिसंहितफलकर्मानुष्ठानेन मनःस्थैर्ये स्वरूपध्यानं जायते । तद्दार्ढ्ये च स्वरूपसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानमुत्पद्यते । ज्ञानाच्च परमपुरुषसंस्मरणाभ्यासे मनः प्रवर्तते । ततश्च भगवति साक्षात्साधनरूपा परभक्तिरुदेति । तदयं निर्गलितोऽर्थोऽशक्ताधिकारिणः परस्वरूपस्य साक्षादनुभवाय परभक्तिः सततस्मरणलक्षणस्तदभ्यासश्च नानुष्ठातुं शक्यौ । न वा भगवत्कर्माणि, स्वार्थवासनया भगवत्कर्मस्वशक्तत्वात् । तस्मात्पूर्वमव्यक्तपदवाच्यस्य प्रत्यगात्मनो ज्ञानं तत्राशक्तस्य ध्यानञ्चोपायतयाऽभिहितम् । तत्राप्यशक्तस्य तन्निष्पत्तयेऽनभिसंहितफलकर्मानुष्ठानमावश्यकमित्येवमनुष्ठातृतारतम्यादनुष्ठेयोपायोपायानामपि श्रैष्ठ्यमुक्तं युक्तमेव भवति । अत्र प्राकरणिकार्थसमन्वयस्त्वित्थम् । मुमुक्षुभिः परमपुरुषसाक्षात्कारलक्षणमोक्षसिद्धय एते वाह्यान्तरंगोपाया अवश्यमनुष्ठेया इत्येतत्प्रकरणतात्पर्यम् । तत्र 'मय्येव मन आधत्स्व, (गी) इत्यनेन निश्चलमनोवृत्तिमास्थाय

भगवदनुध्यानलक्षणपरभक्तिरेव साक्षादुपायः 'तमेव विदित्वा, इत्यादिश्रुतिशतसम्मतम् । परभक्तावशक्तस्य स्मृत्यभ्यास एवान्तरङ्गोपायस्तेनाऽपि जाते भगवति समाहितमनसि मोक्षसिद्धिः । अभ्यासाशक्तस्य मध्यमाधिकारिणो भगवत्कर्माणि मण्डपनिर्माणार्चनकीर्त्तनादीन्यन्तरङ्गोपायतयाऽनुष्ठेयानि । एवमन्तरङ्गोपायत्रयान्तिमोपायेऽप्यशक्तस्य बाह्योपायत्रयमेव श्रेयस्करं मत्वा तदनुष्ठेयमिति, 'अथैतदप्ययक्तोऽसि, (गी०) इत्यत्र गीताचार्येण सर्वकर्मफलत्यागशब्देन विहितम् । अत्र 'सर्वकर्मफलत्यागम्, (गी.) इत्यनेन पूर्वमनुष्ठेययोर्ज्ञानध्यानयोरपि ग्रहणमावश्यकम् । 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' (गी)इत्युत्तरश्लोके भगवत्प्राप्त्युपायतया ज्ञानध्यानयोरपि प्रशंसितत्वात् । तथा च भगवत्कर्माऽशक्तस्य प्रकृतश्लोके प्रकृतिविनिर्मुक्तात्मस्वरूपापरोक्षज्ञानमुपायतयोच्यते । तत्राप्यशक्तस्य तदुपायभूतं प्रत्यगात्मस्वरूपध्यानमभिधीयते । तत्रापि चाशक्तस्य मन्दाधिकारिणः स्वोचितनित्यनैमितिकादिकर्मणां फलस्य त्याग एवोपायतयानिश्चितः । एवमनेन श्लोकेनैतै त्रयोऽपि बाह्योपायाः स्पष्टमुपपादिताः । एवं स्थिते षडेतेऽप्युपाया उत्तममध्यमाधमाधिकारिभेदेन कक्षाक्रमभेदेन च .हेतुहेतुमद्भावतया स्वानुष्ठानभूमिमाश्रित्य पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोतरस्योपायोपायस्यापि श्रेयस्त्वम् । स्वानुष्ठातुर्हितसाधने ज्यायस्त्वमित्येतत्सर्वमवगमयति 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासादि'त्यवहितोत्तरभगवद्वाक्यम् । अत्र चाभ्यासशब्दो भगवत्कर्मणोऽप्युपलक्षणम् । तथा चायं क्रमः फलितः । कर्मफलत्यागाच्छान्तिद्वारा प्रत्यगात्मनो ध्यानं जायते । तस्माद्विशुद्धात्मनोऽपरोक्षज्ञानमुत्पद्यते । एवं भगवच्छे-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

एवं परभक्त्युत्पादकमक्षरयाथात्म्यज्ञानमधिकारितारतम्यादुपपाद्येदानीं तस्यैवाधिकारिणोऽनुष्ठेयप्रकारविशेषानभिदधत् स्वरूपं निर्दिशति—अद्वेष्टेति सप्तभिः । सर्वभूतानां मनोवाक्कायैर्द्वेषापकारकर्तॄणामद्वेष्टा मत्कर्माधीनं द्वेषमपकारञ्चैते भगवत्संकल्पायत्ता मयि विदधतेऽतो नैते मद्द्वेषविषया इति विजानन् मैत्रः करुण एव च तथाविधेषु भूतेषु मैत्रीं करुणाञ्च कुर्वन् निर्ममो ममतया स्वीकृतेषु ममताशून्यो निरहंकारो देहात्मबुद्धिशून्यः समदुःखसुखः क्षमी । सुखदुःखयोः साम्यापत्तैकस्वरूपस्य प्रत्यगात्मनः परिज्ञानभूतेनोपायेन स्वशेषिणः परमपुरुषस्य प्रापकेषु भगवत्कर्मसु रतिरुपजायते । ततस्तत्स्मृत्यभ्यासे प्रीतिरतिवर्धते । ततः सुदृढाभ्यासात् परमपुरुषे परभक्तिः समुत्पद्यते । प्राथमिकोपायसम्पादने तदुपायस्य ततोऽवरस्यापि ज्यायस्त्वोक्तिस्तु तत्तदधिकारिणस्तारतम्यनिबन्धनेति हेतुफलभावेन भगवदुक्तेर्गूढोऽभिप्रायोऽभिव्यज्यत इति गीताशास्त्रशीलिनाम्पन्था इति दिक् ॥१२॥

तदेवं मुमुक्षूणां परमपुरुषसाक्षात्काराय ध्रुवानुस्मृत्यपरपर्याया परभक्तिरेव साधीयसी । तदशक्तस्याक्षरब्रह्मस्वरूपविज्ञानं ध्यानाद्युपायजन्यं मन्दाधिकारिणः सुकरोपायोऽनेनापि परभक्त्युत्पादनद्वारा श्रेयः—

त् सहनशीलः सन्तुष्टो यदृच्छया प्राप्तेन संन्तोषयुक्तः सततं योगी निरन्तरमक्षरचिन्तनात्मकयोगमाश्रितो यतात्मा नियतेन्द्रियमनोव्यापारो दृढनिश्चयो मत्प्राप्त्युपायेषु गुरुशास्त्रोपदिष्टेषु निश्चलचित्तो मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यः कर्मयोगमनुतिष्ठन् मद्भक्तस्साक्षात्परम्परया वा मामाराधयन् वर्तते सः कर्मयोगी मे प्रियः ॥१३ ॥ १४ ॥

सम्पादनादिति निश्चितम् । इदानीमात्मयाथात्म्यविदोऽधिकारिण आत्मनिष्ठाप्रकारकथनविधया तत्स्वरूपं विशोध्यते—अद्वेष्टेत्यादिभिः सप्तभिः । अद्वेष्टा सर्वभूतानां सर्वेषाम्प्राणिनां द्वेषकषारादिभिर्विरहितो मत्कर्मानुगुणफलोपलब्धौ परमपुरुषसंकल्पवशगाश्चैते निमित्तभूता न मां विद्विषन्तीति जानन् सदा सर्वत्र द्वेषरहितोऽपि तु मैत्रः सर्वभूतेषु मैत्रीमेव कुर्वाणः करुणो दुःखितेषु केषुचित्करुणां दयामेव च कुर्वाणो नवनीतोपमविनीतहृदयः सज्जन इत्यर्थः । इदमेव चोक्तमन्यत्र 'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना । अमानिना मानदेन सेवनीयः सदा हरि'रिति । निर्ममो देहेन्द्रियादिषु ममताशून्यो निरहंकारो देहाद्यनात्मवस्तुष्वात्माभिमानविधुरः 'ब्रह्मैवाहमि'ति परे ब्रह्मण्येवात्मभावापत्त्या देहान्निःशेषेण निर्गताहंबुद्धिर्यस्य स निरहंकार इतिशंकरानन्दव्याख्यानन्त्वयुक्तं श्रुतिस्मृतिष्वहमर्थस्यैवात्मत्वनिश्चयात् । समदुःखसुखो द्वेषरागाभ्यां विरक्तत्वात् समे दुःखसुखे यस्य सोऽत एव क्षमी दुर्जनैस्तिरस्कृतः सन्नपि क्षमावान् । सहनशील इत्यर्थः । सन्तुष्टो देहयात्रोपयोगिनानायासलभ्यवस्तुना सन्तोषयुक्तः सततं योगी प्रत्यगात्मयाथात्म्यध्याननिरतो यतात्मा संय-

तमानसो दृढनिश्चयो गुरुशास्त्रोपदिष्टेऽर्थे निश्चलोत्साहश्रद्धो मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मत्प्राप्तीच्छया मय्येवावेशितमनोऽध्यवसायधिषणः प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुसन्धानतत्परस्यापि परमात्मन एव चरमप्राप्यतया परमात्मनि मनोनिवेशनस्यावश्यकत्वान्न साधनान्तरत्वम् । य एवमनभिसंहितफलकर्मयोगमनुतिष्ठन् मद्भक्तोऽस्ति स मम प्रिय एव । नन्वस्य प्रपाठकस्य परभक्तिनिरूपकत्वेन प्रसिद्धत्वा'न्मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता, (गी. १२ । २) इत्यारम्भिकभगवद्वाक्येन परभक्तिमत एव युक्ततमत्वप्रतिपादनात् 'मय्येव मन आधत्स्व' (गी. १२ । ८) इति मध्येऽप्यर्जुनाय परभक्तेरेवोपदिष्टत्वात् परभक्तिमतः साक्षाद् ब्रह्मोपासकस्यैवेतिकर्तव्यताप्रकारप्रतिपादनपरेयं सप्तश्लोकी स्यात्, यथा प्रयाजाङ्गमध्ये पठितमभिक्रमणं सन्दंशेन प्रयाजाङ्गत्वं भजते तथाऽत्रापि परभक्तिप्रकरणे प्रोदीर्यमाणानामेषां धर्माणां परभक्तिमत एव विशेषणत्वमावश्यकमितिचेदयमत्र निर्णयः । सपरिकरभक्तियोगस्य प्रतिपिपादयिषयैव मध्यमषट्कस्य समारब्धत्वात्तत्रापि द्वादशप्रपाठकस्य तु परमपुरुषप्राप्तेः साक्षात्साधनभूतायाः परभक्तेः स्वरूपविवक्षयैवोपक्रान्तत्वात्तदुपसंहारेऽपि परभक्तिविशिष्टस्य भक्तस्यैव निर्देश आवश्यकस्तथैव प्रतिपादितमपि । किन्तु यथाप्रश्नं प्रतिवक्तव्यमिति नियमाद् भगवद्भक्ताऽक्षरोपासकयोर्मध्ये कः श्रेष्ठ इत्यर्जुनजिज्ञासाया उत्तरप्रदानायैवोत्तरग्रन्थस्योदीर्यमाणत्वेनादौ भगवता 'मय्यावेश्य मनो ये मामि'त्यादिना स्वभक्तस्यैवोत्कृष्टत्वमभिधायाक्षरोपासकस्याधिकतरक्लेशवैशिष्ट्यादपकृष्टत्वमुक्तम् । अग्रे च 'येतु

सर्वाणि कर्माणि, इत्यारभ्य 'निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः, इत्यन्तेन ग्रन्थेन भूयोऽपि स्वभक्तस्याचिरेण जगज्जलधेः समुद्धर्त्ता भवामीति स्वकण्ठरवेणोक्त्वा तच्छ्रैष्ठ्यमदर्शि। ततश्च 'अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयी'त्यत आरभ्य स्वभक्तेः श्रैष्ठ्यमुद्धाटयितुमेव पूर्वपूर्वोपायस्य दौष्कर्यमुत्तरोत्तरस्य च सौकर्यं व्यञ्जयताऽक्षरोपासकस्य तदनुष्ठेयकर्मयोगस्य च मान्द्यमुपापादि। 'श्रेयो हि ज्ञान,मिति श्रेयस्त्वोक्तिस्त्वधिकारितारतम्यात्तदुचितानुष्ठानसौकर्यनिबन्धनैवेत्यवेहि। ततः सप्तभिरक्षरोपास्तेः प्रकारं प्रदर्शयता कर्मयोगिनः स्वरूपं न्यरूपि। एवञ्चाक्षरोपासकपरैवेयं सप्तश्लोकी। न चात्र 'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः, 'भक्तिमान् यः स मे प्रियः 'भक्तिमान् मे प्रियो नरः' इति चतुर्भक्तिनिष्ठ एवोच्यते। एवमेव सप्तमे 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः, (गी. ७।) इति प्रियशब्देन ज्ञानी परमभक्तिमानेव निर्दिष्टस्तद्वदत्रापि निर्देशः स्यात्। एतत्सामानाधिकरण्याच्च अद्वेष्टृत्वादयो-धर्मा भक्तिमत एव स्युरिति वाच्यम्। ध्यानात् कर्मफलत्याग इति कर्मप्रसङ्गानन्तरमेव पठितानां तेषां तदङ्गत्वं निश्चीयते। एवञ्चात्र मद्भक्त इत्यादिषु विशेषणतया श्रूयमाणा भक्तिः कर्मयोगान्तःपातिनी गौणभक्तिरेव बोध्या। कर्मज्ञानयोगयोरपि भक्तिसम्बन्धोऽवश्यमभ्युपेयस्तस्माद् 'ये तु धर्म्यामृतमिदमि'त्यत्र परभक्तिनिष्ठा एवोच्यन्ते।:ये त्विति पक्षव्यावर्तकतुशब्दोपादानात् 'मत्परमा भक्ता' इति भक्तानां मत्परमविशेषितत्वाद् 'अतीव मे प्रिया' इत्यतिशयप्रियत्वेन बिशेषितत्वाच्च। सप्तश्लोक्यान्तु पञ्चकृत्वो वर्णितेषु भक्तेषु प्रियत्वमेवोक्तं न त्वतिशयप्रियत्वं

> यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
> हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥
> अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
> सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

यस्मात् कर्मयोगिनो लोकः कश्चिदेकोऽपि जनो नोद्विजत उद्वेगं नाप्नोति। लोकोद्वेगजनककर्मरहित इति भावः। तथा यः स्वयमपि लोकान्नोद्विजते क्षोभं न प्राप्नोति। अन्यलोकनिमित्तकोद्वेगस्पर्शरहित इति भावः। अत एव यो हर्षेण प्रीत्याऽमर्षेणासहिष्णुतया भयेन त्रासेनोद्वेगेन क्षोभेण च मुक्तः स च भक्तो मे प्रियः॥ १५॥

अनपेक्षः स्वात्मव्यतिरिक्ते पदार्थेऽपेक्षारहितः शुचिर्बाह्यान्तरशौचसम्पन्नो दक्षः स्वधर्मपालने कुशल उदासीन-
तस्मात् सप्तश्लोकी कर्मयोगिनमक्षरोपासकभक्तमेवाभिधत्त इति विभावयन्तु सुधियः॥१३॥ १४॥

प्रकारान्तरमाह—यस्मादिति। यस्मात् कर्मयोगानुष्ठायिनो लोको जन एकोऽपि नोद्विजत उद्वेगं सन्तापं संक्षोभञ्च न प्राप्नोति। यश्च लोकान्नोद्विजते लोकान्निमित्तान्न स्वयमपि लेशतोऽप्युद्वेगं गच्छति, सर्वोऽपि लोकः कर्मनिष्ठमेनं सज्जनं निर्वैरं मुनिं निश्चिनुयात्तथैवास्य प्रवृत्तेरिति भावः। अत एव हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तस्तत्तल्लोकं प्रति सामान्येनैव साधुस्वभावेन वर्तते न तूपकारिणि हर्षेणानुपकारिण्यमर्षेण क्लेशप्रदे भयेन द्विष्टे चोद्वेगेन तस्मिंस्तस्मिंश्च तथा तद्भावाभावादेवंविधो यः कर्मयोगी स च मे प्रियः॥ १५॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

आत्मचिन्तनातिरिक्ते निष्प्रयत्नो गतव्यथः शीतोष्णादिद्वंन्द्वतितिक्षायां व्यथारहितः सर्वारम्भपरित्यागी वैदिकलौकिककाम्यकर्मसु निश्चेष्ट एवंविधविशेषणयुक्तो यो मद्भक्तः स मे प्रियः । साध्वाचारसम्पन्नः कर्मयोगमनुतिष्ठन मद्भक्तो मम प्रियो भवतीत्यर्थः ॥१६॥

यो न हृष्यति हर्षनिमित्तमिष्टं वस्तूपलभ्यापि हर्षं नाप्नोति न वाऽप्रियं प्राप्य द्वेषमाचरति, न शोचति शोककारणमासाद्यापि शोकं न करोति, न कांक्षति स्वोपयोगायावश्यकमपि वस्तु नैवेच्छति, शुभाशुभपरित्यागी मत्प्राप्तिविरोधिकर्म पुण्यापुण्यात्मकमपि परित्यजते य एवंभूतो मद्भक्तः स कर्मानुष्ठाता मम प्रियोऽस्ति ॥ १७ ॥

स्वात्मानुसन्धानपरायणस्याधिकारिणः प्रकृतत्वादनपेक्षस्तदतिरिक्ते पदार्थेऽनपेक्षः शुचिः शास्त्रविहितसात्विकाहारसेवनजनितबाह्याभ्यन्तरपवित्रतायुक्तो दक्षो वर्णाश्रमधर्मपालनकुशल उदासीनो नित्यनैमित्तिकादिस्वोचितकर्मातिरिक्तकर्मसूदासीनो गतव्यथः स्वधर्मपालने नान्तरीयतयाभ्यापन्नेभ्यो व्यथाहेतुभ्योऽदूयमानचित्तः सर्वारम्भपरित्यागी वैदिकलोकिकेषु काम्यकर्मसु करणकलेवरव्यापारवर्जितो य एवंभूतो मद्भक्तः स कर्मयोगी मे प्रियः ॥ १६ ॥

यः सर्वकर्मफलत्यागी महात्मा न हृष्यति यदृच्छयोपनतान् हर्षप्रदानपि पदार्थान् सम्प्राप्य हर्षं न प्राप्नोति तथा तथाभूतानप्रियान-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

समः शत्रौ च मित्रे च प्रसङ्गेन मित्राऽमित्रयोरुपस्थितयोः सतोरपि समानमानसस्तथा मानापमानयोरपि शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः सर्वथासक्तिरहितो निन्दास्तुत्योस्तुल्यो द्वेषादिवर्जितत्वादत एव मौनी निन्दास्तुतीवाच्य न द्वेष्टि द्वेषं न करोति न शोचति पुत्रकलत्रमित्रादिवियोगाच्छोकं न करोति । शोकबीजेषु तथाविधसम्बन्धरहित इति भावः । एतदेवोक्तं पुराणरत्ने—'यद्यत्प्रीतिकरं पुंसो वस्तु मैत्रेय जायते । तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति' (वि. पु.) अन्यच्च 'यावन्तः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः' (वि. पु.) इति । न कांक्षत्यनागतं किमपि वस्तु नाभिलषति । शुभाशुभपरित्यागी पुण्यपापयोरुभयोरपि श्रेयसः प्रतिबन्धकत्वात् पापमिव पुण्यस्यापि हेयत्वमुक्तं मनीषिभिरित्याह—शुभाशुभपरित्यागी दुष्कृतवत् सुकृतस्यापि परित्यागी 'तत्सुकृतदुष्कृते धुनुत' इति श्रुतेः । एवञ्चानेन मुक्तिप्रतिबन्धकं यत्किञ्चिदपि शुभमशुभं प्रियमप्रियं वा तत्सर्वंमुमुक्षुभिः सर्वथा परिवर्जमीयमित्युक्तम्भवति । एवम्भूतो यो भक्तिमान् कर्मयोगान्तर्गतभक्त्यनुष्ठानतत्परः स मम प्रियोऽस्ति ॥ १७ ॥

एवं कर्मयोगिनोऽनेकान्धर्मानभिधाय विषमतयोपस्थितेष्वप्यस्य साम्यमभिधत्ते—सम इति । शत्रौ च मित्रे च समः 'अद्वेष्टे, त्यत्र द्वेषराहित्य-

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

समाचरत्सु स्वयं मौनमाश्रितो येन केनचिदल्पेनापि सन्तुष्टोऽनिकेतो निकेतासक्तिरहितः कर्मयोगमनुतिष्ठन्नध्यात्मस्वरूपानुसन्धाने स्थिरमतिर्यो भक्तिमान् पुरुषः स मेप्रियः ॥ १८ ॥ १९ ॥

अथोपक्रान्तभक्तियोगनिष्ठस्योत्तमत्वमभिदधदुपक्रान्तं प्राकरणिकमुपसंहरति—य इति । तुशब्दोऽत्राधिकार्यन्तरपरस्तथा च ये भक्ता धर्मादनपेतं धर्म्यं चामृतञ्चेदं यथोक्तं 'मय्यावेश्य मुच्यते प्रकृते तु परस्परविरुद्धयोर्मित्राऽमित्रयोः मनोवृत्तेः साम्यं तेन चास्य नानर्थान्तरत्वम् । तथा परस्परविरुद्धयोर्मानापमानयोरप्यस्य कर्मयोगसाधकस्य मनोवृत्तेः साम्यमेव भवति । शीतोष्णसुखदुःखेषु च समो द्वन्द्वभूतयोः शीतोष्णयोः सुखदुःखयोश्च समः सङ्गविवर्जितो मनस उन्माथिषु हेयोपादेयवस्तुष्वनासक्तस्तुल्यनिन्दास्तुतिस्तिरस्कृतवाचः प्रशस्तवाचः श्रवणे च निर्विकारचित्तोऽत एव मौनी तादृशप्रसंगे मौनयुक्तो यतो येन केनचिद् यदृच्छयोपनतेनाल्पेनापि सन्तुष्टोऽतो न पूर्वेण पौनरुक्त्यम् । अनिकेतो गृहक्षेत्रारामादिषु ममत्वविधुरः स्थिरमतिः सदात्मचिन्तनेऽचञ्चलधिषण एतदेवोक्तं कतिचिद्वचेयगुणान्निषिध्य मोक्षोपयोगिगुणान् विदधताऽपस्तम्बेन 'न शब्दाशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चापि रम्यावसथप्रियस्य । न भोजनाच्छादनतत्परस्य न लोकचित्तग्रहणे रतस्य । एका-

मनो ये मां, इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण श्रद्दधानाः श्रद्धां कुर्वन्तो मत्परमा अहमेव परमो येषान्ते मत्परमा मयि न्तशीलस्य दृढव्रतस्य पञ्चेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य । अध्यात्मविद्यारतमानसस्य मोक्षो ध्रुवो नित्यमहिंसकस्य, (आ. स्मृ. १०।६।७) एतादृशधर्मसम्पन्नो यो भक्तिमान् कर्मयोगी नरः स मे प्रियः ॥१८॥१९॥

तदेवमस्मिन् द्वादशाध्याये पूर्वं परब्रह्मप्राप्तेः साक्षादुपायरूपपरभक्तेस्तद्वतश्चाक्षरपदवाच्यप्रत्यगात्मनः प्राप्तेरुपायभूतात् कर्मयोगात् तद्वतश्च ज्यायस्त्वमभिधाय मध्ये च 'मय्येव मन आधत्स्व' (गी. १२) इति परभक्तिरूपोपायस्यैवाभ्यासो विहितस्तत्राऽशक्तानां त्वक्षरसाक्षात्कारफलकः परभक्तियोगोपायभूतः सापेक्षः कर्मयोगोऽधिकारिकर्तव्यप्रकारप्रदर्शनपुरःसरमुत्कृष्ट इत्यभ्यधायि । इदानीमन्ते' मय्यावेश्य मनो ये माम्, इत्यादिनोपक्रान्तायाः परभक्तेरेव सर्वोत्कृष्टफलदायित्वेन श्रेष्ठत्वं तद्वतामेव चातीव प्रियत्वमिति स्वकीयराद्धान्तमुपपादयन् मध्यमषट्कप्रधानप्रतिपाद्यमस्मिन् द्वादशाध्याये च विशिष्टतया प्रकृतं भक्तियोगमुपसंहरति—य इति । तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । ये तु मत्प्राप्तिप्रयोजना भक्ता धर्मादनपेतं धर्म्यं परभक्तियोगममृतवदत्यन्तोपकारकतया प्रियं यथाऽऽदौ मध्ये चोक्तं तथा श्रद्दधानाः श्रद्धास्तिक्यबुद्धिं दधाना मत्परमा अहं सर्वाधिपतिरेव परमः परमाभिप्रेतः प्रियोपास्यरूपो येषान्ते ते तथाविधा भक्ता अतीवातितरां मे मम प्रियाः । अस्य श्लोकस्योपसंहारवाक्यत्वात् 'मय्यावेश्य मनो ये मामित्याद्युपक्रमवाक्यायार्थवदर्थः स्पष्ट इष्ट एव । तथा हि 'मय्यावेश्य मनो ये माम्, एतत्समानार्थकं 'ये तु धर्म्यामृतमिदं वाक्यम्. नित्ययुक्ता एतत्समानार्थकं मत्परमा इति 'श्रद्धया परयोपेता इत्येतत्समानार्थकं श्रद्-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

मनोऽध्यवसायपूर्वकं परभक्तिं कुर्वन्तस्ते भक्ता ममातीव प्रिया अत्यन्तमेव प्रिया इत्यर्थः । अत्रोपक्रान्तस्यैवोपसंहारदर्शना-द्यमेवार्थः समुपादेय इति निश्चीयते ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

श्रेष्ठोपायस्तु मुक्तेर्भगवति सुदृढा प्रीतिरेकैव शुद्धा
तत्राशक्तस्य कर्मण्यभिरुचिरुचिता ह्यात्मनिष्ठस्य पुंसः ।
आत्मोपास्तेः प्रकारा अतिरतिमदिशत् स्वस्य भक्ते परेशः
स्वर्थानेतानवादीच्छ्रितजनरतिकृद् द्वादशे श्रीमुकुन्दः॥१२॥

धाना इति, ते मे युक्ततमा इत्येतत्समानार्थकं तेऽतीवमेप्रिया इति; उपासत इति तूभयत्र श्रुतमेव । अत एवैतज्ज्ञापयितुं भाष्ये 'उपक्रान्तम्प्राक्-रणिकार्थमुपसंहरती, त्युक्तम् ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभावन-न्दाचार्यद्वारकेण जगद्विजयिना सर्वतंत्रस्वतंत्रेण महामहोपा-ध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभग-वद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।

महामहोपाध्यायस्वामिश्रीरघुवराचार्यकृतो

रम्यधर्मोपदेशः ।

नवनीरदभव्यश्रीश्रितदिव्यगुणाय च ।
नमो जगदधीशाय साकेतनिलयाय नः ॥१॥
मैथिलीकल्पलतिकाऽलकवल्लरिचञ्चलः ।
श्रीकोशलेशरोलम्बो लम्बतां मे हृदम्बुजे ॥२॥
दोषज्ञा गतमन्यवश्च सुहृदश्चान्ये सुविद्यार्थिनो
युष्माकं पुरतो मया किमपि चेद् वक्तुं समारभ्यते ।
तत् सर्वं विदिताशयं भवति वोऽथापि प्रवक्ष्ये परं
हंसक्षीरनयं निधाय मनसि ग्राह्यो गुणो नोऽगुणः॥३॥
श्रीमद्भिर्ललितैर्मनोहरतरैः पद्यैःप्रशस्तिः कृता
सेयं प्रेमविशिष्टतां गमयति प्रीतेरिदं लक्षणम् ।
नो चेन्मन्दतरे मयि क्षतमतौ क्वायं गुणानां चयः
सन्तः स्युर्गुणलिप्सवस्तु जगतीत्युक्तिः समुज्जृम्भते॥४॥
भवद्भिर्मयि यत् प्रेम दर्शितं तस्य किञ्चन ।
न शक्नोम्युत्तरं वक्तुं ह्रियावनतमस्तकः॥५॥
तथापि धार्ष्ट्यमेवेदमातन्वे श्रीमतां पुरः ।
कथयामि यथाबुद्धि वचनं त्ववधार्यताम् ॥६॥
जन्मर्क्षयोग एवायं वर्त्ततेऽद्य मया ततः ।
न हर्षोद्रेकता ध्येया विचार्यैदं जगच्चलम् ॥७॥
मूढा जानन्ति घस्त्रेषु वृद्धिरेतावती ह्यभूत् ।
परं विज्ञास्तु वयसो विचेरुर्ह्रासमद्भुतम् ॥८॥
क्षणं क्षणं वयो याति रयो नद्या इव द्रुतम् ।
सूपयोगे व्ययो येन न कृतोऽस्य स मूढधीः ॥९॥

धन्यं जन्मदिनं तेषां येषां धर्मे रता मतिः ।
अधर्मनिरतानां तु जीवनं भस्महोमवत् ॥१०॥
धर्ममेव परं तत्त्वं भारतीया अपि प्रथन् ।
सर्वैः प्राणव्ययेनापि रक्ष्य एवेति च श्रुतिः ॥११॥
वेदशास्त्रोदितान् धर्मान् वर्णाश्रमपुरस्कृतान् ।
मनुजा येऽनुतिष्ठन्ति जितस्तैः स्वर्ग उत्तमः ॥१२॥
ततोऽपि भगवद्धर्माः श्रेष्ठास्तस्मान्मुमुक्षुभिः ।
अवश्यं परिपाल्यास्ते वर्णधर्माश्च गौणतः ॥१३॥
व्यवस्थेयं विमृश्यैवं प्रत्यपादि महर्षिभिः ।
भगवानपि गीतायाममुमर्थममन्यत ॥१४॥
वर्णाश्रमेतिवचसा न चलतीत्यपरेण च ।
अगादीदमुमेवार्थं पिता व्यासस्य धीमतः ॥१५॥
तस्यैव जन्मनः श्रैष्ठ्यं स्पष्टमूचुर्महर्षयः ।
यस्य राघवपादाब्जे भक्तिः स्यादनपायिनी॥१६॥
नाना शास्त्रविचारे हि सार एष विनिश्चितः ।
रामप्रपत्तिरित्येव धर्मोऽयं सर्वतोऽधिकः ॥१७॥
तस्माद्धर्मसमाचारो जन्मनोऽसुव्ययेन हि ।
येनव्यधाय्यधिक्षोणि सफलं तस्य जीवितम् ॥१८॥
श्वसन्त्यौदरिकाः केचिन्मादृशा जगतीतले ।
प्रारब्धमनुभुञ्जानाः का प्रशस्तिस्तु तादृशाम् ॥१९॥
तथापि प्रेमपीयूषपरीवाहं सुखावहम् ।
वहामि शिरसा सर्वं भवतः स्नेहनियन्त्रितः ॥२०॥
सर्वे निरामयाः सन्तु सर्वेऽत्र सुखभागिनः ।
सर्वेषां सुदिनं भूयात् प्रार्थये कोशलाधिपम् ॥२१॥

नमः परब्रह्मणे श्रीरामाय ।

आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ तृतीयषट्कमारभ्यते

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव ॥१॥

अथ परमकारुणिको भगवान् देवकीनन्दनो निजभक्तजनोद्धारायाऽध्यात्मविद्याप्रधानं षट्कत्रयात्मकं गीताशास्त्रमर्जुनोपदेशव्याजेनाविर्भावयाम्बभूव । तत्र प्रथमषट्केन परभक्तेरुपायभूताक्षरयाथात्म्यज्ञानाय ज्ञानगर्भितकर्मयोगमभ्यधात् । द्वितीयेन च परमपुरुषानुभवलक्षणमोक्षसाधनसमर्थं सपरिकर-

त्रिविधदुःखानामात्यन्तिकीं निवृत्तिं परमपुरुषार्थावाप्तिञ्चानेन षट्कत्रयात्मकगीतारूपाध्यात्मशास्त्रेणोपदिदिक्षुरादिपुरुषो भगवानादिमषट्केन स्वान्तर्यामिस्वरूपानुभवितुरुपासकस्य स्वप्राप्त्योपायप्रयोजकज्ञानकर्मणोः स्वरूपं प्रत्यपीपदत् ससामान्यविशेषम् । ततो मध्यमषट्केन च

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

भक्तियोगं प्रत्यपीपदत् । एवं षट्कद्वयेन निखिलमप्यध्यात्मशास्त्रं सम्पाद्य तत्र निर्दिष्टानामेव पदार्थानां संशोधनपरमिदं तृतीयषट्कमारभते । तत्रास्मिंस्त्रयोदशाध्याये प्रकृतिपरिणास्वरूपस्य शरीरस्य तदध्यक्षस्य जीवस्य स्वरूपस्वभावयोर्विवेकज्ञानमुपपादयति । तत्रादौ प्रकृतिपुरुषक्षेत्रक्षेत्रज्ञानां नियन्तुः परमप्राप्यस्य परेशस्यानितरसाधारणं महाश्चर्यकरं स्वरूपं तन्माहात्म्यञ्चोपवर्ण्य तत्प्राप्तेः साक्षादुपायभूतमनुध्यानादिपदवाच्यं भक्तियोगमेव समुपादिशत् । एवं द्वादशाध्यायात्मकेन त्रिकचतुष्टयभेदभिन्नेन षट्कद्वयेन भगवद्विधेयस्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तदनुष्ठेयभूतानां क्रमेण कर्मज्ञानभक्तियोगानाञ्च स्वरूपं निरदिशत् । एवमेभिरुपायैरुपेयपदस्य परमात्मनः प्राप्तेः सम्यगुपपादनेनाशेषं शास्त्रार्थं सफलं न्यरूरुपत् । ततश्चावशिष्टेनानेन त्रिकद्वयात्मकेन तृतीयषट्केन प्रागुदीरितपदार्थानां षट्कद्वयोपदिष्टानां फलपर्यवसायि विशुद्धं स्वरूपमेव दिदर्शयिषुः करुणाकूपारो भक्तवत्सलः श्रीकृष्णश्चिदचिदीश्वरतत्वानां परस्परं स्वरूपसम्बन्धादिप्रकाशनपुरःसरं याथात्म्यज्ञानं दैवासुरसम्पद्विवेकमुपासितुरात्मशुद्धयेऽनुष्ठानोपयोगियज्ञतपोदानश्रद्धान्नाद्याहाराणां सात्विकादिप्रभेदेन त्रैविध्यं सात्विकभावसमन्वितानां स्वानन्यचिन्तकानां ज्ञानसाध्यानुध्यानेनैव परमानन्दलक्षणभगवत्स्वरूपस्योपलब्धि न त्वेतद्विविक्तेनाऽध्वनेति स्वकीयमतिदृढं हार्दं बुभुत्सवेऽर्जुनाय जिग्राहयिषुश्चिदचिदीश्वरयाथात्म्यस्वरूपस्वभावसम्बन्धप्रबोधकेऽस्मिन् प्रथमे त्रिके त्रयोदशचतुर्दशाध्यायाभ्यां वैशिष्ट्येन क्षेत्रक्षेत्रज्ञपदवाच्यप्रकृतिपुरुषस्वरूपमवान्तराकारप्रकारपरिचयपूर्वकं पञ्चदशाध्यायेन च शरीरभूतयोः

ज्ञानज्ञेययोश्च स्वरूपं लक्षणञ्च विज्ञातुकामोऽर्जुन उवाच–प्रकृतिमिति । हे केशव ! पुर्वमुदिष्टां प्रकृतिं पुरुषं क्षेत्रं तथा क्षेत्रज्ञं क्षेत्रज्ञपदवाच्यमेवमेतेषां ज्ञानमितोऽन्यज्ज्ञेयं यदि भवेत्तदैतदपि वेदितुमिच्छामि। सामान्येनोक्तानामप्येतेषां विस्तेरण लक्षणानि ज्ञातुमिच्छामीत्यर्थः ॥१॥

प्रकृतिपुरुषयोश्शरीरिणं सर्वजगन्नियन्तारमनादिनिधनं पुरुषोत्तमपदाभिधेयं परमात्मानमेव लिलक्षयिषुस्तत्रादावस्मिंस्त्रयोदशाध्याये वेदान्ताभिमतप्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपमचिद्विलक्षणस्य प्रत्यगात्मनो देहसम्बधेनप्रयोजनमभिधाय पारार्थ्यसम्पादानाय सम्बद्धयोरपि विविक्तस्वरूपस्वभावयोस्तयोः स्वरूपपार्थक्यचिन्तनस्यावश्यकत्वेन तदनुगुणमेवाशेषं प्रतिपादयति । तत्रादावतिसंक्षेपेण सप्तमे 'भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहकांर इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेयमित्स्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्, (गी.) इति परापरलक्षणप्रकृतिस्वरूपाणि विस्तरेण जिज्ञासुरर्जुन उवाच–प्रकृतिमिति । हे केशव ! प्रकृतिं पूर्वं त्वया भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरहंकारश्चेत्येवं प्रकारेणोपदिष्टा सैव प्रकृतिरन्या वा काचिदिति तां विस्तरेण वेदितुमिच्छामि पुरुषं पुरुषपदवाच्यं क्षेत्रं क्षेत्रपदव्यपदेश्यं तथा क्षेत्रज्ञं क्षेत्रविषयकज्ञानवन्तं तथैव ज्ञानं ज्ञेयञ्चैतत्सर्वमहं लक्षणप्रमाणाभ्यां स्पष्टतया वेदितुमिच्छामि । केचित्त्वयं श्लोकः प्रक्षिप्त 'इदं शरीरमि'ति भगवद्वाक्यत एव प्रपाठकारम्भात् । भगवता स्वयमेव क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपयोः परिचयोऽर्जुनाय कृत इत्याहुः । अस्मादाचार्यपादभाष्ये तु त्रयोदशप्रपाठकाद्यावयवरूप एवायं श्लोकः । यतो द्वादशा-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥२॥

एवमर्जुनजिज्ञासितस्यार्थस्यानुपेक्षणीयत्वेन प्रकृतिपुरुषपदाभिधित्सितक्षेत्रक्षेत्रज्ञादिस्वरूपविवेकपरिज्ञानाय श्रीभगवानुवाच–इदमिति । हे कौन्तेय ! इदं जातिगुणक्रियादिभेदैर्भिन्नं भोक्तुर्जीवस्य भोगायतनतया पार्थक्येनावस्थितं शीर्यत इति शरीरं क्षेत्रं कर्मबीजप्रयोजनोत्पादकतया क्षेत्रमिव क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतदाश्रित्य जीवः कृषीवलवत् कर्मफलमुत्पाद्य-

ध्याये भक्तियोगो निरूपितस्तदनन्तरं किं निरूपणीयमित्याकाक्षावश्यमुपतिष्ठते । सा चेयमाकांक्षा प्रकृतश्लोकीयार्जुनजिज्ञासयाऽपोद्यते । तथाविधार्जुनजिज्ञासाविषयीभूत एवार्थ ' इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्र,मित्यादिभगवद्वाक्यैरभिधीयत इति नानाकाक्षितार्थप्रतिपत्तिः । तदुक्तं रामानन्दभाष्ये 'एवमर्जुनजिज्ञासितस्यार्थस्यानुपेक्षणीयत्वेन प्रकृतिपुरुषपदाभिधित्सितक्षेत्रक्षेत्रज्ञादिस्वरूपविवेकपरिज्ञानाय श्रीभगवानुवाच इदमितीति ॥ १ ॥

एवमर्जुनस्य जिज्ञासामवगम्य तां समाधातुकामः श्रीभगवानुवाच –इदमिति । हे कौन्तेय ! इदं सन्निकृष्टप्रत्यक्षरूपेणानुभूयमानं शरीरं शीर्यते कालक्रमेणाहर्दिवमिति व्युत्पत्त्या क्षयिष्णुर्देवोऽहं, मनुष्योऽहं, स्थूलोऽहं गच्छामीत्यादिप्रतीत्या जात्याद्याश्रयतया ततो विलक्षणेन तदध्यक्षेण जीवेन सह सामानाधिकरण्यमश्नुवानमिव प्रतीतिविषयतां गतं क्षेत्रं क्षेत्रवत्क्षेत्रं कर्मबीजोत्पादकत्वात् क्षतात्त्राणकर्तृत्वात् क्षीयते क्षरति वेति व्युत्पत्त्या क्षरणशीलत्वात् क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

भुंक्त इति भावः । एवञ्चात्र क्षतात् त्रायत इत्याद्यर्थः प्रकृतानुपयुक्तत्वाद्धेयः । तद्विद्भिरिति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । एतदुक्तस्वरूपं क्षेत्रं यः पुमान् वेत्ति विवेकेनावगच्छति नाहं क्षेत्रमात्रं किन्त्वस्माद्विलक्षणः । ननु मनुष्योऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यप्रतीतिरहमर्थेदमर्थदेहयोरभेदमाचष्ट इति साम्प्रतम्, 'मम देह' इत्यादि प्रबलप्रामाणिकप्रत्ययेन तद्बाधात् । तं तथाविधं देहात्मविवेकशालिनं तद्विदो देहिदेहविवेकाचारचणाः क्षेत्रज्ञ इति प्राहुर्भोगायतनात् क्षेत्रात्तदधिष्ठातृतया तत्रोपलभ्यमानो जीवोऽत्यन्तविलक्षण एवेत्याशयः ॥२॥

अग्रे प्रोदीर्यमाणं तद्विद इति पदं विभक्तिविपरिणामेनात्रापि सम्बद्ध्यते । तद्विद्भिः शरीरलक्षणवेदिभिरिति तदर्थः । अत्र शरीरमात्रस्य क्षेत्रत्वोक्तिर्भोग्यभूताद्भोक्तुः पार्थक्यं गमयति । ननु मनुष्योऽहं स्थूलोऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यप्रत्ययेन देहात्मनोस्तथैव काणोऽहं बधिरोऽहमित्यादिप्रत्ययेन चेन्द्रियात्मनोश्चैक्यप्रतिपत्तिरेव कुतो नेष्यत इति चेन्न, शरीरावयवेषु करचरणादिषु यथा मम करो मम चरण इति सर्वजनीनानुभवाद् भेदोऽभ्युपेयते तथा स्वस्थं मम शरीरं ज्योतिष्मन्मे चक्षुरित्यादिभेदव्यपदेशाद्देहेन्द्रियात्मनां भेदः सिध्यति । न चैवं देवोऽहमित्यादिसमानाधिकरणप्रतीतयो भ्रान्ताः स्युर्न हि कश्चिन्मनुष्योऽहमिति स्वस्मिन्ननुभवन् भ्रान्तो भवति न वा परैस्तथा व्यवह्रियत इति वाच्यम् ; कर्मार्जितदेहेन्द्रियविलक्षणपरिच्छिन्नवस्त्वनुभवसमये देहेन्द्रियाद्यध्यक्षेण तदवगमशालिनं देहिनमनुभवन्तोऽपि स्वरूपाद्देहादावनुसन्धाने तु स्वस्य ज्ञातृतया

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥३॥

इदानीं क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानमेवोपादेयज्ञानमिति स्वमतमाह–क्षेत्रज्ञमिति । हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु देवमनुष्यादिशरीररूपक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं तत्तच्छरीराभिमानविशिष्टं जीवं मां विद्धि मदात्मकमवगच्छ । अपिना सन्निधानात् क्षेत्रमुच्यते । क्षेत्रमपि मां मदात्मकं जानीहीति तदर्थः । यथा क्षेत्रज्ञविशेषणतैकस्वभावतया क्षेत्रं साक्षादवगम्यते क्षेत्रपदवाच्यशरीरस्य क्षेत्रज्ञापृथक्त्वेन क्षेत्रज्ञसामानाधिकरण्येनैव व्यपदेशतस्था क्षेत्रक्षेत्रज्ञावुभावपि भगवद्विशेषणतैकस्वभावतया भगवदपृथक्त्वेन देहादेर्ज्ञेयतयैवोत्पद्यमानायाः सर्वेषां प्रतीतेरवितथत्वादपृथक्सिद्धविशेषणानां जातिगुणक्रियादीनां पृथक्स्थित्यनर्हतया सामानाधिकरण्येनैव प्रतीतेर्लोकशास्त्रयोरसकृदुपलभ्यमानत्वाच्चैतद्दोषाभावात् । एतच्छरीरपदवाच्यं क्षेत्रं यः पुरुषो वेत्यवगच्छति । आत्मविविक्ततयाऽनुभवतीत्यर्थः । तं देहात्मविवेकवन्तं पुरुषं तद्विदो देहात्मयाथात्म्यवेदिनः 'क्षेत्रज्ञः' इत्याहुर्वदन्ति ॥ २ ॥

एवं भगवच्छेषभूतयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः सामान्येन स्वरूपं लक्षणञ्चाभिधाय क्षेत्रज्ञस्य विशिष्टस्वरूपं बुबोधयिषुरादिपुरुष एतद्विषयकज्ञानस्यैव स्वाभिमतज्ञानत्वमिति प्रशंसन् तदुपदिशति–क्षेत्रज्ञमिति । हे भारत ! सर्वेषु देवमनुष्यादिसंस्थानसंस्थितेषु क्षेत्रेषु ज्ञानैकाकारं क्षेत्रज्ञं प्रकृतिपरिणामभूतशरीरेण सम्बद्धतया तदाधारभूतं क्षेत्रनियामकं क्षेत्रज्ञपदवाच्यं मदात्मकं विद्धि तथाऽपिशब्दात् क्षेत्रमपि मदात्मकं

भगवत्सामानाधिकरण्येनैव निर्देष्टुं शक्यौ नेतरथेति जानीहीति भावः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः शरीरत्वं परमात्मनश्च तदात्मत्वमिति नियमाद् भगवच्छरीरतैकस्वभावयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तदात्मतयावस्थितस्य परमपुरुषस्य च स्वरूपं यथावच्छ्रुतिषूपदिष्टम् । ताश्च श्रुतयः 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः, (बृ) य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरम्, 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' इत्याद्याः । अभिहितं चैतत् सिद्धान्तविजयेऽपि–"घटकश्रुतिभिर्देहौ चेतनाविद्धीति सम्बन्धः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विशेषणतैकस्वभावयोरपृथक्सिद्धिसम्बन्धेन परमात्मना समं सामानाधिकरण्यमुपपद्यते । ननु क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वादुभयोरपृथक्सिद्धत्वादुपपद्यते सामानाधिकरण्येन विशेष्यविशेषणभावः परमात्मनस्त्वप्रत्यक्षत्वात् कथमिव तयोर्विशेषणत्वमुपपद्यतामिति चेन्न स्वेतरसमस्तपदार्थानां भगच्छरीरत्वेन "यस्य पृथिवी शरीरं" 'यस्यापः शरीरम्, यस्यात्मा शरीरम्, 'जगत्सर्वं शरीरन्ते स्थैर्यन्ते वसुधातलम्, इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यतया तत्परिज्ञानवतां वेदाधिकारिणां क्षेत्रज्ञक्षेत्रस्वरूपयोश्चिदचिदोरीश्वरविशेषणत्वे सन्देहाभावात् । ननु चिदचिदीश्वरेभ्योऽतिरिक्तस्य कस्यचिदपि तत्त्वस्याभावेन व्यावर्त्याभावान्न चिदचिदोर्व्यावर्त्तकत्वात्मकं विशेषणत्वं सिध्यतीति चेन्न, तयोः परस्परं व्यावर्त्यमानत्वेन दोषाभावात् । अत एवोक्तं सिद्धान्तविजयकारकैर्जगद्गुरुभिः श्रीश्रियानन्दचार्यैः "घटक-

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

चेतनौ मतौ । मतं चात्मतया ब्रह्म ताभिश्चिदचितोरथ ॥९॥ सम्बद्धे त्वपृथक्सिद्धया रामे चिदचिती यतः । ततो ब्रह्मशरीरत्वाद् विशेषणे मते च ते ॥ १० ॥ व्यावृत्तिः स्वीकृता यस्माच्चिदचित्तत्त्वयोर्मिथः । तयोर्विशेषणत्वं तद् व्यावर्त्तकतयाऽक्षतम् ॥११॥" एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः शरीरतदध्यक्षरूपेणावस्थितयोः स्वरूपेण परस्परविलक्षणयोर्भगवदात्मकत्वेनैकज्ञानविषययोरुभयोरपि ज्ञानं यत्तदेवोपादेयज्ञानमिति-मम सम्मतम् ॥३॥

एवं सक्षेपेणोक्तं प्रपञ्चयिष्यन् प्रतिजानीते–तदिति ।

श्रुतिभिर्दृष्टौ चेतनाचेतनौ मतौ । मतं चात्मतया ब्रह्म ताभिश्चिदचितोरथ ॥९॥ सम्बद्धे त्वपृथक्सिद्धया रामे चिदचिती यतः । ततो ब्रह्मशरीरत्वाद् विशेषणे मते च ते ॥१०॥ व्यावृत्तिः स्वीकृता यस्माच्चिदचित्तत्त्वयोर्मिथः । तयोर्विशेषणत्वं तद् व्यावर्त्तकतयाऽक्षतम् ॥ ११॥" अभिहितञ्चैवमेव श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्यैर्भगवद्भिः श्रीरामानन्दाचार्यैराचार्यसार्वभौमैः शारीरकमीमांसायाः श्रीरामानन्दभाष्ये'–अत एव विशेषणानां व्यावर्त्तकत्वनियमादत्र परस्परं व्यावृत्तिरपि फलिता भवति ।' (आनन्दभाष्य २ । १ । ९) एवमित्थं मिथो विलक्षणयोरपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोश्चिदचितोर्यज्ज्ञानं देहदेहाध्यक्षरूपतया मिथो विविक्तत्वेन च यज्ज्ञानं तत्तदेव ज्ञानमुपादेयतया मम मतमभिमतम् ॥३॥

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरापाततः परिचयपूर्वकं ज्ञेयत्वमुक्त्वा संक्षेपेण

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥४॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥५॥

तच्छरीरतया व्यपदिष्टं क्षेत्रं यच्च यद्द्रव्यं यादृक्च यदाश्रयभूतं यद्विकारि ये चास्यविकाराः परिणामा जायन्ते, तादृशं यत्परिणामकमितियावत् । यतो हेतोरिदमुत्पन्नं यदर्थमुत्पन्नमित्यर्थः । यद्रूपञ्चेदं स च क्षेत्रज्ञो यो यत्प्रभावश्च यादृशस्वरूपस्वभावकश्च तत्सर्वं संक्षेपेण मे मत्सकाशाच्छृणु सावधानमाकर्णय ॥४॥

समासोक्तेर्हेतुमाह–ऋषिभिरिति । ऋषिभिर्वाल्मीकिपराशरव्यासादिमहर्षिभिः 'जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यन्ते वसुधातलम्' (वा. यु.) पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरःपाण्यादिस्वरूपस्वभावादिकमभिधातुम्प्रतिजानीते-तदिति । तच्छरीरतयोपवर्णितं क्षेत्रं यच्च यद्द्रव्यं यादृक्च यदाश्रयभूतं च यद्विकारि यादृशविकृतिभिः संयुक्तं यतश्च यतो हेतोरिदमुपजातं यदर्थमेतन्निष्पन्नमित्यर्थः । यत्स्वरूपमिदं स च क्षेत्रज्ञः यो यत्प्रभावश्च यत्स्वरूपस्वभावाभ्यामवस्थितस्तत् समासेन तत्सर्वं संक्षेपेण मे वचनाच्छृणु सावधानतयाऽऽकर्णयावधारय । शृण्वत एव शृण्वित्युक्तिस्तूदीर्यमाणार्थस्यावधारणाय॥४॥

स्वेन संक्षेपेण वक्ष्यमाणेऽर्थे श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणयुक्त्यादिप्रसिद्धिमभिधत्ते–ऋृषिभिरिति । वसिष्ठवाल्मीकिपराशरपाराशर्यादिमह-

लक्षणः । ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम् ॥' इत्यादिप्रकरणेषु तत्तदृषिभिः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं गीत मुपवर्णितम् । तयोश्च भगवदात्मकत्वमुक्तमनुशासनपर्वणि भारते—'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रक्षेत्रज्ञमेव च, इति । छन्दोभिर्विविधैः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' । 'एष सम्प्रसादोऽस्मच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, (छा. ८ ।१३।३) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, (श्वे-६ । १६) "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः । क्षरात्मानावीशते देव एकः ॥ (श्वे० १।११) इत्यादिविविधैर्वेदैः पृथग्रूपेण र्षिभिर्बहुधा बहुप्रकारेणायमर्थ एवमेव चिदचितोर्विशेषणत्वं शरीरत्वं तच्छेषिणः परमेश्वरस्य विशेष्यत्वं शरीरित्वमिति रीत्या तत्वत्रयात्मकमेव ब्रह्मपदवाच्यमिति गीतमभिहितम् । 'त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्त्ता स्वयं प्रभुः, (वा. रा. यु. ११८ । १८) 'जगत्सर्वं शरीरन्ते स्थैर्यन्ते वसुधा तलम्, (वा. रा. यु. ११८ । २५) 'चिच्चाचिच्चेश्वरश्चैवं तत्त्वत्रयमितीरितम्' (वा. सं. २ । ४५)'अहं त्वञ्च तथाऽन्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव । गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् । कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते । अविद्या सञ्चितं कर्म तच्चाऽशेषेषु जन्तुषु ॥ आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः, (वि. पु. २ । १३ । ६५ । ६६ । ६२) एवं तत्रैव 'पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः । ततोहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम्,

गीतम् । तथा हेतुमद्भिः स्वमतार्थोपपादकयुक्तिमद्भिर्विशेषेण निश्चितं* येषां तानि विनिश्चितानि तैर्विनिश्चितैः पद्यते क्षेत्रक्षेत्रज्ञपदार्थ एभिस्तानि पदानि ब्रह्मसूत्राणि च तानि पदानि ब्रह्मसूत्रपदानि तैर्ब्रह्मसूत्रपदैः 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू. २ । ३ । १) नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र. सू. २ ।३ । १८) 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र. सू. २ । ३ । ४०) इत्यादि शारीरकसूत्रैश्च गीतमभिहितम् । तत्समासेन शृणु, इति पूर्वेणान्वयः । एवं विस्तरेणोदीरितं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं मया संक्षेपेणाभिधीयमानमाकर्णयेत्यर्थः ॥५॥

(वि. पु १३ ।८५)'त्वं किमेतच्छिरः किन्तु शिरस्तव तथोदरम् । किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत् किं महीपते ॥ समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूय व्यवस्थितः । कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव, (वि. पु.- १३ । ९७ । ९९ ।) एवं पार्थक्येन क्लृप्तयोरपि ब्रह्मात्मकत्वं भारतीयानुशासनपर्वण्युक्तम्—'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिस्सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । इति विविधैश्छन्दोभिः पृथाग्गतम् । 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश, (सं. ६३ । अ. ८ । अ ३ । वर्ग १६) 'द्वा- सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति, (ऋ.मं १ सू. १६४ मं. २०) एवं ऋग्वेदेन । तथा—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन

*निश्चितमित्यत्र भावे क्तप्रत्ययो न तु कर्मणि प्रयोजनाभावात् ।

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम् अन्नात्पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, (तै.) इत्यन्तेन वाक्यकदम्बेन क्षेत्राख्यशरीरस्यस्वरूपमुक्तं ततः प्राणमयमनोमयावभिधाय 'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादऽन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः, (तै. इति वाक्येन क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपमुक्त्वा 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः, (तै.) इति यजुर्वेदात्मकतैत्तिरीयवाक्येन विज्ञानमयपदवाच्यक्षेत्रज्ञान्तरात्मतयाऽऽनन्दमयशब्दाभिहितः परमात्मा निर्दिष्टः । सामवेदीयछान्दोग्योपनिषदि च, एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, (छा-८ । १२ । ३) इत्यत्र 'एष सम्प्रसाद, इत्यनेन क्षेत्रज्ञस्यास्माच्छरीरादिति पञ्चम्यन्तेन शरीररूपक्षेत्रस्य परंज्योतिरुपसम्पद्येति वाक्यगतेन परंज्योतिरित्यनेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरात्मभूतस्य परमात्मनः कथनं स्पष्टमेव । अत्र परंज्योतिरुपसम्पत्त्यनन्तरं स्वरूपनिष्पत्तिरिति क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धं यन्मुक्तयवस्थं रूपं तस्य निष्पत्तिरिति मुक्तात्मनोऽपि ब्रह्मात्मकत्वेन निरुक्तिः सिध्यतीत्यन्यदेतत् । कौषीतकीब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः' (कौ० ३।७) अत्र दृष्टान्तानुगुण्येन प्राणपदवाच्यपरमात्मनि प्रज्ञामात्राश्चेतनास्तत्र च भूतमात्राशब्दनिर्दिष्टं सर्वमचेतनं वस्तु समर्पितमित्यत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञपरमात्मनामपृथक्सिद्धिसम्बन्धः सुस्पष्ट एवोक्तः । एवं 'क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रिय गोचराः ॥६॥

प्रतिज्ञातमर्थमभिधत्ते–महाभूतानीति । महाभूतानि पृथि-

ईशते यस्तु सोऽन्यः, (श्वे० ५।१) 'एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे सञ्चरत्येष देवः । भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा, (श्वे० ५।३) 'स कारणं करणाधिपाधिपः, (श्वे० ६।९) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, (श्वे० ६ । १६) 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततः, (श्वे०) 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः, (श्वे १।१०) इत्येवमाद्यनेकवेदवाक्येषु क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्भगवतः शरीरतया भगवतश्च तन्नियामकतया तदात्मतया पार्थक्येन गीतमस्ति । तथा विनिश्चितैर्निश्चययुक्तैर्हेतुमद्भिर्हेतुसमन्वितैर्ब्रह्मसूत्रपदैर्ब्रह्माभिधायकसूत्ररूपपदैश्च भगवद्बादरायणप्रणीतेषु ब्रह्मसूत्रेषु द्वितीयाध्यायतृतीयपादे 'न वियदश्रुतेः, (२।३।१) यावद्विकारमिति सूत्राष्टकेन तथा 'एतेन मातरिश्वा, (२।३।९) इत्यादिसूत्रपञ्चकेन स्वरूपप्रकारनिर्णयविधया क्षेत्रयाथात्म्यं गीतम् । नात्माऽश्रुतेरित्यारभ्य महता प्रकरणेन समापन्नसंशयनिरसनपुरस्सरं क्षेत्रज्ञस्वरूपं च गीतम् । एवमुभयोः स्वरूपमभिधाय 'परात्तु तच्छ्रुते,रित्यादिसूत्रैर्भगवदायत्तकर्तृत्वाश्रयक्षेत्रज्ञस्य परमपुरुषात्मकत्वं स्पष्टमेवाभिहितम् । एवमनेकप्रकारेण विस्तरेणोक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपस्वभावादिकं संक्षेपेण मयोदीर्यमाणं शृण्वित्यन्वयः ॥५॥

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्च, इत्यादिना स्वरूपप्रकारादिविषये

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥७ ॥

ञ्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि, अहंकारस्त्रिविधः सात्विकादिभेद-
भिन्न आकाशादेः कारणभूतः, बुद्धिरहंकारकारणं महत्तत्त्वम्,
अव्यक्तं प्रकृतिर्महतः कारणम्, इन्द्रियाणि दशैकञ्च श्रोत्रत्वक्-
चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायू-
पस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकं मन उभयेन्द्रियानु-
ग्राहकत्वादित्येकादशेन्द्रियाणि, इन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्श-
रूपरसगन्धाख्याः पञ्च विषयाः, इच्छा, कामः, द्वेषः, क्रोधः,
सुखमनुकूलवेदनीयम्, दुःखं प्रतिकूलवेदनीयम्, संघातः शरी-

यद्यथा प्रतिज्ञातं तत्तथैवेदानीं निर्दिशति—महाभूतानीति । इदञ्च
यच्चेति प्रतिज्ञातस्य प्रतिपिपादयिषयोच्यते । तत्र भूतानीति स्थूल-
कार्यस्य प्रत्यक्षसिद्धतया प्रथमोपादानम् । तानि च भूमिसलिला-
नलानिलव्योमपदवाच्यानि पञ्चभूतानि; अहंकारो महत्तत्वकारणकः
'प्रधानतत्वेन समं त्वचा वीजमिवावृतम् । वैकारिकस्तैजसश्च
भूतादिश्चैव तामसः । त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्वादजायत, (वि-
पु० १।२।३५) इत्युक्तरीत्या वैकारिकतैजसभूतादिरिति त्रिविधोऽ-
हंकारः । केचित्वहंकारो भूतादिरेवेति यच्च तट्टीकाकृतोऽहं-
कारशब्दस्य त्रिविधाहंकारवाचित्वेऽपि सात्विकाहंकारस्येन्द्रियारम्भ-
कत्वाद्राजसस्योभयानुग्राहकत्वात्तामसपरत्वमाह——अहंकार इत्याहुस्त-
द्भसात् । यथा महत्तत्वस्य त्रैविद्धयात त्रिविधस्यापि बुद्धिशब्देन ग्रह-
णम् । तथाऽहंकारस्य त्रिविधस्याप्यहंकारपदेनोपादानादन्यथा

रम् चेतनाधृतिर्भोगाधारता, एतत्सविकारं सर्वं संक्षेपेण
क्षेत्रमुदाहृतम् । एतदव्यक्ताद्यारब्धमिन्द्रियाश्रयभूतमिच्छादि-
विकारधर्मकं भूतसंघातरूपं सुखाद्यनुभवाय सम्मिलितं शरीर-
मेव क्षेत्रपदव्यपदेश्यमित्यर्थः ॥६॥७॥

देहाश्रयेन्द्रियाणामग्यत्र वक्तव्यतया तदुपादानद्रव्यस्य, भूतेन्द्रियाणां
हेतुः स त्रिगुणत्वान्महामुने । यथा प्रधानेन महान् महता स तथाऽऽ-
वृतः, (वि० पु० १।२।३६) इति विधया वैकारिकाहंकारस्य
चानुक्तत्वेन न्यूनता स्यादत एव परमाचार्यैरहंकारस्त्रिविध
इत्युक्तमिति त्रिविधस्यापि तस्य गृहीतत्वम् । बुद्धिर्महत्तत्वम् तत्का-
रणमव्यक्तं प्रकृतिरित्येतान्यष्टौ क्षेत्रारम्भप्रयोजकानि द्रव्याणि यादृ-
कृचेत्यस्य प्रतिपादकमुच्यते । इन्द्रियाणि, 'त्वक्चक्षुर्नासिका जिह्वा
श्रोत्रमत्र च पञ्चमम् । शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि च द्विज ॥
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय पञ्चमी । विसर्गशिल्पगत्युक्तिः
कर्म तेषाञ्च कथ्यते ॥ 'एकादशं मनश्चात्र, (वि० पु०) इति
वैष्णवपुराणवचनानुसारात्—ज्ञानकर्मोभयरूपाणामिन्द्रियाणामेकादशत्व-
मुपपद्यते । इन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्याः पञ्च ज्ञाने-
न्द्रियविषया इतीमानि क्षेत्राश्रितानि तत्त्वानि वेदितव्यानि । यद्विकारी-
त्यस्य प्रतिपादकवाक्यमभिधीयते—इच्छेत्यादि । इच्छा सुखोत्पा-
दकहेतुभूतवस्तुन्यभिलाषा, द्वेषो द्विष्टवस्तुनि तिरस्कृतिरूपा मनो-
वृत्तिः, सुखं सुकृतहेतुकानुकूलविषयानुभूतिर्दुःखं दुष्कृतहेतुकप्रति-
कूलात्मिका चित्तवृत्तिः, इच्छादीनां क्षेत्रज्ञधर्मत्वेऽपि क्षेत्रसम्बन्ध-
माधायैव तेषां तथाऽनुभवात् क्षेत्रधर्मत्वमप्युपपद्यते संघातः करण-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥८॥

एवमर्जुनप्रश्नानुसारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपमुपवर्ण्य क्षेत्रकार्याणामिच्छादिवदात्मज्ञानसाधनोपयोगिनां गुणानां कथनेन ज्ञानस्वरूपं विशोध्यते–अमानित्वमित्यादिपञ्चभिः । अमानित्वमल्पेनापि गुणेन जननिचये महत्त्वरुचिर्मानस्तद्रहितत्वममानित्वं दम्भराहित्यमदम्भित्वमहिंसा परोपकारचिकीर्षा क्षान्तिः सहनशीलताऽऽर्जवं कौटिल्यरहितत्वमाचा-
कलेवराणां संहतिश्चेतनाऽऽधृतिश्चेतनस्यात्मन आधारोऽयं भूतसंघातस्तथाचाऽव्यक्ताद्यष्टद्रव्योपादानकमिन्द्रियाद्यधिष्ठानमिच्छादिविकारयुक्तं क्षेत्रज्ञसुखदुःखसाधनाधारतयोपयुक्तं शरीरमेव क्षेत्रं सकार्यमुदाहृतम् ॥६॥७॥

अध्यायोपक्रमे प्रकृतिपुरुषयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानज्ञेययोश्च जिज्ञासार्जुनेन प्रकटीकृता तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपविवेचनेन प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं प्रायो विवेचितं भवतीत्यतः प्राक्तयोरेव स्वरूपस्वभावादिकं संक्षेपेणोक्तम् । इतः परं प्रकृतिपुरुषयोर्निरूपणीयत्वेन तदुपयोगिज्ञानज्ञेये अवसरसंगत्या निरूपणीये । तत्र 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि, इत्यादिना प्रकरणेन प्रधानभूतं ज्ञेयस्वरूपं निरूपयिष्यति । ज्ञानन्त्वधुना निरूप्यते । यतो ज्ञानस्वरूपावगतिमन्तेण वक्ष्यमाणज्ञेयपदार्थावगतेरशक्यत्वादेतज् ज्ञानमिति प्रोक्तमिति ज्ञेयोक्तेः प्रागुपसंहारदर्शनाच्च । ज्ञानशब्दव्यपदेश्यानात्मज्ञानसाधनत्वेनाभिमतानिच्छादिवत् क्षेत्रकार्यभूतान् विंशतिगुणानभिधत्ते––अमानित्वमिति

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥९॥

र्योपासनं सद्गुरुपरिचर्या 'आचार्यदेवो भव, इति श्रुतेः । शौचं मनोवाक्कायशुद्धिः स्थैर्यमात्मोपास्तौ दृढताऽऽत्मविनिग्रहो बाह्यपदार्थेभ्यो मनोनिरोधः । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु वैराग्यमनहंकारोऽनात्मवस्तुष्वात्मीयाभिमानरहितत्वं जन्ममृत्युजराव्याधिरूपेषु दुःखेषु दोषानुदर्शनम् । अनेनभगवदुपासनायां दृढाभिरु

पञ्चभिः । गुरुजनगोष्ठ्यां क्षुद्रगुणाभिमानजन्यमहत्त्वाकांक्षा मानः । मानित्वमितियावत् । तद्रहितत्वममानित्वम् । यशोलिप्सया धर्मानुष्ठानं दम्भः । दम्भित्वमिति यावत् । तद्रहितत्वमदम्भित्वम् । मनोवाक्कायैः परदुःखोत्पादनं हिंसा, तद्रहिताऽहिंसा, क्षान्तिरुद्वेजयत्स्वपि परेषु क्षमा, उद्विग्नेऽपि चेतसि क्षोभराहित्यमिति वा, आर्जवं मनोवाक्कर्मसु साम्यम्, आचार्योपासनमाचार्यश्चात्राऽध्यात्मविद्याप्रदः सदाचारनिरतः सद्गुरुर्वेदशास्त्रेषु प्रतिपादितः । 'परीक्ष्येति श्रुतौ श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमि'त्ति विशेषणद्वयदानादयमर्थो निष्पद्यते, एतदनुसृत्यैवोक्तं 'प्रपित्सुर्मन्त्रनिरतं प्राज्ञं हितपरं शुचिम् । प्रशान्तं नियतं वृत्तौ भजेद्विजवरं गुरुम् सप्तपूरुषविज्ञेये सन्ततैकान्तिनिर्मले । कुले जातो गुणैर्युक्तो विप्रः श्रेष्ठतमो गुरुः ॥ (भारद्वाजसं १।३८।३९।) तथाऽन्यत्रापि 'आचार्यो वेद सम्पन्नो विष्णुभक्तिसमन्वितः । मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मंत्राश्रयः शुचिः ॥ गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः । एवंलक्षणसम्पनो गुरुरित्यभिधीयते ॥ इति । तस्योपासनं मनोवाक्कायैः कापटयम्परिहाय तत्परिचर्य्याचरणम् ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१०॥

चिरुत्पद्यते । असक्तिर्ममत्वबुद्धिविषयेषु सङ्गरहितत्वमनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु पुत्रादिषु तादात्म्याभिमानलक्षणोऽभिष्वङ्गस्तद्राहित्यमिष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु नित्यमेव समचित्तत्वं रागद्वेषराहित्यमित्यर्थः ॥८॥९॥१०॥

तदुक्तं श्रुतौ 'आचार्यदेवो भव, (तै०) 'आचार्यवान् पुरुषो वेद, (छा०) उपबृंहितश्च तदन्यत्र-'शान्तोऽनुसूयुः श्रद्धावान् गुर्वर्थात्मवृत्तिकः । शुचिः प्रियहितो दान्तः शिष्यश्चोक्तो मनीषिभिः । एतद्गुणरहितानां निषेधोऽपि च स्मर्यते 'न मत्तोन्मत्तपतिताभिशस्तक्रूरनास्तिकाः । नानर्थिनो न चाज्ञाताः कतव्यो मन्त्रगामिनः, (भा. द्वा-सं) एतल्लक्षणलक्षितस्याचार्यस्यैतद्गुणविशिष्टेन शिष्येण ब्रह्मविद्याऽवाप्तये सेवनमावश्यकमित्यर्थः । शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिस्तदुक्तं स्मृतौ 'शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ स्थैर्यं सद्गुरुवेदान्तवाक्ये निश्चला श्रद्धाऽऽत्मविनिग्रहः परमात्मन्यालम्बनभूत एव मनोऽवस्थानम् । तदुक्तं 'परमात्मनि श्रीरामे निश्चला चित्तधारणा । निस्पृहाऽखिलकामेभ्यः प्रपन्नानामियं स्थितिः' (वा. सं.) ॥ इन्द्रियार्थेषु शब्दादिबाह्यविषयेषु वैराग्यं परमपुरुषोपासने विरोधिनश्चैत इति शश्वदनुगमजन्यविरक्तिरनहङ्कार एव च देहादावात्मत्वबुद्धिराहित्यं जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् । जन्मारभ्य दुःखपर्य्यन्तेषु सर्वेऽप्यात्मप्रतिकूलत्वाद्दोषस्यानुदर्शनम् । नैतेष्वेकमपि ममात्मनिष्ठस्य श्रेयःसम्पा-

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥

मयि सर्वाधिनायकेऽनन्ययोगेनान्ययोगराहित्येनाव्यभिचारण्यचञ्चला भक्तिर्भगवद्विरोधिजनसंसर्गरहितदेशसेवनशीदकमिति मुहुर्मुहुरनुसन्धानमथवा जन्ममृत्युजराव्याधिभिरुत्पद्यमानं दुःखमेव दोषस्तस्यानुदर्शनमनुक्षणं मनसि विचारणं कदैतेभ्यो दुःखेभ्यः सार्वदिकी मुक्तिर्मे स्यादिति सततमनुचिन्तनम् । असक्तिरात्मभिन्नेषु पुत्रदारगृहादिषु परिग्रहेषु सङ्गपरित्यागस्तेष्वनभिष्वङ्गश्च सदोत्कटममत्वाप्यायितः स्नेहविशेष एवात्राभिष्वङ्गासक्तस्तु साधारणः संगः, एतदुभयमप्यात्मचिन्तकेन त्याज्यं पुत्रदारगृहादिष्वित्यादिशब्देनेष्टं भृत्योपकरणादिकं सर्वं ग्राह्यम् । एतदनुसृत्यैवोक्तमभियुक्तैः 'न कुड्यां नोदके सङ्गो न चैले न च विष्टरे । नागारे नासने नान्ये यस्य वै मोक्षवित्तु सः ॥ इति । पुत्रदारगृहादिषु सङ्गाभिष्वङ्गयोः परिवर्जनोक्तेर्विरक्तानां गृहस्थातिरिक्तानामेवात्मज्ञानसाधनेष्वधिकारस्तेषामेव च साक्षान्मोक्षेऽधिकार इति भगवदाशयो व्यज्यते । अत एवैतत्प्रकरणपठितानां गुणानां सत्समन्वयो नान्यथेतिदिक् । नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु—इष्टसम्प्राप्तिषु तथाऽनिष्टोपनिपातेषु सर्वदा हर्षोद्वेगरहितत्वम् । इष्टानिष्टयोर्यादृच्छिकावाप्तौ हर्षशोकात्मिकायाश्चित्तविक्रियाया अनुदयात् समचित्तत्वमितिभावः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १०॥

एवमन्तरङ्गसाधनान्यभिधाय परमान्तरङ्गसाधनान्यभिधत्ते—मयीति द्वाभ्याम् । मयि—सर्वान्तर्यामिनि चानन्ययोगेनान्यस्मिन् देवतान्तरे योगः सम्बन्धोऽन्ययोगो नान्ययोगोऽनन्ययोगः केवलं मदेकचित्तसम्ब-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थचिन्तनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥१२॥

लत्वं जनसंसदि विरुद्धाशयजनगोष्ठ्याञ्चाप्रीतिः । अध्यात्मज्ञाननित्यत्वमात्मानमधिकृत्यवर्तमाने ज्ञाने नित्यत्वं तादृशज्ञानविषयकस्थिररुचिमत्त्वं तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनं तत्वज्ञानप्रयोजनं निःश्रेयसप्राप्तिस्तत्कृते मुहुर्मुहुरालोचनम् । एतन्निर्धिष्टं साधनत्वेनाभिमतं ज्ञानमात्मज्ञानसाधनमित्येवं प्रकाररेण प्रोक्तं यदेभ्यः साधनेभ्योऽन्यथा विपरीतं मानित्वदम्भित्वादिरूपं तदज्ञानं क्षेत्रकार्यरूपमप्यात्मोपायविरोधित्वादज्ञानम् ॥११॥१२॥

न्धेनेत्यर्थः । भगवदनन्यभक्तस्य देवतान्तरयोगस्तद्व्रतविनाशकस्तदुक्तं 'अन्यतान्त्रिकदेवानां संसर्गप्रतिपत्तिषु । प्रवृत्तिरच्युतैकान्त्यनियमाघ्वरनाशिनी ॥', (भा. सं.) अत एवाव्यभिचारिणी न व्यभिचरितुं शीलमस्या इत्यव्यभिचारिणी भक्तिर्विविक्तदेशसेवित्वमुपासनोपघातकदेशातिरिक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि संसाररुचिमज्जनसमाजे चारुचिः । विविक्तदेशेति द्वयोः साधनयोरयमाशयः स्फुटति'पंक्तौ समाजे ग्रामादौ न त्वभागवतोत्तरे । वसेदेकत्र भवने नैकेनाप्यसता सह ॥, (भा. सं.) इति । अध्यात्मज्ञाननित्यत्वमात्मनि ज्ञानमध्यात्मज्ञानं तत्रानुक्षणं भावनायुक्तत्वम् । तत्वज्ञानार्थचिन्तनं तत्ववस्तुनो यज्ज्ञानं तदर्थं तत्प्रयोजनकं यच्चिन्तनं तद्युक्तत्वमित्यर्थः । एतदमानित्वमारभ्य तत्वज्ञानार्थचिन्तनमित्येतत्पर्यन्तं ज्ञानमात्मज्ञानान्तरङ्गसाधनं प्रोक्तं यदतोऽन्यथैतज्ज्ञानशब्देनोदितादतिरिक्तं यदस्ति तदज्ञानमात्मज्ञानविनाशकत्वादिति भावः ॥ ११ ॥ १२ ॥

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३॥

एवं क्षेत्रकार्यभूतानात्मज्ञानसाधनानुपादेयगुणान् प्रतिपाद्योपेयत्वेनाभिमतं क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धं स्वरूपमेवेदानीं सफलमुपदिशति ज्ञेयमित्यादिषड्भिः । प्रोक्तैरमानित्वादिभिरुपायैर्ज्ञेयं यदात्मस्वरूपं तत् प्रवक्ष्यामि । तुभ्यमिति शेषः । ज्ञेयस्वरूपविज्ञानस्य विशिष्टं फलमाह—यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । यदात्मस्वरूपं यथावद्विज्ञाय जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखस्वरूपसांसारिकक्लेशानपहायाऽमृतमात्मानं नित्यमाप्नोति । अनादिज्ञेयमिति क्लीबनिर्देशादनादीत्यपि क्लीबनिर्देशः । अनादिमदित्येवं पदन्तु नास्ति बहुव्रीहिणाऽपि तदर्थनिष्पत्तेः ।

पूर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानमित्युपक्रान्तं मध्ये च अमानित्वमदम्भित्वमित्यादिभिरात्मज्ञानसाधनभूतानात्मन एवोपादेयान् क्षेत्रगुणानभिधाय प्रकृतस्य तस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं ज्ञेयतयोपेयतया चाभिमतमितीदानीं तदेवोच्यते—ज्ञेयमित्यादिभिः । अत्र मधुसूदनादयस्तु ज्ञेयं यदित्यादिना परब्रह्मण एव स्वरूपमुपक्रम्यते, अत एव चानादिमदादिमन्न भवतीत्यनादिमत् परं निरतिशयं ब्रह्म सर्वतो निरवच्छिन्नं परमात्मवस्तु, इत्यादिना व्याचक्रुस्तदयुक्तं प्रकरणविरुद्धत्वात् । प्रकरणञ्चेदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपाद्यावेदकं तथैवोपक्रमस्तथा 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा' (गी. १३) इत्युपसंहारेऽपि तथा दर्शनात् । प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि, इति मध्यभागेऽपि तयोरेव निरूपणाच्च । ज्ञेयमिति तु समान्ये नपुंसकं

आदिरुद्भवो यस्य नास्तीत्यतोऽनादि; अत एव नान्तोऽप्यस्य विद्यते। अस्य ज्ञेयस्वरूपस्यात्मन आद्यन्तयोरभावः श्रुतिस्मृतिषूपलभ्यते। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्, (कठः) 'नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ, न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि। सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्.॥ (भा० ११ ।३।३८) मत्परमहमेव परोऽन्तर्यामितया नियामको यस्य तन्मत्परं भगवन्नियाम्यभूतस्य जीवस्यान्तर्यामिरूपेणाध्यात्ममवस्थाय भगवानेवेममात्मानं नियमयतीत्यर्थः। तथैवोक्तस्वरूपापेक्षया वा। एवञ्च यथा परमपुरुषस्य स्वरूपं ज्ञेयमावश्यकं तथा प्रत्यगात्मनः स्वरूपमपि। तत्परिज्ञानस्यापि ह्यमृतफलदायित्वात्। तदयं त्रयोदशोऽध्यायः क्षेत्रस्याक्षरब्रह्मणश्च प्रतिपिपादयिषया प्रवृत्त इति तदेवाऽऽध्यायान्तं प्रतिपादयिष्यतेऽतो ज्ञेयमित्यादिप्रकरणं विशुद्धस्यात्मन एवाभिधायकमिति सुधीभिर्विभाव्यम्। ज्ञेयमिति। प्रोक्तैरात्मन उपादेयैरुपायैर्यज्ज्ञेयमुपेयञ्चात्मस्वरूपं तत्प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण तुभ्यं कथयिष्यामि। सम्यगभिरुचिजननाय प्रोदीर्यमाणात् प्रागेव फलं दर्शयति—यदिति। यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। प्रकृतिबन्धाद्विनिर्मुक्तममृतं प्रत्यगात्मानमवाप्नोति। अनादि न आदिर्यस्य तदनाद्युत्पत्तिरहितम्। आद्यन्तरहितमिति यावत्। तथा चाहुः श्रुतिस्मृतयः। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते, (का. २। १८) 'न जायते म्रियते वा विपश्चित् (का. २। १८) 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, (श्वे.) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्,

मन्तर्यामिब्राह्मणे 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः, (बृहदारण्यक) ब्रह्म बृहत्त्वगुणयोगेनात्मनोऽपि ब्रह्मपदवाच्यता श्रुतिषु प्रसिद्धैव—'स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे. ५। ७।) कर्मरूपाविद्याबन्धो यावद्विद्यते तावदेवास्य ज्ञानरूपस्य क्षेत्रज्ञस्याणुत्वं विगलितबन्धस्य त्वानन्त्यमेव। तथा च देहाद् विविक्ते विशुद्धात्मनि ब्रह्मशब्दस्य प्रयोगः श्रुतिषु गीताशास्त्रे च बहुत्रोपलभ्यते 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, (मुण्डक.) स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते (गी. १४।२६) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, (गी. १८।५४) इति। न सत्तन्नासदुच्यते, तदेतदात्मस्वरूपं सच्छब्देनासच्छब्देन च नोच्यते—देवमनुष्यादिशरीरावस्थितत्वादचित्सम्बन्धान्नाम- (का.) 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः, (ब्र. सू. २। ३। १९) 'नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ, (भा० ११। ३। ३८।) अनादिमदित्येकं पदन्तु न युक्तं 'न कर्मधारयान्मत्त्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकर इतिनियमात्। मत्परमहमेव परः शेषी यस्य तन्मत्परमात्मनो भगवच्छेषत्वं भगवच्छरीरत्वञ्च शास्त्रसम्मतं 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृ.) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, (श्वे०) 'स कारणं करणाधिपाऽधिपः, (श्वे०) इतरस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जग-

रूपभागित्वेनाऽस्य कार्यावस्थामुपेतस्य सत्पदवाच्यत्वम् । ततः पूर्वं कारणावस्थायां नामरूपायोग्यत्वादसदित्युच्यते । तदिदमुक्तं 'असद्वा इदमग्र आसीत्' ततो वै सदजायत (तै.आ.७।१) तद्ध्येदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत, ( ) एतच्चावस्थाद्वयमस्यात्मनः स्वतो न सम्भवति किन्त्वनादिकर्मरूपाविद्ययैव तत् । स्वरूपेण त्वयं सत्तयाऽसत्तया वा व्यपदेशानर्ह एव । यद्यपि 'असद्वे'ति श्रुतिः स्थूलचिदचिद्विशिष्टं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं च ब्रह्म सदसच्छब्दाभ्यामभिधत्ते । तत्राऽपृथक्सिद्धिविशेषणतयोपस्थितौ क्षेत्रक्षेत्रज्ञावपि तथा व्यपदेश्यौ परन्तु तदानीमविद्यावशगत्वात्तत्सम्बन्धादिविशिष्टस्यैवास्य सदसच्छब्दनिर्देश्यता; विशुद्धस्य त्वस्य तच्छब्दाऽनभिधेयत्वमेवेति तत्त्वम् ॥१३॥

त्सर्वं शरीरन्ते स्थैर्यन्ते वसुधातलम्, (वा. रा. यु. कां.) इति । भाष्ये त्वहमेव परोऽन्तर्यामितया नियामको यस्य तन्मत्परमित्युक्तं तस्याप्ययमेवाभिप्राय इति न तद्विरोधः । ब्रह्म बृहत्त्वगुणयोगाद् ब्रह्म; नन्वेषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः,(मु.३।१।९)'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति,(बृ।६४।२)आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः (श्वे.५।८)'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ,(ब्र.सू.२।३।२१) इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः सिद्धमात्मनोऽणुत्वम्परित्यज्य ब्रह्मेति कथनं कथं युज्यत इति चेन्न, स्वरूपभूतज्ञानेनात्मनोऽणुत्वेऽपि धर्मभूतज्ञानेन तस्य ब्रह्मत्वमेव । उक्तञ्चैवमेव भगवता बादरायणेन 'गुणाद्वालोकवत, (ब्र.सू.२।३।२७) इति । अत एव 'सचानन्त्याय कल्पते,(श्वे. ५।९) इति श्रुतिरपि संगच्छते । कर्मबन्ध-

प्रयुक्तो ह्यस्य शरीरपरिच्छेदस्तदभावे त्वानन्त्यमेवेति भावः । आत्मनो ब्रह्मपदाभिधाने तु परमात्माभिधायिपरब्रह्मशब्दे परत्वरूपविशेषणस्योपपत्तिरपि संगच्छते । अन्यथा तद्वैय्यर्थ्यं स्पष्टमेव स्यात् । प्राकृतसंसर्गविनिर्मुक्तस्यात्मनस्तु ब्रह्मपदप्रतिपाद्यत्वं गीताशास्त्रेऽप्यसकृदुक्तम् । 'स गुणान् समत्तीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते,(गी. १४। २६)ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च,(गी १४।२७)इति । तथा चौपचारयोगाद् ब्रह्मपदबोध्यत्वं जीवस्यापि शास्त्रसम्मतम् ।एवञ्च' जीवो ब्रह्मैव नापर' इत्यादिवचनानामत्रैव तात्पर्य्यम् । मुक्तिदशायामपि नात्मनः साक्षाद्ब्रह्मरूपतापत्तिः' सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तै०आ.१।२)'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, (मु. ३।१।३) 'मम साधर्म्यमागताः,(गी१४।) इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरुद्धत्वात् । 'न सत्तन्नासदुच्यते, इदञ्चात्मस्वरूपं कार्यकारणरूपावस्थाद्वयराहित्येन सदसच्छब्दाभ्यां व्यपदेष्टुं न शक्यते । अयम्भावः । न सत्तन्नासदुच्यत इति न सत्वासत्वयोरभावोऽभिधीयते । तथाविधस्य कस्यचिदपि धर्मिणोऽभावात् । न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सत्वमसत्वञ्च तिष्ठतः; परस्परविरोधात् । न च विशुद्धात्मनः सत्तयाऽसत्तया च व्यपदेशस्याऽसामञ्जस्यमेवात्र प्रतिपाद्यत इति वाच्यम्, अनेकान्तवादप्रसङ्गात् । न वा ब्रह्मप्रकृतिपदार्थावेव सदसच्छब्दाभ्यामत्रोच्येते तयोर्निषेध एव विशुद्धात्मनि बोध्यत इत्यपि साम्प्रतम्; सिद्धसाधनात् तमसः परमुच्यत इत्युत्तरेण पौनरुक्त्याच्च । तस्मात् सदसद्भ्यामत्र कार्यकारणावस्थे एवोच्येते । कार्यावस्थयां देवमनुष्यादिनामरूपार्हतया सदित्युच्यते कारणावस्थायां तदभावादसदिति । आमनन्ति चैवं श्रुतयः'असद्वा इदमग्र

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१४॥

परिशुद्धात्मनो ब्रह्मभावमुपपादयति–सर्वत इति। तदक्षरपदवाच्यं विशुद्धात्मस्वरूपं सर्वतः पाणिपादकार्यसमर्थं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वतोनेत्रमूर्धाननयुक्तं सर्वतः श्रुतिमत् श्रोत्रेन्द्रियसमन्वितं लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति विगलितकर्मबन्धत्वेनास्यात्मनो ब्रह्मसाम्याद् ब्रह्मवदनन्तसामर्थ्ययोगो न विरुद्ध इति भावः ॥१४॥

आसीत् ततो वै सदजायत, (तै.आ.७ । १) 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत, इति । अनादिकर्मरूपाविद्ययाऽस्यात्मनः प्राकृताऽवस्थाद्वययोगः सम्पद्यते न तु परिशुद्धे स्वरूपे । यथा चिदचिच्छरीरकस्य ब्रह्मणोऽवस्थाश्रयत्वेऽपि परस्वरूपे केवले तदभावस्तथा विशुद्धात्मन्यपि नावस्थायोगस्तदभावाच्च नास्य सदसत्पदाभिधेयत्वमिति भावः ॥ १३ ॥

इत ऊर्ध्वमभिहितस्य विशुद्धात्मनः स्वरूपमेवोपापादयति–सर्वत इति। तदात्मस्वरूपं सर्वतः पाणिपादं करचरणादिकार्यकरणसामर्थ्यविशिष्टं, न चात्मनः प्राकृताकाररहितत्वान्निरवयवत्वाच्च करादिमत्वमसङ्गतमिति वाच्यं करादिरहितत्वेऽप्यात्मानस्तादृशसामर्थ्यमात्रमत्रोच्यते तच्च न विरुध्यते । यथा परमेश्वरस्य पाणिपादादिरहितत्वेऽपि करचरणादिकार्यसम्पादकत्वं श्रुतिषूपलभ्यते'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः तथैवात्मनोऽपि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति,(मु.३।१।३) इति मुक्त्यवस्थायां भगवत्साम्यापत्त्या करचरणाद्यभावेऽपि तत्प्रयुक्तकार्य-

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१५॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेषामिन्द्रियाणां वृत्तिभिरपि विषयावभासकमित्यर्थः। स्वरूपतस्तु सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं

कृत्वं शास्त्रेषूपवर्ण्यते गीताशास्त्रेऽपि 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्यमागताः, (गी.१४) इति । एतच्च भगवत्साम्यं 'जगद्व्यापार वर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च, इति पारमर्षे सूत्रे जगद्व्यापारादतिरिक्तसर्वविषयमिति निर्णीतं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वत्र नेत्रमूर्धाननकार्ययुक्तं सर्वतः श्रुतिमच्छ्रोत्रकार्यसम्पादकम् । लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । विशुद्धात्मनः सर्वत्राप्रतिरोधाल्लौकिकं सर्वमपि परिच्छिन्नं वस्तु संव्याप्यावतिष्ठते । ननु ज्ञानस्वरूपस्यात्मनः कर्मबन्धवैशिष्ट्यादणुरूपतैव श्रुतिसम्मता 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेय': इति। तत्कुतोऽस्य सर्वमावृत्यावस्थानमितिचेन्न, धर्मभूतज्ञानेन व्यापकत्वमस्य न विरुध्यते । उक्तञ्चैतत् 'प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति,(ब्र.सू.४।४।१५) इति ब्रह्मसूत्रे । यथा प्रदीपो गृहैकदेशस्थितोऽपि स्वप्रभयाऽशेषदेशं प्रकाशयति । व्याप्नोतीतियावत् । तथात्मनोऽणुत्वेऽपि सर्वत्र व्याप्तिः सम्भवति। एतञ्च कर्मपरवशस्य सांसरिकजीवस्यैव मुक्तस्य तु कर्मबन्धराहित्यात् परिच्छिन्नत्वाभावेन स्वेच्छया सर्वव्यापकत्वमुपपद्यते ॥१४॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दशोभयात्मकं मनश्चेत्येकादश तेषां गुणैर्वृत्तिभिराभासो यस्य तद यस्यात्मन इन्द्रियसमवधानाभावेऽपि तत्समवधानवदेव तत्तदिन्द्रियविषयग्रह-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

बहिरन्तश्च भूतानामचरश्चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१६॥

निजशुद्धस्वरूपेण सर्वत्र सङ्गरहितं सवभृच्चैव सर्वदेहभरण-
समर्थं निर्गुणं स्वरूपतः सत्वादिगुणरहितं तथा सत्वादिगुण-
सम्बन्धाज्जायमानानुभवशक्तम् ॥१५॥

भूतानि परिहायाशरीरं सद्बहिरपि वर्तते तथान्तश्च स्वेच्छा-
धीनत्वादीश्वरसङ्कल्पानुगुणसंकल्पवत्वाच्च 'जक्षन् क्रीडन
णसामर्थ्यमस्तीत्यर्थः । यद्वाऽभासत इत्याभासः पचाद्यचूणिजर्थोऽत्र विव-
क्षितः । तथा च स्वरूपत इन्द्रियाद्यसत्वेऽपि सर्वेन्द्रियवृत्तिभिरेवैन्द्रिय-
काखिलविषयावभासकं स्वरूपतस्तु सर्वेन्द्रियविवर्जितमत्रेन्द्रियपदं कलेवर-
स्याप्युपलक्षकम् । करणकलेवररहितमित्यर्थः । तथा च सर्वेन्द्रियविव-
र्जितमपि सर्वेन्द्रियगुणाभासमितियोजनार्थोऽवसेयः । अयम्भावः । मुक्ता-
त्मनः करणकलेवरसाहित्यं तद्राहित्यञ्च प्रत्यपीपदद्भगवान् बादराणः
'द्वादशाहव दुभयविधं बादरायणोऽतः' (ब्र. सू.४ । ४ । १२) इति ।
तत्र करणादिसत्वे तैर्विषयग्रहणसामर्थ्यन्तु सर्वेषां बद्धजीवादीनामप्यस्त्ये-
वेत्यव्यावर्तकमत इन्द्रियाद्यभावपक्ष एवेयमुक्तिर्युज्यते । असक्तं स्वरूपतो
देवमनुष्यादिशरीरासंगराहितं सर्वभृच्चैव देहादिसर्वोपकरणभरणसमर्थं
निर्गुणं कर्मारब्धप्राकृतगुणरहितं गुणभोक्तृ च परमसामर्थ्यात् सत्वादिगुण-
भोक्तृत्वमपि युज्यत इति भावः ॥१५॥

बहिरन्तश्च भूतानां मुक्तात्मनः स्वेच्छायत्तशरीरत्वात्सशरीरत्वावस्थायां
बहिरवस्थितिर्निःशरीरत्वावस्थायाञ्चान्तरवस्थितिरिति न विरोधः । मुक्त-
स्य शरीरादिकं न कर्माधीनमित्यनुपदमेवोक्तम् । अचरं चरमेव च सूक्ष्म-

अविभक्तश्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

(छा.६।८) इत्यादिस्वसंकल्पावाप्तभोगाननुभवितुं तेषामन्तरपि
वर्तते । मुक्तात्मन उभयथाऽपि स्थितेर्दर्शनात् । 'अचरं चरमेव च,
स्वभावतोऽचरमचञ्चलमपि कर्मायत्तदेहसम्बन्धाच्चलमपि
सूक्ष्मत्वाद्धेतोः शास्त्रदृष्टिमन्तरेणाविज्ञेयं सर्वेषामन्तिकेऽवस्थितम
प्यनवाप्तविद्यानां दूरस्थमदृश्यमानमित्यर्थः ॥१६॥

भूतेषु देवमनुष्यतिर्यगादिशरीरेषु तदात्मस्वरूपमविभक्तं
समानाकारतया विभागशून्यं विभक्तमिव च स्थितमध्या-
त्मज्ञानविधुराणां विभक्तमिव प्रतिभातं भूतभर्तृ च भूतानां
भरणकर्तृशक्तियुक्तं ग्रसिष्णु आहारग्रसनशीलं प्रभविष्णु च
प्रभवतेस्तुः । तदात्मस्वरूपं देहाद्विविक्ततया ज्ञेयम् ॥१७॥

त्वात्तदविज्ञेयमस्यात्मनोऽणुरूपत्वेनातिसूक्ष्मत्वात् सर्वसामर्थ्ययुक्तत्वेऽपि
शरीरेऽवस्थितत्वेऽपि पार्थक्येनातत्वज्ञैरविज्ञेयं दूरस्थश्चान्तिके च तदा-
त्मानुसन्धानसाधनामानित्वादिगुणहीनानां पुरुषाणां समीपेऽवस्थितमपी-
दमात्मतत्त्वं दूरस्थमेव, आत्मानुभवसाधनसम्पन्नानाम्पुनरन्तिक एव तदा-
त्मस्वरूपम् । अत्र हि दूरान्तिकशब्दौ दुर्ग्रहसुग्रहत्वे वर्तेते ततो न
विरोधः ॥१६॥

भूतेषु वर्त्तमानमात्मस्वरूपं ज्ञानैकाकारतयाऽविभक्तमेवमस्याऽसा-
धारणस्वरूपमजानतां केषां पुनरिदं देवमनुष्यतिर्यगादिरूपमेवेति प्रत्यया-
द्विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं तदात्मस्वरूपं भूतानामा-
काशादीनां शरीरतया परिणतानां तद्भर्तृतया भर्तव्येभ्योऽतिरिक्तमेवेति

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१८॥

ज्योतिषां विद्युद्द्युमणिदीपादिप्रकाशकर्तॄणामपि तदात्मतत्त्वं ज्योतिः प्रकाशकं विद्युदादीनां तु वस्तु स्वरूपप्रकाशने साहाय्यमात्रं वास्तविकप्रकाशकत्वन्त्वात्मनो ज्ञानस्यैवेति नियमः । तमसः परमुच्यते । तमः शब्दवाच्यप्रकृतेरपि परमिदमात्मस्वरूपमुच्यते । इदञ्चात्मस्वरूपभूतं ज्ञानममानित्वाद्युपायभूतज्ञानैर्गम्यं साध्यमत एव ज्ञेयमपि सर्वस्य प्राणिनो हृदि विष्ठितं विशिष्टरूपेणावस्थितं वर्तत इतिशेषः ॥१८॥

ज्ञेयं ततोऽर्थान्तरमेवेदमिति ज्ञातव्यमिति यावत् । ग्रसिष्णु ग्रस्यमानेभ्योऽन्नसलिलेभ्यो ग्रसनकर्तृतया ततोऽतिरिक्तमेव प्रभविष्णु च प्रभवकरणशीलश्च प्रभवश्चात्र यस्तस्यान्नादेश्च रसादिरूपेण परिणमति । आभ्यां पदाभ्यां क्षेत्रमात्रस्य व्यावृत्तिरपि फलति । न हि भूतसंहतिरन्नादेर्ग्रसनप्रभवौ कर्तुं शक्नोति । अतोऽक्षरस्वरूपमेव तथाभूतम् ॥१७॥

ज्योतिषां प्रकाशकारिणामादित्यविद्युदादीनामपि तदात्मतत्त्वं ज्योतिरवभासकं प्रकाशकारिणः पदार्था आत्मज्ञानेनेन्द्रियवृत्तिद्वारा वस्तुप्रकाशयतोऽस्यात्मनः संनिकर्षमापादयन्तोऽन्धकारादीनेवापसारयन्ति न तु वस्तु समुद्भासयन्ति । तमसः परमुच्यते । तमःशब्दवाच्यप्रकृतेः परमिदमात्मतत्त्वं तमसः प्रकृतिरूपता तु सुबालश्रुतावधिगता 'महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयतेऽक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकी भवति, (सुबा.२) प्रागुक्तामानित्वाद्युपायभूतज्ञानैर्गम्यमवगन्तुं शक्यमत एव ज्ञेयं ज्ञानविषयरूपं सर्वस्य समस्तप्राणिनो हृदि

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१९॥

इत्येवं प्रकारेणोद्दिष्टानां क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानज्ञेयप्रकृतिपुरुषाणां मध्ये 'महाभूतान्यहंकार' इत्यारभ्य 'संघातश्चेतनाधृति' रित्यन्तेन ग्रन्थेन समासतः संक्षेपेण क्षेत्रस्वरूपमभिहितममानित्वमदम्भित्वमित्यारभ्य 'तत्वज्ञानार्थचिन्तनमि' त्यन्तेनात्मज्ञानसाधनभूतं ज्ञानमुक्तमनादिमत्परमित्यारभ्य'हृदि सर्वस्य विष्ठितमि' त्यन्तेन च ज्ञेयं क्षेत्रज्ञमेव संक्षेपेणोक्तम् । मद्भक्तो मद्भक्तिमान्नर एतत् क्षेत्रादियाथात्म्यञ्च विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते मम सर्वेश्वरस्य नित्यनिरवद्यकल्याणगुणाकरस्य परमात्मनो यो भावः कर्मबन्धराहित्यरूपस्तस्मायुपपद्यते ॥१९॥

हृदयप्रदेशे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तरज्योतिः, (बृ.६।३७) हृदि ह्ययमात्मा, (प्र.३।६) इति श्रुतेर्हृदयावस्थितेः सत्वात्तत्र विष्ठितं विशेषरूपेणावस्थितमित्यर्थः ॥१८॥

एवमध्यायारम्भेऽर्जुनजिज्ञास्यपदार्थेषु चतुर्णां स्वरूपलक्षणान्यभिधाय तत्फलविशेषनिर्देशपुरःसरमुक्तमर्थमुपसंहरति—इतीति । इति क्षेत्रं महाभूतान्यहंकारः, इत्यतः आरभ्य 'संघातश्चेतनाधृतिः, इत्यन्तेन तथा ज्ञानं 'अमानित्वमित्यारभ्य 'तत्वज्ञानार्थचिन्तन, मित्यन्तेन ज्ञेयञ्च अनादिमत्परमित्यारभ्य 'हृदिसर्वस्य विष्ठितमित्यन्तेन क्षेत्रं ज्ञेयभूतं क्षेत्रज्ञं तत्साधनभूतं ज्ञानञ्च समासतः संक्षेपेणोक्तम् । मद्भक्तो मम चिदचिच्छरीरकस्य जगन्नियन्तुर्भक्तो भक्तियुक्तो नर एतद्विज्ञाय क्षेत्रस्वरूपं ततोऽत्यन्तविलक्षणं ज्ञेयं क्षेत्रज्ञस्वरूपं

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥२०॥

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपलक्षणे अभिधायार्जुनजिज्ञासामनु-
सृत्य प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपपरिचयपूर्वकं लक्षणमभिधत्ते–प्रकृ-
तिमिति। प्रकृतिमपरप्रकृतिपदबोध्यां क्षेत्ररूपां पुरुषं प्रकृतेर-
त्यन्तविलक्षणं परप्रकृतिपदवाच्यमिह क्षेत्रज्ञतयोपदिष्टमिमावुभा-
वप्यनादी एव विद्धि 'अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्, अजोह्येकः
'न जायते म्रियते वा विपश्चित्, इत्यादि श्रुतिभ्यः। विकारा-
निच्छाद्वेषसुखदुःखादीन् धर्मान् गुणानमानित्वादम्भित्वादि-
धर्मांश्च प्रकृतिसम्भवान् प्रकृतितः समुद्भूतान् विद्धि। कर्मसं-
सर्गमाश्रित्य क्षेत्रज्ञशरीरादिरूपेण परिणतेयं प्रकृतिरिच्छाद्यनि-
ष्टधर्मैः क्षेत्रज्ञं संसारं नयति। अमानित्वादिधर्मैश्च मुक्ति
मित्यर्थः ॥२०॥

तत्प्राप्त्युपायभूतं ज्ञानञ्च सम्यगवधार्य्य मद्भावायोपपद्यते मम सर्वे-
शितुर्यो भावः कर्मबन्धविनिर्मोकरूपस्तस्मै कृतसाधनः स उपपन्नो
भवति। संसारबन्धनं पुनर्नाप्नोतीत्यर्थः ॥१९॥

एवं प्रागुक्तपरापरप्रकृत्योरत्र स्वरूपलक्षणपूर्वकक्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्वि-
वेचनेन प्राकरणिकोऽर्थः प्रायः समापितः। अध्यायारम्भे चार्जुनेन
षड्पदार्थविषयिणी जिज्ञासा प्रकटीकृता। तेषु चत्वारः स्वरूपेण लक्ष-
णेनावान्तरभेदेन च सम्यङ् न्यरूपि। इदानीं क्षेत्रक्षेत्रज्ञावेव
प्रकृतिपुरुषपदाभ्यामभिधीयेते इत्युपपाद्य तयोरेवावशिष्टाः कियन्तो धर्माः
परभक्त्युत्पादकतया। प्रकृतोपयोगिनइत्यतस्तेऽत्राभिधीयन्ते प्रकृतिमिति।
प्रकृतिमहत्तत्त्वादिविकारजननीमपराख्याम्पूर्वं सप्तमाध्यायेऽभिहितां पुरुषं

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

एवं प्रकृतिपुरुषस्वरूपं प्रकृतिधर्मांश्चोक्त्वेदानीं संसृष्टयो-
स्तयोः कार्यभेदमुपदिशति–कार्यकारणकर्तृत्व इति। कार्यं शरीरं
कारणानि मनःसहितानि ज्ञानकर्मोभयविधानीन्द्रियाणि तेषां
ज्ञानेच्छापूर्वकानेकयत्नकर्तृत्वे पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिर्हेतुः सर्वा-
ऽपि प्रकृतितद्विकृतिरूपक्षेत्रजन्यक्रिया पुरुषाधिष्ठितप्रकृतिमेव
कारणतयोपादत्ते। पुरुषः प्रकृतिसंसर्गविशिष्टः क्षेत्रज्ञः सुख-

परप्रकृतिसंज्ञकमपरप्रकृतेरत्यन्तविलक्षणं क्षेत्रज्ञमित्युभावप्यनादी न
आदिर्ययोस्तावनादी उभयोरपि श्रुतिस्मृतिष्वनादित्वमुद्घोष्यते। तथा
हि 'अजामेकामि'ति श्रुत्या द्वयोरनादित्वमुक्तम्। 'गौरनाद्यन्तवती
जनित्री भूतभाविनी च, 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्त
स्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' (श्वे० ४।७) विकारान् जगद्बीजात्मकानि-
च्छाद्वेषादीन् तथा गुणानमानित्वादम्भित्वादिकान् कल्याण-
साधकान् धर्मान् प्रकृतिसम्भवान् विद्धि। पुरुषाधिष्ठितेऽयं प्रकृतिः
स्वरूपविकृतिधर्मैः क्षेत्रीभूयेच्छादिभिर्बन्धममानित्वादिभिः शुभगुणैर्मोक्षं
चातनोति क्षेत्रज्ञमित्यर्थः। प्रकृतिसंसर्गात् पुरुषस्य बन्धमोक्षाविति
भावः ॥२०॥

एवं प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपवैलक्षण्यं लक्षणधर्मैरुपपाद्य तयो-
रन्योऽन्यसंसर्गादेव संसारपरम्पराप्रसार इत्येतदिदानीमभिधत्ते–
कार्यकारणकर्तृत्व इति। कार्यपदमत्र कलेवरपरं प्रकरणादर्थस्वार-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। तत्वविद्भिरितिशेषः । प्रकृतिसंसर्गादेवपुरुषस्य सुखादिभोक्तृत्वं न तु प्राकृतसम्बन्धरहितस्येति भावः ॥२१॥

स्याच्च । एवं कारणपदमपीन्द्रियपरमेव । तथा चैकादशकरणानां कलेवरस्य च प्रवृत्तौ क्षेत्रज्ञाधिष्ठिता प्रकृतिरेव हेतुरुच्यते । भोगप्रयोजनायां सर्वस्यामपि प्रवृत्तौ पौरुषेयसंसर्गमाश्रित्य पुरुषेणैव चाधिष्ठीयमाना क्षेत्रात्मना परिणता प्रकृतिरेव कारणताम्भजत इति निर्गलिताऽर्थः । प्रलये कर्मवैचित्र्यात् क्षेत्राकारपरिणत्यभावेन पुरुषाधिष्ठातृत्वासम्भवान्न भोगोत्पत्तिः । प्रकृत्यधिष्ठातृत्वमेव च कर्तृत्वं तच्च मुख्यमेव । एतेन प्रकृतिसंसर्गादेव पुरुषस्यौपचारिकं कर्तृत्वमिति मतमपास्तं गीताशास्त्रविरुद्धत्वात् । 'कर्ता शास्त्रर्थवत्वात्, (ब्र. सू. २।३।३४) इत्यादिष्वौपचारिकस्य कर्तृत्वस्यानुक्तत्वाच्च । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । ननु प्रकृतिसंसर्गरहितस्य पुरुषस्य 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः' इत्यादि श्रुत्यनुरोधात् प्रियाऽप्रियाभ्यां राहित्ये सिद्धे सुखदुःखभोगहेतुता नोपपद्यते । उभयसंसर्गनिमित्ता चेत्प्रकृतेरपि साऽनिर्वार्येति कथं केवलायाः प्रकृतेः कार्यकारणकर्तृत्वे केवलस्य पुरुषस्य च सुखदुःखभोक्तृत्वे हेतुत्वमुच्यत इति चेदित्थम् । यद्यपि प्रकृतिसंसर्गनिबन्धन एव तयोरुभयोस्तथा व्यवहारः किन्तु दृष्टानुगुणैव कल्पना युक्ता न तु तद्विपरीता । अत एव सांख्यानामयं दृष्टान्तः संगच्छते । यथाऽयस्कान्तः स्वसन्निधानाल्लोहमणिं प्रवर्तयति तथा प्रकृतिरपि स्वस-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

पुरुषस्य सुखदुःखादिभोक्तृत्वमुपपादयति–पुरुष इति । स्वरूपतः क्लेशादिरहितोऽपि पुरुषः, प्रकृतिपदं प्रकृतितत्कार्यपरं करणकलेवरादिकार्यरूपेण परिणतायां प्रकृतौ न्निधिमात्रेण पुरुषम् । एवञ्चेच्छाद्वेषादिधर्मराहित्येन पुरुषस्य कर्तृत्वं नैव सम्भवति । प्रकृतेरेव तद्युक्तम् । स्ववृत्तिसुखादिसाक्षात्काररूपभोगन्तु प्रकतिसंसृष्टतया पुरुषोऽपि शक्नोत्यनुभवितुमतः सम्भवमात्रेण तथा कथनमिति न विरोधः । एकदेशिनस्तूदासीनपुरुषयोगात् प्रकृतेरेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वमित्याहुस्तदसत् गीताशास्त्रविरुद्धत्वात् स्वकीयसिद्धान्तविरुद्धत्वाच्च । अस्ति चायं तेषां सिद्धान्तः "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥१७॥ तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥ तस्मात्तत्संयोगादचेतनञ्चेतनावदिव लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः । एवञ्च प्रकृतिसंसर्गजनित एवाखिलजगद्व्यापार इति फलितः ॥२१॥

अथ सुखस्वरूपोऽपि पुरुषः कथं सुखदुःखादिकमनुभवतीत्येतत् प्रतिपादयति–पुरुष इति । पुरुषः सुखस्वरूपोऽपि जीवः । प्रकृतिस्थः प्रकृतिविकारात्मकदेहादिविशिष्टः सन् । प्रकृतिजान् प्रकृतिसम्बन्धा-

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२३॥

तिष्ठतीति प्रकृतिस्थः प्रकृतिसंसृष्टः सन्नेव प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते प्राकृतसत्वादिगुणपरिणामभूतान् सुखदुःखमोहात्मकान् यावद्गुणाधिकारमनुभवति । प्राकृतसंसर्गहेतुमप्युपपादयति—कारणमिति । अस्य पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणं गुणसङ्ग एव। पूर्वकर्मानुसारात् सत्वादिगुणकारणकं देवमनुष्यादिदेहमवाप्य पुनर्गुणकार्यभूतसुखादिलिप्सया प्रवर्तते, ततश्च तद्देहानुष्ठितकर्मानुसारात् सदसद्योनिषु जायते । एवं सत्वादिगुणसंसर्ग एवाऽस्य संसरणे हेतुर्नान्यत् ॥२२॥

अथ सदसद्योनिषु जन्मग्रहणानन्तरं जायमानान् पुरुषस्वभावानाह—उपद्रष्टेति । अस्मिन् देहे स्थितः पुरुषोऽनज्जातान् । गुणान् प्राकृतसत्त्वादिगुणकार्यभूतान् सुखदुःखादीन् भुङ्क्तेऽनुभवति । हि । अथ शुद्धस्याप्यात्मनः प्राकृते सम्बन्धे हेतुमाह—कारणमिति । अस्य शुद्धस्यापि पुरुषपदवाच्यस्य जीवस्य सदसद्योनिषु साध्वसाधुजन्मसु देवसूकरादियोनिजन्मसु । कारणं गुणसंगः सत्त्वादिगुणपरिणामसुखाद्यासक्तिः । अस्तीति शेषः । सत्सङ्गादिना निरुक्तगुणसंगनिवृत्तौ सम्पन्नायां च गुणसम्पत्तौ प्राकृतसम्बन्धोऽपि निवर्त्तेत इति भावः ॥२२॥

अथ सदसद्योनिजन्मग्रहणानन्तरमुत्पद्यमानान् पुरुषस्य स्वभावानाह—उपद्रष्टेति । अस्मिन् पुरस्ताद् वर्त्तमाने देहे स्थितः पुरुषो निरवच्छिन्नज्ञानवानप्युपद्रष्टा साक्षात्कर्त्ताऽनुमन्ता प्रेरयिता भर्त्ता देह-

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

वच्छिन्नज्ञानशक्तिरप्युपद्रष्टा देहविशिष्टत्वेन देहप्रवृत्त्यनुकूलसङ्कल्पात्मकदर्शनविशिष्टः । साक्षात्कर्त्तेत्यर्थः । अनुमन्ता प्रेरणकर्त्ता भर्त्ता देहस्य धारणकर्त्ता भोक्ता देहव्यापारजनितसुखाद्युपभोक्ता च भवति । अत एव महेश्वरो नियमनभरणादिभिर्देहेन्द्रियमनसामधीश्वरः परमात्माऽऽत्मशब्दवाच्यदेहेन्द्रियमनांसि प्रति परमात्मा चाप्युक्तोऽभिहितः* ॥२३॥

प्रकृतिपुरुषविवेकिनं स्तौति–य इति । यो मुमुक्षुरेवं प्रोक्तस्वभावकं पुरुषं परप्रकृतिरूपं गुणैस्सह प्रकृतिं सत्वादिगुणैर्युक्तामपराख्यां प्रकृतिश्च वेत्ति लक्षणस्वभावाभ्यां तयोस्त्वधारको भोक्ता सुखाद्युपभोगकर्त्ता च भवति । अत एव महेश्वरो तत्तद्देहनियमनादिभिर्धर्मैर्देहेन्द्रियादीनामीश्वरो परमात्मा देहादीन् प्रति परमात्मा चाप्युक्तः कथितः ॥२३॥

एवं प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं लक्षणञ्चोपदिश्य तद्विवेकवतो नित्यात्मस्वरूपप्राप्तिरूपं फलमभिधीयते—य इति । यो मुमुक्षुरेवं पुरोदीरितस्वभावकं पुरुषं क्षेत्रज्ञपरप्रकृतिपदाभ्यां निर्दिष्टं गुणैः सत्त्वादिभिः

---

* आत्मशब्दवाच्यदेहेन्द्रियादिभ्यः परत्वाज्जीवात्मनः परमात्मत्वं देहेन्द्रियमनांसि प्रत्येव वेदितव्यं न तु सर्वजगत् प्रति । अन्यथा "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्ययमीश्वरः ॥" (गीता अ० १५) इति वक्ष्यमाणं भगवद्वचनं न सङ्गच्छेत् ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥

रूपं विवेकेनावगच्छति स विवेकी कस्मिंश्चिदपि शरीरे वर्तमानोऽपि तत्प्रारब्धावसाने भूयो नाभिजायते प्राकृतशरीरनिर्मोकानन्तरमाविर्भूतगुणाष्टकं विशुद्धमात्मस्वरूपमाप्नोति । न पुनर्जगज्जाले जायत इति भावः ॥२४॥

स्वाभिप्रायं स्पष्टयति—ध्यानेनेति द्वाभ्याम् । केचिदात्मानुध्यायिनो भक्ता आत्मनि स्वदेहे वर्तमानमात्मानं विशुद्धमात्मनः स्वरूपमात्मना सद्गुरुशास्त्रनियन्त्रितेन मनसा ध्यानेन योगयुक्तोपासनया पश्यन्ति स्वानुभवविषयी कुर्वन्ति, अन्ये आत्मज्ञानविमर्शशीलाः सांख्येन योगेन ज्ञानाख्येन योगेनात्मसहितां प्रकृतिमपरपदव्यपदेश्यां क्षेत्रपदाभिधेयाञ्च प्रकृतिं वेत्ति लक्षणेन स्वरूपेण च यथावद्विजानाति, स विवेकनिपुणः पुमान् सर्वथा वर्तमानदेवमनुष्यादिशरीरेष्ववस्थितोऽपि सन् भूयो नाभिजायते, तत्प्रारब्धावसाने पुनर्न संसारे समुत्पद्यते, प्रारब्धानन्तरमेव विवेकज्ञानसाहाय्येनाविर्भूतस्वरूपं विशुद्धमात्मपदमवाप्नोति । ततः शाश्वतिकस्वरूपेण परमानन्दभाग्भवतीत्यर्थः ॥२४॥

एवं प्रकृतिपुरुषपरिज्ञानस्य फलमुक्त्वा विशुद्धात्मदर्शनोपायतारतम्येनाधिकारितारतम्येऽपि शनैस्तेऽपि श्रेयोमार्गमारुह्योक्तफलमासादयन्त्येवेत्याह—ध्यानेनेति द्वाभ्याम् । केचित् संसिद्धयोगा भगवद्भक्ता आत्मनि स्वदेहेऽवस्थितमात्मानं प्रकृतिवियुक्तमात्मनः स्वरूपमात्मना मनसा योगानुष्ठानजन्यनैर्मल्यविशिष्टेन मनसा ध्यानेनाभ्यासपरिपुष्टेन

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

स्वरूपं पश्यन्ति, अपरे च ततो मन्दाधिकारिणः सरलसाधनधियः कर्मयोगेन फलाभिसन्धिशून्येन परिणतौ ज्ञानभूतेनेति यावत् । मनसा पश्यन्ति ॥२५॥

अधिकार्यन्तरमाह—अन्य इति । अन्ये तु मन्दाधिकारिणो ध्यानज्ञानकर्मयोगयोग्यतामनवाप्यैवमुक्तेभ्यः साधनेभ्य आत्मस्वरूपमजानन्तोऽन्येभ्य आत्मविद्भ्यो गुरुभ्यस्तदात्मस्वरूपं श्रद्धाभक्तिभ्यां श्रुत्वा स्वाधिकारोचितकर्मभिरात्मानमुपासते । कर्मारम्भसमुद्योगा इति भावः । तेऽपि च श्रुतिपरानिदिध्यासनेन पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति । अन्येऽनिष्पन्नयोगा भक्तिसाधनाधिकारिणः सांख्येन योगेन मननाख्येन साधनेन ब्रह्मविद्गुरोः सकाशादात्मसाधनभूतप्रकृतिपुरुषपरिज्ञानं सम्प्राप्य सम्यक् श्रवणं विधाय मननाख्येन योगेनात्मानं पश्यन्ति । अपरे चालब्धनिदिध्यासनाभ्यासा अत एव मननमनोऽनवस्थिता आत्मप्राप्तौ जाताभिलाषा इति यावत् । कर्मयोगेन वर्णाश्रमोचितनिष्कामकर्मानुष्ठानेन मनोनैर्मल्याज्ज्ञानध्यानयोग्यतां सम्पाद्यात्मानं पश्यन्ति ॥२५॥

अधिकारिविशेषकृते साधनविशेषं तत्फलञ्चाह-अन्य इति । अन्ये तु, तु शब्दोऽधिकार्यन्तरपरः । एवं प्रोक्तसाधनेषु निकृष्टसाधनकर्मयोगेनाप्यात्मानमजानन्तोऽन्येभ्य आत्मनिष्ठेभ्यः सद्गुरुभ्यः श्रद्धाभक्तिभ्यां श्रुत्वा कर्मयोगानुष्ठानेनैनमात्मानमुपासते । वस्तुतस्तु न कर्मानुष्ठानेऽपि परिनिष्ठिता अपि तूत्साहवशादारब्धुमुद्यतास्तेऽपि श्रुतिपरायणाः

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

यावत्सञ्जायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२७॥

यणाः श्रवणभक्त्यभ्यासतत्पराः सन्तो निर्धूताऽखिलान्तराया मृत्युं संसारमतितरन्त्येव। एवकारोऽवधारणार्थः। न ह्यत्र विषये सन्देहलेश इति भावः ॥२६॥

इदानीं प्रकृतिपुरुषयोः सम्यक् परिज्ञानाय सर्वत्र साम्यदर्शनमभिधीयते—यावदिति। हे भरतर्षभ ! यावत् किञ्चिदपि स्थावरात्मकं जङ्गमात्मकं च सत्त्वं भूतजातं सञ्जायते तावत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पारस्परिकसंयोगादेवोत्पद्यते संयुक्तयोरेव तयोः कार्यसम्पादकत्वं न तु विविक्तायाः प्रकृतेर्न वा पुरुषस्येति विद्धि ॥२७॥

सद्गरुमुखाद्वेदान्तश्रवणे जातानुरागास्ततोऽभ्यासमाश्रित्य क्रमेण निष्कामकर्मानुष्ठाय ज्ञानध्याने सम्प्राप्य मृत्युं भवाब्धिमतितरन्त्येव । एवकारोत्रार्थे निश्चयं गमयति । नात्र विशयावसर इति भावः ॥२६॥

एवं प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकज्ञानं कैवल्यसाधकमित्युक्त्वेदानीं तत्सिद्धये विवेकागमप्रकारं दर्शयति—यावदिति त्रिभिः। हे भरतर्षभ ! भरतवंश्यश्रेष्ठ। यावत् पदं साकल्यार्थकम् । यावत्स्थावरजङ्गमात्मकं किञ्चिदपि सत्त्वं भूतजातं सञ्जायते समुत्पद्यते तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् प्रकृतिपुरुषयोरितरेतरसंयोगादेवोत्पद्यते। पृथक् स्वरूपस्वभावयोरपि तयोर्विलक्षणसम्बन्धे सत्येवाखिलप्राणिनामुत्पत्तिर्नत्वेनं विलक्षणसंयोगमन्तरेण न केवलायाः क्षेत्ररूपप्रकृतेर्न वा केवलात् पुरुषादिति त्वं विद्धि ॥२७॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२८॥

सर्वेषु पूर्वोक्तेषु स्थावरजङ्गमेषु भूतेषु समं देवमनुष्याद्याकारमकारं विहाय ज्ञातृत्वैकाकारतयैव करणकलेवराध्यक्षतया पर-

एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगाज्जगदुत्पत्तिमभिधाय तत्र साम्येनावस्थितं क्षेत्रज्ञं विविच्य दर्शयति-सममिति। सर्वेषु देवमनुष्याद्यवयवादिनिबन्धनविषमाकारतामापन्नेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तं स्वकीयज्ञातृत्वाकारेण तेषु समानमेव यथा दारुचर्मायोनिर्मितमञ्जूषान्तर्गतं काश्मीरं स्वरूपगुणाकारैः काश्मीरमेवावष्ठिते न तत्तत्स्थानकृतवैषम्यमाप्नोति तद्वदात्मनस्तत्तद्देहेऽपि स्थितिमात्रमेव न तु तत्तदाकारनिबन्धनं वैषम्यमपीत्यतः सम्यगुक्तं सममिति। परमेश्वरं करणकलेवराद्यध्यक्षतयोत्कृष्टेशनसमर्थम्, परमपुरुषस्य त्वात्मनोऽपि नियामकत्वात् सर्वेशनसामर्थ्यात् सर्वेश्वरत्वमिति भेदः। ननु परमेश्वरशब्देन परमात्मन एवान्यत्र ग्रहणादत्र कथमात्मनो ग्रहणमित्याशंकायामाह-विनश्यत्स्वविनश्यन्तम् । प्राकृतक्षेत्रादिषु विनश्यत्स्वप्यविनश्यन्तं क्षेत्रधारकत्वेन स्थितस्यात्मन एवाऽविनश्यत्तयाऽवस्थितत्वात् । देहात्मवादिनो हि देहविनाशादात्मनाशमभिदधते न तु परमात्मनोऽप्रतीतेः, तथा च 'अविनश्यत्स्वविनश्यन्तमि'त्यनेन प्रसक्तविनाशप्रतिषेधार्थकपदसामानाधिकरण्येन परमेश्वरपदं प्रकृतस्यात्मन एव बोधकमिति तदाशयः। एवं ज्ञानाकारेण सर्वत्र सममात्मस्वरूपं यः पश्यति ज्ञानदृष्ट्यावलोकयति स पश्यति स एव चक्षुष्मान् यथावदवलोकनकर्त्ता । इतोऽन्ये विविधदेहवैषम्यादात्मनोऽपि वैषम्यं निभालयन्ति तेऽन्धाः । संसारगर्तपतनशीला इत्यर्थः॥२८॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२९॥

मेश्वरं तिष्ठन्तं देवाद्याकारेषु क्षेत्रेषु विनश्यत्स्वप्यविनश्यन्तं विनाशानर्हतया सर्वदैकरूपेण स्थितमेव यः कश्चित पश्यति स एवात्मयाथात्म्यं पश्यति। स एव परमार्थदर्शीत्यर्थः। तदितरे जगद्व्यवहारदर्शिनोऽप्यन्धा एवेति भावः ॥२८॥

समदर्शनस्य फलमाह—सममिति। सर्वत्र प्राकृतेषु तत्तद्देहेषु तत्तद्देहं धारयन्तं नियामकत्वेन समवस्थितमीश्वरमात्मानं तत्तदाकाररहितं तदीयज्ञातृत्वैकारत्वेन समं पश्यन् तत्वदर्श्यात्मना स्वकीयमनसाऽऽत्मानं स्वकीयमात्मानं न हिनस्ति क्लिष्टे संसारबन्धने नैव प्रक्षिपति। आत्महिंसकानां दुर्गतिरीशावास्ये श्रुतैव 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' (ईशा०. ३) इति। ततो ज्ञातृत्वैकाकाररूपेण सर्वत्र साम्यदर्शनात् परामुत्तमां गतिं विशुद्धरूपमात्मानं यात्यवाप्नोति ॥२९॥

साम्येन दर्शनमव्यवहितपूर्वश्लोकेऽभिहितं तस्य परमतिरूपोत्तमफलप्रदायित्वेन श्रैष्ठ्यमित्युपपादयति—सममिति। सर्वत्र सर्वदा वैषम्ययुक्तेषु देवमनुष्यादिदेहेषु समवस्थितमीश्वरमात्मानं। जीवमित्यर्थः। समं ज्ञातृत्वैकाकाररूपेणैकरूपं पश्यन्नवलोकयन्नात्मना मनसाऽऽत्मानं स्वीयात्मानं न हिनस्ति न हन्ति, संसारितां प्राप्य न नाशयति, किन्तु संसारार्णवात् तारयित्वोज्जीवनं करोतीत्यर्थः।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥३०॥

पूर्वोक्तमेवोपपादयति—प्रकृत्येति। सर्वशः सर्वाणि कर्माणि करणकलेवरादिरूपेण परिणतया प्रकृत्यैव क्रियमाणानि यः साधकः पश्यति तथाऽऽत्मानं प्रकृतिवियुक्तत्वात् कर्तृत्वादिधर्मरहितं च यः पश्यति स एव पश्यति यथावद्दर्शनकर्त्तेत्यर्थः। इतोऽन्ये तु सत्यपि चक्षुषि तात्विकदर्शनाभाववत्त्वादन्धा एवेति भावः ॥३०॥

ततः ज्ञातृत्वाकारेण सर्वत्र साम्यावलोकनात् परामुत्कृष्टां गतिं शुद्धमात्मानं याति प्राप्तो भवति ॥२९॥

ननूच्चावचकर्मकर्तृत्वेन तदुचितेष्टाऽनिष्टफलभोक्तृत्वेन च वैषम्यमनिवार्यमिति कुतः समदृष्टिः कुतस्तराञ्चात्महिंसाविरतिरित्याशंक्याह—प्रकृत्येति। सर्वशः कर्माणि कायेन मनसा वचसा च सम्पादितानि सर्वाणि कर्माणि करणकलेवराकारपरिणतया 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' (गी. १३ । २०) इत्येवं पूर्वं निर्दिष्टया सर्वविकारजनन्या प्रकृत्यैव च क्रियमाणानि यः पश्यति तथाऽत्मानमकर्तारं प्रकृतिसम्बन्धात् करणकलेवरादिमत्त्वं तदायत्तकर्तृत्वञ्चास्यागन्तुकमेव न स्वरूपकृतमतः स्वतोऽकर्तारं यः पश्यति स एव यथानुरूपमात्मानं पश्यति। इदमेव च निःश्रेयसौपयिकं साम्यदर्शनमिति भावः ॥३०॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३१॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।

एवं समत्वमुक्त्वा विकारित्वनिर्विकारित्वादिधर्मैर्वैषम्यमुच्यते—यदेति । भूतपृथग्भावं क्षेत्रक्षेत्रज्ञोभयतत्त्वसमन्वितेषु देवमनुष्यादिसमस्तभूतेषु पृथग्भावं तत्तद्भूतानां देवत्वमनुष्यत्वरूपेण ह्रस्वत्वदीर्घत्वरूपेण शौक्ल्यकार्ष्ण्यादिरूपेण च पृथक्त्वमेकस्थमेकस्याम्प्रकृतौ स्थितं यदाऽनुपश्यति ज्ञानदृष्ट्या निश्चिनोति तत एव च विस्तारं तदेकतत्त्वतः प्रकृतित एवाखिलजगद्विस्तारञ्च यदा पश्यति तदा तथा दर्शनकाल एव ब्रह्म सम्पद्यते । ज्ञानाकारेण ज्ञानगुणेन च ब्रह्मसाम्यं सम्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥३१॥

प्रोक्तमात्मनो वैधर्म्यं प्रकृतित इदानीमकर्तृत्वादि

एवं समदर्शनमभिधाय परिणामित्वापरिणामित्वादिलक्षणं वैषम्यमभिधत्ते—यदेति । भूतपृथग्भावं भूतानां देवतिर्यङ्मनुष्याणां यत् पृथग्भावं शरीराकारप्रकारादिभिः पार्थक्यमेकस्थमुभयोर्मध्य एकस्याम्प्रकृतावेव स्थितं यदाऽनुपश्यति । एकस्मिन्नात्मनि स्थितमिति परव्याख्यानन्त्वयुक्तं पूर्वोक्तसमदर्शनादिविरुद्धत्वात् । तत एव च विस्तारं तदेकतत्त्वतः प्रकृतेरेव च करणकलेवरादिरूपं नानासंस्थानकं जगद्विस्तारञ्च यदा पश्यति तदा दर्शनसमकालमेव ब्रह्म सम्पद्यते परब्रह्मसाम्यं सम्पद्यते । अथवा प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकानुसन्धानेनात्मकैवल्यमवाप्य क्रमेण ब्रह्मसायुज्यमवाप्नोतीत्यर्थः ॥३१॥

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३२॥

कमात्मनि संगमयति—अनादित्वादिति । अयं क्षेत्रज्ञः करणकलेवराधिष्ठातृतया परमात्माऽनादित्वाच्छरीरादिवदाद्यन्तरहितत्वान्निर्गुणत्वात् प्राकृतगुणरहितत्वादव्ययः सर्वथा विकाररहितः शरीरस्थितोऽपि प्राक्तनकर्मसम्बन्धाच्छरीरे वर्तमानोऽपि हे कौन्तेय ! स्वरूपेण न करोति कर्तृत्वाभिमानं न धत्ते न लिप्यते देहधर्मैर्न सम्बद्ध्यते । परैः परमात्मपदेन परमपुरुषोऽत्र गृहीतः स चायुक्तः, क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिरूपणायैवाध्यायस्यारम्भात् । 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा, (गी१३।३४) इति तन्निरूपण एव च समाप्तेः ॥३२॥

प्रकृतिवियुक्तस्यात्मनः कर्तृत्वं नास्तीत्युक्तं तदिदानीमात्मधर्मनिरूपणेन स्पष्टयति—अनादित्वादिति । करणकलेवरादिष्वप्यात्मशब्दस्य 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, (गी १३ । २४) इत्यादावसकृद् दृष्टत्वात्तेषामप्यधिष्ठातृत्वादत्रायं क्षेत्रज्ञः परमात्मपदेनोपादीयते । तथा चोक्तं भाष्ये अयं क्षेत्रज्ञः करणकलेवराधिष्ठातृतया परमात्मा, इति । तथा चायं पूर्वोपात्तः परमात्मा क्षेत्रज्ञोऽनादित्वादुत्पत्तिविनाशरहितत्वान्निर्गुणत्वात्प्राकृतसत्वादिगुणरहितत्वादव्ययो जन्मादिविकाररहितस्ताद्दशविकाराणां शरीरमात्रान्वयित्वेनात्मनोऽव्ययत्वं सुतरामुपपन्नमतोऽयमत्मा शरीरस्थोऽप्यनादिकर्मसम्बन्धाद्देहेऽवस्थितोऽपि हे कौन्तेय न करोति न लिप्यते किमपि कर्म नैवानुतिष्ठति तत्तत्कर्माणि देहसंसृष्टतया कुर्वन्नपि स्वरूपेणाकर्तृत्वमेव भजतेऽत एव नैव लिप्यते सलिलसद्मपद्मदलवन्निर्लेपः । लोकेऽपि यो हि कर्मानुविधत्ते स एव फले-

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३३॥

निर्लेपत्वं दृष्टान्तेन विशदयति—तथेति । यथाऽऽकाशं सर्वगतं सर्वैः स्थूलदीर्घवक्रत्वादिधर्मकैः पदार्थैः संयुक्तमपि स्वकीयसौक्ष्म्यान्निरन्वयत्वादिस्वाभाव्यान्नोपलिप्यते तदीयधर्म्मैर्व्यपदिष्टं न भवति तथात्मापि सर्वेषु देहेष्ववस्थितोऽपि तत्तद्देहधर्म्मैर्नोपलिप्यते । असंस्पृष्ट एव तिष्ठति । देहगतगुणदोषैर्न सम्बद्धचत इत्यर्थः ॥३३॥

नापि सम्बद्धचतेऽस्य तु स्वतस्तथा न विद्यत इति भावः । प्रकृतिसङ्गादेव कर्तृत्वादिकं न स्वभावत इति फलितम् ॥३२॥

नन्वनादित्वान्निर्गुणत्वादिति हेतुभ्यां शरीरस्थस्याप्यात्मनः कर्तृत्वाभावः प्रतिपादितस्तथापि निर्लेपत्वन्तु नैव सम्भवति यतः 'सुरासङ्गाद् गङ्गाजलमपि च दोषं व्रजति वै, इति लौकिकन्यायात् परमाशुचिभूतस्य शरीरस्य नियतसम्पर्कान्निर्लेपता कुतः स्यात् । देहस्याशुचित्वन्तु—'यम्प्राप्यातिपवित्राणि वस्त्राण्याभरणानि च । अशुचित्वं क्षणाद्यान्ति किमन्यदशुचिस्ततः, इत्यादिशास्त्रैरवगतमेवेत्याशङ्क्याह— यथेति । यथा सौक्ष्म्यात् सर्वगतं सर्वपदार्थैः संयुक्तमप्याकाशं नोपलिप्यते न तत्तत्पदार्थधर्मैः स्थौल्यदैर्ध्यादिभिः स्वयं संयुक्तम्भवति किन्तु निर्लेप एव तिष्ठति तथाऽयमात्मा देहे स्वधर्मभूतज्ञानेन सर्वत्रावस्थितोऽपि दैहिकैर्देवमनुष्यत्वाद्याकारैः काणत्वबाधिर्यादिभिर्गुणदोषैश्च नोपलिप्यते । अतिविशुद्धस्य चैतन्यरूपस्यात्मनः संसर्गजनितगुणदोषाश्रयत्वं न जातु सम्भवतीति भावः ॥३३॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

यद्याकाशवदत्यन्ताऽसङ्ग एवायमात्मा स्यात्तदा शरीरेऽपि कथमस्य ज्ञानसुखोपलब्धिरित्यतो दृष्टान्तान्तरमाह—यथेति । हे भारत ! यथा प्रभाकर एक एव इममखिलं लोकं स्वेनालोकेन प्रकाशयति तथा क्षेत्र्यपि स्वकीयं कृत्स्नं सर्वावयवविशिष्टं क्षेत्रं स्वधर्मभूतेन ज्ञानेन प्रकाशयति । तथा च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावात् परस्परवैलक्षण्यमित्यपि सूचितम्भवति ॥३४॥

नन्वेवमस्यात्मनः स्वतो निर्विकारित्वेनासङ्गत्वेन क्षेत्रात् सर्वथा विविक्तत्वेन स्वस्मिन् देहेऽपि सार्वत्रिकसुखदुःखाद्यनुभवो न स्यादित्याशंक्य दृष्टान्तेन संगमयति—यथेति । हे भारत ! यथा रविर्भानुमानेक एवेमं कृत्स्नं लोकं सस्वर्गान्तरिक्षं भूमण्डलं प्रकाशयति । भानुरेकदेशस्थितोऽपि स्वकीयैः प्रतपत्किरणैरखिलमवभासयतीत्यर्थः । तथाऽयं ज्ञानस्वरूपः क्षेत्री क्षेत्रैकदेशे हृदयेऽवस्थितोऽपि स्वकीयधर्मभूतज्ञानेन कृत्स्नमापादतलमस्तकं सर्वावयवविशिष्टं क्षेत्रं प्रकाशयति । अयमभिप्रायो नानावयवसमूहविशिष्टेऽस्मिन् शरीर एक एवात्मा स्वज्ञानप्रभयाऽन्तर्बहिश्च प्रत्यवयवं संव्याप्य तत्तदवयवजन्यं सुखं दुःखं वानुभवति सर्वलोकसाक्षिकमेतत् । अनेनोदाहरणेनात्मनः कर्तृत्वेन प्रकाशकत्वेन क्षेत्रस्य प्रकाश्यत्वेन कर्मत्वेन च भेदः स्पष्ट एव प्रदर्शितो भवति ॥३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

एवमध्यायप्रतिपाद्यप्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपपरिज्ञानस्य तद्विषयकज्ञानस्य च फलं प्रतिपादयन् प्राकरणिकार्थमुपसंहरति–क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । एवं प्रोदीरितप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं परस्परवैलक्षण्यं परिणामित्वापरिणामित्वाज्ञत्वज्ञातृत्वादिप्रकारेण ज्ञानचक्षुषा ये विदुर्भूतप्रकृतिमोक्षं भूतानां जन्तूनां या प्रकृतिः कर्माख्याविद्या तस्याः मोक्षं मुक्तेरूपायश्च ये विदुस्ते विमुक्तकर्मबन्धाः परं प्रकृतिवियुक्तं शुद्धमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥३५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

श्रीगीतार्थसुधा

क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपं प्रकृतिपुरूषयोर्भेद आत्मस्वरूप-
ज्ञानोपायाः समेक्षा त्रिगुणपुरुषयोर्योगतो विश्वसृष्टिः ।
कर्तृत्वे हेतुरेका प्रकृतिरथपुमान् भोक्तृभावे च हेतु-
र्बन्धोच्छेदो विवेकात् त्रिसहितदशमे शौरिणोक्ता इमेर्थाः ॥१५॥

एवं प्रकृतिपुरुषपरिज्ञानस्य फलं निर्दिशन् प्रकृतमुपसंहरति—क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । एवमुक्तप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरमितरेतरवैलक्षण्यविशेषमज्ञत्वज्ञातृत्वादिलक्षणं गुरुशास्त्रोपदेशजनितात्मप्रत्यक्षं तदेव चक्षुस्तेन ज्ञानचक्षुषा भूतप्रकृतिमोक्षं भूतानां प्रकृतिरनादिकर्मरूपाऽविद्या तस्या मोक्षं मुक्तेरुपायश्च ये विदुस्ते न्यस्ताविधिकबन्धनाः परं विशुद्धमात्मानं यान्ति ॥३५॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्योद्धारकेण जगद्विजयिना सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण महामहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।



परब्रह्मणे श्रीरामाय नमः ।

आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्दशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगता ॥१॥

पूर्वाध्याये प्रकृतिपुरुषस्वरूपं प्रकृतेः संसर्गात् पुरुषक्षेत्रज्ञपदोदितस्यात्मनः संसारः 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इत्यादि (गी. १३) वाक्यैरवधारितम् ॥ उपसंहारवाक्ये च 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृतिमोक्षश्च ये विदुर्यान्ति ते परम् , (गी. १३।३५) इति भूतप्रकृतिमोक्षवेदनस्य परगतिप्रापकत्वादयमात्मा गुण-

ज्ञानगर्भितकर्मयोगभक्तियोगयोः स्वरूपस्य विशोधनाय तृतीयषट्कारम्भस्तत्र प्राथमिकं त्रिकं चिदचिदीश्वरस्वरूपस्वभावादिप्रबोधनायैव प्रवृत्तम्, तत्र गतेनाध्यायेनेश्वरशेषभूतयोः प्रकृतिपुरुषपदवाच्यचिदचितोः स्वरूपं निरचायि । क्षेत्राकारपरिणतप्रकृतिसंसृष्टस्य क्षेत्रज्ञस्य, पुनस्त्रिगुणासङ्गादेव संसृतिक्लेशः 'कारणं गुण-

सङ्गप्रयुक्तः संसरति तन्निवृत्तौ संसारान्निवर्त्तेत इत्येवायातम् । अतोऽत्राध्यायेऽस्य क्षेत्रज्ञस्य गुणाशक्तेर्हेतुताप्रकारस्तन्निवर्तनप्रकारश्च विचिन्त्यते । तत्र वक्ष्यमाणार्थे श्रोतॄणामभिरुच्युत्पत्तयेऽभीप्सितफलप्रदायित्वेनैतज्ज्ञानं द्वाभ्यां स्तुवन् श्री भगवानुवाच-परमिति । पूर्वोक्तप्रकृतिपुरुषज्ञानाद्विलक्षणं प्रकृतिपुरुषसम्बन्ध्येव त्रिगुणविषयकं ज्ञानं भूयः पुनरपि प्रवक्ष्यामि । तच्च ज्ञानानां प्रोक्तानां प्रकृतिपुरुषविषयाणां ज्ञानानां मध्य उत्तमं यज्ज्ञानं ज्ञात्वा सर्वे मुनयस्तन्मननशीला महात्मान इतस्तज्ज्ञानप्राप्तदेहात् तम्परित्यज्यात्मसाक्षात्काररूपां परामुत्कृष्टां सिद्धिं गताः समधिगतवन्तः ॥१॥

सङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गी. १३) इत्यनेनोपापादि । तथा 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिश्च गुणैः सह । सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते, (गी. १३ ।) इति प्रकृतेः स्वरूपस्य ततो विविक्तस्यात्मनः स्वरूपस्य च सम्यगवगमेन तन्निवृत्तिरप्यवागामि । अतोऽत्र चतुर्दशेऽध्याये गुणस्वरूपनिरूपणपूर्वकं कथं तेभ्यो बन्धः कथञ्च तन्निवृत्तिरिति विचार्यते । तत्र श्रोतृप्रवृत्तयेऽनायासेनेष्टसिद्धिलक्षणफलप्रदत्वेन वक्ष्यमाणार्थं द्वाभ्यां स्तुवन् श्रीभगवानुवाच—परमिति । **परं** प्रागुक्तक्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानाद्भिन्नं ज्ञानानामुत्तमं त्रिगुणविषयकं ज्ञानं भूयः **पुनरपि** प्रवक्ष्यामि । क्षेत्राध्याये प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपमुक्तम् । तत्र प्राकृतधर्मनिरूपणप्रसङ्गपारवश्यादतिसंक्षेपेण सत्वादिगुणानां स्वरूपपरिचयोऽप्यकारि न तु विशिष्य तज्ज्ञानमुक्तमतो भूय इत्यभिहितमिति भावः । यज्ज्ञानमवगम्य मुनयो

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

पूर्वं सम्यग् ज्ञानेन परसिद्धिरभिहिताऽधुना सम्यगनुष्ठानेन विशिष्टं फलमभिधत्ते-इदमिति । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानं साधनसहितमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम साधर्म्यमागताः 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुत्युक्तं साम्यमवाप्ताः सर्गे जगत्सर्गे ते नोत्पद्यन्ते प्रलयेऽपि च न व्यथन्ति जन्ममरणादिक्लेशान् कदापि नानुभवन्तीत्युत्तरार्थः ॥२॥

मननशीलाः सर्वेऽपि इतोऽस्माल्लोकात् परां सिद्धिं विशुद्धात्मस्वरूपं प्राप्ताः । अत्र सर्वे मुनयो महर्षय इत्यर्थस्तु न युक्तः सर्वे घटा रूपवन्त इत्यादौ शाब्दबोधसामञ्जस्यायोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकविधेयव्याप्यपर्याप्तिकस्य धर्मस्य सर्वपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य स्वीकार्यत्वेन मुनित्वव्यापकपरसिद्धिप्राप्तिरूपविधेयव्याप्यस्य कस्यचिद्धर्मस्यात्रासत्वात् । न हि यावन्मुनीनामनेनैव साधनभूतेन ज्ञानेन परसिद्धिरभूत् परमपुरुषपरिज्ञानस्य वैयर्थ्यापत्तेः । तस्मान्मननेप्रवृत्तानामेव मुनीनां परसिद्धिलाभ इत्युक्त एवार्थे तात्पर्यमितिसंक्षेपः ॥१॥

पूर्वं प्रकृतज्ञानयाथात्म्येन परसिद्धिरूपेष्टसिद्धिरभिहिताऽनेन चोक्तज्ञानतत्साधनयोरनुष्ठानेनानिष्टनिवृत्तिरूपं फलमुच्यते-इदमिति । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य साधनसहितमनुष्ठाय 'मम साधर्म्यमागताः 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता, (तै.आ. १।२)' निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन भेदघटितं साधर्म्यं साम्यलक्षणमेवात्र विवक्षितम् तथा च मत्साम्यमुपागता इत्यर्थः ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥

प्रतिज्ञातं वक्तुमुपक्रमते—ममेति । योनिश्चराचरात्मकस्याखिलविश्वस्योद्भवस्थानं यन्महद्ब्रह्मास्ति । अत्र महद्ब्रह्मशब्देन भगवच्छरीरतया पूर्वमुपदिष्टा महत्तत्त्वादिपरिणामजननी सर्वचराचरवस्तूनां मूलकारणरूपाऽचिच्छब्दवाच्याऽपराप्रकृतिरेवोच्यते । ब्रह्मपदप्रयोगस्तु परब्रह्मणो भगवतो विशेषणभूतायामस्याम्प्रकृतावपि दृश्यते 'तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च

तथाविधसाधनसम्पन्नास्ते सर्गे जगज्जीवसर्गे नोपजायन्ते नैवोत्पद्यन्ते प्रलयेऽपि च न व्यथन्ति मरणादिव्यथां न प्राप्नुवन्ति जन्ममृत्युदुःखं न प्राप्नुवन्ति । ननु जगत्सृष्टिकालिकोत्पत्तिराहित्येनैव प्रलये क्लेशाभावः सिद्ध एव पुनः प्रलये न व्यथन्ति चेति वचनं किमर्थमितिचेन्न, सर्गानन्तरमनुष्ठितेऽस्मिन् ज्ञानसाधने पुनर्विलयसमयेऽपि दुःखाभावस्यानेन बोधितत्वात् । यद्वा सर्गप्रलयशब्दौ जन्ममरणपरौ 'रजसिप्रलयं गत्वा, इत्यादिषु तथा दर्शनात् प्रलयोऽत्र मरणं तत्समभिव्याहृतसर्गशब्दो जन्माभिधायकस्तथा चोक्तार्थ एव तात्पर्यम् ॥२॥

तदेवमुत्तमफलदातृतया वक्ष्यमाणमर्थम्प्रशंस्यादौ परमपुरुषायत्तप्रकृतेरेव कार्यकारणोभयावस्थो जगत्सर्गो न तु तन्त्रान्तरोक्तकेवलप्रकृतिपुरुषसंसर्गादित्युच्यते-ममेति द्वाभ्याम् । स्थावरजङ्गमात्मकाखिलविश्वस्य योनिरुत्पत्तिस्थानं मम मत्सम्बन्धि 'महद्ब्रह्म, सप्तमे, भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयम्मेभिन्ना प्रकृतिरष्टधा । अपरेयम्, (गी० ४) इत्युपदिष्टाऽपरा प्रकृतिर्महदादिवि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।

जायते' इत्यादिषु, तस्मिन् महति ब्रह्मणि गर्भं दधाम्यहम् अनाद्यविद्याकर्मपरिबद्धां परप्रकृतिपदोदितां मच्छेषतैकस्वभावां चेतनप्रकृतिं यथावत् संयोजयामि । हे भारत ! ततस्तस्मात् पराऽपरप्रकृतिसंयोगरूपगर्भात् सर्वभूतानां चराचराणां जगत्पदार्थानां सम्भवः समुत्पत्तिर्भवति । मदाश्रयमनवाप्य न केवलं प्रकृतिपुरुषौ किमपि कर्तुमर्हत इति भावः ॥३॥

सर्वास्ववस्थासु मत्कृत एव प्रकृतिपुरुषसंसर्ग इत्याह-

कृतीनां जननी तादृशाखिलधर्म्माणां कारणत्वान्महद्ब्रह्मपदेन व्यपदिश्यते। तस्या बृहत्त्वादिगुणयोगाद् ब्रह्मत्वं महत्त्वादिकारणत्वाच्च महत्त्वंच सम्भवति । न चैवं परमात्मनो जगदुपादानत्ववचनविरोधः स्यादिति वाच्यं स्वतो निर्विकारत्वेऽपि तस्य स्वशरीरभूताचित्पदवाच्यप्रकृतिविशिष्टतयैव जगदुपादानत्वात् । अत एव सप्तमे 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय,(गी-,।६) इत्यभिधाय ततः 'अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा, (गी,।६) इत्युक्तं संगच्छते प्रकृतेरपि ब्रह्मशब्देनाभिधानं श्रुतिषूपलभ्यते । 'तस्मादेतद् ब्रह्मनामरूपमन्नञ्च जायते, इत्यादिषु । तस्मिन्नेतस्यामपरशब्दोदितप्रकृतौ गर्भमि 'तस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतामिति सप्तमे तत्रैवोक्तां परप्रकृतिं मच्छेषभूतां चेतनप्रकृतिं योनिस्थानीये तस्मिन्नचेतने संयोजनरूपं गर्भमहं दधामि । हेभारत? ततो मत्संकल्पसहकृतादुभयप्रकृतिसंयोगात् सर्वभूतानां चराचराणामाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सम्भवो भवति । न हि प्रकृतिपुरुषयोः स्वातन्त्र्येण जगत्सर्गे प्रकृत्तिस्सम्भवतीति वेदान्तसमयः ॥३॥

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

सर्वयोनिष्विति । हे कौन्तेय ! सर्वयोनिषु देवमनुष्यपश्वादिषु या मूर्तयो विचित्रसंस्थानवत्त्यस्तनवः सम्भवन्ति समुद्भवन्ति तासां मूर्तीनां महद्ब्रह्म योनिश्चित्संसृष्टा महदादिविशेषान्ता प्रकृतिरेव कारणमहं बीजप्रदः पिता सर्वकारणकारणमहं बीजाधानस्य कर्ता जनकस्थानीयोऽस्मि कर्मानुगुणचेतनवर्गस्य तत्र संयोजको भवाम्यतो मदायत्तमदुत्पादकमेवेदं चराचरं जगत् ॥४॥

एवं परमपुरुषायत्तप्रकृतिपुरुषाभ्याञ्जगत्सर्गमुपपाद्य

ननु सर्गारम्भे भगवत्संकल्पायत्ताखिलजगत्सृष्टिर्युक्ता मध्ये कार्यावस्थस्तु जगत्सर्गः स्वातन्त्र्येण प्राकृत एव स्यादित्याशंक्याह- सर्वयोनिष्विति । हे कौन्तेय ! सर्वयोनिषु सर्वास्वमरकिन्नरासुरनरोरगपतगस्थावरादिषु योनिषु या मूर्तयो विलक्षणसंस्थानाः स्थावरजंगमात्मिकाः सम्भवन्ति तासां महद्ब्रह्म प्राक्तनकर्मापेक्ष्य मया संयोजितचेतना महदादिविशेषान्तावस्था प्रकृतिरेव योनिः कारणमहं सर्वकारणप्रवर्त्तकः पिता तत्क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणफलभोगाय भोगायतनसमुत्पत्तये प्राक् संयोजकश्चाहमेव । एतन सेश्वरनिरीश्वर सांख्यानां मतमपाकृतं वेदितव्यं प्रकृतिपुरुषातिरिक्तेश्वरानङ्गीकरात्तदङ्गीकारेऽपि निमित्त मत्राभ्युपगमात् ॥४॥

एवं स्वाश्रितप्रकृतिपुरुषतो जगद्रचना जायते न तु केवलायाः

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥६॥

सर्वस्य पुनः पुनः संसृतिर्गुणकृतेति निरूपयति—सत्त्वमिति । हे महाबाहो ! सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः प्रकृतिसम्भवाः प्रकृतेरवस्थाविशेषरूपेणैकीभूयावस्थिताः प्रकाशप्रवृत्तिमोहकार्या सर्वदा प्रवृत्तिमन्तो देहे महत्तत्वादिभिरारब्धेऽस्मिञ्छरीरे देहिनं देहाद्यभिमानवन्तं स्वरूपेणाव्ययमपि निबध्नन्ति जगद्बन्धं प्रापयन्तीत्यर्थः ॥५॥

अथ गुणानां स्वरूपं लक्षणञ्चाह—तत्रेति त्रिभिः । प्रकृतेर्महत्तत्त्वादिक्रमेणेत्युपपाद्य प्राकृतगुणसम्बन्धादेवाऽयं पुरुषो बद्ध इति वक्तुमादौ गुणपरिचयमाह-सत्त्वमिति । हे महाबाहो ! यथा महद्भ्यां बाहुभ्यां भवता परेषु बन्धोऽनायासेनैव सम्पाद्यते तथा गुणैरप्ययं क्षेत्रज्ञो बद्धयत इति बोधयितुमेतत्सम्बोधनम् । सत्वं रजस्तम इति संज्ञामादधाना गुणा इति च सामस्त्येन त्रयोऽपि गुणपदव्यपदेश्यास्ते च प्रकृतिसम्भवाः प्रकृतिः सम्भवो येषान्ते तथाभूताः स्वरूपनिरूपकधर्माणां धर्मिस्वरूपं यावत्स्थायित्वनियमादेतेऽपि शश्वत्प्रकृतावविस्थितास्तथापि महत्त्वादिरूपेण कार्यदशायामेतेषां व्यक्ततया प्रकृतिसम्भवता युज्यत इति न विरोधः । देहे प्रकृतिविकृतिभिरारब्धे शरीरे देहिनं देहाभिमानिनं निबध्नन्ति । स्वतोऽपरिणामिनं निर्विकारमपि बद्धमिव संसारबन्धम्प्रापयन्तीत्यर्थ ॥५॥

एवं साम. :त्येन त्रैगुण्यकार्यमुक्तत्वेदानीं प्रत्येकस्य तस्य स्वरूपलक्षणपूर्वकं कार्यमभिधातुमुपक्रमते । तत्रादौ प्राधान्यात् सत्त्वाख्यस्य

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे अनघ ! तत्र तेषु त्रिषु गुणेषु मध्ये सत्त्वं सत्त्वगुणस्वरूपं निर्मलत्वान्मण्यादि वत् प्रकाशकं ज्ञानसुखाद्यावृत्तिराहित्यमत्र नैर्मल्यं तेन सर्वत्र ज्ञेयवस्तुषु तात्विकज्ञानजनकत्वमस्य सिद्धमनामयमामयो रोगादिजनकत्वं तदस्य नास्तीत्यनामयम् सुखजनकमित्यर्थः । तदिदं सत्त्वं देहिनं सुखङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति सुखसङ्गं ज्ञानसङ्गञ्च जनयति । क्षेत्रज्ञः सुखं ज्ञानञ्च सत्त्वगुणादनुभवतीति भावः ॥६॥

रजसो लक्षणं कार्यञ्चोच्यते रज इति । हे कौन्तेय ! रजोगुणो रागात्मकमिति स्वरूपनिर्देशो रागोऽभिलाषैवात्मा स्वरूपं यस्य स रजोगुणः कामनात्मक इत्यर्थः । तृष्णासङ्गगुणस्य तान्यभिधत्ते—तत्रेति । हे अनघ ! त्रिविधपापरहित ! तत्र त्रिगुणेषु मध्ये सत्त्वं सत्त्वाख्यगुणस्वरूपं निर्मलत्वादतिस्वच्छत्वात् स्फाटिकमणिवत् प्रकाशकम् । तात्पर्यचन्द्रिकाकृद्भिस्तु ननु निर्मलानां स्फटिकमण्यादीनां न प्रकाशकत्वं दश्यत इत्येवं भ्रमादुक्तं स्फटिकमण्यादीनामपि प्रकाशकत्वं सर्वजनानुभवसिद्धमत एव भास्करभानुसम्पृक्तस्फटिकमण्यादेः कुड्यादिषु विलक्षणालोकप्रापकत्वं प्रकाशबाहुल्यमितियावद् दष्टिचरम् । न विद्यत आमयो यस्य तदनामयमव्याधिहेतु । सुखसंगेन सुखासक्त्या । ज्ञानसंगेन ज्ञानासक्त्या च । देहिनं बध्नाति ॥६॥

रजसः स्वरूपलक्षणे कार्यञ्च प्रतिपादयति—रज इति । हे

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥८॥

समुद्भवमिष्टवस्त्वभिलाषस्तृष्णा लब्धार्थे समासक्तिरासङ्गस्तयोः समुद्भवो यस्मात्तद्रजो विद्धि। तदिदं रजो देहिनं कर्मसङ्गेन फलविशेषतृष्णया कर्मसु सज्जत इति नियमात् पुण्यापुण्यरूपफलभोगाय चिराय तत्र बध्नाति ॥७॥

तमसो लक्षणं कार्यञ्चाह–तम इति । हे भारत तमस्तु वस्तुविपर्ययप्रत्ययोऽत्राज्ञानं तज्जन्यं तमः सर्वदेहिनां मोहनं मोहजनकं विद्धि । तच्च प्रमादो हीष्टस्याकरणमालस्यमिष्टार्थसमुद्योगराहित्यं निद्रेष्टकार्यस्यारब्धस्यापि वृत्युप........त्यागः प्रमादालस्यनिद्राभिस्तत्तमो निबध्नाति ॥८॥

कौन्तेय ! रजो रजोगुणः । रागात्मकं रागस्वरूपम् । तृष्णासंगसमुद्भवं तृष्णासक्तिजनकम् । विद्धि जानीहि । तद् रजः कर्मसङ्गेन कर्मस्पृहाजननेन । देहिनं निबध्नाति । रजोगुणः कर्मसङ्गेन देहिनो बन्धकं भवतीत्यर्थः ॥७॥

तमसः स्वरूपलक्षणनिर्देशपूर्वकं कार्यमभिधत्ते–तम इति । हे भारत ! तुश्चाऽर्थे । सत्वरजःकार्यादस्य कार्यस्य महद्वैलक्षण्यमिति द्योतयितुं वा । तमस्तु विपरीतज्ञानमज्ञानं तज्जन्यमितिलक्षणमुच्यते मोहनं सर्वदेहिनामिति । तत्कार्यमभिधीयते सर्वदेहिनां समस्तप्राणिनां मोहयति वस्तुयाथात्म्यज्ञानमावृणोतीति मोहनम् । ण्यन्तान्मुहेर्नन्दिग्रही-त्यादिना (पा. सू. ३।१।१३४) कर्तरि ल्युः । सर्वप्राणिकर्मकमोहकर्तृभूतमिति फलितार्थः । प्रमादालस्यनिद्राभिः प्रमादः कर्तव्येष्टस्या-

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

कस्य गुणस्य कस्मिन् कार्ये प्रधान्यमित्याह-सत्त्वमिति । हे भारत ? सत्त्वं सत्त्वगुणः सुखेऽन्तःकरणस्य सुखवृत्तौ संयोजयति । रजो गुणः प्रवर्तकस्वभावत्वात् कर्मणि चित्तस्थैर्येऽपि कर्मप्रवृत्तावेव संयोजयति । तमोगुणस्तु स्वच्छान्तरात्मन्युत्पद्यमानं सत्त्वकार्यभूतं ज्ञानप्रकाशादिकमावृत्त्य तदाच्छाद्य प्रमादेऽनवधाने । उताप्यर्थकः । निद्रालस्ययोरपि संयोजयति। सम्बोधनतात्पर्यन्तु स्वतोऽवसेयम् ॥९॥

तदेवोपपादयति–रज इति । हे भारत ! गुणप्रवृत्तिसाम्येऽतिप्राक्तनकर्मवशात् कदाचिद्रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वकरणमालस्यमिष्टार्थेऽनुत्साहो निद्राकरणकलेवरश्रमोत्सादनहेतुश्चेतसो देशविशेषस्थापनजन्यवृत्युपरतिरूपा ताभिस्तन्निबध्नाति ॥८॥

इदानीं तत्तत्कार्ये तत्तद्गुणस्य प्राधान्यमित्युच्यते–सत्त्वमिति । हे भारत ! सत्त्वं सत्त्वाख्यो गुणश्चिन्ताव्याध्याद्युपसृष्टेऽपि चेतसि सुखे सञ्जयति सुखानुसङ्गिनीमेव चित्तवृत्तिं जनयति। तस्य प्रकाशकत्वादित्यर्थः। रजः कर्मणि रजोगुणः श्रमाभिभूतत्वादुपरतिं धावत्यपि चेतसि कर्मप्रवृत्तिमेव जनयति। तस्य प्रवर्तकत्वाददिति भावः। तमस्तु तुशब्दश्चार्थकः कायर्वैलक्षण्यपरो वा । तमोगुणश्च ज्ञानादिकमावृत्य प्रमादालस्यनिद्रादिकं जनयति। तस्यावरकत्वादिति भावः। अत्रोताप्यर्थकः ॥९॥

ननु त्रयाणामपि युगपत् प्रवृत्तौ साम्यमेव स्यादेकस्य प्राधान्य-

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

मुद्रिक्तम्भवति । कर्हिचिद्रजस्सत्त्वञ्चाभिभूय तम उद्रिक्तं भवति । कदाचिच्च सत्त्वं तमश्चाभिभूय रज उद्रिक्तम्भवति । एवमङ्गाङ्गिभावमवाप्य वैषम्ये जातेऽखिलकार्यं गुणैः सम्पद्यत इति भावः ॥ १० ॥

गुणोपचयापपयौ कार्यानुमेयावित्युपपादयति-सर्वद्वारेष्विति। भावात् । वैषम्यञ्च न स्यात्तदभावे कुतः कार्यसम्पादकतेति शङ्कामपाकरोति—रज इति । हे भारत ! यथा प्रदीपस्य घृतवर्तिपात्रयुक्तस्य वस्तुप्रकाशकत्वं तद्वदेतेषां गुणानां स्वकार्यसम्पादने परस्परवैषम्यमवाप्याङ्गाङ्गिभाव आवश्यकस्स च निर्हेतुको न सम्भवतीत्यतः क्षेत्रज्ञादृष्टं निमित्तीकृत्य स निष्पद्यते। तथा च रजस्तमश्च यौगपद्येनोभावभिभूय सत्त्वमुद्रिक्तं भवति तदानीं रजस्तमसोरङ्गत्वं सत्वस्याङ्गित्वं सद्यः सम्पद्यते । ततो ज्ञानप्रकाशादिरूपं सत्वकार्यञ्जायते इत्येषः क्रमः सर्वत्रैवावगन्तव्यः। रजस्सत्वञ्चाभिभूय तम उद्रिक्तम्भवति तदानीं रजःसत्त्वयोरङ्गत्वात्तमसश्चाङ्गित्वान्निद्रालस्यादिकं तमोगुणप्रधानं कार्यमुपजायते । एवं तमः सत्त्वञ्चाभिभूय रज उद्रिक्तं भवति तदानीं तमःसत्वयोरङ्गत्वाद्रजसश्चाङ्गित्वाद्रजःप्रधानं कर्मप्रवृत्त्यादिरूपं कार्यं सञ्जायते । एवं गुणवैषम्यजनिताऽखिलकार्योपपत्तिरिति सर्वमवदातम् ॥१०॥

गुणवृद्धिः कार्यानुमेयेत्याह—सर्वद्वारेष्विति । सर्वद्वारेषु सर्वेषु

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

सर्वेषु मन आदिषु ज्ञानेन्द्रियेषु यदा सुखादिग्रहणात्मकः प्रकाशः प्रकाशाख्यज्ञानमुपजायते तदा देहेऽस्मिन् सत्त्वं विवृद्धमिति विद्यादुत मनःप्रसत्त्यादीन्यपि लिङ्गानि योज्यानि ॥११॥

हे भरतर्षभ ! लोभ आवश्यकेऽपि कार्ये धनव्ययेऽनुत्साहः प्रवृत्तिश्चेतश्चेष्टाविशिष्टकरचरणादिव्यापार आरम्भः कर्मोपक्रमोऽशमोऽशान्तिः स्पृहा तृष्णा एतानि रजसि रजोगुणे विवृद्धे सति जायन्ते । एतैर्लिङ्गैः सदा रजोगुणवृद्धिं जानीयादित्यर्थः ॥ १२ ॥

विषयप्रकाशनद्वारेषु द्वारभूतेषु मन आदिषु ज्ञानन्द्रियेषु यदा तत्तदिन्द्रियविषयस्य प्रकाशस्तद्रूपं तात्त्विकज्ञानमुपजायते। उतापि च तत्तदिन्द्रयप्रसादादीन्युपजायन्ते तदा सत्त्व विवृद्धमिति विद्यात् ॥११॥

रजोगुणवृद्धेर्लिङ्गान्यभिधत्ते—लोभ इति । हे भरतर्षभ ! लोभः सत्यपि धने तद्व्ययेऽरुचिः प्रवृत्तिः क्रियासामान्ये मनोवाक्कायचेष्टा । आरम्भस्त्रिविधकर्मोपक्रमोऽशमः क्रियानुष्ठानव्यासक्तमनोऽनुपरामः स्पृहैन्द्रियकपदार्थानुभवतृष्णा रजसि विवृद्धे सत्येतानि जायन्ते यदालोभप्रवृत्त्यादीनि मनस्युद्रिक्तानि भवन्ति तदा रजो विवृद्धमिति विद्यादित्यर्थः ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे विवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदाँल्लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

हे कुरुनन्दन? अप्रकाशो ज्ञानमान्द्यमप्रवृत्तिश्चावश्य-कर्तव्येऽप्यनुद्योगः प्रमाद इष्टेऽप्यर्थे वैपरीत्येनानुष्ठानं मोहो मौढ्यमेव चैतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते। यदाऽप्रकाशादीनि मनसि स्युस्तदा तमो विवृद्धं विद्यादित्यर्थः ॥ १३॥

गुणवृद्धौ मरणे फलविशेषं दर्शयति—यदेति द्वाभ्याम्। यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे सति देहभृत् प्राणी प्रलयं मृत्युं याति चेत्तदोत्तमविदामुत्तमतत्वज्ञानाम्। कृतात्मतत्वसाक्षात्काराणमित्यर्थः। अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते। विद्याचारविशुद्धे ब्रह्मवित्कुले भूयो जन्म प्राप्यात्मसाधनप्रज्ञावान् भवतीत्यर्थः ॥१४॥

तमोगुणवृद्धेर्लिङ्गान्याह——अप्रकाश इति। हे कुरुनन्दन! अप्रकाशो धियो मान्द्यमप्रवृतिश्चेष्टेऽर्थेपि निष्प्रयत्नता प्रमादोऽनवधानता मोहो मूढता। चोऽनुक्तसमुच्चये। तथा च निद्रालस्यादिकमेतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते। यदाऽप्रकाशादीनि वर्तमानानि स्युस्तदा तमो विवृद्धं विद्यादिति तदर्थः ॥१३॥

तत्तद्गुणवृद्धौ मरणे तत्तद्गुणानुसारिफलोपलब्धिर्भवतीति वक्तुमादौ प्रवृद्धसत्त्वाधिकारे मृतस्य फलं दर्शयति—यदेति। यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे रजस्तमस्यभिभूय सत्वमेवोद्रिक्ततां धत्ते। प्रवृद्धसत्वगुणाधिकार इतियावत्। देहभृत् प्राणी प्रलयं मरणं (तच्छरीरसम्बन्धम्परित्यज्य शरीरान्तरं) याति

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५

रजसि प्रवृद्धरजोगुणाधिकारे प्रलयं मृत्युं गत्वा कर्म-सङ्गिषु फलाभिलाषया कर्मानुष्ठायिनां कुलेषु पुनर्जायते। तथा विवृद्ध तमसि प्रलीनः प्रमृतो मूढयोनिषु पश्वादियोनिषु जायते ॥ प्रवृद्धरजोधिकारे मृतः स्वर्गादिफलके कर्मण्य-धिकृतो भवति। प्रवृद्धतमोऽधिकारे मृतस्य तु मूढयोनिषु जातत्वादैहिकपारलौकिकसाधनासामर्थ्यान्नैष्फल्यमेव तज्ज-न्मन इति भावः ॥१५॥

चेत्तदोत्तमविदामात्मवेदिनाममलान् विद्याचारानुष्ठानेन निष्कल्मषाँल्लोकान् प्राप्नोति। तत्र प्राक्तनाभ्यासाद्विद्यामनुष्ठायात्मविद् भवतीत्यभिप्रायः ॥१४॥

इदानीं प्रवृद्धयो रजस्तमसोरधिकारे मृतस्य फलं वक्ति—रजसीति श्लोकस्य पूर्वोत्तरार्धाभ्याम्। रजसि तमःसत्त्वेऽभिभूय प्रवृद्धे रजोगुणे प्रवृत्ते प्रवृद्धरजोऽधिकारे मृतो देहभृत् कर्मसङ्गिषु फलाभिसन्धिपूर्वक-कर्मानुष्ठातृकुले जायते। तत्र भूयोऽपि नित्यादिकर्मस्वनुरक्तो भवतीति भावः। तथा तमसि रजःसत्त्वेऽभिभूय प्रवृत्ते प्रवृद्धतमोऽधिकारे प्रलीनः प्रलयमवाप्य मूढयोनिषु पश्वादियोनिषु जायते। सकलपुरुषार्थसाधनाऽसमर्थो भवतीति भावः। यत्त्वत्र प्रवृद्धतमसि मृतो मूढयोनिषु मूर्खमनुष्ययोनिष्वेव जायते न तु पश्वादियोनिषु मानुष्यमवाप्य पुनः पश्वादियोनिर्नैव सम्भवति घोरतरपापं कुर्वाणोऽपि मनुष्यो मानुष्यमेव भजते न तु पशुपक्षिसरीसृपत्वादिकमित्याचष्टे तदज्ञानविजृम्भितं श्रुतिस्मृतीतिहास

पुराणयुक्तिविरुद्धत्वात् । तथाहि—छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके—'तद्य इह रमणीय चरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डलयोनिं वा' (छा-५।१०।९) अत्र चरणशब्दस्य ब्रह्मसूत्रानुसारीयोऽर्थो मनुष्याचरणमेव । तथा च परिशुद्धाचारां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वैश्यस्य योनिमितिपरिगणितामेव योनिं प्राप्नुवन्ति ये तु कपूयचरणा गर्ह्याचारास्ते कपूयां योनिं गर्ह्यां योनिमाप्नुवन्ति तामपि निर्दिशति श्वयोनिं शूकरयोनिं चाण्डालयोनिं वेति निश्चिनोति । शास्त्रञ्च हेयोपादेयज्ञानवतो मनुष्यानेव तत्तत्कर्मण्यधिकरोति तेषामेव चार्थित्वसामर्थ्ययोः सत्वात् । ब्रह्मविद्यायां तु देवादीनामप्यधिकारः साधितो ब्रह्मदर्शने इत्यन्यदेतत् । पश्वादीनां त्वर्थित्वसामर्थ्ययोरभावान्नाधिकारः । अतोऽत्र कपूयचरणा मनुष्या एव तेषामेव च श्वशूकरचाण्डालादियोनिप्राप्तिरिति निर्विवादम् । स्मृतिषु प्रायः सर्वास्वपि चर्चितोऽयं विषयस्तत्र 'यद्वै मनुरवदत्तद् भेषजम्' इति श्रुतिप्रशंसितां मनुस्मृतिमेवादौ गृह्णीमः । तत्र हि द्वादशाध्याये कर्मविपाकप्रकरणमारब्धम् । तच्च मनुष्यः पश्वादियोनिं कदापि नैव प्राप्नोति इति मते सर्वं वैयर्थ्यमापद्येत । अत्र च प्रागेव लिखितमस्ति 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥'(मनु.१२।९)इति वचनेन मनुष्यस्यापि पक्षिमृगादियोनित्वं स्पष्टमेव प्रतीयते । तथाग्रे 'स्थावरः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः । देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ॥ तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः । (मनु.१२।४०) याः 'पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या

तामसी गतिः' (मनु.१२।४२।)श्वशूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्मणा योनिमृच्छति (मनु.१२।५५) इत्याद्यनेकवचनैर्मनुष्यस्यैव कर्मदोषेण पशुपक्षिकृमिकीटस्थावरादियोनिषु जायमानत्वं स्पष्टमुक्तम् । पश्वादियोनेः का कथा 'गुरुं तुंकृत्य हुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः । श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ।' इत्याद्यनेकस्मार्तवचनैः स्थावरत्वप्राप्तिरपि मनुष्यस्य स्पष्टमुक्ता । इतिहासे त्वेतादृक् प्रमाणानां बाहुल्यमुपलभ्यते । भारते मोक्षधर्मे चतुर्दशाधिकत्रिशततमेध्यायेप्युक्तम् । केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् । पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ॥ अव्यक्तसत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात् । रजःसत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते ॥ रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥ (भा.८.) एवं पुराणेष्वयमर्थः विस्तरेणासकृत् प्रतिपाद्यते । भागवते च भरतेन्द्रद्युम्ननृगादेऽर्मृगद्विरदकृकलासादिजन्मावाप्तिः महता दृष्टान्तेन समर्थिता । युक्तिपराहतं चैतत् । मानुष्ययोनिमासाद्य पश्वादियोनिं नैव गच्छति, इति तन्मतमविचारितरमणीयम् । तथाहि—गुणप्राबल्यात् पश्वादितो मानुष्यमाप्नुवन्ति चेद् गुणप्राबल्यादेव मानुष्यात् पशुत्वादिकमपि स्यादेव गुणगरिम्णस्तुल्यत्वात् । रजःसत्त्वाभ्यां स्वफलमर्प्यते चेत् किमपराद्धं तमसा, गुणानां स्वस्वानुगुणफलप्रदाने स्वातन्त्र्यात् । किञ्च यदि मनुष्या गुणातिशयविशिष्टकर्मभिः पश्वादियोनिं नैव प्राप्नुयुस्तर्हि कदाचित् संसारोदमापद्येत, अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च स्याताम्, पश्वाद्याचरितस्य कर्मणोऽप्रयोजकत्वाद् यस्य कस्यापि पशोः पक्षिणश्च सैव योनिरनिशं प्राप्नुयात् । न च प्राक्तनकर्मणा पश्वादीनामपि योनि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्त्वादिगुणानां फलवैचित्र्यं जायत इति पुनर्भङ्गयन्तरेणोच्यते -कर्मण इति । सुकृतस्य सत्त्वविवृद्धयानुष्ठितस्य सात्त्विकस्य कर्मणः-निर्मलं रजस्तमोऽसंसृष्टं सात्त्विकमेव फलञ्जायत इत्याहुर्गुणतत्त्वविदः । एवं रजसो राज-

परिवर्तनं सेद्धुमर्हमेवेति वाच्यम्, भवतोऽपसिद्धान्तात् । कदाचिदप्यधिकर्मभूमि मानुष्यमवाप्य गुणानुगुणकर्मभिर्भवन्मते मानुष्यमेव प्राप्नुयान्न पश्वादियोनिमित्युभयतः पाशारज्जुस्तस्मान्मनुष्या अपि गुणतारतम्यात् पश्वादियोनिमाप्नुवन्त्येवेत्यकामेनापि भवताभ्युपेयमेवान्यथा सर्वशास्त्राभिमतसिद्धान्तविधूननेन नास्तिकत्वापत्तेः। तस्माद् गीताशास्त्राभिमतं मूढ़योनिपदप्रवृत्तिनिमित्तं प्रवृद्धतमोविशिष्टत्वमेव वैशिष्टचञ्च स्वजन्यत्वस्वजन्याऽवद्याचारविशिष्टत्वान्यत्तरसम्बन्धेन। सम्बन्धघटकवैशिष्टचञ्च स्वप्रयुक्तोद्रिक्ततरतमोजन्यत्वस्वप्रयुक्तोद्रिक्ततमतमोजन्यत्वान्यतरसम्बन्धेनेति। प्रवृद्धतमसि मृतानां सदसच्छूद्रेषु पशुपक्षिषु चाण्डालपुक्कसेषु कृमिकीटस्थावरादिषु च यथाक्रमं जन्मन उपलब्धिरवश्यमेवेष्टव्येति-शास्त्रनिर्णय इत्यास्तां तावत् ॥१५॥

इदानीं गुणाधिकारानुगुणकर्मद्वारा पुनः सात्विकादिप्राप्तिरित्याह—कर्मण इति । सुकृतस्य प्रवृद्धसत्वगुणाधिकारसमये मृतेन पुनरात्मवित्कुले जातेनानुष्ठितस्य मत्परिचर्यादिरूपस्य निष्कामकर्मणः सात्विकं निर्मलं भूयोप्यधिकसत्वविवर्धकं रजस्तमोभ्यामसंस्पृष्टं फलमाहुर्गुणयाथात्म्यवेदिन इति शेषः । रजसस्तु फलं कर्मानुष्ठायिनां कुले जन्म

सत्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

सस्य फलाभिसन्धियुक्तस्य कर्मणो राजसं फलं दुःखादिरूपमाहुस्तमसस्तामसकर्मणः फलमज्ञानादिरूपमाहुः । अनेनापि राजसतामसकर्मणोः फले दुःखाज्ञानेऽवगम्य सात्त्विकस्य निर्मलस्य फले यत्नो विधेय इति तात्पर्यं गम्यते ॥१६॥

सत्वरजस्तमोभ्यः क्रमेणज्ञानलोभप्रमादमोहादयः समुत्पद्यन्ते ॥१७॥

इदानीं विवृद्धगुणस्थानां गतिविशेषज्ञापनेन भूयो-

सम्प्राप्य फलाभिलाषया नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानेन भूयोऽपि दुःखमाहुर्गुणयाथाम्यवेदिनः । प्रवृद्धतमोधिकारे कृतस्य कर्मणो निद्रालस्यप्रमादादिरूपस्य फलं भूयोऽप्यज्ञानमेवाहुर्गुणयाथात्म्य वेदिनः ॥१६॥

प्रोक्तं प्रवृद्धगुणफलं तत्तद्गुणस्वभाववैचित्र्येण स्पष्टयति—सत्वादिति । सत्वाद्रजस्तमस्यभिभूय प्रवृद्धसत्वगुणाज्ज्ञानेन्द्रियेषु विशदं ज्ञानं सञ्जायते रजसः सत्वतमस्यभिभूय प्रवृद्धरजोगुणाल्लोभः समुत्पद्यते तमसश्च सत्वरजस्यभिभूय प्रवृद्धतमोगुणात् प्रमादमोहाज्ञानादीन्युत्पद्यन्ते । एवञ्च प्रवृद्धगुणेन तदनुगुणमेव फलमुत्पद्यत इति निर्णयः ॥१७॥

विवृद्धगुणाधिकारस्थानां गतिवैलक्ष्येणापि फलवैलक्षण्यमभिधत्ते—ऊर्ध्वमिति । सत्त्वस्थाः प्रवृद्धसत्त्वगुणाधिकारेऽनुष्ठितनिष्कामकर्माण-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

ऽपि फलभेदमुपपादयति–ऊर्ध्वमिति । सत्त्वस्थाः सत्त्वगुणनिष्ठाः पुरुषाः । ऊर्ध्वमूर्ध्वस्थं पदम् । मुक्तिपदमित्यर्थः । गच्छन्त्यवाप्नुवन्ति । राजसा रजोगुणनिष्ठा लोकाः । मध्य ध्वोधोलोकयोरन्तरालप्रदेश एव तिष्ठन्ति । तामसास्तमोगुणनिष्ठाश्च जनाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था नीचगुणवृत्तिषु वर्त्तमानाः । अधो निकृष्टं पदं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥१८॥

स्तत्तज्जन्मनि प्रवृद्धसत्वमेवोपसेव्य तत्फलभूतमात्मोपासनं च विधाय क्रमेणोद्रिक्तसत्त्वाः प्रकृतिमण्डलादूर्ध्वं परं पदं गच्छन्ति । राजसाः प्रवृद्धरजोऽधिकारे कार्यमारभमाणास्तत्फलभूतकर्मसङ्गिकुलजन्मावाप्य तत्र सकामकर्मानुष्ठाय स्वर्गादिरूपमेव फलमनुभूयमाना मध्ये तिष्ठन्ति । तामसास्तु प्रवृद्धतमोगुणाधिकारकार्यकर्तारो जघन्यगुणवृत्तिस्थत्वात् क्रमेणाधोऽध एव गच्छन्ति । पशुपक्षिकृमिस्थावरादियोनिमासादयन्ति । अत्रेदं चिन्त्यते । अनादिप्रवृत्तकर्मरूपाविद्यया प्राप्ते संसारे गुणाधिकारस्यापि सदातनत्वाद् गुणाधिकारतारतम्यनियतश्च फलतारतम्यमेष्टव्यम् । तथोद्रिक्तसत्त्वस्य फलमात्मवेदिनः कुले जन्मग्रहणं तत्र निष्कामकर्मानुष्ठानेनोद्रिक्तसत्वं जायते तत्फलं पुनरात्मवित्कुलमासाद्य तत्र भगवदाराधनादिरूपकर्मानुष्ठानेनोद्रिक्ततमसत्त्वमुत्पद्यते,तत्फलं योगिकुले जन्मावाप्य तत्र परमपुरुषोपासनया जगद्बन्धादात्यन्तिकी मुक्तिरुपजायते । अयमेव च प्राणिनः परमपुरुषार्थः । एवं रजोगुणतमोगुणयोरपि वेदितव्यम् । तमोगुणतारतम्यादादौ मूढयोनिः पश्वादिरूपा

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदाद्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

यदाऽयं द्रष्टा जीव उद्रिक्ततमसत्वाधिकारसमये सत्वेनात्यन्तं मन्दीकृतयो रजस्तमसोः सतोर्गुणेभ्योऽन्यमतिरिक्तं कमपि कर्तारं नानुपश्यति किञ्च गुणेभ्यः परं भिन्नमात्मानमकर्तारमेव वेत्ति याथातथ्येन पश्यतितदा स मद्भावं मदीयो यो भावो जन्ममृत्युराहित्यरूपस्तमधिगच्छति ॥१९॥

भगवद्भावं स्वयमेव निर्दिशति–गुणानिति । देहाश्रितोऽयं देही क्षेत्रज्ञो देहसमुद्भवान् क्षेत्राकारेण परिणतायाः

ततो मूढतरयोनिस्तिर्यक्कृमिकीटादिरूपा ततोपि मूढतमा योनिः स्थावरादिरूपा जायते । एवं स्वभावात् प्रवर्त्तमानेऽपि गुणतारतम्ये भगवत्प्रीत्यप्रीतिविशेषकारणमावाप्य फले भेदोऽवश्यमभ्युपेयोः नो चेदखिलप्राणिमुक्तिवचनानां वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति संक्षेपः ॥१८॥

यदा द्रष्टा विविक्तद्रष्टा जीवो गुणेभ्योऽन्यमितरं कर्त्तारं नानुपश्यति । 'सांसारिकप्रवृत्तिकर्तारो गुणा एव नेतरे' इत्येवं जीवो यदानुपश्यतीत्यर्थः । गुणेभ्यस्तादृशेभ्यो गुणेभ्यः परमन्यमकर्त्तारमात्मानं च वेत्ति जानाति । तदा स मद्भावमधिगच्छत्यावाप्नोति ॥१९॥

पूर्वश्लोके 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' इत्युक्तं तत्र गुणत्रयाधिकारे वर्तमाने कथं भगवद्भावापत्तिः स्यादिति शंकामपनुदन् तत्प्रकारमभिधत्ते-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रिगुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥२१॥

प्रकृतेः समुद्भवानेतान् निरुक्तांस्त्रीन् त्रिसंख्याकान् सत्त्वादिगुणानतीत्यातिक्रम्य जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः सन्नमृतमात्मानमश्नुतेऽनुभवति । अयमेव पूर्वश्लोक उक्तो मद्भावपदवाच्यो भगवद्भावः ॥२०॥

प्रोक्तस्य गुणातीतस्य लक्षणमाचारं गुणातिक्रमोपायञ्च जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति—कैरिति । हे प्रभो ! एतान् त्रिगुणानतीतः कैर्लक्षणैर्भवति किमाचारः कीदृशाचारपरायणः शास्त्रीयेष्वशास्त्रीयेषु मध्ये कमाचारमनुतिष्ठतीतिसमुदितार्थः। कथं केनोपायेन त्रिगुणातिवर्त्तनं करोतीति च ब्रूहीत्यर्थः ॥२१॥

गुणानिति । देही क्षेत्राकारपरिणतप्रकृतिसंसृष्टः क्षेत्रज्ञ एतान् क्षेत्राकारप्रकृतिसमुद्भवान् सत्वादीन् त्रीन् गुणानतीत्य प्रकृतिप्राकृतकार्येभ्योऽहमात्मस्वरूपोऽत्यन्तविलक्षणः कर्मौपाधिकः प्राकृतः संसर्गो न तात्विक इति ज्ञानमेव गुणातिक्रमणं तत्सम्पाद्य जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमात्मानमश्नुतेऽनुभवति सोऽयं मद्भावः प्रयत्नेन सम्पाद्य इति भगवदभिप्रायः ॥२०॥

'गुणातीतः पुमानमृतमश्नुते, इत्यर्थकं भगवद्वाक्यमाकर्ण्य तस्य लक्षणमाचारं गुणातिक्रमोपायञ्च जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति कैरिति । हे प्रभो ! स्वजनाज्ञाननिवर्तनक्षम!एतान् सत्त्वादीन् त्रीन् गुणानतीतो गुणकार्यानतिक्रान्तः कैर्लिङ्गैर्लक्षणैरुपलक्षितो भवति। किमाचारः कः आचारो यस्य सः। श्रौतस्मार्ताचारविशिष्टोयमुत यथेष्टाचारविशिष्ट इति प्रश्नार्थः। कथञ्चै-

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥

एवं पृष्टे श्रीभगवानुवाच-प्रकाशमिति । कैर्लिङ्गैरितिप्रश्नस्योत्तरमुच्यते-हे पाण्डव ! सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि क्रमेण प्रकाशप्रवृत्तिमोहाख्यान्यन्यान्यपि त्रिगुणकार्याण्येभिर्ज्ञेयानि तानि च सत्यवसरे यस्मिन् कस्मिन्नपि वस्त्वनुभवे सम्प्रवृत्तानि दुःखप्रदान्यपि यो न द्वेष्टि प्रतिकूलानीमानीति धिया न तिरस्करोति तथा तद्विनाशसामग्रीमवाप्य तान्येव निवृत्तानि न कांक्षति नैवाभिलषते । एतादृशो द्वेषाभिलाषारहितो यः साधकः स गुणातीतोऽभिधीयते ॥२२॥

तान् त्रीन् गुणानतिवर्तते केनोपायेन त्रिगुणातिक्रमं करोत्येतत्प्रश्नत्रयं ब्रूहीत्यर्थः ॥२१॥

एवमर्जुनस्य प्रश्नानुसारेण गुणातीतस्य लक्षणाचारौ गुणात्ययोपायञ्च क्रमेणाभिधातुं श्रीभगवानुवाच—प्रकाशमित्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः । तत्रानेन लक्षणमुच्यते । हे पाण्डव ! प्रकाशञ्च सत्त्वकार्यं प्रवृत्तिञ्च रजःकार्यं मोहमेव च तमःकार्यमेकैकोपादानन्तूपलक्षणविधयैतानि द्विष्टविषये साधनरूपेण सम्प्रवृत्तानि स्वानिष्टफलायोपनतानि न द्वेष्टि प्रतिकूलबुद्ध्या न निवारयति । इष्टविषये साधनरूपेण निवृत्तानि स्वापायसामग्रीवशादपगतानि चेन्न कांक्षति । स्वानुकूलबुद्ध्या नाभिलषते द्वेषभिलाषारहितो यः स गुणातीत इत्युच्यते ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

अथ किमाचार इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह-उदासीनवदिति त्रिभिः । रागद्वेषराहित्याद्धिताहितवस्तुषूदासीनो गुणैर्गुणकार्यैः सुखप्रवृत्तिमोहादिभिर्यो न विचाल्यते स्वात्मावलोकनैककार्यान्न प्रच्याव्यतेऽपि तु गुणाः स्वस्वकार्यं कुर्वाणा वर्तन्त इत्येवमवगम्य योऽवतिष्ठति स्वस्थोऽवतिष्ठते हर्षामर्षविवर्जितो नेङ्गते गुणानुबन्धिकार्येषु चेष्टां न कुरुत इत्येवमाचारवान् यः स गुणातीत इति समुदितोर्थः ॥२३॥

समदुःखसुखः दुःखे सुखे च विरागानुरागयोरभावात् समः चित्तोऽत एव स्वस्थः स्वस्वरूपानुसन्धानपरोऽत एव समलोष्टा-

एवं गुणातीतस्य लक्षणमभिधाय स किमाचार इति प्रश्नोत्तरं वक्ति—उदासीन इति त्रिभिः श्लोकैः । स्वपक्षपरपक्षस्थापननिराकरण-रहितत्वविशिष्टमाध्यस्थ्यहीनोऽत्रोदासीनः कारकचक्रप्रवृत्तिविधुरो वा । तद्वदासीनोऽवस्थितः गुणैर्गुणकार्यैः सुखप्रवृत्तिमोहादिभिर्यो न विचाल्यते । आत्मतुष्टत्वान्न हेयोपादेयेषु जिघृक्षया जिहासया सञ्चाल्यते गुणा एवै स्वकार्येषु प्रकाशप्रवृत्त्यादिषु वर्तन्त इत्येव निश्चयं कृत्वा योऽवतिष्ठति स्वरूपेऽवतिष्ठते नेङ्गते गुणकार्येषु रागद्वेषावाद्दत्य नेतराञ्चेष्टते स गुणातीतः ॥२३॥

समदुःखसुखः यदृच्छयोपनतयोः सुखदुःखयोः समस्तयोः साम्यं मन्वानः सममनस्कोऽत एव स्वस्थः स्वात्मनि विषये मुहुर्मुहु-

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

श्मकाञ्चनः संश्लिष्टावयवको मृत्पिण्डो लोष्टः । स चाश्मा च काञ्चनश्च लोष्टाश्मकाञ्चनानि समानि तानि यस्य सः समलोष्टाश्मकाञ्चनोऽत एव तुल्यप्रियाप्रियः प्रियाऽप्रियविषयेषु तुल्यबुद्धिर्धीरः प्रकृतिपुरुषपरिज्ञानसम्पन्नस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः स्वस्य निन्दायां स्तुतौ च तुल्यभावः । अत एव मानापमानयोस्तुल्यस्तथा तुल्यो मित्रारिपक्षयोर्मित्रपक्षे यथाऽरुचिस्तथारिपक्षेऽप्यरुचिस्तेनोभयपक्षयोः सममनस्कतैव फलति । सर्वारम्भपरित्यागी गुणनिबन्धनेष्वारम्भेष्वनासक्तत्वात्तत्परित्यागशील इत्यर्थः । स एवमाचारविशिष्टः साधको गुणातीत इत्युच्यते ॥२४॥२५॥

रनुसन्दधानोऽवस्थितः । एतेनात्मभिन्नेषु पुत्रकलत्रादिबाहीकेषु पदार्थेष्वमनस्क इति फलितम् । अतएव समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स हेयोपादेयबुद्धिरहितत्वात्तत्र समदर्शनोऽत एव तुल्यप्रियाप्रियस्तुल्यौ प्रियश्चाप्रियश्चेष्टानिष्टविषयौ यस्य स तथा धीर आत्मज्ञाननिपुणस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिर्देहलीदीपन्यायेनात्मशब्दस्य निन्दापदार्थेऽप्यन्वयस्तथा चाऽस्य देहाभिमानराहित्यात् स्वस्य दोषस्य तथ्यस्यातथ्यस्य वा परेण प्रकाशितस्य श्रवणेन मनोग्लानिरहितस्था गुणस्य तथाविधस्य श्रवणेन मनोहर्षरहितः । निन्दास्तुत्योश्चित्तस्य तौल्यमित्यर्थः । अत एव मानापमान-

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

एतान् त्रिगुणान् कथमतिवर्तेत इत्यस्योत्तरमाह—मामिति। योऽधिकारी जगदीश्वरं प्रणतकल्पपादपमप्राकृतदिव्यकल्याणगुणसागरं चेनोक्तगुणसंग्रहोऽप्यत्र बोध्यः, अव्यभिचारेण भक्तियोगेनानन्यगामिमनोऽवधृतभक्तियोगेन च सेवते मामेवोपासते स एतान् सत्वादिगुणान् तत्तत्कार्यसहितान् समतीत्य सम्यगतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मसाम्यमापद्यत इत्यर्थः ॥२६॥

एवं गुणातीतस्य लक्षणाचारौ गुणात्ययहेतूँश्च सम्यगभिधा-

योस्तुल्यस्तुल्यचित्तस्तथा तत एव मित्रारिपक्षयोर्मित्राऽमित्रपक्षयोरादररहितत्वात्तुल्यः समतावान् तथा सर्वारम्भपरित्यागी गुणप्रयुक्तान् सर्वानपि शारीरिकानारम्भान्निश्चयेन त्यागशील एवमाचारवान् यः स गुणातीतः प्रोच्यते ॥२४॥२५॥

अथ त्रिगुणातिवर्त्तनोपायमभिधत्ते-मामिति । यः पुरुषो मामखिलजगदेकनाथमव्यभिचारेणानन्येन भक्तियोगेन च सेवत उपासते । अत्र चकारश्चोक्तगुणसङ्ग्रहार्थः । स एतान् गुणान् कार्यसहितान् सत्त्वादिगुणान् समतीत्य सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते योग्यो भवति । ब्रह्मसाम्यमापद्यत इत्यर्थः ॥२६॥

तदेवं गुणातीतस्य लक्षणाचारावुपपाद्य तस्य गुणनिवर्तनकारणं भक्तियोग एवेति व्यवस्थापितमिदानीं प्रोक्तार्थे हेतुं प्रतिपादयन्

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

य भगवदनन्यभक्तिसिद्धये तस्यास्तत्फलस्यापि परमपुरुष एवाश्रय इत्याह-ब्रह्मण इति । हि यस्माद्धेतोरहं सर्वात्मा दिव्यज्ञानानन्दनिलयोऽमृतस्याव्ययस्य विकाररहितस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽश्रयभूतस्तथा शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य चैकान्तिकस्य सुखस्य परमैकान्तिप्राप्यस्य परमानन्दस्य चाश्रयोऽक्षय्यं परं निधानमित्यतो मत्कृपया मद्भक्तैः सर्वमिदं सुलभतया प्राप्यमित्यर्थः ॥२७॥

इति श्रीमद्रामानन्दभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

गीतार्थसुधा

सूते विश्वं समस्तं प्रकृतिरनुपमा ब्रह्मस्वायत्तमूर्तिः
सत्त्वादीनां त्रयाणां प्रकृतिगुणतया देहिनो बन्धकत्वम् ।
लिङ्गं कार्यञ्च तेषां मतिगतिवृतिभिर्दर्शितं तत्कृतोऽयं
बन्धो भक्त्या प्रहेयो द्विगुणित उदिताः सप्तकेऽर्था मुदैते ॥१४॥

गुणवादमुपसंहरति-ब्रह्मण इति । हि यतोऽहं निखिलजगन्नियामकः परमेश्वरोऽनन्यानुरागभावनया सततं भावितोऽमृतस्याव्ययस्य

श्रीरामो विजयतेतराम् ।

आनन्दभाष्यकारश्रीरामानन्दाचार्याय नमः

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

एवं क्षेत्रगुणाध्याययोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं प्रकृति-

च ब्रह्मणः प्रतिष्ठाश्रयभूतोऽस्मि । ब्रह्मपदमत्र न परब्रह्मपरमहं ब्रह्मण इति वैय्यधिकरण्येन निर्देशात् । न वा 'तासां ब्रह्म महद्योनिः, इति वत्प्रकृतिवाचकं प्रकरणविरुद्धत्वात् । अतः परिशेषाद् ब्रह्मभावापन्नः प्रत्यगात्मैवात्र ब्रह्मपदवाच्यः । शाश्वतस्य च धर्म-स्यैकान्तिकस्य परमानन्दभूतस्य नित्यसुखस्य चाहमेवाश्रयो मदनु-ग्रहादेव सर्वगुणनिवृत्तिर्ब्रह्मभावप्राप्तिरिति निर्णीतः पन्थाः ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठित श्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वा-रकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महामहोपाध्याय ब्रह्मवित् स्वामि श्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिका-टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

संसृष्टस्य क्षेत्रज्ञस्य प्राकृतैर्गुणैर्बन्धो भगवदनन्यभक्त्या च तदु-च्छेद इत्येतेऽर्थाः सम्यङ्निरूपिताः । अथास्मिन् पञ्चदशाध्याये बन्धोच्छेदोपायभूतभगवत्स्वरूपपरिज्ञानाय भगवच्छरीरभूतयोः क्षराक्षरयोस्तच्छरीरिणः परमात्मनः पुरुषोत्तमस्य च स्वरूपाणि विवेचयिष्यन्नादौ प्राकृतगुणमूलं कर्मबन्धमश्वत्थवृक्षाकारेण निरूपयन् श्रीभगवानुवाच-ऊर्ध्वमूलमिति । ऊर्ध्वमूलमूर्ध्वं चतुर्दश-भुवनजनकमव्यक्तपदवाच्यं भगवच्छरीरभूतमचित्तत्त्वमेव मूलं यस्य स संसाराख्योऽश्वत्थः । वृक्षतयास्य रूपणन्तु शीघ्रतयोच्छे-द्यतापरिज्ञानाय । अधःशाखमधश्चतुर्दशलोकरूपाः शाखा यस्य सोऽधःशाखस्तमश्वत्थमव्ययमनादिवासनाजनितकर्मबन्धोच्छे-दमन्तरेण संसारनाशाऽसम्भवादव्ययस्तम्प्राहुः श्रुतयः 'ऊर्ध्वमू-लोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (का०) यस्य वृक्षस्य छन्दांसि ऋग्यजुःसामानि पर्णानि फललिप्सया वेदप्रति-पादितकाम्यकर्माण्यनुष्ठाय तत्फलभोगाय प्रवर्त्तते ततश्च भूयोऽपि संसरत्येवं संसरतोऽस्य वृद्धिः पर्णैर्वृक्षोऽपि वृद्धिं गच्छतीत्येवं प्रकारेण छन्दसां पर्णत्वप्रतिपादनम् । यो मनीषी तं संसाराख्यमश्वत्थं वेद हेतुहेतुमद्रूपेण सम्यग्विजानाति स वेदवित् स एव वेदविज्ञाननिपुणः । एतदुक्तम्भवति । सर्वं वेदादवाप्यत इति नियमात् पूर्वभागोदितकर्मणां फलका-मनयाऽनुष्ठानात् संसारो वर्धते कर्मबन्धश्च दृढीभवति । उत्तर-भागात्मकवेदान्तेन वृजिनहेतुभूतस्य बन्धस्याशु विनाशाय

क्षेत्रगुणाध्याययोः क्रमेण प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं करणकलेवरा-
घाकारेण परिणतायाः प्रकृतेस्तदधिष्ठातृतयाऽवस्थितस्य पुरुषस्य च
संसर्गोनादिगुणसंगजनितो भगवद्भक्तिविनाश्य इत्यतो भगवदुपा-
स्तिरेव गुणकृतजगद्बन्धोच्छेदस्य सुदृढोपाय इत्येतदवधारितम् ।
अथानेनोपास्यस्वरूपस्य याथात्म्यज्ञाने सम्पादनीये पुरुषपदाभिधित्सि-
तक्षराक्षरयोरत्यन्तविलक्षणस्तयोर्नियामकत्वाच्छेषित्वादाधारत्वाच्च ताभ्यां
परमोत्कृष्टः पुरुषोत्तम इत्युच्यते । तत्रापि तत्स्वरूपयाथात्म्यावबोधाय
तद्विभूतिरूपक्षराक्षरयोस्स्वरूपं विशोधनीयमतोऽक्षरतत्त्वसम्बन्धिबन्ध-
मसङ्गाख्येन शस्त्रेणोच्छेदयितुं सम्पादयितुञ्च ज्ञानचक्षुष्ट्वमादौ
श्रुत्युपदर्शिताश्वत्थवृक्षोदाहरणेन बद्धमूलबन्धमेवोपपादयन् श्रीभगवा-
नुवाच—ऊर्ध्वमूलमिति । अत्र तृतीयश्लोके ह्यसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वे-
त्युक्तत्वाच्छेदनकर्मीभूतस्य स्पष्टतया परिज्ञानाय वृक्षाकारेण निरू-
पणम् । तत्राप्यश्वत्थवृक्षनिर्देशस्तु प्रसिद्धेषु महीयस्स्वनेकेषु पादपेष्वस्य
शब्दशक्त्यैव शीघ्रतया प्रकृतोपयोगिनोऽर्थस्य परिचयाय न हि
चूतचञ्चुचञ्चाप्लक्षारिष्टन्यग्रोधमधूकमाक्षरादीनां केषामपि शब्दव्युत्प-
त्याशु तत्तदर्थोपलब्धिः । श्वश्चिरं न स्थास्यतीत्यश्वत्थः ‘सुपिस्थः,(३।२।
४) इति कः । पृषोदरादित्वात्सस्य तः । शब्दस्वारस्यादाशु नश्वरत्वमिह
विवक्षितम् । श्रुतावपीममर्थमादायैवास्योपादानं स्यादित्यूहितुं शक्यते ।
अत्र पूर्वापरसन्दर्भानुरोधेनाश्वत्थकल्पना जगत एव ज्यायसी । कैश्चित्
प्रकृतिं कैश्चित्करणकलेवरात्मकं क्षेत्रं कैश्चिच्च क्षेत्रज्ञविशिष्टं शरीर-
मश्वत्थरूपेण कल्पितमिति मत्वाऽयं श्लोको व्याख्यातः । सर्वेषां
कल्पकानाञ्जगतोऽनित्यत्वेऽत एव हेयत्वे तात्पर्यमतोऽत्र संसारस्यैवा-

श्वत्थत्वेन रूपणं प्राशस्त्यमावहति । ऊर्ध्वमूलमूर्ध्वं मूलं प्ररोहादिभूतं
यस्य सोऽश्वत्थः संसाररूपस्तस्य हि चतुर्दशलोकात्मकस्यादिस्रष्टा ब्रह्म-
णोत्पादितत्वाद् ब्रह्मलोकस्य च सर्वलोकोपरि स्थितत्वादूर्ध्वत्वं मूलत्वं च
स्पष्टमेव । यद्वाऽव्यक्तद्वाराखिलजगदुपादानभूतस्य परमपुरुषस्य शरीर-
भूताचित्तत्त्वमेव मूलं यस्य संसाररूपाश्वत्थस्य तम् । अधःशाखं ततोऽध-
स्ताच्चतुर्दशभुवनानां शाखात्वादधःशाखमश्वत्थमश्वथसादृश्यादश्वत्थम् ।
सादृश्यञ्चात्र यथा शाखोपशाखाभिश्चलदलो विस्तृतस्तथा चतु-
र्दशलोकान्तर्वर्तिदेवमनुष्यपशुपक्षिकृमिकीटपतङ्गस्थावरान्तैरधोऽधोऽयम-
पि विस्तृतः, यथाऽश्वत्थश्छेद्यस्तथाऽयमपि छेद्यः, यथाऽश्वत्थो भूमावम्बु-
निपातजातस्तथाऽयमपि प्रकृतिपरिणतौ कर्माम्बुनिपातजातः, यथाऽ-
श्वत्थो फलगृध्नुविहगबन्धकरस्तथायमपि फलकामिकलेवरबन्धकर इत्येवं
प्रकारेण ज्ञेयम् । अव्ययं प्रसक्ताऽनादिसंसारसङ्गभङ्गात् पूर्वमस्या-
नश्वरत्वादव्ययत्वं प्राहुरामनन्ति श्रुतयः ‘ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषो-
ऽश्वत्थः सनातनः’ (का.) स्मृतयश्च (नारसिंहे) ‘अव्यक्तमूलप्र-
भवस्तस्यैवानुग्रहोच्छ्रितः । बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ।। महा-
भूतविशाखश्च विषयैः पत्रशाखवान् । धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःख-
फलोदयः ।। आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः । एतद्
ब्रह्मवनञ्चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य तत् ।। एतच्छित्वा च भित्वा च
ज्ञानेन परमासिना । ततश्चात्मरतिं प्राप्य यस्मान्नावर्तते पुनः ।।
इत्याद्याः । ‘छन्दांसि यस्य पर्णानि’ श्रुतयः काम्यकर्मप्रतिपादन-
पराणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि ‘उद्भिदा यजेत पशुकामः’ ‘राजा राज-
सूयेन स्वाराज्यकामो यजेत’ इत्यादिविधिसम्बद्धैः‘इषे त्वोर्जेत्वा’

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

परंमपुरुषोपासना कर्तव्येत्युपायज्ञानमुत्पद्यत इत्यतः सम्य-
गुक्तः स वेदविदिति ॥१॥

एवं मूलशाखोपशाखादिभिरिमं संसाराश्वत्थं रूपयित्वाऽ-
वान्तरभेदमपि निरूपयति—अध इति । ऊर्ध्वमूलस्याव्यक्तमूल-
कस्य चतुर्दशभुवनशाखस्य तस्य वृक्षस्य अन्या अनन्ता
अधश्च शाखा मनुष्यपशुपक्षिकृमिकीटादिरूपेण सर्वतः प्रसृता
विस्तारमापन्ना भवन्ति । उर्ध्वञ्च देवगन्धर्वादिरूपेण सर्वतः
स्योनन्ते सदनं कृणोमीत्या दिमन्त्राणां प्रयोगप्राप्तार्थस्मारकविधयोप
योगात् सर्वेषां वेदानां जागातिकप्रवृत्तिप्रवर्द्धकत्वात् पर्णस्थानीयत्वं
यथाऽश्वत्थः पर्णैर्वर्धते तथाऽयं संसारः प्रवृत्तिजनकवेदै रेव प्रवर्धितो
भवति । 'यस्तं वेद स वेदविन्' एवम्भूतमश्वत्थसदृशं संसारं यो
वेद जानाति स वेदवित् । अयम्भावः । व्यपेतकर्मबन्धस्यैव निःश्रे-
यसाधिगम इति सर्वशास्त्रसिद्धान्तः । कर्मबन्धहेतुकश्चायं संसारः ।
स च सहेतुकश्छेद्य इति तत्स्वरूपपरिज्ञानं छेदनसौकर्यायावश्यकमेतच्छेद्यं
छेदनोपायश्चाम्नायेनैवाधिगम्यतेऽतः स एव वेदविदिति स्तूयते ॥१॥

एवं संसाराख्यमश्वत्थं मूलाद्यवयवैर्वर्णयित्वाऽवशिष्टावयवै-
रपि निरूपयति-अध इति । तस्य पूर्वोक्तस्याश्वत्थस्य शाखा अपर-
शाखा अधश्च मानवलोकादिषूर्ध्वममरलोकादिषु च प्रसृतास्तत्तत्क-
र्मानुसृत्य विस्तारमवाप्ताः सन्ति । गुणैः प्रवृद्धाः सत्त्वादिभि-

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥३॥

प्रसृता भवन्ति । पुनस्ता गुणप्रवृद्धा गुणैः सत्वादिभिः प्रवृद्धाः
विषयप्रवाला विषयाः शब्दादयः प्रवाला इव यासां ताः शाखाः
सन्तीत्यर्थः । यथाऽस्य वृक्षस्योर्ध्वमूलमस्ति तथाऽधश्चापि मूल-
मस्ति, यथा काचिल्लता पर्वतशिखरादधस्तादवरुह्य भूमिमवाप्य
भूयोऽपि दृढ़मूलतामुपगच्छति यथा वा न्यग्रोधादीनां प्रत्यक्षत
एव प्रधानमूलादतिरिक्तान्यनेकानि मूलानि प्ररूढानि भवन्ति
तद्वन् मनुष्यलोके मूलान्यनुसन्ततानि कर्माण्येवानुबन्धीनि
मनुष्यलोके भवन्ति । मनुष्यलोके क्रियमाणैः कर्मभिरूर्ध्वं
देवादयोऽधोऽधः पशुपक्षिकृम्यादयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः ॥२॥
गुणैर्वृद्धिं प्रापिता विषया एव प्रवाला यासां ता विषयप्रवालाः
शब्दस्पर्शाद्यात्मकविषयपल्लवशालिन्यश्च सन्ति । अधश्च मनुष्यलोके च
कर्मानुबन्धीनि वासनया विच्छेदरहितानि मूलान्यनुसन्ततान्याततानि
सन्ति ॥२॥

ननु पुत्रकलत्रादिरूपस्य गृहक्षेत्राद्यात्मकस्य च संसारस्य सर्वानु
भवसिद्धत्वात्तत्परिज्ञातुर्वेदवित्त्वेन स्तुतिर्नोपपद्यत इत्याशंक्य समाधत्ते-
नेति । अस्य संसारतरो रूपमिह लोके विद्यमानैस्तथा प्रागुक्तेन
प्रकारेण नोपलभ्यते, तथाऽन्तो वैराग्यजनितो विनाशश्च नोप-
लभ्यते; आदिश्च गुणफलासक्तचोत्पादश्च नोपलभ्यते; अस्य सम्प्रति-
ष्ठा स्थितिहेतुरूपमज्ञानञ्च नोपलभ्यते । सुविरूढानि मूलानि
यस्य स सुविरूढमूलस्तं सुविरूढमूलं सुदृढकर्मलक्षणमूलमेनम-

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येद् यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

संसाराश्वत्थस्य परिज्ञाने काठिन्यमुक्त्वा तदुच्छेदस्यो-
पायं फलञ्चाभिधत्ते-नेति द्वाभ्याम् । अस्य संसारवृक्षस्य
रूपमिह लोके स्थितैस्सर्वसाधारणैर्जनैर्यथोपपादितं तथा नो-
पलभ्यते तथाऽस्यान्तोऽपि गुणासक्तिनिवृत्तिजनित इति
प्रकारेण नोपलभ्यते तथाऽस्यादिरितोऽयं प्रवृत्तो गुणस्ने-
हात् प्रवृत्त इत्येवं प्रकारेण कारणं नोपलभ्यते तथा सम्प्र-
तिष्ठाऽज्ञानेऽस्य स्थितिरस्तीत्यपि नोपलभ्यते । इत्येवमयं
विलक्षणः संसारवृक्षो दुरधिगमो दुर्निवार्य इत्युपदिश्य तन्नि-
वृत्त्युपायं फलञ्च वक्ति–अश्वत्थमित्यादिना । एवमश्वत्थं
प्राङ्निर्दिष्टं सुविरूढमूलं सुदृढमूलं तेन दुरुच्छेद्यत्वमुक्तम्भवति ।
दृढेनासङ्गशस्त्रेण छित्वा यथा कालायसनिर्मितेन निशितेन
शस्त्रेण कठोरतरोऽपि तरुखण्डः सुखच्छेद्यस्तथाऽयं संसारो
विवेकवैराग्ये सहकारिणी सम्पाद्य विषयनैराश्यशस्त्रेण समु-
न्मूल्य ततो यस्मिन् परमपदे गताः पुरुषा भूयोऽस्मिन्
प्रकृतिमण्डले न निवर्तन्ते तत्पदं गुरुशास्त्रसाहाय्येन तेन
भव्यपुरुषेण परिमार्गितव्यमन्वेषणीयम् । कथं पुनरावृ-
श्वत्थं दृढेनासंङ्ग एव शस्त्रमसङ्गशस्त्रं तेनासङ्गशस्त्रेण वैराग्यशस्त्रेण छित्वा
ततो यस्मिन् गताः प्राप्ताः पुरुषा भूयः पुनर्न निवर्त्तन्ते तत् पदं मार्गि-
तव्यमन्वेषणीयम् । गुरुशास्त्रसाहाय्येनेतिशेषः । अथ पुनरावर्त्तन-
वर्जितपदान्वेषणप्रकारमाह–तमेवेति । यतो यस्मात पुराणी पुरातनी

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञ.
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

त्तिविवर्जितं पदमन्वेषणीयमित्यत आह–तमिति । तमखिल-
जगत्कारणमाद्यं 'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च' (गी.) इत्या-
दिभिर्निश्चितं पुरुषं प्रपद्येत् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । प्रपत्तिं
कुर्यात् । यतः पुराणी पुरातनी प्रवृत्तिर्ममाश्रिता माया प्रसृता
सर्वजगदुत्पादयितुम्प्रवृत्ता तदुक्तं स्वयमेव 'दैवी ह्येषा
गुणमयी मम माये'त्यादि ॥३॥४॥

के पुनस्तत्पदं गच्छन्ति तान्विशिनष्टि–निर्मानमोहा
इति । निर्मानमोहा मत्प्रपत्तिमासाद्य मानोहंकारो मोहोऽविवे-
कस्ताभ्यां रहिता जितसङ्गदोषा गुणासङ्गदोषहीना
अध्यात्मनित्या अध्यात्मज्ञानपरायणा विनिवृत्तकामाः
प्रवृत्तिर्ममाश्रिता माया प्रसृता सर्वं जगज्जनयितुं प्रवृता;आद्यमखि-
लजगत्कारणरूपं तमेव प्राक्प्रतिपादितं पुरुषं पुरुषपदवाच्यं पर-
मात्मानं भगवन्तं श्रीराममेव प्रपद्येत् प्रपत्तिं कुर्यादित्यर्थ ॥३॥४॥

एवं भगवत्प्रपत्तिं विधाय कैर्लक्षणैर्वर्त्तितव्यं तान्याह–निर्मानमो-
हा-इति । निर्मानमोहा मानोऽहंकारो मोहोऽनात्मन्यात्मबुद्धिस्ताभ्यां
रहिता जितसङ्गदोषा जितौ मित्रामित्रादिसङ्गजनितौ दोषौ रागद्वेषौ यैस्ते
यद्वा जितः सङ्ग आसक्तिस्सैव दोषो यैस्ते जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या
आत्मविषयकज्ञानरतयः 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इतिश्रुतेः । विनिवृत्त-

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

सुखदुःखसंज्ञैर्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिरूपैर्विमुक्तास्तत्पूर्वोक्तमव्ययं पदं गच्छन्ति विशुद्धमात्मानमेव प्राप्नुवन्ति 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गी.) इत्युक्तरीत्या जन्मजरामरणादिविकाररहितं पुनरावृत्तिरहितञ्च तत् स्थानमात्मस्वरूपं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥५॥

तत्पूर्वप्रकृतं प्रकृतिवियुक्तमात्मस्वरूपं सूर्यो न भासयते न शशाङ्को न पावकः सूर्यादीनामात्मज्ञानेन वस्तुप्रकाशजननीये विरोधितमोनिरसनद्वारोपकारकत्वमेव प्रकाशकत्वन्त्वात्मभूतज्ञानस्यैवेति सिद्धान्तः। यद्गत्वा भूयो न निवर्तन्ते तन्मम शेषभूतः परमं धाम परमं ज्योतिरित्यर्थः ॥६॥

कामा आत्मावलोकनातिरिक्तकामशून्याः सुखदुःखसंज्ञैः सुखदुःखसाधकत्वात् सुखदुःखसंज्ञकैः शीतोष्णादिरूपैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ता अत एवामूढा आत्मानात्मविवेकनिपुणास्तत्पूर्वोक्तमव्ययं पदं गच्छन्ति प्रकृतिवियुक्तमात्मस्वरूपं प्राप्नुवन्ति ॥५॥

तदव्यवहितश्लोके प्राप्यतयोदितं प्राकृतभावासंसृष्टं विशुद्धात्मस्वरूपाख्यं पदम्। अत्र तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वनियमाद् विशुद्धात्मरूपपदस्य च प्रकृतत्वात् तस्यैव पदस्यात्रापि तदा परामर्शः। एवञ्च सत्युत्तरश्लोकस्यापि संगतिः सिद्धा भवति। परमते तूत्तरश्लोकस्योपक्रान्तिरसङ्गतैव स्यात्। तदव्ययं पदं विशुमात्मस्वरूपं सूर्यो न भासयते। प्रकाश्यप्रकाशकव्यवहारो ज्ञानस्वरू-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

एवं भगवदंशत्वेऽपि बद्धमुक्तव्यवस्था सम्भवतीत्याह—ममेति। सनातनः सदैकरूपेण वर्तमानोऽयमात्मा ममैवांशो मदंशभूत एव जीवभूतः सन् प्राक्तनकर्मरूपाविद्यया स्वयं बन्धनमवाप्य विपच्यमानकर्मफलोपभोगाय जीवलोके वर्तमानः प्रकृतिस्थानि प्रकृतिपरिणामशरीरस्थानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि मनः सहितानि षट्ज्ञानेन्द्रियाणि कर्षति। तैस्संयुक्तः सर्वत्र भ्राम्यतीत्यर्थः ॥७॥

पस्यात्मनस्तदतिरिक्तवस्तुनश्च प्राधान्येन श्रुतिसिद्धः सूर्यादीनान्तूपकारकत्वमेवेत्यन्यत्र स्पष्टीकृतम्। रात्रौ सूर्याभावे चन्द्रः प्रकाशको दृष्टः परन्त्वात्मपदं शशाङ्को न भासयते नापि पावकः। पावक इत्युपलक्षणं तडिदग्निदीपादिपरिच्छिन्नप्रकाशोपकर्तॄणाम्। तथा चास्यात्मपदस्य नान्यः प्रकाशकस्तेन स्वयंप्रकाशत्वमस्य सिद्धम्। यत्पदं गत्वा त्रिगुणवासनासङ्गं भगवदुपासनयाऽपास्य विशुद्धात्मस्वरूपं साक्षात्कृत्य पुनर्न निवर्तन्ते तदादित्यानामपि प्रकाशकं परमं धाम ज्योतिर्ममांशस्वरूप इत्यर्थः ॥६।

नन्वात्मनो भगवदंशत्वे तस्य कर्मबन्ध एव नोपपद्यतेकुतस्तरां बन्धान्मुक्तिर्भगवत्स्वरूपवदेव नित्यनिरवद्यत्वादिकं स्वाभाविकं स्यात्तथा सति बद्धमुक्तादिव्यवस्थालोपप्रसङ्गो मुक्तिप्रतिपादकशास्त्राणाञ्च वैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्याशंक्याह—ममेति। सनातनः सदा भवः सनातनः सदाज्ञानैकाकारतयाऽवस्थितो ममैवांशो मंदशभूत एव सन्न-

नादिकालप्रवृत्तकर्मरूपाविद्यया जीवभूतो जीवलोके वर्तमानः प्रकृतिस्थानि प्रकृतिपरिणामक्षेत्रसमाश्रितानि मनःषष्ठानि मनः षष्ठं येषामिन्द्रियाणां तानि मनःषष्ठानि षट्ज्ञानेन्द्रियाणि, एतेन मनस इन्द्रियत्वं नास्तीति मायिमतं व्युदस्तं पूरणार्थकप्रत्ययेन समभिव्याहृतसजातीयपदार्थसंख्याया एव पूरणात् । न च 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती'ति विजातीयेनापि संख्यापूर्तिर्दृष्टाऽतो नायं गमक इति वाच्यम्, एका कन्या दशेन्द्रियाणि, दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश, (श्रुतिः) 'इन्द्रियाणि दशैकञ्च, (वि-पु.) इत्यादिवचनप्रामाण्यान्मनस इन्द्रियत्वावगमात् । अत एव शब्दाश्रयाऽन्यत्वे सति आत्मप्रयत्नजन्यव्यापारवत्त्वरूपजीवात्मोपकरणत्वस्येन्द्रियसामान्यलक्षणस्य मनस्यपि सत्त्वादिन्द्रियत्वं सुतरां सिद्धम्। कर्षति कर्मफलभोगाय सेन्द्रियदेहमुपादाय सर्वत्र गच्छतीत्यर्थः । यत्वत्र मायिनोऽविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्नदेशोंऽश इव कल्पितोऽत एव जीवभूतः परमार्थतः परमात्मैव सनातनः यथा जलसूर्यको यथा वा घटाकाशो घटादिनिमित्तापाये आकाशं प्राप्य न निवर्तते तद्वद् यद्गत्वा न निवर्तन्त इत्युक्तमुपपद्यत इत्याहुस्तदयुक्तम्, नह्यनाद्यविद्योपाधिवशादपि ब्रह्मण एकदेशता सम्भवति निरवयवत्वात् । किञ्चायमुपाधिर्निरवयवः सावयवो वा ? नाद्यः निरवयत्वे प्रतिबिम्बत्वानुपपत्तिः; सावयवत्वे कोऽसौ पदार्थ इति विवेचनीयम् । अन्तःकरणमन्यो वा ? यद्यन्तःकरणं तदा तन्निरवयवत्वसायवत्वविचारे पुनर्घट्टकुटीप्रभातन्यायं स्मारयत्युक्तदूषणम् । यद्यन्यः कलेवरादिरूपस्तर्हि तस्य न प्रतिबिम्बग्राहित्वमिति निर्मूलैवेयं बिम्बप्रतिबिम्बकल्पना । एवं घटाकाशमहाकाशादिकल्पनाऽपि जीवब्रह्मविषये गगनकुसुमायते । त्वन्मते घटाकाशयोरुभयोरपि व्यावहारिकत्वात् । न हि परमार्थवस्तुनो ब्रह्मणो व्यावहारिकेण प्रातिभासिकेन पदार्थेन समं कश्चित्सम्बन्धो घटते त्वन्मते व्यावहारिकप्रातिभासिकपदार्थानां मिथ्यात्वान्नहि सत्यमिथ्यात्वयोस्सम्बधो युक्तिसहः । यदपि च स्वदुर्वादप्रसराय पारमार्थिकव्यावहारिकप्रातिभासिकभेदैः सत्तात्रयं भवताऽङ्गीक्रियते तदपि श्रुतिषु काप्यनुपलम्भेन मनोमोदकक्षुन्निवर्तनम् । नापि वेदविदग्रेसरेण भगवता वादरायणेन निगूढनिखिलवेदरहस्यं निष्कासयता प्रणीते शारीरकशास्त्रे वा क्वचित्पश्यामः । शास्त्रज्ञैस्तु प्रत्यक्षेण परिदृश्यमानं जगत् पारमार्थिकमेव मन्यते । शुक्ताविदं रजतमित्यादिस्थलेष्वपूर्वपदार्थोत्पत्तिमस्वीकृत्यैव दोषवशाज्ज्ञानमात्रमेव भ्रमात्मकमुत्पद्यमानं मन्यते । व्यावहारिकत्वं शब्दजन्यबोधविषयत्वादन्यद्दुर्वचं प्रातिभासिकत्वं प्रतीतिगोचरत्वादन्यद् दुर्वचमिति तदुभयस्य पारमार्थिकव्यावृत्तत्वासम्भवेन भवदुक्तं पारिभाषिकं कूटस्थत्वमपि ब्रह्मणो दुलभमेव । तन्निर्वाहाय विकारस्य पारमार्थिकत्वमकामेनापि भवताऽभ्युपगम्यमेव । एतत्सर्वमभिप्रेत्य भगवदंशभूतोऽयं जीवः सनातनत्वेन विशेष्यते . सनातनत्वञ्च कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वसम्बन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदवत्वसम्बन्धेन कालविशिष्टान्यत्वरूपं नित्यत्वमेव । एतादृशं नित्यत्वं भगवंदशभूते जीवे वर्तते । भवन्मते त्वेतन्नैव संगच्छत इति दिक् ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

यच्छरीरमवाप्नोति यदा शरीरान्तरं गृह्णाति यदा चास्माच्छरीरादुत्क्रामत्येतच्छरीरं त्यजति तदा वायुराशयात् पुष्पाकराद् गन्धानिवायं करणकलेवरेशननिपुणो जीव एतानि ज्ञानकर्मोभयविधानीन्द्रियाणि सहैव गृहीत्वा लोकान्तरं स्वकर्मवासनावेशात् संयाति ॥८॥

किमर्थमिन्द्रियाणि गृहीत्वा संयातीत्युच्यते—श्रोत्रमिति । श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं रसनं रसनेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियम्

प्रकृतिसंसृष्टक्षेत्रज्ञस्वरूपमुपपादयन् तस्येन्द्रियाध्यक्षतामभिधत्ते—शरीरमिति । शरीरं यदवाप्नोत्ययं क्षेत्रज्ञो यच्छरीरमुपादत्ते यस्माच्छरीराच्च शरीरान्तरसमाश्रयणायोत्क्रामते तदाऽखिलकरणानामीश्वरो यथा वायुराशयात् सौरभाश्रयभूतपुष्पसमूहाद् गन्धानिवैतानि सकलेन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वा स्थानान्तरं संयाति । कर्माधीनत्वाल्लोकाल्लोकान्तरं सेन्द्रियः क्षेत्रज्ञः प्रयातीत्यर्थः ॥८॥

इन्द्रियादिग्रहणप्रयोजनमुपपादयति——श्रोत्रमिति । श्रोत्रचक्षुःस्पर्शनरसनघ्राणाख्यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति षड् ज्ञानेन्द्रियाणि चद्वयेन प्राणकर्मेन्द्रियाणि चायं क्षेत्रज्ञोऽधिष्ठाय समाश्रित्यैव विषयान् शब्दादीनुपसेवते । अत्र चकाराभ्यां षष्ठं मनः कर्मेन्द्रियाणीति

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

द्वाभ्यां चकाराभ्यां प्राणकर्मेन्द्रियाणि ग्राह्याणि । मनश्चाधिष्ठाय जीवोऽयं विषयान् शब्दादीनुपसेवत उपभुङ्क्ते । करणकलेवरयोगेनैवायं जीवः सर्वत्र विषयादीननुभवतीत्यर्थः ॥९॥

एवं देहमाश्रित्य सर्वकार्यं कुर्वाणमिमं क्षेत्रज्ञं केचिदेव जानन्तीत्याह—उत्क्रामन्तमिति । गुणान्वितं सत्वादिगुणविशिष्टं कर्मफलभोगायैकस्माच्छरीरादुत्क्रामन्तं शरीरान्तरे स्थितं वर्तमानं भुञ्जानं शरीरमाश्रित्य भोगाननुभवन्तमेवं सर्वावस्थासु ज्ञानाकारेणैव स्वरूपेणावस्थितमेनमात्मानं विमूढा केवलदेहदर्शनपटवो ज्ञानविधुरा नानुपश्यन्ति ज्ञानचक्षुषस्तु सर्वदा सर्वत्र देहाद् विविक्तरूपेणैव पश्यन्ति ॥१०॥

श्रीकेशवकाश्मीरियोजना तु प्रामादिकी मनश्चेति मनसः स्वपदेनैवोपादानात् । पूर्वाधिगताभ्याञ्चकाराभ्यां प्राणकर्मेन्द्रियाणामेव ग्रहणस्य युक्तत्वात् ॥९॥

एवं देहावस्थितमपीममात्मानं न सर्वे जानन्ति किन्तु केचिदेवावगच्छन्तीत्याह—उत्क्रामन्तमिति । गुणान्वितं प्राकृतगुणरचितदेवमनुष्यादिदेहविशिष्टं प्रारब्धोपनतपूर्वप्राकृतदेहादुत्क्रामन्तं देहान्तरे स्थितं वा तत्तद्देहेऽवस्थाय विषयान् भुञ्जानमेनं ज्ञानाकारेणैक्यमादधानमपि विमूढा अर्वाग्दृशो विवेकप्रज्ञाविरहिताः । देहमात्रैकदृष्टय इति यावत् । मनुष्यादिदेहविलक्षणं नैवानुपश्यन्ति । ज्ञानमेव चक्षुर्येषान्ते ज्ञानचक्षुषस्तु

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

उक्तार्थे हेतुमाह—यतन्त इति । योगिनो यतन्तो मत्सम्बन्धिकर्मानुष्ठायिनो मदुपासनया वीतकल्मषा ध्यानादियोगमहरहोऽनुतिष्ठन्त आत्मनि देहेऽवस्थितमपि देहादसंस्पृष्टं प्रकृतिवियुक्तमेनं निश्चयेन पश्यन्ति । चोऽवधारणार्थकः । अकृतात्मानो मत्प्रपत्तिधर्मरहिता यतन्तोऽपि कर्मयोगेऽधिकृत्यात्मावलोकनाय प्रयतमाना अशुद्धचेतस्त्वादेनं विशुद्धमात्मानं नैव पश्यन्ति । दर्शनविरोध्यबोधध्वान्तावृतमनस्कत्वादिति भावः ॥११॥

चेतनप्रसङ्गादचेतनपरिणामविशेषभूतादित्यादेरपि तेजो

देवादिदेहभिन्नमेवात्मानं सर्वदा पश्यन्ति यतस्ते गुरुशास्त्रजन्यबोधनिर्धूताज्ञानन्धतमस इति ॥१०॥

प्रोदीरितार्थे विशिष्टहेतुमुपन्यस्यति——यतन्त इति । योगिनो ध्यानादियोगानुष्ठानाद्विशुद्धचेतसो मत्प्रपन्नाः । यतन्त आर्षत्वाच्छत्रन्तः । मच्छरणागतिधर्ममासाद्य यतमाना आत्मनि देहेऽवस्थितमपि ततः स्वरूपस्वभावविलक्षणैर्विविक्तं स्वकीयेन विशुद्धरूपेणैवावस्थितमेनं पश्यन्ति । केचिद्यतन्तो यतमाना अप्यकृतात्मानो मच्छरणागतिधर्मविधुरा अत एवाऽचेतसोऽसंस्कृतान्तःकरणा आत्मदर्शनयोग्यताऽभावादेनं नैव पश्यन्ति ॥११॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीस्सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

भगवद्विभूतिरेवेत्याह—यदादित्यगतमिति । आदित्यगतं यत्तेजोऽखिलं जगदवभासयते यच्च रात्रौ चन्द्रमसि विद्यते तेजो यच्चाग्नौ तेजस्तत्सर्वं मामकमेव विद्धि । मद्विभूतिभूतैस्तैर्मदनुग्रहादेव प्राप्तमिति भावः ॥१२॥

सर्वत्रविशिष्टशक्तिर्मदीयैव वर्तते । तत्र कतिचिदुदाहरणैः स्पष्टयति—गामित्यादिश्लोकैः । गां धरणीमाविश्याहमेव स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतान्योजसा स्वकीयापरिमितबलेन धारयामि । किञ्च रसात्मकः परमामृतमयः सोमो भूत्वाहमेव सर्वा व्रीहियवादिरूपा वसुन्धराधारभूता ओषधीः पुष्णामि ॥१३॥

एवं बद्धमुक्तोभयावस्थस्य चेतनरूपस्य क्षेत्रज्ञस्य स्वांशत्वेन स्वविभूतित्वमुपपाद्य प्रकृतिमण्डलावभासकानामादित्यादीनां तेजस्विनां तेजसोऽपि स्वविभूतित्वमुपपादयति——यदादित्यगतमिति । यत्तेजस्तिग्मांशुमध्यवर्ति सदखिलं जगद् भासयते यत्तेजश्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो मामकमेव विद्धि । परमप्रकाशकं मज्ज्योतिस्तैरपि मत्प्रसादादवाप्तमित्यवेहीत्यर्थः ॥१२॥

सर्वजगन्मण्डले ममैवाद्भुतसामर्थ्यं कार्यनिर्वाहकमस्मिन्नर्थे प्रमाणमुदाहरति-गामिति । गां पृथिवीमाविश्य च चराचरात्मकानि समस्तानि भूतान्योजसा स्वकीयाप्रतिहतसामर्थ्यरूपबलेनाहमेव धारयामि मत्सामर्थ्यमन्तरेणेयं धरणी किमपि धारयितुं न शक्नोति ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनश्च ।

अहं वैश्वानरो जठराग्निर्भूत्वा प्राणिनां सर्वजन्तूनां देहमाश्रितः सन् प्राणापानसमायुक्तः प्राणापानवृत्तिसंयुक्तश्चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्यभेदेन चतुःप्रकारमन्नं पचामि । वैश्वानरेऽग्नौ पाचकशक्तिर्मदीयैवेत्यर्थः ॥१४॥

अथ स्वस्य सर्वान्तर्यामितां ज्ञानादिप्रवर्त्तकतामखिलवेदवेद्यताञ्चाह—सर्वस्येति । सर्वस्याखिलभूतानां हृदि हृदयेऽहं प्रतिपादयन्ति चैवं श्रुतयः 'सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमाम्, कोहि देवोऽत्र भगवान् श्रीराम एव ।' 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' (वृ०) स्वयं धरां सन्धार्य धारकत्वशक्तिमप्यहमेव तस्यै वितरामीति भावः । तथा रसात्मकोऽमृतमयः सोमो भूत्वा च सर्वा औषधीर्व्रीहियवाद्याः पुष्णामि । रसास्वादसम्पन्नाः करोमीत्यर्थः ॥१३॥

अहमपरिमितसामार्थ्यशाली सर्वेश्वरो वैश्वानरो जाठराग्निर्भूत्वा सर्वेषां प्राणिनां देहमाश्रितस्तैरशितं चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्यात्मकं सर्वमन्नं प्राणापानसमायुक्तः सन् पचामि। मदीयशक्त्या ऽयं वैश्वानरोऽग्निरन्नपाचक इति तात्पर्यम् ॥१४॥

एवमादित्यादेः शक्तिप्रदायित्वेन स्वस्य तन्नियामकत्वमुपपा-

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सन्निविष्टोऽन्तर्यामितया प्रविष्टः।'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्' (वृ. ५।७।३।) इति श्रुतेः । अतो मत्त एव सर्वकारणात् स्मृतिः पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् । ज्ञानमिन्द्रियादिजन्यं ज्ञानमपोहनं स्मृतिज्ञानप्रमोषः पर्यालोचनं वा च भवन्ति । सर्वैः सकलैर्वेदैरहमेव वेद्यः प्रतिपाद्यः । 'सर्ववेदा यत्पदमामनन्ती'तिश्रुतेः ।इन्द्रादितत्तद्वैदिकाः शब्दाः स्वान्तर्यामिभगवत्प्रतिपादका एवेत्यर्थः । वेदस्यान्तो निश्चयो वेदान्तस्तं करोति वेदान्तकृद् वेदार्थनिश्चायकः । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः । अतो वेदविद् वेदवेत्ता चाहमेवास्मीति शेषः ॥१५॥

द्याविशेषेण सर्वभूतानामन्तर्यामित्वं ज्ञानशक्त्यादिप्रवर्तकत्वं सर्ववेदवेद्यत्वञ्चाभिधत्ते-सर्वस्येति । सर्वस्य ब्रह्मादिपिपीलिकान्तस्य प्राणिनश्च हृदि हृदयाब्जमध्येऽन्तर्यामिस्वरूपेणाहमेव सन्निविष्टोऽतो मत्त एव कारणभूतात् तत्तदर्थानुभवरूपं ज्ञानमनुभूतस्य स्मरणात्मिका स्मृतिरपोहनञ्चोभयोः स्मृत्यनुभवयोः प्रमोषो वस्तुनि तर्कवितर्कात्मकोहः कल्पना वा भवति । सर्वैर्वेदैश्चाहमेव वेद्यः 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुतेः । इन्द्रप्रजापत्यग्निप्रतिपादकवैदिकशब्दैर्वाहमेव प्रतिप्राद्यो वेदान्तकृद्वेदस्यान्तो निश्चयः। 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोरि'ति हैमः । तंकरोति वेदान्तकृदहमेव पूर्वेषां ब्रह्मादी—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अथेदानीं गुह्यतमोपदेशमारभते—द्वावित्यादिचतुर्भिः । क्षरश्चाक्षरश्चेतीमौ द्वौ पुरुषौ ❀ लोके स्तस्तत्र सर्वाणि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि क्षरणस्वभावानि संसारान्तर्वर्त्तीनि भूतानि क्षर उच्यते । बद्धजीवानामनन्तत्त्वेऽपि प्रकृतिसंसृष्टस्वरूपै-नामपि गुरुरतो वेदार्थविषयकनिश्चयवान् 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणेति तस्मै' इति श्रुतेः । प्रहिणोति प्राध्यापयती–त्यर्थः । वेदविदेव चाहमत एव वेदविदहमेव । मत्प्रतिपादकवेदमहमेव जानामीत्यर्थः । ननु 'ये च वेदविदो विप्राः' इत्यादौ भगवदतिरिक्तानामपि वेदवित्त्वमुक्तं कथं संगच्छतामिति चेद् भगवदनुग्रहाल्लब्धज्ञानप्रसराणां केषामेव कियत एव वेदभागस्यावगतत्वादौपचारिकवेदवित्त्वं तेषां निरवच्छिन्नतया कार्त्स्न्येन वेदवित्त्वन्तु परमात्मन्येवेति तदाशयः ॥१५॥

एवं स्वस्यैव वेदान्तकृत्त्वेन वेदार्थविषयकज्ञानवत्वेन च सर्वश्रेष्ठत्वं सर्वज्ञत्वञ्चोपपाद्येदानीं सर्ववेदसिद्धान्तभूतत्वेन सर्वसिद्धान्तशिरोरत्नायमानं परमगुह्यमर्थं यदवगमेन ज्ञानवतां कृतकृत्यता सम्पद्यते तमभिधत्ते—द्वाविति चतुर्भिः । क्षरश्चाक्षरश्चेतीमौ द्वौ पुरुषौ पुरुषपदवाच्यौ लोके विद्धि । तत्र प्रकृतिसंसृष्टानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि क्षरणशीलानि सांसारि-

---

❀ लोक्यतेऽखिलमनेनेति व्युत्पत्त्याऽत्र लोकशब्दः प्रमाणवाचकः । प्रमाणञ्च ' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इत्यादिकमनुसन्धेयम् ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

कोपाधिना क्षर इत्येकत्वव्यपदेशः । तथा प्राकृतपरिणामरहितः कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः स्वासंकुचितज्ञानैकाकारविशिष्टो मुक्तात्माऽक्षरशब्देनोच्यते । मुक्तजीवानामनन्तत्वेऽपि प्राकृतसंसर्गराहित्यरूपैकोपाधिनाऽक्षर इत्येकत्वेन व्यपदेशः कृतः ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्तु ताभ्यां क्षराक्षरपदव्यपदिष्टाभ्यां प्रकृतिसम्बद्धबद्धेभ्यः प्राकृतसम्बन्धविधुरेभ्यो मुक्तेभ्यश्चान्यः 'परमात्मा' इत्येवमुदाहृतः 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, 'एको वशी

काणि सर्वाणि भूतानि क्षरः क्षरपदवाच्यः पुरुष उच्यते । तादृशब्रह्मादिस्थावरान्तजीवानामानन्त्येऽपि सर्वेषामनादिप्रकृतितत्परिणामसंसृष्टत्वेन प्रच्यवनधर्मत्वात् क्षर इत्येकत्वेन व्यपदेशः । तथा प्रकृतितत्परिणामक्षेत्रविरहितः स्वरूपावस्थः कूटवत्तिष्ठति स्वासंकुचितज्ञानैकाकारत्वलक्षणसाधारणाकारेणैव तिष्ठति न तु क्षेत्रसम्बन्धाधीनोऽसाधारणः कश्चिदाकारोऽस्य भवतीत्यतः कूटस्थो मुक्तात्मा अक्षरोऽक्षरपदेनोच्यते । अत्रापि 'बहवोज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च, (गीता) इति प्रामाणिकवचनैर्मुक्तानामनेकत्वेऽपि प्राकृतसंसर्गराहित्यान्नित्यस्वरूपत्वेनाक्षर इत्येकत्वेन व्यपदेशोऽस्ति ॥१६॥

एवं क्षराक्षरात्मकयोर्बद्धमुक्तयोः स्वरूपमुपपाद्य ततो विलक्षणः परमपुरुषस्तयोर्नियामकतयेशनकर्तृतया च भिन्न एवास्तीत्यतस्तयोर्भिन्नं

सर्वभूतान्तरात्मा' (कठोप.) इत्यादिश्रुतिभ्यः प्रतिपादितः । यः परमात्मा बद्धमुक्तनित्यात्मकं लोकत्रयं तदात्मतयाऽऽविश्य बिभर्त्ति ते तु भर्तव्या इति भरणकर्मतयाऽस्माद् भरणकर्तुर्भिन्ना अतोऽयमर्थान्तरभूतस्तेभ्य इति फलति । अव्ययः सांसारिकविकारैरसंस्पृष्ट ईश्वर सर्वेषामीशनसमर्थः 'ईशानो भूतभव्यस्य' (कठोप.) 'य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय, (श्वे. ६।१७) इति श्रुतिभ्यः ॥१७॥

परमात्मानं प्रतिपादयति-उत्तम इति । उत्तमः पुरुषस्तु पूर्वस्मिन् श्लोके संसारितया बद्धः पुरुषः क्षरपदेन प्रतिपादितोऽसंसारितया च मुक्तः पुरुषोऽक्षरपदेन प्रतिपादितस्ताभ्यां क्षराक्षराभ्यां पुरुषाभ्यामन्योऽर्थान्तरभूतः स च ' ओं यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दः परमात्मा परम्ब्रह्म, (रा.उ.ता.) 'यः सर्वभूतान्तरात्मा' (रा.उ.ता. 'यः परमात्मा' (रा.उ.६.) इत्यादिश्रुतिषु 'परमात्मा' इत्येवमुदाहृतः । अत एवास्योत्तमत्वं क्षराक्षरयोरन्तर्यामित्वञ्च सिद्धं भवति । योऽयं परमात्मा लोकत्रयं लोक्यन्त इति लोका अचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनस्तदुभयभिन्न आविर्भूतस्वरूपो विशुद्धात्मा चेत्येतेषां लोकानां त्रयं लोकत्रयम् । नीरूपयोर्बद्धमुक्तयोरवलोकनीयत्वन्तु शास्त्रदृष्ट्यैवाभ्युपेयम् । बद्धमुक्तनित्यानां लोकपदेनोपादानमिति भगवन्तो भाष्यकृतः । तदात्मतयाविश्य बिभर्त्ति । अनेन भरणकर्मतयोक्तेभ्यो भिन्नोऽयं भरणकर्तृभूतः परमात्मेति निश्चीयते । स चाऽव्ययो लोकत्रयस्येश्वरश्च 'ईशानो भूतभव्यस्य, (का.) 'य इशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय,(श्वे६।१७)इत्यादिश्रुतिभ्योऽवगम्यते ॥१७॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

पुरुषोत्तमपदेन निर्दिष्टां संज्ञां स्वस्मिन् समन्वेति—यस्मादिति । यस्मात् क्षराख्यं पुरुषमतीतोऽहमक्षरपदाभिधेयान्मुक्तादप्युत्तम उत्कृष्टतमोऽस्म्यतो हेतोर्वेदे लोके श्रुतौ स्मृतौ च पुरुषोत्तम इति नाम्ना प्रथितः प्रसिद्धोऽस्मि 'स उत्तमः पुरुषः, (छा०) इत्यादिश्रुतिषु । 'अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य' इत्यादि स्मृतिषु, (वि. पु.) ॥१८॥

एवं समाख्याप्रामाण्येन क्षराक्षरपुरुषाभ्यामन्यत्वविशिष्टस्य निर्विकारत्वेन सर्वेशनसामर्थ्येन लोकत्रयव्यापकत्वेन चोत्तमपुरुषत्वं व्यवस्थाप्य पुनर्विशिष्टसमाख्यया तादृशं पुरुषोत्तमत्वमभिदधत् स्वस्यैव तत् सम्भवतीत्युच्यते-यस्मादिति । यस्माल्लोकत्रयमात्मतयाऽऽविश्य भरणकर्तृत्वादिस्वाभाविकधर्मैः क्षरं पुरुषमतीतस्तत्स्वरूपस्वभावात् सर्वथा भिन्नोऽक्षरान्मुक्तादपि चोत्तमो बद्धाभिधान्मुक्त उत्कृष्टस्तस्मादपि चाहं परमात्मोत्तमोऽतो हेतोर्वेदे लोके श्रुतौ श्रुस्यर्थलोकनादनुसरणाल्लोकस्स्मृतिस्तस्याञ्चासकृत् पुरुषोत्तमपदवाच्योऽहमेव प्रथितोऽस्मि । अयमभिसन्धिः—श्रुतेर्ह्यनादित्वेनापौरुषेयतया निरस्तपुंदोषतया च परम्प्रामाण्यम् । वेदवाक्योपबृंहणरूपायाः स्मृतेर्वेदार्थालोकनक्षमत्वाल्लोकपदवाच्यतोपपत्तिरतस्तस्या अपि प्रामाण्यमिष्टमेव । तयोः श्रुतिः 'परं-ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः, (छां. उ. अ. ८ खं) इत्यादिका स्मृतिः 'अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य, (वि.पु.) इत्यादिरूपा । एवञ्चायं पुरुषोतमशब्दो न केवलं योगलभ्यार्थाभिधायी,

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

पुरुषोत्तमशब्दार्थपरिज्ञानस्य फलमाह—य इति । हे भारत ! यो भक्त एवं प्रोदीरितप्रकारेण पुरुषोत्तमं मामसम्मूढो जानाति क्षराक्षरपुरुषाभ्यां तन्नियामकत्वतत्पालकत्वादिस्वाभाविकधर्मैर्विलक्षणं यथावदवगच्छति स सर्वविद् मत्सम्बन्धि-तथा सति सामानाधिकरण्यात् कर्मधारयसमासे'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानै'रिति पाणिनीयेनोत्तमपदस्य पूर्वनिपातापत्तेः । नापि वयधिकरण्येनोपमितसमास उत्तमपुरुष इवेत्युपमितविवक्षानुपपतेः । अत एव श्रुतौ स उत्तमः पुरुष इत्येवमुक्तम् । न तूपमितसमासोङ्गीकृतः। तस्माद् योगरूढ एवायं शब्दोऽभ्युपेयः। तथा सत्यत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठीमङ्गीकृत्य षष्ठीसमासस्यैव युक्तत्वात् । एवं पञ्चमीसम्यावप्यत्र भवितुमर्हत एव 'यस्मादधिक' मिति सूत्रानुरोधात् । अक्षरादपि चोत्तम इत्यादिभगवद्वाक्यानुरोधाच्च । एवञ्च परब्रह्मणि श्रीरामे श्रीमद्वाल्मीकिमुनेरपि प्रयोगः उपपद्यते । 'न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः, इति । तस्माद् यथा पंकजपदेनावयवलभ्यार्थस्य समुदायार्थेऽभेदेन, अभेदसम्बन्धाच्छिन्नपंकजनिकर्तृत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितपद्मत्वावच्छिन्नविशेष्यताको बोधो जन्यते तथास्य पुरुषोत्तमपदस्य योगलभ्यार्थस्याभेदेन रुढ्यर्थतावच्छेदकावच्छिन्नयोः परब्रह्मणो महाविष्णोः साक्षात्स्वरूपभूतयोः श्रीरामकृष्णयोर्बोधजनकत्वमिति दिक् ॥१८॥

अथ पुरुषोत्तमपदार्थविषयकज्ञानफलमभिधत्ते-य इति । हे भारत । यो भक्तिमानेवमनेनप्रकारेण पुरुषोत्तमं मामसम्मूढो मोहरहितः

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमपरिज्ञानयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

कृत्स्नस्य वेदनस्य यथावद्धारकः स एव सर्वभावेन मद्भजनप्रकारा ये निर्दिष्टास्तैर्मां मदनुग्रहबलमासाद्य निरतिशयप्रेम्णा भजति । स च शास्त्रपरिशुद्धमार्गमास्थितो नातोऽतिरिक्तं तस्य भगवत्प्राप्तये साधनान्तरमाश्रयणीयमिति भावः ॥१९॥

प्रकृतार्थं प्रशंसन्नुपसंहरति—इतीति । हे अनघ ! हे भारत ! निष्कल्मषत्वेन मदुक्तार्थस्य प्रेम्णा धारणसामर्थ्यं त्वय्यस्तीत्यतो गुह्यतममभ्युपादिशमिति भगवतोऽभिप्रायः सम्बोधनसूचितो भवति । इति एवं प्रकारेणेदं गुह्यतमं शास्त्रं परमरहस्यभूतं सर्वशासनकरणानां सारभूतं शास्त्रं मयोक्तं सञ्जानाति सर्वनियामकत्वसर्वपालकत्वादिधर्मैः क्षराक्षरपुरुषविलक्षणतया यथार्थरूपेणावगच्छति । स पुरुषः सर्वविदस्ति । स स्वकल्याणकारकं मदनुबन्ध्यखिलं वेत्तीत्यर्थः । स सर्वभावेन मां भजति ॥१९॥

एवं पुरुषोत्तमपदार्थप्रतिपादकशास्त्रस्य तत्परिज्ञानस्य च परमगुह्यत्वमुपपादयन् तत्परिज्ञातुः कृतकृत्यतां ब्रुवाणः प्रोक्तार्थं स्तुवंश्चोपसंहरति-इतीति । हेअनघ ! अनेन सम्बोधनेनार्जुनस्य ज्ञानविरोधिपापराहित्योक्त्या परमरहस्यभूतार्थधारणे शक्तिरस्तीति ज्ञाप्यते। यतस्त्वं निष्पापोऽऽसि अतस्तुभ्यमितीत्थं मम पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादनं तच्च

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

ममातिशयप्रियाय तुभ्यमुक्तम् । इति गुह्यतममिदं शास्त्रमुक्तमिति भगवद्वाक्येन गीताशास्त्रोक्तः प्राधानिकोऽर्थोऽयमेव पञ्चदशाध्यायान्ते मया त्वद्धितैषिणा स्पष्टमुक्तः । एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यान्मत्प्राप्तिकामो निरतिशयप्रेमविशिष्टो यः कोप्यधिकारी एतन्मम पुरुषोत्तमत्वं बुद्ध्वा कर्तव्यरूपा या प्रशस्तबुद्धिस्तद्वान् स्यात् कृत्यकृत्यश्च । हे भारत ! सर्वं कृत्यजातं तेन कृतमेव स्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

इतिश्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

गीतार्थसुधा

संसारोऽश्वत्थवृक्षः श्रुतिविदितपदोऽव्यक्तमूलश्च तं वै-
छित्वाऽसंगाख्यहेत्या प्रपदनमनिशं देवदेवे विधेयम् ।
बद्धान्मुक्तात् परश्चोत्तमपुरुष इति ख्यात ईशः स्वतन्त्रो
भर्त्ता चास्त्येक एवाऽवददिति दशमे पञ्चयुक्तेऽर्थजातम् ॥

गुह्यतमं परमरहस्यभूतमिदं यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभो भवति तादृशं शास्त्रं मया रहस्यज्ञापनकुशलेन त्वदनन्यप्रेमाकृष्टचेतसा त्वद्धिततमेनोक्तम् । मत्प्राप्तिकामः पुमानेतन्मयोक्तं बुध्वा सम्यगवगम्य बुद्धिमान् स्यात्, मुमुक्षुणा योपादेया बुद्धिर्भवति बन्धोच्छेदकरीति यावत् । ताम्प्रशस्ततमां धियं धत्त इत्यर्थः । ततो हेभारत ! अनेनापि सम्बो-

॥ नमो भगवते श्रीसीतानाथाय ॥

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

एवं क्षराक्षरपुरुषाभ्यामन्यस्य तयोरपि नियामकस्यात एव पुरुषोत्तमपदवाच्यस्य सर्वेश्वरस्यैव भजनेन निःश्रेयसावाप्तिरित्युक्त्वेदानीमेतस्य गुह्यतमोपदेशस्याधिकारितासिद्धये षोडशोऽध्याय आरभ्यते । तत्र नवमे दैवप्रकृतिमन्त आसुरप्रकृतिमन्तश्चोद्दिष्टास्तेषु दैवसम्पद्विशिष्टानामत्राधिकारस्तद्-

घनेन कुलश्रैष्ठ्याचत्तथाविधबुद्धिसम्पादने तव स्वाभाविकमेव सामर्थ्यमस्तीति बोध्यते । कृतकृत्यश्च यत्कर्त्तव्यं लोकवेदयोरधिगतं तत्सर्वं कृतमेव भवतीतिभावः । एवमस्यार्थस्य फलविशेषनिर्देशादत्रैव स्वकीयनिर्भरत्वं व्यक्तमुक्तम्भवति ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महामहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

हितानामासुरसम्पद्युतानान्तु नाधिकार इति तेषु वक्तव्येषु प्राग् दैवसम्पत्स्वरूपमुपदिशति–अभयमित्यादित्रिभिः । द्विष्टनिमित्तदर्शनान्मनोदुःखं भयं तद्राहित्यमभयं सत्वसंशुद्धिः सत्वस्य मनसो रागद्वेषराहित्यं ज्ञानयोगव्यवस्थितिरात्मज्ञानोपाये निष्ठा दानं स्वार्जितधनानां सत्पात्रेऽर्पणं दमश्च मनोनिग्रहो यज्ञश्च भगवत्पूजनादिरूपः स्वाध्यायो भगवत्स्तवरूपपुरुषसूक्तादिवैदिकानां श्रीरामस्तवराजप्रपत्तिषट्क वेदान्तसारस्तवश्रीरामपञ्चकभगवत्समाश्रयश्रीराघवेन्द्रमङ्गलमालादिलौकिकानां च स्तोत्राणां पाठस्तपो मनसि सत्वोद्रेको-

एवं तृतीयषट्कपूर्वभागेन भगवदनुध्यानस्यान्तरङ्गसाधनभूतं क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपोपदेशादारभ्य क्षेत्रज्ञविवेकस्तस्य संसरणकारणं प्राकृतगुणसंसर्गो गुणानां स्वरूपलक्षणकार्याणि भगवद्भजनेन गुणातीतत्वमतिविस्तृतस्य संसाराश्वत्थस्यासङ्गशस्त्रेणोन्मूलनं सद्गुरुशास्त्रोपदेशाद् भगवच्चरणौ प्रपद्याऽपुनरावृत्तिलक्षणमोक्षोपलब्धये क्षराक्षरपुरुषाभ्यामतिरिक्तस्य तयोर्नियामकतया पुरुषोत्तमस्वरूपस्य याथात्म्यज्ञानं मुमुक्षोः कृतकृत्यतापादकमित्यन्तं गुह्यतममर्थजातमभिहितम् । इदानीमस्य गुह्यतमोपदेशस्याधिकारिताकं सुकृतकर्माणं पुरुषविशेषमाश्रयतीत्येतद्विचार्यते । तत्र नवमेऽध्याये 'अवजनान्ति मां मूढा' इत्यनेन प्रस्तुत्य "राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः । महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा

त्पत्तये हरिदिनोपवासादिरूपमार्जवं मनोवाक्कायकौटिल्यत्यागोऽहिंसा परक्लेशानुत्पादनं सत्यं यथार्थभाषणमक्रोधः प्रतिकूलेष्वप्यविकृतचित्तता त्यागो निस्पृहत्वं शान्तिरिन्द्रियनिरोधोऽपैशुन्यमन्यत्रान्यदोषानुद्घाटनं भूतेषु दया परदुःखाऽसहिष्णुताऽलोलुप्त्वं विषयाभिलाषराहित्यं मार्दवं वाङ्मनसयोरकाठिन्यं ह्रीरनुचिताचरणे लज्जाऽचापलं निष्प्रयोजनकरणप्रवृत्तिराहित्यं तेजोऽयोग्यैरनभिभवः क्षमा परापकारसहिष्णुता धृतिर्विपद्यपि व्याकुलताराहित्यं शौचं करणकलेवरशुद्धिरद्रोहः परापकारचिकीर्षा द्रोहस्तद्राहित्यं नातिमानिता अभिमानराहित्यमिमे गुणा दैवीं भगवदाज्ञानुवर्तनशीला देवास्तेषां सम्बन्धिनीं सम्पदमभिजातस्य तामभिमुखीकृत्य प्रवृत्तस्य निःश्रेयसकामस्य सात्विकाधिकारिणो भवन्ति ॥१॥२॥३॥

भूतादिमव्ययम्, [गी ९।१२।१३) इति संक्षेपेणोक्ते दैवासुरप्रकृती विस्तरेणोपवर्ण्येते, तयोर्दैवी प्रकृतिरुपादानायासुरी प्रकृतिर्हानाय विचार्यतामर्हतस्तत्रापि दैवीं सम्पदमभिजातानामत्र शास्त्रेऽधिकारोऽस्तीत्यतः सा प्राङ्निरूप्यऽतेनन्तंर हानायासुरी सम्पदपि । तत्राद्यायाः स्वरूपं निर्दिशन् श्रीभगवानुवाच-अभयमिति । अभयं द्वेष्योपनिपातजं भयं तद्विवर्जितमभयं सत्वशुद्धिः सत्वस्याऽन्तःकरणस्य शुद्धी रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिर्विशुद्धात्मस्वरूपज्ञानोपायेषु तत्परता दानं स्वोपार्जितान्नधनादेः सुपात्रेऽर्पणम् । दमश्च विषयवैतृष्ण्यभावनया मनोनिरोधो यज्ञश्च भग-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

वदाराधनसिद्धये निष्कामभावनयाऽन्वहं महायज्ञाद्यनुष्ठानं स्वाध्यायो
भगवत्स्वरूपगुणविभूतिप्रतिपादकाम्नायादेरनुदिनमभ्यासः तथोक्तं श्री-
रामोपासनपञ्चके—— "रामायणश्रुतिगणागमसूत्रगीतावेदान्तभाष्यपठनं
रघुनन्दनस्य । सार्थः षडक्षरसुमन्त्रजपः स्तवश्च स्वाध्यायनामकमुपासन-
मत्रबोध्यम्॥४॥" अत्र स्तव इत्यनेन श्रीरामस्तवराजप्रपत्तिषट्करा-
घवेन्द्रमङ्गलमालामैथिलीशतकश्रीरामाष्टकप्रपत्तिकुसुमाञ्जलीत्यादिप्रबन्धा
ग्राह्याः । तपो भगवत्प्रसत्तिकरमेकादश्युपवासादिरूपमार्जवं मनोवाक्का-
येष्वकौटिल्यमहिंसा परपीडानिवृत्तिः सत्यं प्राणिहितावहं यथार्थ-
भाषणमक्रोध उद्वेजयितृष्वपि रोषराहित्यं त्यागो लिप्सानिवृत्तिः
शान्तिरिन्द्रियोपशमोऽपैशुनं परत्र परदोषानाविष्करणं भूतेषु दया
परक्लेशनाशाय यत्नोऽलोलुप्त्वं लुपेर्यङ्लुगन्तात् क्विपि लोलुबिति
पान्तं पदम् । विषयलिप्साविरतिर्मार्दवं वाङ्मनसयोरकार्कश्यं भग-
वज्जनविनयवृत्तिरित्यर्थः । ह्रीरनुचिताचरणे लज्जाऽचापलं निष्फलकरण-
कलेवरप्रवृत्तिराहित्यं 'प्रयोजनंविनापि कर्मेन्द्रियाणां प्रवर्त्तनं चापलं
तदभावोऽचापलमिति श्रीकेशवकाश्मीरिव्याख्यानं त्वयुक्तम् । रदन-
वदनवादनोष्ठपुटप्रथनभ्रूविक्षेपकटाक्षवीक्षणादिरूपस्य प्रधानचाप-
लस्य तदुक्तचापलेऽनन्तर्भावात । तेजो दुर्जनैरप्रधर्ष्यत्वं क्षमा प्रतिकर्तु
सत्यपि सामर्थ्ये पराक्षेपसहिष्णुता धृतिर्विपद्यपि कर्तव्यपालनं
शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिर्द्रोहः परापकारचिकीर्षा द्रोहस्तद्वर्जन
नातिमानिता विद्याधनादिभिरहं श्रेष्ठ इत्यभिमानराहित्यं इमे गुणा
भगवदाज्ञानुपालनशीलादेव तेषां सम्बन्धिनीं सम्पदमभिजातस्य
तामभिमुखीकृत्य जातस्य पुंसो भवन्तीत्यर्थः ॥१॥ ॥२॥ ॥३॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थसम्पदमासुरीम् ॥४॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

एवमुपादेयं दैवीं सम्पदमुक्त्वा हेयतयाभिमतामासुरीं सम्प-
दमाह——दम्भ इति । दम्भः प्रतिष्ठार्थं यज्ञजपपूजाद्यनुष्ठानं दर्पो
विद्याधनयौवनमदादौद्धत्यमभिमानः कुलाभिजननिमित्तकः
स्वस्मिन्नुत्तमत्वानुसन्धानं क्रोधः परक्लेशफलिका चित्तविकृतिः
पारुष्यं निष्ठुरभाषणमज्ञानं तत्त्वातत्त्वविवेकवैधुर्यं चकारान्मा-
त्सर्यादयोऽपि ग्राह्याः । हे पार्थ ! इमे दोषा आसुरीमसुरसम्ब-
न्धिनीं सम्पदमभिजातस्य पापाभिरुचेः स्वभावतो भवन्ति ॥४॥
उभयोः सम्पदोः शुभाशुभफले दर्शयति—दैवीति । दैवी
भगवदाज्ञानुवर्तनरूपा सम्पद्विमोक्षाय गुणसङ्गनिमित्तकबन्ध-
एवमुपादानायादौ दैवी सम्पदभिहिता, अथातिसंक्षेपेणासुरी
सम्पद्धानाय निर्दिश्यते-दम्भ इति । दम्भः प्रतितिष्ठासया जप-
यज्ञादिधर्मानुष्ठानं दर्पो धनयौवनादिगर्वोऽभिमानश्च स्वस्मिन्नु-
त्कृष्टत्वधीः क्रोधोऽभिज्वलनात्मकः परदुःखोत्पादकफलको मनोविकारः
पारुष्यं परारुन्तुदवाक्यमज्ञानं वस्तुयाथात्म्याननुभवश्चकारः समु-
च्चयार्थकस्तेन लोभमोहमदमात्सर्यासूयाशठतेर्ष्यादयो गृह्यन्ते । आसुरीं
सम्पदमभिजातस्य भगवदाज्ञाप्रतिकूलकर्मनिरतस्य एते दोषा भवन्ति ।
हे पार्थ ! दैवीं सम्पदमास्थितायाः श्रीमत्याः पृथायाः सूनोस्तव
त्वेते दोषा नैव सम्भवन्तीति सम्बोधनेन सूच्यते ॥४॥
एवं दैवासुरसम्पद्द्वयमभिधाय तयोः शुभाशुभफले निर्दिशति

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

माशुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् ए आसुर दैव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

मुक्तये भवति। आसुरी भगवदाज्ञाविरोधिनी सम्पन् निबन्धाय संसाररूपसुदृढबन्धाय मता। एवमुपदिष्टे स्वस्मिन सन्दिहानमर्जुनमाह—माशुच इति। हे पाण्डव! देवप्रकृतिकपाण्डोस्तनयत्वेन सत्कुलप्रसूतत्वादनुदिनमदनुवर्तनाच्च त्वं दैवीं सम्पदमभिलक्ष्य जातोऽस्यतो हिंसारुचिराजन्यकुले जातत्वादहमासुरसम्पदमभिजातमित्येवं माशुचः शोकं माकर्षीरित्यर्थः ॥५॥

अथोदिष्टाया आसुरसम्पदः सर्वथा हेयत्वमिति ज्ञापयितुमुपक्रमते–द्वाविति। हे पार्थ! अस्मिन् कर्मलोके भूतसर्गौ –दैवीति। दैवी ममाज्ञात्मकशास्त्राचारपरिपालनरूपा सम्पद्विमोक्षाय जगद्बन्धविनाशाय मता। एवमासुरी मदाज्ञोल्लंघनरूपा सम्पन्निबन्धाय गुणसङ्गप्रयुक्तबन्धनाय भूयो भूयः संसाराब्धौ निमज्जनाय मतेत्यर्थः। एवमुक्ते भगवत्यर्जुनः स्वस्य क्षत्रियकुलप्रसूतत्वादासुरीसम्पद्युक्तो कदाचिदहमेव भवेयमिति संशयमापन्नः स्यादिति मनसि निधाय स्वयमेव सर्वज्ञस्तां निराकुर्वन् बोधयति- मा शुच इति। हे पाण्डव! दैवसम्पद्विशिष्टस्य पाण्डोः सूनुत्वात्त्वमपि स्वभावाद्दैवीं सम्पदमभिजातोऽस्यतो मा शुचः शोकं मा कार्षीः ॥५॥

एवं दैवासुरसम्पद्द्वयमभिधायासुर्याः सम्पदो हिन्साधनाचारप्रधानत्वेनाधमगतिप्रापकत्वान्मुमुक्षुभिर्दूरतः परिहरणीयैव सेत्यतः

द्वावेव दैव आसुरश्च। मनुष्यसर्गस्यानयोरेवान्तर्भावादिति भावः। तत्र दैवसर्गः सात्विकः कर्मज्ञानभक्तियोगाचारपरायणो मोक्षाधिकारी श्रुतिस्मृतिप्रसिद्ध एव, 'द्वयाहप्राजपत्या देवाश्चसुराश्च, (बृ०) एतयोर्दैवसर्गस्य मोक्षार्थपरत्वन्तु मोक्षधर्मादिषूक्तमेव। जायमानन्तु पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः (मो०) स चायं विस्तरशः प्रागेव प्रोक्त इदानीमासुरं सर्गमसुराणां स्वभावानुगुणा यथाप्रवृत्ति तदनुगुणो य आचारस्तद्वन्मनुष्याणां सम्पद्यतेऽत आसुर इत्युच्यते। तादृशं मनुष्यसर्गं मत्सकाशाच्छृणु। सावधानमाकर्णयेत्यर्थः ॥६॥

श्रोतुस्तद्विषयकजिज्ञासोत्पत्तये विस्तरेण तां वक्तुमारभते–द्वाविति। हे पार्थ! अस्मिन् दैवासुरसम्पादके कर्मप्रधाने मनुष्यलोके भूतसर्गौ मनुष्यसर्गौ द्वौ द्विप्रकारकौ भवतो दैव आसुरश्चाभ्यामतिरिक्तस्तृतीयः कोऽपि नास्तीत्यर्थः। एवकारस्य सर्गान्तरव्यवच्छेदकत्वाद् दैवासुरसर्गयोरेव मनुष्याणामप्यन्तर्भावात्। तथा च श्रूयते–द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरा, (बृ.) इति। अत्र मानुषसर्गस्याश्रवणात्। तत्र जन्मकाले शुभकर्मवशाद् भगवत्कृपाकटाक्षवीक्षितः पुरुषः सात्विकः दैवीं सम्पदमभिजातो जायते, एतदेवोक्तं मोक्षधर्मे–'जायमानं हि पुरुषं यम्पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः, इति। विष्णुधर्मोत्तरे त्वतिस्पष्टमुक्तं द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैवो विप-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुरा आसुरभावमापन्ना जना प्रवृत्तिं स्वर्गाद्यभीष्ट-
साधनं निवृत्तिमपवर्गसाधनं धर्मं च न विदुः शौचं वैदिक-
कर्माधिकारितासाधकं बाह्यान्तरशौचं च तेषु न विद्यते ।
आचारः सदाचारोऽपि न विद्यते । सत्यं प्राणिहितावहं वाक्यञ्च
तेषु न विद्यते । अर्थाद्विधिनिषेधबोध्यार्थज्ञानशून्या शौचाचार-
विवर्जिताः सदाऽनृतवचना असुरा यथा भवन्ति तथा
मनुष्या अप्यसुरा भवन्तीति भावः ॥७॥
रीतस्तथाऽऽसुर इति । तत्र दैवसम्पद्विशिष्टो विस्तरशो विस्तरेण
प्रोक्तः सप्तमादिषु षोडशाध्यायारम्भे च । आसुरमासुरसम्पदाश्रयं
मनुष्यसर्गं मे शृणु मत्सकाशात् तत्प्रहाणाय सावधानः सन्नाक-
र्णय ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञातमासुरसर्गमेव प्रतिपादयति-प्रवृत्तिमिति । आसुरा असु-
रसम्बन्धिनीं सम्पदमभिजाता जना मनुष्याः प्रवृत्तिं स्वर्गसाधकं
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं निवृत्तिमपवर्गसाधकं निवृत्तिलक्षणं धर्मं श्रुतिस्मृतिप्र-
तिपादितं न विदुर्नैव जानन्ति । तस्मात्तेषु शौचं शुचेर्भावः शौचं
बाह्यान्तरकरणकलेवरादिशुद्धिर्विहितक्रियानुष्ठानयोग्यतारूपा न विद्यते
तदापादकाचारोऽपि तेषु न विद्यते । आचारो हि बाह्यान्तरकरणकले-
वराणि विशोध्य धर्माधिकारितामानयति । तदाह संवर्तः—'सदाचारेण-
देवत्वमृषित्वञ्च तथैव च । प्राप्नुवन्ति कुयोनित्वं मनुष्यास्तद्विपर्यये ।
विष्णुधर्मोत्तरेऽपि—'वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च ।

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम् ॥८॥

आसुराः सत्यं न वदन्ति चेत् तर्हि किं वदन्तीत्याशङ्का-
यामाह—असत्यमिति । आसुरप्रकृतयो जना जगदसत्य-
मत्र सत्यशब्दार्थो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतेः ।
तथा च सत्यं कारणत्वेन यस्य नास्ति तदसत्यम् । अब्रह्मका-
रणकमितिभावः । अप्रतिष्ठितं नास्ति प्रतिष्ठा यस्य तदप्रति-
ष्ठितम् । ब्रह्मात्मकधारणकर्तृरहितमिदं जगदित्यर्थः । अनी-
श्वरं न वर्तत ईश्वरो यस्य तदनीश्वरम् । ईश्वरात्मकनियन्तृ-
शून्यमेतज्जगदित्यर्थः । च आहुः कथयन्ति । जगत् सर्वेश्वर-
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः । तथाऽन्यत्रापि-
अपि शास्त्रार्थतत्वज्ञः समुद्रोल्लंघनक्षमः । मनीषी स्वकुलाचारं
मनसापि न लंघयेत् । अनाचारस्य हतत्वं नामाखिलधर्मकृत्येषु बहि-
ष्कृतत्वम् । अत एव सत्यं प्राणिहितकरं भाषणमपि तेषु न
विद्यते । तथा चायं निष्कर्षो विहितानुष्ठानवैधुर्येण शौचाचारवैमु-
ख्येनानृताभिधायित्वेन च मनुष्या आसुर्य्यमाप्नुवन्ति ॥ ७ ॥

आसुराः सत्यं न वदन्तीत्येतावदेव नापि तु ते तद्विपरीत-
मपि वदन्तीत्याह—असत्यमिति । ते । आसुराः । जगत् । असत्यं
न विद्यते सत्यं सत्यशब्दवाच्यं ब्रह्म कारणं यस्य तदसत्यम् ।
मद्धेतुकभिन्नमित्यर्थः । अप्रतिष्ठं न विद्यते प्रतिष्ठा यस्य तद-
प्रतिष्ठम् । मन्निष्ठभिन्नमित्यर्थः । अनीश्वरं न विद्यत ईश्वरो निय-
न्ता यस्य तदनीश्वरम् । मन्नियमितभिन्नमित्यर्थः । च । आहुरु-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

कारणकं सर्वेश्वरनिष्ठं सर्वेश्वरनियाम्यश्चास्तीत्येवमासुरप्रकृतयो जना न वदन्तीत्यर्थः । अपरस्परसम्भूतं परस्रेण सम्भूतं परस्परसम्भूतं तथा न भवतीत्यपरस्परसम्भूतं योषित्पुरुषसंयोगाज्जन्यम् । किमन्यदस्ति । सर्वं जगत् स्त्रीपुरुषसंयोगजन्यमेवास्ति तदतिरिक्तमीश्वरहेतुकं किञ्चिदपि नास्तीस्यर्थः । स्वेदजादयोऽपीश्वररचिता न सन्तीति भावः । अतोऽखिलमिदं जगत् कामो हेतुर्यस्य तत् कामहेतुकमेव ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य प्रागुक्तनास्तिकमतमाश्रित्य नष्टात्मानो दुष्टान्तःकरणा अत एवाल्पबुद्धयोऽल्पा दैहिकसुखमात्रमतय उग्रकर्माण उग्रं परपीडाप्रदं कर्म येषान्तेऽहिताः सर्वेषां शत्रवो जगतः क्षयाय प्रभवन्ति । न तेभ्यो जगदुपकारः कश्चिदस्तीति भावः ॥ ९ ॥

दीरयन्ति । परस्परेण स्त्रीपुरुषसंयोगेन सम्भूतं जन्यं न भवतीत्यपरस्परसम्भूतम् । तदन्यत् किमस्ति ? सर्वं जगत् स्त्रीपुरुषसंसर्गजन्यमेवास्तीत्यर्थः । तथा च सर्वं काम एव हेतुर्यस्य तत् कामहेतुकमेवास्ति ॥ ८ ॥

एतामव्यवहितश्लोकोक्तां लोकायतिकदृष्टिमवलम्ब्य नष्टात्मानो मलिनान्तःकरणा अत एवाल्पबुद्धयो देहमेवात्मानं मन्यमानाः केवलदेहपोषणकुशला उग्रकर्माणो हिन्सादिरूपं क्रूरं कर्म येषान्तेऽहिताः सर्वेषां विरोधिनो जगतः क्षयायैव प्रभवन्ति जगद्विनाशायैव तेषां

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

दुष्पूरं दुःखेनापि पूरयितुमशक्यं काममाश्रित्य दम्भमानमदान्विताः दम्भमानाभ्यां मदेन धनयौवनजनितौद्धत्येन चान्विता असद्ग्राहाननुचिताग्रहान् स्वकीयमौर्ख्याद् गृहीत्वाऽत एवाशुचिव्रता अशुचिर्मद्यमांसाद्यशनं व्रतं येषां तेऽशुचिव्रता वामाचारे क्षुद्रदेवताराधनादिकर्मसु चाशुचिभक्षणादिरूपस्य व्रतस्यावश्यकत्वेन ग्रहणं भवति । तथा प्रवर्त्तन्ते प्रवृत्तिं विदधते ॥ १० ॥

जीवनम् । केनचिदभियुक्तेनोक्तस्य "कस्त्वं भद्र खलेश्वरोऽहमिह किं घोरे वने स्थीयते शार्दूलादिभिरेव हिंस्रपशुभिः खाद्योऽहमित्याशया । कस्मात् कष्टमिदं त्वया व्यवसितं मद्देहमांसाशिनः प्रत्युत्पन्ननृमांसभक्षणधियस्ते घ्नन्तु लोकानिति ।" इति पद्यस्य लक्ष्यभूता इत्याशयः ॥ ९ ॥

दुष्पूरं दुःखेनाऽपि पूरयितुमशक्यं तथा चोक्तमभियुक्तैः—'दन्ता विश्लथदन्ताः केशाः काशप्रसूनसंकाशाः । नयनं तमसामयनं तदापि चित्तं धनाङ्गनायत्तम्' एतादृशं काममाश्रित्य दम्भमानमदान्विताः । दम्भः परप्रतारणाय धर्माचरणं मानो गुरुजनाग्रेऽपि स्वश्रेष्ठत्वाभिमानो मदो धनयौवनादिनिमित्तको गर्वस्तैरन्वितो मोहादज्ञानादसद्ग्राहा सद्भिर्गृह्यन्ते ते सद्ग्राहाः परमपुरुषाराधनकर्माणि महायज्ञाद्यनुष्ठानादीनि शुभकर्माणि तद्विपरीतानि परधनाङ्गनाहरणाय मारणमोहनवशीकरणोच्चाटनश्मशानजागरणादिदुष्कृतान्यसद्ग्राहान्

चिन्तामपरिमेयाश्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

क्षणभङ्गुरशरीरधारिणोऽपि, मरणासन्ना अप्यपरिमेयां परिमातुमशक्यां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्तां चिन्तामुपाश्रिताः शश्वच्चिन्तातुरचेतसस्तथा कामोपभोगपरमाः कामोपभोग एव परमः पुरुषार्थौ येषां ते कामा इन्द्रियप्रीतिजनका विषयास्तेषामुपभोग एव देहधारणफलमिति मन्वाना नातोऽधिकः कश्चिदपि पुरुषार्थ इति निश्चिताः कृतदृढनिश्चिया इत्यर्थः ॥११॥

गृहीत्वा तादृशपापोत्पादनकर्मस्वेव श्रद्धामाधाय अत एवाशुचिव्रता अशुचि मद्यमांसादीनामावश्यकतयोपयोगो यत्र तथाविधं व्रतं कौलवामबीजाचारादिरूपं येषान्ते कौलवामबोजायनप्रभृतयस्ते तत्तत्कर्मस्वेव प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

प्रकारान्तरेणासुरमनुष्यधर्मानभिधत्ते-चिन्तामिति । व्याधिग्रस्तकलेवरा जराजर्जरितघुर्घुरकण्ठध्वनयोऽपि प्रलयान्तां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्या स्तामपरिमेयां संख्यातीतां चिन्तामुपाश्रिता एते मत्प्रियामत्तः पार्थकचं मोपयात्विदयाकारिकां दुराशयरूपामाशामाश्रिताः कामोपभोगपरमाः काम्यन्त इति कामा शब्दस्पर्शादयो विषयास्तेषामुपभोगोऽहर्दिवं तत्तदिन्द्रियैरासक्तिपूर्वकमनुभवः स एव परमः परमपुरुषार्थौ येषान्ते एतावदेव जन्मसाफल्यमिति निश्चिताः कृतपूर्णनिश्चयाः ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

आशापाशशतैराशा भाविफलकामनारूपपाशास्तैः शतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः पूर्वमैन्द्रियकपदार्थेषु कामः सञ्जायते तदवाप्तौ पुनस्तृष्णा द्विगुणा वर्धते तदनवाप्तौ तु क्रोधो जायते । एतेनाज्ञानिनां कामनाप्रहाणे क्रोधस्य नैयत्यात् कामक्रोधपरायणत्वं वर्तत एव । अन्यायेन न्यायापेतेन मार्गेण कृतानर्थसञ्चयान् कामभोगार्थं स्वकीयेन्द्रियतृप्त्यर्थमेवेहन्ते सातत्येन प्रयतन्ते ॥ १२ ॥

इदानीं तन्मनोरथान् कथयति—इदमिति । इदं गृहक्षेत्रादिकं सर्वं मया बलबुद्धिसामर्थ्येनैव लब्धं न पुनरदृष्टादिना । इमञ्च

आशापाशशतैराशा एव पाशा बन्धनहेतवस्तेषां शतैर्बद्धाः सर्वत आकृष्यमाणाः कामक्रोधपरायणाः कामो विषयभोगाभिलाषा तस्यां सम्पन्नायां तु भूयो भूयोभिलाषोत्पत्तिर्जायते तस्या भंगे तु क्रोधः समुत्पद्यते, अतस्तस्याविनाभावित्वम् । तथा च कामक्रोधयोराश्रया इत्यर्थः । अन्यायेन न्याय्यपथमुत्सृज्य चौर्यक्रौर्यादिनाऽर्थसञ्चयानर्थानां सञ्चयाः संग्रहास्तान् कामभोगार्थं स्वस्य विषयवासनापूर्त्यर्थं न तु धर्मार्थमीहन्ते दिवानिशं प्रयतन्ते ॥१२॥

इदानीमासुरभावापन्नानां मनोरथान् तदीयैः शब्दैरेवोपपादयति—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

मनोरथं मनोभिलषितपदार्थमहमेव प्राप्स्ये नादृष्टादिसहकृतः । इदं धनं मे मदायत्तमस्ति, इदमपि पुनर्मे ममैव धनं भविष्यति मद्बलेनैव लब्धं भविष्यति न कश्चिदन्यो हेतुर्भविष्यतीति भावः । असौ मदीयः शत्रुरासीन्मयैव स्वसामर्थ्येन स हतोऽ- परानपि शत्रूनहमेव वीराग्रणीर्हनिष्ये । नादृष्टादिकं मां विना हेतुर्दृश्यत इत्याशयः । ईश्वरः स्वतन्त्रोऽहं नान्यः कश्चिन्मन्नि- यामकः प्रत्युताहमेवान्येषां नियामकोऽस्मि । भोगी सिद्धश्चाहं प्राक्तनादृष्टादिकमन्तरेण स्वतो भोगी स्वतःसिद्धोऽहं तथा बल- वानहमस्म्यत एव सुखी चाहम् । अहमाढ्योऽभिजनवान् सत्कुलवांश्चास्मि । मया सदृशो धनाढ्यतायां सत्कुलकुटु- म्बादिषु चान्यः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः । अहं स्वयमेव यक्ष्ये,

इदमिति । इदं धनभवनवैभवादिकं मया स्वसामर्थ्येनाद्य लब्धं न ह्यत्रै- तल्लाभेऽन्यः कश्चिदपि प्रभुरस्ति । इमञ्च मनोरथमहं प्राप्स्ये नादृ- ष्टादिसहकारितया प्राप्तिः । इदं धनं मत्स्वामिकमस्तीदमपि पुनर्मे ममैव धनं भविष्यति नान्यस्यादृष्टादिसहकृतस्य कश्चिदन्यस्य । असौ शत्रुर्मयैव स्वसामर्थ्येन हतोऽपरानपि शत्रूनहमेव शूरो हनिष्ये नान्यः कोऽपि हन्ता भविष्यति । ईश्वरः सर्वेषां मद्भृत्यादीनां स्वामी प्रेरकश्चाहमेव । भोगीसिद्धश्चाहमेव स्वातन्त्र्येण सिद्धोऽस्मि । बलवान्

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

दास्यामि मोदिष्ये, यजनदानमोदनादिप्रवृत्तिष्वप्यहमेव सर्वा- नतिशये न मत्तोऽधिकः कस्मिन्नपि विषये कोऽपि भवितु- मर्हति । मन्नियामका ईश्वरादृष्टादयो नैव सन्तीत्यज्ञानवि- मोहिता जल्पन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

एवं भ्रान्तानां किम्फलं भवतीत्युच्यते–अनेकेत्यादिना । अनेकैश्चित्तैश्चित्तवृत्तिभिर्विभ्रान्ता अनेकचित्तविभ्रान्ता मोह- जालसमावृता मोह एव जालं तेन समावृत्ता अज्ञानजाल-

प्रभूतसामर्थ्यवान् तथा सुखी सर्वसुखाश्रयश्चाहमेव । आढ्योऽभिजनवा- नस्मि प्रभूतधनेन आढ्योस्मि तथा परिजनकुटुम्बैरभिजनबाहुल्यं ममास्ति कोन्योऽस्ति सदृशो मया धनवैभवपरिजनभृत्यक्षेत्रान्नागारादीनि सर्वाण्यपि मत्पुरुषार्थेन स्वतः प्राप्तानि । अतो मत्सदृशः कोन्योऽस्ति । अहमेव यक्ष्ये दास्यामि दानं करिष्यामि मोदिष्ये एवं सर्वस्वतन्त्रोऽस्मि न मे कश्चिन्नियामक इत्येवं प्रकारेणाज्ञानविमोहिताः प्रत्यहं जल्पन्ति । परमात्मनो नियामकतया सर्वफलप्रदातृत्वं तस्यैवास्तीति विस्मृत्यानादि- दुर्वासनासन्तानफलिताज्ञानेनान्धतमसाच्छन्नचक्षुष्कास्तथाविधासुरसम्प- दमुपेत्य मनुजा अनुदिनं प्रजल्पन्त्येवेति प्रात्यक्षिकी प्रतीतिरिति तात्पर्यम् ॥१३॥१४॥१५॥

एवमासुरभावाविष्टानां कामक्रोधपरायणानां दुरात्मनां कर्मानुगुणं यत्फलं जायते तदभिधीयते–अनेकचित्तविभ्रान्ता ईश्वरादृष्टादेरनङ्गीका- रात् स्वसामर्थ्येनैव सर्वं साधयतोऽनेकचित्तता सम्भवत्येव; इदमहं कुर्या-

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् ॥१७॥

वेष्टिताः कामानां भोगाः कामभोगास्तेषु कामोपभोगेषु प्रसक्ताः प्रकर्षेणासक्तिमन्तः पुरुषा अशुचावपवित्रे नरके पतन्ति ॥१६॥

आत्मसम्भाविताः स्वयमेव स्वस्य प्रतिष्ठाख्यापनकुशलाः स्तब्धाः सर्वार्थदक्षा वयमिति ख्यापनाय त्यक्तनम्रभावाः । अत्र कारणमाह–धनमानमदान्विता धनविद्याभिजननिमित्तक-मदेन समन्विता यजन्ते नामयज्ञैस्ते च नामयज्ञैर्नामख्याप-नाय धनश्रद्धोपकरणक्लिष्टैः प्रवृत्तिबहुलैर्यज्ञैर्यजन्ते तैरपि दम्भे-नाविधिपूर्वकं स्वस्वधार्मिकत्वख्यापनायैव वेदोदितविधि-म्परित्यज्य स्वोहितद्रव्यदेवतेतिकर्तव्यतोपकरणादिकं पुर-स्कृत्यैव ॥१७॥

मिदं पुनर्न कुर्यामेवं कृते फलमेतदासादयामि । एवमनेकेष्विष्टानिष्टेषु चित्तं तेन विशेषेण भ्रान्ता मोहजालसमावृता आपातरमणीयेषु जाग तिकपदार्थेषु यो मोहस्स एव जालस्तेन सम्बद्ध अत एव कामभोगे-ष्वेव प्रसक्ता दिवानिशं तत्पराः सदाऽशुचिवासनावलिप्तमतयोऽशुचौ रौरवकुम्भीपाकादिनरके पतन्ति कृतानां दुराचाराणां फलान्यनुभवितुं दुरात्मानस्तत्र कर्मपरवशास्तिष्ठन्ति ॥१६॥

आत्मसम्भाविता आत्मना स्वेनैव स्वकीयप्रतिष्ठां विधाय स्वम-नसि प्रतिष्ठितोऽस्मीति मन्यमानाः स्तब्धाः सवार्थपरिपूर्णा वयमितिख्याप-यितुमतीव दुर्विनीता धनमानमदान्विता धनमदेन विद्यामदेनाभिजन-मदेन च गर्विता उद्योगपर्वणि–'विद्यामदो धनमदस्तृतीयाभिजनो मदः ।,

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधश्च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अविधिपूर्वकत्वश्च यज्ञादेः कर्तुर्दोषाश्रयत्वेन सम्पद्यत एतदेवोपपादयति—अहंकारमिति । भगवन्नियामकतां सर्वथा परित्यज्याहमेव करोमीत्यहंकारस्तं बलं भगवद्बलमस्वीकृत्य स्वकीयमेव बलं पर्याप्तमतो मत्समः कोऽपि नास्तीतिदर्पस्तं कामं मम कामेनैव मे मनोरथपूर्तिरिति तं क्रोधश्च ममशत्रून-वश्यमहं हनिष्यामीति बुद्धिस्तं समाश्रिताः आत्मपरदेहेषु नियन्तृतया निरन्तरमवस्थितं मामखिलजगन्नियन्तारमभ्य-सूयकाः प्रद्विषन्तो मत्सामर्थ्येनैवाहं सर्वमनुतिष्ठामि किमी-श्वराभ्युपगमेन । न चेश्वरो मह्यं फलं दातुम्पार्यत इत्येव प्रद्वि-षन्तो मत्कर्मण एवेष्टसिद्धिरिति मन्यन्ते ॥ १८ ॥

इत्युक्तत्वान्मानपदेन समभिव्याहृतविद्याभिजनौ गृह्येते ते च नामयज्ञैर्ना-मप्रयोजनाः यज्ञा नामयज्ञाः नाम्ने यशसे यज्ञाद्यनुष्ठानानि यद्वा नाम्ना यज्ञा वस्तुतोऽयज्ञा एव तैरविधिपूर्वकं वेदोदितविधिं तिरस्कृत्य स्वकपोलकल्पितद्रव्यदेवतेतिकर्तव्यतोपकरणादिकमङ्गीकृत्य दम्भेन यजन्ते न तु श्रद्धया फलोपलब्धिबुद्ध्या वेति भावः ॥१७॥

यज्ञाद्यनुष्ठाने विधिविरहितत्वमधिकारविमर्दककर्तृगतदोषबाहुल्य-मेवेति तान् दोषानभिधत्ते—अहङ्कारमिति । अहङ्कारमहं स्वतन्त्रः कर्ताऽस्मीत्यहङ्कारं बलं मद्बलेनैवाहं सर्वं वशीकृत्य तिष्ठामि नान्य-स्याज्ञैरङ्गीकृतस्येश्वरस्य बलेनेति बलं दर्पं मत्सदृश ईश्वरादिकं नास्तीति धीर्दर्पस्तं कामं मदभिलाषपूरणेऽहमेव समर्थ इति जानन्तः कामं क्रोधं

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

अथ क्रूरकर्मनिरतानामासुरप्रकृतीनां फलमभिधत्ते—तानिति । अहं सर्वत्र समदृष्टिरप्यहमशुभान् न विद्यते शुभं येषां तेऽशुभास्तानशुभान् मद्गुणविभूतिविषयकज्ञानशून्यान् नराधमान् क्रूरान द्विषतो मद्द्वेषिणस्तानासुरप्रकृतीन् संसारेषु दुःखबहुलेषु जन्मजरामरणादिरूपेण परिवर्त्तमानेषु सन्तानेषु तत्राप्यासुरीष्वेव योनिष्वजस्रं क्षिपामि ॥१९॥

चशत्रूनहमेव नाशयिष्यामि, अतो नेश्वरप्रार्थनया मे प्रयोजनमिति क्रोधञ्च संश्रिताः सम्यगाश्रयीभूताः आत्मपरदेहेषु स्थितं मां सर्वेश्वरमभ्यसूयका गुणेषुदोषाविष्कारकाः प्रद्विषन्तो द्वेषं कुर्वन्तो स्वकर्मणैव स्वेष्टसिद्धिमङ्गीकुर्वन्ति ॥१८॥

एवमासुरस्वभावेन प्रोक्तक्रूरकर्मनिरतानामासुरयोनिप्राप्तिरूपं फलमभिधत्ते—तानिति । य आसुरमनुष्याः प्रोक्तप्रकारेण जगद्वितैषिणं भक्तवत्सलं मां प्रद्विषन्ति तान् द्विषतो द्वेषमाचरतः क्रूरान् नराधमान् अशुभान् दुरात्मनः संसारेषु दुःखबहुलेषु तत्राप्यासुरीषु योनिष्वेवाहमजस्रं मुहुर्मुहुः क्षिपामि मत्प्रसादफलकमदाराधनानर्हासु योनिष्वेव पातयामि येन भूयोऽपि तत्र पापकर्मानुष्ठाय ततोऽपि पापीयसीं योनिमासादयन्त्विति मदाशयः । भगवद्वैमुख्यस्य फलमेतादृशं तैरनुभूयत इति बोधने तात्पर्यम् ॥१९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०

मत्प्राप्तिप्रतिकूलामासुरीं योनिमापन्नास्ते 'जन्मनि जन्मनि' इति वीप्सया यावज्जन्मसु मूढा मोहपरम्परायाः प्रवृद्धतया मूढतामेवोपयान्ति । हे कौन्तेय ! प्रोद्दीप्तज्ञान विपर्ययान्मामप्राप्यैव मूढयोनिषु भगवत्प्राप्तिसाधनानुष्ठानासम्भवादृतेऽनुध्यानान्न परमपुरुषप्राप्तिरित्यतो मामप्राप्यैवेत्युक्तम् । ततः कुत्सितकर्मवशादापन्नासुरयोनिभ्यि एव मूढयोनिं ततोऽपि मूढतमयोनिमधमां गतिञ्च यान्ति । तदुक्तं श्रुतौ 'अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा (छा. ५।) इति ॥२०॥

हे कौन्तेय ! आसुरीं योनिमापन्ना मदाज्ञाप्रतिकूलाचरणादासुरी योनिः प्राप्यते, ताञ्च योनिं सम्प्राप्तास्ते जन्मनि जन्मनि भूयो यथा 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत, इतिवीप्सा प्रतिवसन्तं निमित्तीकृत्य सोमयागं विधत्ते तथा प्रकृतेऽपि प्रतिजन्म मौढ्यमापद्यन्ते वीप्सया नित्यत्वसिद्धेरित्यर्थः । तथा च प्रवृद्धाज्ञानान्निकृष्टानिकृष्टतरानिकृष्टतमासु योनिषूत्पद्यन्ते । प्रतियोनि मोहविवृद्ध्या मत्स्वरूपपरिज्ञानं दूरं प्रयाति । ततश्च मदवगमवैमुख्यान्मामप्राप्यैव ततस्ताभ्य योनिभ्य एव ततोऽप्यधमां गतिं क्रमेण, मनुष्यपशुपक्षिकृमिकीटस्थावरादिगतिं नारकीं गतिञ्च यान्ति । तदाह छान्दोग्यश्रुतिः 'अथ य इह कयूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

इदानीं समूलासुरसम्पदस्त्यागमाह–त्रिविधमिति । नरकस्यासुरसम्पज्जन्यनरकप्राप्तेरिदं त्रिविधमात्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थात् प्रच्याव्याधोगतिप्रापकं द्वारमिव द्वारमस्ति, तच्च कामक्रोधस्तथा लोभ इति तस्मादेतत्त्रयं त्यजेदासुरभावप्राप्तेर्मूलमेतत्त्रयं दम्भादीनामुच्छेदनं सुकरमप्येतेषां त्यागोऽति दुष्करोऽस्तीत्यतः पार्थक्येन त्यागायोपदेशः ॥२१॥

मापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वेति' ॥२०॥

एवमासुरसम्पदं सविस्तरामुपपाद्येदानीं तन्मूलप्रतिपादनेन तां संक्षिपन् तत्त्यागमुपदिशति-त्रिविधमिति । आत्मनो नाशनं भगवत्प्राप्तिरूपपरमपुरुषार्थान्नाशकं नरकस्यासुरस्वभावनिमित्तकदुराचरणजनितनरकप्राप्तेरिदं त्रिविधं द्वारमस्ति । नरकप्रवेशहेतुतयैतत्त्रयमिति तात्पर्यम् । किन्तद् द्वारमित्याह-कामःक्रोधस्तथा लोभ इति स्वरूपनिर्देशः । एषां लक्षणानि प्राङ्निर्दिष्टानि । एतेषु प्रत्येकस्य स्वातन्त्र्येण नरकद्वारत्वं न तु सम्भूय त्रयाणाम् । कामादीनामेकसत्वे त्रयोऽपि तत्र भवन्त्येवेति मतन्तु सम्भवाभिप्रायात् प्रायिकम् 'लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते । लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् । इत्यादिषु दृष्टम् । कामानवाप्तिदशायां तदनुबन्धिप्रयत्नव्याघाते क्रोधः समुत्पद्यत इति सत्यं परन्तु कामप्राप्तौ तु नावसरः क्रोधस्य, एवं क्रोधलोभयोरप्यूह्यम् । तत्र कामक्रोधयोर्नरकप्रयोजकत्वन्तु स्पष्टमेव लोभस्य तदित्थं धर्मशास्त्रेषूक्तम् 'लोभा-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमो द्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।२३।

हे कौन्तेय ! एतैः प्रोक्तैस्तमोद्वारैस्तमोजन्यनरकद्वारैर्मद्विमुख्यापादकज्ञानप्रयोजकैस्त्रिभिः कामक्रोधलोभैर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेय आचरति सद्गुरुशास्त्राण्याश्रित्य मदुपासनेन मत्प्रीतये यतते ततश्च संसारोच्छेदानन्तरजायमानां परां गतिं याति ॥२२॥

एवमासुरसम्पत्तिमूलभूतकामादित्रयमुक्त्वा शास्त्रावहेलनरूपं प्रधानकारणमिदानीमाह– य इति । शास्त्रं शासनक-

त्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोह प्रवर्तते । द्रोहेणे नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥" इति । तस्मादेतत्त्रयं सर्वानर्थमूलभूतं त्यजेत् । यद्यप्यासुरसम्पदेव हेयतयोपदिष्टा तथाप्येतेषामाशुनरकप्रयोजकत्वाद् आशु त्यागाय प्रयतितव्यमिति भगवतोभिप्रायः ॥२१॥

त्यागानन्तरं किं विधेयमित्युच्यते–एतैरिति । हे कौन्तेय ! एतैस्त्यागकर्मतयोक्तैस्तमोद्वारैस्तमःपदं तत्कार्यस्योपलक्षकम् । तमोजन्यनरकागारद्वारभूतैस्त्रिभिः कामक्रोधलोभैर्विमुक्तः, एभ्यो मुक्तिः पुरुषार्थपराकाष्ठैवेति विमुक्तशब्देन द्योत्यते । नर आत्मनः श्रेय आचरति सद्गुरुसमुपसद्य लब्धबोधो मदाभिमुख्याय प्रयतते तत एवं यतमानः स मत्पराङ्गतिमपुनरावृतिलक्षणां याति प्राप्नोति ॥२२॥

एवमासुरभावप्रयोजकं कामादित्रितयमभिधाय सर्वानर्थमूलं भग-

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

रणं वेदाख्यं तस्य विधिं वेदानुशासनमुत्सृज्य यो नरः कामकारतो वर्तते स्वातन्त्र्येण स्वकल्पितमार्गेणेति यावत् । वर्तते स तावन्न पारलौकिकीं सिद्धिमवाप्नोति न सुखमैहिकं वावाप्नोति न परां गतिं चावाप्नोति । भगवदनुशासनरूपश्रुतिस्मृतीनां वश्यताऽवश्यकी । एवं शस्त्राज्ञामुल्लंघ्य यः स्वाच्छन्धेन वर्तते स सर्वेभ्यः पुरुषार्थेभ्यः पराङ्मुखो भूत्वा दुर्गतिमनुभवतीति भावः ॥ २३ ॥

अथ शास्त्रविधानोक्तस्य कर्मणः कर्त्तव्यतामाह—तस्मा-

वदाज्ञात्मकशास्त्रावज्ञालक्षणं तदपरं हेतुमभिधत्ते—य इति । योऽधिकारी शिष्यते कर्तव्याकर्तव्यरूपोऽनेन तच्छास्त्रं वेदस्तदुपहबृंहणात्मकस्मृतीतिहासपुराणानि तदेव विधिर्मदनुशासनं तदुत्सृज्य । अनेन 'श्रुतिःस्मृतिर्ममैवाज्ञा यस्तामुल्लंघ्य वर्तते । आज्ञाच्छेदी मम द्रोही न मद्भक्तो न मे प्रियः, (पाद्म०) इति वचनं स्मारितं भवति । कामकारतो वर्तते श्रुतिस्मृतिरूपां ममाज्ञां तिरस्कृत्य स्वमनोनुकूलाचरणेन वर्त्तते, स नरः सिद्धिं स्वर्गादिरूपां नैवावाप्नोति न सुखमैहलौकिकमपि पुरुषार्थं नाप्नोति न पराङ्गतिं । अत्र नञ्पदं कमुत्यार्थपरम् । तथा चैहिकपारलौकिकसुखयोरप्यनधिगमः किमुत परमदुर्लभा परगतिप्राप्तिरिति शास्त्ररूपां भगवदाज्ञामनादृत्य वर्तमानानामुभयभ्रष्टता नारकित्वञ्चोपपन्नमेवेति तात्पर्यम् ॥२३॥

यस्माच्छास्त्रविधिमुल्लंघ्य स्वाच्छन्धेन वर्तमानानामासुरसम्पदमभिजा-

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु परब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

दिति । यतोऽविधिपूर्वकं कृतं कर्म निष्फलं भवति तस्मात् कार्यं चाकार्यं च कार्याकार्ये तयोर्व्यवस्थितिस्तस्यां कार्याकार्यव्यवस्थितौ । अत्र शास्त्रविधोनोक्तं भगवदाराधनात्मकं कर्म कार्यम् । तद्भिन्नं भगवदाज्ञोल्लंघनात्मकं शास्त्रवश्याकर्त्तव्यं कर्माकार्यम् । तयोर्व्यवस्थितौ ते शास्त्रमेव प्रमाणम् । तस्माच्छास्त्रविधानोक्तं शास्त्रेण विहितं कार्यं भगवदाराधनात्मकं कर्म ज्ञात्वेहास्मिंल्लोके कर्त्तुं विधातुमर्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

तानां सकलपुरुषार्थहानिर्दुर्गतिश्च नियता तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ हेयोपादेयव्यवस्थायां किम्मयोपादेयं किञ्च हेयमित्यस्यां मीमांसायां शास्त्रमेव ते दैवप्रकृतिकस्य प्रमाणं निश्चयजनकं पुरुषोत्तमस्य मम सद्गुरोश्च वाक्यस्य शास्त्ररूपत्वमेवेति मत्सम्मतिः । अतः

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

गीतार्थसुधा

दैवीसम्पज्जनानां भवतिसुकृतिनां मुक्तये कर्मबन्धा-
न्नित्यं बन्धाय लोके कुटिलमतिजुषामासुरी सा दुरन्ता ।
कार्याकार्यव्यवस्थां दिशति हिततमं शास्त्रमेतस्य त्याग-
श्चासुर्यामूलमुक्तं निरयफलमिमे षोडशे वर्णितार्थाः ॥१८॥

शास्त्रविधिनोक्तं कर्तव्याकर्तव्यं ज्ञात्वेह कर्मभूमौ मनुष्यलोके मम पुरुषोत्तमस्य निरतिशयप्रीतिजनकं मदवाप्त्यनन्योपायलक्षणं फलाभिसन्धिरहितं वर्णाश्रमोचितञ्च कर्म कर्तुमर्हसि तेन च तवेष्टसिद्धिरवश्यंभाविनीति भगवदभिप्रायः ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दाचार्यद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महामहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचद्रिकाख्यटीकायां षोडदशोऽध्यायः ॥१६॥ श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।

श्रीरामाय नमः ।

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

षोडशाऽध्याये विमुक्तयेऽधिकारिणा दैवीसम्पत्तिमाश्रित्य शास्त्रीयोपाय एवाश्रयणीय इत्युक्तम् । शास्त्रे हि निषिद्धकर्माणि सर्वथा परित्यज्य विहितान्येव सश्रद्धमनुष्ठेयानीत्यनुशास्त्येतन्निर्विवादम् । तत्र ये श्रमप्रमादविप्रलिप्सादिदोषैः शास्त्रीये स्वादरातिशयमनुद्भावयन्तोऽपि शिष्टाचारमात्रेण कर्मानुतिष्ठन्ति क्व तेषामन्तर्भाव इति सन्दिहानोऽर्जुन उवाच— य इति । हे कृष्ण ! ये पुरुषाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य शरीरायासभयात् प्रमादवशाद्वा विधौ शास्त्रीयनिर्णयमकृत्वैव शिष्टाचारपरम्परामात्रमादृत्य श्रद्धयाऽन्विता आस्तिक्यबुद्धियुक्ताः स्वेष्टदेवताराधनादिकमनुतिष्ठन्ति तेषां का निष्ठाऽवस्थितिः सत्त्वं सात्त्विकी, आहोस्विद्रजस्तमः राजसी तामसी वेति स्पष्टम्मे ब्रूहीति शेषः ॥ १ ॥

एवं गतेनाऽध्यायेन दैवीमासुरीञ्च द्विप्रकारां प्रवृत्तिं शास्त्र-

वश्यत्वेन तदवश्यत्वेन चानुष्ठीयमानामभिधाय शास्त्रविधिवश्यप्रवृत्ते-
रेव श्रेयःप्रयोजकत्वं निरचैषीत्। तेनैव ग्रन्थेनेदमपि निरचायि यच्छा-
स्त्रमनुरुध्यैवाऽखिलकर्मानुष्ठाने सर्वपुमर्थसिद्धिरनुष्ठातुर्दैवपदव्यपदे-
श्यता सम्पद्यते, शास्त्रमुत्सृज्य प्रवर्तने तु नार्थसिद्धिर्न वा
देवत्वमपि त्वसुरत्वमेव। अथैवं कोटिद्वयाऽवगमेऽप्यन्तरालेऽवस्थि-
तानां शास्त्रविधिमनाश्रयतां स्वकुलवृद्धाचारस्यैवाऽधिकं प्रामाण्यमि-
त्युपसेदुषां किं देवत्वमुतासुरत्वमिति सन्देहो जागर्त्येव, लब्धावस-
रस्तमपाकर्तुकामोऽर्जुन उवाच—य इति। श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादि
शास्त्रचोदितेषु कर्मसु यथावत्परिपालने महान्तं क्लेशमनुभवन्त आ-
लस्यमाश्रयाणाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य केवलं शिष्टाचारमनुसृत्यैव
श्रद्धयान्विता आस्तिक्यबुद्धिसमन्विताः। आस्तिक्यबुद्धिश्चात्र द्विधा
विभाजयितुं शक्यते। तत्राद्या शास्त्रेषु नित्यनैमित्तिकादिकर्माणि
यथोपदिष्टानि वृद्धैश्च यथा समादृतानि तथैव साङ्गोपाङ्गानुष्ठानेन
निष्पद्यते, द्वितीया तु प्रमादवशाच्छास्त्रोपदेशमुत्सृज्य कुलप्राप्तातचरि-
तमात्रेण स्ववर्णाश्रमोचितकर्मष्ठानेन निर्वर्त्यते, तयोरिमां द्वितीयामेव
बुद्धिमास्थाय ये यजन्ते देवाराधनादिरूपाणि कर्माण्यनुतिष्ठन्ति। अनया
श्रद्धया तपोदानयजनाद्याचरतां दैवसम्पद्भाक्त्वं न सम्भवति
यथाशास्त्रं कर्माननुष्ठानात्। न वाऽसुरसम्पदाश्रयत्वमपि शिष्टाचारस्या-
परिवर्जनात्। तस्मात् हे कृष्ण! तेषां निष्ठाऽवस्थितिः का?
कीदृशी? सत्वमिति कारणेन कार्यं लक्ष्यते। अग्रेऽप्येवम् सात्विकी
निष्ठा ज्ञेयाऽऽहो स्विद्रजस्तमः राजसी तामसी वेति प्रश्नः।
ननु 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धि

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

अथार्जुनाशङ्कायाः समाधानं विधातुं श्रीभगवानुवाच—
त्रिविधेति। देहिनां त्रिगुणपरिणामभूतशरीरधारिणा श्रद्धा
विश्वासः सात्त्विकी सत्त्वगुणजन्या राजसी रजोगुणजन्या
मवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्, (गी. १६) इति षोड-
शाध्याये स्वयमेव गीताचार्येण निश्चतत्वात् कथमर्जुनस्यात्र
पर्यनुयोग? इति चेन्न, 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यत्र शास्त्रशब्देन
शास्त्रशिष्टाचारयोरुभयोरपि ग्रहणात्। वर्तते कामकारत इत्युत्तर-
वाक्यानुरोधात्। तथा च शास्त्रशिष्टाचारौ परिहाय यः
स्वाच्छन्द्येन वर्तते तस्यैव तादृशफलभागित्वं तत्राभिहितम्। प्रकृत-
श्लोके तु शास्त्रशब्दो न शिष्टाचारोपलक्षकः 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः'
इत्युत्तरवाक्यादेव शिष्टाचारस्य परिग्राह्यत्वात्। तथा च 'यद्यदाचरति
श्रेष्ठस्तत्तदेवतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुर्तते, (गी०)
इत्युक्तरीत्या शिष्टचारमात्रेण धर्मानुष्ठाने न दैवी प्रवृत्ति
र्नवाऽसुरी केयं तर्हि प्रवृत्तिरित्यर्जुनस्य जिज्ञासा युक्तैवेति दिक् ॥१॥

एवं शास्त्रसरणिविरहितानां किन्त्वास्तिक्यबुद्धिसमन्वितानां निष्ठा
कीदृशीत्यर्जुनाशङ्कामाकर्ण्य तामपाकर्तुं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति।
यद्यप्यर्जुनेन स्वकीयप्रश्न एव श्रद्धाविशिष्टानां निष्ठायास्त्रैविध्यं
स्पष्टमुपदर्शितं न हि श्रद्धास्थितिप्रकारमात्रेऽस्ति सन्देहोऽपि तु त्रैगु-
ण्यलक्षणाक्रान्तासूत्तममध्यमाधमासु त्रिविधनिष्ठासु केन लक्षणेन

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

तामसी तमोगुणजन्या चेति त्रिविधा भवति। शुद्धस्वभावशालिनामात्मनां श्रद्धासम्बन्धविरहेऽपि त्रिगुणपरिणामभूतदेहसम्बन्धौपाधिकाः श्रद्धाः सम्भवन्तीतिभावः। सा त्रिविधाऽपि श्रद्धा स्वभावजा प्राक्तनकर्मसंस्कारजाऽस्ति। तां श्रद्धां श्रृणु ॥२॥

हे भारत! सर्वस्य पुरुषस्य श्रद्धा सत्त्वानुरूपा तत्तद्गुणविशिष्टाऽन्तःकरणदेहेन्द्रियानुसारिणी भवति। अयं कं गुणमाश्रयन्तीयं श्रद्धास्थितिरित्येव जिज्ञासाऽस्ति तदुत्तरतया श्रद्धायास्त्रैविध्यकथनमात्रं भगवतो न युज्यते। तथाप्यर्जुनजिज्ञासाविषयस्यात्रोत्तरं वक्तुं श्रद्धात्रैविध्यांशमनूद्य विवक्षितांशाभिधानोपक्रमतयेदमुपयुज्यते। देहिनां प्रकृतिकार्यसत्त्वादिगुणपरिणामस्वरूपदेहमाश्रयतां समेषां त्वयोक्ता सात्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा श्रद्धाऽस्ति। सा च स्वभावजा प्राक्तनकर्मानुगुणभावनाजन्या भवति। अयं भावः। सर्वप्राणिनां सत्वादिगुणकार्यकरणकलेवरादिषु प्रथमं प्राक्तनकर्माख्याऽविद्योदितवासनावशाद्धेयोपादेयेषु विरक्तचनुरक्ती समुत्पद्यते। तत्र श्रद्धारूपेयमनुरक्तिरिष्टसाधनताज्ञानपूर्विकैव जायत इत्युपादेयेषु सत्त्वादिगुणकृतत्तारतम्यात् स्वत एव प्रवृत्तिरित्येव फलितं भवति। चलं गुणवृत्तमिति न्यायादतः स्वभावजेत्युक्तम्। सा च श्रद्धासत्त्वादिगुणकार्यत्वात् सात्त्विकी राजसी तामसी चेतिभेदभिन्नाऽस्तीत्यतस्तां तत्कारणविशिष्टां श्रृणु मया वक्ष्यमाणामाकर्णय ॥२॥

हे भारत! सर्वस्य पुरुषस्य श्रद्धा हीष्टवस्तुन्यभिरुचिर्मनो-

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

पुरुषो हि श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानोऽस्ति। ततो यः पुरुषो यच्छ्रद्धो यादृशसात्त्विक्यादिश्रद्धाविशिष्टो भवति स एव स तादृशश्रद्धाविषयफलशाली भवति ॥ ३ ॥

वृत्तिलक्षणा सत्वानुरूपा। सत्वपदस्यात्र न सत्वगुणवाचकत्वं किन्तु सत्वपरिणामरूपमनोवाचकत्वमेव, तथा च श्रद्धाहेतोरन्तःकरणस्यानुगुण्यं श्रद्धायामुपपद्यते। एवञ्च 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येत्सर्वं मन एव' (वृ. १। ५। ३) इति श्रुतौ श्रद्धामनसोरभेदः कार्यकारणयोरभेदादुपपद्यते। तथा च मनोऽनुरूपा श्रद्धा भवति। निश्चयविकल्पात्मकवृत्तिकत्वेऽपि मनसोऽत्र निश्चयात्मकवृत्तेरेव ग्रहणम्। मनसि निपुणं यदध्यवस्यति तस्मिंश्च श्रद्धा ध्रुवमुत्पद्यते। इयमेव कार्यवैलक्षण्यात् सात्विकी राजसी तामसी चेति व्यपदिश्यते। श्रद्धाया नैयत्येनोत्पत्तौ हेतुं वर्णयति—यतोऽयं पुरुषः श्रद्धामयः प्रचुरश्रद्धायुक्तः सर्वस्यापि पुरुषस्य करणकलेवरादेः सत्वादित्रिगुणपरिणामरूपत्वान्मन आदीन्द्रियाणामन्नाहाराप्यायकत्वात्। तदुक्तं छान्दोग्ये—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः (छा. ६। ५। १) इति। अतः यः पुरुषो यच्छ्रद्धो यादृश्या श्रद्धया विशिष्टो भवति स पुरुषः स एव तादृशश्रद्धापरिणामरूपः सम्पद्यते। सात्विकी श्रद्धायुक्तश्चेत्सात्विको भवति राजसी श्रद्धायुक्तश्चेद्राजसस्तामसीश्रद्धायुक्तश्चेत्तामस इत्येवं श्रद्धाया विवेचनेन निष्ठाया अपि विवेकः सम्पन्न एवेति निर्णयः ॥३॥

यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्विकजनानाम्परिचयः कार्येणैवावगन्तुं शक्य इत्यतः कार्यमभिधत्ते—यजन्त इति । सात्त्विकाः सत्त्वगुणप्रधाना जना देवानिन्द्रादीनमरान् यजन्तेऽर्चयन्ति । राजसा रजोगुणप्रधाना जना यक्षरक्षांसि यक्षान् राक्षसांश्च यजन्ते । अन्ये सात्त्विकराजसाभ्यामितरे तामसास्तमोगुणप्रचुरास्तु प्रेतान् भूतगणाँश्च यजन्ते । सात्त्विकराजसतामसाश्च जनाः स्वस्वनिष्ठां तत्तच्छ्रद्धां चानुसृत्य क्रमशो देवयक्षपिशाचादींश्च सम्पूज्य दुःखासम्भिन्नं सुखं दुःखासम्भिन्नाल्पसुखं दुःखमयात्यल्पसुखं चानुभवन्तीत्यर्थः ॥४॥

एवं श्रद्धायास्त्रैविध्यं निरूप्य श्रद्धावतामपि त्रैविध्यं दर्शितम् । अथैतेषाम्परिज्ञानं कार्यानुमेयमित्यतः कार्यमप्याह—यजन्त इति । सात्विकश्रद्धाविशिष्टाः पुरुषा देवानिन्द्रादित्यादीन् यजन्ते तत्तद्देवसायुज्यावाप्तिलिप्सया तत्तद्देवतुष्टिजनकद्रव्यैराराधयन्ति । सात्विकीं श्रद्धामाधाय सत्वगुणप्रधानान् देवानेव यजन्त इत्यर्थः । ते सात्विका ज्ञेयाः । अत्र देवयागकर्तृत्वमुद्दिश्य सात्विकत्वं विधीयते तत्त्वमुद्दिश्य देवयागकर्तृत्वं वा विधीयत उभथाऽपि श्लोकार्थसङ्गतिः । रजोगुणपरिणामभूतया रजःप्रचुरश्रद्धया यक्षरक्षांसि रजोगुणप्रधानान् कुबेरादीन् यजन्ते ते राजसाः । राजस्या श्रद्धया सम्पन्ना इत्यर्थः । येत्वन्ये चः समुच्चयार्थकस्तमोगुणप्राधानान् प्रेतभूतगणान् क्षुद्रफलप्राप्तये प्रेतादिसायुज्यसिद्धये वा तामसीं श्रद्धामधिकृत्य यजन्ते । ते तामसा जना ज्ञेया

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥६॥

अथ ये मदाज्ञाविरुद्धाशास्त्रीयतपोयागादिविधातारस्त आसुरबुद्धय इत्याह—अशास्त्रविहितमिति । ये जनाः पुरुषा दम्भश्चाहङ्कारश्च दम्भाहङ्कारौ ताभ्यां संयुक्ता दम्भाहङ्कारसंयुक्ता धार्मिकत्वज्ञापनस्वाधीनत्वाभिमानयुक्ताः कामश्च रागश्च बलं च कामरागबलानि तैरन्विताः कामरागबलान्विता विषयाकांक्षाक्षेत्रादिविषयकासक्तितदनुकूलशक्तिभिश्च युक्ताः शरीरस्थं शरीरारम्भकत्त्वेन शरीरे वर्त्तमानं भूतग्रामं इति शेषः । तथा च विलक्षणकार्येण तत्तदनुगुणफलप्रसविन्याः श्रद्धायाः सत्वरजस्तमःसंसृष्टतया सात्विकी राजसी तामसी चेति त्रैविध्यं सिध्यति । तद्युक्तपुरुषाणाञ्च सात्विकराजसतामसत्वमुपपद्यते ॥४॥

एवं त्रिभिः श्लोकैः श्रद्धायाः सात्विकत्वादिप्रभेदेन त्रैविध्यमुपदर्शितम् । शास्त्रीयश्रद्धाऽप्यत्रैवान्तर्भवति । गीताचार्येण-'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा' (गी.) इत्युपक्रमे देहिनामित्यविशेषेणोक्तत्वात् । सत्वादिगुणपरिणतिभूतकरणकलेवरादियुक्तानां श्रद्धापरिचयजुषां सर्वेषामेव तादृश्याः श्रद्धायाः सम्भवः । तथा च शास्त्रीयश्रद्धामनुरुध्य शास्त्रीयोत्तमफललिप्सया देवयाजिनां सात्विकत्वमन्येषां यक्षरक्षोगणयाजिनां प्रेतभूतगणयाजिनाञ्चाशास्त्रीयश्रद्धायुक्तत्वाद्राजसत्वं तामसत्वञ्च निरणैषीत् । एवं

पृथिवीत्यादिभूतसमूहं कर्शयन्त उपवासादिभिः कृशतां प्रापयन्तोऽन्तःशरीरस्थं मां चैव मदंशभूतं जीवं च कर्शयन्तोऽचेतसो विवेकहीनाश्च सन्तोऽशास्त्रविहितं शास्त्रविधानरहितं घोरं भीषणं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्ति । अत्र तप इति यागादीनामप्युपलक्षणम् । तथा च यागादिकमपि कुर्वन्ति । तानशास्त्रविहिततपोयागादिकर्तॄनासुरो निश्चयो येषां त आसुरनिश्चयास्तानासुरनिश्चयानासुरबुद्धियुक्तान् विद्धि विदांकुरु ॥५॥६॥

श्रद्धाविभागमुपवर्ण्य 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' (गी १६।२३) इति सिद्धान्ततयोक्तं स्वाभिमतं मतमेव दृढीकुर्वन् श्रद्धाविशिष्टस्याप्यशास्त्रीयकर्मणोऽशुभफलोत्पादकत्वमेवेति 'येशास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेषां निष्ठा तु का कृष्ण' (गी१७ । १) इत्यर्जुनकृतप्रश्नस्य स्पष्टतयोत्तरमभिधत्ते-अशास्त्रविहितमिति । यत्त्वत्र केशवकाश्मीरिणाशास्त्रीयश्रद्धाया एव सात्विकादिविभागं विरचय्य त्रैविध्यकाश्मरेणशास्त्रीयश्रद्धाया एव सात्विकादिविभागं विरचय्य त्रैविध्यमुक्तं तद्गीताचार्याशयानवबोधविजृम्भितम् । न ह्यशास्त्रीयश्रद्धायाः सात्विकत्वं सम्भवति 'त्रिविधा भवति श्रद्धेत्यादावशास्त्रीयश्रद्धाया एवेदं त्रैविध्यमिति भगवताऽनुक्तत्वात्' तत्क्रतुन्यायेन 'यो यस्योपासकस्स तत्सायुज्यमुपैतीति नियमात्, यजन्ते सात्विका देवनिति सात्विकश्रद्धावतां देवयाजिनाम् स्वर्गे देवसायुज्यसिद्धिरुक्ता भवति । एवंविधा देवसायुज्यसिद्धिरशास्त्रीयश्रद्धावतो नैव सम्भवति 'यः

शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'(गी १६। २३) इति भगवद्वचनविरोधात् । तत्र हि 'न सुखं न परा गतिमिति स्वर्गापवर्गयोः सर्वथा निषेधात् । तस्मात्सात्विक्याः श्रद्धायाः शास्त्रीयत्वं श्रद्धान्तरयोस्त्वशास्त्रीयत्वमित्येव शास्त्रीयः पन्थाः । अत नरसहस्रेषु कश्चिदेकः सात्विको जनः शास्त्रमनुसृत्य तदाचरणपरायणो भूत्वा देवसायुज्यकामनया सात्विकदेवाराधने प्रवृत्तो भवति । रजस्तमोनिष्ठास्त्वसंख्याताः मनुष्याः स्वेन्द्रियचापल्यपरितुष्टये क्षणिकक्षुद्रफलोपलिप्सायै यक्षरक्षसां भूतप्रेतादीनामशास्त्रीयश्रद्धामाश्रित्यार्चनादिकं कुर्वन्ति । तत्र नाल्पमपि सुखमुत्पद्यतेऽपि तु भगवदाज्ञाविरुद्धाचरणेन क्लेशकलुषित आसुरो भावोऽवाप्यते । तदेतदाह ये जना अशास्त्रविहितं शास्त्रेण शासनाधिकारे प्रवृत्तेनाम्नायेन तदनुकूलस्मृतीतिहासपुराणादिना यन्न विहितमशास्त्रेण सुगतजिनजनादिप्रणीतेन ग्रन्थेन वा विहितं घोरं स्वपरशरीरपीडाकरं तपस्तप्तशिलारोहणपर्युषणादिरूपं तप इत्युपलक्षणं याजनाद्यपरिमितायाससाध्ययागदानहोमादेरित्येतद्रूपं तपो ये तप्यन्ते । किञ्च दम्भाहङ्कारसंयुक्ता दम्भ परप्रतारणबुद्ध्या धर्मानुष्ठानमहङ्कारोऽहमेवैतत्कार्ये समर्थो नान्य इति सावलेपाभिमानस्ताभ्यां सम्यक् प्रकारेण युक्तः कामरागबलान्विताः काम्यन्ते ये कामा विषयास्तेषु यो रागस्तस्य यद्बलमाग्रहोऽवश्यमिदं साधयिष्यामीत्ययोग्यमसाध्यञ्चानुष्ठातुं साहस इति यावत् । तेनान्विताः । अत एव शरीरस्थं स्वदेहस्थं देहधारणोपयोगिनं भूतग्रामं करणकलेवरादिरुपेग परिणतं क्षित्यादिभूतनिबह-

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहारत्रैविध्यमप्यभिधत्ते—आहार इति । सर्वस्य सात्त्विकादित्रिविधभेदमापन्नस्य पुरुषस्याहारस्त्वप्याहारोऽपि त्रिविधस्त्रैविध्यमापन्नः प्रियो रुचिकरो भवति । तथा तेनैव प्रकारेण देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मको यज्ञः शरीरेन्द्रियशोधकात्मकस्तपः पात्रेषु स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादानात्मकं दानं च प्रत्येकं त्रिविधमेव भवति । तेषामाहारयज्ञतपोदानानां भेदं शृणु ॥७॥

मविहिताऽत्युग्रानिलानलसलिलसम्पर्के संस्थाप्य कर्षयन्त कार्श्यं प्रापयन्तोऽचेतसः शास्त्रीयज्ञानपराङ्मुखा अन्तः शरीरस्थं माञ्च ममांशत्वेन स्थितं जीवमित्यर्थः । 'अंशो नाना व्यपदेशादि'त्यादिब्रह्मसूत्रोक्तेः 'ममैवांशो जीवलोक' इति गीतोक्तेश्च । कर्षयन्तः पीडयन्तः । ये जना वर्त्तन्ते तानासुरनिश्चयानासुरो निश्चयो येषां तथाभूतान् विद्धि ॥५॥६॥

एवमशास्त्रीयस्य रजस्तमोविशिष्टस्य तपोयागदानादेरनुष्ठानमसुरत्वापादकमित्युक्त्या सात्विकस्यैव तपोयागदानादेः शास्त्रीयत्वं तस्यैव च वैदिकजनानुष्ठेयत्वमित्येतन्निरचैषीत् । सात्विकयागादेरनुष्ठानञ्च सात्विकान्तःकरणसाध्यं तादृशान्तःकरणस्य च सात्विकाहारान्निष्पत्तिः 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, (छा ७ ॥) इति श्रुतेः । अतस्तस्यापि प्रसंगात् त्रैविध्यमभिधत्ते—आहार इति । आहार आह्रियते करणकलेवरादिधारणाय योऽसावाहारोऽन्नादिरपि

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धास्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रिया ॥८॥

तत्राहारत्रैविध्यमाह—आयुरिति । आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनास्तत्रायुर्जीवनं सत्त्वमन्तःकरणजन्यं ज्ञानं बलं सामर्थ्यमारोग्यं रोगाभाववत्त्वं सुखं मनःप्रसादः प्रीतिर्हर्ष इत्येषां वर्धका रस्या माधुर्यादिविशिष्टाः स्निग्धाः स्नेहवन्तः स्थिराश्चिरकालस्थायिनो हृद्या मनोहराश्चाहारा भोजनानि सात्त्विकप्रियाः सात्त्विकानां पुरुषाणां प्रियाः प्रीतिकरा भवन्तीति शेषः ॥८ ॥

सर्वस्य जनस्य त्रैगुण्यपरिणामित्वेन श्रद्धावदेव त्रिविधः प्रियो भवति । यथाऽऽहारस्तथा यज्ञो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागलक्षणस्त्रिविधस्तपः शरीरेन्द्रियशोधकं कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपं त्रिविधं दानं स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वोत्पादस्वनात्मकं त्रिविधं तेषामाहारयज्ञतपोदानानां विशेषेण भेदमिममग्रे मयोदीर्यमाणं शृणु ॥७॥

तत्रादावाहारस्य त्रैविध्यमुच्यते त्रिभिः । आयुरित्यादीनां द्वन्द्वे पूर्वपूर्वपठितानामभ्यर्हितत्वम् । आयुषः शरीरनिर्वाहकत्वेनादावुपादानम् । सत्त्वशब्दोऽन्तःकरणवाचकोऽप्यत्र तज्जन्यं ज्ञानं-ब्रूते आहारशुद्धौसत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः (छा० । इति श्रुतेराहारस्य सत्वाऽप्यायनद्वारा ज्ञानोत्पादकत्वम् । अस्य च मोक्षे साक्षादुपयोगित्वाद् बलादिभ्योऽभ्यर्हितत्वम् । बलं सामर्थ्यमारोग्यमामयविरहः । सुखं मनः प्रसत्तिः । प्रीतिर्यथेच्छं भोजनाऽभिरुचिः । तेषां विवर्धना विशेषतो वृद्धिकारा इत्येवं फलम्प्रतिपाद्य स्वरूपं निर्दिशति—रस्या इति । रस्या मधुरास्वादप्रचुराः

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्ठा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

राजसानाहारानाह—कट्विवति । मध्ये श्रूयमाणस्यातिशब्दस्य प्रत्येकं योगस्तथा चातिकटुरसा निम्बाहिफेनादयोऽत्यम्लरसास्तिन्तिण्यादयोऽतिलवणरसाः प्रसिद्धा एवात्युष्णा जिह्वोष्ठादिप्रज्वालका अतितीक्ष्णा मरीचादयोऽतिरूक्षा अणुकङ्ग्द्वायोऽतिविदाहिनः सर्षपादय आहारा राजसस्य जनस्येष्टा इमे च दुःखशोकामयप्रदा दुःखशोकरोगादिवर्धना ज्ञेयाः ॥९॥

स्निग्धा स्वतः स्नेहयुक्ताः स्नेहेन संस्कृताश्च स्थिरा उत्तरोत्तरं सूक्ष्मरसादिधातुरूपेण चिरं स्थायिनः हृद्या मनोनयनानन्दनाः पूतिगन्धित्वाशुचित्वदुर्दर्शनत्वादिदोषवर्जिता य आहारस्ते सात्विकप्रियाः सात्विकजनस्य प्रियत्वेनोपपादेया भवन्तीति शेषः ॥८॥

राजसानाहारान्निर्वक्ति—कट्विति । मध्यमपठितोऽतिशब्दः सप्तस्वपि समन्वेति—अतिकटुरसा अहिफेनादयोऽत्यम्लरसा तिन्तिण्यादयोऽतिलवणरसा प्रमाणतोऽधकलवणमिश्रिताः पर्पटप्रभृतयोऽत्युष्णा अशनावसर एव हस्तदन्तौष्ठजिह्वाताल्वादिस्थानदाहका उष्णपयः पायसादय ओष्णं पयः पायसान्नन्तु सात्विकमेवेति बोध्यम् अतितीक्ष्णा मारीचव्यञ्जनादयोऽतिरूक्षा अणुकङ्गुकोद्रवादयोऽतिविदाहिनः श्यामसर्षपादय आहारा राजसस्य जनस्येष्टा प्रियाः एते च दुःखशोकामयप्रदा न केवलमनुभववेलायामेवापि तु परम्परया देहान्तरे परलोकेऽपि दुःखप्रदाः । अनुभावानन्तरं धातुवैषम्याच्छोकप्रदाः

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

तामसाहारानाह— यातयाममिति । यातयामं पाकनिर्माणकालाद्याममेकं तदधिककालं वावस्थितं गतरसं पाकसंस्कारप्राप्तरसवर्जितं पूतिदुर्गन्धपूर्णं पर्युषितं प्रथमदिने पक्वमेकरात्रिं निर्गमय्य द्वितीयदिनावस्थितमुच्छिष्टं गुर्वतिरिक्तभुक्तशिष्टं गुरुपदेनात्राऽध्यात्मविद्योपदेशकस्य निषेकादिकर्मकर्तुः पितुश्च ग्रहणम् । अमेध्यं यज्ञाऽयोग्यं कलञ्जादिकमेतादृग्भोजनं भुज्यते यत्तद्भोजनं तामसजनप्रियं भवति । एतादृशाहारस्यतमो वर्धकत्वान्मुमुक्षुभिः सर्वथा परिवर्जनीयत्वमुक्तम्भवतीति भावः ॥ १० ॥

अर्शोविबन्धग्रहणीव्रणादिरोगोत्पादकत्वेनामयप्रदा भवन्ति ॥९॥

तमोगुणवर्धकानाहारानभिधत्ते । यातयाममिति । यातयामं पचनान्तरमेकप्रहरं ततोऽधिकसमयं यावदवस्थितं गतरसं रस्यत आस्वाद्यत इति रस आस्वाद्यतां गतो पाकाऽव्यवहितोत्तरक्षणे जायमानो रसविशेषस्तद्रहितमित्यर्थः । न तु रसनं रस आस्वादस्तद्रहितमित्यर्थो यातयामादेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । पूतिदुर्गन्धयुक्तं पर्युषितं रात्र्यन्तरितं रात्रौ जले निहितस्य तु पर्युषितत्वमेव नास्ति । तथा चापस्तम्बः । उदकेऽवधाय कृतान्नं पर्युषितमुपयोजयेदित्यनुषङ्गः । तदुक्तं स्मृत्यन्तरे 'शाकं पुनः शृतं वह्नौ जले क्षिप्तं तथौदनम् । तीर्थपर्युषितं भोज्यं यच्चान्यत्स्नेहसंयुतम्, इति । यातयाममित्यादिचतुर्भिरुच्यमानं तामसत्वमत्रोदनादेरेव ज्ञेयम् । स्नेहसंयुक्ताऽन्नस्य

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

अफलाकांभिक्षिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११

अथ यज्ञत्रैविध्यमाह– अफलाकांक्षिभिरिति । अफलाकांक्षिभिः फलकामनाविरहितैर्विधिदृष्टो विधिशास्त्रप्रतिपादितो यज्ञो भगवत्प्रीतिफलकोऽतो यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विकोऽस्तीति शेषः ॥ ११ ॥

तु पर्युषितत्वप्रयुक्ततामसत्वमेव नास्तीत्युच्यते मन्वादिशास्त्रेषु– यत्किञ्चत् स्नेहसंयुक्तंभक्ष्यंभोज्यमगर्हितम् । तत्पर्युषितमप्याद्यं हविः शेषं च यद्भवेत् । चिरस्थितमपित्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः । यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया, (मनु ५ । २४–२५ । याज्ञवल्कश्च–'अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तंचिरसंस्थितम् । अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रिया । इति ॥१०॥

एवमुदीरितत्रिविधाहारकारिणामाहारपरिणामकरणकलेवरजुषां स्वभावत्रैविद्ध्याच्छ्रद्धाप्रभेदाच्चानुष्ठीयमानयज्ञस्यापि त्रैविद्ध्यं सम्पद्यते । तत्रादौ सात्त्विकयज्ञमभिधत्ते–अफलाकाक्षिभिरिति । फलमाकाक्षन्त इति फलाकांक्षिणो न फलाकांक्षिणोऽफलाकांक्षिणस्तैः फलकामनाविवर्जितैः प्रत्यवायपरिहारावश्यकजीवनादिनिमित्तत्वेन विहितत्वाद् भगवत्प्रीत्यतिरिक्तफलाशाशून्यमनस्कतया तदाज्ञापरिपालनबुद्ध्यैव केवलनित्यनैमित्तिककाम्यकर्माण्यनुतिष्ठद्भिरित्यर्थः । विधिदृष्टो विधिशास्त्रानुमोदितो देवताराधनमन्त्रद्रव्यक्रियासमन्वितः परमपुरुषप्रीणनफलकतया यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय तस्मिन्नेव यज्ञकर्मणि मनोयोगं विधाय यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते स सात्विको बोध्यः ॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

अथ राजसं यज्ञमभिधत्ते–अभिसन्धायेति । हे भरतश्रेष्ठ ! फलमैहिकमामुष्मिकं वा पुत्रस्वर्गादिकमभिसन्धायोद्दिश्य दम्भार्थमपि स्वधार्मिकतां प्रथयितुमपि यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते, तं यज्ञं राजसं विद्धि जानीहि ॥ १२ ॥

अथ तामसं यज्ञं ब्रूते–विधिहीनमिति । विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिविरहितमसृष्टान्नं शास्त्रप्रतिपादितान्ना-

क्रमप्राप्तं राजसयज्ञं ब्रूते–अभिसन्धायेति । हे भरतश्रेष्ठ ! अनेन सम्बोधनेन 'त्वं सात्त्विकयज्ञस्यैवाधिकारी न तु राजसतामसयोरिति सूच्यते ।'तुरत्र सर्वकर्मग्रहणपरः फलमैहिकमामुष्मिकं वानुसन्धायोद्दिश्यानेन कर्मणेदं फलमवश्यं मयैष्टव्यमिति धिया । किञ्च दम्भार्थमपि 'जगति धार्मिकत्वख्यापनं दम्भस्तदर्थमपिय इज्यते । अत्रैहिकपारलौकिकफललिप्सया काम्यकर्मणामनुष्ठानं नित्यकर्मणान्तु धार्मिकत्वख्यातिफलाये'ति केचित्तन्मन्दम्, पृथगन्वये प्रमाणाभावात् । नित्यकर्मणामपि सिद्धान्ते फलवत्त्वावगमात् । तथा चात्र नित्ये काम्ये वोभयत्र फलाभिसन्धिर्दम्भो वेति पक्षद्वयमपि सम्बद्ध्यते । तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥१२॥

एवमैहिकपारलौकिकफलकामनया स्वस्य धार्मिकत्वज्ञापनादिदम्भबुद्ध्यैव वा यथाबुद्ध्यनुष्ठीयमानमपि सात्विकैरनुपादेयं राजसयज्ञ-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

दिद्रव्यहीनं मन्त्रहीनं विधिना यन्मन्त्रोच्चारणं तद्विहीनमदक्षिणं शास्त्रानुकूलदक्षिणाशून्यं श्रद्धया विरहितं श्रद्धाविरहितमास्तिक्यबुद्धिविवर्जितं यज्ञं तामसं परिचक्षते शास्त्रमर्मज्ञाः शिष्टाः कथयन्ति ॥१३॥

सात्त्विकादिभेदाद् वक्ष्यमाणं त्रिविधमपि तपः शरीरवाङ्मनःसम्पाद्यम् । तत्र प्रथमं शारीरं तप आह—देवेति ।

मभिधायाथ यथाविध्यननुष्ठेयत्यत्वे नैहिकपारलौकिकफलरहितत्वाद्विज्ञैरनुपादेयं तामसज्ञयमभिधत्ते—विधिहीनमिति । विधिशास्त्रोदितप्रक्रियारहितमसृष्टान्नं विधिशास्त्रानुमोदितद्रव्यादिविवर्जितं मन्त्रहीनं सविधिन्त्रोच्चारणविधुरं स्वरवर्णविपर्ययविधायमंत्राध्ययनमपि मन्त्रहीनत्वमुपैति । अदक्षिणमृत्विग्ब्राह्मणादिभ्यः प्रदेयदक्षिणावर्जितं श्रद्धाविरहितं भक्त्युत्साहजन्यास्तिक्यबुद्धिरत्र श्रद्धा तद्रहितं यज्ञं तामसं तमःप्रधानं परिचक्षते शास्त्ररहस्यवेदिनः । अत्रविधिहीनत्वाद्येककधर्मविशिष्टस्यापि तृणारणिमणिन्यायेन तामसत्वप्रयोजकत्वं बोध्यम् । एवञ्च पञ्चानां समुच्चित्य तामसहेतुत्वमिति केषाञ्चिदाशंका व्युदस्ता । तथा तामसयज्ञस्यानेकप्रभेदाः सिध्यन्तीति फलितम् ॥१३॥

अथ तपसो गुणाधिकारमाश्रित्य जायमानप्रभेदानभिधित्सुस्तस्य शरीरेण वचसा मनसा चेति करणत्रयेण सम्पाद्यतयाऽऽदौ तत्त्रैविध्यमेव दर्शयति-देवद्विजेत्यादिभिस्त्रिभिः । देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन-

देवा जगज्जन्मादिहेतुः सर्वेश्वरो भगवान् श्रीरामस्तदङ्गभूता हनुमदादयश्च द्विजा गुरवो ब्रह्मविद्योपदेष्टारः प्राज्ञाः सम्पादितभगवदनुग्रहास्तत्त्वज्ञा भागवता देवद्विजगुरुप्राज्ञास्तेषां पूजनं समाराधनम् । शौचं बाह्यान्तरभावापन्नं द्विविधं शौचम् । आर्जवमृजुताऽकौटिल्यमित्यर्थः । ब्रह्मचर्यं सर्वथा मैथुनवर्जनम् । अहिंसा त्रिविधहिंसाराहित्यम् । च । शारीरं कायिकं तप उच्यतेऽभिधीयते । प्राज्ञैरितिशेषः ॥१४॥

मत्र विशिष्टतयैव देवादीनां ग्रहणं न तु समान्येन । अन्यथा द्विजपदेनैव गुरुप्राज्ञादीनामुपादानात् पृथगभिधानवयर्थ्यप्रसंगात् । तथा च देवा निखिलजगन्नियन्ता महापुरुषो भगवान् रामचन्द्रस्तदङ्गभूता हनुमद्ब्रह्मेन्द्रवरुणकुबेरादयो द्विजा वसिष्ठपराशरव्यासशुकादयो ब्राह्मणा । गुरवोऽध्यात्मविद्योपदेशकः प्रधानो मातृपितृप्रभृतयश्च प्राज्ञाः गुरुव्यतिरिक्तास्तपोयोगप्रभावाद्भगवद्भक्त्यतिरेकात् प्रसाधितपरमपुरुषाऽनुग्रहा भागवताः सिद्धास्तथाविधा द्विजाः स्युस्तदितरे वा न तत्राग्रहः । न केवलं जातिमात्रेणैव पूज्यत्वमपि तु समधिगतभगवदनुकम्पाधौताऽखिलवृजिनेष्वत वोदितएपुण्यातिशयात् संमवाप्तजातिस्मरादिज्ञानेष्वपि पूज्यत्वबुद्धिरावश्यकीति शास्त्रीयः पन्थास्तेषां पूजनम् तच्चात्र स्तुतिप्रणामप्रदक्षिणादिभिरुत्कृष्टत्वप्रयोजकव्यवहाररूपम् । तदुक्तम् महोपनिषदि—धृतोर्ध्वपुण्ड्रः परमेशितारं नारायणं पूजयतिस्म भक्त्या । अर्घ्यादिभिः पौरुषसूक्तमन्त्रैः समाप्नुयाद्विष्णुपदं महात्मेति । पौरुषेणैव सूक्तेन प्रत्यृचं कमलासन । नारायणानुवाकेन विष्णुसूक्तेन वार्चयेत् (पाद्मे) ब्रह्मादयः सुराः सर्वे विष्णुमाराध्यते पुरा ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितश्च यत् ।
स्वाध्यायाऽभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाचिकं तपो दर्शयति–अनुद्वेगकरमिति । अनुद्वेगकरं स्वं स्वं पदमनुप्राप्ताः केशवस्य प्रसादतः (इतिहाससमुच्चये) सभासु चैव सर्वासु यज्ञे राजगृहेषु च । नमस्कारं प्रकुर्वीत ब्राह्मणानभिवादयेत् (विष्णुः) 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रमन्ति यूनस्थविर आगते प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते" (मनु०) वर्णत्रयाधिकारीति तीर्त्वा मासचतुष्टयम् । यो जीवेत् स तु वन्द्यः स्याद्विष्णोरपि सुपूजितः । अभिवादनशीलस्य नित्यंवृद्धोपसेविनः । चत्वारि तस्य वर्धन्ते ह्यायुः प्रज्ञा यशो बलम् ॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ एवं सन्ध्यामुपास्याथ पितरावग्रजान गुरून् । त्रिवर्षपूर्वाश्छिष्टांश्च पार्श्वस्थानभिवादयेत् ॥ 'प्रदक्षिणं व्रजेद्विप्रान् गामश्वथं हुताशनम्, इत्यादिस्मृतयोऽप्यत्रानुसन्धेयाः । शौचमभक्ष्यपरीहारपुरस्सरं स्वधर्मेऽवस्थितिः । तदाह बृहस्पतिः–अभक्ष्यपरिहारांश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः । स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत् प्रचक्षते ॥ इति । आर्जवं समचित्तता । त्रिविधकरणैक्यमिति यावत् । ब्रह्मचर्यं सर्वावस्थासु रतेर्विरतिस्तदाह योगियाज्ञवल्क्यः 'कर्मणा मनसा वाचा सार्वावस्थासु सर्वदा । सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥ अहिंसामनोवाक्कायैः प्राणिपीडोपरमः । एतच्च शारीरं देहानुष्ठेयं तप उच्यते ॥१४॥

एवं शारीरं तपो निरुच्य वाङ्मयं तपोऽभिधत्ते अनुद्वेगकरमिति ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

परस्योद्वेगाजनकं सत्यं यथाऽनुभूताऽर्थाभिधायकं प्रियं श्रोतुरानन्दोत्पादकं हितं परिणतिसुखावहं च यद्वाक्यमथ च स्वाध्यायाभ्यसनं यथाविधि प्रत्यहमनुश्रवाभ्यासश्च वाङ्मयं* तप एवोच्यते ॥ १५ ॥

अथ मानसं तपोऽभिधत्ते–मनःप्रसाद इति । मनःप्र-

अनुद्वेगकरं परस्योद्विग्नताऽनापादकं । यद्वाक्यमुपश्रुत्यापर उद्विजते भयसंकोचादिकमातनोति तादृशं वाक्य नोच्चारणीयमिति फलितम् । सत्यं यथादृष्टं यथाश्रुतम् । मिथ्यार्थाऽनास्कन्दितमिति यावत् । तदपि प्रियं श्रोतुराकर्णनावसरे हर्षोत्पादकम् । शुश्रूषावर्धनक्षममित्यर्थः । हितं श्रोतुः श्रवणसमकालं श्रवणानन्तरमपि सुखोत्पादकं च यद्वाक्यम् तत् । एतदेवोक्तं मानवे शास्त्रे–सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः । इति । किञ्च स्वाध्यायाभ्यसनं स्वाध्यायस्य वेदवेदाङ्गादेरभ्यसनं यथाविधिरावृत्त्यादिभिः परिशीलनं चैवकारो भिन्नक्रमस्तथा चैतद्वाङ्मयं तप एवोच्यत इत्यर्थः ॥१५॥

एवं वाक्कायसाध्यं तपो निर्दिश्य मानसं तदभिधत्ते–मनःप्रसाद इति । अत्र मनःप्रवृत्तिमूलकत्वात् सर्व प्रवृत्तेर्वाक्कायतपःप्रवृत्तेरपि-

---

अभिहितश्च स्वाध्यायः श्रीरामोपासनपञ्चके जगद्गुरु–श्रीसहजरामदेवाचार्यैः–
रामायणश्रुतिगणागमसूत्रगीता–वेदान्तभाष्यपठनं रघुनन्दनस्य ।
सार्थःषडक्षरसुमन्त्रजपःस्तवश्च स्वाध्यायनामकमुपासनमत्रबोध्यम्

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

सादो मनोनैर्मल्यम् । परद्रोहाभावेन मनःप्रसन्नतेत्यर्थः । सौम्यत्वमक्रूरता । मौनं वाग्वृत्तिनियमनम् । आत्मविनिग्रहो मनोवृत्तेर्नियमनम् । सर्वतो निवार्य मनसो महापुरुषे भगवति श्रीरामे व्यवस्थापनमित्यर्थः । भावसंशुद्धिर्भावस्य संशुद्धिर्नैर्मल्यम् । भावनाया भगवदितरविषयस्पर्शराहित्यमित्यर्थः । इत्येतत् सर्वं मानसं मनःसम्पाद्यं तप उच्यते ॥ १६ ॥

मानसप्रवृत्तिप्रयोजकतया मनोयोगमन्तरेण न तत्सिद्धिर्न वा मनोवाक्कायतपसां पार्थक्यमुपपद्यते, तथापि मनोविशिष्टशरीरतपःप्रवृत्तित्वेन मनोविशिष्टवाक्तपःप्रवृत्तित्वेन मनस्तपःप्रवृत्तित्वेन च तासां भेदेस्योपपत्तेः । एतच्च 'पञ्चैते तस्य हेतवः' इति निष्कर्षाध्यायीयसिद्धान्तानुरोधादुपपद्यते । मनःप्रसादः मनसः परद्रोहादिराहित्येनानन्दोद्रेकः सौम्यत्वं वपुषि स्पष्टं प्रतीयते । तेन चाखिलजन्तूपकारविधित्सयाऽन्तस्तोषरूपं सौम्यत्वं मनस्यपि कल्प्यते । तदुक्तं पुराणरत्ने—वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमाञ्जतोऽस्य सौम्यरूपः । क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः कथयति चारुतयैव सालपोतः, इति । मौनमसदालापोन्मुखवाचो नियमनमात्मविनिग्रहो मनसः सर्वतस्समाकृष्य स्वात्मनि महापुरुषेऽवस्थितिर्न केवलं चित्तवृत्तेर्निरोध—मात्रमत्र विनिग्रहो विवक्षितस्तावता न तपऽ फलति । इष्टवस्तुनि सन्निरोधे तु तत्क्रतुन्यायेन मुक्तिफलोपलब्धिरित्यस्ति महत्फलम् । भावसंशुद्धिर्मनोभावनाया नैर्मल्यं तच्च भगवदितरविषयवैतृण्येनेश्वरकृपया स्वतः समुत्पद्यते इत्येतन्मानसं तप उच्यते ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

एवं करणकलेवरानुष्ठितस्य तपसः सात्विकादिविभागेन त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेति । तच्छरीरवाङ्मनोभिरनुष्ठितं त्रिविधमपि तपोऽफलाकांक्षिभिः फलकामनाविरहितैर्युक्तैर्भगवदन्तःकरणैर्नरैः साधनाधिकारिभिः परमोत्कृष्टया श्रद्धया तप्तं सम्पादितं भगवद्धामार्जकत्वात् सात्विकं परिचक्षते विद्वांसः ॥ १७ ॥

राजसं तप आह—सत्कारेति । सत्कारार्थमादरार्थं मानार्थं प्रशंसार्थ पूजार्थमर्चनप्रणामाद्यर्थं यत्तपो दम्भेन चैव लोकप्रतारणबुद्ध्या नत्वान्तरप्रेम्णा क्रियते तदिह लोके

एवं कायिकवाचिकमानसप्रभेदेन तपसस्त्रैविध्यमभिधाय पुनस्तस्य सात्विकादिप्रभेदेनाऽपि त्रैविध्यं साधयति—श्रद्धयेति । तत् कायवाङ्मनोभिः सम्पादितं त्रिविधमपि तपोऽफलाकांक्षिभिः फलाभिसन्धिरहितैर्युक्तैः समाहितमनस्कैर्नरैरनुष्ठातृभिः परया श्रद्धया महापुरुषानुरागरञ्जितया धिया तप्तमनुष्ठितं सत्त्वविवृद्धनिष्पादितत्वात् सात्विकं परिचक्षते कथयन्ति शास्त्रज्ञाः ॥१७॥

राजसं तपोऽभिधत्ते—सत्कारेति । सत्कारश्च मानश्च पूजा चेति सत्कारमानपूजास्ता एवार्थः प्रयोजनं यस्य तपसस्तत् । तत्र सत्कारार्थं

२७

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

चलं क्षणिकफलदमध्रुवमनियतस्थायि राजसं प्रोक्तम् । एतादृग्राजसे तपसि न परप्रेप्सुभिः प्रवर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥१८॥

तामसं तप आह– मूढग्राहेणेति । अहंयुना धर्माधर्मापरिज्ञानेनावेशवशादात्मनः पीडया क्लेशप्रदानेन यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थमभिचारादिकं कर्म यदनुष्ठीयते तत्तपस्तामसं तमोगुणनिर्वृत्तमुदाहृतं विद्वद्भिः ॥ १९ ॥

स्वस्मिन्नादरातिशयस्थापनार्थं मानार्थं स्वस्य वाक्प्रशंसार्थं पूजार्थं स्वस्यार्चनवन्दनाद्यर्थमित्येतादृशफलविशेषाकांक्षया यत्तपो दम्भेन चैव परप्रतारणबुद्ध्या च यत्तपः क्रियते तदिह लोके रजःपरिणाम–सम्भवाद्राजसं चलमत्यल्पमध्रुवं परिमितकालावस्थायि सकृदेव सत्कारादिफलजनकम् । न यावदायुषं स्थायीति भावः । प्रोक्तम् ॥१८॥

क्रमप्राप्तं तामसं तपोऽभिधत्ते–मूढग्राहेणेति । धर्माऽधर्मस्वरूपानभिज्ञोमूढो मूर्ख इतियावत् । तदुक्तं बोधायनेनापि 'शङ्काविहितचारित्रो यः स्वाभिप्रायमाश्रितः । शास्त्रातिगः स्मृतो मूर्खो धर्मतन्त्रोपरोधनादिति तस्य ग्राहोऽहमेव दक्ष इति दुराग्रहधीस्तयाऽत्मनः पीडया दुरावेशवशात्स्वात्मनोऽधिकक्लेशप्रदानेन यत्तपः क्रियते स्वशक्तिमाकलय्य धर्माचरणं ह्युपदिशन्ति स्मृतयस्तदप्युक्तं बोधायनेन––देशकालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थाश्च ज्ञात्वा शौचं समाचरेत् ॥ परस्योत्सादनार्थमभिचारादिकर्मभिः शत्रुमारणाद्यर्थं वा यत् क्रियते तत्तादृशं तपस्तमोगुणकार्यत्वात्तामसमुदाहृतं तत्त्वविद्भिः ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

क्रमप्राप्तमिदानीं दानस्य त्रैविध्यमाह– दातव्यमिति । फलाकांक्षाम्परित्यज्य देशेऽयोध्यादिपुण्यक्षेत्रे काले संक्रमणग्रहणादिसमये पात्रे सद्वृत्तपरायणेऽनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय यद्दानं दीयते तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२० ॥

पूर्वं प्रतिज्ञातस्य दानस्यापि त्रैविध्यं दर्शयति–दातव्यमिति । दातव्यं दातव्यमेवेति मनसि निश्चयं कृत्वा न तु फलजिघृक्षया देशे अयोध्यामिथिलाचित्रकूटप्रयागादितीर्थभूमौ काले संक्रान्त्यादिसमये पात्रे जन्मविद्यावृत्तविशिष्टे निस्सहाये 'तदुक्तं, 'न विद्यया केवलया जन्मना वापि पात्रता । यस्य वृत्तमिमे चोक्ते तद्धि पात्रं प्रचक्षते, इति । दानप्रकरणे सत्पात्रदानस्यैव प्राधान्यमुक्तं शास्त्रकारैर्देशकालयोस्त्वाधारत्वेन तदङ्गतया नेयत्वम् । तेन सौराष्ट्रादिनिषिद्धदेशेषु चतुर्दश्यादिनिषिद्धकालेष्वपि यदि सत्पात्रसम्प्राप्तिस्तदा क्रियमाणदानस्य सात्विकत्वमेव । अनुपकारिणे प्रत्युपकारसम्पादनाक्षमाय यद्दानं दीयते तद्दानं सात्विकं स्मृतम् । अस्य दानस्य सात्विकत्वेनोत्कृष्टत्वेऽपि दानतारतम्यादुत्कृष्टत्वापकृष्टत्वमितोऽन्यत्रापि सम्भवत्येव । तथा च मनुः–त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वती। अतिदानानि दानानां विद्यादानं ततोऽधिकम्,, विष्णुधर्म्मोत्तरेऽपि 'यो दद्याज्ज्ञानमज्ञानां कुर्याद्वा धर्मदेशनम् । स कृत्स्नां पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तत्फलम् । श्लोके धर्मदेशनशब्देन धर्मोपदेशो ग्राह्यः । याज्ञवल्क्योऽपि–सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः । तद्ददत् सम-

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

यत्तु दानं प्रत्युपकारार्थं मह्यमयं कर्हिचिदुपकरिष्यतीति धिया फलमुद्दिश्य दानस्य स्वर्गादिरूपं फलं भोक्ष्य इति तदुद्दिश्य वा पुनः परिक्लिष्टं महतायासेन सम्पादितस्यैतावतो दानं कथं विधेयमिति पश्चात्तापयुक्तं च यद्दानं दीयते तद्राजसं दानमुदाहृतम् ॥२१॥

अदेशेऽशुचिस्थानेऽकाले सूतकाद्युपसृष्टकाले । पुण्यकावाप्नोति ब्रह्मलोकं सनातनम् । अत्र यतो ब्रह्म वेदः सर्वधर्मप्रतिपादकत्वेन सर्वधर्ममयमुच्यते ततस्तद्दानं सर्वप्रदानेभ्योऽधिकमस्ति । दानं हि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादनरूपं तच्च विद्यादानादिषु न सम्भवति स्वस्वत्वनिवृत्तेस्तत्र कर्तुमशक्यत्वादतः परस्वत्वापादनमात्रमेव गृह्यते । धनक्षेत्रादिदाने तु स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वोत्पत्तिरितिद्वयमपि सम्पद्यत इति स्पष्टमेतन्मन्निर्मितभास्करभाष्येऽतोऽत्र संक्षेपः ॥२०॥

राजसदानमभिधत्ते—यत्त्विति । तुरत्र प्रोक्तादपकृष्टत्वं द्योतयति । यत्तु दानं प्रत्युपकारार्थमनेन ममोपकारः सेत्स्यतीत्येतदर्थं फलमुद्दिश्य प्रतिष्ठाक्लेशनिवृत्त्यादिरूपं दृष्टं स्वर्गाङ्गनाविहारादिरूपमदृष्टं फलमुद्दिश्य वा पुनः परिक्लिष्टं दानसमयेऽनन्तरं वा पश्चात्तापयुक्तं यद्दानं दीयते तद्दानं स्वार्थप्रयुक्तदानत्वेन राजसं रजोगुणसंवृत्तमुदाहृतम् ॥२१॥

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

लातीत इति यावत् । अपात्रेभ्यो विद्यातपोविहीनेभ्यो मूर्खवृषलपाषण्डपतितादिभ्यश्चासत्कृतं स्वागतोक्तिपादप्रक्षालनाद्यादरसूचकक्रियारहितमवज्ञातं तिरस्कारवाक्संयुक्तं यद्दानं दीयते तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

एवमाहारस्य यज्ञतपोदानानाञ्च सात्त्विकादिप्रभेदेन त्रैविध्यमुक्त्वा तत्र वैगुण्यपरिहाराय जगत्पावनभूतं भगवन्नामनिर्देशमाह—ओमिति । ओम्, तत्, सत्, इत्येवं जातीयको ब्रह्मणो महापुरुषश्रीरामस्य त्रिविधस्त्रिप्रकारको निर्देशो ब्रह्मप्रतिपादकः शब्दः स्मृतोऽस्ति वेदपारगैरिति शेषः। तेन त्रिविधेन ब्रह्मनिर्देशेन ब्राह्मणाः। ब्राह्मणपदमत्र वेदाधिकारित्रैवर्णिकपरम्। तथा च त्रैवर्णिकाः कर्मानुष्ठातारोऽधिकारिणो वेदाः कर्मप्रतिपादका

इदानीं तामसं दानमुदाहरति—अदेशकालइति । अदेशकाल इत्यत्र देशकालशब्दौ पुण्यदेशकालपरौ, तथाच पुण्यदेशरहिते—मगधादौ निषिद्ध म्लेच्छादिसंसर्गदूषिते च संक्रान्त्यादिपुण्यकालरहिते चापात्रेभ्यश्च दानयोग्यताविरहितेभ्यो मूर्खपतितवृषलादिभ्यश्चासत्कृतं पादप्रक्षालनादिसत्काररहितमवज्ञातं सावज्ञं क्रोधेनाऽविवेकेन वाऽवज्ञां विधायेत्यर्थः । यद्दानं दीयते तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

एवं सत्वादिगुणभेदेनानुष्ठातॄणां पुरुषाणां सात्विकराजसतामसत्वेन त्रैविध्यमभिधाय तत्तद्रुच्यनुगुणग्राह्याहारस्यापि त्रैविध्यमभि-

मन्त्रब्राह्मणात्मकाः सर्वेऽप्याम्नायाश्च यज्ञा वाजपेयराजसूयाश्वमेधादयश्च श्रौतस्मार्तकर्मविशेषाः पुरा सर्गादौ मयैव विहितास्तत्तदनुगुणव्यवस्थया सम्पादिता इत्यर्थः। तदुक्तमुपनिषत्सु—ओंकारप्रभवा ओंकारप्रभवाः स्वराः। ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्। भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः। यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति। एवं तत्सत्पदयोरपि जगद्बीजत्वं श्रुतिस्मृतिषु स्पष्टमुपलभ्यते। अतः श्रेयोऽर्थिभिरयंनिर्देशः पापापनुत्तये प्रेम्णा जप्तव्य इत्युपदिष्टम्भवति ॥२३॥

हितं ततस्तत्तदाहारविशिष्टपुरुषैरनुष्ठीयमानयज्ञतपोदानानामपि त्रैविध्यं स्पष्टीकृतम्। एतेन श्रेयोऽर्थिभिः सात्विकाहारविशुद्धसत्वैः पुरुषैर्यज्ञतपोदानान्यपि सात्विकान्येवानुष्ठेयानीति निर्णीतम्। अथ मन्त्रद्रव्यक्रियानुष्ठानवैगुण्येन देशकालादिवैलक्ष्येण च सात्विकेष्वपि यज्ञतपोदानादिषु यथोक्तं फलं नोत्पद्येतेति तेषु साद्गुण्यसम्पादनाय 'यस्य श्रुत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्, इति न्यायेन महापुरुषस्य त्रिविधनामनिर्देशः परमावश्यक इति तदभिधत्ते-ओं तत्सदिति। ओम्' तत्' सत्, इति त्रिविधस्त्रिप्रकारकोऽयं निर्दिश्यतेऽभिधायतेऽनेनेति निर्देशोऽभिधायको ब्रह्मणो महापुरुषादवाच्यस्य श्रीरामस्य स्मृतः स्मृतिविषयतां नीतस्तत्वविद्भिः। तथा ह्यत्र श्रुतिस्मृतयः 'ओमिति ब्रह्म, (तै. १।८) 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, (छा १।३।१) 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भव्यं भविष्यदिति सर्वमोंकार एव, (मा-उ ५) 'अकारः

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।

अथौंकारान्वयप्रकारमभिदधाति—तस्मादिति। तस्मादो-

प्रथमाक्षरो भवति उकारो द्वितीयाक्षरो भवति, मकारस्तृतीयाक्षरो भवति, अर्धमात्रश्चतुर्थाऽक्षरो भवति, विन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति, नादः षष्ठाक्षरो भवति, तारकत्वात्तारकोभवति, तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि, तदेवोपासितव्यम् (रामोत्तरतापन्याम्) 'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' (का०१।२।१५) एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम्, (का०१।२।१६) इत्यादिश्रुतिषु प्रणवस्य ब्रह्माभिधायकत्वं सिद्धम्। 'यत्तत्पदमनुत्तमम्, इत्यादिस्मृतिषु तत्पदस्य ब्रह्माभिधायकत्वं स्पष्टम्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदिति' 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः, इत्यादिश्रुतिषु च सत्पदस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वं दृष्टम्। एवञ्च ओमिति तदिति सदिति च परमात्मनो निर्देशः शास्त्रेषूपलभ्यते। अत एव वैदिककर्मारम्भे ओमित्यादिपदं प्रयुज्यते। तेन त्रिविधेन निर्देशेन पुरा सृष्ट्यारम्भे ब्राह्मणाः वेदोदितवर्णाश्रमधर्मपालकास्त्रैवर्णिका वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः यज्ञशब्दस्तपोदानादीनामप्युपलक्षणम्। उत्तरत्र यज्ञदानतपःक्रिया इत्याद्युपादानात् ॥ यद्यपि 'वाचा विरूप नित्यया, 'अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा, इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्योऽपौरुषेयस्याम्नायस्य नित्यत्वेन नोत्पादकत्वरूपं विहितत्वमत्र निर्दिष्टं तथापि तत्पूर्वकल्पवत्प्रवर्तितत्वरूप बोध्यम्। अत एव 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादिश्श्रौतवचनानि संगच्छन्त इति दिक् ॥२३॥

एवं सामान्येन 'ओं तत्सत्' इति ब्रह्मनिर्देशस्य ब्राह्मणेषु कल्या-

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

ङ्कारस्य परमात्मनः प्रथमवक्तृत्वाद्धेतोः। 'ओम्' इत्युदाहृत्य समुच्चार्य ब्रह्मवादिनां वेदाध्ययनशीलानाम् । विधानोक्ता विधिवाक्याभिहिताः । यज्ञदानतपःक्रियाः प्रागुक्ताः सात्त्विकादिभेदभिन्ना निखिलाः क्रियाः प्रवर्त्तन्ते प्रवर्त्तमाना भवन्ति ॥२४॥

द्वितीयनिर्देशस्य प्राशस्त्यमाह—तदिति । मोक्षकांक्षिभिणकारित्वाद् यज्ञादिषु तदनुगुणफलप्रदायित्वात् समन्वयोऽदर्शि। इदानीं प्रत्येकावयवस्य साफल्यं दिदर्शयिषुरादावोंकारस्यान्वयप्रकारमभिधत्ते—तस्मादिति । यस्मादयं प्रणवः सर्ववेदाऽभिव्यञ्जकत्वेनाधारत्वेन चादिमः परमात्मनोऽभिधायकस्तस्मादोमित्युदाहृत्य ब्रह्मवादिनां वेदाधिकारित्रैवर्णिकानां विधानोक्ता विधीयतेऽनेनेति विधानं विधिवाक्यं तत्प्रतिपादिता यज्ञदानतपःक्रियाः पूर्वोदितानां यज्ञदानतपसां याः क्रिया विद्ध्यनुगुणाऽनुष्ठानानि सततं प्रवर्तन्ते । एतच्च विवृत्तं भगवता वेदव्यासेन—'प्रणवस्य ऋषिर्ब्रह्मा गायत्रीच्छन्द उच्यते । देवोऽग्निः सर्वकर्म्मादौ विनियोगः प्रकीर्तितः ॥ इति । मनुनाऽपि 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा, इति । एवञ्च प्रमादवशात् क्वचिदनुष्ठानवैषम्येऽपि कर्मारम्भेऽखिलपावनस्य भगवन्नाम्न ओंकारस्य सादरमधीतत्वेनारब्धस्य कर्मणोऽञ्जसा साफल्यमुपयातीति भावः ॥२४॥

अथ द्वितीयस्य परमात्मनो निर्देशस्य तच्छब्दस्यान्वयप्रकारं

दानक्रियाश्च विवधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

स्त्रैवर्णिकैः फलप्रत्याशाम्परित्यज्य परमेश्वरार्पणबुद्ध्या तदिति ब्रह्मनिर्देशमुदाहृत्य विविधा यज्ञादिरूपाः क्रियास्तपःक्रिया दानक्रिया गोभूहिरण्यान्नादिदानक्रियाश्च क्रियन्ते ॥२५॥

सच्छब्दस्यान्वयमाह—सद्भाव इति । सद्भावे-वस्तुनो वर्तमानत्वे साधुभावे सुकृतत्वे च । सदित्येतत्परमात्मनो निर्देशः प्रयुज्यते तत्त्वज्ञैस्तथा हे पार्थ! प्रशस्ते वर्णाश्रमधर्माधिकारिणां माङ्गलिके कर्मण्यपि सदिति शब्दः प्रयुज्यते ॥२६॥

दर्शयति—तदिति । मोक्षकांक्षिभिर्मुमुक्षुभिस्त्रैवर्णिकैः क्रियमाणस्य कर्मणः फलमनभिसन्धाय फलकामनाया अनुसन्धानमकृत्वैव ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतं 'एको नैकः स वः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्' इत्यादिप्रमाणप्रशस्तं तदिति ब्रह्मनिर्देशमुदाहृत्येत्यनुषज्यते यज्ञतपःक्रियाः—यज्ञशब्दोऽत्र वेदाऽध्ययनादेरप्युपलक्षणम् । तथा च वेदाध्ययनयज्ञतपःप्रभृतयः क्रिया दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते ॥२५॥

एवं तच्छब्दस्य प्राशस्त्यमुक्त्वा तृतीयस्य ब्रह्मनिर्देशस्य सच्छब्दस्यान्वयप्रकारमुच्यते—सद्भाव इति द्वाभ्याम् । नास्तीति प्रतीतिपरिपन्थिभूतं वस्तुनः सत्त्वं सद्भावस्तस्मिन् साधुभावे पुण्यकर्मणि साधुशब्दः प्रयुज्यते 'साधुकारी साधुर्भवति' इत्यादिषु तथादर्शनात् । तथा च पुण्यभावे चाशेषपदार्थेषु सदित्येतत्पदं परमात्मनो नामात्मकं प्रयुज्यते ब्रह्मवादिभिस्तथा प्रशस्ते वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानव-

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

प्रकारान्तरेण स्पष्टयति-यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञाध्ययनयोस्तपसि दाने च या स्थितिस्तद्विषय आस्तिक्यबुद्ध्याऽवस्थितिः सापि सदिति शब्देनोच्यते । किञ्च तदर्थीयं यज्ञाध्ययनतपोदानाय यत्कर्म तदपि सदित्येवोच्यते । एतेन 'ओं' तत्सदिति ब्रह्मणः पावनं नामत्रयं सर्वकर्मणामारम्भे तदन्ते च त्रैवर्णिकैः प्रेम्णोच्चारणीयमिति सिद्धम् ॥२७॥

एवं शास्त्रीयश्रद्धयाऽनुष्ठितस्य कर्मणः सात्विकत्वमुक्त्वाऽतोऽप्रतिषिद्धे कर्मणि हे पार्थ ! सदित्येतच्छब्दो युज्यते । अस्य 'युक्त' इत्यर्थस्तु न रमणीयः पूर्वोत्तरक्रियापदयोर्विभिन्नार्थप्रसंगात् ॥२६॥

पूर्वश्लोकार्थमेव प्रकारान्तरेण विवृण्वन् स्पष्टयति—यज्ञ इति । यज्ञे अत्रापि यज्ञपदमध्ययनस्योपलक्षणम् । अध्ययने यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिस्तत्तत्कर्मण्यनुष्ठातुं निष्ठा साऽपि सदितिपदव्यपदेश्या भवति । किञ्च तदर्थीयं वेदाध्ययनयज्ञतपोदानार्थकं यत्कर्म, अथवा तदर्थीयं ब्रह्मपदाभिधेयमहापुरुषार्थकं कर्म भगवत्प्रसादफलकमर्चनवन्दनाद्यखिलकैङ्कर्यरूपमपि चोऽप्यर्थकः । सदिति पदेनैवाऽभिधीयते । एवं 'ओम् तत्सत्' इति परमेश्वरस्य त्रिविधोनिर्देशः श्रेयःसम्पादक इति सर्वकर्मसु त्रैवर्णिकैरवश्यमुपादेय इति फलितं भवति ॥२७॥

एवं 'यज्ञे तपसि दाने च, इत्येतदन्तेन ग्रन्थेनोपक्रान्तस्य 'ये

असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

श्रद्धया कृतस्य तस्य नैष्फल्यकथनेन प्रकृतमुपसंहरति—अश्रद्धयेति । अश्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्धिवैधुर्येण यद् हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च तत्सर्वमसदित्युच्यते तच्चाश्रद्धया कृतं नैव प्रेत्य नो, इह परलोके इहलोके च श्रेयसे न भवतीत्यर्थः ॥२८

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

ꩠꩠ

शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेषां निष्ठा तु का' इति प्रश्नस्योत्तरं गीताचार्येण सम्यगभ्यधायि । निश्चितञ्चैतत् 'वेदाऽध्ययनयज्ञतपोदानादीनां शास्त्रमनुरुध्य सश्रद्धमनुष्ठान एवाधिकारिणः श्रेयःफलोपलब्धिर्नान्यथा । तथा च शास्त्रश्रद्धयोरुभयोरनुरोधोऽनुष्ठातुरावश्यकः । न केवलं श्रद्धानुरोधेन कार्यसिद्धिः 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्'

जगद्गुरु श्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

गीतार्थसुधा

वैधं शास्त्रीयकर्म त्रिगुणपरवशं यज्ञदाने तपश्च
त्रैविध्यं तस्य वैधं सुकृतियुतनरैः सात्त्विकैः सात्त्विकं वै ।
ग्राह्यं नैवासुरं तत् खलु फलरहितं लक्षणं तस्य सम्यक्
श्रीमत्कृष्णेन चोक्तं वरमिह दशमे सप्तयुक्ते प्रपाठे ॥१९॥

ꩠꩠ

भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच—

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥१॥

अथ तृतीयषट्कस्योपेयोपाययोर्निर्णये प्रवृत्तत्त्वात् स च निर्णयस्तत्सम्बन्धिपदार्थान्तरविचाराधीन इति क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं प्राकृतानां सत्वादिगुणानांस्वरूपलक्षणकार्याणि गुणस- (गीं० १६।) इत्युक्ताशि शास्त्रादिविधेः परित्यागेऽनर्थावाप्तिमुदाजहार स्वयमेव प्राक् । अधुना यः पुनः श्रद्धाविरहितं कर्माऽस्ति तदप्यसदित्यनेनाभिधीयते—अश्रद्धयेति । अश्रद्धया शास्त्रसमन्वितााऽऽस्तिक्यबुद्धिविधुरया हुतदत्तयोर्भावार्थत्वात्तत्र कृतमित्यन्वेति । तथा च यद्धवनं कृतं दानं कृतं तपस्तप्तञ्च तच्छ्रेयःप्रयोजनकत्वादसदित्युच्यते । प्रेत्य पारलौकिकसुखसाधनाय च नालमैहलौकिकफलायाऽपि च नालम् । हे पार्थ ! इति सम्बोधनेन शास्त्राज्ञापालनपूर्वकश्रद्धाविशिष्टायाः पृथायाः सूनोस्ते तु नैतत्सम्भवतीति भगवदाशयो व्यज्यते॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितमहामहोपाध्याय-स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

एवं प्रथमद्वितीयषट्कान्तःपातिद्वादशाध्यायान्तेन गीताशास्त्रेण कर्मयोगज्ञानयोगयोः स्वरूपं न्यरूपयद्भगवान् गीताचार्यस्तत्र तयोः स्वरूपविशोधनाय तत्रागतानां संदिग्धानां पदार्थानां स्पष्टप्रतिपत्तये

ज्ञजनितबन्धान्मुक्तिर्भगवतः सर्वनियामकस्य क्षराक्षरपुरुषाभ्यां परत्वं पुरुषोत्तमत्वञ्चोक्त्वा तत्प्राप्तये तस्यैव प्रपत्तिः समादरणीयेति निश्चितम् । इतः परमवशिष्टानां मुक्त्यौपयिकानामर्थानाम्प्रपत्तिस्वरूपोपयुक्तानामपि निर्णय आवश्यक इत्यवधार्याष्टादशाध्याय आरभ्यते । तत्र प्राग् गीताशास्त्र एव कचित् कर्मसन्न्यासोऽभिहितः कचिच्च कर्मफलत्याग एवोक्तस्तयोः किमवगन्तव्यमिति सन्देहो जायतेऽतस्तन्निर्णयकामोऽर्जुन उवाच-संन्यासस्येति । हे महाबाहो ! हे केशिनिषूदन ! हे हृषीकेश ! मच्छत्रून् कामक्रोधमोहादीनुन्मूल्य मदन्तरिन्द्रियं सन्मार्गे स्थापनीयमिति सम्बोधनत्रयेण सूच्यते । कर्मणां प्रसङ्गागतानां पदार्थानां निर्णयाय च तृतीयषट्कमुपाक्रमीत् । तत्र प्रधानोपायभूतायाः सपरिकरपरभक्तेः स्वरूपे निश्चयनीये तदङ्गानां स्वरूपशोधनमावश्यकमतः क्षेत्राध्यायादारभ्य श्रद्धाऽध्यायान्तेन ग्रन्थेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं सत्वादीनां गुणानाञ्च स्वरूपं भगवद्भक्त्या गुणातीतत्वावाप्तिर्बन्धोच्छेदाय संसारस्याश्वत्थवृक्षत्वेन रूपणं कृत्वाऽसङ्गशस्त्रेण तत्खण्डनञ्च विधाय परमपदप्राप्तये भगवत्प्रपत्तिमेवोपादिशत् । सा च भगवत्स्वरूपयाथात्म्यावगममृते न सम्भवतीति क्षराक्षरपुरुषाभ्यां भिन्नं ताभ्यामुपसेव्यमखिलजनसमाश्रयणीयं भगवन्तं पुरुषोत्तमपदवाच्यत्वेनाचीकथत् । अस्य परमपुरुषस्येदमनितरसाधारणं स्वरूपं दैवसम्पदभिजातस्य सात्विकान्नाहारोपचितश्रद्धस्यैव हृदयमधिरोहति नत्वासुरस्वभावपरवशानामितीममर्थंप्रत्यपीपदत् । अथात्र तृतीये 'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः,

संन्यासस्य कर्मफलत्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि । श्रुतिषु 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः' इत्यादिवचनैः कर्मसंन्यासस्यैव श्रेयोजनकत्वमुक्तं 'न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः, इत्यादि श्रुतिषु च त्यागस्यैव श्रेयःसम्पादकत्वमुक्तमित्यनयोः कर्मसंन्यासत्यागयोर्द्वयोः पार्थक्यमस्ति, अस्तिचेत्पृथग्फलदातृत्वं प्रत्येकस्य स्वातन्त्र्येण मोक्षप्रयोजकत्वम् च भवेत्, द्वयोरैक्यं-चेत् कुतो द्वयोर्विभिन्नपदेनोपादानम् ? किमत्र तत्त्वं तदहं वेदितुमिच्छामीत्यर्थः ॥१॥

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते, योगसंन्यस्तकर्माणं, इति चतुर्थे, 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी, इति पञ्चमे 'यत्करोषि यदश्नासि यत्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौतेय? तत्कुरुष्व मदर्पणम् इति नवमे, 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्, इति द्वादशेऽभिहितानां वचसां परस्परविरोधः परिहर्तव्यः। न हि युगपत् कर्माचरणं तत्त्यागश्च शक्यावनुष्ठातुम् । एवं कर्मसंन्यासे सति क्वावसरः कर्मफलत्यागस्येति विचिकित्सितोऽयमर्थः । अतः सर्वस्य शास्त्रार्थस्य समञ्जसत्वोपपादनायेममष्टादशाऽध्यायमारभते । अत्र निष्कृष्य सर्वानर्थानभ्यधाद्भगवाञ्छ्रीकृष्णः । अतश्चैनं निष्कर्षाध्यायत्वेन व्यवहरन्ति तज्ज्ञास्तत्र कर्मणस्त्यागस्य तत्संन्यासस्य च किं स्वरूपं तयोरैक्यमनैक्यं वेति संशयमापन्नस्तत्प्रतिवचनं श्रोतुकामोऽर्जुन उवाच—संन्यासस्येति । हे महाबाहो ! हे केशिनिषूदन ! इत्याभ्यां महान्तौ बाहू यस्य स तथा केशिनं निषूदयति यः स तथा इत्यर्थ-

श्रीभगवानुवाच–

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

कर्मसन्न्यासकर्मफलत्यागयोर्विषये स्वनिश्चयमभिधातुं श्रीभगवानुवाच–काम्यानामिति । वेदेषु नित्यनैमित्तिककाम्यरूपेण त्रिविधानि कर्माण्युपदिष्टानि तत्र नित्यानि यावज्जीकाभ्यां सम्बोधनाभ्यां शत्रुविनाशकृत्त्वमस्यतो ममाऽपि कामक्रोधमोहादीन् तत्वज्ञानविनाशकानरातींस्त्वं निषूदयिष्यसीति बोध्यते । हे हृषीकेशेति तृतीयसम्बोधनेन च सर्वेन्द्रियनियामकः स्वामी च त्वमस्यतो ममान्तरिन्द्रियान्तर्गतं संशयं व्युदस्य तत्र निश्चयात्मकज्ञानमाविर्भावयेति ज्ञाप्यते । संन्यासस्य त्यागस्य च पृथग् वास्तविकं स्वरूपं वेदितुमिच्छामि । अयमाशयः । वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः, (मु०) न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः, इत्याद्यनेकश्रुतिषु भगवदुक्तगीतावाक्येषु च निःश्रेयसप्रयोजकत्वेन कर्मसंन्यासः कर्मत्यागश्चोभावुदीरितौ तयोः संशयं जायते यदिमौ शब्दौ समानार्थकावुत भिन्नार्थकाविति यदि समानार्थकौ तर्हि कुतः शब्दान्तरेणव्यपदेशः ? यदि भिन्नार्थकौ तर्हि किमुभयोर्विधेयम् ? इत्येवमर्जुनस्य प्रश्नः ॥१॥

एवं कर्मणः संन्यासस्तत्फलस्य वा त्यागो विधेय इत्यर्जुनस्य विचिकित्सामपनेतुं विप्रतिपत्तिप्रदर्शनपुरस्सरं स्वनिश्चयमाविश्चिकीर्षया श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । नित्यनैमितिककाम्यभेदेन कर्मणस्त्रैविध्यं शास्त्रेषु प्रदर्शितम् । तत्र प्रत्यवायपरिजिहीर्षाप्रयोज्यानुष्ठानकर्मत्व-

वमग्निहोत्रं जुहोतीत्येवमादीनि भिन्ने जुहोतीत्यादीनि
नैमित्तिकानि तथा'चित्रया यजेत पशुकामः'इत्यादीनि काम्य-
कर्माणि। येषु काम्यकर्मणां कामनामाश्रित्य क्रियमाणत्वादैच्छि
कत्वमस्ति। कामनायां सत्यामसत्यां च कर्तव्यत्वमकर्तव्य-
त्वञ्चापद्यते। अतस्तेषां कर्मणां कवयः कर्मज्ञानवन्तः न्यासं
स्वरूपत्यागं संन्यासं विदुर्जानन्ति। विचक्षणाः कर्मयोगवि-
शारदास्तु 'सर्वकर्मफलत्यागं नित्यनैमित्तिककाम्यरूपाणां
सर्वेषां कर्मणां फलस्य त्यागमेव त्यागशब्देनाहुः। कर्मणामग्निहोत्रादिरूपाणां फलाभिसन्धिमपहाय यथाविध्यनुष्ठानं
कर्तव्यमेव। इदमत्र तात्पर्यम्। यत्र श्रुतिस्मृत्योर्मुमुक्षुमधिकृत्य
लक्षणावश्यकर्तव्यत्वाश्रयाणि नित्यानि नित्याग्निहोत्रसन्ध्यावन्दनादीनि,
निमित्तमासाद्य क्रियमाणानि नैमित्तिकानि पुत्रजन्मनिमित्तक-
जातेष्टयादीनि राहूपरागनिमित्तकस्नानादीनि। प्रायश्चित्तकर्मणामत्रै-
वान्तर्भावः। फलविशेषाभिलाषप्रयोज्यानुष्ठानकर्मत्वलक्षणैच्छिककर्त-
व्यत्वाश्रयाणि काम्यानि 'चित्रया यजेत पशुकामः, कारीर्या यजेत
वृष्टिकामः, 'प्रजाकामश्चातुर्होत्रा याजेत 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं
निर्वपेत् प्रजाकामः, इत्यादिरूपाण्यनेकानि श्रुतिष्वाम्नातानि। केशव-
काश्मीरिभट्टाचार्येण 'पुत्रकामो यजेत, इति काम्यकर्मणो विधायक-
वाक्यमुदाहृतं तच्छतपथादावभावात् काल्पनिकम्। एवमेषु त्रिविध-
कर्मसु फलकामनया काम्यकर्मणामनुष्ठेयता प्राप्नोति, तत्र मुमुक्षूणा—
मन्यकामनाया अभावादृते मोक्षादतः काम्यानामनुष्ठानमनावश्यकमि-
त्याशयेनात्र काम्यानां कर्मणां न्यासं स्वरूपतस्त्यागं संन्यासं

कर्मसंन्यासोऽभिहितस्तत्र स काम्यकर्मणां स्वरूपतस्त्यागाभि-
प्रायक एव। काम्यकर्मणां मोक्षौपयिकविद्यायां मोक्षे वा नोप-
योगस्तेषां फलविशेषाभिलाषयैवानुष्ठीयमानत्वात्। प्रत्युतापव-
र्गमार्गार्गलत्वमेव तेषामतस्तेषां स्वरूपत्याग एवाभिमतः।
यत्र पुनः कर्मफलत्यागोऽभिहितस्तत्र त्रिविधानामपि कर्मणां
फलमात्रत्यागे तात्पर्यम्। न च नित्यनैमित्तिकयोः कर्मणोः
फलं नास्ति, यतस्तयोर्जीवननिमित्तसंयोगादिना विधीयमा-
नत्वम्। फलसत्वे तु तयोरपि काम्यत्वापत्तेस्त्रिविधविभागवै-
यर्थ्यापत्तेरत एव कर्मसादृगुण्याय काम्यं कृत्स्नाङ्गोपेतमेवानु-
ष्ठेयमन्यथा कर्म वैगुण्यान्नैष्फल्यापत्तेः। नित्यानान्तु यथाशक्त्य-
ष्ठानादपि न दोष इति वाच्यम्, सर्वकर्मफलत्यागमित्यशेषा-
संन्यासपदवाच्यं केचिद्विद्वांसो विदुर्जानन्ति। काम्यकर्मणः स्वरू-
पेण त्यागमेव संन्यासमाहुः केचिद्विद्वांस इत्यर्थः। विचक्षणाः कर्मयो-
गनिष्णातास्तु सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मणां
फलस्य त्यागं सर्वाणि कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि भगवदाज्ञयैव केवलं
कर्मानुतिष्ठामि नास्य कर्मणः फलमाकांक्ष इति भावनया फलपरित्या-
गस्तमेव त्यागपदार्थं प्राहुः। ननु नित्यनैमित्तिकयोः कर्मणोरवश्या-
नुष्ठेयत्वेन विधानात् फलमेव नास्ति कुतस्तस्य त्यागः? काम्यानां
यद्यपि फलमस्ति तथापि तत्त्यागे महायाससाध्येषु तेषु प्रेक्षावतः
प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति कथमिदं सर्वकर्मफलत्यागबोधकं भगवद्वाक्यं
संगच्छतामिति चेदिदमत्र तत्वम्। नित्यकर्मणामपि कर्मविशेषाद्यनु-
ष्ठानयोग्यतापादकशुद्ध्यापादनद्वारा परम्परया कर्मविशेषसाध्यफ-

र्थकसर्वपदोपादानं कुर्वता भगवता स्वयमेव नित्यादेः फलवत्त्वस्याङ्गीकारात् । अत एव 'सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः। विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् । इत्यादिवचनानां सार्थक्यम् । अत एव च नित्यनैमित्तिकयोरनुष्ठाने प्रवृत्त्युपपत्तेः । सर्वकर्मफलत्यागमित्यत्र फलत्यागे काम्यकर्मण एवान्वयः सामर्थ्यात् । यस्य हि फलसत्वं स्यात्तस्य फलत्यागो युज्यते निष्फलस्य नित्यादेर्न फलत्यागे तात्पर्यमित्यपि न युक्तं नित्यादीनामपि फलवत्त्वस्पोपदादितत्वात् । त्वदुक्ततात्पर्येतु काम्यकर्मफलत्यागमित्येव ब्रूयात् सर्वपदोपादानस्य वैय्यर्थ्यात् । तस्मादुत्तरश्लोकमनुसृत्य कोटिद्वयस्यायमर्थः काम्यकर्मणः स्वरूपत्यागः कर्मसंन्यासपदेनोच्यते

छोत्पत्तिं प्रति साक्षात्कतिपयफलविशेषोत्पत्तिम्प्रति शुद्धविशेषोत्पत्तिं प्रति च हेतुतयैव शास्त्रप्रतिपन्नानामकरणे तादृशफलविशेषाद्यसिद्धेः प्रामाणिकत्वात । तथा चोक्तं स्मृतिषु—तत्र तृतीयाध्याये याज्ञवल्क्यः—निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् । त्रैकाल्यसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति, यमः—'यदह्वा कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा । आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां प्रणायामैर्निहन्ति च, । मनुः—वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्, व्यासश्च—सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलमाप्नुयात् । अनन्यचेतसः शान्ता ब्राह्मणा वेदपारगाः । उपास्य विधिवत् सन्ध्यां प्राप्ताः पूर्वे परां गतिम् । इति । नित्यादिकर्मणोनुष्ठानाभावे नरकादिपतनप्रयोजकपापसम्भवोप्युक्तः ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

फलत्यागस्तु त्रिविधानामपि कर्मणामभिधीयते । नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मणामनुष्ठानेऽपि फलत्यागमेव त्यागं प्राहुर्विचक्षणाः । ननु नित्यादेरनुकरणे प्रत्यवायदर्शनात् तदाचरणमावश्यकं काम्यकर्मणस्तु तथात्वाभावात् फलत्यागे च तेषुप्रवृत्तिरेव न स्यादिति चेन्मास्तु, कामिन एव तत्कर्तव्यताया चोदितत्वादित्यास्तां तावत् ॥२॥

एवं त्यागसंन्यासयोः स्वरूपमुक्त्वामतान्तरं दर्शयति —त्याज्यमिति । एके मनीषिणः सांख्याः दोषवद् हिंसादिदोषयोन्यतः कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तमः । विहाय सन्ध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम्।(विष्णुः)व्यासोपि-सन्ध्यामुपास्तेयो नैव ब्राह्मणो हि विशेषतः । स जीवन्नेव शूद्रःस्यात्न्मृतः श्वा चैव जायते। अतो निष्कलान्येव नित्यनैमित्तिककृत्यान्यकरणे त्वनर्थोत्पत्तिकारणान्यपीति स्वीकारे स्वतोऽखिलजगद्धितानुशासने प्रवृत्तस्य मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वल्लभतरस्य शास्त्रस्य निष्फलमेव दुष्करं कर्म विधाय तदकुर्वतां निष्कारणमेवानर्थप्रापणलक्षणो महानयं दोषः प्रसज्येत न खलु कारुणिकः कश्चन निष्कारणमेव निष्फले कस्मिंश्चित्कर्मणि कञ्चन पुरुषं नियुञ्जानोऽकुर्वतस्तस्य मस्तके प्रस्तरं प्रक्षिपति । तस्मान्नित्यादिकर्मणां फलमवश्यमेवास्ति नो चेत्तेषु-निष्फलेषु प्रवृत्तेरभावः प्रसज्येत ॥२॥

एवं कर्मणस्त्यागसंन्यासयोस्तात्पर्यमभिधाय तस्य मतान्तरेण हेयोपादेयत्वे अभिधत्ते—त्याज्यमिति । एके सांख्यमतानुयायिनो मनीषिणो दोषवत् कर्म त्याज्यं प्राहुः । यथा रागद्वेषादयो दोषाः

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥
निश्चयं श्रुणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।

युक्तत्वेन मोक्षमार्गप्रतिबन्धकत्वाद् यागादिरूपं कर्म त्याज्यं मुमुक्षुभिरिति प्राहुः । तत्रापि यज्ञदानतपोरूपं कर्म न त्याज्यं तस्यान्तःकरणशोधकत्वेन विद्यायामुपयोगित्वादित्यपरे कर्मठाः प्राहुः ॥ ३ ॥

हे भरत सत्तम ! एवं विभिन्नमतेषु सत्सु तत्र त्याग-विषये मे मम निश्चयं शृणु सावधानमाकर्णय । हे पुरुष-

सर्वथाऽनर्थोत्पादकत्वेन प्रेक्षावद्भिस्त्यज्यन्ते । तथैव कर्मणोऽप्यनर्थ-कारित्वेन अपवर्गोपायान्तरायत्वेन च मुमुक्षुभिस्त्याग एवोचितस्तत्रापि न हि सर्वमपि कर्म त्याज्यमेव कर्माचरणमन्तरेण क्षणमपि स्थातुमश-क्यत्वात्' किन्तु येषां मोक्षपरिपन्थित्वमस्ति तान्येव त्याज्यानि । यद्वा दोष-वदिति कर्मणो विशेषणम्—वाजपेयज्योतिष्टोमादिपाशुकयागानां हिंसा-प्राधान्याद्दोषवत्त्वमस्ति । तथा चोक्तं सांख्यैः—'दृष्टवदानुश्रविकः सह्यवि शुद्धिक्षयातिशययुक्तः, (ई-कृ-का-२) 'स्वल्पः संकरस्सुपरिहरः सप्रत्य-वमर्शः, (पंचशिखः) अपरे श्रुत्यन्तानुयायिनो मनीषिणस्तु विद्यो-पचायकत्वाद् यज्ञदानतपःकर्म यज्ञं नित्यादिरूपं दानं प्रात्य-हिकं विद्यायोग्यतापादकं तपोऽन्तःकरणविशोधकमेतत्त्रयमपि न त्याज्यमग्रे चैतेषां त्यागाकरणे स्वयमेव हेतुं वक्ष्यति 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणामि'ति ॥३॥

एवं त्यागे विप्रतिपत्तिमुद्घाट्य स्वनिश्चयमभिधत्ते-निश्चयमिति । हे भरतसत्तम ! तत्र विमतविषये त्यागे मे दृष्टपरावरतत्वस्य मम

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

व्याघ्र ! केषाञ्चित् कर्मणां स्वरूपतः केषांचित् फलतः केषांचित् कर्तृत इत्येवम्प्रकारेण त्रिविधस्त्यागः सम्यङ्मया तुभ्यं कर्मनिर्णयसमये प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

त्याज्यात्याज्यत्वे विवेचयति—यज्ञदानतपःकर्म योऽर्थि-भिर्न त्याज्यं किन्तु सर्वदा यावदायुषं तत्कार्यमेव 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषम् (छा.) इति श्रुतेः । एतेन 'विविदि-षोत्पत्तिं यावद्यज्ञादिकं कर्तव्यं जातायां विविदिषायान्तु 'सर्व

निश्चयं मयैवोदीर्यमाणमवहितमनाः शृणु । हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागो ह्यनुष्ठीयमानेषु नित्यादिकर्मसु त्रिविधः कर्मणां ममत्वत्यागः कर्तृत्व-त्यागः फलत्याग इति । तत्र मत्फलायैव कर्म मयानुष्ठितमिति तत्राभि-मानमात्रत्यागः प्रथमः, अहमेव करोमीति स्वस्मिन् कर्तृत्वानुसन्धानं कर्मकर्तृत्वं तस्य त्यागो द्वितीयो मत्कृतस्य कर्मणः फलं ममैव स्यादिति भावनायास्त्यागस्तृतीय एवं त्रिप्रकारस्त्यागो मुमुक्षुभिरनुष्ठेयः । उक्त-ञ्चैतत्स्वमुखेनैव भगवता—'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्म-चेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः, (गी. ३।३०) इति । अत्र मयि कर्माणि सन्न्यस्येत्यनेन स्वकर्तृत्वानुसन्धानत्यागो निरा-शीरिति फलत्यागो निर्ममो भूत्वेति च कर्मणि ममत्वत्याग इति स्पष्ट-मेव त्रिविधस्त्यागः प्रत्यपादि ॥४॥

प्रतिज्ञातं निश्चयमभिधत्ते—द्वाभ्याम् । यज्ञदानतपःकर्म यज्ञ-दानतपो रूपं कर्म मुमुक्षुभिर्न कदाचिदपि त्याज्यमपि तु तदाप्रयाणं याव-

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्माऽखिलं पार्थ ? ज्ञाने परिसमाप्यते, इत्युक्तेस्त्याज्यमेवेति मायिमतं प्रत्युक्तं श्रुतिसूत्रगीतादिशास्त्रविरोधात् । श्रुतिरुदाहृता 'आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्, (ब्र. सू०) गीताशास्त्रे च प्रत्यक्षमिदमेव वचनम् । किमर्थं कार्यमित्याह–यज्ञो दानं तपश्चैव वर्णाश्रमोचितानि यज्ञादीनि कर्माणि मनीषिणां विद्यावतां मुमुक्षूणां पावनानि पूर्वं विद्यानिष्पत्तियोग्यतापादकानि निष्पन्नविद्यस्य च फलशीघ्रत्वप्रयोजकानि ॥ ५ ॥

हे पार्थ ? एतान्यपि तु कर्माणि श्रेयोर्थिनां पावनकारकत्वादिमानि कर्माण्यपि सङ्गं फलानि च तेष्वहं करोमीत्सामर्थ्यं कार्यमेव । एवकारोऽवश्यकर्तव्यतां द्योतयति । तदाह श्रुतिः 'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषम्,(छा०) अस्मिन्नर्थे हेतुं निर्दिशति यज्ञो दानं तपश्चैव मनीषिणां पावनानिब्रह्मोपासनायां यज्ञादीनामन्तःकरणनैर्मल्यापादनद्वारोपयोगस्तस्मादामरणान्तं यज्ञदानतपांस्यनुष्ठेयान्येव । तदुक्तं योगियाज्ञवल्क्येन–'संसारभीरुभिस्तस्माद्विध्युक्तं कामवर्जितम् । विधिवत्कर्म कर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ॥ न देहिनां यतः शक्यं कर्तुं कर्माण्यशेषतः । तस्मादामरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिना सदा ॥ इति ॥५॥

हे पार्थ ! यस्मात् स्वयं पुण्यरूपत्वात्पवित्राणि अनुष्ठातॄणाञ्चाहर्दिवं विद्योपचायकत्वात्पावनकर्तॄणि तस्माद्यावदायुषं यथाविध्युपासनवदेतान्यपि यज्ञदानतपोरूपाणि मत्प्रीतिकराणि कर्माणि सङ्गमेतत्कर्माहं करोमीत्याग्रहं फलानि एतत्कर्माहमेतत्फलायैव विदध इत्यनेनेदं

कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

त्यभिमानं फलाभिसन्धिश्च त्यक्त्वा कर्तव्यानि निरन्तरमाप्रयाणादनुष्ठेयानीत्येव मे मदीयं मतं निश्चितमुत्तमं कर्मणां हेयोपादेयविषय उत्कृष्टं जानीहि ॥६॥

अथ ब्रह्मविद्योपचायकस्य । वर्णाश्रमनियतस्य नित्यादिकर्मणः परित्यागस्य तामसत्वमाह–नियतस्येति । तुना काम्यानां कर्मणां व्यवच्छेदः । नियतस्य वर्णाश्रमनियतस्य नित्यस्य नैमित्तिकस्य च कर्मणः संन्यासः स्वरूपत्यागो नोपफलमवाप्स्य इति कामनां त्यक्त्वा कर्तव्यान्याप्रयाणादनुष्ठेयनीति मम निश्चितं कर्मणां हेयोपादेयविषय उत्तमं सर्वोत्कृष्टं मतम् । त्वमपीदं मन्मतं सम्यगवधार्य संशयं त्यजेति भावः ॥६॥

एवं कर्मणां कर्तव्याकर्तव्ययोः स्वोत्कृष्टमतमभिधायेदानीं मतान्तराणां जघन्यत्वं तामसत्वं राजसत्वञ्चेत्युच्यते–नियतस्येति । तुशब्दः काम्यकर्म व्यवच्छिनत्ति । नियतस्य तु ब्रह्मविद्योपचायकत्वान्नित्यादेः कर्मणः संन्यासः स्वरूपत्यागो नोपपद्यते । कुत इति चेच्छरीरयात्रानिर्वाहायोत्तरोत्तरज्ञानसम्पत्तये च यज्ञशिष्टाशित्वमावश्यकतया पूर्वमुक्तं तृतीये 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैरिति । यज्ञशिष्टाशनानां सर्वकिल्बिषप्रहाणपूर्वकं मनसो वृद्धिरुपपद्यते 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इति मनसोऽन्नमयत्वश्रुतेः । मनोविवृद्धिप्रयोज्या करणकलेवरविवृद्धिस्ततोध्रुवाऽनुस्मृतिरुत्पद्यते तया च परमपुरुषार्थः सिध्यति । तदुक्तं छान्दोग्यश्रुतौ 'आहारशुद्धौ सत्व-

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

पद्यते । "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः" (गी० ३) इत्युक्तयज्ञशिष्टाशनालाभात् "ते त्वघं भुञ्जते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गी. ३) इत्युक्तपापाशनप्रसक्तेश्च नित्यनैमित्तिककर्मणः स्वरूपत्यागानुपपत्तिः। मोहादज्ञानात्तस्य वर्णाश्रमनियतस्य कर्मणः परित्यागस्तामसस्तमोजन्याज्ञान-कारणकत्वेन तमोहेतुकः परिकीर्तितः। तादृशः कर्मत्यागो विपरीतज्ञानहेतुरेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

राजसत्यागमाह–दुःखमिति । यन्नित्याग्निहोत्रादिसं-ध्यावन्दनादिरूपमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्म दुःखमित्ये-वात्यायाससाध्यत्वेन दुःखात्मकमस्तीत्येव कायक्लेशभयात्

शुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति। अनया रीत्या नित्यकर्मणां विद्यायां साक्षादुपयोगः सिध्यति । यदि तस्य संसृत्यापदकत्वमस्तीति मोहादज्ञानात् परित्यागः कृत-स्तर्हि स त्यागस्तामसः परिकीर्तितः । तमोगुणकार्यत्वादज्ञानान्नि-त्यादिकर्मणां त्यागस्तामस एव मुमुक्षुभिर्नायं त्यागः करणीय इति तात्पर्यम् ॥७॥

राजसबुद्धिमूलकराजसत्यागमभिधत्ते–दुःखमिति । नित्यनैमित्ति-कादिकर्मणां विद्योपचायकत्वान्मोक्षप्रयोजनकत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वमिति तु प्रागेव निर्णीतमेवं स्थिते बहुद्रव्यायाससाध्यत्वेन दुःखमित्येवेति यो मत्वा यत्कर्मकायक्लेशभयात्त्यजेत् प्रत्यक्षं सुखविशेषापादकं

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९॥

स्नानोपवासादितपोभिः कायक्लेशो भवत्येवातस्तद्भयाद्यस्त्यजेत् स राजसं रजःप्रधानं त्यागं कृत्वा त्यागफलं ज्ञानस्थितिलक्षणं नैव लभेन्न कदाचिदपि प्राप्नुयात् । कर्मज्ञानोभयनिष्ठ-योरभावादुभयभ्रष्टतैव करगता भवतीति भावः ॥ ८ ॥

इदानीं स्वाभिमतं सात्त्विकं त्यागमाह–कार्यमिति । हे अर्जुन ! कार्यमवश्यकर्तव्यमिति बुद्ध्या यन्नित्यादिकर्म सङ्गं तत्र ममतां तस्य फलं च त्यक्त्वा नियतमहरहोऽनुष्ठीयत एव स त्यागः सात्त्विको मतः । अस्य त्यागस्य भगवदुपासनोपा-चायकत्वमिति तदर्थः ॥ ९ ॥

तु किमपि फलमस्य कर्मणो नोपलभ्यते प्रत्युतैतस्यानुष्ठाने प्रत्यहं प्रातः स्नानसन्ध्यामहायज्ञादिसम्पादने शरीरस्य महान् क्लेशो-जायतेऽतोनिष्फलमिदं कर्म त्यक्तव्यमेव ज्ञानेन योगेन वा श्रेयः सम्पाद यिष्य इत्येवं कायक्लेशस्य भयान्नित्यादिकर्म परित्यजेत् सोऽ-धिकारी राजसं विवृद्धरजोजातत्वाद्यथावद् बुद्धिवैधुर्येण सम्पा-दितत्वाद्रजःप्रधानं त्यागं कृत्वा त्यागफलं ज्ञानोत्पत्तिलक्षणं नैव लभेत क्रियमाणस्य कर्मणस्त्यागे ज्ञानफलानुपलब्धौ चोभयभ्रष्टतैव नियतेतिभावः ॥८॥

पूर्वप्रतिज्ञातस्य रजस्तमोमूलत्यागापेक्षयोत्कृष्टस्य वस्तुयाथात्म्या-नुगुणस्वभावतया शास्त्रसम्मतस्य सात्विकत्यागस्य स्वरूपमभिधत्ते–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्यते ।

इदानीं सात्विकत्यागसम्पन्नस्य सर्वश्रेष्ठत्वं विवक्षुस्तल्लक्षणमभिधत्ते—नेति । सत्वसमाविष्टः सत्वेनात्मज्ञानसाधनभूतेन समाविष्टः सम्पन्नोऽत एव मेधावी यथार्थज्ञानधारणोऽत एव च्छिन्नसंशयस्त्यागी कर्मणि ममत्वफलासक्तिकर्तृकार्यमिति । हे अर्जुन ! यदवश्यकर्तव्यतया विहितं नित्यनैमित्तिकादिलक्षणं वर्णाश्रमोचितं मत्प्रीत्युत्पादकत्वेन मद्भजनादिरूपं कर्म नियतमहरहो नैरन्तर्येण सादरमेव सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव तत्र कर्मण्यासक्तिं तदनुष्ठानजन्यफलं चकारात्कर्तृत्वबुद्धिमपि त्यक्त्वा कार्यमित्येव क्रियते भगवदाज्ञापरिपालनात्मकत्वेनानिवार्यमिदं मत्कर्तव्यमिति मयाऽवश्यमनुष्ठेयमिति बुद्ध्याऽनुष्ठीयत एव सत्यागः शास्त्रीयसिद्धान्तसमाहतत्वात् सात्विकः सत्वगुणप्रधानो मतो वेदान्ततत्वविद्भिः स्वीकृत इत्यर्थः । एतादृक्कर्मणः सात्विकत्वं स्वयमेव वक्ष्यति 'नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते, ('गी. १८।२३') इति । अतोऽयं सात्विकत्यागो भगवद्भजनगर्भतया सत्वशुद्ध्युत्पादनद्वारा भगवन्निदिध्यासने साक्षादुपयुज्यते । एतदपि परमसिद्धान्ते स्वयमेव निश्चेष्यति—'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव । मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि, ॥ इति ॥ (गी. १८ । ५८) ॥९॥

तदेव सात्विकत्यागमभिधाय तादृशत्यागविशिष्टस्य स्वरूपमुपवर्ण्यते—नेति । सत्वसमाविष्टः सत्वेनात्मयाथात्म्यज्ञानोपायेन समाविष्टोऽत एव मेधावी यथार्थज्ञानसम्पन्नोत एव च च्छिन्नसंशयः कर्म-

त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी च्छिन्नसंशयः॥१०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

त्वबुद्धीनां त्यागी भगवदनुध्यानयुक्तोऽकुशलं कर्मानिष्टफलदं कर्म नैव द्वेष्टि कुशले कामनाधिकृत ऐहिके पारलौकिके च कर्मणि नानुषज्यते स्वकीयासक्तिं न करोति । परमपुरुषनिविष्टचेतस्त्वात्तथाविधकर्मसु रागद्वेषशून्यत्वादिति भावः ॥ १० ॥

प्रोक्तमुपपादयति—न हीति । देहभृता शरीरं भरणपोषणादिकर्मभिर्धारयता पुंसाऽशेषतः कात्स्न्र्येन कर्माणि न हि त्यकरणे स्वतन्त्रोऽहमित्यभिमानरहितो भगवन्निदिध्यासनमेव श्रेयसः साक्षात्साधनं न पुनरन्यत्किमपि तदिति शास्त्रीयनिश्चयेन व्युदस्तसन्देहस्त्यागी कर्मणि ममत्वफलासक्त्योर्विवर्जितो मुमुक्षुरकुशलमशुभफलदं कर्म न द्वेष्टि कुशले च कामनोन्नीतस्वर्गादिफलके च कर्मणि नानुषज्यते । 'अयमभिसन्धिः । पूर्वोक्तरीत्या नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मसु निर्ममत्वात् फलेच्छारहितत्वात्कर्तृत्वाद्यभिमानरहितत्वाच्च तेषु रागद्वेषरहितत्वाद्यदृच्छोपनतेनैव स्वकार्यं सञ्चालयन् भगवदाज्ञारूपंशास्त्रञ्च सम्मानयन् कर्माणि चानुतिष्ठन् तस्य कर्तृत्वाद्यभिमानस्य सङ्गस्य फलस्य च त्याग एव त्यागपदेन विवक्षितो न पुनः स्वरूपतस्त्याग इति तत्वम् ॥१०॥

एवं त्यागत्रैविध्यमुक्त्वा कर्मफलत्याग एव तस्य सर्वस्य सामञ्जस्यमित्युपपादयति—न हीति । देहभृतापदेन कर्मणामत्यागे हेतुताऽपि बोध्यते करणकलेवरं धारयता मनुष्येणाशेषतः कर्माणि न

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

क्तुं शक्यम् शरीरधारणोपयोगिनामशनपानादीनां कर्मणां त्यक्तुमशक्यत्वादिति भावः। कथं तर्हि कर्मत्यागश्रुतिः संगच्छतामत आह—यस्त्विति। यः कर्मस्वरूपज्ञानी पुरुषः कर्मफलत्यागी फलकर्तृत्वाभिमानरहितो भगवदाज्ञापालनमात्रमेव मत्कर्तव्यमिति निश्चित्य कर्माण्यनुतिष्ठन्नपि फलसङ्गविवर्जितः स एव त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

ननु फलेच्छामन्तराऽपि नित्यादिकर्मणामनुष्ठानेऽवश्यं फलनिष्पत्तिरवश्यमेव च तद्भोगाय संसृतिरिति कैवाशा हि त्यक्तुं शक्यानि। यतो देहधारणायोपयुक्तमशनादिकमनिवार्यं त्यजनं तच्च लोकशास्त्रमर्यादामनुसृत्य यज्ञशिष्टमेव ग्राह्यम्। तदर्थं शुचित्वापादकशौचस्नानादिकं प्राङ् निर्वर्त्य महायज्ञाद्यनुष्ठानमशक्यपरिहारम्। अतो नित्यनैमित्तिककर्मणां स्वरूपेण त्यागोऽशक्य एव। कथं तर्हि 'त्यागेनैके ह्यमृतत्वमानशुः, इति वचः संगच्छतामित्याशंक्याह-यस्त्विति। यस्तु कर्मविचक्षणः पुमान् कर्मफलत्यागी परमेश्वराज्ञया क्रियमाणैः कर्मभिस्तत्प्रीत्यतिरिक्तं फलं न कामय इत्येवमिच्छन् तत्फलपरित्यागशीलः स एव त्यागी संन्यासी चाभिधीयते नान्य इत्यर्थः ॥११॥

एवं गनेन ग्रन्थेननाभिसंहितफलानां नित्यादिकर्मणामनुष्ठानमावश्यकमित्युपपादितम्। अत्रेदमाशंक्यते फलेच्छाभावेऽपि सविध्यनुष्ठितानि कर्माणि फलमवश्यमर्पयिष्यन्ति न हि षण्डफलं कर्म सम्भवति। तथा च निष्पन्नकर्मफलभोगाय पुनः संसरणमावश्यकमेवेति

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित॥१२॥

निःश्रेयसस्येत्याशङ्कायामाह—अनिष्टमिति। अनिष्टमनभिमतदुःखोत्पादकं नरकादिकमिष्टं सुखजनकं स्वर्गादि मिश्रञ्चैहिकपुत्रराज्याद्येतत् त्रिविधं कर्मणः शुभाशुभकर्मणः फलमत्यागिनां कर्तृत्वममत्वफलाशात्यागरहितानाम्भवति न तु सन्न्यासिनां क्वचित्। भगवत्प्रपन्नानां मुमुक्षूणान्तु मोक्षातिरिक्तं किमपि फलं न भवतीत्यर्थः ॥१२॥

न जातु मुक्तेः प्रत्याशा तस्मात्त्याज्यमेव कृत्स्नं कर्मेत्याकांक्षायामभिधत्ते अनिष्टमिति। अनिष्टं नरकतिर्यगाद्यापादकमिष्टं स्वर्गाद्यापादकं मिश्रमिष्टानिष्टात्मकं पुत्रपश्वन्नाद्यैहिकफलमित्येतत् त्रिविधं सुकृतदुष्कृतलक्षणकर्मणः फलमत्यागिनां त्यागरहितानां कर्मणि कर्तृत्वममताफलाशायुक्तानां प्रेत्य कर्मानुष्ठानशरीरानन्तरं भवति न तु सन्न्यासिनां क्वचित्। मुमुक्षूणां कर्मसु ममत्वकर्तृत्वशून्यानां तादृशं श्रेयोऽन्रायभूतं फलं न भवतीत्यर्थः। अयमभिसन्धिः। नियतनिमित्तोपाधौ चोदितत्वेनानुष्ठीयमाननित्याग्निहोत्रादिकर्मणां मोक्षेऽप्युपयोगः सम्भवति। ननु जीवननिमित्तसंयोगेन विहितानि तानि न तु सौभरवत्सर्वकामार्थानि। ततश्च कथं तेषां मोक्षोपयोगित्वमपि स्यादिति चेन्न यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादि,त्यत्र दध्नः कामनानिमित्तोपाधौ चोदितत्वेन काम्यत्वाद् 'दध्नाजुहोती,ति वाक्यान्तरे कामसंयोगमनुपन्यस्य नित्यहोमसंयोगेन दधिविधानादेकस्यापि दध्नो वाक्यद्वयेन नित्यत्वं काम्यत्वञ्चाविरुद्धम्, एवमिहापि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन, इत्यादिश्रुतिषु विनियोगपृथक्त्वेनेष्य-

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

एवं कर्मफलासक्तानामेव कर्म बन्धाय भवति न तु फलाशाशून्यानामित्युपपाद्य सम्प्रति फलाशाराहित्यस्य सुकरोपायप्रदर्शनार्थमुपक्रमते- पञ्चेति । हे महाबाहो ! सांख्ये सम्यक् ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते चिदचिदीश्वरतत्त्वानि यस्मिन् तत्सांख्यं तस्मिन् कृतान्ते कृतोऽन्तो निर्णयो यत्रासौ कृतान्तः सिद्धान्तस्तस्मिन् वेदान्तशास्त्रोपपादितसिद्धान्ते सर्वकर्मणां हेयोपादेयानां सर्वेषां कर्मणां सिद्धये समुत्पत्तये प्रोक्तानि सम्यक् प्रतिपादितान्येतानि वक्ष्यमाणानि पंच कारणानि मे सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः परमात्मनः सकाशान्निबोध निश्चयपूर्वकमवगन्तुं सावधानो भव ॥१३॥

माणवेदनोत्पत्तिद्वारा यज्ञदानतपसां परम्परया साधनत्वान्मोक्षोपयोगित्वम् । एवञ्च 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते, (पु. सू.) इत्यादेरपि न वैयर्थ्यं वेदनस्य साक्षान्मोक्षोपायत्वात् । तस्मान्न नित्यादि कर्मणः स्वरूपत्याग इति । एतत्प्रकरणपर्यालोचनया त्यागसन्न्यासयोरप्यनर्थान्तरत्वमवगम्यते ॥१२॥

एव त्यागसंन्यासयोः स्वरूपमुपादर्शि । ततस्त्यागिनः कर्मणि कर्तृत्वसङ्गफलानां त्याग एव शास्त्रसम्मतस्त्यागो न पुनः कर्मणां स्वरूपतस्त्याग इत्येतदुपापादि । अथानादिकर्मवासनावासितान्तःकरणस्य जीवस्य कर्मसु कर्तृत्वानुसन्धानं दुस्त्यजमिति पार्थाशयं मनसिकृत्य सर्वशेषिणि सर्वात्मके भगवति श्रीरामे कर्तृत्वानुसन्धानेनैव

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथक् विधम् ।

प्रतिज्ञातमर्थमाह–अधिष्ठानमिति । अष्ठीयते भगवतन्निवृत्तिरित्येतदाम्नायरहस्य तमुपदिदिक्षुर्निर्व्यजिकृपाकूपारो भगवानादावनुष्ठीयमानेषु सर्वकर्मसु पञ्चानां कारणत्वं वक्तुमुपक्रमते–पञ्चेति । हे महाबाहो ! सांख्ये कृतान्ते, इति द्वाभ्यां सप्तम्यन्तपदाभ्यां न कापिलं तन्त्रमभिप्रेतं वक्ष्यमाणकारणपञ्चके कर्तृकरणयोः पार्थक्येन निर्देशात्, दैवमिति पञ्चमारकणे परमात्मनो ग्रहणाच्च । न च योगाद्रूढिर्बलीयसीति नियमादत्र रूढ्या कापिलतन्त्रमेव सांख्यपदेन ग्राह्यमिति वाच्यं प्रकरणवशादर्थसामञ्जस्याय तान्त्रिकैः क्वचिद् रूढार्थम्परित्यज्य योगलभ्यार्थस्यैव समादृतत्वात्, किञ्च प्रक्रान्ते वैदिकसिद्धान्तहृदयभूतगीताशास्त्रोपदेशे वेदविपरीतार्थाभिधायिनः कापिलतन्त्रस्य कोवाऽत्र प्रसर इत्यतः सांख्यमत्र सम्यक् ख्यायन्ते चिदचिदीश्वरतत्त्वानि यत्र तत्सांख्यं तस्मिन् कृतान्ते कृतोऽन्तो निर्णयो यत्र तस्मिन् सर्वाम्नायनिर्णीतोपेयोपायप्रतिपादकवेदान्तसिद्धान्त इति निष्कृष्टोऽर्थः । भाष्यकृद्भिरपि 'वेदान्तशास्त्रोपपादितसिद्धान्त, इतिसमुदितोऽर्थः प्रत्यपादि । तथा च श्रुतिशिरसि सर्वकर्मणा विहितनिषिद्धादीनां निखिलकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्तानि संशयविपर्ययराहित्येनोक्तान्येतान्यनुपदमुदीर्यमाणानि पञ्चकारणानि मे मत्सकाशान्निबोध नितरामवगच्छ । शुश्रूषोः सावधानतासम्पत्तये महाबाहो इति प्रसंशार्थं सम्बोधनम् ॥१३॥

प्रतिज्ञातमर्थमभिधत्ते–अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानमधिष्ठीयते स्वकर्मफलभोगायात्मना यत्तत्पञ्चभूतसंघातरूपं शरीरमेवाधिष्ठानं बाहुल-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

च्छरीरभूतेनात्मना यस्मिंस्तदधिष्ठानं भोगायतनं शरीरं तथा कर्ता क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वमस्य 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इत्याद्यनुशासनसिद्धं करणञ्च पृथग्विधं विविधव्यापारप्रवीणं द्विविधमपि बाह्यान्तःकरणं विविधाश्च पृथक्चेष्टाः प्राणनादयो व्यापारा ह्यत्र चेष्टापदेन लक्ष्यन्ते। एवं कारणचतुष्टयमुक्त्वा विशिष्टं पञ्चममाह-दैवमिति। अत्र कारणग्रामे पंचमं पञ्चसंख्यापूरणञ्च दैवमेव देवः सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरको हृद्यवस्थितो महापुरुषपदवाच्यो भगवान् श्रीराम एव। अस्यैव चाखिलकर्मनिष्पत्तौ हेतुत्वं वेदान्तप्रतिपाद्यमेतदायत्तत्वाज्जीवोपकरणकरणकलेवरादीनामिति श्रुतिस्मृतीतिहासाद्यनुमोदितः पन्थाः ॥१४॥

कारकर्मणिल्युट्। छान्दोग्येऽप्यधिष्ठानशब्दः शरीरनिबन्धनः श्रूयते—मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्, (छा८।१२।१) तथा कर्ता क्षेत्रज्ञोऽस्यापि परमपुरुषसंकल्पायत्तकर्तृत्वं 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्, (ब्र-सू०२ ३।३४)इत्यादिपषूपादितं करणञ्च पृथग्विधं ज्ञानग्राहकमिन्द्रियपञ्चकं कर्मारम्भकमिन्द्रियपञ्चकमुभयात्मकं मन इत्येकादशेन्द्रियाणि कर्तुरात्मनस्तत्तत्कार्यसम्पादने साधनभूतानि पृथग्विधान्यपि करणपदव्यपदेश्यानि करणत्वेन सर्वेषामविशेषेण ग्रहणात् करणमित्येकत्वव्यपदेशः। कर्मोत्पत्तिहेतूपन्यासात्करणशब्दोऽत्र कर्मेन्द्रियमात्रपर इति तु न युक्तं सूक्ष्मालोचने ज्ञानेन्द्रियाणामपि कर्महेतुत्वं स्पष्टमेव प्रतीयते। यथा तत्तत्कर्मसंकल्पे मनसः प्रयोज-

नमस्ति तथा तत्तत्कर्मणि चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियाणामप्यनिवार्यमस्ति प्रयोजनम्। न हि कश्चित् करेण क्रियमाणं किमपि कर्म चक्षुषाऽदृष्ट्वैवान्धवदनुतिष्ठति। तथा श्रोत्रेण प्रैषोच्चारणमश्रृण्वन्नपि कर्मारभते। न च चक्षुरादीनां परम्परया हेतुत्वादन्यथासिद्धत्वमिति वाच्यम्। सर्वकर्मसु मनोवदुभयेन्द्रिययोर्युगपत्प्रवृत्तेरनुभवगम्यत्वात्। चक्षुरादीनां प्रवृत्तिमन्तरेण कर्मेन्द्रियाणां मन्दप्रवृत्तेश्च। विविधाश्च पृथक्चेष्टा इन्द्रियव्यापाराणां पृथगुक्तत्वाच्चेष्टा पदेनात्र प्राणनादिव्यापारवन्तः प्राणादिपञ्चवायवो गृह्यन्ते। करणकलेवरधारणे प्राणानां प्राधान्येन श्रुत्यादिषु परिगणनात्। 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा०।५।१।१) भगवन्नेधि त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति, (छा०।५।१।१२) इति सर्वेन्द्रियप्राणसंवादे प्राणस्यैव श्रैष्ठ्यमङ्गीकृतमिति स्पष्टं छान्दोग्यपञ्चमे। अस्य वायुत्वेनैक्येऽपि वृत्तिभेदात्पञ्चधोक्तिः। उक्तञ्चैतत् 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते,(ब्र सू.) इति पारमर्षे सूत्रे। एते च प्राणापानसमानोदानव्यानाख्याः पञ्च प्राणनादिरूपाणि पञ्चकार्याणि कुर्वन्ति। नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्यानां पञ्चानातु व्यानेऽन्तरभावो ज्ञेयः, पार्थक्यमित्यपि केचित्। प्राणात्मकवायोर्व्यापारस्यैक्येऽपि वृत्तिभेदेन चेष्टावैविध्यमुपपद्यते। दैवं 'चैवात्र पञ्चमम्,, अत्राधिष्ठानादिकारणपञ्चके दैवं 'स्वार्थेऽण्,, देवो महापुरुषपदवाच्यः पुरुषोत्तमः सर्वात्मा श्रीराम एव पञ्चमं सर्वकर्मनिष्पत्तौ सर्वप्रधानं कारणमित्यर्थः। अयमेव परमात्मा सर्वप्रेरकः सर्वाध्यक्षः श्रुतिस्मृतिष्वसकृदुपदिश्यते 'भोक्ताभोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा, (श्वे ०) 'स कारणं करणाधिपाधिपः, (श्वे.)

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः, (श्वे.) 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः, (गी. १५) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, (गी.) महाभारते च अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा, इति । केचित्त 'दैवं दिष्टं भागधेयम्, पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते, इत्याद्यनेकप्रमणानुरोधाद्दैवशब्देनादृष्टमुच्यते तस्य च वर्तमानकर्मनिष्पत्तौ हेतुत्वमकृताभ्यागमकृतविप्रणाशादिदोषप्रसक्तिभियाऽवश्यमास्थीयत इति तदेवात्र पञ्चसंख्यापूरकमित्याहुस्तन्मन्दं प्रागनुष्ठितस्य यागादेः क्रियारूपत्वात्स्वरूपेण विनष्टत्वाच्छरीन्तरभाविनः स्वर्गादिरूपफलस्य कारणत्वमदृष्टद्वारैव वक्तव्यमदृष्टपदप्रतिपाद्यश्च कश्चिदतिशयविशेषस्स चात्मन्युत्पद्यत इति न्यायविदस्तदुक्तमुदयनाचार्य्यैः 'चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना. जैमनीयास्त्वपूर्वमाहुः प्रयाजाद्यङ्गानां विद्वद्वाक्यगतपौर्णमास्यादिशब्दप्रतिपाद्यानां त्रिकद्वयात्मकानां षड्यागानाञ्चानुष्ठानयौगपद्यासम्भवादपूर्वं चोत्पाद्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेतिवाक्याभिहितफलसम्बन्धो बोध्यते । अस्माभिर्वेदान्तिभिस्तु भगवदपृथक्सिद्ध संकल्प एवादृष्टपदाभिलप्यस्ततश्च धर्मधर्मिणोरभेद इति मतमाश्रित्य दैवशब्देनात्र सर्वफलप्रदाता परमात्मैव गृह्यते । दैवमिति स्वार्थेऽण् बोध्यः । दैवशब्दो देवताभिधायी वर्तत इत्यत्रानेकश्रुतिस्मृतयः प्रमाणम् । तथाहि, 'स एष ये चामुष्मात्प्राञ्चो लोकास्तेषा चेष्टे देवकामानाञ्चेतधिदैवतम्, (छा. १ । ६ । ८) 'नारसिंहे पुराणे 'सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्यभुजमुच्यते । शास्त्रं वेदात्परं नास्ति

शरीरवाङ्मनोर्भिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

इदानीं तेषां सर्वकर्महेतुत्वमाह–शरीरेति । नरो मनुष्यः शरीरवाङ्मनोभिः यत्कर्म प्रारभते निर्वर्तयति तत्कर्म न्याय्यं शास्त्रानुमोदितं वा भवेद् विपरीतं शास्त्रविपरीतं निषिद्धं वा भवेत् तस्य कर्मण एते पूर्वोक्ताः पञ्च हेतवो भवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

न दैवं केशवात्परम् (१८ । ३३) सभापर्वणि च 'श्रूयतां परमं दैवं दुर्विज्ञेयं मयापि च । नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः, एवमनेकप्रमाणैर्दैवशब्दो देवतापर्यायः । तत्रापि दैवमितिसामान्यनिर्देशात्सर्वकर्मसु कारणत्वेन व्यपदेशाच्च दैवशब्दोऽत्र सर्वप्रेरकं सर्वनियामकं परमपुरुषमेवाभिधत्ते । एवञ्चाधिष्ठानादिपञ्चके जीवस्य कर्तृतया व्यपदिष्टत्वेऽपि परमपुरुषसंकल्पायत्तकर्तृत्वमेव तज्ज्ञेयं न तु स्वातन्त्र्येण 'परात्तु तच्छ्रुतेः, (ब्र. सू.) इत्यादिसूत्रेष्वेतन्निश्चितम् । हेयोपादेयकर्मसु च निवृत्तिं प्रवृत्तिञ्च कुर्वाणं जीवं परमपुरुषस्तत्र तत्रानुमतिं प्रदाय निवर्तयति प्रवर्तयति चेत्येव सिद्धान्तः ॥१४॥

एवमेतेषां स्वरूपमुक्त्वा सर्वकर्महेतुतां दर्शयति–शरीरवाङ्मनोभिरिति । नरः कर्माधिकारी । मनुष्य इति यावत् । शरीरवाङ्मनोभिः शरीरेण वाचा मनसा यत्किञ्चिदपि न्याय्यं न्यायाच्छास्त्रादनपेतं शास्त्रीयाचारयुक्तं धर्म्यमिति यावत् । विपरीतं शास्त्रीयाचारपरिहीणं निषिद्धमिति यावत् । कर्म प्रारभते निष्पादयति तस्य सर्वस्य

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अधिष्ठानादिनिरूपणस्य फलमाह—तत्रेति । एवमधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सर्वस्मिन् कर्मणि सति तत्रकेवलमात्मानं कर्तारमस्य कर्मणोऽहमेवकर्त्ता नान्यः कश्चिदिति यः पश्यत्यवगच्छति सोऽकृतबुद्धित्वाद् गुरुशास्त्रोपदेशरहितबुद्धित्वाद् दुर्मतिहतोऽस्यात्मनः कर्तृत्वस्य परमपुरुषायत्तत्वं करणकलेवराणामपि भगवन्नियमनायत्तत्वमिति पारमार्थिकीं वस्तुस्थितिं न पश्यति । अस्य च दुष्टबुद्धेरयथार्थदर्शिनो न जगद्बन्धान्निवृत्तिरिति भावः ॥ १६ ॥

कर्मणः एते पञ्च कारणतयोपदिष्टाः पूर्वोक्ता हेतवो भवन्ति । एवं स्थितौ दैवपदपरमपुरुषश्रीरामस्य संकल्पमनुसृत्य सर्वकर्मनिर्वतकत्वं कर्मफलभोक्तृत्वञ्चाधिष्ठानादीनामेवेत्यवगन्तव्यम् ॥१५॥

अधिष्ठानादीनां पञ्चानां सर्वकर्मनिष्पादने हेतुत्वमित्युक्तमिदानीं तत्प्रयोजनमभिधत्ते—तत्रेति । एवमधिष्ठानादीनां पञ्चानामपि सर्वकर्मनिष्पादनहेतुत्वे सति तत्र केवलमत्मानमेव कर्तारमहमेक एवास्य कर्मणः कर्ता 'अहमेव निष्पादयामी,ति यः पश्यति जानाति स अकृतबुद्धित्वादपरिनिष्ठितबुद्धित्वाद् दुर्मतिदोषविशिष्टज्ञानाश्रय इत्यर्थः । दोषश्चात्र परमात्मायत्तकर्तृत्वं शास्त्रसम्मतं तत्परिहायाहमेव स्वतन्त्रः कर्तेत्यभिमानरूपस्तथाभिमन्ता जीवः शास्त्राचार्यसम्मतमर्थं न पश्यति यथाशास्त्रं न विजानातीत्यर्थः । अतएवासकृत्संसारबन्धमवाप्नोति । एतदुक्तम्भवति । सर्वकर्मसु परमपुरुषसंकल्पायत्तान्येव जीवस्य करणकले-

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

कर्म कुर्वन्नपि कर्तृत्वाभिमानशून्यस्य न कर्मकृतो बन्ध इत्याह—यस्येति । यस्य विरक्तस्य पुरुषस्य भावो मनोवृत्तिविशेषोऽहंकृतोऽहमेवास्य कर्मणः कर्त्तेत्यहंकारपूर्णो नास्ति यस्य बुद्धिर्न लिप्यते सर्वदानुष्ठेयकर्मसु यस्य बुद्धिर्ममैवैतत्कर्म तज्जन्यफलञ्चेति ममतां नाधत्ते स मुक्तसङ्गो विरक्तः पुरुष इमाँल्लोकान् हत्वापि विनाश्यापि न हन्ति हन्ता न भवति तत्क्रियाकर्मफलेन न निबध्यते । सुकृतदुष्कृतरूपफलं नोपभुज्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

वरादीनि प्रवर्तन्ते न तु स्वातन्त्र्येण जीवः प्रवर्तते तत्करणकलेवरादीनि वेत्येतत्सिद्धान्तं यो विजानाति स स्वकर्तृत्वाभिमानं जहातीत्यतः सम्यग्दर्शीत्यभिधीयते । यस्तु प्रोदीरितसिद्धान्तं विस्मृत्य स्वकर्तृत्वमेवानुसन्धत्ते स दुर्मतित्वादसमीचीनदर्शी जनुषान्ध एवेति तत्त्वम् ।१६

एवं केवलस्य स्वस्यैव कर्तृत्वमित्यभिमानवतो दुर्मतित्वं यथार्थादर्शित्वं चाभिधाय स्वकर्तृत्वाभिमानविधुरस्य सन्मतेः परवधबन्धनिवृत्तिमिदानीमभिधत्ते—यस्येति । यस्य भगवत्संकल्पायत्तं कर्तृत्वादिकं सर्वं न ममेति सद्बुद्धिसम्पन्नस्य भावो मानसोऽभिप्रायो नाहंकृतोऽहमेव स्वातन्त्र्येणास्य कर्मणः कर्तेत्यभिमाने नैव वर्तते । अधिष्ठानादेर्भगवदायत्ततयैव सर्वकर्महेतुत्वमिति निश्चयेन स्वाहङ्कारशून्यत्वादत एव बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । मत्कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमिति निश्चयान्नैतत्कर्मजन्यफलस्याप्यहं भोक्तातोऽनुष्ठीयमानं कर्म न मयि कम-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

एवं सात्विकत्यागं विस्तरेणाभिधायोद्रिक्तसत्त्वस्यैव पुंसः कर्मणि फलकर्तृत्वयोस्तत्र ममतायाश्च त्यागः सम्पद्यतेऽतः सत्वगुणस्योपादेयतासिद्धये त्रिविधकर्मविधिं तथा कर्मसङ्ग्रहश्चोपदिशति—ज्ञानमिति । ज्ञानं कर्मस्वरूपपरिज्ञानं ज्ञेयमनुप्यतिशयमावेशयितुं शक्नोतीति धियो बलात्कर्मफलावलेपविवर्जितः स कर्माधिकारी कर्तृत्वाभिमानशून्यः पुमानायोधन इमान् सन्निकृष्टवर्तिनः समस्तान् लोकान् किमुत भीष्मादीनेव हत्वा विनश्यापि न हन्ति हननक्रियाकर्तृत्वाभिमानशून्यत्वेन बधकर्तृत्वं नोपगच्छति । एतेन हत्वापि न इन्तीति व्याघातो निरस्तः । न निबध्यते नापि हननजन्यनरकपातादिरूपफलेन निबध्यते । तथा च श्रुतिः 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते इति । एतेन 'कथं भीष्ममहं संख्ये, 'नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम, इत्याद्यर्जुनाशंका सामस्त्येन निराकृता, उक्तरीत्या निष्पादकत्वोपपत्तेः ॥१७॥

कर्मण्यसङ्गस्याधिकारिणः कर्मलेपो नैव जायते तथाऽसङ्गः सत्वगुणोद्रेकादुपजायते । अतः सात्विकज्ञानाद्युपादानायोद्रिक्तरजस्तमःसंसृष्टस्य च ज्ञानादेर्हानाय कर्मविधेस्तदुपदर्शितकर्मसंग्रहस्य च त्रैविध्यमभिधत्ते—ज्ञानमिति । ज्ञानं विहितकर्मविषयकं ज्ञेयं प्रकृतिविकृतिभेदभिन्नं साङ्गोपाङ्गं कर्म परिज्ञाता तत्तत्कर्मपरिज्ञानयुक्तः कर्त्ता । एवं त्रिविधोक्तत्रिप्रकारा कर्मचोदना प्रवर्तनादिपदबोध्यः कर्मविधिरित्यर्थः । तथा च 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, इति सूत्रे शाबरभाष्यं

ष्ठेयं कर्म परिज्ञाता कर्मणः स्वरूपस्य यथावद्वेदितेति कर्मचोदना ज्योतिष्टोमाद्यखिलकर्मबोधको विधिस्त्रिविधः । स चेह क्रियाप्रवर्तकत्वार्थकचोदनापदेन बोध्यते । एवं कर्माख्यसङ्ग्रहोऽपि त्रिःप्रकार एव । करणं क्रियानिष्पत्तये साधकतमं द्रव्येन्द्रियोपकरणादिसाधनानि । कर्म ज्योतिष्टोमादिलक्षणमनुष्ठीयमानयागरूपम् । कर्ता फलस्वाम्यविशिष्टोऽधिकारी । यज्ञानुष्ठातेति यावत् । एवं विधिकर्मणोः संक्षिप्य निर्देशः कृतः ॥ १८ ॥

'चोदनेति क्रियाप्रवर्तकवचनमाहुरिति धर्मशब्दोदितज्योतिष्टोमादिकर्माणि प्रवर्तयद्वैदिकवाक्यं चोदनापदेनाभिधीयत इति फलितोऽर्थः । विवृतमेतच्छ्लोकवार्तिके 'किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ । तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते, (श्लो-वा-३) किं केन कथमित्यपेक्षितैः साध्यसाधनेतिकर्तव्यतांशैः पूर्णः प्रत्ययो विधौ पुरुषप्रवर्तने समर्थो भवति । तत्पूरणं च वाक्येनातो वाक्यमेव प्रवर्तकं चोदनोच्यते इति तदर्थः । एवञ्च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वमेव विधिपदशक्यतावच्छेदकमनुकूलत्वञ्चात्रजनकत्वं तच्च 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्हं वै शरणमहं प्रपद्ये, इति श्रुतेरादिदेवपरमपुरुषाभिप्रायवृत्त्येवेति निश्चयः । एवञ्च 'धाता यथापूर्वमकल्पयदि'ति श्रुत्यनुसारेण गतकल्पीयं वेदमेव पुनरस्मिन् कल्पेऽपि प्रवर्तनाद्वेदस्यापौरुषेयत्वंमपि सुरक्षितम्भवति । करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः संग्रहोऽपि त्रिविधः'दध्ना जुहोति', त्यादिषु क्रियाकरणत्वेन

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

एवं ज्ञानादीनां कर्मविधित्वं निरूप्य तेषु सात्त्विकस्यैव ग्राह्यतास्तीति विवक्षुस्तेषां सात्त्विकादिभेदान् दर्शयति-ज्ञानमिति । ज्ञानं विहितकर्मविषयकं कर्मानुष्ठेयं यत तत् कर्ता कर्मानुष्ठानकर्ता च गुणभेदतः सत्त्वादिगुणानां पार्थक्येन तत्प्रभेदतस्त्रिधैव गुणसंख्याने सत्वादिगुणकार्यसंकलने प्रोच्यते तान्यपि गुणप्रभेदेन भिन्नानि ज्ञानादीन्यपि यथावच्छृणु सावधानमाकर्णय ॥१९॥

द्रव्यादिकं 'साधकतमं करणम्, इति तस्यापि साधकतमत्वात् कर्तुरीप्सिततमं कर्म क्रियास्वरूपादिकं कर्त्ता 'इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति कारकचक्रप्रयोक्तृत्वाश्रयः कर्मानुष्ठातेति यावत् । एतत् त्रिप्रकारकमेव कर्मेति भावः ॥१८॥

एवमभिहितेषु प्रवृत्तिविधिविषयेषु ज्ञानज्ञेयज्ञातृषु सात्त्विकांशस्यैव मुमुक्षुभिरुपादेयत्वात्तेषां त्रैगुण्यात्प्रत्येकं सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधमस्तीत्येतज्ज्ञापयितुं प्रतिजानीते—ज्ञानमिति । ज्ञानं विहितकर्मविषयकं कर्म ज्ञानविषयमनुष्ठानयोग्यं कर्ता ज्ञेयकर्मानुष्ठाता, इत्येतत्त्रयमेवोपक्रान्तं 'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदनेत्यु—त्तरवाक्यगतानां करणादीनान्त्वत्रैवान्तर्भावात् । गुणभेदतः सत्वादिगुणानां भेदेन प्रत्येकं गुणसंख्याने—सत्वादिगुणानामभिभवानभिभवजनितकार्यतारतम्यसंकलने त्रिधैव प्रोच्यते । 'गुणसंख्यानपदेन कापिलं शास्त्रमुच्यते' इति जयतीर्थमुनिकृतं व्याख्यानं तु श्रुतिहृदयभूतगीता-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

तत्र सात्त्विकज्ञानमाह–सर्वभूतेष्विति । विभक्तेषु ब्राह्मणत्वादिजातिभिर्विभक्तेष्वन्योन्यं विलक्षणेषु सर्वेषु भूतेष्वेकं ज्ञानाकारतयाऽवस्थितं भावमात्मतत्त्वं येन ज्ञानेनाविभक्तं ब्राह्मणं क्षत्रियवैश्यादिभेदरहितमव्ययं निर्विकारमीक्षतेऽवलोकयति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥२०॥

रहस्योपदेष्टुर्भगवतोऽभिप्रायविरुद्धत्वाद् गुणसंख्याने गुणगणनप्रकरणे इति तदीयभाष्यविरुद्धत्वाच्च हेयम् । एतेन गुणसंख्यानं कापिलं तस्मिन्निति मधुसूदनव्याख्याऽपि प्रत्युक्ता, वक्ष्माणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने कापिले प्रोच्यत इत्यप्ययुक्तं, भगवद्वचसि दृढ़भक्तिश्रद्धासमन्वितस्य श्रोतुरर्जुनस्य स्तुत्या रुच्युत्पादनायोगात् तत्वकथने तन्त्रान्तरसम्मतेरयोगाच्च तान्यपि ज्ञानादीनि गुणभेदेन वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु सावधानमाकर्णय ॥१९॥

प्रतिज्ञातेषु सात्त्विकज्ञानमुच्यते-सर्वभूतेष्विति । विभक्तेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिरूपेण पार्थक्ययुक्तेषु सर्वेषु भूतेषु कर्माधिकृतेष्वेकं ज्ञानैकाकारतया वर्तमानं भावमात्मस्वरूपं येन ज्ञानेनाविभक्तं ज्ञानश्चात्रोपक्रमवशात् कर्मानुष्ठानकालिकमेव गृह्यते । तथा च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यत्वाद्यनेकजातिमत्स्वपि विचित्रसंस्थानविभागरहितमव्ययं व्ययार्हेष्वपि तेषु ब्राह्मणादिशरीरेषु निर्विकारं कर्मफलादिसम्बन्धरहितं कर्माधिकारावसर ईक्षते तज्जानं सर्वोत्कृष्टतया सात्त्विकं विद्धि । सर्वत्र साम्येनात्मस्वरूपानुसन्धानविषयकत्वादिति भावः ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विध्दि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्वार्थवदल्पश्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

राजसज्ञानमाह–पृथकत्वेनेति । तु शब्दोऽस्य सर्वस्मादपकृष्टत्वं द्योतयति । यज्ज्ञानं सर्वेषु भूतेषु नानाभावान् ब्राह्मणत्वादिभेदेन नानाभूतानात्मनः पृथक्वेन पृथग्विधान् शरीरसम्बन्धान् भिन्नप्रकारांश्च वेत्ति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि ॥२१॥

तामसज्ञानमभिधत्ते । यदिति । यत्तु ज्ञानमेकस्मिन् कार्येऽनुष्ठेये कर्मण्यतिक्षुद्रफले कृत्स्नफलवत्सक्तं समग्रफलप्रदे कर्मणीव सक्तमहैतुकं निष्कारणमतत्त्वार्थवत् । ज्ञानाकारेणैकरूपतयाऽवस्थितेऽप्यात्मनि वास्तविकार्थरहितमल्पमल्पफलजनकश्च यद्भवत्ति तज्ज्ञानं तामसमुदाहृतम् ।२२॥

क्रमाद्राजसं ज्ञानमभिधत्ते-पृथक्त्वेनेति । पूर्वस्मादप्रकृष्टत्वद्योतकस्तुशब्दः । यज्ज्ञानं सर्वेषु भुतेपु पृथक्त्वेन देहयोगाद् ब्राह्मणक्षत्रियादिसंस्थानभेदेन नानाभावान् तत्तदात्मनो भवानिति बहुवचनादात्मनां बहुत्वं स्पष्टीकृतम् । पृथग्विधान् देहसम्बन्धकृताकारप्रकारादियुक्तान् कर्मानुठानसमये वेत्ति येन ज्ञानेन साधनेनाधिकारी पुमानवगच्छति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि ॥२१॥

क्रमात्तामसज्ञानमुच्यते–यदिति । तुशब्दोऽस्य राजसादपकृष्टत्वद्योतकः । यत्तुज्ञानमेकस्मिन्नत्यल्पफलके कार्ये कृत्स्नवत् समस्तफल-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

एवं ज्ञानत्रैविध्यमुक्त्वा कर्मत्रविध्यमाह–नियतमिति । नियतं वर्णाश्रमाचारतया विहितं सङ्गरहितं कर्तृत्वाद्यात्मकसङ्गविरहितं फलं प्राप्तुमिच्छतीति फलप्रेप्सुः फलप्रेप्सुर्न भवतीत्यफलप्रेप्सुस्तेनाफलप्रप्सुना फलाभिसन्धिशून्येन पुरुषेणारागद्वेषतः कीर्त्यपकीर्त्तिहेतुकाभ्यां रागद्वेषाभ्यां विना कृतं भगवदाराधनतयैव विहितमित्यथः । यत् कर्म तत् सात्त्विकमुच्यतेऽभिधीयते ॥२३॥

दायककर्मवत्सक्तमनुष्ठातुस्तमःप्रकृतितया हिंसागर्भितप्रेतपूजनादिलक्षणेऽल्पफलकेऽपि कर्मणि 'अस्यानुष्ठानेन मे सर्वसिद्धिर्भविष्यति, तादृशेऽतिक्षोदीयःफले कर्मणि रागावशात् सक्तमितिभावः । अहैतुकं बुद्धिमत्सङ्गहेतुरहितमतत्त्वार्थवद् वास्तविकार्थरहितमल्पञ्चात्यल्पफलकं सत्स्वरूपेणाप्यल्पमेव भूतादिपूजनस्याल्पाकारत्वात्तदल्पत्वोक्तिरितिभावः । तत्तामसं तमोगुणसम्बन्धिज्ञानमुदाहृतम् ॥२२॥

एवं कर्माधिकारिनिष्ठज्ञानस्य सात्विकादिभेदेन त्रैविध्यमभिधायानुष्ठेयस्य कर्मणोऽपि गुणभेदेन त्रैविध्यमभिधीयते—नियतमिति नियतं वर्णाश्रमोचिताचाररूपेणानुष्ठानीय विहितं संगरहितं कर्तृत्वममत्वरहितमेतत्कर्मणोऽहमेव कर्ता मयानुष्ठीयमानमेतत्कर्म फलं प्रदास्यति, इत्यभिनिवेशरहितमित्यर्थः । अरागद्वेषतः कृतं राग एतत्कर्मण्यनुष्ठते लोके प्रतिष्ठा मे भविष्यति, इति धिया कर्मणि प्रीतिर्द्वेषोऽनने कर्मणा शत्रुं हनिष्यामीति दुरभिप्रायस्ताभ्यां न कृत-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिन्सामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।

सात्त्विकं कर्माभिधाय राजसमाह–यदिति । यत्तु कर्म यत् पुनः कर्म कामेप्सुना फलाकांक्षिणा साहङ्कारेण वा पुनः। चार्थकोऽत्र वाशब्दः । अहमेवेदं कर्म करोमीत्यभिमानशालिना च पुरुषेण बह्वायासवीशिष्टं क्रियते विधीयते तत् राजसं रजोगुणहेतुकमुदाहृतमभिहितम् ॥२४॥

अथ तामसं कर्माह–अन्विति। अनु पश्चात् करणानन्तरमित्यर्थः । बध्यते सम्बध्यत इत्यनुबन्धस्तं दुःखाद्यनिष्टं क्षयं द्रव्यादिनाशं हिंसां तस्मिन् प्राणिपीडां पौरुषं स्वस्मिन्नारन्धकर्मसमापनसामर्थ्यञ्चानपेक्ष्य मोहाद् भगवत्कर्तृत्वामफलप्रेप्सुनैहिकपारलौकिकफलाभिसन्धिरहितेनाधिकारिणा कृतं यत्कर्म तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥

राजसं कर्मोच्यते–यदिति । तुना सात्विककर्मणोऽस्यापकृष्टत्वं द्योत्यते । यत्तु पुनः कामेप्सुना कामनाविषयफलविशेषमाकांक्षता साहंकारेणाहमेवेदं कर्म कर्तुं समर्थो नाऽन्य इत्यभिमानेन। चार्थको वा शब्दः । बहुलायासं करणकलेवरायासबहुलं यत्कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

तामसं कर्मोच्यते–अनुबन्धमिति । अनु पश्चात् बध्यत इत्यनुबन्धः कर्माचरणानन्तरं दुःखाद्यशुभं क्षयं परिणामे द्रव्योपकरणोत्साहशक्तिविनाशो हिंसा कर्मानुष्ठानकाले कर्मफलप्राप्तौ च प्राणि-

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥
मुक्तसङ्गोऽनहं वादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्योसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥२६॥

ज्ञानाद् यत् कर्मारभ्यते क्रियते तत् कर्म तामसं तमोगुणहेतुकमुच्यते ॥२५॥

कर्तुस्त्रैविध्यमाह–मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः। मुक्तसङ्गः फलकामनारहितोऽनहंवादी कर्तृत्वाहंकाररहितो धृत्युत्साहसमन्वितः कर्माचरणसमये प्राप्तस्यापरिहार्यदुःखस्य धारणं धृतिरुत्साहः कर्मणि लग्नमानसत्वं ताभ्यां समन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः फलसिद्धावसिद्धौ च विक्रियारहितः कर्ता कर्मानुष्ठाता सात्विक उच्यते ॥२६॥

पीडां पौरुषमात्मनः प्रारब्धकर्मणः समापनसामर्थ्यञ्चानवेक्ष्यैतत्सर्वमविचार्य मोहादज्ञानात्सर्वकर्मसिद्धिर्महापुरुषप्रसादसाध्येति विस्मृत्य यत्कर्मारभ्यते तत्तामससमुच्यते ॥२५॥

इदानीं कर्मानुष्ठातृभूतं कर्तारं त्रिविधमभिधत्ते–मुक्तसङ्ग इत्यादित्रिभिः । मुक्तसङ्गोऽनुष्ठीयमानकर्मणि फलाभिलाषवर्जितेऽनहंवादी अहंवदति तच्छीलोऽहंवादी नाहंवादीत्यनहंवादी स्वानुष्ठीयमानकर्मण्यहमेवास्य कर्तेत्यहंकारवर्जितो धृत्युत्साहसमन्वित आरब्धकर्मण आसमाप्ति मध्ये सम्पद्यमानावर्जनीयदुःखसहनं धृतिरुत्साहः कर्मानुष्ठानेऽवश्यमिदं करिष्यामीत्यनुरागवृत्तिस्ताभ्यां समन्वितः संयुक्तः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारोऽनुष्ठीयमानकर्मणः फलसिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकादिमनोवृत्तिरहितो भगवदाज्ञारूपशास्त्रपालनमावश्यकमितिमत्वा

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिन्सात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतस्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः ।

राजसकर्तारमाह—रागीति । रागी विषयानुरागवान् कमफलप्रेप्सुः स्वर्गादिकर्मफलाभिलाषुको लुब्धः कर्मापेक्षितधनव्यये कृपणो हिंसात्मकः स्वकर्म निष्पादयितुं परपीडकस्वभावोऽशुचिः कर्मानुकूलशौचशून्यो हर्षशोकसमन्वितः कर्मफललाभालाभप्रयुक्तहर्षशोकयुक्तः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितोऽभिहितः ॥२७॥

तामसकर्तारमाह—अयुक्त इति । अयुक्तोः विहितकर्मानर्हः प्राकृतः कर्मपरिज्ञानरहितः स्तब्ध आचार्यब्राह्मणादिपूज्यवर्गेष्वनम्रः शठः परप्रतारणवृत्तिको नैकृतिकः परक्लेशेन स्वार्थ-

वर्णाश्रमोचिते कर्मणि प्रवृत्तो न तु फलोपलिप्सयेति तत्फललाभालाभयो र्निर्विकारस्तैवसम्पद्यत इति भावः । एवंभूतः कर्त्ता सात्विक उच्यते ॥२६॥

राजसं कर्तारं निर्वक्ति- रागीति । रागी सर्वेन्द्रियविषयेषु सतृष्णः कर्मफलप्रेप्सुरनुष्ठीयमानस्य कर्मणः सांसारिकं फलं प्राप्तुमिच्छुर्लुब्धः कर्मणिवित्तशाठ्यसमन्वितो हिंसात्मकः स्वकर्मनिर्वृत्तये परपीडाप्रापकोऽशुचिः कर्मानुगुणशौचविवर्जितो हर्षशोकान्वितः कर्मफलप्राप्त्यप्राप्त्योर्हर्षशोकसमन्वितो युद्धविजयपराजययोर्विषये हर्षशोकपरायण इति फलितार्थः । एतादृशः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

तामसं कर्तारं निर्वक्ति—अयुक्त इति । अयुक्तो विहितकर्मानर्हः प्राकृतः कर्मापरिज्ञाता स्तब्धोऽविनयी शठो वञ्चको नैकृतिकः परान्

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

साधनतत्परोऽलसोऽवश्यकर्तव्यकर्मणि प्रवृत्तिरहितो विषादी निरन्तरं मनस्तापकर्ता दीर्घसूत्री चातिविलम्बेन कर्मचालको यः कर्ता स तामसः कर्तोच्यते ॥२८॥

ज्ञानकर्मकर्तॄणां त्रैविध्यमुक्त्वा बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं गुणभेदेनाह—बुद्धेरिति । हे धनञ्जय ! बुद्धिर्विवेकपूर्वको निश्चयस्तस्याधृतिर्विघ्नबाहुल्येऽपि मनः स्थैर्यं तस्या धृतेश्चैव भेदं गुणतस्त्रिविधं पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानं त्वमशेषेण सावधानमनसा कात्स्न्र्येनाकर्णय ॥२९॥

क्लेशयित्वाऽपि स्वार्थसाधकोऽलस आलस्ययुतो विषादी निरन्तरं मनःसन्तापकर्त्ता दीर्घसूत्री चातिबिलम्बेन कर्मविधायकः कर्त्ता तामस उच्यतेऽभिधीयते ॥२८॥

एवमनुष्ठानसमऽयेनुसन्धानात्मकज्ञानस्यानुष्ठेयकमणस्तदनुष्ठातुश्च क्रमेण गुणतस्त्रैविध्यमभिहितमिदानीं सर्वकर्मव्यवस्थापिकायाः शास्त्रादिजन्याध्यवसायरूपाया बुद्धेर्धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यमभिधातुं—प्रतिजानीते—बुद्धेरिति । बुद्धेरध्यवसायात्मकस्य ज्ञानस्य धृतेश्चैव प्रवृत्तेः कर्मण्यनेकविघ्नोपस्थितावपि तत्सोढुं क्षमता तस्याश्च सत्वादि गुणतस्त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन हेयोपादेयविवेकेन मया प्रोच्यमानं त्वमशेषेण कात्स्न्र्येन सावधानमाकर्णय । हे धनञ्जय ! दिग्विजयसमये दैवं मानुषञ्च धनं यया बुद्ध्या धृत्या च त्वं जितवानसि सैव धीर्धृ-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥३०॥

सात्विकीं बुद्धिमाह—प्रवृत्तिमिति। हे पार्थ ! प्रवृत्तिमैहिकपारलौकिकफलसाधनं धर्मं निवृत्तिमपवर्गसाधनं धमञ्च कार्याकार्ये देशकालौ सम्प्रधार्य तदनुरोधने कर्तव्याकर्तव्ये भयाभवे भयाभयनिमित्ते बन्धं बन्धनोपायं मोक्षं मुक्तेरुपायभूतमहरहो भगवन्निदिध्यासनञ्च या बुद्धिर्वेत्ति। अत्र कर्तृत्वमौपचारिकम् सा बुद्धिः सात्विकीत्यवेहि ॥३०॥

तिश्च सर्वपुरुषार्थसंसिद्धयेऽधुना समुपादेयेति संम्बोधनाऽभिप्रायः ॥२९॥

तत्रादौ सात्विकीं बुद्धिमभिधत्ते—प्रवृत्तिमिति । हे पार्थ ! प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिश्च, अत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिशब्दौ तज्जनकलक्षकौ तथा च प्रवृत्तिरैहिकपारलौकिकप्रवृत्तिजनको धर्मस्तं निवृत्तिरपवर्गजनको विद्योपचायकाचाराचरणरूपो धर्मस्तदुक्तं मोक्षधर्मे 'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथोऽब्रवीत् । निवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत्' (२।१९।३) इति । तच्चकार्याकार्ये देशकालाधिकारिभेदेनेदमनुष्ठेयमिदं नेतिविचारयुक्ते कर्तव्याकर्तव्ये भयाभयेऽत्रापि तज्जनके लक्षणाऽपादाने प्रत्ययो वा बोध्यस्तथा च गुरुशास्त्रानुशासनभङ्गो भयं गुर्वाद्यनुशासनपालानञ्चाभयं बन्धं बन्धनोपायं काम्यकर्माद्यनुष्ठानं मोक्षं मुक्तेरुपायभूतं सशास्त्रं परमपुरुषोपासनञ्च या बुद्धिर्वेत्त्यवगच्छति । यया बुद्धया पुरुषो वेत्तीति बुद्धेः करणत्वेन भाव्यं किन्तु प्रकरणवशाबुद्धेः प्राधान्यात्स्थाली पचतीतिवद्बुद्धावुपचारो बोध्यः । सा बुद्धिः सात्विकी ज्ञेयेति शेषः ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।३२।

राजसी बुद्धिमाह—ययेति। हे पार्थ ! यया बुद्धया पूर्वोक्तं धर्ममधर्मञ्च कार्यश्चाकार्यमेव चायथावद् यथावस्थितस्वरूपं न प्रजानाति सा बुद्धी राजसी ज्ञेया ॥३१॥

तामसीं बुद्धिमाह—अधर्ममिति। हे पार्थ ? या बुद्धिस्तमसावृता सत्वरजसी अभिभूयोद्रिक्ततमोगुणेनाच्छादिता। मोहव्याप्तेति यावत् । अधर्मं स्वाधःप्रापकं निषिद्धलक्षणमेव धर्मं मन्यते सर्वार्थान् तत्वविरुद्धानेव वास्तविकान् मन्यते सा बुद्धिस्त्वया तामसी ज्ञेया ॥३२॥

राजसबुद्धिमभिधत्त—ययेति । हे पार्थ ! यया बुद्धया धर्मं शास्त्रानुमोदिताचारमधर्मं नरकपतनहेतुभूतं शास्त्रनिषिद्धाचारं कार्यमवश्यकर्तव्यमकार्यं हेयकर्तव्यंयथावद् देशकालावनुसृत्य न प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी ज्ञेया ॥३१॥

तामसीं धियमभिधत्ते—अधर्ममिति । हे पार्थ ! या बुद्धिस्तमसावृतोद्रिक्ततमोगुणेनाच्छादिता सत्यधर्मं नरकनिपातहेतुभूतं निषिद्धाचारलक्षणं धर्मं स्वस्मायनुष्ठातुं वेदविहितरूपेण धर्मं मन्यते । उपलक्षणमेतत् । अनुष्ठानयोग्यं धर्मञ्च परिहर्तुमधर्मं मन्यते । अधर्ममेव धर्मतयोपादत्ते धर्मञ्चाधर्मं मत्वा जहातीत्यर्थः । सदर्थमेवासदर्थमसदर्थमेव च सदर्थं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं परमात्मानं प्राकृतं बद्धजीवं परि-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी ॥३३॥

सात्विकीं धृतिमाह–धृत्येति । हे पार्थ ? योगेन भगवद्ध्यानाभ्यासेनाऽव्यभिचारिण्या फलान्तरस्पृहारहितया यया धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रिया मनसः प्राणानामिन्द्रियाणाञ्च क्रियास्तत्तद्विषयं प्रवर्तनरूपा धारयते सर्वतो वशीकृत्य स्वरूपे स्थापयति सा धृतिः सात्विकी ज्ञेया ॥३३॥

मितशक्तिकं जीवञ्चापरिमितगुणशक्त्यादिविशिष्टमीश्वरमणुपरिमाणकं भगवत्परतन्त्रं जीवं विभुपरिमाणकं स्वतन्त्रं सर्वेश्वरं स्वतन्त्रं सर्वव्यापकमीश्वरमणुपरिमाणकमस्वतन्त्रं स्वर्गं नरकं नरकञ्च स्वर्गं मन्यते । किम्बहुनेत्येवं सर्वार्थान् विपरीतानेव मन्यते सा बुद्धिस्तामसी ज्ञेया ॥३२॥

एवं बुद्धेस्त्रैविध्यमुक्त्वा प्रतिज्ञाताया धृतेरपि त्रैविध्यं वक्तुमादावुत्कृष्टभूतां सात्विकीं तामभिधत्ते-धृत्येति । हे पार्थ ! योगेन योगो ह्यत्र निःश्रेयसानन्योपायपरमपुरुषाराधनं तेनाव्यभिचारिण्या भगवदतिरिक्तदेवताफलासक्तिरहितया यया धृत्याऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारपूर्वकविशुद्धधारणया मनः प्राणेन्द्रियक्रिया मनसोऽन्तरिन्द्रियस्य प्राणानामिन्द्रियाणां मनोऽतिरिक्तज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च क्रिया बाह्यविषयमभिलक्ष्य तत्र त्वरया गतीर्धारयते निरुणद्धि

धृतिः सात्विकी ज्ञेयेति शेषः । एतद्धृतिमन्तमुद्दिश्यैवं पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशाम् । अथधीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते । इति काठके ह्युक्तम् ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

राजसीं धृतिमाह–ययेति । हे अर्जुन ! फलाकांक्षी पुरुषः प्रसङ्गेन तत्तत्कर्मणि कर्तृत्वाद्यहंकारेण यया धृत्या धर्मकामार्थान् साधयितुं मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धारयते न तु मोक्षं साधयितुं सा धृती राजसी ज्ञेया ॥३४॥

तामसीं धृतिमाह–ययेति । हे पार्थ ! दुर्मेधा दुष्टदोषयुक्ता मेधा बुद्धिर्यस्य स पुरुषो दुर्मेधा विचारशक्तिशून्यो यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकं मन-

राजसी धृतिमभिधत्ते–ययेति । हे अर्जुन ! फलाकांक्ष्यनुष्ठीयमानस्य कर्मणः फलमाकांक्षमाणः पुरुषः प्रसङ्गे स्वकर्तृत्वाद्यभिमानेन यया धृत्या धर्मकामार्थानामर्जनं मनःप्राणेन्द्रियक्रियाभिर्जायते इति ता एवात्र धर्मकामार्थशब्देन गृह्यन्ते न हि धृत्या धर्मकामार्थानां धारणं शक्यते किन्तु तदुत्पादिका मनःप्राणेन्द्रियक्रिया हि धारयितुं शक्यन्ते योग्यत्वादतस्तद्ग्रहणम् । धारयते न तु परमपुरुषार्थरूपं निःश्रेयसमतः सा धृतिः राजसी ज्ञेया । एतद्धृतिमन्तमुद्दिश्यैव नीतिशास्त्रे निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, इत्यादिकमुक्तम् ॥३४॥

तामसीं धृतिमभिधत्ते–ययेति । हे पार्थ ! दुर्मेधा दुष्टा तमस्तोमदोषव्याप्ता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्मेधा दुर्बुद्धिः पुरुषो यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकं प्रियपरिजनवियोगजनितसन्तापं विषादं

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

नवि मुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु में भरतर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

स्तापं विषादं दौर्मनस्यं मदं धनादिनिमित्तं दर्पं न कदापि मुञ्चति परिगणितेषु तमःकार्येष्वन्यतमं द्वयं त्रयं सर्वाणि वा धारयत्येव सा धृतिस्तामसी ज्ञेया ॥३५॥

एवं ज्ञानादीनां गुणतस्त्रैविध्यं निरूप्य कर्मफलस्य सुखस्यापि गुणकृतं त्रैविध्यमाह—सुखमित्यादिभिश्चतुर्भिः। हे भरतर्षभ ! इदानीं सम्प्रति तु सुखं सात्त्विकादिभेदापन्नं सुखं शृण्वाकर्णय । यत्र यस्मिन सुखेऽभ्यासाद् दीर्घकालाभ्यासाद् रमतेऽनतिशयां प्रीतिमधिगच्छति। दुःखान्तश्चा-

मनोग्लानिं मदं धनयौवनादिजन्यं गर्वं कर्हिचिन्न विमुञ्चति, अपि तु सततं स्वप्नभयशोकमदविषादव्याकुल एवतिष्ठति सा धृतिस्तामसी ज्ञेया हेयोपादेयार्थमेव ज्ञानादिधृत्यन्तानामत्रोपदेशः ॥३५॥

एवमस्मिन् सात्विकोपादानप्रकरणे गुणतस्त्रैविध्यमुपगतेषु पदार्थेषु ज्ञानकर्मकर्तृमतिधृतीनां सात्विकराजसतामसप्रभेदेन त्रैविध्यमुक्तं तेषूपादित्सुसुखावहं सात्विकश्रैष्ठ्यं स्वत एव ज्ञायते । अथ कर्मफलभूतस्य सुखस्यापि त्रैविध्यमभिधातुं प्रतिजानीते—सुखमिति । हे भरतर्षभ ! सम्बोधनेनानेन सम्बोध्यस्य सात्विकसुखावाप्तियोग्यता सूच्यते। प्रोक्तानि ज्ञानकर्मादीनि सुखसाधना-

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

खिलक्लेशनिवृत्तिञ्च निगच्छति नितरामवाप्नोति, यत् तत् सुखमग्रे सुखसाधनोपक्रमकाले·विषमिव विषसदृशम् । अत्यन्तानानुकूलमित्यर्थः । परिणामे स्वरूपाविर्भावकालेऽमृतमिव मरणविरोधित्वेनामृतसदृशं च भवति । आत्मबुद्धिप्रसादजमात्मविषयिकाया बुद्धेः प्रसादाद् विषयवैराग्यपूर्वकस्वात्मदर्शनसामर्थ्याज्जातं तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् । सात्त्विकतयाऽभिहितमित्यर्थः ॥३६॥३७॥

नीति तत्साध्यं सुखमपीदानीं वक्ष्यमाणं त्रिविधं मे मत्सकाशाच्छृणु सावधानतयाकर्णय । एवं प्रतिज्ञाते त्रिविधसुखे सात्विकमुत्कृष्टं सुखमभिधत्ते—अभ्यासादिति सार्धेन श्लोकेन । यत्र यस्मिन् सुखेऽभ्यासाद् भूयो भूयः परिचयात् साधको रमते निरवच्छिन्नां शाश्वतीं प्रीतिमवाप्नोति न तु सावच्छिन्नां कादाचित्कीम् । दुखान्तञ्च निगच्छति यत्र रममाणोऽखिलजगज्जालक्लेशानामन्तं निगच्छति न तु सांसारिकसुखानुभवसमनन्तरं पुनर्दुःखम् । यत्तत्सुखमग्रे सुखसाधनारम्भसमयेऽभ्यासवैराग्यासनप्रत्याहारादियोगक्रियोपक्रमकाले शरीरेन्द्रिय संयमे श्रमाधिक्याद्विषमिव विषवद्दुर्विषहदुःखमिव भवति परिणामेऽभ्यासादियोगानुष्ठानपरिपाके त्वमृतोपममममृतमिवास्वादजनकं भवति तथात्मबुद्धिप्रसादजमात्मावलम्बना बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादोऽनुचितविषयवैतृष्ण्येन स्वात्मावलोकनक्षमता तज्जनितं तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तं तत्वविद्भिः ॥३६॥३७॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

राजससुखमाह—विषयेन्द्रियसंयोगादिति । यत्तत्सुखं विषयेन्द्रियाणां संयोगात् विषयसन्निकृष्टेन्द्रियसम्प्रयोगजनितत्वादारम्भकालेऽमृतोपमं विषयोन्मुखेन्द्रियादीनामायासाभावात् क्षणिकसुखानुषंगित्वाच्चामृतमिव स्वादुतमं भवति, परिणामे विषमिव कायमनोबुद्धिक्षयप्रापकत्वाद्विषवद्विषमनिरयदुःखदायित्वाच्च तत्सुखं राजसं रजोगुणसम्बन्धि स्मृतम् ॥३८॥

क्रमप्राप्तं राजससुखमभिधत्ते—विषयेन्द्रियसंयोगादिति । यत्तत्सुखं विषयेन्द्रियसंयोगाद्विषयेन्द्रियाणां संयोगात् स्रक्चन्दनवनिताङ्गसङ्गादुत्पद्यमानमग्रे विषयानुभवारम्भकाल एवाऽमृतोपमं तत्तदिन्द्रियव्यापारप्रयुक्तहर्षाद्यापादकत्वादमृतवदतिप्रियं परिणामे फलविपाके तु विषमिव मरणप्रयोजकगर्हितगरलमिव दुःखजनकम् । तदुक्तं स्वयमेवादौ 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्त कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः' (गी ५।२२) तथाऽन्यत्रापि—गतसारेऽत्रसंसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम् । लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः ॥ तथा 'दाराः परिभवाकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः । कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा, इति तत्सुखं राजसं रजोगुणसम्बन्धि स्मृतम् ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

तामससुखमाह—यदिति । यत्सुखमग्रेऽनुभवारम्भकाले चादनुभवमध्येऽनुबन्धेऽनुभवावसाने चात्मनो मोहनमात्मनो वस्तुयाथार्थ्यज्ञानस्य नाशकं निद्रालस्यप्रमादोत्थञ्च भवति तत्सुखं तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

तृतीयं तमोगुणजनितं सुखमभिधत्ते—यदिति । यत्सुखमग्रेऽनुभवारम्भकाले चकारेणैकेनानुभवमध्यकालो गृह्यतेऽनुक्तज्ञापकत्वात्तस्य समुच्चयवाचिनश्चकारस्य द्वितीयस्यापि सत्त्वात् । अत एव भाष्ये 'चादनुभवमध्य' इति व्याख्यातम् । अनुबन्धेऽनुभवपरिणतौ चात्मनो मोहनं पदार्थप्रतिपत्तौ वैपरीत्यापादकं तादृशसुखस्य कारणमभिधीयते—निद्रालस्यप्रमादोत्थं विशेषज्ञानोपरमवृत्तिर्निद्रा तस्याः समुत्पन्नं निद्रारम्भे निद्राया मध्ये निद्रावसाने च मोहसमुद्रेकोऽनुभूयत एवात एव कालविरुद्धा निद्रा निन्द्यते । 'ब्राह्मे मुहूर्त्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी ।, (रत्नावली) ब्राह्ममुहूर्तश्च—विष्णुपुराणे—रात्रे पश्चिमयामस्य मुहूर्ते यस्तृतीयकः । स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने ॥' आलस्यमुचितेन्द्रियव्यापारेऽप्युपरतिस्तथोपरतौ चात्मनि ज्ञानशैथिल्यम् । तथा सति वस्तुतत्वावधारणशक्तेः प्रमोषः प्रमादः कर्तव्यनिर्धारणाक्षमतेतीयमपि मोहजननीति निर्विवादसिद्धम् । एभ्यः समुत्थं तत्सुखं तामसं तमोगुणसम्बन्धि शास्त्रविद्भिरुदाहृतम् । एवं त्रिविधसुखेषु भगवत्प्रपन्नैः सात्विकस्य सुखस्यैवोपादेयत्वं न तु रजस्तमःसञ्जातयोरिति निर्धारणायोपदेशः ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।

इदानीमनुक्तस्यापि सर्वस्य त्रैगुण्यमस्तीति निगम्यते—नेति । एभिः प्रकृतिजैर्भगवच्छरीरभूतमायासमुद्भूतैस्त्रिभिर्गुणैर्यत्सत्त्वं प्राणिजातं मुक्तं सत्वादिगुणरहितं स्यात्तत्पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वान्येषु च नास्ति सर्वस्य जगतस्त्रिगुणात्मकत्वमस्त्येवेति भावः ॥४०॥

एवं ज्ञानादीनां त्रैगुण्यमुक्त्वा सात्विकानां तेषामुपादेयत्वमभिहितम् । इदानीं सात्विकाधिकारिस्वरूपविवेचनाय ब्रह्माणादिवर्णानां स्वभावकृतं कर्म विविनक्ति—ब्राह्मणेति । हे परन्तप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां विप्रराजन्यवैश्यानामेषां त्रैव-

इदानीमनुक्तानप्यशेषपदार्थानां प्राकृतगुणोद्भवत्वमस्तीतिवदन् त्रैगुण्यप्रकरणमुपसंहरते—नेति । 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्, (श्वे-)इत्यादिश्रुतिभिर्महापुरुषाश्रितमायायाः शक्तिरेवात्र प्रकृतिस्तज्जैः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रच्यवान्महदाद्यवस्थामुपगतैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्यत्सत्वं प्राणिजातं मुक्तमुक्तगुणत्रयरहितं स्यात्तत् पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा पुनर्नास्ति । सर्वस्य चराचरात्मकस्य जगदन्तर्वर्तिनः पदार्थस्य त्रिगुणवश्यताऽस्त्येवेति तात्पर्यम् ॥४०॥

एवं देवमनुष्यतिर्यग्भेदभिन्नस्याखिलजगतः सत्वादिगुणपारतन्त्र्यात् त्रैविध्यमुक्तम् । तत्र राजसतामसज्ञानादिसुखान्तानामैहिकामुष्मि-

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

र्णिकानां द्विजत्वेनोपनीतत्वेन च समासः । शूद्रस्य चैकजातित्वेन पृथक्कथनम् एषां चतुर्णां स्वभावप्रभवैः स्वकीयप्राग्भवीयकर्मसमुद्भवैर्गुणैः सत्त्वादिभिः कर्माणि कर्तव्यरूपा क्रियावृत्तयश्च प्रविभक्तानि श्रुतिस्मृतिषु प्रविभज्य प्रतिपादितानि । तथा च पुरुषसूक्ते 'ब्राह्मणोऽस्य मुख्यमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत, इति चातुर्वर्ण्यस्य विभाग स्पष्ट एव प्रदर्शितः । मानवे च धर्मशास्त्रे

कफलप्रयोजकतया मुमुक्षुजनानुपयुक्तत्वेन हेयत्वं सात्विकानां तेषान्तु निःश्रेयसोपयोगितयोपादेयत्वमित्यप्युक्तम् । कर्मयोगस्य तु श्रुतिस्मृतिरूपभगवदाज्ञया यावज्जीवमनुष्ठीयमानस्य फलकर्मकर्तृत्वाभिमानत्यागेन तत्र भगवत्कर्तृत्वानुसन्धानेन सात्विकस्य तस्य ज्ञानभक्तिसहायस्यास्त्येव मुक्तिप्रयोजकत्वम् । न तु तस्य स्वरूपेण त्यागो भगवत्सम्मतः । 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्, (गी ।) 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते, (गी०) 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीते, (गी० ।) इत्यादि तदीयवचनविरोधात् । तस्मात्तस्य सात्विकस्यानुष्ठानसिद्धयेऽधिकारिनिरूपणमावश्यकम् । इत्यतो ब्राह्मणादिवर्णानां सत्वादिगुणसम्बन्धात् कर्मस्वभावयोर्यद्वैषम्यं तदिदानीं प्रकाशयति ब्राह्मणक्षत्रियविशामिति । हे परन्तप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशां विप्रराजन्यवैश्यानां त्रैवर्णिकानां द्विजातित्वेन वेदाधिकारित्वेनोपनीतत्वेन च साम्याद् द्वन्द्वसमासः । शूद्रस्यचैकजातित्वेन वेदाधिकारित्वेनानुपतीत-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

जन्मतो ब्राह्मणादीनां कर्माणि वृत्तयश्चैवमुपपादितानि–ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः । ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् । अध्यापनञ्चाध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षटकर्माण्यग्रजन्मनः ॥ षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याचनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियम्प्रति । अध्यापनं याजनञ्च तृतीयश्च प्रतिग्रहः । वैश्यत्वेन च पृथङ्निर्देशः । तथा चोक्तं वासिष्ठे धर्मशास्त्रे–'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः त्रयोवर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः । तेषां मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने । तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते,, (वा–२।१....४) चातुवर्ण्यविभागस्तु प्राक्तनकर्मवासनावशात् सत्वादिगुणोपचयापचयहेतुकः सूक्ष्मदृग्संवेद्यः । तत्र ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च स्वभावप्रभवैर्गुणैः स्वस्य भावस्तत्तद्वर्णोत्पत्तिकारणमनादिकर्मवासनाविशेषः स्वभावस्तस्मात्स्वभावात्प्रभवो येषां सत्वरजस्तमसां तैः सत्वादिरूपैर्गुणैरुद्भवाभिभवादिधर्मैः सम्प्रवृत्तैरिति शेषः । ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो गुणोरजस्तमसी अभिभूयोद्रिक्तः सत्वगुणः क्षत्रियस्य सत्वतमसी अभिभूयोद्रिक्तो रजोगुणः वैश्यस्य सत्वरजसी अभिभूयोद्रिक्तस्तमोगुणः शूद्रस्य तु सत्वरजसी अभिभूयोद्रिक्ततमस्तमोगुण इत्येवमयं विभागः 'तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्वमुत्तमम् ।' इत्यादि प्रकारेण ब्रह्मपुराणादिषु विस्तरेणाभिहितः । एवम्प्रकारेण स्वभावप्रभवैर्गुणैश्चातुर्वर्ण्यस्य प्रविभक्तान्येव कर्माणि वृत्तयश्च वेदशास्त्रेषु प्रतिपादितानि । तत्र वृत्तयो वासिष्ठे धर्मशास्त्रेभिहिताः

म्प्रति तथैवेते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः । शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषीर्विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया, एतेषां सूक्ष्मधर्मास्तु भगवद्वचनानुसारेण श्रुतिस्मृतिषु समवलोक्य निश्चेया इति नाधिकं प्रतन्यते ॥४१॥

'षट्कर्माणि ब्राह्मणस्य' स्वाध्यायमध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । त्रीणि राजन्यस्य, अध्ययनं यजनं दानञ्च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् । एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य, कृषिर्वाणिज्यं पाशुपाल्यं कुसीदञ्च, एतेषां परिचर्या शूद्रस्य, अनियता वृत्तिः (वा०अ०२) इत्यादिप्रकारेणोपवर्णिताः । तत्र यद्यापत्तिरागता चेत्स्वकीयाचारान्निम्नवर्णाचारेण व्यवहर्तव्यं न तूत्तमवर्णवृत्त्येत्येतदपि तत्रैव निर्णीतम् । 'अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीवृत्तिमातिष्ठेरन् । न तु कदाचिज्ज्यायसीम् (वा०अ–२) अन्यदपि तत्र प्रथमे विचारितम् । 'त्रयो वर्णा ब्राह्मणस्य वशे वर्तेरन् । तेषां ब्राह्मणो धर्मान् प्रब्रूयात् तं राजा चानुशिष्यात्, राजा तु धर्मेणानुशासत् षष्ठं षष्ठं धनस्याहरेदन्यत्र ब्राह्मणादिति । मानवधर्मशास्त्रेऽपि–ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः, (म०-१०।४) इति चातुर्वर्ण्यमेवोक्तम् । तत्रत्र याणां द्विजत्वमुपनयनविधानात् । शूद्रश्चतुर्थस्त्वेकजातिरुपनयनाभावात् । पञ्चमः कश्चिद्वर्णो नास्तीत्ये

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

अथ ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह–शम इति । शमो बाह्येन्द्रियसंयमो दमोऽन्तरिन्द्रियसंयमस्तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपः कायक्लेशः शौचं शास्त्रविहितकर्मयोग्यतारूपा शुद्धिः क्षान्तिरविकृतमनस्कताऽऽर्जवमकौटिल्यं ज्ञानं परापरवस्तुविषयकं यथार्थज्ञानं विज्ञानं परत्तत्त्वविषयकविशिष्टावोक्तम् । तत्र ब्राह्मणात् पाणिगृहीत्यां ब्राह्मण्याञ्जातो ब्राह्मणः, क्षत्रियात् पाणिगृहीत्यां क्षत्रियायां जातः क्षत्रियः, वैश्यात्पाणिगृहीत्यां वैश्यायाञ्जातो वैश्यः, शूद्राच्छूद्रायान्तु जातः शूद्र इति शुद्धवर्णपरिचयः। धर्मशास्त्रानुसारेण । तथैव च याज्ञवल्क्यः 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः, इत्यभिधाय 'विन्नास्वेष विधिःस्मृतः, इति ब्रुवाणः स्वपत्न्युत्पादितस्यैव ब्राह्मणादिजातित्वं निश्चिकाय । एषु चतुर्षु वर्णेष्वानुलोम्येन प्रातिलोम्येन चोत्पन्नान संकरजातीनान्त्वानन्त्यमेव । तेषां कर्मणां वृत्तीनाञ्च प्रभेदा मन्वौशनसादिशास्त्रेषु स्पष्टं प्रतिपादिताः। एषां वर्णधर्मानुष्ठाने विशेषधर्मानुष्ठाने चोत्कृष्टत्वापकृष्टत्वयोः फले चास्ति कश्चिद्विशेषः । स च सामान्यविशेषवचनविमर्शबलादवगम्यते । अयञ्च 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः, इति श्लोकटीकायां संक्षेपात प्रदर्शितो भविष्यति॥४१।

तत्र ब्राह्मणानां स्वभावप्रभवाणि कर्माण्यभिधत्ते–शम इति । शमो बाह्यकरणसंयमो दमोऽन्तःकरणसंयमस्तपः कायक्लेशः कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणः शौचं करणकलेवरयोर्विहितानुष्ठानाय योग्यता क्षान्तिस्तितिक्षाऽऽर्जवं समचित्तता ज्ञानं तत्वार्थसम्बोधो विज्ञानं परस्वरूपविषयकं विशिष्टं ज्ञानमास्तिक्यं वेदशास्त्रप्रतिपाद्यार्थे गुरु-

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शौर्यंतेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

वबोध आस्तिक्यं शास्त्रप्रतिपादितार्थविषयकस्थिरनिश्चयशालित्वं च स्वभावजं स्वाभाविकं ब्राह्मं ब्राह्मणस्यासाधारणं कर्म बोध्यम् ॥४२॥

क्षत्रियस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह–शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमस्तेजः प्रागल्भ्यं धृतिर्धैर्यं दाक्ष्यं क्रियाकौशल्यं युद्धे संग्रामे चाप्यपलायनं शत्रोरपराङ्मुखता दानमर्थिषु वित्तत्याग ईश्वरभावश्च प्रजानियमनशक्तिरित्येतत्क्षात्रं स्वभावजं कर्म ।४३। वाकचेच श्रद्धा इत्येतेत्स्वभावजं ब्राह्मं कर्म ज्ञेयम् । परिभाषितानीमानि व्यासेनाऽपि–सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः । तपः स्वधर्मवर्त्तित्वं शौचं शंकरवर्जनम् ॥ सन्तोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम् । क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता । ज्ञानं तत्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता । दया भूत हितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ इति । शौचं तु बृहस्पतिरेवमाह–अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः । स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रचक्षते ॥ एतद्गुणविशिष्टो ब्राह्मणः स्वभावेनैव भवतीति भावः ॥४२॥

क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवाणि कर्माण्यभिधत्ते–शौर्यमिति । शौर्यं परप्रधर्षणसामर्थ्यं तेजः परैरनभिभवनीयत्वं धृतिरापद्यपि स्वस्थचित्तता दाक्ष्यं सर्वकार्यनैपुण्यं युद्धे प्रवृत्ताहवे चाप्यपलायनमपराङ्मुखत्वं दानं पात्रेषु यथाशक्ति धनार्पणमीश्वरभावश्चैश्वर्यं

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

वैश्यकर्माण्याह–कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् । कृषिरन्नोत्पादनाय भूमिकर्षणं गौरक्ष्यं गां रक्षतीति गोरक्षस्तस्य कर्म गौरक्ष्यं ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । तच्च वश्यं विशः कर्म वैश्यं पशुपालनं वाणिज्यं क्रयविक्रयादि कुसीदञ्च कर्म वैश्यस्य स्वभावजं जानीहि । शूद्रस्य कर्माह–परिचर्यात्मिकमिति । पूर्वोक्तानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शुश्रुषारूपं कर्म शूद्रस्य चतुर्थवर्णस्य स्वभाविकं कर्म परिचर्यात्मकं परिचर्येत्येत्कं प्रधानं कर्म बोध्यं दानादेरपि तस्य विहितत्वात् ॥४४॥

प्रजानियमनसामर्थ्यमिति यावत् । क्षात्रं क्षत्रियसम्बन्धि स्वभावप्रभवमेतत्कर्म विद्धि ॥४३॥

वैश्यस्य कर्माण्यभिधत्ते–कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यमिति । कृषिरन्ननिमित्तकं वसुन्धरोल्लेखनं गौरक्ष्यं गा रक्षतोति गोरक्षस्तस्य कर्म गौरक्ष्यं जीविकानिर्वाहौपयिकानां पशूनां पालनं वाणिज्यं क्रयविक्रयादिरूपं कुसीदञ्च वाणिज्यपदेनास्यापि ग्रहणम् । अत एव मानवे–पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च, (म-१।७०) इति वैश्यस्य कर्तव्यमुक्तम् । एतत् स्वभावप्रभवं वैश्यं वैश्यस्य कर्मविहि । शूद्रस्य कर्म निर्दिशति––परिचर्यात्मिकमिति । पूर्वनिर्दिष्टानां ब्राह्मणादित्रैवर्णिकानां परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावप्रभवमवेहि । अत्रापि मानवे वचसि ‘एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

तदेवं संक्षेपात्स्वाभाविकानि कर्माण्युक्तानि । इदानीं तेषामनुष्ठानाद् यत्फलं तदाह–स्व इति । स्वे स्वे कर्मणि स्वकीयवर्णाश्रमोचिताचारेऽभिरतो मदाज्ञारूपशास्त्रं बहुमानयन् प्रवृत्तो नरः संसिद्धिं परमगतिं लभते । स्वकर्मनिरतः स्वकीयवर्णाश्रमोचिताचार चतुरः पुमान् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं परमगतिं विन्दति मयोच्यमानं तत्प्रकारं श्रुणु सावधानमाकर्णय । अत्रायमभिसन्धिः । चतुर्णां वर्णानां सामान्येन ये वर्ण वर्णानां शुश्रूषामनसूययेति शूद्रस्य त्रैवर्णिकशुश्रूषैव व्यक्तीकृता । मनुवचन एकमेवेत्येवकारेण ब्राह्मणक्षत्रियादिवदन्यत् प्रधानं कर्म शुश्रूषातिरिक्तं व्यवच्छिद्यते । दानादेस्तु तस्यापि कर्तव्यता स्मृतैव । अत एव भाष्ये ‘परिचर्येत्येकं प्रधानं कर्म बोध्य’मित्युक्तम् ॥४४॥

एवं चातुर्वर्ण्यस्वभावनिष्पन्नानां कर्मणां प्रतिवर्णं स्वरूपमुपावर्णि । इदानीं तेषामन्येषामपि च वर्णाश्रमधर्माणां सामस्त्येनानुष्ठानाद्यत्फलमुपलभ्यते तदिदानीमभिधत्ते–स्व इति । स्वे स्वे कर्मणि कर्म इत्युपलक्षणं वर्णाश्रमधर्माणामपि । तथा च स्वभावजकर्मणो यथाऽऽवश्यकतयाऽनुष्ठानेन संसिद्धिपदबोध्यपरमपदप्राप्तिर्जायते तथैव वर्णाश्रमधर्माणामनुष्ठानेनापि । तत्र सामान्यविशेषभेदेन वर्णाश्रमधर्माणां द्वैविध्यमुक्तं धर्मतत्त्वविद्भिः । तत्र सामान्यधर्माः यथा शान्तिपर्वणि, ‘अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा । प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च । आर्जवं भृत्यभरणं नवैते

धर्मा निर्दिष्टास्ते तदुचितामुष्मिकादिफलोपलब्धये स्वकीय-कर्तव्यतयैवानुष्ठेयास्तेषामविरोधेनापवर्गिकसुखगृध्नुभिर्भागवतानां विशेषधर्माणामप्यनुष्ठानमावश्यकमेव । तदुक्तं प्रवृत्तं कर्मसंसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृतं सेवमानस्तु भूतानामेति पञ्च वै । निवृत्तं कर्मेति भागवत धर्मा अभिधीयन्ते । अत एव विप्रमधिकृत्येदमुच्यते-तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस

सार्ववर्णिकाः, (भा. शा-६०।७) इति सर्ववर्णानुष्ठेयत्वमेषामुक्तम् । एवमसाधारण्यमपि केषाश्चिद्धर्माणां प्रतिपाद्यते—तथा च सुमन्तुः—वर्णत्वमेकमश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनात् किल ॥ यस्त्वाश्रमत्वमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । स एवाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षातश्चोदितो यथा ॥ वर्णत्वमाश्रमत्वञ्च योऽधिकृत्य प्रवर्तते । स वर्णाश्रमधर्मस्तु यथा मौञ्जी तु मेखला ॥ यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मस्स उच्यते । यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानाम्परिपालनम् ॥ निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥ एवं चातुराश्रम्यं तद्धर्माश्च वासिष्ठे 'अथ चत्वार आश्रमाः ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकाः । तत्र ब्रह्मचार्याचार्यं परिचरेत् , आ शरीरविमोक्षात् , गुर्वधीनो जटिलः शिखाजटो वा गुरुं गच्छन्तमनुगच्छेत् , आसीनञ्च तिष्ठन् शयानञ्चासीन उपासीत, आहूताध्यायी सर्वं लब्धं निवेद्य तदनुज्ञया भुञ्जीत । गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणानुज्ञात इत्यादयो गृहस्थधर्माः स्मृताः । सायमागतमतिथिं नावरुन्ध्यात् , नास्यानश्नन्गृहे वसेत् । यथा मातरमाश्रित्य सर्वेजीवन्ति जन्तवः । एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे

करं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमनुश्ते । तपः शब्दोऽत्र वर्णाश्रमधर्ममभिधत्ते । अत एव सार्ववर्णिकमिदमुच्यते । 'प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः । श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् (भा-द्वा-सं-१ । १३ अत्र सर्वोऽपि जन इत्युक्त्या सर्वेषामयं धर्मः समाश्रयणीय एवेत्यध्यवसीयते । एवं विशुद्धमनसा भगवच्छरणमुपगतो यः ः कोऽपि चातुर्वर्णिको भवेत्स च भगवद्धर्मसम्बन्धेन श्लाघ्यः सत्कार्यश्च भवेत्तदप्युक्तं-मांहि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ संग्रहे स्कान्दवचनं । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः । भगवद्भक्तिदीप्ताग्निदग्धदुर्जातिकश्मलः । श्वपचोऽपि बुधः श्लाघ्यो न वेदाढ्योऽपि नास्तिकः ॥इति ॥४५॥

जीवन्ति भिक्षवः । नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी । ऋतौ च गच्छन् विधिवच्च जुह्वन् न ब्राह्मणश्च्यावते ब्रह्मलोकात्" वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा ग्रामञ्च न प्रविशेत् । न कालकृष्टमधितिष्ठेत् । त्रिषवणमुदकमुपस्पृशेत्, दद्याद्देवपितृमनुष्येभ्यः सगच्छेत्स्वर्गमानन्त्यम्, परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्वा प्रतिष्ठेत, न कुटचां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे । नागारे नासने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तम । इत्येत आश्रमधर्मा आश्रमस्थैरनुष्ठेया एवेति निर्णयः । वर्णधर्मेष्वध्ययनं यजनं दानमिति त्रैवर्णिकानां सर्वेषां साधारणाः

धर्माः । याजनाध्यापने प्रतिग्रहश्चेति त्रीणि कर्माणि विप्रस्यैव न क्षत्रियवैश्ययोरापत्काले तु विप्रराजन्यौ वैश्यवृत्तिमास्थाय जीवन्तौ न दुष्यतस्तत्रापि हिन्साप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्, इत्युक्तत्वात्कृष्यतिरिक्ता वैश्यवृत्तिर्वाणिज्यादिरूपैव ग्राह्या । विप्रादेस्तु कृषिकर्म निन्द्यमेवेत्युक्तं तत्रैव—कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता । भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् (म० १०।८४) विप्रराजन्याभ्यां-रसादिविक्रयवर्जितमेव वाणिज्यं पशुपालनञ्चापद्यनुष्ठातुं शक्यते । एवं वैश्येनापदि शुद्धा शूद्रवृत्तेः परिग्रहः शूद्रेण च कार्वादिर्वृत्तेः परिग्रहो न दोषाय । एते धर्मास्त्रैवर्णिकानां त्रिवर्गं प्रापयन्तोऽपवर्गेऽपि-साहाय्यं विदधते । अपवर्गप्राप्तेः साक्षात्साधनं सर्वैर्वर्णाश्रमाधिकारिभिर्विशेषधर्मानुष्ठानं कार्यमेवेतिशास्त्रकृद्भिर्निर्णीतम् । तथा हि—मानवे धर्मशास्त्रे द्वादशाध्याये—एष सर्वः समुदिष्टः कर्मणां वः फलोदयः । नःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ (म—१२।८२) अनेन स्पष्टमेवावगम्यते यत् त्रैवर्णिकैः स्वकर्माणि कुर्वद्भिरपि निःश्रेयसाय विशिष्टमेव किञ्चित्कर्मानुष्ठेयम् । तदेवात्र वक्तुमुपक्रम्योच्यते—वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ निर्दिशति । कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु भूतानत्येति पञ्च वै ॥ तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुत ॥ इत्यादिवचनैर्मोक्षप्राप्तये स्वाभाविकधर्ममनुतिष्ठतोऽपि विशेषधर्मानुष्ठानमावश्यकमेवोक्तम् । अत एवोक्तं श्रीमद्भागवते प्रथमे द्वितीये च—'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेन कथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्, (भा०प्र-२।८)

'एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया । जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः (भा-द्वि-१।६) अतो भागवतधर्माणां सर्वैर्वर्णैराश्रमीयैश्चानुष्ठानमावश्यकम् । ननु 'जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्य मन्त्रसाधनम् । देवताराधनञ्चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्, विप्रसेवैव शूद्रस्याविशिष्टं कर्म कीर्त्यते, (म-१०।१२३) इति शूद्रस्य परिचर्यातिरिक्तानां धर्माणामनुष्ठाने प्रत्यवायः स्मर्यते तस्य का गतिरिति वाच्यम्, त्रैवर्णिकशुश्रूषातिरिक्तानां सामान्यधर्माणामनुष्ठाने पातित्यस्मरणात् । भगवद्भक्तेस्तु विशेषधर्मत्वात् तदनुष्ठाने परमगतिप्राप्तेर्गीताचार्यसम्मतत्वेन प्रत्यवायाभावात् । तथा चोक्तं नवमे स्वयमेव 'मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । स्कान्दे च 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः । विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्र सः । भगवद्भक्तिदीक्षाग्निदग्धदुर्जातिकश्मलः । श्वपचो ऽपि वुधैः श्लाघ्यो न वेदाढ्योऽपि नास्तिकः ॥ शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा । वीक्षते जातिसामान्यं स याति नरकं ध्रुवम् ॥ न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः । सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने ॥ अत एव 'प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः । श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् (१।१३) न जाति भेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः । न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते (१।१४) ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा । सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम् (१।१५) इति पाञ्चरात्रशास्त्रे चातुर्वर्ण्यस्यापि भगवत्प्रपत्तावधिकारः प्रत्यपादि । अत एव च भीष्मपर्वणि

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः। सेव्यतेऽभ्यर्च्यतेऽत्रैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः। द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च। सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै (भा०भी०३९।४०) इति स्पष्टमुक्तम्। इदन्तु बोध्यम्। त्रैवर्णिकैर्यथा स्वस्वभावजनकमनुतिष्ठद्भिर्भगवदाराधनं कर्तव्यं तथा शूद्रेणाऽपि स्वकर्तव्यत्रैवर्णिकशुश्रूषाख्यप्रधानधर्माविरोधेनैव त्रिवर्णसेवाभावनयैव भगवदाराधनादिविशेषधर्माणां पालनं कर्तव्यम्। न तु तद्धर्मम्परित्यज्येति। अत एवाऽत्र कर्मान्तरेषु सत्स्वपि परिचर्यात्मकस्यैकस्यैव कर्मणः स्वभावजत्वोक्तिरपि संगच्छते। तस्य स्वभावजत्वेनासाधारण्यादिति भावः। नन्वेवं भगवदाराधनादिकर्मणि तत्प्रवृत्तौ तस्य त्रैवर्णिकवदुपदेश्यता मन्त्रप्रदेयता संस्कार्यता चापि स्यात्तर्हि—'श्मशानमेतत्प्रत्यक्षं ये शूद्राः पापचारिणः। तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं कदाचन॥ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्। न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्, (वा०स्मृ०१८।१२) इत्यध्ययनादिनिषेधानुपपत्तिरिति चेन्न, न हि शूद्रत्वावच्छेदेन न वा त्रैवर्णिकत्वावच्छेदेन मन्त्राद्युपदेश्यतासाम्प्रदायिकशास्त्रेषु प्रतिपाद्यतेऽपि तु चतुर्षु वर्णेषु येषामर्थित्वसामर्थ्यं स्तस्त एवोपदेश्या इति निश्चितम्। 'न शूद्राय मत्तिं दद्यात्, न चास्योपदिशेद्धर्ममित्यादिनिषेधास्तु विशेषतोऽस्पृश्यशूद्रमुद्दिश्य परिचर्यातिरिक्तान्यवर्णधर्मस्य ज्ञानमुदेशञ्च वारयन्तश्चरितार्था नत्वात्मनः परमहिततमस्य भगवत्सम्बन्धिनो विशेषधर्मस्य ज्ञानमुपदेशम्। भगवद्भक्तिदीप्ताग्निदग्धदुर्जातिकश्मलः। श्वपचोऽपि बुधः श्लाघ्यो न वेदाढ्योऽपि नास्तिकः। इत्याद्यनेकवचननिचयप्रामाण्यात्। अत एव धृत-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६

यतः परमकारणात् परमात्मनः सकाशात् भूतानां समस्तप्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्त्यादयो व्यापारा भवन्ति येन सर्वमिदं चराचरं जगत्ततं व्याप्तं तं तथाविधं मां सर्वजगन्नियन्तारं

राष्ट्रकृतमध्यात्मविषयकप्रश्नं सभाजयन् विदुरः 'शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे' इति ब्रह्मविद्याप्रवचनाज्ज्ञान्नादप्युपारमत्। आन्वीक्षिकीनीतिमर्थविद्याञ्च प्रवदन्नपि श्रुत्येकसमधिगम्यां न वावोचद् ब्रह्मविद्याम्। त्रय्यन्तोपदेशेऽग्रजन्मन एवाधिकारात्। पञ्चसंस्कारविशिष्टस्य सच्छूद्रस्य भागवतत्वाद् भगवत्सम्बन्धिधर्माश्रयणन्तु पाञ्चरात्रशास्त्रसम्मतम्। तथा चोक्तं वाल्मीकिसंहितायां—'निर्ममा निरहंकाराः पञ्चसंस्कारसंयुताः। ये शूद्रा भगवद्भक्तास्ते च भगवताः स्मृताः, (वा-सं ५।४१) एवञ्च जन्मान्तरसहस्रकृततपोविशेषप्रसादितदेवताविशेषप्रसादलब्धज्ञानपूर्तिंजातिस्मरादेर्दयासत्यादिब्राह्मणलक्षणसम्पन्नानां जन्मान्तरकृतदुष्कृतशेषभोगार्थं समासादितशूद्रयोनिजन्मनां केषाञ्चिद् विदुरादीनां ब्राह्मणवत्सम्मानं शास्त्राचार्यसम्मतम्॥४५॥

नवमे 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम् (गी९।२३) इत्यनेन भगवच्छरीरमात्रेन्द्रादिदेवतापूजनेनापि शरीरिणो भगवत एवार्चनं जायते किन्त्वविधिपूर्वकं तद् भवति तत्फलमपि तथान्तवदुत्पद्यते, इत्युक्तमत्र तु सर्वदेवशरीरकस्य देवाधिदेवस्य साक्षात्परमात्मन एव स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकमाराधनेन साक्षात्तदवाप्तिरूपं फलं भवतीत्यभिधत्ते—यत इति। यतो

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥४७॥

प्रतकल्पपादपं परमेश्वरं स्वकर्मणा स्ववर्णाश्रमोचितधर्मेणा-भ्यर्च्य स्वोचितानि कर्माण्यनुतिष्ठन् विशेषतो मत्प्रीतिजनकं मदर्चनवन्दनादिकं विधाय मानवः सिद्धिं मद्धामप्राप्तिरूपां विन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४६॥

भगवदाराधनाख्यस्य कर्मणः श्रैष्ठ्यमाह—श्रेयानिति । स्वधर्मः मदर्चनादिधर्मगर्भितकर्मयोगरूपः स्वधर्मः । कति-पयाङ्गविकलोऽप्यनुष्ठितः स्वनुष्ठितात् साङ्गोपाङ्गमनुष्ठितात् परधर्माज्ज्ञानयोगादिरूपाच्छ्रेयानतिशयेन प्रशस्यो यतः

भूतानां चराचरप्राणिनां प्रवृत्तिरुद्भवादिव्यापारोऽस्ति । येनेदं परि-दृश्यमानं जगत्ततं व्याप्तमनेनावनादिरूपो व्यापारो बोध्यते । तं सर्वजगन्नियन्तारं सर्वफलदातारं मां स्वकर्मणा प्रोक्तवर्णाश्रमोचिता-चारेणाभ्यर्च्य वेदविहितनित्यनैमित्तिकादिस्वधर्ममनुतिष्ठन्नेव मत्प्र-सत्तिफलकं मदाराधनलक्षणं विशेषधर्मं श्रद्धाभक्तिसमन्वितोऽनुष्ठाय मानवो मदनुग्रहान्मत्प्राप्तिरूपां सिद्धिं विन्दति । अत्र यत्तच्छब्दाभ्यां परमपुरुष एव प्रतिपादितो भवति । सर्वचराचरस्य जगतो यतः पर-मकारणादुत्पत्त्यादिरूपा प्रवृत्तिरित्युक्तिः 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा, (गी ।) इति प्राक् स्वस्योक्तिं स्मारयति ॥४६॥

यस्मात् परमपुरुषाराधनरूपेण कर्मणा संसिद्धिं लभते तस्माच्छ्रेया-निति । स्वधर्मः स्वस्याभिमतो धर्मो भगवदाराधनधर्माधिकृतः फला-भिलाषरहितो धर्मः कर्मयोगः । स्वधर्मशब्देनात्र न केवलं स्वकीयव-

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

स्वभावनियतं स्वभावानुगुणं कर्म कुर्वन् किल्विषं मत्प्राप्ति-प्रतिबन्धकं पापं प्राप्नोति । अतोमद्भक्तिगर्भितकर्मयो-गाख्यं स्वधर्ममेव त्वमनुतिष्ठ तथा सति बन्धुहननजन्यदुष्कृतं नैवावाप्स्यसीति भावः ॥४७॥

ननु कर्मणो सदोषत्वान्मुमुक्षुभिस्त्याज्यमेव तदित्यपेक्षाया-माह—सहजमिति । हे कौन्तेय ! सहजं स्वभावरूपतापन्नं सुकरं

र्णाश्रमधर्मो गृह्यते, प्रतिकोटिगतपरधर्मोपादानस्य वैयर्थ्यात् । परवर्ण-धर्मानुष्ठानं स्वस्याधर्म एवेति तदनुष्ठाने काலुष्यप्रसङ्गात् । परधर्मानु-ष्ठानस्यैवाऽसम्भवात् कुतस्तदपेक्षया स्वधर्मस्य ज्यैष्ठ्यम् । स्वधर्मप-रधर्मशब्दावत्र वैदिकवेदबाह्यधर्मपरावित्यपि न युक्तं वेदबाह्यधर्मस्य निषिद्धत्वेनानुष्ठेयत्वासम्भवात् । अतः स्वधर्मशब्दः पूर्वोदितार्थमेव ब्रूते परधर्मशब्दस्तु ज्ञानयोगाख्यम् । विगुणः क्वचिदंगलोपेनानुष्ठीयमा-नोऽपि कदाचित्स्वनुष्ठिताज्ज्ञानयोगादिरूपपरधर्माच्छ्रेयान् प्रशस्यतरः भगवद्भक्तिसमन्वितं कर्मविगुणमपि स्वकर्तृत्वाभिमानयुक्तात्प्रयत्नेनस-म्पादितसाद्गुण्याज्ज्ञानयोगाच्छ्रेयस्तरमितिभावः । अस्मिन्नर्थेनियममाह-स्वभावनियतं स्वभावान्निष्पद्यमानं यत्कर्म भवति तत्कुर्वन् किल्विषं नाप्नोति । स्ववर्णगुणानुगुणकर्तव्यध्रौव्यात् । फलाशां स्वकर्तृत्वाद्यभि-मानं परित्यज्य भगवति सर्वकर्मसमर्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानं स्ववर्णाश्रमोचि-तयुद्धादिकं नैव कदाचिद् बन्धाय स्यादिति भावः ॥४७॥

ननु 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (गी० ४।३३) इति

नित्यादिकर्म सदोषमपि शरीरेन्द्रियादिसन्तापरूपदुःखप्रदमपि न त्यजेत् समुत्पन्नज्ञानरुचिरपि सततं नित्यादिकर्मादरेणानुतिष्ठेत् । यतः सर्वारम्भाः निखिलकर्मप्रवृत्तयो दोषेण शरीरायासादिरूपदुःखेन धूमेनाग्निरिवावृताः सन्ति । दुःखबहुलमनधिकफलमपि नित्यादिकर्मानुष्ठानमावश्यकमेवेति भावः ॥४८॥

स्वयमुक्ततया ज्ञानमुत्पाद्य कर्मणः परिसमाप्तौ ज्ञानोत्पत्तिरेव कर्मफलमित्येवायातं तथा च क्षयहिंसातिशयादिदोषदुष्टत्वात् कर्माणि सर्वथा परिहेयानि ज्ञानोत्पत्तिस्तु ज्ञानाभ्यासादेव सम्पादनीयेत्याकांक्षायामुच्यते—सहजमिति । हे कौन्तेय ! सहजमनादिवासनाबीजत्वेन स्वभावरूपतापन्नं वर्णाश्रमधर्मरूपतयाऽनुष्ठेयं सुकरं कर्म सदोषमपि दोषश्चात्र करणकलेवरसन्तापादिरूपः सर्वोऽपि ग्राह्यस्तथा च प्रमादविशिष्टानां केषाञ्चिदिन्द्रियारामपराणां ज्ञानेऽधिकृतानाञ्च नित्यनैमित्तिकादिकर्म्मानुष्ठातुं रुचिर्नोदीयादिति तत्त्यागमाकांक्षेयुरत उच्यते—न त्यजेदिति । कर्मयोगोऽवश्यानुष्ठेयो न कदाचिदपि परिहर्तव्य इत्यर्थः । सदोषश्चेत्कुतो न परिहर्तव्यो मोक्षाख्यं फलन्तु ज्ञानोपायैकलभ्यमित्यपेक्षायामाह—सर्वारम्भा इति । हि यस्मादैहिकामुष्मिकापवर्गिकफलसाधनभूताः सर्वाः प्रवृत्तयो धूमेनाग्नरिव दोषेणावृता अनुष्ठानसमये दुःखबहुलोऽपि कर्मादियोगः परिणामे सुखावहस्तथा च न हि मृगाःसन्तीति शालयो नोप्यन्त इति न्यायमनुसृत्य वर्णाश्रमधर्मतयोरीकृतानां नित्यादिकर्मणामनुष्ठानमावश्यकमेव ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

एवं कर्मभिर्ज्ञाननिष्ठामुक्त्वा तस्या अपि निदिध्यासनाख्यं फलमाह—असक्तबुद्धिरिति । सर्वत्र सकलेषु मुक्तीतरस्वर्गादिफलेष्वसक्तबुद्धिरनासक्तबुद्धिः । कर्मफलात्मकाखिलस्वर्गादिविषयकाकांक्षाशून्य इत्यर्थः । तत एव जित आत्मा येन स जितात्मा जितमना विगता स्पृहा यस्य स विगतस्पृहः स्वकर्तृत्वस्पृहाशून्यः पुरुषः सन्यासेन फलकर्तृत्वममत्वपरित्यागेन परमां प्रकृष्टां ज्ञानयोगस्यापि फलस्वरूपामित्यर्थः । निष्कर्मणो भावो नैष्कर्म्यमिन्द्रियव्यापारोपरतिलक्षणोऽनुध्यानध्रुवानुस्मृत्यपरपर्यायो मोक्षस्य साक्षात्साधनात्मको ध्यानयोगस्तस्य सिद्धिमधिगच्छत्यवाप्नोति ॥४९॥

एवं वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठतः कर्मयोगिनो ज्ञानयोगः स्वतः सिद्ध्यति । अथ ज्ञाननिष्ठस्यापि चरमकाष्ठामुपेतं भगवत्प्राप्तेः साक्षात्साधनमनुध्यानमुपदिशति—असक्तबुद्धिरिति । सर्वत्रासक्तबुद्धिः कर्मफलादिष्वभिलापरहितो जितात्मा जितं योगाभ्यासेन वशीकृतं मनो येन तथाविधो विगतस्पृहः स्वशेषिणो भगवतः स्वाम्यानुसन्धानेन स्वकर्तृत्वस्पृहाशून्यः संन्यासेनेति न केवलं ज्ञाननिष्ठयेत्यर्थः । अव्यवहितश्लोके 'सहजं कर्म न त्यजेदिति कर्मत्यागनिषेधविरुद्धत्वात् किन्तु निष्कर्षाध्यायोपक्रमे त्यागापरपर्यायतयोक्तेन संन्यासेन फलकर्तृत्वममत्वत्यागेनेत्यर्थः । 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः, इति श्रुतेः । एतेन शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेन विचारेणेत्यर्थ इति मधुसूदनोक्तिरपाकृता 'सहजं

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अथ 'नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तेः किम्फलमि'त्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह—सिद्धिमिति । हे कौन्तेय ! सिद्धिं भगवदनुध्यानसिद्धिं प्राप्तोऽवाप्तो यथा ब्रह्म प्रकृतिविनिर्मुक्तमात्मानं प्राप्नोत्याप्नोति । साक्षात् करोतीत्यर्थः । तथा तं प्रकारम् । विशुद्धनिष्ठामित्यर्थः । मत्सकाशात् समासेनानतिविस्तरेण । निबोध नितरामवगच्छ । आत्मसाक्षात्कारप्रकारमाकर्णयेत्यर्थः । ज्ञानस्य ज्ञानयोगाज्जायमानस्यानुध्यानस्य या परा निष्ठाऽस्तीति शेषः ॥५०॥

कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेदित्युपक्रमविरुद्धत्वात् । तथा च कर्मानुतिष्ठन्नपि परमां श्रेयःसाधनकाष्ठां गतां नैष्कर्म्यसिद्धिं ज्ञाननिष्ठोत्तरजायमानां श्रेयःसाक्षात्साधनभूतामनुध्यानध्रुवाऽनुस्मृत्यपरपर्य्यायध्याननिष्ठां सर्वेन्द्रियकर्मोपरतिरूपामधिगच्छति प्राप्नोति । अत्र नैष्कर्म्यसिद्धिशब्देन न केवलं ज्ञाननिष्ठामात्रमुच्यते परमामिति तद्विशेषणवैयर्थ्यात् । न वा निष्क्रियात्मरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिः निष्पत्तिस्तां नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां प्रकृष्टां कर्मजसिद्धिविलक्षणां सद्यो मुक्तयवस्थानरूपां संन्यासेन सर्वकर्मसंन्यासेनाधिगच्छतीत्यर्थोऽव्यवहितोत्तरश्लोके 'सिद्धिम्प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोतीत्युपायान्तरनिर्देशवैयर्थ्यात् । तस्मादत्रानेन विशेषणविशिष्टेन शब्देनानुध्यानमेवोच्यते तस्यैव भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षस्य सर्वोत्कृष्टसाधनत्वादिति दिक् ॥४९॥

अथाऽनुध्यानलक्षणनैष्कर्म्यसिद्धेर्यथा मोक्षोपायत्वं तथा प्रक्रिया-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

अथ ब्रह्मप्राप्तिप्रकारमभिदधाति—बुद्ध्येत्यादिना । विशुद्धया यथावदात्मगोचरया संशयादिदोषशून्ययेत्यर्थः । बुद्ध्या युक्तो धृत्याऽऽत्मानं मनो नियम्य विषयवैमुख्यापादनेनात्मतत्त्वमात्रावलोकनक्षमं विधाय । शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वाऽमाचरन् वक्तुं प्रतिजानीते—सिद्धिमिति । हे कौन्तेय ! भगवदनुध्यानलक्षणां ज्ञाननिष्ठाफलभूतां परमपुरुषानुरक्तिं प्राप्तो दृढभक्तः यथा येन प्रकारेण यया निष्ठया ब्रह्म प्रकृतिविनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं प्राप्नोति साक्षात्करोति तथा तत्प्रकारं विशुद्धनिष्ठां समासेन मे मत्सकाशान्निबोध नितरामवगच्छ । या च ज्ञानयोगजन्यानुध्यानस्य पराऽन्तिमोत्कृष्टेतियावन्निष्ठाऽस्तीति । अत्र सिद्धिं परां भक्तिं यथा येन प्रकारेण प्राप्तः सन् ब्रह्म प्राप्नोति, इति श्रीकेशवकाश्मीरिभिर्व्याख्यातं तत्तु न युक्तं प्राप्तिकर्मभूतसिद्धेः पूर्वमेव वृत्तत्वात्तत्र प्रकारविवेचनोपक्रमस्य नैष्फल्यात् । एतेन यथा सिद्धिं प्राप्तो ब्रह्म प्राप्नोतीत्यग्रिमकथनमपि व्याख्यातं प्रक्रान्तविरोधात् । तस्मात्सिद्धिं प्राप्तः प्रपन्नो यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तथा निबोध इत्येव योजना युक्तेति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥५०॥

प्रतिज्ञातं ब्रह्मप्राप्तेः प्रकारमभिधत्ते—बुद्ध्येति । विशुद्धयोद्रिक्तसत्त्वप्रधानया बुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च पूर्वोक्तया सात्त्विक्या धृत्या मनसश्चाञ्चल्यमुन्मूलयित्वाऽऽत्मावलोकनैककार्ये समवस्थाप्य शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा दूरतः परिहृत्येष्टानिष्टेषु तेषु रागद्वेषौ च

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

पहाय रागद्वेषौ विषयसान्निध्यप्रयुक्तरागद्वेषौ व्युदस्य च । रागद्वेषयोर्निरासं च कृत्वेत्यर्थः । विविक्तं सेवत इति विविक्तसेवी ध्यानाविरोधिदेशवासशीलो लघ्वाशी मिताहारी । वाक्च कायश्चमानसञ्चेति वाक्कायमानसानि यतानि वाक्कायमानसानि येन स यतवाक्कायमानसो निरुद्धवाक्कायमानसवृत्तिर्नित्यं ध्यानयोगपरः स्वात्ममात्रावलोकननिरतो वैराग्यं समुपाश्रितो दोषमीमांसया ध्येयेतरगतत्त्वेषु वैराग्यमवाप्तः सन्नहंकारमात्मव्यतिरिक्तेष्वात्माभिमानं बलं वासनाबलं दर्पं बलादिहेतुकं गर्वं कामं विषयस्पृहां क्रोधं विषयावाप्तिविघातहेतुकं द्वेषं परिग्रहमशनवसनधनादिसंग्रहं विमुच्य परित्यज्य निर्ममः कायकलत्रापत्यादिविषयकममत्ववर्जितः शान्त आत्मस्वरूपे निश्चलचित्तवृत्तिर्ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते सामर्थ्यवान् भवति । यथावस्थितात्मानुभवसमर्थो भवतीत्यर्थः ५१।५२।५३

व्युदस्य विविक्तसेवी ध्यानोपघातिविवर्जितदेशनिवासशीलो लघ्वाशी मितपूताहारनिरतो यतवाक्कायमानसः वपुषो वाङ्मनसयोश्च निरुद्धवृत्तिको ध्येयात्मस्वरूपातिरिक्तेऽशेषे वस्तुनि वैराग्यं समुपाश्रितः सन् नित्यं ध्यानयोगपरः स्वात्मालोकनैककार्यः अहंकारं देहगेहाद्यनात्मवस्तुष्वात्माभिमानं बलं करणकलेवरादिसामर्थ्यं दर्पं बलादिजन्यं गर्वं

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

एवमुक्तं स्वस्वरूपपरिज्ञानं स्वशेषिणि परमपुरुषे परभक्तिमुत्पादयतीत्याह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मभूतः प्रादुर्भूतानवच्छिन्नज्ञानस्वभावात्मस्वरूपः प्रसन्नात्मा क्लेशकर्मादिदोषशशून्यचेतस्को न शोचति मदतिरिक्तं कमपि न शोचति । गुरुणापि शोकेन विचलितो न भवतीर्थः । उक्तश्च प्राक्—यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' । (गी. ६।२२) कांक्षति 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'(गी.६।२२) इत्युक्तप्रकारेण मदतिरिक्तं कञ्चिदपि न चाभिलषति । सर्वेषु भूतेषु समः साम्यं दधानश्च स परां परमोत्कृष्टां मद्भक्तिं सर्वजगदेककारणे सर्वेश्वरे च मयि भक्तिं लभते समवाप्नोति ॥५४॥

कामं विषयाभिलाषं क्रोधं विषयलिप्साविघातजं द्वेषं परिग्रहं स्वेष्टसिद्धयेऽशनवसनादीना संग्रहं विमुच्य सर्वथा सन्त्यज्य निर्ममो देहापत्यकलत्रादिषु ममताशून्यः शान्त आत्मस्वरूपे निश्चलचित्त एतद्धर्मविशिष्टो ध्यानयोगी ब्रह्मभूयाय कल्पते प्रकृतिवियुक्तमात्मस्वरूपं साक्षात्कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः ॥५१॥५२॥५३॥

एवं कर्मज्ञानध्यानयोगैः प्रकृतिवियुक्तमात्मस्वरूपं साक्षात्कृत्य तत एव परमात्मपदप्रदेशिनीं सर्वसाधनान्तरंगभूतां परभक्तिं प्राप्नोतीतीदानीमभिधत्ते—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मभूतः मच्छेषत्वैकस्वभावस्यापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्य स्वस्वरूपस्य परिज्ञाता प्रत्यगात्मनोऽन्तर्यामिभगवच्छेषता च 'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्, इत्यादितदी-

यवचनैरेवावगम्यते । प्रसन्नात्मा प्रसन्नं क्लेशादिकालुष्यविवर्जितत्वान्निर्मलमात्माऽन्तःकरणं यस्य स क्लेशकर्मविपाकाशयैः परामृष्टे चेतसि न परमपुरुषानुरक्तिरूपा परभक्तिरुत्पद्यतेऽभिधीयत एवैतदसकृच्छास्त्रेषु । तथा च पुराणरत्ने 'अनेकजन्मसाहस्त्रैर्नाना योन्यन्तरे पुनः । जन्तोः कल्मषहीनस्य भक्तिर्भवति केशवे, (वि. ध. प्र-५७-४) तथैवान्यत्रापि 'न वध्नाति पदं हंसः कदाचित्कर्दमाम्भसि । न योग्या केशवस्तुत्यै वाग्दुष्टा चानृतादिना, (वि. ध. ८।११) इति । न शोचति मद्दते नान्यं कमपि प्राणिविशेषं शोचति । न कांक्षति—मां विनाऽन्यं किमपि नैवेच्छति । एतदेवोक्तं स्वयमेकादशे—न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम । वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् , (भा. ११।२०।३४) दर्शितश्चैवमेव कांक्षाभावो वृत्रभक्तेन 'न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवो वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे, (भा. ६।११।२५) अत एवाणिमादिसिद्धयोऽप्यन्तरायरूपं मत्वा भगवत्प्रपन्नो यदृच्छोपपन्नास्ताः सत्वरं जहाति । तदप्युक्तमेकादशे 'अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमात्मनः । मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः, (भा. ११।१५।३३) इति । समः सर्वेषु भूतेषु—अत एव मयि निबद्धहृदयो मद्भक्तः सर्वप्राणिषु समः साम्यं दधानो वर्तते । भगवदेकमनस्कस्याखिलजागतिकवस्तुषु रागद्वेषयोरभावात्सर्वत्र साम्यं स्वत एव जायत इति भावः । तथा मद्भक्तो मद्भक्तिं मयि सर्वेश्वरे सर्वजगदेककारणे पुरुषोत्तमे परां बाह्यान्तरङ्गसाधनेभ्यः परमोत्कृष्टां भक्तिं लभते ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

एवं प्रोक्तायाः परभक्तेर्मोक्षाख्यं फलमाह—भक्त्येति । अहं यावान् गुणतो विभूतितश्च यावानस्मि । यद्गुणविशिष्टो यद्विभूतिविशिष्टश्चाहमस्मीत्यर्थः । यश्च स्वरूपतः स्वभावतश्च योऽस्मि । यत्स्वरूपविशिष्टो यत्स्वभावविशिष्टश्चाहमस्मीत्यर्थः । भक्त्या प्रेमपूर्वकेणानुध्यानेन तं मां स योगी तत्त्वतो याथातथ्येनाभिजानाति । तत्त्वतो गुणविभूतिस्वरूपस्वभावैश्च यथार्थरूपेण ज्ञात्वाऽवगम्य तदनन्तरं ततो भक्तितो मां विशते भक्त्या मत्सायुज्यमवाप्नोतीत्यर्थः । अत्र भक्तिज्ञानयोरन्योन्याश्रयस्तु वक्तुमशक्यो, भक्तेः पर्वभेदेन परिहारात् ॥५५॥

एवं सहेतुकं परभक्तेः स्वरूपमुपदिश्य तत्फलमिदानीमभिधत्ते—भक्त्येति । प्रोक्तया भक्त्या सर्वेश्वरं निखलजगदेकहेतुं मां यावान् यश्चास्मि स्वरूपतः स्वभावतश्च योऽस्मि गुणतो विभूतितश्च यावानस्मि तत्वतोऽभिजानाति । तत्त्वयाथार्थ्येन ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः । एतदभिप्रायेणैवाभियुक्तैर्भक्तिज्ञानाय कल्पत इत्यभिधीयते । न तु भक्तेरनन्तरं ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञानेनैव च मुक्तिरित्युक्तिः समीचीना । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, इत्युत्तरवाक्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । मां तत्त्वतोऽभिजानातीत्युक्त्वाऽपि भूयस्तत्त्वतो ज्ञात्वेत्युक्तिरस्य भक्तिरूपसाधनस्येष्टतमत्वेनात्रादरातिशयं द्योतयितुम् । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, इत्यस्य ततोऽनन्तरं तत्त्वतो ज्ञात्वेति नार्थस्तदनन्तरपदस्य

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

एवं नित्यादिकर्मणां ज्ञानध्यानपरभक्तिनिष्ठया स्वपरस्व- वैवर्थ्यापत्तेः । न वा तत इति पूर्वार्धोपात्तेन ज्ञानेनेत्यर्थः । ज्ञानेन ज्ञात्वेति व्याघातपराहतत्वात् । अतस्तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं ततो भक्तितो मां विशते । मदीयस्वरूपस्वभावगुणविभूतिपरिज्ञानसमनन्तरसमुदभूत-निरतिशयानुरक्तिरूपपरमभक्त्या मत्सायुज्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । न चात्र विशतेरव्यवहितपूर्वतया तत्त्वतो ज्ञात्वेति ज्ञानमेवाभिधीयत इति वाच्यम् । भक्त्या मां तत्त्वतोऽभिजानातीत्युक्त्वा भूयस्तत्त्वतो ज्ञात्वेत्युक्तौ पौनरुक्त्यात् । तस्मादत्र व्यवहिताया अपि भक्तेः प्रवेशहेतुतया तत इतिशब्देनोपादानस्येष्टत्वात् । अत एवैकादशाध्याये 'भक्त्या त्वनन्य-या शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुंश्च तत्त्वेन प्रवेष्टुंश्च परन्तप (गी. ११।५४) इति स्वकण्ठरवेणैव भक्तेः प्रवेशहेतुत्वस्योक्तत्वात्तदैका-र्थ्याच्चात्रापि भक्तेरेव प्रवेशहेतुत्वमक्षुण्णम् । तथा चायमत्र क्रमः फलितः । आदौ वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिकादिकर्माणि फलाभिसन्धि-रहितान्यनुष्ठाय निर्मलमना जातवैराग्यः सद्गुरुमुपसम्पद्य कर्मसचिवज्ञान-योगमनुतिष्ठेत्ततस्तत्फलभूतनैष्कर्म्यसिद्धिरूपानुध्यानेन परभक्तिपदवाच्ये-न प्राकृतबन्धविनिर्मुक्तं प्रत्यगात्मनः स्वरूपं साक्षाद्विजानीयात् । एत-ज्ज्ञानेन विगलितकर्मबन्धस्य मुमुक्षोर्भगवति श्रद्धोद्दीपिताऽनुरक्तिरुप-जायते । इयमेव च परमभक्तिर्महापुरुषस्य श्रीरामस्य सायुज्यमर्पयतीति शास्त्ररहस्यम् ॥ ॥५५॥

एवं फलकर्तृत्वममतात्यागपूर्वकमनुष्ठितानां नित्यादिकर्मणां परम्परया

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

रूपावाप्तिलक्षणमोक्षप्रापकत्वमुक्त्वाऽन्येषामपि विहितानां कर्मणां भगवत्प्रसादेन तथाविधैव फलोपलब्धिरित्याह—सर्वक-र्माणीति । सर्वकर्माणि शास्त्रविहितानि निखिलानि कर्माणि । काम्यकर्माण्यपीत्यर्थः । सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयोऽहमेव व्यपा श्रयः समाश्रयणीयो यस्य स तथाभूतो मत्प्रपन्नो मत्प्रसादान्म-दनुग्रहाच्छाश्वतं नित्यमव्ययमविकारं पदं मदीयं धाम समवा-प्नोति ॥५६॥

यस्मादेवं तस्मात् । चेतसा स्वस्यात्मनो मत्प्रेर्यत्वमिति बुद्ध्या सर्वकर्माणि विहितानि वैदिकलौकिकानि मयि सर्वनि-
भगवत्प्रसत्तिजनकत्वमुक्तमिदानीं काम्यकर्मणामपि सर्वनियामके भग-वति फलकर्तृत्वादिसमर्पिते सति तथैव फलमुपलभ्यत इत्युच्यते—सर्वकर्माणीति । सर्वकर्माणि शास्त्रविहितानि न केवलं नित्यनैमित्तिकानि कर्माण्येवापि तु तथाविधानि काम्यान्यपि वैदिकलौकिकानि कर्माणि कुर्वाणः सदा मद्व्यपाश्रयोऽहमेव व्यपाश्रय आश्रयणीयः समारा-धनीयो यस्य स मदर्पितफलकर्तृत्वादिभरो मत्प्रपन्नो मत्प्रसादान्मदनु-ग्रहाच्छाश्वतं नित्यमव्ययं निर्विकारं पदं मदीयधामावाप्नोति ॥५६॥

यस्मात्सर्वकर्मणां मत्प्रसादोपलब्धिरेव फलं तस्मात्तदुपपत्तय एव यत्नो विधेय इति स्वकीयं दृढं सिद्धान्तमभिधत्ते—चेतसेति । जीवात्मनो मत्प्रेर्यत्वमिति ज्ञाननियन्त्रितेन मनसा सर्वकर्माणि

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

यन्तरि संन्यस्य समर्प्य मत्परः मदेकाश्रयः सन् बुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं सर्वस्मिन् काले मच्चित्तो भव मय्येव चित्तं संस्थाप्य स्थिरो भव ॥५७॥

भगवच्चित्तस्य फलमाह—मच्चित्त इति । मयि चित्तं यस्य स मच्चितो मच्चेतस्कस्त्वं मत्प्रसादान्निरुक्तकर्मानुष्ठानहेतुकान्मदनुग्रहात् सर्वदुर्गाणि निखिलानि संसारसम्बन्धीनि दुर्गाणि तरिष्यसि । अथ चेद्यदि त्वमहङ्कारान्मद्वचनं न श्रोष्यसि तर्हि विनंक्ष्यसि विनाशमवाप्स्यसि । त्वया मन्नियोगानतिक्रशास्त्रविहितानि नित्यनैमित्तिककाम्यात्मकानि कर्माणि मयि स्वशेषिणि सर्वेश्वरे संन्यस्य 'मयिसर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः', (गी० ३।) इति तृतीयाध्यायोक्तरीत्या समर्प्य मत्परोऽहमेव परः प्राप्यः प्रापकश्च यस्य स बुद्धियोगमुपाश्रित्य कर्मानुतिष्ठन्नपीममेव कर्तव्यबुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं मच्चित्तो मय्येव चित्तं समर्प्य स्थिरो भव । मयि लग्नहृदयः स्वाधिकारोचितानी सर्वाणि युद्धादीनि कर्माणि कुर्वन्नपि न दोषभागिति भावः ॥५७॥

अथ भगवन्मनस्कतायाः सत्व आत्यन्तिकी सर्वक्लेशनिवृत्तिस्तदसत्वे तु विनाश इत्येतद्विषमं फलद्वयं स्पष्टमभिधत्ते—मच्चित्त इति । मच्चित्तो मदुक्तप्रकारेण बुद्धियोगयुक्तस्त्वं मच्चित्तो वर्णाश्रमोचितानि सर्वाणि कर्माण्यनुतिष्ठन् सर्वाणि दुर्गाणि सांसारिकक्लेशबहुलानि

यद्यहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

मणे सर्वं भरः सर्वज्ञस्य ममैव स्यान्न तु तव । मन्नियोगातिक्रमणे त्वहमुदासीनः स्यामतः प्रकृतिपराधीनेन त्वयाऽऽचरितस्याहितस्यानिष्टं फलं तवैव स्यादिति भावः ॥५८॥

किञ्च संग्रामत्यागोऽपि त्वया कर्तुं न शक्यत इत्याह—यदीति । यद्यहंकारमाश्रित्य मत्कथनमतिक्रम्य 'अहं न योत्स्ये' दुस्तराणि दुःखबन्धनानि मत्प्रसादादेव तरिष्यसि । एवं बुद्धियोगमधिष्ठाय शास्त्रविहितानि स्वाधिकारानुगुणनित्यादिकर्माण्यवश्यमाजीवनमनुष्ठेयानि मोक्षैकोपायपरमपुरुषप्रसादप्रापकत्वादित्यनेन स्थिरीकृत्य विपक्षेऽनिष्टफलमभिधत्ते—अथेति । अथेति पक्षान्तरपग्रिहे । अथ त्वमहंकारात् स्वकर्तव्यमहं सम्यग्वेदातोऽहं कृतकृत्योऽस्मीत्यभिमानान्न श्रोष्यसि । शृण्वन्तमपि न श्रोष्यसीति कथनं संश्रुत्यानुष्ठानपर्यन्तार्थकं ज्ञेयम् । तेन मदुक्तं संश्रुत्य नानुष्ठास्यसि चेदिति तात्पर्यं धत्ते । अनुष्ठानस्य फलमाह विनंक्ष्यसि । यथाऽत्र यावदसकृत्संसारगर्तपातोऽनुभूतस्तथा भूयोऽप्यनुभविष्यसीत्यर्थः ॥५८॥

एवं हितावहभगदुक्ताश्रुतेः समरविरतिः फलमापाततः क्षणिकसुखदं प्रतिभाति किन्तु विपाके विनाशकारणमेवेत्यभिहितम् । इदानीं बहुविधेषु कर्मयोगेषु संयदतिरिक्तं किमपि मयानुष्ठेयं तथा सति भगवद्वाक्यश्रुतौ न विनाशाख्यं फलमुत्पत्स्यत इत्यर्जुनाशयं मनसि कृत्वा वर्णधर्मतया क्षत्रियस्य प्रधनं प्रधानमावश्यकञ्च कर्म तदशक्यत्यागमित्यभिधत्ते—यदीति । यद्यहंकारं 'स्वकर्तव्येऽहमेव स्वतन्त्र' इत्याका-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥३०॥

इति यदि त्वं मन्यसे चेत् तर्हि ते तवैष व्यवसायो मिथ्या । तत्र हेतुमाह—प्रकृतिरिति । यतः प्रकृतिः पूर्ववासनानुगुणः स्वभावस्त्वां प्रसह्य युद्धे नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति ॥५९॥

उक्तार्थमुपपादयति-स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! मोहाद् विपरीतज्ञानाद् यद् युद्धादिकं कर्त्तुं विधातुं नेच्छसि, स्वभावजेन तव क्षत्रियस्य प्राक्तनसंस्कारजनितेन स्वेन स्वीयेन कर्मणा शौर्य्यादिना निबद्धस्त्वं तदेवावशोऽसह्यशत्रुतिरस्कारप्रेरितः सन् करिष्यसि ॥६०॥

रकमभिमानमाश्रित्य शश्वद्धितावहमपि मद्वाक्यमनादृत्य न योत्स्य इति मन्यस एष ते व्यवसायः स्वातन्त्र्याभिमानजनितप्रधनविरतिरूपोऽध्यवसायो मिथ्यैव यतः प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति सर्वज्ञस्य सर्वेशितुर्मम पारतन्त्र्यं त्यक्त्वा प्रकृतिपारवश्ये सैव स्वभावात्मना परिणता प्रकृतिस्त्वां युद्धे नियोक्ष्यति, स्वभावस्यानतिक्रमणीयत्वादिति भावः ॥५९॥

तदेवोपपादयति—स्वभावजेनेति । स्वभावजेन 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्' (गी. १८) इत्युक्तप्रकारेण क्षत्रियस्वभावजनितशौर्यादिलक्षणेन स्वेन कर्मणा निबद्धः समन्वितो यदिदानीं मोहान्मनोवैक्लव्याद्युद्धं कर्त्तुं नेच्छसि तदवशः क्षात्रस्वभावनियन्त्रितमनाः परधर्षणां सोढुमशक्नुवानस्तं करिष्यस्येव । इदानीं समरमनिच्छन्नप्यागामिनि समये तं करिष्यसीत्यस्य यदृच्छयोपनतं धर्मसंग्रामं मोहादिदानीम्परित्यज्य परापवादपरिजिहीर्षया भविष्यत्समये पुनस्तदाचरणं तव व्रीडायै स्यादितिभावः । हे कौन्तेय ! वीरसूकुन्तेस्तनयस्य तेऽनुचितमेतदिति सम्बोधनाशयः ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

नन्वचेतना प्रकृतिः कथं मां प्रेरयेदित्यत आह—ईश्वर इति । हे अर्जुन ! ईष्ट इतीश्वरः सर्वनियामको भगवान् श्रीरामो यन्त्रारूढानि प्राक्तनकर्मानुसृत्येश्वरसृष्टशरीरात्मकयन्त्रस्थितानि सर्वभूतानि मायया सत्त्वादिगुणमय्या प्रकृत्या भ्रामयन् प्राक्तनकर्मानुगुणं प्रवर्त्तयन् सर्वभूतानामखिलप्राणिनां हृद्देशे सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतज्ञानावासस्थलहृदयप्रदेशे तिष्ठति । सर्वान्तर्यामिरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । तथा च श्रुतयः 'य आत्मनि तिष्ठन् 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामि' त्यादयः । स्मृतयश्च 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ।' इत्याद्याः ॥६१॥

ननु स्वाभाविकं कर्म कथं हेयोपादेयेषु प्रवर्तकं तस्य जडत्वात् । यदि जडत्वेऽप्ययस्कान्तमणिवत्प्रवर्तकत्वमङ्गीक्रियते तस्य चेत्कृतमीश्वरेण, कुतस्तर्हि मच्चित्तः सर्वकर्माणि मयि संन्यस्येत्यादित्वद्वचांसि संगच्छन्तामित्यर्जुनाशंकामपाकुर्वन्नीश्वरायत्तामेव सर्वजगत्प्रवृत्तिं शास्ति—ईश्वर-इति । हे अर्जुन ! ईश्वरः सर्वैश्वर्यशाली सर्वनियामकः परमात्मा श्रीरामः

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।६२।

यद्येवं तर्हीश्वरप्रचारितायाा अस्या मायाभ्रान्तेः कदाचिदपि निवृत्तिर्न स्यादित्यत आह—तमिति। हे भारत ! तमेव हृद्देशेऽवस्थितं सर्वप्रेरकं भक्तवात्सल्येनेदानीं त्वत्सारथ्येऽवस्थितं मामिति सूचितम्। सर्वभावेन सर्वप्रकारेण वचसा मनसा कायेन च शरणं गच्छ तथा सति तत्प्रसादात् तस्य हृदयान्तर्यामिणोऽनुग्रहात् परां शान्ति शाश्वतं च स्थानं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'। 'तेषां तत्परमं स्थानं सदा पश्यन्ति सूरयः, इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यं प्राप्स्यसि ॥६२॥

यन्त्रारूढानि करणकलेवरसमुदायरूपे प्राकृते यन्त्रवद्यन्त्र आरूढानि सर्वभूतानि सत्वादिगुणमय्या प्राकृतकार्यजनन्या स्वाश्रितया मायया भ्रामयन् सर्वकर्मसु प्रवर्तयन् सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति। परमेश्वरस्य सर्वप्राणिनां हृदयदेशेऽवस्थानं तेषां प्रेरकत्वञ्च श्रुतिस्मृतिषु चासकृद्धोष्यते।'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः, (श्वे-४।१७) 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा, 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा, (श्वे०) 'य आत्मनि तिष्ठन्, सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः (गी-१५।) इत्यादिषु ॥६१॥

ननु 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्, (श्वे०—इति श्रुतेर्मायापतिर्महेश्वर एव स्वमायया जन्तून् भ्रामयति चेन्नतरामस्य मायाभ्रमणस्य जातु निवृत्तिः स्यादित्याशङ्कायाः 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते,(गी०)इत्यनेनोक्तं समाधानं द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति

न्यायेन प्रकरणान्ते भूयः स्मारयन्नभिधत्ते—तमिति। हेभारत यद्येवं तर्हि सर्वभावेन सर्वप्रकारेण वाचा मनसा कायेन तमेव मायाप्रेरकं मायाधिपतिं सर्वेषां नियामकं प्रपन्नार्तिहरत्वेन त्वद्रक्षणतत्परमत एवं त्वत्सारथ्येऽवस्थितमित्थं कुर्विति च शासितारं जगदीश्वरमेव। एवकारेण तदाश्रितमायाया निवर्तकोऽन्यो व्यवच्छिद्यते। शरणं गच्छ स्वरक्षकत्वेन शरणं कुरु। तदाज्ञानुवर्तनात्कृतेऽप्याहवे त्वदीयो विजय एव निश्चित इति भावः। कर्तव्याकर्तव्यभरस्य तस्मिन् न्यस्ते सति शरणागतवत्सलः करुणासिन्धुः स भगवान् सर्वथा त्वच्छ्रेयो विधास्यतीति परमार्थः। आश्रितरक्षकत्वादिधर्मास्तस्मिन् स्वाभाविका एव सन्तीति स्पष्टमेतच्छ्रीमति रामायणे 'सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने' (वा० रा० यु०) 'विदितः स हि धर्मज्ञः कौशल्यानन्दवर्धनः, (वा० रा०) इत्यादिषु। एवं तच्छरणमुपगतस्त्वं तत्प्रसादात् परां शान्ति त्वदीयश्रेयोविरोधिक्लेशजातनिवृत्तिं शाश्वतं च स्थानं निश्शेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यलक्षणं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्, (का०) 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्याद्यनेकश्रुतिप्रतिपाद्यं परमात्मनः स्थानमस्ति। यस्य च महात्म्यमितिहासपुराणयोरसकृदुद्घोष्यते। तथा च पाद्मोत्तरखण्डे। त्रिपाद्व्याप्तिः परं धाम पादोऽस्येहाभवत्पुनः। त्रिपाद्विभूतिर्नित्या स्यादनित्यं पादमैश्वरम्। नित्यं तद्रूपमीशस्य परधाम्नि स्थितं शिवम्। अमृतं शाश्वतं दिव्यं सदा यौवनमास्थितम्। इति भगवत्स्वरूपमुपवर्ण्य अमृतं शाश्वतं नित्यमनन्तं परमं पदम्। शुद्धसत्त्वमयं दिव्यमक्षरं ब्रह्मणः

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

एवमनुष्ठेयतया सपरिकरं कर्मज्ञानभक्तियोगस्वरूपमभिहितं तेषूपादेयनिर्णयस्त्वदधीन इत्याह—इतीति । इत्यनेन प्रकारेण ते तुभ्यं प्रपन्नाय मया त्वद्धितैषिणा गुह्याद्गुह्यतरमैहिकादिफलप्रदाद् रहस्यभूताज्ज्ञानादतिरहस्यं कर्मज्ञानभक्तियोगलक्षणं मोक्षोपायभूतं निखिलं ज्ञानमाख्यातमेतत्त्रयमप्यशेषेण विमृश्य विवेकदृष्ट्या सम्यक् प्रविचार्य यथेच्छसि तथा कुरु । वर्णाश्रमधर्मतयाऽवश्यानुष्ठेयं कर्मयोगं तत्साध्यं ज्ञानयोगं ततोप्यन्तरङ्गभूतं कर्मज्ञानाभ्यां साध्यं भक्तियोगं वा अनुतिष्ठेत्यर्थः ॥६३॥

पदम् । महाभारते मोक्षधर्म्मे च 'रम्याणि कामचाराणि विमानानि सभास्तथा । आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चामलोदकाः । एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः (मो०) इति । पुराणरत्नेऽपि—एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः, इति । एतादृशं दिव्यमप्राकृतमविनश्वरं स्थानं प्राप्स्यसि ॥६२॥

एवमर्जुनजिज्ञासामधिकृत्य संसृतिक्लेशकवलितार्तादिस्वकीयभक्तजनोद्दिधीर्षया कर्मज्ञानभक्तिनिष्ठालक्षणं त्रय्यन्तविद्यारहस्यं प्राचीकटदधिभूतलं भगवान् गोविन्दः । तदेतन्निगमयन्निदानीमेषु स्वोचितं चेतसि विचारचुञ्चुना त्वया यदुपादेयं तत् स्वविचारेण विनिश्चित्य यथेच्छमनुतिष्ठेत्यभिधत्ते—इतीति । इत्येवं प्रकारेण ते 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्, इति पूर्वोक्तरीत्या शिष्याय प्रपन्नाय तुभ्यं मया

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

एवं गीताशास्त्रं स्वानन्यभक्तायार्जुनायोपदिश्य तत्सर्वपरिशीलनक्लेशविनाशाय तत्सारभूतं तत्त्वं स्वयमेव करुणया प्राह—सर्वगुह्यतममिति । सर्वगुह्यतमं प्रोक्तेषु कर्मयोगादिषु गुह्येष्वपि गुह्यतमं परमरहस्यभूतं वाच्यार्थस्य गुह्यतमत्वे तत्प्रतिपादकवचसि गुह्यतमत्वोपचारः । मे मम सर्वज्ञस्य परमुत्कृष्टं वचो भूयोऽपि पूर्वमसकृदुपदिष्टमपि पुनः शृणु । श्रवणमत्रावधारणपर्यन्तमतः श्रुत्वावधारयेत्यर्थः । यतस्त्वं ममेष्टः प्रियोऽसि दृढमति दृढाध्यवसायश्चासि । ततस्तव हितं श्रेयःसाधकमेव वक्ष्यामि ॥६४॥

लोकगुरुणा सर्वज्ञेन त्वद्धितैषिणा गुह्याच्छ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसम्पाद्यज्ञानादपि गुह्यतरं वेदान्तनिष्पाद्यकर्मज्ञानभक्तियोगशब्दैरभिलप्यं मुमुक्षुजनोपकारकं ज्ञानमाख्यातमेतदशेषेण विमृश्य पूर्वापूर्वपरित्यागमन्तरेणैव यथेच्छसि तथा कुरु । अयमभिसन्धिः । पूर्वं हि चित्तकल्मषमपनेतुं विद्याश्च सम्पादयितुं कर्माण्यनुष्ठेयानि सम्पन्नज्ञानभक्तियोगेनापि तदुपचयाय वर्णाश्रमोचितकर्मणां यावज्जीवमनुष्ठानमावश्यकमेव । निर्णीतञ्चैतत्' सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्, (ब्र. सू.) इति पारमर्षे सूत्रे । ज्ञानस्य परभक्त्युत्पादकतया भक्तेश्च श्रेयोऽन्तरंगसाधनतया नियताऽनुष्ठेयत्वमिति त्रयाणामप्यनुष्ठेयता सिद्ध्यति । एवं स्थिते स्वाधिकारानुरूपं विमृश्य यथेच्छमनुतिष्ठेति तात्पर्यम् ॥६३॥

एवमैहिकफलकार्थशास्त्रादिजन्यज्ञानापेक्षया पारलौकिकस्वर्गादि-

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

तदेवाह–मन्मना इति । **मद्भक्तो मद्भजनैकपरायणस्त्वं मन्मना मय्यनन्यमनसानुरक्तिमान् भव तथा मद्भक्तः सन्** साधनधर्मं ज्ञानस्य गुह्यत्वं तदपेक्षयाऽपवर्गोपायतया निर्दिष्टानां कर्मज्ञानभक्तियोगानां गुह्यतरत्वमव्यवहितपूर्वश्लोके विवृतम् । कर्मज्ञानाभ्यां भक्तेः साध्यतयोत्कृष्टत्वेऽपि पूर्वावस्थाविशिष्टायास्तस्या गुह्यतरत्वमेव । काष्ठाङ्गतायास्तु परभक्तेः सर्वोत्तमोपायत्वाद् गुह्यतमत्वमाचार्यैः स्वीकृतम् । तदेतदिदानीं प्रणतजनोद्धरणबद्धपरिकरो भगवान् स्वकीयं हार्दं प्राङ्नवमाध्याये 'इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि, (गी० ९।) इत्युक्तमपि भूयः स्वोपदेशान्ते सिद्धान्ततया व्यवस्थापयन् तमनुष्ठातुं प्रतिपादयति—सर्वगुह्यतममिति । सर्वगुह्यतमं सर्वेषु प्रोक्तेषु गुह्येषु गुह्यतरेषु च गुह्यतममतिशयेन गुह्यं गुह्यतममतिरहस्यं परमपुरुषप्राप्तेः साक्षात्साधनत्वेन सर्वोपायप्रधानं परभक्तियोगावेदकं मे सर्वलोकगुरोः परमेश्वरस्य परमं कर्तव्यावदेकाखिलवचस्सु अस्य पारम्यं सर्वोत्कृष्टोपायप्रतिपादकतया बोध्यम् । इदमेव वचश्चरमोपायप्रतिपादकत्वात् परमं नास्मात्परमुपायविषये किमपि वचोऽवशिष्यत इति भावः । यतस्त्वं मे मम प्रपन्न इष्टः प्रियोऽसि दृढमती रहस्यार्थधारणबुद्धिसम्पन्नश्च ततस्तेनैवापृष्टोऽपि सन्नहं ते तव हितमैहिकपारलौकिकापवर्गिकफलसाधकं प्रेम्णा वक्ष्यामि ॥६४॥

प्रतिज्ञातं **सर्वगुह्यतममेवार्थमुपदिशति–मद्भक्तो मयि निरतिशय-प्रीतिविशिष्टो मत्कैङ्कर्यानुरक्तिरसिको मन्मना भव मय्येव मनो यस्य स**

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मद्याजी निरतिशयप्रियमद्यजनशीलो भव, मां नमस्कुरु मामेव सर्वेश्वरं सांष्टाङ्गप्रणिपातं कुरु । एवं कुर्वंस्त्वं मामेव नित्यनिरवद्यसर्वकल्याणगुणाकरं सर्वान्तर्यामिणमेष्यसि। एतद्वचः सत्यं ते प्रतिजाने तवाग्रे प्रतिज्ञां करोमि । न केवलं वाङ्मात्रेण प्रलोभनं करोमि यतस्त्वं प्रियोऽसि मे तव यथा मय्यनुरागोऽस्ति तथा ममाप्यतिशयप्रीतिस्त्वयि वर्तते । अतस्त्वमतिमात्रं प्रियोऽस्यतो मामेव प्राप्स्यसीति सप्रतिज्ञमुच्यते मया । नात्र सन्देहलेशोऽपि कार्य इति भावः ॥६५॥

मन्मना मद्व्यतिरिक्तेभ्यः समस्तविषयेभ्यो मनः समाकृष्य मय्येवानन्दसिन्धौ निश्चलं कुर्वित्यर्थः । अयमभिसन्धिः । "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, (बृहदा०) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय, (पु० सू०) 'आत्मेत्येवोपासीत, (बृहदा०) 'यो हृदयाकाशे य एतस्मिन्नन्तरे सञ्चरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीत, (सु०५) इत्याद्याम्नायान्तवचनैर्वेदननिदिध्यासनादिशब्दैः परभक्तेः पराकाष्ठाप्राप्तमुपासनमेव विधीयते । अत एव 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, (बृहदा०) इति श्रुतिर्ज्ञानोत्तरं प्रज्ञापदवाच्यमनुस्मृत्यपरपर्य्यायं तदेवोपासनमभिधत्ते । इयञ्चानुस्मृतिर्दर्शनसमानाकारैव सञ्जायते । अत एव च शास्त्रेषु दर्शनशब्देनाप्युच्यते । 'तस्मिन् दृष्टे परावरे, (मु०२।८) अत एव श्रीरामायणे 'वृक्षे वृक्षे प्रपश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्, (वा० आ०) इति मारीचोक्तौ प्रपश्यामीति प्रयोगः संगच्छते । एवञ्चात्रेयमेव दर्शनसनाकाराऽनुस्मृति-

र्मन्मना भवेत्यनेन विधीयते । मद्याजी मद्भक्तशब्दस्यात्राप्यनुवृत्तिरिष्यते मन्निरतिशयप्रेमविशिष्टो मद्यजनतत्परः सर्वदादरातिशयेनाराधनपरायणो भव मत्प्रपन्न यथाऽहं प्रियस्तथा सोऽपि मम प्रियः । उक्तञ्चैतदन्यत्र गीतायामेव 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (गी-७।१७) इति । मां नमस्कुरु । मद्भक्तशब्दस्यात्राप्यनुवृत्तिर्ज्ञेया । तथा चात्यर्थं मत्प्रियो मां सर्वनियन्तारं निःश्रेयसैकहेतुं निरतिशयानुरक्तिपूर्वकमतिमात्रप्रह्वीभावेन सम्पुटसाष्टाङ्गादिप्रणामेन मां भजेत्यर्थः । सम्पुटादिप्रणामलक्षणमित्थं शास्त्रेष्वदर्शि । प्रणामः सम्पुटः स स्यात् हृदयोऽञ्जलिमर्पयेत् । प्रह्वाङ्गः सम्पुटं कुर्यात्सा प्रह्वाङ्गनमस्क्रिया ॥ साष्टाङ्गप्रणिपातस्तु अष्टभिरङ्गैर्भवति, पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा । मनसा वचसा बुद्ध्या प्रणामोष्टाङ्ग उच्यते ॥ इति । भगवन्नमनस्यापि विशिष्टं फलं श्रुतिषूपलभ्यते । 'सर्वैः करणैर्नमस्यन् समग्रो भवति समग्रो नमन्नाप्तकारी भवत्याप्ताकरी भगवन्तमाप्नोति, इति । प्रह्वीभावश्चाहंकारममकारास्पदं सर्वं भगवत एवास्ति न मदीयं किञ्चिदहं तु शश्वत्तत्परतन्त्र एवेत्यनुसन्धानेन समुत्पद्यते । अत्र केचिदाचार्याः 'सर्वं वाक्यं सावधारणमि'ति नियममादृत्यावधारणव्यञ्जकमेकशब्दं संयोज्य व्याचक्षते 'मदेकमना भव, मदेकभक्तो भव, मदेकयाजी भव, मामेकमेव नमस्कुरु, इत्येवं व्याख्यानेनानन्यभावना स्फुटीभवतीत्याहुः ।, मामेवैष्यस्येवमनुतिष्ठन् मद्भक्त एतत्सत्यमेव न तु प्ररोचनफलकमर्थवादरूपं प्रियवचनमात्रम् । ते तव प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि । यतस्त्वं मे प्रियोऽसि । सामान्यतोऽपि धर्मं विजानता सत्यं हितं प्रियमेव च वक्तव्यं किमुत निरतिशयप्रियम्प्रतीति भावः ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

एवं सततस्मरणादिलक्षणपरभक्त्या निश्रेयससिद्धिमभिधाय शरणव्रजनरूपशरणागतिरेव सर्वान् विरोधिभावान्निरस्य परमपुरुषानुभवलक्षणविलक्षणमोक्षसम्पादिकेति स्वकीय सिद्धान्तं दृढयति-सर्वधर्मानिति । सर्वधर्मानित्यत्र धर्मशब्देन 'धर्मेण पापमपनुदती'तिश्रुत्यभिहिता भगवतोऽत्यर्थप्रियेण पुरुषेण सम्पादनीयाया भक्तेः प्रतिबन्धकानामनन्तकालसञ्चितानामकृत्यकरणकृत्याकरणात्मकानां पापानां प्रायाश्चित्तात्मकाः कृच्छ्चान्द्रायणादयो धर्माः समुदीरिताः । ते हि सर्वेत्युक्त्या विविधा बहुवचनेनानन्ताश्च बोध्याः । तथा चानन्तजन्मार्जितानां भगवद्भक्तिप्रतिबन्धकानां पापानां प्रायश्चित्तरूपेण विहि-

भगवतः सत्यवाक्यत्वं तूद्योगपर्वणि स्ववाक्यादेवावगम्यते-द्यौःपतेत्पृथिवी शीर्येद्धिमवाञ्छकलीभवेत् । शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् , इति । अत्रायमभिसन्धिः । भगवत्प्रपन्ने भगवन्निरूपितनिरतिशयप्रीत्याश्रयता स्वतो जायते । तथाविधं प्रपन्नजनं कदाचिदपि त्यक्तुं नोत्सहते परेशः । तथा चोक्तं स्वयमेव । ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे, (भा-९।४।६५) एवम्भूतैर्मदनन्यभक्तैः सह नित्यसम्बन्धाय परमपुरुषः स्वं धर्ममर्पयत्येव । तथा च श्रुतिः । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्, (मु० ३।२।३) इति । च मामेवैष्यसीति प्रतिज्ञैव भगवद्धार्दमभिव्यनक्ति ॥६५॥

तान् विलम्बितफलाननन्तकालसम्पादनीयानत एव दुष्करान् विविधाननन्तांश्च कृच्छ्रचान्द्रायणादीन् सर्वधर्मान् परित्यज्य स्वरूपतस्त्यक्त्वैकं मा सर्वज्ञं सर्वथा समर्थं वात्सल्यादिकल्याणगुणाकरमनन्तकरुणावरुणालयं सर्वेश्वरं च मामेव शरणमुपायं व्रज। सर्वविधसामर्थ्यहीनं दीनं मामवश्यं रक्षिष्यति सर्वविधसमर्थोऽनन्तवात्सल्यादिगुणैकमहार्णवो भगवान् श्रीराम इति महाविश्वासशाल्यध्यवसायात्मकं मत्प्रपदनं विधेहीत्यर्थः। अहं सर्वविधसामर्थ्यशाली सर्वज्ञः 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥' इत्युक्तप्रकारेण स्वाश्रितरक्षणे दीक्षितश्चाहं सर्वेश्वरस्त्वा मां समाश्रितं त्वां सर्वपापेभ्यो मत्प्राप्तिविरोधिभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः शोकं मा कार्षीः। इहोपायबुद्ध्याऽनुष्ठानमेव सर्वधर्माणां वर्जितमिति भगवदाज्ञाकैङ्कर्यरूपतया कर्मणां भगवद्गुणानुभवरूपतया भक्तेश्च प्रपन्नैरनुष्ठानं न दोषावहम्। भगवदर्चनादौ प्रपन्नस्य प्रवृत्तिस्तु नोपाय धिया किन्तु रागादेवेति ध्येयम्। सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वात्सल्यजलधेर्भगवतः श्रीरामस्य स्वभाव एवैष यत् स प्रार्थित एव सर्वं करोतीत्युपायत्वप्रार्थनाऽवश्यकर्त्तव्येत्यपि ध्येयम्। सेयमुपायत्वप्रार्थनैव प्रपत्तिः। प्रारब्धातिरिक्तकर्मनिवर्त्तकोऽसकृदाप्रयाणादनुष्ठेयश्च भक्तियोगः 'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥' इत्यादिभगवद्वचनप्रामाण्या-

दन्तिमस्मृतिमपेक्षते, 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥' इति भगवच्छ्रीरामवचनप्रामाण्यात् सकृदेवानुष्ठेयः 'साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी' इतिवचनप्रामाण्यात् प्रारब्धस्यापि विनाशकश्च प्रपत्तियोगः। 'स्थिरे मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः। धातुसाम्ये स्थिरे स्मर्त्ता विश्वरूपं च मामजम् ॥ ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥', इतिभगवदुक्तेः प्रमाणतयाऽन्तिमस्मृतिं नापेक्षते। इत्युभयोर्भक्तियोगप्रपत्तियोगयोर्विशेषः।

प्रार्थनांशेन शरणागतिपदवाच्य आत्मनिक्षेपांशेन न्यासपदवाच्यश्च प्रपत्तियोग एव। आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं कार्पण्यञ्चेतीमानि प्रपत्तियोगस्य पञ्चाङ्गानि। तथा हि शास्त्रं—"अनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥" (अहिर्बुध्नि- संहिता ३७।२८ इति।)पञ्चापीमानि प्रपत्त्यङ्गानि बोधायनवृत्तिकृता भगवता श्रीपुरुषोत्तमाचार्यबोधायनेन श्रीपुरुषोत्तम- प्रपत्तिषट्के विहितानि। तथा

अथ भगवदनुभवात्मकमोक्षसम्पादिकां भगवच्छरणागतिमाह-सर्वधर्मानिति। सर्वधर्मान् भगवद्भक्तिविरोधिपापप्रायश्चित्तात्मकानखिलान् धर्मान् परित्यज्य स्वरूपतो विहायैकं मामेव सर्वेश्वरं शरणं सर्वविधरक्षणसमर्थमुपायं व्रज प्रपद्यताम्। आत्मसमर्पणरूपां प्रपत्तिं

हि —"राम ! दीनोऽनुकूलोऽहं विश्वस्तोऽप्रातिकूल्यवान्। त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पहि मां पुरुषोत्तम् ! ॥२॥ इति* । "न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः । न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते ॥" (भरद्वाजसंहिता १।१४) इति शास्त्रप्रामाण्यादस्मिन् प्रपत्तियोगे सर्वेषामधिकारः ॥६६॥ विधेहीत्यर्थः । अहं "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥" (बाल्मीकिरामायण)

---

*पुरुषोत्तमप्रपत्तिषटकम्

रामिति बीजवान् नाथ ? मन्त्रराजो हि तारकः ।
तं जपामि तव प्रीत्यै पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥१॥
राम ! दीनोऽनुकूलोऽह विश्वस्तोऽप्रातिकूल्यवान्।
त्वयि न्यस्यामि चात्मानं पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥२॥
मामनाथं स्वशेषं च न्यासितं स्वार्थमेव हि ।
निर्भरं स्वभरत्वेन पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥३॥
यस्मिन् देहेऽहमानीतः कर्मणा स्वेन राघव ! ।
तदन्ते देहि सायुज्यं पाहि मां पुरुषोत्तम ! ॥४॥
न गतिर्जानकीनाथ ? त्वां विना परमेश्वर ! ।
परां गतिं प्रपन्नं त्वां पाहि मां पुरुषोत्तम ? ॥५॥
मोहितो मायया तेऽहं दैव्या गुणविशिष्टया ।
शरण्यं त्वा प्रपन्नोऽस्मि पाहि मां पुरुषोत्तम ? ॥६॥
बोधायनमहर्षिश्रीपुरुषोत्तमनिर्मितम् ।
प्रपत्तिषट्कमेतच्छ्रीभक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

एवं वेदशास्त्रसारं गीताशास्त्रमुपदिश्य तदनधिकारिणो दर्शयति–इदमिति । इदं कर्मज्ञानभक्त्यभिधायि गीताशास्त्रं ते तव हिताय मयोपदिष्टं त्वया चातपस्काय वाङ्मनःकायतपोरहिताय न वाच्यमभक्ताय देवगुरुभक्तिरहिताय न वाच्यं शुश्रूषारहितायाऽपि न वाच्यं यश्च मामभ्यसूयति मां द्वेष्टि तस्मायापि नैव वाच्यम् । एवमनधिकारिषु निषिद्धेषु करणत्रयतपोविशिष्टाय देवगुरुभक्तिसमन्विताय गीतारहस्यशुश्रूषापूर्णाय सर्वेश्वरे भगवति श्रद्धानुरक्तियुक्तायैवेदं गीताशास्त्रं त्वया वाच्यमित्युपदिष्टम्भवति ॥६७॥

इत्युक्तप्रकारेण प्रपन्नाभयदानदीक्षादीक्षितोऽहं सर्वेश्वरस्त्वा मत्प्रपन्नं त्वां सर्वपापेभ्यो मत्प्राप्तिविरोधिभ्योऽखिलपातकेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः शोकं माकार्षीः । प्रपत्तिस्वरूपनिरूपणं मया सम्यक्तया स्वविरचिते 'संसृतिचक्रपरिहारोपाय'नामके प्रबन्धे कृतं विशेषजिज्ञासुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यं तदिति विरम्यते विशेषविवेचनात् ॥६६॥

एवं त्रयीसिद्धान्तसारमतिगुह्यं गीताशास्त्रं निरतिशयप्रियमर्जुनं निमित्तीकृत्याध्यवनिमातेने दयोदन्वान् दीनबन्धुर्भगवान् वासुदेवः । इदानीमस्य गुह्यतमोपदेशस्याधिकारिणो निश्चेतुमनधिकारिणो निर्वक्ति–इदमिति । इदं गुह्यतमं शास्त्रं त्वद्धितैषिणा मयोपदिष्टम् । त इति वाच्यमित्यनेनान्वयात्त्वयेति वक्तव्ये त इत्यार्षादेशः । अतपस्काय करणक-

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

उपदिष्टस्यार्थस्य भगवद्भक्तगोष्ठीषु कथयितुरपि श्रेयोरूपं फलमाह—य इति । यो मद्भक्त इदं यन्मयोपदिष्टं परमं लेवरतपोविहीनाय न वाच्यम् । अभक्ताय देवगुरुभक्तिरहिताय न वाच्यम् । अत्र पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्य प्राबल्यम् । अतस्तपोयुक्तोऽप्यभक्तश्चेन्नैव वाच्यमित्यर्थो निष्पद्यते । अशुश्रूषवे च न वाच्यं तपस्वी भक्तोऽपि गूढतमस्य त्र्यन्तसारस्य शुश्रूषुर्न भवेच्चेन्न वाच्यं तथा मां सर्वेश्वरं सर्वरक्षकं योऽभ्यसूयति मत्स्वभावगुणविभूतिलीलोक्तीर्द्वेष्टि तस्मायासूयवेऽपि न वाच्यम् । तपस्वी भक्तः शुश्रूषुश्चापि भवेत्परन्तु असूयाश्रयश्चेत्कथनानर्ह एवेति भावः । एवमनधिकारिषु निर्दिष्टेष्वधिकारिस्वरूपमपि निश्चितं भवति । तथाहि शमदमादितपःसमन्वितोऽत्राधिकारी 'शान्तो दान्तः, इतिश्रुतेः । देवगुरुश्रद्धाभक्तितत्परोऽप्यधिकारी 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, इति श्रुतेः । तथाचार्योपदेशश्रद्धापरायणः शुश्रुषुरधिकारी 'प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्, इतिश्रुतेः । तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति, इति स्मृतेश्च । एवं भगवत्यनन्यानुरागी चात्राधिकारी तथा चैतेषां सम्भूयाधिकारित्वमुक्तम्भवति न तु तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकस्य । अत एवाचार्यैः शिष्यलक्षणं 'सद्बुद्धिः साधुसेवी समुचितचरितस्तत्त्वबोधाभिलाषी शुश्रुषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः । शान्तो दान्तोऽनसूयुः शरणमुपगतः शास्त्रविश्वासशाली शिष्यः प्राप्तः परीतः कृतविदभिमतं तत्वतः शिक्षणीयः' इत्यादिरूपेणाभिहितम् ॥६७॥

एवं परमगोप्यस्यास्यार्थस्यानधिकारिणो निर्दिष्टा इदानीं परमा-

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

गुह्यं मदनन्यभक्तेष्वभिधास्यति । स्वयश्च मयि परमकारुणिके परां यथा मयोपपादिता तथाविधामुत्कृष्टतमां प्रेमलक्षणांभक्तिं कृत्वा मामेवैष्यति नास्त्यत्र संशयः ॥६८॥

पूर्वोक्तार्थे हेतुमाह—नेति । भुवि भूमौ मनुष्येषु तस्मात् परमगुह्यस्यास्यार्थस्य वक्तुरन्यः कश्चिदपि मे प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रियकृन्नास्तीदानीन्तनसमये तथा तस्मादन्यः कश्चिदपि प्रियतरोऽतिशयेन प्रियो भुवि भूलोके नैव भविता ।

धिकारिषु भक्तजनेष्वस्य प्रतिपादनेनापि परम्परया निःश्रेयसाख्यफलोपलब्धिरित्यभिधत्ते—य इति । यो मद्भक्त इदं मदुक्तं परमं गुह्यं परमगोप्यत्वात्साधारणे श्रद्धा भक्तिरहितेजनेऽप्रकाश्यं मद्भक्तेषु मय्यनन्योपासकेष्वभिधास्यति पाठतोऽर्थतश्च वक्ष्यति स्वयश्च मयि सर्वात्मके सर्वजगन्नियन्तरि परामुत्कृष्टां भक्तिं कर्मयोगज्ञानयोगानुष्ठानानन्तरमुत्पद्यमानां निरतिशयप्रेमपरीवाहपूर्णां परां भक्तिमनुष्ठाय मामेवैष्यति । अत्र संशयो नास्ति । भक्तिरहितः कर्मयोगी ज्ञानी वाऽध्रुवं फलं यथा प्राप्नोति तथा मद्भक्तो नैव कदाचिदपि प्राप्नोति, इत्यसंशयपदस्य तात्पर्यम् ॥६८॥

इदानीं भगवदुपदिष्टस्यार्थस्य भगवत्प्राप्तौ हेतुत्वमभिधीयते —नेति । भुवि पृथिव्यामखिलेषु मनुष्येषु मध्ये तस्मान्मद्भक्तेष्वेतत्पर-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

अनादिवासनावशादाध्यात्मिकादितापत्रयोद्विग्नान् मद्भक्तान मदुपदेशदानेन यः समुद्बोधयति स सर्वदा ममात्यन्तप्रिय इत्याशयः ॥६९॥

इदानीं गुरुमुखादधीतस्य फलमाह–अध्येष्यत इति । योऽध्येताऽऽवयोः कृष्णार्जुनयोरिमं धर्म्यं संवादं श्रुति-स्मृतिसिद्धान्तभूतमध्येष्यते गुरुमुखात्संश्रुत्य स्वयं तदर्थानु-सन्धानपुरस्सरं नित्यं पठिष्यति तेन पुरुषेण सर्वयज्ञश्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः पूजितः स्यामित्येव मे मतिर्निश्च-योस्ति ॥७०॥

मरहस्याभिधायिनः कश्चिदपि मे मम सर्वेश्वरस्य प्रियकृत्तमोऽतिश-येन प्रियकृत्प्रियकृत्तमो नाभूत् । तस्य प्रियकृत्तमत्वं च भगवत्प्रवर्ति-ताभिमतभक्तिपरम्पराप्रचारकत्वेन बोध्यम् । अत एव तस्माद् भक्तेष्व-भिधानकर्तुर्मे मम प्रियतरोऽतिशयेन प्रियः प्रियतरोऽन्योऽत ऊर्ध्वं न भविता ॥६९॥

एवमुपदेष्टुः फलमुक्त्वा गुरूच्चारणानूच्चारणरूपाध्ययनस्य फल-मभिधत्ते–अध्येष्यत इति । यः पुरुष आवयोः कृष्णार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादमध्येष्यते गुरोः सकाशादधीत्य स्वयं पठिष्यति तेनाऽध्येत्रा ज्ञानयज्ञेन चतुर्थे–श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः पर-न्तप, (गी-४।३३) इति सर्वयज्ञेभ्यः ज्ञानयज्ञस्य श्रैष्ठ्यमुक्तं तेन यज्ञेनाहमिष्टः समर्चितः स्यां भवेयमिति मे मतिर्निश्चयः ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ॥
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

इदानीं श्रवणफलमाह–श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् गुरुभग-वच्छास्त्रवचस्सु विश्वस्तोऽनसूयश्चासूयाविहीनश्च यो नरः पुरुषः शृणुयादपि चेदावयोः संवादमितिशेषः । तर्हि सोऽपि श्रवणमात्र-विशिष्टोऽपि पुरुषो मुक्तो भक्तिप्रतिरोधकेभ्यः पापेभ्यो विमुक्तः सन् पुण्यकर्मणां मदाराधनात्मकपुण्यकर्मशालिनां शुभांल्लोकान प्राप्नुयादवाप्नुयात् ॥७१॥

इदानीं ज्ञाताभिप्रायोऽपि भगवानजानन्निवोपदेशसफलतां पृच्छति–कच्चिदिति । हे पार्थ ! एकाग्रेण स्थिरेण चेतसा चित्तन त्वयैतन्मदभिहितं श्रुतं कच्चित् ? मदुपदिष्टं वस्तु-

एवमुपदेशाध्ययनयोः फलमुक्त्वा श्रवणस्यापि फलमभिधत्ते–श्रद्धा-वानिति । श्रद्धावान् मद्वचसि गीताशास्त्रे श्रीमद्गुरुवचसि च विश्वा-सशाली तथाऽसूयादिदोषरहितो यो नरः केवलं शृणुयादपि तेन श्रवणमात्रेण सोऽपि मद्भक्त्यन्तरायरूपपापेभ्यो मुक्तः सन् पुण्यक-र्मणां मदभजनात्मकसुकृतशालिनां शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात् तेषु लोके-ष्वनुष्ठितमद्भजनः क्रमेण परमगतिमेव प्राप्नुयादित्यर्थः ॥७१॥

इदानीं ज्ञातवृत्तोऽपि सर्वज्ञो भगवानुपदिष्टार्थस्य फलमज्ञान-निवृत्तिर्विवेकबुद्धेरुदयश्चैतद्द्वयं तच्च तव सम्पन्नमिति पदार्थ-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

जातं त्वया ज्ञातं न वेत्यर्थः । हे धनञ्जय ! ते तवाज्ञान-संमोहोऽज्ञानजन्यो भ्रमः प्रणष्टः कच्चित् ? निःशेषं विनष्टो न वेत्यर्थः ॥७२॥

उक्तप्रकारेण पृष्टः कृतज्ञोऽर्जुनोऽभिधत्ते–नष्ट इति । हे अच्युत मोहोऽनात्मनि देह आत्माभिमानात्मको भगवदात्मके प्रपञ्चेऽभगवदात्मकत्वाभिनात्मको भगवदवाप्तिसाधनभूतेषु भगवदाराधनात्मकेषू कर्मस्वतदवाप्तिसाधनत्वात्मकश्च विपरी-तज्ञानात्मको ममाखिलो मोहस्त्वत्प्रसादात्त्वदनुग्रहान्नष्टो विना-शमवाप्तः सर्वशरीरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वजगत्कारणं सर्वदोषप्रति-

तत्वावधारणाय पृच्छति–कच्चिदिति । कच्चिदिति प्रश्नोपक्रमे । हे पार्थ ! एतन्मयोपदिष्टं गुह्यतमं गीताशास्त्रं त्वया तत्त्वनिर्गिनी-षयैकाग्रेण चेतसा सावधानेन मनसा श्रुतम् ? तेन ते तवाज्ञान-संमोहोऽज्ञानजनितो भ्रमः प्रणष्टः कच्चित् ? येनाज्ञानेन संमूढः सन् नाहं योत्स्यामीति प्रागुक्तवांस्त्वं यदि न प्रणष्टश्चेद् भूयोऽप्युपदिशेयमिति भावः । हे धनञ्जय ! अत्र प्रथम सम्बोधनेन प्रियसम्बधिना त्वया मन्नियोगेऽवश्यं स्थेयमिति द्वितीयेन धनञ्जयस्त्वं कौरवान् योद्धुं जेतुञ्च समर्थोऽसीति च सूच्यते ॥७२॥

अथ पृष्टोऽर्जुनोऽभिदधाति–नष्ट इति । हे अच्युत ! त्वत्प्रसादात् त्वदनुकम्पया मम मोह आत्मविषयकं विपरीतं ज्ञानं नष्टो मया-

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

भटः कल्यागुणगणार्णवो भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नोभगवानेव मुक्तिप्रद इतिज्ञानरूपा स्मृतिश्च मया लब्धा । इदानीं गतसन्देहः सन् स्थितोऽस्मि । ममात्यन्तमुपकर्त्तुस्तव वचनं युद्धादिविषयकं त्वत्कथनमहं करिष्ये ॥७३॥

श्रीकृष्णार्जुनसंवादसमाप्त्यनन्तरं पृच्छन्तं धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच–इत्यहमिति । अहं महात्मनो वासुदेवस्य भग-वतः श्रीकृष्णस्य पार्थस्य पृथापुत्रस्यार्जुनस्य चाद्भुतं रोमहर्ष-णञ्चेतीमं संवादमश्रौषम् ॥७४॥

ऽखिलदोषप्रत्यनीकोऽनन्तकल्याणगुणाकरश्च सर्वकारणं सर्वशरीरः सर्वशेषी च भवानेव भक्त्या प्रपत्त्या च प्रसन्नो मुक्तिप्रदातेति स्मृतिश्च लब्धाऽवाप्ता । सम्प्रति गतसन्देहः सन् स्थितोऽस्मि । तव वचनं कथनमहं करिष्ये । त्वदभिहितं युद्धादिकं विधास्य इत्यर्थः ॥७३॥

तदेवं धृतराष्ट्रजिज्ञासयोपक्रान्तं श्रीकृष्णार्जुनसंवादं समाप-यिष्यन् सञ्जय उवाच–इतीति । इत्येवंप्रकारेणाहं महात्मन इत्युभयत्रान्वेति । वासुदेवस्य सर्वान्तर्यामिणः श्रीकृष्णस्य पृथासू-नोरर्जुनस्य चाद्भुतं मनोविस्मयावहं रोमहर्षणं रोमाञ्चजनकमिमं यथोपदर्शितं संवादमश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥७४॥

Courtesy : lesmaniguru@gmail.com

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

दूरस्थितोऽपि त्वं कथमश्रौषीरित्यत आह–व्यासप्रसादादिति। व्यासप्रसादाद् व्यासानुकम्पातः। व्यासानुकम्पयाऽवाप्तदिव्यनेत्रश्रोत्रत्वादित्यर्थः। अहमेतत् परं गुह्यम्। गुह्यतरमितियावत्। योगं योगेश्वरात् साक्षात् कथयतः कृष्णात् स्वयं श्रुतवानस्मि ॥७५॥

ततः किमित्याह–राजन्निति। हे राजन्! केशवार्जुनयोरिममद्भुतं परमाश्चर्यकरं पुण्यजनकं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य

ननु व्यवहितं विप्रकृष्टञ्च संवादं त्वं कथमश्रौषीरित्याशंकामपाकरोति–व्यासप्रसादादिति। व्यासप्रसादाद् व्यासस्य भगवतः कृष्णद्वैपायनस्य विश्वेशितुर्विश्वरूपदर्शनाय विप्रकृष्टवाक्यश्रवणाय च दिव्यचक्षुःश्रोत्रप्रज्ञाद्युपलब्धिरूपवरप्रदानात्मकानुग्रहादहमेतद्गुह्यमतिरहस्यं किन्तदित्यपेक्षायां परमुत्कृष्टं भगवन्निदिध्यासनात्मकयोगप्रधानः संवादो योगस्तं योगेश्वरादखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणगणार्णवात् परमात्मनः श्रीकृष्णात् स्वयं कथयतः साक्षाच्छ्रुतवान् न तु तच्छ्रुतवतोऽन्यस्मादित्यर्थः ॥७५॥

श्रुत्वा किं वृत्तं तदाविष्करोति–राजन्निति। हे राजन्! केशवार्जुनयोरिममद्भुतं रोमाञ्चकरं पुण्यं पुण्यप्रापकं सम्यक्कथनलक्षणं

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

सम्यक् स्मारं स्मारं मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि। प्रतिक्षणमिति शेषः ॥७६॥

भगवतो विराड्रूपदर्शनमनुसन्धायाह-तदिति। हे राजन्! तद्धरेरत्यद्भुतं लोकलोचनचमत्कृतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे मम महान् विस्मयो जायते। पूर्वपुण्योदयादेव तद्रूपमपश्यमिदानीं पुनः पुनर्हृष्याम्यनुक्षणं हर्षमाप्नोमि ॥७७॥

एवमपि कदाचिन्मम पुत्रस्यापि विजयः स्यादिति धृतराष्ट्रसम्भावनामपाकुर्वन्नाह–यत्रेति। यत्र पक्षे योगेश्वरो योगो

प्रश्नप्रतिवचनात्मकं संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहुराभीक्ष्ण्येन हृष्यामि प्रतिक्षणं मुदमाप्नोमि ॥७६॥

एवं वैश्वरूपदर्शनमनुसन्धायाभिधत्ते–तदिति। हे राजन्! तच्चार्जुनाय दिदर्शयिषया प्रकाशितं हरेः परमपुरुषस्यात्यद्भुतमैश्वरं रूपं तस्मिन् समये निजदृग्गोचरीकृतमिदानीं संस्मृत्य संस्मृत्य मे मम महान् विस्मयो जायते प्राकृतनपुण्योपचयादेव मे तथा दिव्यदर्शनमजनि। ततः पुनः पुनः हृष्यामि प्रमोदम्प्राप्नोमि ॥७७॥

एवं स्थितेऽपि 'अव्यवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजया'-वित्युक्तिबलाद् धृतराष्ट्रः स्वोरसि स्वपुत्रस्य विजयाशामासेवमानः

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥ श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।

जगदुत्पत्तिपालनप्रलयसामर्थ्ये तस्येश्वरोऽचिन्त्यशक्तिरमोघपराक्रमो भगवान् श्रीकृष्णो यत्र पक्षे पार्थः पृथासूनुरर्जुनो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वाऽत्रस्थितस्तत्रैव श्री राजलक्ष्मीर्विजयः संग्रामे विजयो भूतिर्विशिष्टा समृद्धिर्नीतिः प्रजापालनन्यायया वृत्तिर्ध्रुवा भवति । ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकमन्वयः । तथा च श्रीभूतिनीतिविजयादयः सर्वे ध्रुवा एव भवन्तीत्येवं मम ध्रुवा मतिरस्ति । तस्मात्त्वं स्वपुत्रजीवितकामश्चेदाशु भगवदाश्रितैस्तेजोबलसमन्वितैर्धार्मिकैः पाण्डवैः सह सन्धि विधेहीति भावः । इति मम मतिरित्युक्त्या तव मतिर्नैवमिति सूच्यते । तत्र कारणमुक्तमुद्योगपर्वणि, स्वपुत्रस्य राज्यादिकमाशासानस्य ते लोभवासनया मतिविभ्रमो जातः । तदुक्तं तत्रैव 'श्रणु राजन् ! न ते विद्या मम विद्या न हीयते । विद्याहीस्यादतस्तां समूलमुन्मूलयन् स्वमतश्चाविष्कुर्वन् प्रकृतमुपसंहरति —यत्रेति । यत्र यस्मिन् पक्षे योगेश्वरोऽप्रतिमसामर्थ्यरूपयोगस्येश्वरः सर्वजगन्नियन्ता श्रीकृष्णः स्वयमेवावतिष्ठते यत्र पार्थो धनुर्धरो

नस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम्(भा०उ०६९।२) किञ्च, भूयो भूयो हि यद्राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति । सारासारबलं ज्ञातुं तत्समासेन मे शृणु ॥ एकतो वा जगत्कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः । सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ भस्मकुर्याज्जगत्सर्वं मनसैव जनार्दनः । न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥ यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः । ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं संमोहयन्निव । अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान्, (भा०उ०६८।६) तस्मादिदानीमपि सावधानीभूय पक्षपातम्परित्यजेति तात्पर्यम् ॥७८॥

इतिश्रीमद्रामानन्दाचार्यभगवत्पादविरचिते श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रीमदानन्दभाष्ये मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

जगद्गुरुश्रीअनुभवानन्दाचार्यप्रणीता

गीतार्थसुधा

सन्यासः त्यागरूपो जगति मनुजैः सत्त्वमालम्बनीयैः
सीतानाथः परेशोऽमलगुणजलधिर्दिव्यदेहोऽवतारी ।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिः कृतिचयफलदः कर्मणां संविधाता
सायुज्यं तत्प्रपत्त्या भवति तनुभृतां मोक्तमन्त्येऽत्र चैतत् २०।
श्रीगीतार्थसुधा चैषाऽनुभवानन्दनिर्मिता ।
जन्ममृत्युविनाशाय भूयान्मननशालिनाम् ॥२१॥

गाण्डीवं धनुः सज्जीकृत्यावतिष्ठते । पूर्वं 'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः, इत्युक्तमत्र च दिव्यचक्षुः सर्वदर्शी सञ्जयः पार्थं धनुर्धरत्वेन विशिनष्टीत्यतो निश्चीयते । भगवदुपदेशानन्तरं 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव, (गी० १८) इत्युदीर्य त्यक्तं गाण्डीवंधनुः पुनर्गृहीतमिति । तत्र तस्मिन्नेव पक्षे श्री राजलक्ष्मीर्ध्रुवा सर्वसंग्रामे विजयो ध्रुवो भूतिर्लोकोत्तरसमृद्धिर्ध्रुवा नीतिः प्रजापालनादिष्वर्थशास्त्रजन्यकर्तव्यनिश्चयरूपा नीतिश्च ध्रुवा इति मम मतिरपि ध्रुवा । दृढैवेत्यर्थः । एवमभिधाय सञ्जयेन धृतराष्ट्रस्य राज्ञो मतेविर्पयासः सूचितः । मम मते त्वेवं नास्ति । उक्तञ्चैतदुद्योगपर्वणि 'श्रृणु राजन् ! न ते विद्या मम विद्या न हीयते । विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् ॥ मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे । शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम् (म० भा० उ०६९।२।५) अत एव गीताशास्त्रारम्भात् प्रागपि तेनैवमेवोक्तमुद्योगपर्वणि 'यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः । ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः, (म० भा० उ० ६८।९) तस्मात्त्वत्तनयविजयोऽसम्भवीति मनसि निश्चत्य गोविन्दाश्रितैः श्रीभूतिनीतिविजयजनितानन्दयोग्यैर्युधिष्ठिरादिभिः सह सन्धिं विधाय युद्धोद्योगमाशु निवारयेति भावः ॥७८॥

यो भक्तिवर्त्मसुखदं परिपातुकाम-
स्त्रय्यन्तसारमवनौ प्रथयाञ्चकार ।

गीतात्मकं निजजनोद्धरणैकबीजं
तस्मै नमो भगवते मधुसूदनाय ॥

इति श्रीभगवद्रामानन्दान्वयप्रतिष्ठितश्रीमदनुभवानन्दस्वामिद्वारकेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण जगद्विजयिना महामहोपाध्यायब्रह्मवित्स्वामिश्रीरघुवराचार्येण विरचितायां श्रीभगवद्गीतार्थचन्द्रिकाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः।

महामहोपाध्यायस्वामिश्रीरघुवराचार्यवेदान्तकेसरिप्रणीतः

श्रीसीतारामस्तवः

जय राम दिव्यगुणाकर प्रणमामि ते चरणाम्बुजम् ।
कमलासनाद्यमरेशवन्दितमन्वहं नतभूभुजम् ॥ १॥
अनुभावयामि भवन्तमेकमनन्तमेव हतद्विषम् ।
अवधीरिताखिलवीरशक्तिमनीकधीरमकल्मषम् ॥२।
भवजन्मपालनभंगलीलमभंगशीलमहर्दिवम् ।
रघुनायकं धृतसायकं कलयेऽकलं करुणार्णवम् ॥३॥
जनकांगजावदनारविन्दमिलिन्दमम्बुदरुग्धरम् ।
कमनीयमूर्तिमनंगमोहनमाश्रये तडिदम्बरम् ॥४॥
जयदेवि ! मैथिलि ! तेऽङ्घ्रिपंकजमाश्रये नतकामदम् ।
भवतापनाशनमात्मदर्शनमन्वहं जनमुक्तिदम् ॥५॥
करुणाद्यनन्तगुणान्विते सुमनोनुते करुणादृशम्-
प्रविधाय दीनजनम्भवाम्बुधिमग्नमुद्धरमादृशम् ॥६॥